ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १२]

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवप्रणीतस्य

न्यायविनिश्चयस्य

विवरणम्



श्रीमद्वादिराजसूरिविरचितं

न्यायविनिश्चयविवरणम्

[अनुमान-प्रवचनप्रस्तावात्मकः द्वितीयो भागः]



सम्पादक—

प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ आदि

अध्यापक संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
छह सौ प्रति

भाद्रपद वीर नि० सं० २४८०
वि० सं० २०११
सितम्बर १९५४

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रंथांक १२

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रंथ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड, बनारस

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ९
वीर नि० २४७०

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी



JÑĀNA-PĪTHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTH
SAMSKRIT GRANTHA No 12

NYĀYA VINIŚCAYA VIVARA

of

S'RĪ VĀDIRĀJA SŪRĪ

the commentary on

BHATTĀKALANKADEVA'S

NYĀYA VINIŚCAYA

Vol. II

[ANUMAN-PRAVACHAN PRASTĀVA]



EDITOR

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN

Nyayacharya, Jain-Prachina Nyayatirtha, etc.

Lecturer in BAUDDHADARSHANA & M.A., BANARAS HINDU UNIVERSITY

Published by

Bhāratiya Jñānapītha, Kāshi

First Edition
600 Copies.

BHADRPAD VIR SAMVAT 2480
VIKRAMA SAMVAT 2011
SEPTEMBER 1954.

FOUNDED BY

SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRI MURTI DEVI

BHARATIYA JNANA-PITHA MURTI DEVI JAIN GRANTHAMALA

SAMSKRIT GRANTHA NO. 12

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRI, APABHRANSA, HINDI, KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ALSO WILL BE PUBLISHED

General Editors

Dr Hiralal Jain, M. A. D. Litt.

Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt.



Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

Secy., BHARATIYA JNANAPITHA

DURGAKUND ROAD, BANARAS

Founded in
Phalguna Krishna 9.
Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 2000
18th Febr. 1944

न्यायविनिश्चयविवरण-द्वितीयभागस्य

विषयानुक्रमः

२. अनुमानप्रस्तावः

३. प्रवचनप्रस्तावः

प्रधान सम्पादकीय

मनुष्यमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा जो विशेषताएँ पाई जाती हैं उनमें जिज्ञासाकी मनुष्य केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमात्रसे सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु व्यक्तित्वको एवं अपनी चारों ओर दृश्यमान पदार्थोंको जानने-समझनेकी उसे तीव्र अभिलाषा इसी जिज्ञासाके फलस्वरूप दर्शनशास्त्रका आविष्कार हुआ।

प्रकृतिमें दो प्रकारसे पदार्थोंकी व्यवस्था पाई जाती है। एक स्थूल और दूसरी पदार्थोंका ज्ञान हमें उनकी इन्द्रिय-प्रत्यक्षता-द्वारा प्राप्त होता है। इस क्षेत्रमें हमें इतनी ही रखनेकी आवश्यकता पड़ती है कि एक तो हमारी इन्द्रियाँ विकृत न हों, और दूसरे उनसे किये गये पदार्थके धर्मोंको समझनेमें मानसिक भूल न हो। तथापि अन्ततः प्रमाण तो इस क्षेत्र माना जायगा जो इन्द्रियप्रत्यक्ष हो। किन्तु यह इन्द्रिय-प्रत्यक्षता सूक्ष्म पदार्थ-व्यवस्था सहायक नहीं होती। अतएव जो पदार्थ इन्द्रियगोचर नहीं हैं जैसे जीव, आकाश, काल तथा तत्त्वोंका परमाणु रूप इत्यादि वहाँ हमें इन्द्रियप्रत्यक्षका भरोसा न कर, किसी दूसरे प्रमाणका लेनेकी आवश्यकता पड़ती है, और इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए न्यायशास्त्रका आविष्कार हुआ।

भारतवर्षमें जितने दर्शनोंका विकास हुआ उनमें प्रायः अपनी-अपनी न्याय-व्यवस्थाका भी किया गया है। धीरे-धीरे न्यायकी विधियोंका इतना विस्तार हुआ कि वह एक स्वतन्त्र दर्शन म जाने लगा। उदाहरणार्थ—षड्दर्शनोंमें वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंके साथ न्याय एक स्वतन्त्र दर्शन माना गया है।

भारतकी दार्शनिक विचारधारामें श्रमण परम्परा-द्वारा जो तत्त्वचिन्तन हुआ उसका प्रतिपाद हमें दो विभागोंमें प्राप्त होता है—एक जैन और दूसरा बौद्ध। इन दोनों दर्शनोंने भी अपने-अपने शास्त्रोंकी व्यवस्था की है जो महत्त्वपूर्ण है, और उसका ज्ञान प्राप्त हुए बिना भारतकी संस्कृति विचार-सरणिकी जानकारी अधूरी रह जाती है।

जैनदर्शनोंके भीतर जो न्यायकी व्यवस्था पाई जाती है वह स्वभावतः बहुत अंशोंमें अन्य न्याय शास्त्रोंके समान होते हुए भी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ रखती हैं। वे विशेषताएँ मुख्यतः दो हैं, एक स्याद्वाद या अनेकान्त और दूसरी नयवाद। स्याद्वादमें इस बातपर ज़ोर दिया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और जब हम वस्तुके किसी एक गुणधर्मका उल्लेख करते हैं तब हमें यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उस वस्तुका आंशिक रूप ही है, पूर्णस्वरूप नहीं। जब हम किसी पदार्थके एक व अनेक गुणोंका वर्णन इस प्रकार करते हैं कि मानो उसमें उनके सिवाय और गुण हैं ही नहीं, तब एकान्तदोष उत्पन्न होता है जो मिथ्यादृष्टिका जनक है। स्याद्वादमें इसी दोषसे बचनेके प्रयत्नपर ज़ोर दिया गया है। जिन दार्शनिक विद्वानोंने स्याद्वादपर आक्षेप किये हैं और उसमें दूषण दिखानेका प्रयत्न किया है वे स्याद्वादके उक्त मर्मको नहीं पहिचान पाये।

स्याद्वादप्रणालीकी सूक्ष्म व्यवस्थाके लिए नयवादका प्रतिपादन किया गया है, और वहाँ नैगमादि सात नयोंके द्वारा यह बतलानेका प्रयत्न किया गया है कि वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे प्रस्तुतमें कौनसे सामान्य व विशेष अथवा मिश्रित गुणधर्मोंपर विचार किया जा रहा है, तथा जिन शब्दों-द्वारा वस्तुका स्वरूप बतलाया जा रहा है उनके अर्थमें संकीर्णता और विस्तार किस व्यवस्थासे होता है। इस प्रकार नयोंके अर्थनय और शब्दनय ये दो भेद हो जाते हैं। अनेकान्त और नयवादके आधारपर जिस न्यायशास्त्रका विकास हुआ है वह जैनसाहित्यकी एक महान् निधि है।

सामान्यतया प्राचीनतम जैनसाहित्यमें भी इस न्यायका कुछ-न-कुछ विवेचन पाया ही जाता है। तथापि इस विषयमें स्वतन्त्र ग्रन्थोंका निर्माण विक्रमकी लगभग तीसरी चौथी शताब्दिसे प्रारम्भ

हुआ है। जिन आचार्योंके न्याय-विषयके ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं उनमें समन्तभद्र और सिद्धसेन पुरोगामी आचार्य सिद्ध होते हैं। इन आचार्योंके ग्रन्थोंमें जैनन्यायका प्रतिपादन बीजरूपसे पाया जाता है। उसका विस्तार आगे चलकर अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि अनेक आचार्योंने स्वतन्त्र ग्रन्थों-द्वारा अथवा प्राचीन ग्रन्थों पर टीका भाष्यादि-द्वारा किया है। दुर्भाग्यतः यह विपुल साहित्य अभीतक विद्वत्संसारके सन्मुख आधुनिक रीतिसे उपस्थित नहीं किया गया। इसका फल यह हुआ कि जैन न्यायसाहित्यका व्यवस्थित ज्ञान अन्य विद्वानोंको पूर्णतया प्राप्त नहीं हो सका और स्वयं जैन-समाजके भीतर भी उसका समुचित अध्ययन-अध्यापन नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्थामें कोई आश्चर्य नहीं जो स्वयं जैनधर्मानुयायी भी अपने आचार और विचारमें स्याद्वाद या अनेकान्तकी उदात्त भूमिकाका परिपालन न कर सके हों। और इसी कारण जहाँ अहिंसा आदिक नैतिक तत्त्वोंपर अत्यधिक ज़ोर दिया जाता है वहाँ उन नियमोंको पालनेमें जो देश काल आदि परिस्थितिका विचार और विवेक अनेकान्त दृष्टिसे करना आवश्यक है वह नहीं किया जाता है।

भारतीय न्याय-साहित्यमें आचार्य अकलंकदेवके ग्रन्थोंका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अबतक जिन ग्रन्थोंका पता चला है उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ पूर्णतया न्यायविषयके हैं। लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय। इन सभी ग्रन्थोंका आधुनिक ढंगसे सम्पादन पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने किया है और उनमेंसे तीसरा न्यायविनिश्चय वादिराजसूरिकृत विवरण-सहित प्रथमभाग भारतीय ज्ञानपीठसे मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क ३ के रूपमें सन् १९४९ में प्रकाशित हो चुका है। उसीका दूसरा भाग अब ग्रन्थाङ्क १२ के रूपमें विद्वत्समाजके सन्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकाशनके साथ यह महत्त्वपूर्ण और विशाल ग्रन्थ सुचारुरूपसे, सात उपयोगी परिशिष्टोंके साथ, पूर्ण हो रहा है। यह बड़े सन्तोषकी बात है।

जिस परिश्रम, विद्वत्ता और रुचिके साथ पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इस महान् ग्रन्थका सम्पादन किया है उसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा ही है। उसी प्रकार जिस उदारताके साथ भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजीने इन ग्रन्थोंके प्रकाशनका भार उठाया है उसके लिए विद्वत्समाज चिरऋणी रहेगा। ऐसे ग्रन्थोंका प्रकाशन-कार्य जो वास्तविक हो सका है उसका श्रेय ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय को है। हम आशा करते हैं कि, जिस उत्साहसे उक्त महानुभावोंने अभीतक इस प्रकाशन-कार्यको सम्हाला है वह चिरस्थायी होगा जिससे भारतीय साहित्यके उपेक्षित और अप्रकाशित अनेक ग्रन्थरत्न भी इसी प्रकार संसारके सन्मुख उपस्थित किये जा सकें।

सोलापुर
६-५-५५

–ही० ला० जैन
–आ० ने० उपाध्याय

प्रकाशन-व्यय

७१५।=)।।।	काग़ज़ २२ × २९ – २८ पौण्ड ४० रीम १५ जि० ८ शीट	२४४८।।≡)	सम्पादन-व्यय
११५०)	छपाई ४६ फार्म २ पेज	१३६६।≡)।।	कार्यालय-व्यवस्था
५४०)	जिल्द बँधाई	६१७।–)	प्रूफ़ संशोधन
२२।–)	कवर काग़ज़	७५०)	भेंट, आलोचना
३६)	कवर छपाई	७५)	पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजने का
		४०५०)	कमीशन, विज्ञापन, बिक्री व्यय आदि

कुल लागत १२५७१≡)।
६०० प्रति छपी • लागत एक प्रति २०।।।≡)। • मूल्य १५ रु०

FOREWARD

I am thankful to my esteemed friend Pt. Mahend Nyayacharya for asking me to write a Forewaid to the *cayavivarana of* Śrī Vādiıājasūri, which is a commentary on *vinıścāya* of Śrī Bhatta Akalaṅka. Bhatta Akalanka is an stupendous scholarship and superordinary insight. One of th luminaries of the Digambara Jaina school, he has set out i and dignified language the piinciples of logic that weie pre by the Jaina philosopher. But the full implications of the of Bhatta Akalanka have been bıought out by the subsequent of the school who wrote illuminating commentaries on these phıcal classics. The *Nyāyavınıścaya*, as is apparent from the ver of the book, is a work on Jaina epistemology that I have ha good fortune to study; The commentary of Vādiıājaśuri o *Nyāyvinıscaya* seems to me the most elaborate, exhaustive and prehensive of all. The language and the arguments of Vādirājasūr admittedly exceedingly abstruse and incisive. The value of this is particulary augmented by the elaborate criticism of Dharmakīı *Pramānavārttıka* and the exposition of Prajñākaıagupta, cal *Pramānavārttıkālaṅkāra*, a work which is encyclopædic in ıts sco and comprehensıve in its treatment of all the relevant problems th exercised in the past the minds of the stalwarts of every school Indian logic. This work, though primarily it professes to be the ex posıtion of the Jaina logical tenets, has a superadded value as the faithful exposition and elaborate critique of all the tenets of the Buddhıst Schools of thought, particulary of Dharmakīrti and his exponents. The work is no doubt extremely stiff and a hard nut to crack. It requires concentrated attention even on the part of the best equipped scholar who has made the aquaintance of these intellectual titans and theır classical products. It is a matter of sincere and deep felicitatıon that this extıemely hard work dealıng with unfamiliar and at the same time enormously difficult problems has been edited with peıfect accuracy and extraordinary skıll for the first time. It ıs a source of unfailing delight

that the authorities of the Bhāraṭīya Jñānapītha, Kashi, have found Pt Mahendra Kumara as the Editor of this remarkable work. A very few scholar could execute this hard task with the ease, felicity and mastery of Pt. Mahendra Kumara.

Pt. Mahendra Kumara possesses a singular combination of perfect knowledge of Jaina thought and Buddhist logic. He is thoroughly at home in both, and his brief comments given in the footnotes throw a mass of light on the knotty problems, both linguistic and philosophical. This work is practically an encyclopaedia of Indian logic, which is noted for its stupendously wide range and its appalling dialectic. I have not as yet been able to make as thorough study of the work as I wished. But the more I have gone into the contents, the greater have been my surprise and satisfaction The merits of this classic of Jaina logic are stupendous Its clarification of Prajñākaragupta's difficult *ipsedixits* and incisive analysis of Dharmakīrti's *Pramānavārttika* are sure to arouse the interest of ambitious students, though their number is unfortunately progressively dwindling down. The works of Dharmakīrti and his commentary in their original have been recently published, but unfortunately they have not had the good fortune of being edited with the skill and care and scholarship that characterize my friend Pt. Mahendra Kumara He has had the rare privilege of sitting at the feet of Pt. Sukhlal Sanghavi who is the greatest luminary in the firmament of Jaina and Buddhist scholarship. We must congratulate ourselves that our country still possesses these scholars who are the true intellectual assets of our land.

The present work may be regarded as the property of the Jaina school and that of Buddhist logic with equal propriety The salient feature of the work is the thoroughness of its treatment of the problems which have been examined in it In the very exposition of the concept of omniscience at the very outset, a modern scholar cannot but be struck with agreeable surprise to see that omniscience unqualified and unrestricted is the presupposition of a religious teacher The entire world is an interrelated system in which the full knowledge of even an insignificant fragment would naturally pre-

suppose that of the rest of the universe. If the kn promulgator of a ıeligion or of a new path to perfecti mentary or confined to a limited part of time and space o section of mankind, it would fail to be valid for all t Theıe is a good deal of logic in this argument, and on pause and Ponder whether the pragmatic solution offiered kīrti can be accepted as the last word.

The getup, type and paper and clear print are an att an inquisitive student. Of course in spıte of all these faci work will not prove acceptable to one who does not posse logical acumen and insatiable thiıst for knowledge and an ind will to oveıcome the hurdles· India in the past did not fail to the challenge of Dharmakīrtı and the dıfficulties ratheı serve as incentives. It ıs expected and desired that the modern s of logıc will not be found unequal to the avowed dıfficultıes present work The rewaıd is commensuıate with the labou application needed for its understanding. It wıll ıehablitat faith of the alumnı of a modern University in the surpassıng magnı of the past Indian ıntellect which refused to be banked by the ınt able size of the pıoblems. The Everest has been conquered ın physical plane and it ıs not ıdle to expect that the ıntellect Everest created by our ancestors will have the same alluring ınfluen upon the present and the unboın generatıons.

(Sd.) S. MOOKERJEE

—:0—

प्राक्कथन

भट्ट अकलंक द्वारा रचित न्यायविनिश्चय पर वादिराज सूरिने न्यायविनिश्चयविवरण टीका लिखी है। हर्षकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठ बनारसके अधिकारियोंने मेरे मित्र श्री पं० कुमार न्यायाचार्य द्वारा सम्पादन कराके इसको मुद्रित किया है तथा मुझे इसका प्राक्कथन सौभाग्य दिया है। भट्ट अकलंक प्राचीन भारतके अद्भुत विद्वान् तथा लोकोत्तर विवेचक ग्रन्थकार जैन वाङ्मयरूपी नक्षत्रलोकके सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं। दिगम्बर जैन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठ न्यायके सिद्धान्तोंका इन्होंने गम्भीर और ओजस्वी भाषामें विवेचन किया है। दिगम्बर आचार्योंके प्राचीन ग्रन्थोंपर विशद टीका लिखनेवाले उत्तरकालीन आचार्योंकी व्याख्याएं पढ़ने पर अकलंक भट्टके मन्तव्य सांगोपांग समझमें आते हैं।

'न्यायविनिश्चय' नाम ही बताता है कि यह प्रमाणवाद तथा तर्कशास्त्रका ग्रन्थ है। मुझे न्यायके जिन ग्रन्थोंके स्वाध्यायका सुयोग मिला है उन सबमें न्यायविनिश्चय पर वादिराजके द्वारा लिखा गया यह 'विवरण' अत्यन्त विस्तृत, सर्वाङ्ग तथा सुबोध है। वादिराज सूरिकी भाषा तथा तर्कशैली निश्चित ही अत्यन्त स्पष्ट और तलस्पर्शी है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी आलोचना और प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालंकारके विश्लेषणने इस ग्रन्थके महत्त्वको शतगुणित कर दिया है। क्योंकि वार्तिकालंकार प्राचीन भारतीय सभी विचार-धाराओंके दिग्गज विद्वानों-द्वारा विचारित समस्त समस्याओंके विवेचनके कारण भारतीय तर्कशास्त्रका विश्वकोष कहा जा सकता है। न्यायविनिश्चय मुख्य रूपसे जैन तर्कशास्त्रके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त यह बौद्ध दर्शनके प्रधानाचार्य धर्मकीर्ति तथा उनके अनुगामी विद्वानों-द्वारा प्रतिपादित बौद्ध तर्क सिद्धान्तोंका प्रामाणिक वर्णन और विस्तृत समीक्षा भी करता है। निःसन्देह यह ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट है और बड़ी कठिनाईसे समझमें आता है। जिन्होंने इन बौद्धिक महारथियों तथा इनकी कृतियोंका सांगोपांग अनुगम किया है, उन्हें भी अकलंक भट्टको पढ़ते समय मनको एकाग्र करना पड़ता है। फलतः इस अत्यन्त क्लिष्ट तथापि लोकोत्तर जटिल समस्याओंके समाधानकर्ता ग्रन्थका पूरी सावधानी तथा कुशलताके साथ निकाला गया यह प्रथम मुद्रित संस्करण असाधारण रूपसे अभिनन्दनीय है। भारतीय ज्ञानपीठ काशीके अधिकारियोंने इसके सम्पादन प्रकाशनादिका जो समुचित योगायोग किया है निःसन्देह वह परमानन्दका विषय है। शायद ही कोई दूसरी संस्था इतना सुन्दर और प्रामाणिक संस्करण निकाल पाती। पं० महेन्द्रकुमारजी जैसे कुछ ही विद्वान् ऐसे कठिन कामको सरलता, सुगमता एवं योग्यता पूर्वक कर सकते हैं।

पं० महेन्द्रकुमारजी जैन विचारधारा एवं बौद्ध तर्कशास्त्रके बहुत बड़े पण्डित हैं। वे उन दोनोंसे पूर्णतः परिचित हैं और उन्होंने जो संक्षिप्त पादटिप्पण दिये हैं उनसे भाषा एवं दर्शन सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है। न्यायविनिश्चय अपनी व्यापक विवेचकता तथा अद्भुत युक्तिवादके लिए ख्यात भारतीय तर्क-शास्त्रका विश्वकोष है। यद्यपि मैं अब तक इसका वैसा पारायण नहीं कर सका हूँ जैसा कि करना चाहिये तथापि ज्यों-ज्यों मैं इसके विषयको देखता हूं, त्यों-त्यों मुझे आश्चर्य और संतोष होता है। जैन न्यायके इस मौलिक ग्रन्थकी विशेषताएँ विशाल और विविध हैं। प्रज्ञाकर गुप्तकी दुरूह मान्यताएँ और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकके तलस्पर्शी विश्लेषण निश्चित ही विशेष जिज्ञासुओंकी रुचिको जाग्रत करेंगे, यद्यपि वर्तमान समयमें उनकी संख्या हीयमान है। धर्मकीर्तिके ग्रन्थ तथा टीकाएँ कुछ समय पहिले अपने मूल रूपमें प्रकाशित किये गये हैं परन्तु दुर्भाग्यवश वे उतनी कुशलता और सावधानी एवं विद्वत्तासे सम्पादित नहीं हुए जैसा कि पं० महेन्द्रकुमारने किया है। पण्डितजीको जैन और बौद्ध विद्वज्जगत्के विशिष्ट विद्वान् पं० सुखलालजीके पास बैठनेका विशिष्ट सौभाग्य मिला है। हमें अपने लिए धन्य मानना चाहिये कि हमारे देशमें अभी ऐसे विद्वान् हैं जो कि हमारे देशकी सच्ची बौद्धिक निधि हैं।

न्यायविनिश्चयविवरण

यह ग्रन्थ जैन वाङ्मय तथा बौद्ध तर्कशास्त्रकी अक्षय निधि कहा जा सकता है। ग्रन्थकी प्रमुख विशेषता यही है कि अपने विषयोका सर्वांङ्ग विवेचन करता है। ग्रन्थके आरम्भमे सर्वज्ञताका जो विवेचन किया गया है उसे देखकर आजके विद्वान् भी दांत तले उँगली दबा लेंगे और सहमत होंगे कि निरुपाधि तथा निर्मर्याद सर्वज्ञताके सिद्धान्तको धर्म-गुरुओने पहिलेसे माना है। विश्वके पदार्थ परस्पराश्रित हैं और इसीलिए किसी भी एक पदार्थका ज्ञान विश्वके अखण्ड स्वरूपके ज्ञानकी कल्पना कराता है। किसी धर्मके प्रवर्तकका अथवा मुक्तिके नूतन मार्गका प्रदर्शक ज्ञान आंशिक ही हो अथवा किसी विशेष देश और काल अथवा किसी विशेष जनसमुदायके ही लिए हो तो उसे त्रैकालिक प्रामाण्य नही दिया जा सकता इस युक्तिके ध्यानमें आ जाने पर व्यक्तिके मनमें यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन सापेक्ष तात्कालिक समाधानको अन्तिम उपाय माना जा सकता है या नही।

ग्रन्थका टाइप, कागज, साफ छपाई तथा अक्षरोंकी उठान जिज्ञासुके लिए विशेष आकर्षक हैं। इन सब सुविधाओंके होनेपर भी ग्रन्थ उसके लिए ग्राह्य न होगा जिसमें तात्त्विक दृष्टि, ज्ञानकी अतृप्त तृष्णा तथा बाधाओंसे जूझनेकी शक्ति न होगी। भूतकालमे भारतने धर्मकीर्तिकी चुनौतीको अस्वीकार नहीं किया था, अपितु बाधाएं प्रेरक बनी थीं। आशा है तथा विश्वास भी है कि वर्तमान तर्कशास्त्रके जिज्ञासु भी इस ग्रन्थकी क्लिष्टताका सामना करेंगे। ग्रन्थके मननमें जितना परिश्रम और कष्ट होगा फल भी उतना ही सुखद होगा। इसके द्वारा वर्तमान विश्वविद्यालयोंके छात्रोंको अतीतके भारतीय विद्वानोंकी विशाल बुद्धिपर पुनः श्रद्धा जम जायगी, क्योंकि वे समस्याकी महानतासे नहीं घबराते थे। भौतिक जगत्में अभी एवरेस्टपर विजय पायी गयी है तब यह कहना अनर्थक न होगा कि हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित बौद्धिक एवरेस्टकी विजय भी वैसा ही आकर्षक प्रभाव हमारी वर्तमान तथा भावी पीढ़ीपर न छोड़ेगी ?

नालन्दा }

सातकौड़ी मुखोपाध्याय
[प्रधान संचालक पाली इंस्टीट्यूट नालन्दा]

सम्पादकीय

सन् १९४९ के प्रारम्भमें न्यायविनिश्चयविवरणका प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था और अब १९५५ में यह द्वितीय भाग मेरे ही सम्पादकत्वमें निकल रहा है। इस बीच ज्ञानपीठकी व्यवस्थामें परिवर्तन हुए। पर इतना है कि सांस्कृतिक प्रकाशनोंकी धारा चालू है।

इस ग्रन्थके सम्पादनमें जिन बनारस आरा सोलापुर सरसावा मूडबिद्री और कारंजाके भंडारोंकी कागज़ और ताडपत्रीय प्रतियोंका उपयोग किया गया है उनका परिचय प्रथम भागके 'सम्पादकीय'में दे दिया है। मुद्रणाक्षरोंकी योजना भी प्रथम भागकी तरह ही है। हाँ, पृ० २९७ से मूलकारिकाएँ ग्रेट नं० १ की जगह नं० २ टाइपमें दी गई हैं और अवतरण ११ पाइंट काला टाइपमें ही। पहिले भागमें विवरणगत व्याख्येय मूलशब्दोंको जहाँ कारिकाके टाइपमें ही दिया है, वहाँ पृ० ७५ से पृ० २९६ तक ग्रेट नं० २ में तथा पृ० २९७ से १२ पाइंट काला टाइपमें ही दिया गया है। पृ० ३०७ से ३२३ तककी टिप्पणीकी प्रेसकापी प्रेससे खो गई थी अतः पाण्डुलिपिके हाँसिये पर लिखे गये संकेतोंके आधारसे ही उतने पृष्ठोंकी टिप्पणी लिखी गई है।

इस भागके प्रूफ संशोधनमें प्रथम भागकी तरह पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्यने सहायता दी है और परिशिष्ट लिखनेका कार्य भी उन्हींने सम्हाला है। परिशिष्ट बनानेमें जो असावधानी हुई है वह शुद्धिपत्रमें सुधार दी है।

इस भागमें निम्नलिखित ७ परिशिष्ट बनाये गये हैं—

(१) मूल कारिकाओंका अकाराद्यनुक्रम, (२) विवरणकारके स्वरचित श्लोकोंका अकाराद्यनुक्रम, (३) विवरणगत अवतरणोंकी सूची, (४) न्यायविनिश्चयमूलगत विशिष्ट शब्दोंकी सूची, (५) न्यायविनिश्चयविवरणगत ग्रन्थ और ग्रन्थकार, (६) विवरणगत विशिष्ट शब्द और (७) ग्रन्थसङ्केत विवरण।

ज्ञानपीठके संस्थापक दानवीर साहु शान्तिप्रसादजी और अध्यक्षा उनकी धर्मपत्नी सौ० श्रीमती रमाजीकी भावना सांस्कृतिक ग्रन्थोंको सर्वाङ्गीण सम्पादन कराके प्रकाशनकी बराबर रही है और उसके लिए मुक्त-हस्तसे साधन भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। इसका ही यह फल है कि ज्ञानपीठका यह विभाग अपनी धाराको चालू रखे है। प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादनमें विद्या, समय, शक्ति और साधन सभीका संतुलन अपेक्षित होता है। विशेषकर उन ग्रन्थोंके सम्पादनमें जिनका मूलभाग उपलब्ध न हो और विवरणकी प्रतियाँ अशुद्धियोंका पुञ्ज हों। दार्शनिक ग्रन्थोंमें ग्रन्थान्तरोंके अवतरण पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष दोनोंमें ही प्रचुरमात्रामें आते हैं, उन सबका स्थल खोजना तथा उपयुक्त टिप्पणियोंका सङ्कलन आदि सभी कार्य धैर्य और स्थिरताके बिना नहीं सध सकते। इसकी जो पद्धति आज प्रचलित है उसका निर्वाह तथा ऐसे उपयोगी परिशिष्टोंकी योजना, जिनसे ग्रन्थ और ग्रन्थकारके ऐतिहासिक एवं विकासक्रमके तथ्योंका आकलन हो सके आदि कार्य व्यवस्थित योजना एवं सम्पादन दृष्टिके बिना नहीं चल पाते। ज्ञानपीठके सञ्चालकोंने इस ग्रन्थके सम्पादनमें यथाशक्य इस परम्पराको निबाहनेकी चेष्टा की है और इसका बहुत कुछ श्रेय ज्ञानपीठके योग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयको भी है जो अपनी लकीरके पक्के हैं।

जिन परिस्थितियोंमें यह भाग प्रकाशित हो रहा है उनमें जो संभव और शक्य था, किया है। इस बातकी चेष्टा अवश्य की है कि कमसे कम इस भागमें सम्पादन और प्रकाशनका स्तर क़ायम रह जाय।

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस
२६।१२।५४

महेन्द्रकुमार जैन
न्यायाचार्य

प्रस्तावना

न्यायविनिश्चयके प्रथम भागमें ग्रन्थकारोंके सम्बन्धमें लिखा गया है। अतः इस भागमें मात्र विषयपरिचय दिया जा रहा है।

कारिकासंख्या—

न्यायविनिश्चयविवरण प्रथम भागकी प्रस्तावनामें[1] मैंने मूलकारिकाओंकी संख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया था किन्तु उसमें निम्नलिखित संशोधन अपेक्षित हैं। मूलश्लोकोंमें [2]अन्तर श्लोक, जो कि वृत्तिके बीच बीचमें आते हैं, और संग्रहश्लोक, जो कि वृत्तिमें कहे गये अर्थका संग्रह करते हैं, भी आते हैं। इन सबको मिलाकर न्यायविनिश्चय मूलमें कुल ४८० श्लोक होते हैं। प्रथम प्रस्तावमें १६८½, द्वितीय प्रस्तावमें २१६½ तथा तृतीय प्रस्तावमें ९५। विवरणके दोनों भागोंमें श्लोकोंके नम्बर अशुद्ध छपे हैं, अनुक्रममें भी अशुद्धियाँ हो गई हैं। अतः इस ग्रन्थके प्रारंभमें मूल श्लोक एक साथ छाप दिये हैं। उनमें अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोकोंका विभाग भी कर दिया है। अनुक्रमकी अशुद्धियोंको शुद्धिपत्रमें देख लेना चाहिये।

विषय-परिचय

प्रमाणविभाग—

प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षका सांगोपांग वर्णन करनेके बाद इस भागके दो प्रस्तावोंमें परोक्ष प्रमाण का वर्णन किया गया है। आगम परम्परामें प्रमाणके दो ही विभाग दृष्टिगोचर होते हैं। इस परम्परामें प्रमाणताका आधार बिलकुल जुदा है। आत्ममात्रसापेक्षज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय मन आदिकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञान परोक्ष होता है। इस परिभाषासे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष कोटिमें तथा शेष सब ज्ञान परोक्ष कोटिमें आते हैं। पाँच ज्ञानोंमें मति और श्रुत परोक्ष हैं। तत्त्वार्थसूत्र (१।१३) में मतिज्ञानके पर्यायरूपसे मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको गिनाया है। उसका तात्पर्य बताते हुए टीकाकारोंने लिखा है[3] कि ये सब ज्ञान चूँकि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होते हैं अतः मतिज्ञानमें शामिल हैं। जहाँतक स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) का प्रश्न है वहाँ तक इन्हें परोक्ष माननेमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु मति अर्थात् पाँच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहनेमें लोकबाधा और प्रचलित दार्शनिक परम्पराओंका स्पष्ट विरोध होता है। सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष शब्दका अर्थ भी "अक्षम् अक्ष प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्" इस व्युत्पत्तिके अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान ही फलित होता है। ऐसी दशामें जैन परम्पराकी प्रत्यक्ष परोक्षकी यह परिभाषा बिलकुल अनोखी लगती थी और इससे लोकव्यवहारमें असंगति भी आती थी।

आगमिक कालमें ज्ञानके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके आधार भी भिन्न ही थे। जो ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी होता था वही सम्यक्ज्ञान कहलाता था। लोकमें सम्यग्ज्ञान रूपसे प्रसिद्ध यानी वस्तुका

---

१ पृ० ३३।

२ "निराकारेत्यादयः अन्तरश्लोकाः वृत्तिमध्यवर्तित्वात्, विसुखेत्यादिवार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः...संग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।"—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २२९।

३ देखो तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि।

साक्षात् अर्थसे उत्पन्न नहीं होती अतः वह अप्रमाण है किन्तु अकलङ्कदेवने गृहीतग्राही होनेपर भी स्मृतिको अविसंवादिनी होनेके कारण प्रमाण स्वीकार किया है। अगृहीतग्राहित्व और गृहीतग्राहित्व अप्रमाणता या अप्रमाणताके प्रयोजक नहीं हो सकते। प्रमाणत्वका हेतु तो अविसंवाद ही है। वह अविसंवाद अन्य ज्ञानोंकी तरह स्मृतिमें विशेषतः सुरक्षित है। समस्त जगत्के व्यवहार स्मृतिमूलक ही हैं। फिर स्मृतिमें 'तत्' शब्दका उल्लेख होना अपूर्व है जो अनुभवमें नहीं पाया जाता। प्रत्यभिज्ञान, अनुमान और आगम आदि प्रमाणोंकी उत्पत्ति स्मृतिके बिना नहीं हो सकती अतः अविसंवादी प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगमका जनक होनेसे भी स्मृति प्रमाण है। जो स्मृति विसंवादिनी है उसे अप्रमाण कहनेका रास्ता खुला हुआ है। इसी तरह पदार्थसे उत्पन्न होना या न होना प्रमाणता और अप्रमाणताका प्रयोजक नहीं है क्योंकि ज्ञानके प्रति अर्थकी कारणता सार्वत्रिक नहीं है। अतः अविसंवादी होनेके कारण स्मृति स्वयं मुख्य प्रमाण है।

२ प्रत्यभिज्ञान—

दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी और आपेक्षिक आदि रूपसे संकलन करनेवाले ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यद्यपि 'स एवायं' इस प्रत्यभिज्ञानके 'सः' इस अंशको स्मरण और 'अयं' इस अंशको प्रत्यक्ष जान लेता है फिर भी 'स एवायं' इस समग्र संकलित प्रमेयको न तो स्मरण ही जान सकता है और न प्रत्यक्ष। अतः वर्तमान प्रत्यक्ष और अतीत स्मरणमूलक जितने प्रकारके संकलन ज्ञान होते हैं वे सब प्रत्यभिज्ञान प्रमाणकी सीमामें हैं। अतीत और वर्तमानकी कड़ीको जोड़नेवाला एकद्रव्यगत एकत्व मुख्य रूपसे प्रत्यभिज्ञानका प्रमेय है।. जिस एकत्वकी धुरीपर संसारके समस्त व्यवहार, यहाँ तक कि स्वयं अपनी जीवनस्थिति सुसंकलित होती है उसी एकत्वको प्रत्यभिज्ञान अविसंवादी रूपसे जानता है। कोई भी मौलिक पदार्थ पूर्व और उत्तरमें विभाजित पर्यायोंका ढेर नहीं है किन्तु उसके पूर्वोत्तर क्रममें एक मौलिकता है जो प्रतिक्षण परिवर्तन करनेपर भी उसकी सत्ताको न तो समाप्त होने देती है और न पदार्थान्तरसे संक्रान्त ही होने देती है। यही मौलिकता द्रव्य और ध्रौव्य शब्दोंसे पकड़ी जाती है। क्षण परिवर्तन चक्रके बीच यह अविच्छिन्न धुरी द्रव्यका प्राण है, इसीके बलपर परिवर्तित द्रव्यमें 'स एवायम्' यह वही है ऐसा अविसंवादी प्रत्यभिज्ञान होता है। बन्धन-मोक्ष, लेन-देन, शब्दप्रयोग आदि समस्त व्यवहार इसीके आधारसे चलते हैं। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान कथंचित् अपूर्वार्थग्राही और अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण है। 'स एवायं' इस ज्ञानको इन्द्रियप्रत्यक्ष तो इसलिए नहीं कह सकते कि इन्द्रियाँ केवल सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही जानती हैं जब कि 'स.' अंश असम्बद्ध और अवर्तमान है। इसी तरह 'सः' तक सीमित रहनेवाला स्मरण भी अतीत वर्तमानव्यापी एकत्वको स्पर्श नहीं कर सकता।

नैयायिक 'गोसदृशो गवय.' इस अतिदेश वाक्यको सुनकर सामने गवयके देखनेपर होनेवाले 'यह गवय शब्दका वाच्य है' इस प्रकारके संज्ञा-संज्ञी सम्बन्धको उपमान नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। किन्तु अकलङ्कदेवने प्रत्यक्ष और स्मरणमूलक यावत् संकलनोंको चाहे वे एकत्वविषयक, सादृश्यविषयक, वैसादृश्यविषयक, प्रातियोगिक या आपेक्षिक कैसे भी हों प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव किया है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट लिखा है[1] कि यदि 'गौके सदृश गवय होता है' इस सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है तो 'गौसे विलक्षण भैंस होती है' इस वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञानको, 'पटनेसे कलकत्ता दूर है' इस प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञानको 'आँवलेसे अमरूद बड़ा होता है' इस आपेक्षिक प्रत्यभिज्ञानको तथा और भी इसीके प्रत्यक्ष-स्मरणमूलक विभिन्न ज्ञानोंको स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा।

---

१ "उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥
इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१॥" –लघी०।

३ तर्क—

प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाला और साध्य-साधनके अविनाभाव सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेपमें व्याप्तिग्राही ज्ञानको तर्क कहते हैं। व्याप्ति सर्वोपसंहारवाली होती है। जो भी धूम है वह कालत्रय और त्रिलोकमें अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमें कभी भी नहीं और कहीं भी नहीं हो सकता यह सर्वोपसंहारी अविनाभाव तर्क प्रमाणकी मर्यादामें है। प्रत्यक्ष प्रमाण रसोईघर आदिमें अनेक बार धूम और अग्निके सम्बन्धका प्रत्यक्ष भले ही कर ले पर उस सम्बन्धकी त्रैकालिकता और सार्वत्रिकताका ज्ञान उसकी सीमामें नहीं है क्योंकि वह सन्निहित पदार्थको जानता है और अविचारक है। अनुमानके द्वारा इस अविनाभावका ग्रहण तो इसलिए सम्भव नहीं है कि अनुमान-की उत्पत्ति ही अविनाभावके ग्रहणके बाद होती है। एक अनुमानकी व्याप्ति यदि अनुमानान्तरसे गृहीत की जाय तो अनुमानान्तरकी व्याप्तिके लिए तृतीय अनुमानकी तथा तृतीय अनुमानकी व्याप्तिके लिए चतुर्थ अनुमानकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दूषण आता है।

बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद उत्पन्न होनेवाले विकल्पक ज्ञानको व्याप्तिग्राही कहते हैं[1]। किन्तु जब विकल्पक ज्ञान स्वयं अप्रमाण है तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्तिमें कैसे विश्वास किया जा सकता है? और यदि व्याप्तिग्राही विकल्प प्रमाण है तो उसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न तीसरा प्रमाण मानना होगा।

न्यायसूत्र (१।१।१)में तर्कको पृथक् पदार्थ मानकर भी उसे प्रमाण नहीं माना है। न्यायभाष्य (१।१।१)में लिखा है कि तर्क न तो प्रमाण है और न अप्रमाण। वह तो प्रमाणका अनुग्राहक है इसीलिए तत्त्वज्ञानके निमित्त उसकी कल्पना की जाती है किन्तु ऐसे किसी पदार्थसे जो स्वयं प्रमाण नहीं है प्रमाणका अनुग्रह कैसे हो सकता है? तर्क स्वयं अविसंवादी है और अविसंवादी अनुमानका जनक भी, अतः वह स्वयं प्रमाण है। अग्नित्वेन समस्त अग्नियोंका और धूमत्वेन यावत् धूमोंका ज्ञान करके सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण मानना भी उचित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान विशद होता है। एक अग्निके प्रत्यक्षके द्वारा उस अग्नि व्यक्तिका जैसा और जितना विशद प्रतिभास होता है वैसा और उतना तत्सदृश परोक्ष अन्य अग्नि व्यक्तियोंका नहीं। परोक्ष अग्नि और धूम व्यक्तियोंका ज्ञान अस्पष्ट होनेसे प्रत्यक्षकी सीमामें नहीं आ सकता और यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिके द्वारा रसोई-घरकी अग्निकी तरह पर्वतकी अग्निका भी स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है तो अविनाभाव सम्बन्धके ग्रहण करने की और अग्निके अनुमान करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। एक अर्थमें तो व्याप्तिग्रहणकाल में सभी व्यक्तियोंको सर्वज्ञताका प्रसंग भी प्राप्त होता है। अतः सम्पूर्ण रूपसे साध्य और साधनोंके सर्वो-पसंहारी सम्बन्धको ग्रहण करनेवाले तर्कको स्वतंत्र प्रमाण मानना ही उचित है। यह तर्क साध्य साधन विषयक प्रत्यक्ष-उपलम्भ और साध्याभाव तथा साधनाभावविषयक अनुपलम्भसे उत्पन्न होता है। उपलम्भ अनुपलम्भ और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि तर्ककी सामग्री है। इस सामग्रीसे उत्पन्न होने-वाला व्याप्तिग्राही बोध अविसंवादी होनेसे स्वतंत्र प्रमाण है।

जिनमें परस्पर अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभावकी सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क या तर्का-भास है। जैसे विवक्षासे वचनोंका अविनाभाव जोड़ना, क्योंकि विवक्षाके अभावमें ही स्वप्नावस्थामें वचन प्रयोग देखा जाता है तथा शास्त्रकी विवक्षा रहनेपर भी मूर्खोंके शास्त्र व्याख्यान रूप वचन नहीं देखे जाते। तात्पर्य यह है कि अव्यभिचारी अविनाभावको ग्रहण करनेवाला ही ज्ञान तर्क प्रमाण कहा जायगा, अन्य तर्काभास या कुतर्क।

४ अनुमान—

अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। साध्यज्ञान ही साध्यसम्बन्धी अज्ञानका नाश करता है अतः साध्य सम्बन्धी प्रमितिमें साध्यज्ञान ही करण होनेसे अनुमान हो सकता है।

१ प्र० वा० मनोरथ० पृ० ७।

नैयायिक "अनुमितिकरणम् अनुमानं" अनुमानकी यह व्युत्पत्ति करके लिङ्गपरामर्श ज्ञानको अनुमान कहते हैं। धूम अग्निसे व्याप्त है तथा वह धूम पर्वतमें है ऐसे व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानको परामर्श कहते हैं। वस्तुतः यह परामर्श उस अनुमान ज्ञानकी सामग्रीमें शामिल है, जिससे साध्यके अज्ञानकी निवृत्ति होती है। बौद्धपरम्परा[1] में भी इसीलिए अनुमेयज्ञानको अनुमान माना है।

अनुमानके भेद—अनुमानके स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद सभी वैदिक, बौद्ध और जैन तर्कग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है। इसमें स्वयं दृष्ट लिङ्गसे साध्यज्ञान द्रष्टाको ही होता है। यद्यपि द्रष्टाके ज्ञानमें साध्य-साधन आदिका भेद किया जा सकता है और उसके ज्ञानका शब्दों से उल्लेख करना भी सम्भव है परन्तु उसकी उत्पत्तिमें किसी दूसरेके शब्द कारण नहीं पड़ते इसीलिए उसे अशब्दात्मक कहते हैं। परार्थानुमान भी स्वार्थानुमानकी तरह यद्यपि ज्ञानरूप ही है परन्तु वह लिंग वाचक शब्दोंको सुनकर श्रोताको उत्पन्न होता है और इसका शब्दोंसे प्रकट निर्देश होता है, इसीलिए इसे शब्दात्मक कहते हैं। शब्द अचेतन हैं, अतः अज्ञानरूप होनेसे ये मुख्य प्रमाण नहीं हो सकते, फिर भी कारणमें कार्यका और कार्यमें कारणका उपचार करके इनमें ज्ञानरूप परार्थानुमानता आ जाती है। वक्ताका ज्ञान शब्दोंका उत्पादक है। जब उसका ज्ञान दूसरेको समझानेके सन्मुख होता है तब वह परार्थ होनेसे परार्थानुमान कहलाने लगता है। उसके कार्यभूत वचनोंमें कारणभूत वक्ताके ज्ञानका उपचार करके परार्थानुमानता आ जाती है। इसी तरह श्रोताके ज्ञानमें चूँकि वचन कारण पड़ते हैं अतः कारणभूत वचनोंमें कार्यरूप ज्ञानात्मक परार्थानुमानका उपचार करके भी उन्हें परार्थानुमान कह सकते हैं।

न्यायसूत्र (१।१।५) में अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद किये गये हैं। वैशेषिक (वै० सू० ९।२।१) ने अनुमानके कार्यलिङ्गज, कारणलिङ्गज, संयोगिलिङ्गज विरोधिलिङ्गज और समवायिलिङ्गज इस तरह पाँच भेद माने हैं। सांख्यतत्त्वकौमुदी (पृ० ३०) में अनुमानके वीत और अवीत, ये दो मूल भेद करके वीत अनुमानके पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट ये दो उत्तर भेद किये हैं। सांख्यकारिकाकी प्राचीनतम टीका माठरवृत्ति (पृ० १३) में न्यायसूत्रकी तरह पूर्ववत् आदि तीन भेद ही गिनाये हैं। अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ये तीन प्रकार तो न्यायपरम्परामें "पूर्ववत्" आदि अनुमान सूत्रकी व्याख्यासे ही फलित किये गये हैं।

जैन परम्परामें यद्यपि हेतुके कार्य, कारण, स्वभाव आदि अनेक प्रकार माने हैं किन्तु सबमें "अविनाभाव" इस एक लक्षणके अनुस्यूत होनेसे इन हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाले अनुमानोंमें कोई जाति-भेद नहीं माना है। साधनका साध्यके साथ अविनाभाव सपक्षमें गृहीत होनेका कोई महत्त्व नहीं है। जिन अनुमानोंमें सपक्ष नहीं पाया जाता वहाँ भी अविनाभावके बलसे साध्यसिद्धि होती है। अतः सपक्षसत्त्वको आधार मानकर किये जानेवाले पूर्ववत् आदि तथा वीत अवीत आदि भेदोंका कोई मौलिक आधार नहीं रह जाता। साध्य और साधनका अविनाभाव संयोगमूलक, समवायमूलक या किसी अन्य मूलक हो उससे अविनाभावके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता और इसीलिए इस निमित्तसे अनुमानमें प्रकारभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें पूर्वचर और उत्तरचर आदि हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाले अनुमानोंका समावेश भी सम्भव नहीं है। अतः इन अपूर्ण भेदोंकी गणना विशेष लाभप्रद नहीं है।

अनुमानके अंग—मुख्यतया अनुमानके धर्मी, साध्य और साधन, ये तीन अंग होते हैं। साध्य गम्य होता है साधन गमक और धर्मी साध्य धर्मका आधार। धर्म और धर्मीके समुदायको पक्ष मानकर पक्ष और हेतु ये दो अवयव भी अभेद विवक्षामें हो सकते हैं। इतर दार्शनिकोंने अनुमानके आवश्यक अंगोंमें दृष्टान्तका भी स्थान माना है। परन्तु दृष्टान्तके बिना भी मात्र अविनाभावसे साध्य-सिद्धि देखी जाती है और 'अविनाभावका ग्रहण भी दृष्टान्तमें ही हो' ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए जैनपरम्परामें दृष्टान्तको अनुमानका अङ्ग नहीं माना। हाँ, शिष्योंको समझानेके लिए उसकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार की है और है भी।

१ न्यायवि० २।३।

दृष्टान्त साध्यकी प्रतिपत्तिके लिए भी उपयोगी नहीं है क्योंकि अविनाभावी साधनसे ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। व्याप्ति स्मरणके लिए भी उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अविनाभावी हेतु प्रयोगसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। अविनाभावके निश्चयके लिए भी उसकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि विपक्षमें बाधक प्रमाणके द्वारा ही अविनाभावका निश्चय हो जाता है। फिर, दृष्टान्त एक व्यक्तिका होता है और व्याप्ति होती है सामान्यविषयक, अत. यदि उस दृष्टान्तमें व्याप्तिविषयक संशय हो जाय तो अन्य दृष्टान्तकी आवश्यकता पड़ सकती है। इस तरह अनवस्था दूषण आता है। यदि केवल दृष्टान्तका कथन किया जाय, तो उससे पक्षमें साध्यका सन्देह ही पुष्ट होता है। यदि ऐसा न हो तो सन्देहके निवारणके लिए उपनय और निगमनका प्रयोग क्यों किया जाता है? अत. पक्ष-धर्मधर्मीसमुदाय और हेतु ये दो ही अवयव अनुमानके हो सकते हैं।

बौद्ध, विद्वानोंके लिए केवल एक हेतुका प्रयोग मानकर[1] भी उसके स्वरूपमें उदाहरण और उपनयको अन्तर्भूत कर लेते हैं। उनके हेतुका प्रयोग इस प्रकार होता है–'जो जो धूमवाला है वह वह अग्निवाला है जैसे रसोईघर, उसी तरह पर्वत भी धूमवाला है' इस प्रयोगमें हेतुके त्रैरूप्यको समझानेके लिए अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त आवश्यक होता है, और हेतुके समर्थनके लिए दृष्टान्तके साथ ही साथ उपनय भी आवश्यक है। हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करके उसका अपने धर्मीमें सद्भाव सिद्ध करना, समर्थन कहलाता है। इस तरह बौद्धके मतमें हेतु, उदाहरण और उपनय ये तीन अवयव अनुमानके लिए आवश्यक होते हैं।

वे प्रतिज्ञाको आवश्यक नहीं मानते। क्योंकि केवल प्रतिज्ञाके प्रयोगसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती और प्रस्ताव आदिसे उसका विषय ज्ञात हो जाता है। किन्तु यदि प्रतिज्ञाका शब्दोंसे निर्देश नहीं किया जाता है, तो हेतु किसमें साध्यकी सिद्धि करेगा? तथा उसके पक्षधर्मत्व–पक्षमें रहनेका स्वरूप कैसे समर्थित होगा? 'तथा चायं धूमवान्' इस उपनय–उपसंहार वाक्यमें 'अयं' शब्दके द्वारा किसका बोध होगा? यदि हेतुको कहकर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रतिज्ञाके प्रयोग करनेमें क्यों हिचक होती है? अतः साध्य धर्मके आधारविषयक संदेहको हटानेके लिए पक्षका प्रयोग आवश्यक है।

[2]नैयायिक अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव मानते हैं। बौद्ध प्रतिज्ञाके प्रयोगको अनावश्यक कहकर उसके उपसंहार रूप निगमनका खण्डन करते हैं। वस्तुतः साध्यकी सिद्धिके लिए जिसकी जहाँ सिद्धि करना है और जिसके द्वारा सिद्धि करना है उन प्रतिज्ञा और हेतुके सिवाय किसी तीसरे अवयवकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। पक्षमें हेतुके उपसंहारको उपनय तथा प्रतिज्ञाके उपसंहारको निगमन कहते हैं। ये केवल वाक्यसौन्दर्य या कही हुई वस्तुके दृढ़ीकरणके लिए भले ही उपयोगी हों, पर अनुमानके अत्यावश्यक अंग नहीं हो सकते। अत. धर्मी, साध्य और साधन अथवा अभेद विवक्षामें पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमानके अंग हैं।

धर्मी—धर्मी कहीं प्रमाणसे सिद्ध होता है कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण और विकल्प दोनोंसे। अस्तित्व या नास्तित्व साध्य रहनेपर धर्मी विकल्पसिद्ध होता है, क्योंकि सत्ता या असत्ताकी सिद्धिके पहले धर्मीकी केवल प्रतीति ही होती है, उसमें प्रमाणसिद्धता नहीं होती। धूमादिसे अग्नि आदिकी सिद्धि करते समय धर्मी प्रमाणसिद्ध है। सम्पूर्ण शब्दोंमें अनित्यत्व सिद्ध करनेके समय चूँकि वर्तमान शब्द प्रत्यक्ष सिद्ध है और अतीत, अनागत शब्द विकल्प सिद्ध हैं, अत. शब्द धर्मी उभयसिद्ध होता है।

बौद्ध अनुमानका विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, वास्तविक स्वलक्षण नहीं। धर्म और धर्मी यह व्यवहार भी उनके मतसे काल्पनिक है। आचार्य दिग्नागने कहा है[3]—कि समस्त अनुमान अनुमेय

१ प्र० वा० ३।२६।
२ न्यायसू० १।१।३२
३ देखो प्र० वा० स्ववृ० पृ० २४।

व्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मीन्यायसे चलता है, किसी वास्तविक धर्मीकी सत्ता नहीं है। देवने (न्यायवि० २।२) बताया कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष वास्तविक परपदार्थका ग्राहक है अनुमान भी वस्तुभूत अर्थको ही विषय करता है। यह ठीक है कि प्रत्यक्ष उसे स्फुट और रूपसे जाने और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार रूपसे, पर इतने मात्रसे एकको वस्तु और दूसरेको अवस्तुविषयक नहीं कहा जा सकता। एक ही सामान्यविशेषात्मक वस्तु है और व की पूरी प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणकी विषय होती है।

साध्य—साध्य अर्थात् सिद्ध करनेके योग्य। जो पदार्थ अभी तक असिद्ध है वही आता है। असिद्धके साथ ही साथ साध्यको इष्ट और शक्य अर्थात् अबाधित भी होना चाहिए वादीको इष्ट नहीं है वह साध्य नहीं हो सकता। इसी तरह जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, और स्ववचन आदिसे बाधित है वह साध्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि इष्ट, अबाधित और साध्य होता है और अनिष्ट, बाधित और सिद्ध साध्याभास। इष्टका अर्थ 'उक्त' नहीं है अनुक्त भी वादीको इष्ट हो सकता है और साध्य बन सकता है।

साधन—जैनाचार्योंने प्रारम्भसे ही साधनका एक मात्र लक्षण माना है अविनाभाव या नुपपत्ति। अविनाभाव अर्थात् विना—साध्यके अभावमें अ—नहीं भाव—होना। याने साध्यके अभावमें होना। अन्यथानुपपत्ति इसीका नामान्तर है। यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे होनेवाले नामके प्रमाणसे गृहीत होता है। यद्यपि बौद्धोंने भी अविनाभावको साधनका स्वरूप कहा है पर उस परिसमाप्ति वे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तिमें मानते हैं। यह त्रैरूप्य हेतुका स्वरूप है। इसका विवरण करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[1]ने लिखा है कि लिङ्गकी अनुमेयमें सत्ता ही होनी चाहिए, और सपक्षमें ही सत्ता तथा विपक्षमें असत्ता ही। इसकी आलोचना करते हुए अकलङ्कदेवने लिखा[2] है कि त्रैरूप्यमें केवल विपक्ष व्यावृत्ति ही हेतुका लक्षण हो सकती है पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व नहीं। एक मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है। इस पूर्वचरानुमानमें पक्षधर्मत्व नहीं है फिर भी अविनाभावके कारण यह सद्हेतु है। इसी तरह 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' बौद्धोंके इस प्रसिद्ध अनुमानमें सपक्षसत्त्व न रहनेपर भी गमकता स्वयं उन्होंने मानी है। अतः अविनाभाव ही एकमात्र हेतुका स्वरूप हो सकता है।

नैयायिक(न्यायवा० १।१।५) त्रैरूप्य के साथ अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वको भी हेतुका आवश्यक अङ्ग मानकर पञ्चरूपमें अविनाभावकी परिसमाप्ति करते हैं। इनमें अबाधितविषयत्व तो पक्ष के अबाधित विशेषणसे ही गतार्थ हो जाता है क्योंकि जिस हेतुका अविनाभाव प्रसिद्ध है उसके स्वरूपमें किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अविनाभावी हेतुका समान बलशाली कोई प्रतिपक्षी भी सम्भव नहीं है अतः असत्प्रतिपक्षत्व रूप भी निरर्थक है। 'अद्वैतवादियोंके प्रमाण हैं इष्ट-साधन और अनिष्ट दूषण अन्यथा नहीं हो सकते' इस अनुमानमें पक्षधर्मत्वके अभावमें भी सत्यता है। क्योंकि इस अनुमानके पहिले प्रमाण नामकी वस्तु अद्वैतवादियोंके यहाँ प्रसिद्ध ही नहीं है, जिसमें रहकर हेतु पक्षधर्मवाला बनता।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुटीका (पृ० २०५) में ज्ञातत्व और विवक्षितैकसंख्यत्व नामके अन्य दो रूपोंका भी पूर्वपक्षके रूपमें उल्लेख मिलता है। इनमें ज्ञातत्व रूप इसलिए अनावश्यक है कि हेतु ज्ञात होकर ही साध्यका अनुमापक होता है। यह एक साधारण बात है। इसी तरह विवक्षितैकसंख्यत्व भी अपनी कोई विशेषता नहीं रखता। कारण अविनाभावी हेतुका द्वितीय प्रतिपक्षी सम्भावित ही नहीं है जो विवक्षित हेतुकी एक संख्याका विघटन करे। धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमी आदिने[3] रोहिणीके उदय-का अनुमान करानेवाले कृत्तिकोदय हेतुमें काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेका प्रयास

---

१ न्यायवि० २।५।७। २ लघी० श्लोक १३-१४, (अकलङ्कग्रन्थत्रय)।

३ प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११।

किया है। पर इस तरहका परम्पराश्रित लम्बा प्रयास करनेसे पृथ्वी रूप धर्मीकी अपेक्षा महानसगत हेतु समुद्रमें भी अग्निसिद्ध करनेमें पक्षधर्मत्वरहित नहीं होगा। व्यभिचारी हेतुओंमें भी काल, आकाश पृथ्वी आदिकी अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा।

यद्यपि व्याप्तिके बहिर्व्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति और सकलव्याप्ति ये तीन भेद किये जाते हैं पर केवल अन्तर्व्याप्ति ही साध्यसिद्धिके लिए आवश्यक है। पक्षमें साध्य और साधनकी व्याप्तिको अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। सपक्षमें साध्य-साधनकी व्याप्ति बहिर्व्याप्ति और पक्ष तथा सपक्ष दोनोंमें होनेवाली व्याप्ति सकलव्याप्ति कहलाती है।[1] अन्तर्व्याप्तिके असिद्ध रहनेपर बहिर्व्याप्ति निरर्थक है अतः बहिर्व्याप्तिका प्रयोजक-सपक्ष सत्त्व रूप भी अनावश्यक ही है। अत.[2] पात्रकेसरी स्वामीने ठीक ही कहा है कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रैरूप्य माननेसे क्या और जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रैरूप्य माननेसे क्या? पात्रकेसरी स्वामीकी यही अन्यथानुपपन्नत्व कारिका अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चयमें ले ली है। इसीका अनुकरण करके विद्यानन्द स्वामीने प्रमाणपरीक्षा (पृ० ७२) में लिखा है कि जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पञ्चरूप माननेसे क्या और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ पञ्चरूप माननेसे क्या?

बौद्ध[3] अविनाभावको तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे नियत मानते हैं। उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं–कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतु। इनमें स्वभावहेतु और कार्यहेतु विधिसाधक है तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक। स्वभावहेतुमें तादात्म्य सम्बन्ध, कार्यहेतुमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध और अनुपलब्धि हेतुमें यथासम्भव दोनो सम्बन्ध अविनाभावके प्रयोजक होते हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमें गमकता देखी जाती है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वहाँ वह अविनाभाव तादात्म्य या तदुत्पत्ति प्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्यके साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होनेपर भी मात्र अविनाभावसे वे अपने नियत साध्यका ज्ञान कराते हैं, जैसे कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर और उत्तरचर हेतु। कृत्तिकोदयसे अतीत भरणीके उदयका अनुमान तथा भविष्यत् शकटोदयका अव्यभिचारी अनुमान देखा जाता है। पर इनमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही।

हेतुके भेद—अकलङ्कदेवने सामान्यतया हेतुके उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दो भेद किये हैं। दोनो ही प्रकारके हेतु विधि और निषेध दोनोंको सिद्ध करते हैं। उपलब्धिके स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये ६ भेद हैं।

१ स्वभावहेतु–यह वृक्ष है शिंशपा होनेसे।

२ कार्यहेतु–पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे।

३ कारणहेतु–वृक्षसे छायाका ज्ञान और चन्द्रमासे जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बका ज्ञान कारणहेतु है। यद्यपि 'कारण अवश्य ही कार्योंको उत्पन्न करे' यह नियम नहीं है क्योंकि कारणोंकी सामर्थ्यमें रुकावट तथा सामग्रीके अन्तर्गत कारणान्तरोंकी विकलता देखी जाती है किन्तु ऐसे कारणसे जिसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरोंकी विकलता न हो, कार्यका अनुमान होता ही है। अनुमान करनेवालेकी असक्तिसे अनुमानको दोष नहीं दिया जा सकता।

४ पूर्वचर–कृत्तिका नक्षत्रका उदय देखकर 'एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय होगा' यह अनुमान पूर्वचरानुमान है। यहाँ कृत्तिकोदय और भावी शकटोदयमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न कार्य-कारण भाव ही। अत. इसे पृथक् हेतु ही मानना चाहिए।

५ उत्तरचर हेतु–कृत्तिकाका उदय देखकर 'एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय हो चुका है' यह अनुमान उत्तरचरानुमान है।

६ सहचर हेतु–चन्द्रमाके इस भागको देखकर उसके उस भागका अनुमान, तराजूके एक पलड़े

१ प्रमाणस० श्लो० ५०। २ सिद्धिवि० टी० लि० हेतुलक्षणसिद्धि परि०। तत्त्वसं० का० १३६४। ३ न्यायवि० २।२५

को नीचा देखकर दूसरे पलड़ेके ऊँचे होनेका अनुमान, रस चखकर रूपका अनुमान और सास्नासे गौका अनुमान सहचरहेतुसे होते हैं। इनमें अपने साध्योंके साथ न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही।

अनुपलब्धि—बौद्ध[1] दृश्यानुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि मानते हैं। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित और विप्रकृष्ट–दूरवर्ती न हो तथा प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर अवश्य ही उपलब्ध होती है। उपलब्धिके अन्य समस्त कारण रहनेपर भी यदि वह वस्तु उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्मादि पदार्थोंमें हमलोगोंके प्रत्यक्ष आदिकी निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव नहीं माना जा सकता। प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि तो होती है पर प्रमाणाभावसे प्रमेयका अभाव नहीं किया जा सकता। अतः अदृश्य पदार्थकी अनुपलब्धि संशयका हेतु होनेसे अभावको सिद्ध नहीं कर सकती।

अकलङ्कदेवने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा[2] है कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व ही नहीं लेना चाहिए किन्तु उसकी सीमा प्रमाणविषयत्व तक करना चाहिए। इसका फलितार्थ यह है कि जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय है वह यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव हम व्यापार वचन आदि चेष्टाओंका अभाव देखकर ही करते हैं। यहाँ चैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्व रूप दृश्यत्व तो नहीं है, क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्षका विषय कभी नहीं होता। जिन चेष्टाओंसे उसका अनुमान किया जाता है उन्हींका अभाव देखकर उसका अभाव सिद्ध करना न्याय्य है। यदि[3] अदृश्यानुपलब्धि एकान्ततः संशय हेतु हो तो मृत शरीरमें चैतन्यकी निवृत्तिका संदेह सदा बना रहेगा। ऐसी हालतमें दाहसंस्कार करनेवालोंको हिंसाका पाप लगना चाहिए। हाँ, जिन पिशाचादिकोंका सद्भाव हम किसी भी प्रमाणसे न जान सकें ऐसे सर्वथा अदृश्य–प्रमाणागम्य पदार्थोंका अभाव अनुपलब्धिसे नहीं किया जा सकता। अतः जिस वस्तुको हम जिन जिन प्रमाणोंसे जानते हैं उस वस्तुका उन उन प्रमाणोंके अभावमें अवश्य ही अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

अकलङ्कदेवने प्रमाण संग्रह (पृ० १०४–५)में सद्भाव साधक ६ उपलब्धियोंको तथा अभावसाधक ६ अनुपलब्धियोंको कण्ठोक्त कहकर शेष अनुपलब्धिके भेद-प्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है। वे इस प्रकार हैं—

१ स्वभावोपलब्धि–आत्मा है उपलब्ध होनेसे।

२ स्वभावकार्योपलब्धि–आत्मा थी, स्मरण होनेसे।

३ स्वभावकारणोपलब्धि–आत्मा होगी सत् होनेसे।

४ सहचरोपलब्धि–आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीरमें उष्णताविशेष) पाये जानेसे।

५ सहचरकार्योपलब्धि–काय-व्यापार हो रहा है, वचन-प्रवृत्ति होनेसे।

६ सहचरकारणोपलब्धि–आत्मा सप्रदेशी है, सावयव शरीरके प्रमाण होनेसे।

असद्व्यवहार साधनके लिए ६ अनुपलब्धियाँ–

१ स्वभावानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होनेसे।

२ कार्यानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३ कारणानुपलब्धि–क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता।

४ स्वभावसहचरानुपलब्धि–आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीरमें आकारविशेष) नहीं पाया जाता।

---

१ न्यायबि० २।२६।

२ लघी० श्लो० १५।

३ अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२।

५ सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार आकार विशेष तथा वचन विशेषकी लब्धि होनेसे।

६ सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है।

सद्व्यवहारके निषेधके लिए ३ उपलब्धियाँ—

१ स्वभाव विरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से।

२ कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसंवादी होने से।

३ कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्तिको परीक्षाका फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्तका ग्रहण किया है।

हेत्वाभास—नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं अतः उनके मतसे एकएक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये ५ हेत्वाभास होते हैं। बौद्धने हेतुको त्रैरूप्य माना है अतः वह पक्षधर्मत्वके अभावमें असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावमें विरुद्ध और विपक्षाद्व्यावृत्तिके अभावमें अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास मानता है।

अकलङ्कदेवने चूँकि अन्यथानुपपत्ति लक्षण हेतु एक प्रकारका ही माना है अतः उनके मतसे अन्यथानुपपत्तिके अभावमें हेतुकी तरह मालूम होनेवाला हेत्वाभास भी सामान्यतया एक ही प्रकारका है और उसका नाम है असिद्ध[1]।

चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है। अतः हेत्वाभास भी असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्करके भेदसे चार प्रकारका है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ असिद्ध—

'सर्वथात्ययात्' अर्थात् सर्वथा पक्षमें न पाया जानेवाला, अथवा जिसका साध्यसे अविनाभाव न हो वह असिद्ध है जैसे—शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से।

२ विरुद्ध—

'अन्यथाभावात्' अर्थात् साध्यके अभावमें पाया जानेवाला। जैसे—सब पदार्थ क्षणिक हैं सत् होनेसे। सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विरुद्ध कथञ्चित् क्षणिकत्वसे व्याप्ति रखता है अतः विरुद्ध है।

३ अनैकान्तिक—

'अन्यथापि भावात्' अर्थात् पक्ष और सपक्षकी तरह विपक्षमें भी पाया जानेवाला। जैसे—सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त वक्तृत्व आदि हेतु असर्वज्ञकी तरह सर्वज्ञमें भी पाये जाते हैं। यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धानैकान्तिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।

४ अकिञ्चित्कर—

सिद्ध और प्रत्यक्षादि बाधित साध्यमें प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर होता है। अथवा अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी हेतु हैं वे सभी अकिञ्चित्कर हैं।

[2]दिग्नागाचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एकधर्मीमें प्रयोग होनेपर, प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है। [3]धर्मकीर्ति इसे हेत्वाभास नहीं मानते। वे लिखते हैं कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे सिद्ध है उसका विरुद्धसे त्रैरूप्य रखनेवाला कोई हेतु हो ही नहीं सकता। जैसे-जिस हेतुका नित्यत्वके साथ त्रैरूप्य निश्चित है उसका अनित्यत्वके साथ त्रैरूप्य नहीं हो सकता। अतः आगमाश्रित्त हेतुमें इसकी प्रवृत्ति मानकर आचार्यके वचनकी सङ्गति लगा लेनी चाहिए। क्योंकि शास्त्रकी प्रवृत्ति अतीन्द्रिय

---

१ न्यायवि० श्लोक २।१९७।

२ देखो न्यायबि० ३।१२। ३ न्यायबि० ३।१३।

विषयोंमें होती है और शास्त्रकार एक ही वस्तुको परस्परविरोधी रूपसे भी कथन कर जाते हैं। अतः ऐसे स्थलमें इस हेत्वाभासकी सम्भावना है। [1]अकलङ्कदेवने इसका विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी अर्थात् विपक्षमें रहता है वह विरुद्ध हेत्वाभास ही होगा।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुकी टीका (पृ० २०५) में एक षड्लक्षण हेतुवादीका मत आता है। उसने पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये ६ लक्षण हेतुके बताये हैं। इनमें ज्ञातत्व नामके रूपका निर्देश होनेसे इस वादीके मतसे "अज्ञात" नामका हेत्वाभास भी फलित होता है। [2]अकलङ्कदेवने इस अज्ञात हेत्वाभासका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव किया है। और प्रकरणसमका जो कि दिग्नागके विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया है। इस तरह अकलङ्कदेवने सामान्यरूपसे एक हेत्वाभास कहकर भी, विशेष रूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासोंका कथन किया है।

अकलङ्कदेवका अभिप्राय अकिञ्चित्कर हेत्वाभासको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे लिखते[3] हैं कि सामान्यसे एक असिद्ध-हेत्वाभास है। वही विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखा है कि अन्यथानुपपत्ति रहित जितने त्रिलक्षण हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी असिद्ध या अकिञ्चित्कर संज्ञा रखना चाहते हैं। इसको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेका उनका आग्रह नहीं दिखता। यही कारण है कि उत्तरकालीन आचार्य[4] माणिक्यनन्दीने अकिञ्चित्करका लक्षण और भेद कर चुकनेके बाद लिखा है कि इस हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणोंके समय ही करना चाहिए शास्त्रार्थके समय नहीं। उस समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है।

अनुमानकी आवश्यकता—दर्शनके क्षेत्रमें चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादीको छोड़कर सभीने अनुमानको प्रमाण माना है। चार्वाक भी व्यवहारमें अनुमानकी उपयोगिता मानता है उसका अनुमानके निषेधसे इतना ही अर्थ है कि परलोकादि अतीन्द्रिय पदार्थोंमें उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसने अनुमानका निषेध करते समय विशेष रूपसे यही लिखा है कि कितनी भी सतर्कतासे अनुमान क्यों न किया जाय किन्तु वह देशान्तर, कालान्तर और परिस्थितियोंकी भिन्नताके कारण व्यभिचारी देखा जाता है। अग्निसे उत्पन्न होनेवाला भी धुआँ, बामीमें अग्निके अभावमें भी दिखाई देता है। कसैले आँवले देशान्तरमें या द्रव्यान्तरके संयोगसे मीठे देखे जाते हैं। किसी देशमें शिंशपाकी लता भी होती है। अनन्त व्यक्तियोंकी देश-कालके अनुसार अनन्त परिस्थितियाँ होती हैं। अनन्त पदार्थ भी इसी तरह परिस्थितियोंके भेदसे अनन्तानन्त प्रकारके हैं। इनमें किसी एक अव्यभिचारी नियमका बनाना अत्यन्त कठिन है। पदार्थकी सामान्य रूपसे सिद्धि करनेमें सिद्धसाधन है और विशेषमें अनुगम नहीं देखा जाता और तद्तद्-विशेषोंके सम्बन्ध ग्रहण करनेमें पुरुषकी आयु ही समाप्त हो जायगी। इतनी सब कठिनाइयोंके रहनेपर भी अनुमानकी प्रमाणतासे इनकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्षकी प्रमाणताका समर्थन अनुमानके बिना नहीं हो सकता। इसमें अविसंवादी या अगौणत्व हेतुसे एक प्रत्यक्ष व्यक्तिमें प्रमाणता देखकर तादृश समस्त प्रत्यक्ष व्यक्तियोंको प्रमाण माननेकी पद्धति स्वीकार करनी ही होगी। जहाँ अनुमान करनेवालेकी असावधानीसे ग़लत जगह सम्बन्ध मान लिया जाता है या ग़लत हेतुका प्रयोग हो जाता है वहाँ उसके अपराधसे अनुमान मात्रको अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। बहुतसे प्रत्यक्ष भी सदोष हेतुओंसे उत्पन्न होनेके कारण सन्दिग्ध और विपर्यस्त होते हैं, पर इतने मात्रसे निर्दुष्ट प्रत्यक्षोंको उसी अप्रमाण कोटिमें शामिल नहीं किया जा सकता। अतः ज्ञानकी स्थिति जब प्रमाणता और अप्रमाणताके झूलेमें झूलती रहती है तब किसी ज्ञानमें प्रमाणता और किसीमें अप्रमाणताके निश्चय करनेके

१ प्रमाणसं० श्लो० ४७। २ प्रमाणसं० श्लो० ४९। ३ न्यायवि० २।१९७-९८।
४ परीक्षामुख ६।३९।

लिए किसी अविनाभावी सामान्य नियमकी खोज करनी होगी। ऐसे ही नियम अनुमानके आधारसे न हैं। जगत्का समस्त व्यवहार या बृहस्पतिका अपने शिष्योंको उपदेश देना आदि परचैतन्यके निश्चयके बिना नहीं चलता और परचैतन्यका निश्चय प्रत्यक्षसे तो सम्भव ही नहीं है। वह तो व्यापार, वचन, चेष्टा आदिसे ही किया जाता है, अतः अविनाभावी चेष्टाओंसे पर-चैतन्यकी प्रतिपत्ति करना अनुमान ही तो है। शिष्योंको परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका निषेध भी अनुपलब्धि हेतुसे ही समझाया जाता है। यह भी अनुमानका ही एक प्रकार है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षकी प्रमाणता, परचैतन्यकी प्रतिपत्ति और परलोकादिका निषेध यहाँ तक कि अनुमानकी प्रमाणताका निषेध भी अनुमानके बिना नहीं हो सकता।

अनुमानका विषय–बौद्ध[1], अनुमानका विषय कल्पित सामान्य मानते हैं। उनके मतसे सामान्य वस्तुभूत नहीं है। जिन वस्तुओंमें अतत्कारण व्यावृत्ति और अतत्कार्य व्यावृत्ति देखी जाती है उनमें बुद्धि अभेदका अध्यवसाय करके अनुगत ज्ञान कराने लगती है। जैसे खण्डी, मुण्डी, शाबलेय, बाहुलेय आदि गौ व्यक्तियाँ स्व–पूर्व गौका कार्य हैं और स्व–उत्तर गौके कारण हैं। यानी न तो वे अ-गौका कारण हैं और न अ-गौका कार्य। अतः यह अ-गौ कारणव्यावृत्ति और अ-गौ कार्य व्यावृत्ति जिन-जिनमें देखी जाती है उन उनमें "गौ, गौ" यह अनुगत प्रत्यय होता है। वस्तुतः अनेक गौओंमें रहनेवाला गोत्व नामका एक सामान्य नहीं है। उनमें भावात्मक सदृशपरिणामरूप सामान्य भी नहीं है। केवल व्यवहारी अतत्कार्य-कारणव्यावृत्ति रूप अपोहसे सामान्य व्यवहार निभा लेता है। चूँकि यह अपोह बुद्धिकल्पित है अतः उसे वस्तुतः सत् नहीं कह सकते। यदि यह वस्तुसत् होता तो स्वलक्षणकी तरह अनित्य और परमाणुरूप ही होता। ऐसी दशामें उससे व्यक्तियोंकी तरह अनुगतज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे अवस्तुभूत सामान्यको विषय करनेपर भी अनुमान अप्रमाण नहीं होता क्योंकि अनुमानके द्वारा सामान्यका ग्रहण होनेपर भी उससे प्राप्ति तो स्वलक्षण वस्तुकी ही होती है। अतः प्राप्य स्वलक्षणकी अपेक्षा उसे प्रमाण कहा जाता है। विकल्प्य और प्राप्यमें एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानमें जिस वस्तुक्षणसे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह वस्तुक्षण प्रवृत्ति कालतक क्षणिक होनेसे ठहरता नहीं है फिर भी दृश्यक्षण और प्राप्यक्षणमें एक सन्तानकी दृष्टिसे एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति और तन्मूलक-प्रामाण्य सम्भव है उसी तरह अनुमानमें विकल्प्य–अनुमेय और प्राप्य–वस्तुसत् स्वलक्षणमें एकत्वाध्यवसाय करके अविसंवादित्व और प्रामाण्य आ जाता है। उपर्युक्त अपोह-रूप-सामान्य ही शब्दका विषय होता है।

अकलङ्कदेवने (न्यायवि॰ परि॰ २) इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि विभिन्न गौ व्यक्तियोंमें अनुगतरूपसे रहनेवाला नित्य एक सामान्य तो जैन भी नहीं मानते पर सदृशपरिणाम रूप-सामान्यके माने बिना कल्पित अपोहकी व्यवस्था नहीं की जा सकती। यदि शाबलेय गौव्यक्ति बाहुलेय गो-व्यक्तिसे उतनी ही भिन्न है जितनी कि अश्व-व्यक्तिसे, तो क्या कारण है कि शाबलेय और बाहुलेयमें ही अ-गौव्यावृत्ति मानी जाय अश्वव्यक्तिमें नहीं, यदि अश्व व्यक्तिसे कुछ कम विलक्षणता गो-व्यक्तियोंमें परस्पर है तो उसका ही यह अर्थ है कि उनमें ऐसी समानता है जो अश्वव्यक्तिमें नहीं पाई जाती। यह समानपरिणाम या सादृश्य ही सामान्य कहलाता है। यद्यपि यह सामान्य प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ है तथापि उसकी अभिव्यक्ति या व्यवहार दूसरी सजातीय व्यक्तिकी अपेक्षासे ही होता है। इसलिए उसे अनेकनिष्ठ कह देते हैं। यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है कि वस्तुमें समान और असमान दोनों प्रकारके धर्म पाये जाते हैं। इन उभयविध धर्मोंसे क्रमशः अनुगत और व्यावृत्त व्यवहार होता है। अन्य समानधर्मकी बात जाने दीजिए पर विभिन्न गौ व्यक्तियोंमें अनुगत व्यवहारका नियामक अगौव्यावृत्तिरूप सामान्य-धर्म तो बौद्ध स्वयं स्वीकार करते ही हैं। जब वे स्वयं अपरापर क्षणोंमें सादृश्यके कारण एकत्व भान तथा सीपमें सादृश्यके ही कारण रजतभ्रम स्वीकार करते हैं तब अनुगत व्यवहारके लिए सादृश्यको

---

१ न्यायवि॰ १।१६, १७।

स्वीकार करनेमें उन्हें क्या बाधा है ? अतद् व्यावृत्ति या बुद्धिगत अभेद प्रतिबिम्ब रूप अपोहका निर्वाह भी सादृश्यके माने बिना नहीं हो सकता। अतः सदृशपरिणाम रूप ही सामान्य मानना चाहिए। यह स्वलक्षणकी तरह वस्तु-भूत परमार्थसत् है संवृतिसत् नहीं। शब्द और विकल्पज्ञान इसी सामान्यसे विशिष्ट सामान्यविशेषात्मक वस्तुको विषय करते हैं, न केवल सामान्यात्मक और न केवल विशेषात्मकको ही। शब्दको सुनकर हमें 'यह गौ है' ऐसा विध्यात्मक बोध होता है न कि 'अगौ नहीं है' ऐसा निषेधात्मक। प्रत्येक पदार्थ सदृशा-सदृशात्मक है। एक द्रव्यव्यक्तिका अपनी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यसे होता है तथा विभिन्न द्रव्योंमें अनुगतप्रत्यय तिर्यक् सामान्यसे। ऊर्ध्वता-सामान्य वास्तविक अभेद रूप है जब कि तिर्यक् सामान्य सादृश्यरूप। इसमें अभेद व्यवहार उपचारसे ही होता है। तात्पर्य यह कि वस्तुकी स्थिति जब स्वयं सामान्यविशेषात्मक है तब प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी उभयात्मक अर्थको ही विषय करता है न कि केवल सामान्यको। प्रमेयद्वैविध्यसे प्रमाण-द्वैविध्यकी कल्पना भी उचित नहीं है क्योंकि प्रमेयमें सामान्य और विशेष रूपसे द्वैविध्य है ही नहीं। वह तो एक ही प्रकारका है। अतः प्रमाणभेदका आधार प्रमेयभेद न होकर प्रतिभासभेद ही है।

सामान्यविशेषात्मक या अनेकान्तात्मक पदार्थमें ही साध्य-साधनभावकी व्यवस्था होती है। केवल भेदात्मक या अभेदात्मक पदार्थ न तो साध्य बन सकते हैं और न साधन।

दृष्टान्त–जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि अनुमानके आवश्यक अङ्ग दो ही हैं–प्रतिज्ञा और हेतु। पर शिष्योंके अनुग्रहके लिए दृष्टान्त आदिकी उपयोगितासे इन्कार नहीं किया जा सकता। साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान जहाँ होता है उस प्रदेशको दृष्टान्त कहते हैं और दृष्टान्तके वचनको उदाहरण। चूँकि व्याप्ति, अन्वय और व्यतिरेक या साधर्म्य या वैधर्म्य रूपसे दो प्रकार की होती है अतः दृष्टान्त भी साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त इस तरह दो प्रकारके हो जाते हैं। वस्तुतः जब दृष्टान्त अनुमानका नियत अवयव नहीं है तब प्रत्येक अनुमानमें दोनों दृष्टान्त या किसी एक दृष्टान्तकी उपलब्धि हो ही, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। इसीलिए 'सब पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं सत् होनेसे' इस अनुमानप्रयोगमें सबको पक्ष करनेके कारण साधर्म्य दृष्टान्त तो है ही नहीं पर वैधर्म्यदृष्टान्त भी खरविषाण आदि बुद्धिकल्पित ही बताये जाते हैं। केवल व्यतिरेकी अनुमानमें यद्यपि व्यतिरेक दृष्टान्त वस्तुभूत उपलब्ध हो जाता है पर अन्वयदृष्टान्त नहीं ही मिलता।

'सब क्षणिक हैं सत् होनेसे' इस अनुमानमें यद्यपि सबको पक्ष करनेके कारण पक्षसे भिन्न किसी दृष्टान्तका अस्तित्व नहीं है किन्तु पक्षान्तर्गत बिजली आदि प्रसिद्ध क्षणिक पदार्थोंको शिष्योंको समझानेके लिए दृष्टान्त मान लिया जाता है।

दृष्टान्त न होकर भी जो दृष्टान्तकी तरह मालूम पड़े वह दृष्टान्ताभास है। इसके साध्यविकल, साधनविकल, उभयविकल आदि १८ भेद हो जाते हैं। नौ अन्वय व्याप्तिमें तथा नौ व्यतिरेकव्याप्तिमें। अन्वयव्याप्तिके ९ दृष्टान्ताभास इस प्रकार हैं–

१ साध्यविकल–'शब्द नित्य है क्योंकि वह अमूर्त है' इस अनुमानमें कर्म–क्रियाका दृष्टान्त साध्यविकल है। क्योंकि वह नित्य न होकर अनित्य है।

२ साधनविकल–उक्त अनुमानमें परमाणुका दृष्टान्त साधन विकल है क्योंकि परमाणु मूर्तिक होता है।

३ उभयविकल–उक्त अनुमानमें घटका दृष्टान्त उभयविकल है क्योंकि घट मूर्तिक है और अनित्य भी।

४ सन्दिग्धसाध्य–'सुगत रागादिवाले हैं क्योंकि वे कृतक हैं' इस अनुमानमें रथ्यापुरुषका दृष्टान्त साध्यविकल है क्योंकि उसमें रागादिका सद्भाव या अभाव अनिश्चित है। सराग भी वीतरागकी तरह चेष्टाएँ करते देखे जाते हैं अतः चेष्टाओंसे वीतरागता या सरागताका सुनिश्चय नहीं किया जा सकता।

५ सन्दिग्धसाधन–'सुगतका मरण होता है क्योंकि वह रागादिवाला है' इस अनुमानके पुरुष दृष्टान्तमें रागादिमत्त्व साधन सन्दिग्ध है।

६ सन्दिग्धोभय–'सुगत असर्वज्ञ हैं क्योंकि वे रागादिवाले हैं' इस अनुमानमें रथ्यापुरुष में रागादिमत्त्व और असर्वज्ञत्व दोनों सन्दिग्ध हैं।

७ अप्रदर्शितान्वय–जैसे 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह घटादिकी तरह कृतक है' इस अनुमानमें 'जो जो कृतक होते हैं वे वे अनित्य होते हैं' इस प्रकार अन्वयव्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तका प्रदर्शन नहीं किया गया अतः घटादिवत् यह दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय है।

८ विपरीतान्वय–उक्त अनुमानमें 'जो अनित्य हैं वे कृतक हैं' इस प्रकार विपरीतव्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तका कहना विपरीतान्वय है। क्योंकि बिजली आदि अनित्य होकर भी कृतक–किसीके प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाली नहीं हैं। अपने आप चमकती हैं।

९ अनन्वय–जहाँ अन्वयव्याप्ति न मिलती हो वहाँ अन्वयदृष्टान्त देना अनन्वय कहलाता है।

व्यतिरेकव्याप्तिके ९ दृष्टान्ताभास–

१ साध्यव्यतिरेकविकल–'शब्द नित्य है क्योंकि वह अमूर्त है' इस अनुमानके परमाणु दृष्टान्तमें साध्यव्यतिरेक नहीं पाया जाता क्योंकि परमाणु नित्य हैं।

२ साधनव्यतिरेकविकल–उक्त अनुमानमें कर्मका दृष्टान्त साधनव्यतिरेक विकल है क्योंकि कर्म अमूर्त होता है।

३ उभयव्यतिरेकविकल–उक्त अनुमानमें आकाशका दृष्टान्त उभयविकल है क्योंकि आकाश नित्य भी है और अमूर्त भी।

४ सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक–'सुगत सर्वज्ञ हैं क्योंकि उनके वचन प्रामाणिक हैं' इस अनुमानके रथ्यापुरुष दृष्टान्तमें साध्यव्यतिरेक सन्दिग्ध है। सर्वज्ञता और असर्वज्ञता दोनों ही चित्तके धर्म होनेसे अतीन्द्रिय हैं और इसीलिए सन्दिग्ध भी हैं।

५ सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक–'जैसे शब्द अनित्य है सत् होनेसे' इस अनुमानमें आकाशका दृष्टान्त इसलिए साधनव्यतिरेकविकल है कि अतीन्द्रिय होनेसे उसके सद्भावका निश्चय होना कठिन है।

६ सन्दिग्ध उभयव्यतिरेक–'हरिहरादि संसारी हैं क्योंकि वे अविद्यावाले हैं' इस अनुमानके बुद्धके दृष्टान्तमें संसारित्वकी व्यावृत्ति और अविद्याकी व्यावृत्ति दोनों सन्दिग्ध हैं।

७ अव्यतिरेक–शब्द नित्य है अमूर्त होनेसे। जो नित्य नहीं है वह अमूर्त भी नहीं है जैसे कि घट। यहाँ यद्यपि नित्यत्व और अमूर्तत्व दोनोंकी व्यावृत्ति पाई जाती है पर अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति नित्यत्वकी व्यावृत्तिके कारण नहीं है क्योंकि कर्म अनित्य होकर भी अमूर्तिक है।

८ विपरीतव्यतिरेक–पूर्वोक्त अनुमानमें जो सत् नहीं है वह अनित्य नहीं है जैसे आकाश। यहाँ साधनकी व्यावृत्तिमें साध्यकी व्यावृत्ति दिखाई गई है जब कि साध्यकी व्यावृत्तिमें साधनकी व्यावृत्ति दिखाई जानी चाहिए।

९ अप्रदर्शितव्यतिरेक–शब्द अनित्य है क्योंकि वह सत् है जैसे आकाश। यहाँ 'जो अनित्य नहीं है वह सत् भी नहीं है' इस प्रकारकी व्यतिरेक व्याप्तिका कथन नहीं किया गया है। इस तरह १८ दृष्टान्ताभास होते हैं।

वाद–वादाभास–जबसे मनुष्यमें विचारशक्तिका विकास हुआ तभीसे पक्ष-प्रतिपक्षके रूपमें विचारधारा टकराई भी है। इसीसे वादप्रवृत्तिका जन्म हुआ। नैयायिक कथाके तीन भेद मानते हैं— वाद, जल्प और वितण्डा। वीतराग कथाका नाम 'वाद' है और विजिगीषुकथा जल्प और वितण्डा कहलाती हैं। जब तत्त्व-निर्णयके उद्देश्यसे समानधर्मियोंमें या गुरुशिष्योंमें पक्ष-प्रतिपक्षको लेकर जो चर्चा चलती है तब वह चर्चा 'वाद' कहलाती है और तत्त्व-संरक्षणके साम्प्रदायिक ध्येयसे होनेवाला शास्त्रार्थ 'जल्प' कहलाता है। यही जल्प जब अपने पक्षका स्थापन न करके केवल प्रतिपक्षका खण्डन ही

खण्डन करता है तब वह वितण्डा बन जाता है। वादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कसे किये जाते हैं जब कि जल्प और वितण्डामें प्रमाण और तर्कके सिवाय छल, जाति और निग्रह स्थान जैसे असद् उपायोंका भी आलम्बन लिया जाता है। न्यायसूत्रकारने लिखा[1] है कि जैसे खेत रक्षाके लिए काँटोंकी बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वाध्यवसायके संरक्षणके लिए जल्प और वितण्डाका भी स्थान है। काँटोंकी बारीमें जिस प्रकार अच्छे-बुरे वृक्षका विचार न करके खेत संरक्षण ही एक मुख्य उद्देश्य रहता है उसी तरह जल्प और वितण्डामें छल जाति आदि असद् उपायोंसे आ... कोई हानि नहीं समझी जाती। नैयायिक इन छलादिके प्रयोगोंको असदुत्तर मानकर भी अवस्था-विशेषमें[5] इनके प्रयोगको न्याय्य मान लेता है और साधारण अवस्थामें उनके प्रयोगका निषेध भी करता है। वादमें अपसिद्धान्त, न्यून, अधिक और हेत्वाभास इन निग्रहस्थानोंका प्रयोग नैयायिकको स्वीकृत है पर वह वादमें इनके प्रयोगको निग्रहबुद्धिसे नहीं करना चाहता किन्तु तत्त्वनिर्णयकी बुद्धिसे ही करता है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति छलादिके प्रयोगको वादमें उचित नहीं मानते। उन्होंने वादन्यायका प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि धूर्त लोग सद्वादीको भी असदुत्तरोंसे चुप कर देते हैं, उनके निराकरणके लिए यह वादन्याय[2] शुरू किया जाता है।

अकलङ्कदेव छलादि असदुत्तरोंको सर्वथा अन्याय्य बताकर संक्षेपमें समर्थवचनको वाद कहते हैं। वादी और प्रतिवादियोंका मध्यस्थके समक्ष स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण करना वाद है। छलादिके प्रयोगको अन्याय्य मान लेनेके बाद जल्प और वादमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए वे यथेच्छ[3] कहीं जल्प और कहीं[4] वाद शब्दका प्रयोग करते हैं। उनने वितण्डाको जिसमें वादी अपने पक्षका स्थापन न करके मात्र परपक्षका निराकरण ही निराकरण करता है वादाभास कहा[5] है, यह सर्वथा त्याज्य है।

जय-पराजय व्यवस्था—स्वपक्ष सिद्धिको जय कहते हैं। वादीका कर्तव्य है कि वह साधनका प्रयोग करके स्वपक्षका साधन करे तथा प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दूषणका उद्धार करे। इसी तरह प्रतिवादीका कर्त्तव्य है कि वह वादीके पक्षको दूषित बताकर स्वपक्षका साधन करे। जब वादी या प्रतिवादी अपने इन कर्त्तव्योंमें चूकते हैं तो उनकी पराजय होती है। नैयायिकने[6] इसके लिए कुछ नियम बनाये हैं जिन्हें वह निग्रहस्थान शब्दसे कहता है। सामान्यतया निग्रहस्थान विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिके भेदसे दो प्रकारका है। विप्रतिपत्ति अर्थात् विरुद्ध या कुत्सित प्रतिपत्ति। अप्रतिपत्ति अर्थात् प्रतिपत्तिका अभाव–जो करना चाहिए वह नहीं करना तथा जो न करना चाहिए वह करना। निग्रह-अर्थात् पराजय। ये पराजयके स्थान प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, आदिके भेदसे २२ प्रकारके हैं। इनमें बताया है कि यदि कोई वादी प्रतिज्ञाकी हानि करे, दूसरी प्रतिज्ञा करे या प्रतिज्ञाको छोड़ बैठे, एक हेतुके दूषित होनेपर उसमें कोई विशेषण जोड़ दे, असम्बद्ध पद वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी या परिषद् समझ न सके, हेतु दृष्टान्त आदिका क्रम भङ्ग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायँ या अधिक कहे जायँ, पुनरुक्ति हो, वादीके द्वारा कहे गये पक्षका प्रतिवादी अनुवाद न कर सके, उसका उत्तर न दे सके, वादीके द्वारा दिये गये दूषणको अर्द्ध स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहके योग्यको कौन-सा निग्रह-स्थान होता है यह न बता सके, अनिग्रहार्ह–जो निग्रहके योग्य नहीं है उसे निग्रहस्थान बतावे, सिद्धान्त विरुद्ध बोले, पाँच हेत्वाभासोंमेंसे किसी एक हेत्वाभासका प्रयोग करे तो निग्रह-स्थान अर्थात् पराजय होगी।

आचार्य धर्मकीर्तिने अपने वादन्याय (पृ० ७५–) में इनका खण्डन करते हुए लिखा है कि जय-पराजयकी व्यवस्थाको इस तरह गुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए पराजय हो जाय कि वह कुछ अधिक बोल गया, या कम बोला, या उसने अमुक नियमका पालन नहीं

---

१ न्यायसू० ४।२।५०। २ वादन्याय पृ० १।
३ सिद्धिवि० ५।२। ४ न्यायवि० २।२१३। ५ न्यायवि० २।२१५।
६ न्यायसू० १।२।१९ और ५।२।१।

कर सका, न तो सत्यकी दृष्टिसे उचित है और न अहिंसाकी दृष्टिसे न्याय्य है। अतः वादीके असाधनाङ्ग वचन और प्रतिवादीके लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह स्थान मानने चाहिए। कर्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्णसाधन बोले। इसी तरह प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी निर्दोष साधन नहीं बोलता या जो साधनके अङ्ग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है तो असाधनाङ्ग वचन होनेसे पराजय होना चाहिए। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं है उसका दोषरूपमें उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह धर्मकीर्तिने सामान्यतया न्याय्य व्यवस्थाका समर्थन करनेपर भी उसके विविध व्याख्यानोंमें अपनेको उसी नियमोंके घपलेमें डाल दिया। उन्होंने असाधनाङ्ग वचनके विविध व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्तमेंसे केवल एक दृष्टान्तसे ही जब साध्यकी सिद्धि सम्भव है तो दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्ग वचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग हैं, उनमेंसे किसी एकका कथन न कर सकना असाधनाङ्ग वचन होगा। प्रतिज्ञा, निगमन आदि जो साधनके अङ्ग नहीं है उनका कथन असाधनाङ्ग है। इसी तरह जो दूषण नहीं है उन्हें दूषणके रूपमें उपस्थित करना या जो दूषण हैं उनका उद्भावन नहीं कर सकना अदोषोद्भावन है। यह सब लिखकर भी अन्तमें उनने यह भी सूचित किया है कि जयलाभके लिए स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण आवश्यक है।

[1]अकलङ्कदेव इस असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धिसे ही जयव्यवस्था और पर पक्षका निराकरण होनेसे पराजय माननी चाहिए। निर्दोष साधन बोलकर स्वपक्षसिद्धि करनेवाला वादी यदि कुछ अधिक बोल जाता है या कम बोलता है या किसी साधारण नियमका पालन नहीं कर पाता है तो भी उसका पराजय नहीं होना चाहिए। प्रतिवादी यदि सीधा विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र भावसे स्वपक्षसिद्धि करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वादीके पक्षको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। असिद्ध आदि हेत्वाभासोंके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको स्वपक्ष सिद्धि भी करनी चाहिए। तात्पर्य यह कि शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी वादी या प्रतिवादी स्वपक्ष सिद्धिके बिना जयलाभ नहीं कर सकते।

वाद या शास्त्रार्थके चार अङ्ग होते हैं—सभापति, सभ्य, वादी और प्रतिवादी। सभ्योंको प्राश्निक भी कहते हैं। इन्हें अधिकार होता है कि पक्षपातमें न पड़कर वादी या प्रतिवादी किसीसे भी प्रश्न करें। इनका काम है कि ये असद्वादका निषेध करें और लगामकी तरह वादी या प्रतिवादीको इधर उधर न जाने देकर ठीक रास्तेपर रखें। सभापति तो समस्त वाद-व्यवस्थाका पूर्ण नियामक होता है। वादी और प्रतिवादीके बिना तो शास्त्रार्थ ही नहीं चल सकता।

जाति—[2]मिथ्या उत्तरोंको जाति कहते हैं। जैसे धर्मकीर्तिका अनेकान्तके रहस्यको न समझकर यह कहना कि "जब सभी उभयात्मक हैं तो दही भी ऊँट रूप होगा, ऐसी हालतमें दही खानेवाला ऊँटको क्यों नहीं खाता?" अनेकान्त सिद्धान्तमें सबको सर्वधर्मात्मक सिद्ध नहीं किया जाता किन्तु प्रत्येक वस्तुमें उसके सम्भव अनेक धर्मोंको बताया जाता है। दही जड़ पदार्थ है और ऊँट चेतन। दही खानेवाला दही पर्यायवाले पदार्थको खाना चाहता है न कि सद्रूपसे वर्तमान किसी भी पदार्थ को, अतः सद्रूपसे ऊँट और दहीको एक मानकर दूषण देनेमें तो समस्त संसारकी गम्यागम्य, खाद्याखाद्य, पूज्यापूज्य व्यवस्थाओंका लोप हो जायगा। [3]अकलङ्कदेव नैयायिकके द्वारा कही गई साधर्म्यसम वैधर्म्यसम आदि २४ जातियोंको न तो कोई खास महत्त्व देते हैं और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। असदुत्तर तो असंख्य प्रकारके हो सकते हैं, अतः जातियोंकी २४ संख्या भी अपूर्ण ही है।

---

१ न्यायवि० २।२०९। २ न्यायवि० २।२०३। ३ न्यायवि० २।२०७।

इस तरह अविनाभावी हेतुसे पक्षकी सिद्धि करना अनुमानका लक्ष्य है अतः उसमें या वाद आदिको व्यवस्थामें अनुपयोगी नियमोंका जाल रचना उचित नहीं है।

आगम—आप्तके वाक्य आदिसे होनेवाला अर्थज्ञान आगम है। जो जिस [illegible] चक है वह उस विषयका आप्त है। यद्यपि आगम प्रमाणकी लोक-व्यवहारमें भी प्रवृत्ति होती भी आगम सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंमें रूढ है। आगमकी प्रमाणताका आधार [illegible] है। गुणवान् पुरुषके द्वारा कहे गये वचन अविसंवादी और प्रमाणभूत होते हैं। जैन परम्परामें [illegible] सर्वज्ञता और वीतरागताका पूर्ण विकास माना है। वचनोंमें विसंवाद या तो अज्ञानसे होता है या और द्वेषके कारण। पदार्थका यथार्थज्ञान न होनेसे वक्ता यद्वा तद्वा बोल जाता है, और ज्ञान [illegible] यदि किसीसे राग या द्वेष होता है तो भी वह अन्यथा बोलनेमें प्रवृत्त हो जाता है। जो पूर्ण वीत और सर्वज्ञ है उसके वचनोंमें विसंवादका कोई कारण नहीं रह जाता।

सर्वज्ञत्व विचार—

आत्मा ज्ञान-स्वभाववाला है। ज्ञानावरण कर्मके कारण उसका पूर्णज्ञान रुक-रुककर [illegible] विच्छिन्न रूपसे प्रकाशमें आता है। जब सम्यग्दर्शनादि उपायोंसे ज्ञानावरणका समूल क्षय हो [illegible] है तब उसकी समस्त ज्ञेयोंमें प्रवृत्ति कौन रोक सकता है? सर्वज्ञता सिद्ध करनेकी सबसे मुख्य [illegible] यही है। ज्ञानमें जाननेका स्वभाव है और ज्ञेयमें ज्ञानमें प्रतिभासित होनेका। यदि कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है तो ज्ञानमें ज्ञेयका प्रतिभास होना ही चाहिए। जैसे दाहक स्वभाववाली अग्नि, यदि कोई रुकावट न हो तो ईंधनको जलाती ही है। चूँकि ज्ञानकी स्वाभाविक प्रवृत्तिमें किसी इन्द्रिय; आदि निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं है अतः वह स्वभावसे ही ज्ञेयोंको जानता है। अकलङ्कदेवने बहुत स्पष्ट लिखा है कि—

"अस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥"

—न्यायविनिश्चय ३।७९

इसके सिवा उन्होंने सर्वज्ञता सिद्ध करनेके लिए 'ज्योतिर्ज्ञानाविसंवाद' हेतुका प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो ग्रहोंकी दशाओंका और चन्द्रग्रहण आदिका उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञान अविसंवादी देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका उपदेष्टा त्रिकालदर्शी था। जैसे सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रियव्यापार आदिकी सहायताके बिना ही भावी राज्य लाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट भान कराता है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थोंमें स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्न विद्या या ईक्षणिका विद्यासे अतीन्द्रिय पदार्थोंका भान होता है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थोंका भासक होता है। चूँकि दोष और आवरण आगन्तुक हैं आत्माके स्वभाव नहीं हैं अतः प्रतिपक्षी साधनाओंसे उनका समूल नाश हो जाता है और जब आत्मा निरावरण और निर्दोष हो जाता है तब उसका पूर्ण ज्ञान-स्वभाव खिल उठता है। इन साधक प्रमाणोंको बताकर उन्होंने सर्वज्ञ-सिद्धिमें एक जिस खास हेतुका प्रयोग किया है वह है "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व" अर्थात् किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्तामें कोई बाधक न हो। जैसे "मैं सुखी हूँ" इसका सबसे बड़ा साधक-प्रमाण यही है कि मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक-प्रमाण नहीं मिलता। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई बाधक-प्रमाण नहीं है अतः उसका निर्बाध सद्भाव सिद्ध हो जाता है। इस हेतुके समर्थनमें उन्होंने विरोधियोंके द्वारा कल्पित बाधकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्रश्न—अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वे वक्ता हैं और पुरुष हैं जैसे कोई गलीमें घूमनेवाला अवारा मनुष्य।

उत्तर—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है। वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। यदि ज्ञानके विकासमें वचनोंका ह्रास देखा जाता तो उसके अत्यन्त विकासमें वचनोंका अत्यन्त ह्रास होता, पर देखा तो इससे उलटा ही जाता है। ज्यों-ज्यो ज्ञानमें वृद्धि होती है त्यों-त्यो वचनोंमें प्रकर्षता ही देखी जाती है।

प्रश्न–वक्तृत्वका सम्बन्ध विवक्षासे है। अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी सम्भावना कैसे है? शब्दोच्चारणकी इच्छा–विवक्षा भी मोहकी ही पर्याय है।

उत्तर–विवक्षाका वक्तृत्वसे कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्र-विवक्षा रखते हैं पर वे शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्त, मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें विवक्षा न रहनेपर भी वचनोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः विवक्षा और वचनमें कोई अविनाभाव नहीं है। चैतन्य और इन्द्रियोंकी पटुता ही वचन-प्रवृत्तिमें कारण होती है, इनका सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा वचनोंमें विवक्षाको कारण मान भी लिया जाय पर सत्य और हितकारक वचनोंकी प्रवृत्ति करानेवाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है? इसी तरह निर्दोष पुरुषत्वका सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं है–पुरुष भी हो और सर्वज्ञ भी। यदि इस प्रकारके व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाय तो इन्हीं हेतुओंसे जैमिनिमें वेदार्थज्ञताका भी अभाव सिद्ध हो जायगा।

प्रश्न–हमें किसी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिए?

उत्तर–पूर्वोक्त अनुमानोंसे जब सर्वज्ञकी सिद्धि हो जाती है तब अनुपलम्भ नहीं कहा जा सकता। अनुपलम्भ आपको है, या संसारके सब जीवोंको? 'हमारे चित्तमें इस समय क्या विचार हैं' इसका अनुपलम्भ आपको है पर इससे हमारे चित्तके विचारोंका अभाव नहीं किया जा सकता। अतः यह स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सर्वज्ञ ही जान सकता है, असर्वज्ञ नहीं।

प्रश्न–आगममें कहे गये साधनोंका अनुष्ठान करके सर्वज्ञता प्राप्त होती है और सर्वज्ञके द्वारा आगम कहा जाता है, अतः सर्वज्ञ और आगम दोनों अन्योन्याश्रित हैं?

उत्तर–सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे उत्पन्न होता है और पूर्वसर्वज्ञको तत्पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है। इस तरह पूर्व-पूर्व सर्वज्ञ और आगमोंकी शृंखला बीजांकुर सन्ततिकी तरह अनादि है और अनादि-परम्परामें अन्योन्याश्रित दोषका विचार नहीं होता। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आगम सर्वज्ञके बिना हो सकता है? और पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं? दोनोंका उत्तर यह है कि सर्वज्ञ हो सकता है और आगम सर्वज्ञ प्रतिपादित ही है।

प्रश्न–जब आजकल प्रायः पुरुष रागी द्वेषी और अज्ञानी देखे जाते हैं तब अतीत या भविष्यमें किसी पूर्णवीतरागी या सर्वज्ञकी सम्भावना कैसे की जा सकती है? क्योंकि पुरुषकी शक्तियोंकी सीमाका वर्तमानकी तरह अतीत और अनागतमें उल्लंघन नहीं हो सकता?

उत्तर–यदि हम पुरुषातिशयको नहीं जान सकते तो उसका अभाव नहीं किया जा सकता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता तो 'अतीत कालमें जैमिनिको भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था' यह कहना होगा। बुद्धिमें तारतम्य होनेसे उसमें परम प्रकर्षकी सम्भावनामें ही सर्वज्ञता-की सत्ता निहित है। जिस प्रकार अग्निके तापसे सोनेका मैल क्रमशः दूर हो जाता है और सोना पूर्ण निर्मल बन जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिके अभ्याससे ज्ञान भी अत्यन्त निर्मल होकर सर्वज्ञताकी अवस्थामें पहुँच जाता है?

प्रश्न–सर्वज्ञ जब रागी आत्माके रागका या दुःखीके दुःखका साक्षात्कार करता है तब वह स्वयं रागी और दुःखी हो जायगा?

उत्तर–दुःख या रागको जान लेनेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता। राग तो आत्माका स्वयं राग रूप परिणमन करनेपर ही सम्भव है। क्या कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण मदिराके रसका ज्ञान करने मात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गये हैं, अतः परके राग या दुःखको जानने मात्रसे उनमें राग या दुःख परिणति नहीं हो सकती।

प्रश्न–सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनों प्रकारके प्रमाण नहीं मिलते अतः उसकी सन्देह होना चाहिए ?

उत्तर–जब साधक प्रमाण बता दिये गये हैं और बाधकोंका निराकरण भी किया जा चुका सन्देहकी बात बेबुनियाद है। सर्वज्ञका अभाव तो बिना सर्वज्ञ बने नहीं किया जा सकता। जबतक त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पुरुषोंकी असर्वज्ञके रूपमें जानकारी नहीं कर लेते तबतक जगत्को शून्य कैसे कह सकते हैं और यदि ऐसी जानकारी किसी व्यक्तिको सम्भव है तो वही सर्वज्ञ होगा।

सर्वज्ञताका इतिहास–

सर्वज्ञताके विकासका एक अपना इतिहास भी है। भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार ... सम्बन्ध भी मोक्षसे था। मुमुक्षुओंके विचारका मुख्य विषय यह था कि मोक्षके उपाय, ... आधार, संसार और उसके कारणोंका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। विशेषतः मोक्ष-उपायोंका अर्थात् उन धर्मानुष्ठानोंका जिनसे आत्मा बन्धनोंसे मुक्त होता है, किसीने स्वयं अनुभव उपदेश दिया है या नहीं ? वैदिक परम्पराके एक भागका इस सम्बन्धमें विचार है कि साक्षात्कार किसी व्यक्तिको नहीं हो सकता, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर जैसा महान् भी क्यों हो ? धर्म तो केवल अपौरुषेय वेदसे ही जाना जा सकता है। वेदका धर्ममें निर्बाध और अन्तिम अ... है। उसमें जो लिखा है वही धर्म है। मनुष्य प्रायः रागादि दोषोंसे दूषित होते हैं और अल्पज्ञ भी। यह सम्भव ही नहीं है कि कोई भी मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण निर्दोष या सर्वज्ञ बनकर धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार कर सके। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि महादेवोंमें केवल इसलिए सर्वज्ञता बताई जाती है कि वे वेददेह हैं अर्थात् उनका शरीर या स्वरूप वेदमय है। इसका तात्पर्य यह है कि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही सम्भव है, प्रत्यक्षसे नहीं। इस परम्पराका समर्थन जैमिनि और उनके अनुयायी शबर, कुमारिल आदि मीमांसकधुरीणोंने किया है। कुमारिलने तो सर्वज्ञताके निषेधका फलितार्थ निकालते हुए बहुत स्पष्ट लिखा है कि–

"धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रापि युज्यते।
सर्वमन्यद्विजानँस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"
—तत्त्वसंग्रह 'पूर्वपक्ष' पृ० ८४४

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।"
—मीमांसाश्लोकवार्तिक चोदनासूत्र श्लोक ११०–१२

अर्थात् सर्वज्ञताके निषेधका अर्थ है धर्मज्ञत्वका निषेध। यानी कोई भी पुरुष धर्मको प्रत्यक्षसे जानकर सर्वज्ञ नहीं बन सकता। धर्मके सिवाय अन्य सभी पदार्थोंका ज्ञान यह करना चाहता है तो करे हमें कोई आपत्ति नहीं। इसी तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा अन्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव आदि प्रमाणोंसे यथायोग्य जानकर कोई यदि औसतन सर्वज्ञ बनता है तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं। पर एक प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जो सर्वज्ञ बनकर धर्मको भी जानना चाहता है वह उसी प्रकार है जो केवल एक आँखके द्वारा ही रस, गन्ध आदिका ज्ञान करना चाहता है।

इसी परम्पराके नैयायिक वैशेषिक आदि ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञता और अन्य योगियोंमें योगज सर्वज्ञता मानकर भी वेदोंको ईश्वरप्रतिपादित या उसका निश्वास कहकर धर्ममें वेदका ही अन्तिम अधिकार स्वीकार करते हैं। व्यवहारमें वेदकी सर्वश्रेष्ठता दोनोंको मान्य है। सांख्य और योग परम्परामें सर्वज्ञता अणिमादि ऋद्धियोंकी तरह एक योगजन्य विभूति है, जो सभी योगियोंको अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। जिनकी साधना इस योग्य हो उन्हें प्राप्त हो सकेगी। सर्वज्ञता प्रकृतिसंसर्ग चरितार्थ हो जानेपर मुक्त पुरुषोंमें अवशिष्ट नहीं रहती। वेदान्ती सर्वज्ञताको अन्तःकरणनिष्ठ मानते हैं। जो जीव-

न्मुक्त दशा तक रहकर अन्तमें छूट जाती है। मुक्तदशामें ब्रह्मका केवल शुद्ध सच्चिदानन्द रूप ही प्रकाशमान रहता है।

श्रमण परम्पराका मूल आधार ही है धर्ममें वीतरागी और तत्त्वज्ञानी पुरुषका प्रामाण्य। इसका विचार है कि पुरुष अपनी साधनाके द्वारा पूर्ण-वीतरागी और निर्मलज्ञानी हो सकता है तथा मोक्षादि तत्त्वोंका साक्षात्कार कर सकता है। वह अपने साक्षात्कृत मोक्षोपाय–धर्मका उपदेश देता है। यही उपदेश आगम कहलाते है। यह परम्परा पुरुषके सर्वोत्कृष्ट विकासमें विश्वास रखती है और प्रत्येक मनुष्यको साधनानुसार विकसित होनेका अवसर भी देती है। किसी तीर्थंकर या बुद्धको केवलज्ञान और बोधि प्राप्ति होनेपर जैसा धर्म और धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार होता है उसी प्रकारका साक्षात्कार अन्य साधकोंको भी हो सकता है। यानी इस परम्परामें धर्म किसी वेद जैसे ग्रन्थके अधिकारमें बद्ध नहीं है, किन्तु वह वीतरागी तत्त्वज्ञानीके अनुभवसे विकसित होता है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने लिखा है कि 'बुद्ध चतुरार्यसत्यका साक्षात्कार करते है और तदन्तर्गत-मार्ग-सत्य यानी धर्ममें अपने अनुभवके द्वारा अन्तिम प्रमाण भी हैं। वे करुणा करके कषायसन्तप्त संसारियोंके उद्धारके लिए स्वदृष्ट मार्गका उपदेश करते हैं।[1] 'कोई पुरुष संसारके अन्य सब पदार्थोंको जानें या न जानें हमें इस निरर्थक बातसे कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो यह देखना है कि वह इष्ट तत्त्व यानी धर्मका साक्षात्कार करता है या नहीं? वह धर्मज्ञ है या नहीं? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी कीड़े-मकोड़ोंकी संख्याके परिज्ञानका धर्मसे क्या संबंध है?[2] धर्मकीर्ति सिद्धान्ततः सर्वज्ञताका विरोध न करके उसे निरर्थक अवश्य कह देते हैं। वे कुमारिलसे कहते हैं कि कोई मनुष्य संसारके सब पदार्थोंका साक्षात्कार करे या न करे पर उसे धर्मज्ञ होना चाहिए। वे अपने सर्वज्ञताके समर्थक समशीलोंसे कहते हैं कि मीमांसकोंके सामने त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ रूप सर्वज्ञतापर ज़ोर नहीं देना चाहिए। असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मज्ञको प्रमाण माना जाय या वेदको? तात्पर्य यह कि जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्मका साक्षात्कार मानकर अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका समर्थन करके वीतरागी धर्मज्ञ पुरुषका ही धर्ममें अन्तिम प्रमाण और अधिकार माना है। धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने[3] सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञ त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थोंका ज्ञाता भी सिद्ध किया है और लिखा है[4] कि सुगतकी

१ "तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद् वक्ति नानृतम्।
दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वारम्भाभियोगतः।
तस्मात् प्रमाणं तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम्॥"-प्र० वा० १।१४७।४८

२ "तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेतद् गृध्रानुपास्महे॥"-प्र० वा० १।३३-३५

३ "सर्वं जानातु सर्वस्य वेदको न निषिध्यते।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ५२।
"भावनाबलतो ज्ञानं वाह्यानामपि भावि चेत्।
तदेतदिष्यतेऽस्माभिः सर्वाकारं तु तायिनाम्॥
...... ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसम्भवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्॥"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ३२९

४ "सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते।
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्त्तनात्॥

तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे रागादिमुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। और जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोडेसे ही प्रयाससे सर्वज्ञ बन सकते हैं। [1]शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता-साधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करके इसे वे[2] शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहे तब किसी भी वस्तुको अनायास यथेच्छ जान सकता है।

बुद्धने स्वयं अपनेको कभी सर्वज्ञ नहीं कहा। उन्होंने अनेक आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंको अव्याकृत कहकर उनके विषयमें मौन ही रखा है। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म या मार्गका पूर्ण और निर्मल साक्षात्कार हो सकता है। धर्म मात्र किसी पुस्तकविशेषसे ही जाननेकी चीज़ नहीं है। उन्होंने कभी अपनेको सर्वज्ञ भी कहा है तो मार्गज्ञ या धर्मज्ञके अर्थमें ही। उनका तो स्पष्ट उपदेश था कि मैंने तृष्णाक्षयके मार्गका साक्षात्कार किया है और उसे ही बताता हूँ।

जैनतार्किकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकाल त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष दर्शनरूप अर्थमें सर्वज्ञता मानी[3] है और उसका समर्थन भी किया है। बौद्ध परम्परामें जिस प्रकार धर्मज्ञताका और सर्वज्ञताका विश्लेषण करके धर्मज्ञतापर मुख्य भार दिया गया है उस तरह जैन परम्परामें केवल धर्मज्ञताका समर्थन न करके पूर्ण सर्वज्ञता ही सिद्ध की गई है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार[4] में केवलज्ञानको युगपत् अनन्तपदार्थोंका जाननेवाला बताया है। वे आगे[5] लिखते हैं— कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है। इस आत्मज्ञानकी परम्पराकी झलक "यः आत्मवित् स सर्ववित्" इत्यादि उपनिषद्-वाक्योंमें तथा "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" इस आचाराङ्ग सूत्र (१२३) में पाई जाती है। कुन्दकुन्दने इसका व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है[6] कि जो त्रिकाल त्रिलोकवर्ती पदार्थोंको नहीं जानता, वह पूरी तरह एक द्रव्यको भी नहीं जानता। और जो अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जान सकता है? इसका

पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिरवारिता॥" प्र० वार्तिकाल० पृ० ३२९।

१ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते।
साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३३०९।

२ "यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥
युगपत् परिपाट्या वा स्वेच्छया प्रतिपद्यते।
लब्धज्ञान च सिस्बो (?) हि लक्षणैर्ज्ञादिभिः प्रभुः॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३६२८–२९।

३ "सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसलोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधमोक्खं इद्धिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणं माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।"–प्रकृति अनु०।

"से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ। तं० आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।"

–आचा० श्रु० २ चू० ३।

४ "जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥"–प्रव० १।४७।

५ "जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥"–प्रव० १।४८

६ "दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण वि जाणादि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥"–प्रव० १।४९।

तात्पर्य है कि जो मनुष्य घटज्ञानके द्वारा घटको जानता है वह साथ ही साथ "घटज्ञानवान् अहम्" इस सद्व्यवसायके द्वारा अपने स्वरूपको भी जान लेता है। इसी तरह जो व्यक्ति घट जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूप परिच्छेद करता है वह घटको तो अर्थात् ही जान लेता है क्योंकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति है अत: जो संसारके अनन्त ज्ञेयोको जानता है वह अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्तिके आधारभूत आत्मा या पूर्णज्ञानको स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जान लेता है और जो अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी अनन्तशक्ति रखनेवाले आत्मा या पूर्णज्ञानके स्वरूपको यथावत् विश्लेषणपूर्वक जानता है, वह उन शक्तियोंके उपयोगस्थानभूत अनन्त पदार्थोंको भी जान लेता है जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बाक्रान्त दर्पणको जानता है वह घटको भी जानता है तथा जो घटको जानता है वही दर्पणमें आये हुए घट-प्रतिबिम्बका विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। कुन्दकुन्दने नियमसारमें सर्वज्ञताविषयक अपना दृष्टिकोण निश्चय और व्यवहारनयकी दृष्टिसे इस प्रकार बताया है--

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥१५८॥"

अर्थात् केवली भगवान् व्यवहारनयसे संसारके सब पदार्थोंको जानते और देखते हैं, पर निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको जानता और देखता है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञानको परपदार्थोंका जाननेवाला और देखनेवाला कहना भी व्यवहारकी मर्यादामें है, निश्चयसे तो वह स्वरूप-निमग्न रहता है। निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थताको सामने रखकर यदि विचार किया जाय तो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्णज्ञानका पर्यवसान आत्मज्ञानमें ही होता है। आचार्य कुन्दकुन्दका यह वर्णन वस्तुत: क्रान्तदर्शी है।

तर्कयुगमें कुन्दकुन्दकी आध्यात्मिक या नैश्चयिक दृष्टिका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्रादि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व[1] हेतुसे सिद्ध किया है। आचार्य वीरसेनने जयधवलामें केवलज्ञानको आत्माका स्वभाव मानकर मतिज्ञानादिको उसीका अंश बताया है और लिखा है कि मतिज्ञानादिके स्वसंवेदनके समय अंशी केवलज्ञानका भी अंशत: स्वसंवेदन हो जाता है जैसे पर्वतके एक हिस्सेको देखकर पूरे पर्वतका ज्ञान व्यवहारत: प्रत्यक्ष है उसी तरह केवलज्ञान भी व्यवहारत: स्वसंवेदनसिद्ध है। इस तरह सभी जैन तार्किकोंने एक स्वरसे त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्णपरिज्ञानके अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। सर्वज्ञताके समर्थनके बाद पृथक् धर्मज्ञताके समर्थनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रवचनकी प्रमाणताका आधार—

यह तो ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि आगम या प्रवचनकी प्रमाणताका आधार आप्तके गुण हैं। आप्तके गुण ही शब्दमें झलकते हैं। यद्यपि जैन-परम्परामें शास्त्रोंका प्रामाण्य प्रचलित है, पर उसका अन्तिम आधार पुरुषका निर्मल ज्ञान ही है। तीर्थंकर तबतक तत्त्वका उपदेश नहीं करते जबतक उनमें वीतरागता और पूर्णज्ञानका विकास नहीं हो जाता। एक तीर्थंकरको दूसरे तीर्थंकरके आगमकी कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह स्वयं आगमका निर्माता होता है। यही कारण है कि प्रत्येक क्षयोपशमज्ञानवाला आचार्य अपने वचनोंकी परम्पराको सर्वज्ञमूलक सिद्ध करते हैं पर किसी सर्वज्ञको अपनी वचनपरम्परा इतर सर्वज्ञमूलक सिद्ध करते नहीं सुना। तीर्थंकरोंके वचन सूत्र रूप होते हैं। उनमें संक्षेपसे मूल सिद्धान्तोंका सूचन होता है। उन सिद्धान्तोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की परिस्थितिके अनुसार कैसे जीवन व्यवहारमें लाया जाय यह विवेचना उत्तरकालीन आचार्योंके शास्त्रोंमें

१ "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"—आप्तमी० श्लो० ५।

होती है। पर वह तभी प्रमाण है जब उसका मूलस्रोतसे विरोध न हो। साहित्य अपने युगका प्रतिबिम्ब होता है। वर्तमानकालीन साहित्यमें अतीतके अवशेष भी यत्र तत्र बिखरे रहते हैं। उत्तरकालीन आचार्योंके द्वारा समय-समयपर रचा हुआ विविध प्रकारका साहित्य अपने युगकी आवश्यकताओं और प्रभावोंसे अछूता नहीं है। इसलिए आगम-प्रमाणकी समीक्षा करते समय उसके सर्वज्ञ मूलकत्वकी जाँचके साथ ही साथ हमें उसके ऐतिहासिक विकास और उस युगकी परिस्थितियोंकी भी समीक्षा करनी ही होगी। जैन-परम्पराके दार्शनिक साहित्यमें परपक्षके खण्डनके स्थल सम-विचारवाले दर्शनान्तरीय विचारोंसे परिपुष्ट हुए हैं तथा उसने अपने विचारोंसे अन्य साहित्यको एक हदतक प्रभावित भी किया है। एक मूल गुणोंकी संख्या और नामोंको ही ले लीजिए। आचार्य[1] समन्तभद्रने ५ अणुव्रत और मद्य मांस और मधुके त्यागको मूल गुण बताया जबकि अन्य [2]आचार्योंने ५ अणुव्रतोंकी जगह बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर इन पाँच फलोंके त्यागको मूल गुणोंमें शामिल किया। [3]किसीने देवदर्शन, पानी छानना, जूआका त्याग, आदि भी मूल गुणोंमें गिनाये। तात्पर्य यह कि जिस युगमें जैसी आवश्यकता परिस्थितियोंके अनुसार उपस्थित हुई उस युगमें बने हुए शास्त्र उनके समाधानमें खाली नहीं हैं। इसीलिए शास्त्र अपने युगके निर्माणमें प्रमुख भाग लेते रहे। वे उस समय युगबाह्य नहीं हुए और यही कारण है कि ग्रन्थकारोंने अपनी समझके अनुसार अनेक ऐसे भी विधान किये जिनका मूल जैन संस्कृतिसे मेल बैठाना कठिन है। अतः प्रवचनकी प्रमाणताका विचार करते समय हमें इन सभी बातोंकी समीक्षा कर लेनी चाहिए।

वेदापौरुषेयत्व विचार–

मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि शब्दमें गुण और दोष वक्ताके अधीन हैं यह सर्वमान्य नियम है। और दोषोंके अभावसे जब प्रमाणता आती है तब हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि दोषोंका अभाव कैसे हो? गुण और दोष दोनोंका आधार पुरुष है। जहाँ गुणवान् वक्ता होता है वहाँ उसके गुणोंसे दोष हटा दिये जाते हैं और दोषोंके हट जानेपर शब्दमें प्रमाणता स्वतः आ जाती है। वक्ताके गुणोंसे हटाये गये दोषोंकी फिर शब्दमें संभावना नहीं रहती। दूसरा प्रकार यह भी है जहाँ वक्ता ही नहीं है वहाँ वक्ताके दोषोंकी संक्रान्ति शब्दमें हो ही नहीं सकती। यानी वेदका चूँकि कोई पुरुष कर्ता नहीं है इसलिए उसमें दोषोंकी कोई संभावना नहीं है, वह स्वतःप्रमाण है। लौकिक वचनोंमें वक्ताके गुणसे दोषोंका अभाव होता है और वेदमें वक्ताके न होनेसे दोषोंकी आशंका ही नहीं रहती। यही कारण है कि मीमांसकने प्रामाण्यको "स्वतः" स्वीकार किया। धर्ममें वेदका स्वतःप्रामाण्य बना रहे इसके लिए उसे सर्वज्ञका निषेध करना पड़ा और पुरुषकी चरम शक्तिके विकासको रोक देना पड़ा। वैदिक वाक्योंकी परम्पराको अनादि-नित्य सिद्ध करनेके लिए उसे शब्दमात्रको नित्य और व्यापक मानना पड़ा। हम अपने तालु आदिके व्यापारसे जिन शब्दोंको उत्पन्न करते हैं, मीमांसकके मतसे वे शब्द पहलेसे ही मौजूद हैं। हमारे प्रयत्नने तो मात्र उनकी अभिव्यक्ति की है। वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिए "कर्ताका स्मरण नहीं है" यह हेतु भी दिया जाता है। इसी तरह "वेदाध्ययन-वाच्यत्व, कालत्व" आदि हेतुओंसे उसकी अपौरुषेयता साधनेका प्रयत्न किया गया है।

विचारणीय बात यह है कि मेघकी गड़गड़ाहट या बिजलीकी कड़कड़ाहट जैसी निरर्थक ध्वनियाँ भले ही पुरुष प्रयत्नके बिना प्राकृतिक कारणोंसे ही उत्पन्न हो जायँ पर सार्थक छन्दोबद्ध पद, वाक्य और श्लोककी रचना पुरुष-प्रयत्नके बिना कैसे संभव है? वैज्ञानिक कार्यकारणपरम्पराकी दृष्टिसे यह

---

१ "मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥"–रत्नक० श्लो० ६६।

२ "मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्चक्षीरफलानि च।"–सागारधर्मा० २।२

३ देखो सागारधर्मामृत २।१८।

नितान्त असंगत है। किसी रचनाके कर्त्ताका स्मरण न होनेसे हम भले ही उसके विशेष कर्तृत्वमें सन्दिग्ध हो पर उसे सर्वथा अकर्तृक या अपौरुषेय नहीं कह सकते। अनेक ऐसे जीर्ण-शीर्ण मकानोंके खण्डहर हमारे दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके बनाने और बनवानेवालोंका हमें स्मरण तो क्या, पता भी नहीं है, उन्हें देखकर किसीको भी अपौरुषेय बुद्धि नहीं होती। कोई भी सार्थक शब्द पुरुष-प्रयत्नके बिना न तो उच्चरित ही हो सकता है और न अपने विविध-विवक्षित अर्थोंका परिज्ञान ही करा सकता है। यदि पुरुषमें वीतरागता और तत्त्वज्ञताका विकास किसी भी तरह संभव नहीं है तो ऐसे ही पुरुषोंके द्वारा किये गये वेदके व्याख्यान-में प्रमाणता कैसे आ सकती है? "मेरा यह अर्थ है, यह नहीं" इस बातकी घोषणा वैदिक शब्द तो नहीं कर सकते, अर्थकी व्याख्या तो पुरुषके ही अधीन है और आपके मतसे सभी पुरुष रागी द्वेषी और अज्ञानी हैं। अतः जिस पुरुषके दोषोंके डरसे वेदको अपौरुषेय कल्पित किया गया था, आखिर व्याख्यानके लिए उसीकी शरणमें पहुँचना पड़ता है। कोई भी शब्द स्वतःप्रमाण नहीं हो सकता। उसकी प्रमाणताके लिए यह तलाश करना जरूरी हो जाता है कि उसका वक्ता कौन है? फिर वेदमें उन-उन युगोंके ऋषियोंके नाम गोत्र प्रवर, चरण आदिके उल्लेख मिलते हैं। अनेक छन्दोंसे उसकी रचना है। विधेय और हेयमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका उपदेश है। अतः ऐसी श्रुति, मनुस्मृति आदि स्मृतियोंकी तरह सकर्तृक है अकर्तृक नहीं। यदि अनादि होनेके कारण या कर्त्ताका स्मरण न होनेके कारण वेदको प्रमाण माना जाता है तो बहुतसी गालियाँ तथा अपशब्द ऐसे हैं जिनके कर्त्ताका स्मरण नहीं है और न यही पता है कि वे कबसे चले हैं, वे सभी प्रमाणकोटिमें आ जायँगे। लौकिक पदवाक्योंसे वैदिक पदवाक्योंमें कोई भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई देती जिससे उन्हें अपौरुषेय कहा जाय। कठिनतासे उच्चारण होना, अनेक संयुक्त अक्षरोंका प्रयोग आदि ऐसी बातें हैं जो लौकिक पदवाक्योंमें सहज ही की जा सकती हैं। वेदके अध्ययनको सदा वेदाध्ययनपूर्वक माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। जिन ऋषियोंने अपने योगबल और निर्मलज्ञानसे तत्त्व-का साक्षात्कार किया, उन ऋषियोंके द्वारा रची गई वेदकी शाखाओंको उनके कर्तृत्वसे वंचित नहीं किया जा सकता। इस कालमें वेदका कर्त्ता कोई नहीं है इसलिए अतीतकालमें भी न रहा होगा यह तर्क अत्यन्त थोथा है। इस तरह तो अनेक इतिहाससिद्ध तथ्योंका लोप हो जायगा। वेद अनादिसिद्ध ईश्वरके निःश्वास हैं या उसके द्वारा प्रतिपादित हैं यह केवल स्तुति है।

आजके विज्ञानने अपने प्रयोगोंसे शब्दको भौतिक और उत्पाद-विनाशवाला सिद्ध कर दिया है। यह ठीक है कि शब्द उत्पन्न होकर अमुक कालतक वातावरणमें गूँजता रहता है और अपने सूक्ष्म संस्कारोंसे वातावरणको कुछ कालतक प्रभावित रखता है, पर वह सदा एक रूपमें नहीं रहता और न नित्य ही है। पुद्गलके अनन्त विभिन्न परिणमन होते हैं। शब्द भी उन्हींमेंसे एक है।

धर्ममें वेदकी अन्तिम और निर्बाधसत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि धर्म मनुष्यके आचार-विचारोंका शोधन करनेवाला तथा उन्हें साधनोपयोगी बनानेवाला होता है जो अनेक अनुभवी और वीतरागियोंकी साधनासे विकसित होता रहता है। युगकी आवश्यकताओंके अनुसार युगपुरुष उसका निर्माण करते हैं और मानवको दानव होनेसे बचाते हैं। वेदमें प्रतिपादित अनेक हिंसात्मक क्रियाकाण्ड मनुष्यके आचार और विचारको कितना उन्नत बना सकते हैं यह एक विचारणीय प्रश्न है। इतिहासकी किसी सीढ़ीपर उनकी उपयोगिता रही भी हो पर वे सब त्रिकालाबाधित सामान्य धर्मका स्थान नहीं ले सकते। मानव समाजमें समान अधिकार और समान अवसरको स्वीकार किये बिना उसका स्थिर सामाजिक निर्माण नहीं हो सकता। अतः अहिंसाके आधारपर समताकी उपासनाका मार्ग ही वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक आदि सभी क्षेत्रोंमें सामान्यधर्म बन सकता है। और ऐसे धर्मको मूल सिद्धान्तरूपसे प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र ही प्रवचनके पदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। एक अहिंसा ही वह कसौटी है जिससे विविध आचार-विचारोंमें धर्मत्वकी जाँच की जा सकती है। यही विचारोंका

१ "अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः॥"—प्र० वा० ३।३१२।

विसंवाद दूर कर मानसिक समताकी सृष्टि कर अनेकान्त दृष्टिके रूपमें विकसित होती है और यही वचनोंका ऐकान्तिक विष चूसकर उन्हें स्याद्वादामृतरूप बनाती है। यही समस्त प्राणियोंके समानाधिकारको सिद्धान्ततः स्वीकार करके परिग्रह संग्रहके प्रति उदासीन हो सबको जीनेका–फूलने फलनेका अवसर देती है।

शब्दका अर्थवाचकत्व–

बौद्ध[1] शब्दको वास्तविक अर्थका वाचक नहीं मानते। उनके मतसे क्षणिक, निरंशपरमाणुरूप स्वलक्षण ही परमार्थ है। उसकी न तो कालान्तरमें व्याप्ति है और न देशान्तर तक प्रसार ही। जो जहाँ और जब उत्पन्न होता है वह वहीं और तभी नष्ट हो जाता है। शब्दकी प्रवृत्ति संकेतसे होती है। जब स्वलक्षणोंका क्षणक्षयी और अनन्त होनेसे ग्रहण ही सम्भव नहीं है तब उनमें संकेत कैसे किया जा सकता है? संकेतका ग्रहण भी हो जाय पर जब व्यवहारकाल तक उनकी अनुवृत्ति नहीं होती तब उस संकेतके बलपर शब्दार्थबोध और व्यवहार कैसे चल सकता है? शब्दोंका प्रयोग तो अतीत और अनागत अर्थों में भी देखा जाता है पर अतीत और अनागत नष्ट और अनुत्पन्न होनेके कारण विद्यमान तो नहीं है। यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धिका इन्द्रियबुद्धिकी तरह स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिए। शब्दबुद्धिमें अर्थ कारण भी नहीं होता अतः वह उसका विषय नहीं बन सकता क्योंकि जो ज्ञानमें कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता। यदि शब्दज्ञानमें अर्थ कारण हो, तो कोई भी शब्द विसंवादी या अप्रमाण नहीं होगा और अतीत तथा अनागतवाची शब्दोंकी प्रवृत्ति ही रुक जायगी। शब्द और अर्थ दोनोंका एक ज्ञानसे ग्रहण होनेपर ही "यह उसका वाचक है या वाच्य" इस प्रकारका संकेत बन सकता है किन्तु जिस चाक्षुषज्ञानसे हम अर्थको जानते हैं वह शब्दको नहीं जानता और जिस श्रावण प्रत्यक्षसे शब्दको जानते हैं वह अर्थको नहीं जानता। अतः शब्द अर्थका वाचक न होकर केवल विवक्षाका सूचन करता है। वह बुद्धि प्रतिबिम्बित अन्यापोहरूप सामान्यको ही कहता है, अतः शब्दसे होनेवाले ज्ञानमें सत्यार्थताका कोई नियम नहीं है।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है[2] कि पदार्थमें कुछ धर्म सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। संकेत इन्हीं सदृश धर्मोंकी अपेक्षा गृहीत होता है। जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया जाता है वह भले ही व्यवहारकाल तक न पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे संकेतका स्मरणकर अर्थप्रतीति होनेमें क्या बाधा है? एक घट शब्दका एक घट अर्थमें संकेत ग्रहण करनेके बाद तत्सदृश यावत् घटोंमें तत्सदृश यावत् घट शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्यमें तो संकेत ही नहीं हो सकता क्योंकि वह अकेला प्रतिभासित ही नहीं होता और उसमें संकेत ग्रहण करनेपर विशेषोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इसी तरह केवल विशेषमें भी संकेत गृहीत नहीं होता क्योंकि अनन्त विशेष हम तुम जैसे पामर जनोंके ज्ञानके विषय नहीं हो सकते। अतः सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक ही शब्दका संकेत गृहीत होता है और उसके स्मरणसे अर्थबोध और व्यवहार चलता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष बुद्धि अतीतार्थको जानकर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण होनी चाहिए। अविसंवादी स्मरणसे शब्दार्थके संकेतको ताजाकर शब्दव्यवहार चलानेमें कोई बाधा नहीं है। यह अवश्य है कि सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी इन्द्रियबुद्धि स्पष्ट होती है और शब्दज्ञान अस्पष्ट। जैसे एक ही वृक्षको विषय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषोंके ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते हैं उसी तरह एक ही अर्थमें इन्द्रियज्ञान और शब्दज्ञान स्पष्ट और अस्पष्ट हो सकते हैं। ज्ञानमें स्पष्टता या अस्पष्टता विषयभेदके कारण नहीं होती, वह तो क्षयोपशम या शक्तिभेदसे होती है।

जिस प्रकार अविनाभाव सम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्धका स्मरणकर अर्थबोध करानेवाला शब्द-

---

१ प्र० वा० ३।२१२। २ न्यायवि० २।२१०–२१४।

ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो तो बौद्ध स्वयं शब्दोंसे उन ८ देश, पर्वत आदिका ज्ञान कैसे कर सकते है जो इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं देते ? यदि कुछ अ॰ गैरमौजूदीमें प्रवृत्त होनेके कारण व्यभिचारी देखे जाते हैं तो इतने मात्रसे सभी शब्दोंको व्यभि ९ था अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं-कहीं भ्रान्त देखे जानेपर भी अभ्रान्त और अव्यभिचारी अवस्थामें प्रमाण होते हैं उसी तरह अभ्रान्त शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवाद रूप शब्दसे अर्थका निश्चय न हो तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी ? इसी तरह आप्तके वचनोंके द्वारा अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तका भेद कैसे ज्ञात हो सकता है ? शब्दोंमें सत्यार्थता और असत्यार्थताका निर्णय अर्थप्राप्ति और अप्राप्तिसे ही किया जा सकता है। यदि पुरुषोंके अभिप्रायमें विचित्रता या विसंवाद होनेके कारण शब्द अर्थव्यभिचारी मान लिये जॉय तो बुद्धकी सर्वज्ञता और सर्वशास्तृतामें कैसे विश्वास किया जा सकता है ? वहाँ भी अभिप्राय वैचित्र्यकी शंका हो सकती है। यदि कहींपर अर्थव्यभिचार देखे जानेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है तो विवक्षाका व्यभिचार भी देखा जाता है अतः उसे विवक्षामें भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए। किसीकी विवक्षा होती है और कोई शब्द मुँहसे निकल जाता है। कहींपर शिंशपा लताकी सम्भावना होनेपर भी जिस प्रकार सुविवेचित शिंशपात्व हेतु वृक्षका अविसंवादी है और इंधनजन्य अग्निको कहीं-पर मणिसे उत्पन्न होनेपर भी जिस तरह सुविवेचित अग्नि इंधनजन्य ही मानी जाती है उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थका व्यभिचारी नहीं हो सकता। व्यभिचारी शब्द उसी तरह शब्दाभासकी कोटिमें शामिल हैं जिस तरह व्यभिचारी प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभासमें और व्यभिचारी अनुमान अनुमानाभासमें। अत. अविसंवादी शब्दको अर्थमें प्रमाण मानना ही चाहिए। यदि शब्दमात्र विवक्षाके ही सूचक हों तो उनमें सत्यत्व और असत्यत्वकी विवक्षा नहीं हो सकेगी, क्योंकि दोनों प्रकारके शब्द अपनी विवक्षाका सूचन तो करते ही हैं। विवक्षाके बिना भी सुषुप्तादि अवस्थामें शब्दप्रयोग देखा जाता है और शास्त्र व्याख्यानकी विवक्षा रहनेपर भी मंदबुद्धि शास्त्र-व्याख्यान नहीं कर पाते अतः शब्दोंको विवक्षाजन्य नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह कि शब्दोंमें सत्यत्व और असत्यत्वका निर्णय करनेके लिए उन्हें अर्थका वाचक मानना ही चाहिए।

शब्दका स्वरूप–

शब्द[1] पुद्गल स्कन्धकी पर्याय है जैसे कि छाया और आतप। कंठ तालु आदि मौखिक कारणोंके अभिघातसे प्रथम शब्द वक्ताके मुखमें उत्पन्न होता है उसको निमित्त पाकर लोकमें भरी हुई शब्द वर्ग-णाएँ (विशेष प्रकारके पुद्गल) शब्दरूपसे झनझना उठती हैं। जैसे किसी जलाशयमें पत्थर फेंकने पर पहली लहर पत्थर और जलके अभिघातसे उत्पन्न होती है और आगेकी लहरें उस प्रथम लहरसे उत्पन्न होती हैं। उसी तरह वीचि तरङ्ग-न्यायसे शब्दकी उत्पत्ति और प्रसार होता है। आजका विज्ञान भी यही मानता है कि वातावरणमें (ईथरमें) प्रत्येक शब्द अमुककाल तक अपनी सूक्ष्मसत्ता रखता है। जहाँ उसको ग्रहण करनेवाले ग्राहक यन्त्र (Receiver) मौजूद हैं, वहाँ वे उसके द्वारा गृहीत हो जाते हैं। शब्द रिकार्डोंमें भरे जाते हैं इसका अर्थ है कि यन्त्रविशेषके द्वारा उत्पन्न शब्द विशेषप्रकारके पुद्गल रिकार्डकी ऐसी सूक्ष्म शब्द रूप पर्याय उत्पन्न कर देता है कि वह अमुक कालतक सुईके संपर्कसे उसी प्रकारके शब्दको उत्पन्न करती रहती है। मीमांसक शब्दको नित्य मानते हैं, उसका प्रधान कारण है वेद-को नित्य और अपौरुषेय मानना। यदि शब्द नित्य और व्यापक हो तो व्यंजक वायुसे एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होनेपर सभी जगह सभी वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेसे कोलाहल मच जाना चाहिए। संकेतके लिए भी शब्दको नित्य मानना आवश्यक नहीं है। अनित्य होनेपर भी सदृश शब्दसे संकेतानुसार व्यव-हार चल जाता है। "यह वही शब्द है" यह प्रत्यभिज्ञान शब्दकी नित्यताके कारण नहीं होता किन्तु

---

१ "शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्"–सिद्धिवि० लि० पृ० ४६३।

नव-नवोत्पन्न सदृश शब्दोंमें एकत्वका आरोप करके होता है और इसीलिए भ्रान्त है। जैसे कि काटे गये नख और केशोंमें "ये वही नख और केश हैं" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान नवोत्पन्न सदृश नख-केशोंमें मिथ्या एकत्व भान करनेके कारण होता है। इस तरह सादृश्यमूलक एकत्वारोपसे यदि शब्दको नित्य माना जाता है तो बिजली,दीपक आदि सभी पदार्थ नित्य सिद्ध हो जायँगे। शब्दके उपादानभूत पुद्गल इतने सूक्ष्म हैं कि न तो वे स्वयं चक्षु आदिसे दिखाई देते हैं और न उनकी उत्तर पर्याय ही उपलब्ध हो पाती है। क्रमसे उच्चरित शब्दोंमें ही पद-वाक्य आदि संज्ञाएँ की जाती हैं। यद्यपि शब्द वीचि-तरङ्गन्यायसे समस्त वातावरणमें उत्पन्न होते हैं पर उनमें जो शब्द श्रोत्रसे सन्निकृष्ट होता है वही उसके द्वारा सुना जाता है। श्रोत्र स्पर्शनेन्द्रियकी तरह प्राप्त अर्थको ही जानता है अप्राप्तको नहीं। इसी श्रावणभव्यस्वभाव (भव्यमें सुनाई देने लायक) शब्दमें इच्छानुसार संकेत ग्रहण करके अर्थबोध होता है। शब्दमें वाचक शक्ति है और अर्थमें वाच्य शक्ति, इस वाच्य-वाचकशक्तिके आधारसे ही संकेत ग्रहण किया जाता है और स्मरणसे शब्द व्यवहार चलता है। कहीं शब्दको सुनकर उसके अर्थका स्मरण आता है तो कहीं अर्थ को देखकर तद्वाचक शब्दका स्मरण। इसीलिए शब्दकी प्रवृत्ति बहुधा सांकेतिक मानी गई है।

शब्द और अर्थके इस कृत्रिम संकेतको अपौरुषेय नहीं माना जा सकता। संसारमें असंख्य भाषाएँ हैं, उनके अपने जुदे-जुदे संकेत हैं। बालक अपने माता-पिता तथा गुरुजनों और व्यवहारियोंके द्वारा उस-उस भाषाके शब्दोंमें संकेत ग्रहण करता है। शिक्षासंस्कार उसी संकेत-ग्रहणका एक परिपक्व रूप है। परम्पराकी दृष्टिसे यह सम्बन्ध बीजांकुर संततिकी तरह अनादि भले ही हो, पर है वस्तुतः वह पुरुषकृत ही। प्रलयकालके बाद जो भी शरीरधारी आत्माएँ अवशिष्ट रहती हैं, वे अपने पूर्वसंस्कारके अनुसार संततिमें उन संस्कारोंका धीरे-धीरे वपन करती हैं। और इस तरह संततिक्रमसे संकेत विकसित और प्रसारित होता है। कोई अनादिसिद्ध ईश्वर सर्वप्रथम संकेत ग्रहण कराता हो या इसीके लिए अवतार लेता हो यह बात वस्तुके अनादिसिद्ध स्वरूपके प्रतिकूल है। यही कारण है कि भाषाएँ सांकेतिक कही जाती है और वे यथासंकेत भावोंके आदान-प्रदानका माध्यम होती हैं। वे बनती और बिगड़ती रहती हैं।

प्रमाणका फल–

जब प्रमा-प्रमिति (अज्ञान-निवृत्ति) में साधकतम होनेके कारण सम्यग्ज्ञानको प्रमाण माना है तब उसका साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है। प्रमाण उत्पन्न होकर स्वविषयक अज्ञानको हटाकर उसके यथावत् स्वरूपका प्रतिभास कराता है। अज्ञाननिवृत्ति अर्थात् स्वविषयक सम्यग्ज्ञान हो जानेके बाद हेयका त्याग, उपादेयका उपादान और उपेक्षणीय पदार्थोंमें उपेक्षा ये उसके परम्परा फल हैं। वीत-रागीके केवल ज्ञानसे हेय-उपादेयमें प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं होती। उसके तो समस्त पदार्थोंमें उपेक्षाभाव रहता है। वह केवलज्ञानी, अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा पदार्थोंके यथावत् स्वरूपका द्रष्टा है। इतर संसारी प्राणी अपने हितमें प्रवृत्ति करके उसे प्राप्त करते हैं और अहितसे निवृत्त होकर उसे छोड़ते हैं।

[1]ये दोनों प्रकारके फल आत्मासे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। प्रमाण कारण है और फल कार्य, अतः कार्य-कारणकी दृष्टिसे उनमें भेद है। जो आत्मा प्रमाणरूपसे परिणत होता है अर्थात् जिस आत्मा-में प्रमाण उत्पन्न होता है उसीका अज्ञान हटता है, वही हितमें प्रवृत्ति करता है, वही अहितसे निवृत्ति करता है और वही उपेक्षणीयोंमें उपेक्षा करता है याने तटस्थ रहता है। इस तरह एक आत्माकी दृष्टिसे प्रमाण और फल अभिन्न है। इस दृष्टिसे प्रमाणके विषय उपादेय, हेय और उपेक्षणीय इन तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं। उपेक्षणीय विभाग भी हेय और उपादेयकी तरह अपना अस्तित्व रखता है। उसे ग्रहण नहीं करते इसलिए हेय कोटिमें शामिल करना उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार वह हितबुद्धि से ग्रहण नहीं किया जाता उसी प्रकार वह अहित बुद्धिसे छोड़ा भी तो नहीं जाता। इसलिए उसे हेय कोटिमें शामिल नहीं किया जा सकता। अतः उसे स्वतंत्र ही मानना चाहिए। सर्वथा अभेद माननेपर

१ देखो परीक्षामुख अ० ५।१-३ तथा ६।६७-७१।

यह प्रमाण है और यह फल, इस प्रकारका भेद-व्यवहार नहीं हो सकता। और सर्वथा भेद म आत्मान्तरके प्रमाण और फलकी तरह उनमें प्रमाणफलव्यवहार नहीं हो सकता। ज्ञानको असित्र निरं मानकर अप्रमाणव्यावृत्तिसे कल्पित प्रमाण व्यवहार तथा अफलव्यावृत्तिसे उसमें कल्पित फलव्य करना उचित नहीं है। क्योंकि जिस तरह प्रकृतप्रमाण या फल अप्रमाण या अफलसे व्यावृत्त हैं उसी तरह वे प्रमाणान्तर और फलान्तरसे भी व्यावृत्त हैं अतः उनमें अप्रमाण और अफल व्यवहार भी होना चाहिए। यदि ज्ञान सर्वथा निरंश है तो उसमें तदाकारताको प्रमाण और अधिगमरूपताको फल कहनेकी व्यवस्था भी कैसे बन सकती है? अतः प्रमाण और फलमें एक आत्माकी दृष्टिसे अभेद और क्रिया और करण पर्यायकी दृष्टिसे भेद मानना ही प्रतीति-सिद्ध है।

प्रमेयमीमांसा

तत्त्व और द्रव्य—जैन परम्परामें पदार्थोंका विचार दो दृष्टियोंसे किया जाता है। एक तो वह दृष्टि जिसमें मुमुक्षुके लिए मोक्षमार्गोपयोगी पदार्थोंका विचार किया जाता है। दूसरी वह दृष्टि जिसमें परमार्थसत्, मौलिक पदार्थोंका विचार होता है। मुमुक्षुके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी मोक्ष साधनाके लिए सभी पदार्थोंका ज्ञान अवश्य करे। उसके लिए जिनके ज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है उन्हें तत्त्व शब्दसे कहा गया है। मुमुक्षुको चूँकि मोक्षकी इच्छा है अतः सर्वप्रथम उसे मोक्ष तो समझ ही लेना चाहिए। मोक्ष बन्धनसे छूटनेको कहते हैं। किससे बँधा है यह जाने बिना उसका प्रयास सठीक नहीं हो सकता। बन्धन दोमें होता है। 'कौन किससे बँधा है और क्यों बँधा है?' इस प्रश्नकी मीमांसामें बँधनेवाला आत्मा, जिससे बँधा है वह पुद्गल और जिन कारणोंसे बँधा है वह आस्रव अवश्य ज्ञातव्यकोटिमें आ जाते हैं। आत्मा स्वभावतः अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख आदिका अखण्ड आधार है। वह अनादिसे अपने राग द्वेष मोह आदि विकारोंके कारण नवीन-नवीन कर्म स्कन्धोंको खींचता है और उनसे बँधता चला आता है। जब उसे "मैं एक स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, दूसरी आत्माओंसे या अनन्त भौतिक पुद्गल द्रव्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं अपने गुण पर्यायोंका स्वामी हूँ, न मैं उनका हूँ और न वे मेरे हैं, अपनी विभावपरिणतिके कारण मैं कर्मोंसे बँध गया हूँ, और अपने ही तत्त्वज्ञान और स्वभावपरिणतिसे मुक्त भी हो सकता हूँ" यह तत्त्वज्ञान होता है तब वह मिथ्यात्वादि आस्रवोंको रोककर संवर अवस्थाको प्राप्त होता है, और तप ध्यान आदि चारित्र परिणतिसे पूर्व संचित कर्मोंकी क्रमशः निर्जरा करके समस्त कर्मोंका नाश कर, मुक्त हो जाता है। इस मोक्षमार्गीय प्रक्रियामें बन्धन, बन्धनके कारण-आस्रव और मोक्ष तथा मोक्षके उपाय-संवर और निर्जरा, इन पाँच तत्त्वोंमें मुख्यतया जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंका ज्ञान ही विवक्षित है। पुद्गलसे चूँकि आत्मा बँधा है और उसीके भेद-विज्ञानसे वह उससे छूट सकता है अतः सात तत्त्वोंमें 'अजीव'के द्वारा प्रमुख रूपसे पुद्गलका ही निर्देश किया गया है, वैसे भेद-विज्ञानके लिए अन्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार अजीव द्रव्योंका सामान्य-ज्ञान भी अपेक्षित हो सकता है पर तात्त्विक प्रक्रियामें इन द्रव्योंका कोई विशेष स्थान नहीं है। हाँ, आत्मा और परके भेद विज्ञानमें 'पर'के अन्तर्गत ये अवश्य हैं। मुमुक्षु इन सात तत्त्वोंका परिज्ञान करके अपनी साधना सफल कर सकता है।

बुद्धने निर्वाणके लिए जिन चार आर्य सत्योंका उपदेश दिया है उनमें दुःख बन्धस्थानीय है, समुदय आस्रवस्थानीय, निरोध मोक्षस्थानीय, और मार्ग संवर और निर्जराका स्थान लेता है। बुद्धने तृष्णा और अविद्याको बन्धका कारण बताया है,और दुःखको बन्धनरूप। जबतक चित्त सांसारिक स्कन्धोंसे बद्ध है तभीतक दुःख है। चित्त संततिका निरास्रव अर्थात् अविद्या और तृष्णासे शून्य हो जाना ही वस्तुतः मोक्ष या निर्वाण है। प्रदीप निर्वाणकी तरह चित्तसन्ततिके अस्तित्वका लोप मानना वस्तुस्थितिके विरुद्ध है। इन चार आर्यसत्योंमें बुद्धने आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षका प्रतिपादन तो किया है पर उस मुख्य आत्मतत्त्वके विषयमें मौन ही रखा है जिसको बन्धन और मोक्ष होता है। उन्होंने

जिन १० या १४ बातोंको अव्याकृत[1] कहा है उनमें प्रमुख रूपसे आत्मा और लोक सम्बन्धी प्रश्न ही हैं। इसका कारण भी उन्होंने बताया है कि इनके बारेमें कुछ कहना सार्थक नहीं है और भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं है और न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाणके लिए ही आवश्यक है। कौन ऐसा मुमुक्षु होगा जो अपनी चित्तसन्ततिके उच्छेदके लिए प्रयत्न या अनुष्ठान करेगा। चार्वाककी आत्मा गर्भसे मरण पर्यन्त रहती है और बुद्धकी चित्तसन्तति निर्वाण पर्यन्त। यदि निर्वाणमें उसका समूलोच्छेद हो जाता है तो चार्वाकके सिद्धान्तसे कोई विशेषता नहीं रहती। बुद्धने अपनेको अशाश्वत-अनुच्छेदवादी कहा है। वे न तो आत्माको उपनिषद्वादियोंकी तरह सर्वथा शाश्वत मानना चाहते थे और न भौतिकवादियोंकी तरह सर्वथा उच्छिन्न ही, इसीलिए उन्होंने इन दोनों अन्तोंसे बचनेके लिए अपने मतको दो नकारोंसे सूचित किया है। जो बुद्ध अपनेको अनुच्छेदवादी कहते हैं उन्होंने निर्वाणको कैसे प्रदीपनिर्वाणकी तरह चित्त-सन्ततिके उच्छेद रूपसे कहा होगा? इसीलिए दार्शनिक क्षेत्रमें निरास्रव चित्त सन्ततिरूप निर्वाण माननेका भी एक पक्ष मिलता है और यही युक्तियुक्त भी है। तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० १०४) में एक प्राचीन श्लोक संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला उद्धृत है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात् चित्त जब रागादि दोष और क्लेश संस्कारसे संयुक्त रहता है तब संसार कहा जाता है और जब तदेव—वही चित्त रागादि क्लेश वासनाओंसे रहित होकर निरास्रव बन जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। शान्तरक्षित (तत्त्वसंग्रह पृ० १८४) तो बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि "मुक्तिर्निर्मलता धियः" अर्थात् धी—चित्तकी निर्मलताको मुक्ति कहते हैं। माध्यमिकवृत्ति[2] में निर्वाणपरीक्षाके पूर्वपक्षमें सोपधिशेष और निरुपधिशेष निर्वाणोंका वर्णन है। सोपधिशेष निर्वाणमें रागादिका नाश होकर ५ स्कन्ध जिन्हें जीव कहते हैं, निरास्रव दशामें रहते हैं, जब कि निरुपधिशेष निर्वाणमें वे भी नष्ट हो जाते हैं। बौद्ध परम्परामें निर्वाणकी इन धाराओंके बीज बुद्धके निर्वाणको अव्याकृत कहनेमें ही निहित हैं। इसी असंगतिका परिहार करनेके लिए जैन परम्परामें मोक्षको उसी आत्माकी शुद्ध-दशा-रूप बताया गया है जो कि बन्धनबद्ध था। आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व है जो अनादिसे अनन्तकाल तक प्रतिक्षण परिवर्तन करनेपर भी अपनी सत्ताका विच्छेद नहीं होने देता। त्रैकालिक अविच्छिन्नसत्ता ही द्रव्यका प्राण है। यदि आत्माको सर्वथा नित्य याने अपरिणमनशील माना जाता है तो उसमें बन्धन और मोक्ष ये दो अवस्थाएँ नहीं बन सकेंगी। वह या तो बद्ध होगा या मुक्त। पहले बँधना और पीछे मुक्त होना परिणमनके बिना

१ लोक नित्य है, अनित्य है, नित्य अनित्य है, न नित्य न अनित्य है; लोक अन्तवान् है, नहीं है, है नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाणके बाद तथागत होते हैं, नहीं होते, होते नहीं होते, न होते न नहीं होते; जीव शरीरसे भिन्न है, जीव शरीरसे भिन्न नहीं है। (माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिम निकाय (२।२।३) में इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिना गया।

२ "इह हि भगवता...द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्रोपधीयते अस्मिन् आत्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः। उपधिरेव शेषः उपधिशेषः। सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत्सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।"—माध्यमिकवृत्ति पृ० ५१९।

नहीं हो सकता। इसी तरह यदि आत्माको सर्वथा क्षणिक याने प्रतिक्षण निरन्वय विनाशी माना जाय तो बँधेगा कोई दूसरा क्षण और मुक्त होगा कोई दूसरा ही। बन्धन और मोक्षकी एकाधिकरणता आत्माकी ध्रौव्य परिणतिके बिना नहीं सध सकती। अतः जिस आत्मामें आस्रव होता है, जो बँधती है और जो अपने तप ध्यानादि चारित्रसे नूतन कर्मोंका संवर करती है और समस्त कर्मोंका क्षय कर मुक्त होती है उस मुख्य आधारभूत आत्मद्रव्यको जानना और मानना उपयोगी ही नहीं, वस्तुस्थितिके अनुकूल भी है।

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि आत्मा स्वभावसे शुद्ध चैतन्यरूप है तो उसमें रागादि विकार कैसे क्यों और कब उत्पन्न हुए? इसका उत्तर विधि रूपसे नहीं दिया जा सकता क्योंकि अनादिकालसे आत्मा खदानमें पड़े हुए सोनेकी तरह मलिन ही मिलता आया है। जिस प्रकार खदानसे निकला सोना अग्नि आदि शोधक उपायोंसे निर्मल १००टंचका बना लिया जाता है उसी तरह तप चरित्र आदि शोधक अनुष्ठानों से आत्माके रागादि मल दूर किये जा सकते हैं। आत्माकी यही निर्मल अवस्था मोक्ष है। जिस प्रकार किट्ट कालिमा आदिके सम्पर्कसे स्वर्ण मलिन था उसी तरह कर्मपुद्गलोंके सम्बन्धसे आत्मा भी मलिन था। अतः उस कर्मपुद्गलका परिज्ञान भी आवश्यक है जिसके सम्पर्कसे आत्मा मलिन होता रहा है और जिसके विश्लेषणसे मुक्त हो सकता है। चूँकि राग अज्ञानादि भाव आत्माके स्वरूप नहीं हैं, निमित्तजन्य विभाव हैं, अतः निमित्तके हट जानेपर वह अपनी स्वाभाविक शुद्ध दशामें आ जाता है। जबतक कर्मका सम्पर्क है तबतक पूर्व रागादिसे नूतन कर्म और उन कर्मोंके उदयसे रागादि इस प्रकार बीजांकुरकी तरह यह संसार-चक्र बराबर चलता रहता है। अतः जैन तत्त्वमीमांसामें जीवके साथ ही साथ उस पुद्गल-का परिज्ञान भी आवश्यक बताया गया है जिसके सम्बन्धसे यह जगज्जाल रचा जाता है। इसी तरह आत्मासे भिन्न धर्मादि द्रव्योंका भी जो कि अजीवतत्त्वमें शामिल हैं भेदविज्ञानके लिए जानना आव-श्यक है। बिना इनके जाने तत्त्व मीमांसा पूर्ण नहीं होती।

द्रव्य—जो कालक्रमसे होनेवाली अपनी पर्यायोंमें द्रवणशील अर्थात् अनुस्यूत हो वह द्रव्य है। द्रव्य सत् होता है। वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील होकर कभी भी अपनी मौलिकसत्तासे सर्वथा च्युत नहीं होता। जगत् अनादि सिद्ध द्रव्योंकी आँखमिचौनी मात्र है। द्रव्यकी एक पर्याय उत्पन्न होती है और एक नष्ट। कोई भी द्रव्य इस उत्पादव्ययचक्रका अपवाद नहीं है। प्रत्येक सत् उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य-रूपसे त्रिलक्षण है। द्रव्यव्यवस्थाका यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी असत्का अर्थात् नूतन सत्का उत्पाद नहीं होता और न जो वर्तमान सत् है उसका सर्वथा विनाश ही। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।"

अथवा—

"एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।"

—पञ्चास्तिकाय गाथा १५, १७

अर्थात् अभाव या असत्का उत्पाद नहीं होता और न भाव या सत्का विनाश ही। यही बात गीताके इस श्लोकमें प्रतिपादित है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

—भगवद्गीता २।१६

तात्पर्य यह कि जगत्में जितने सत् या द्रव्य हैं उनकी संख्यामें न तो एककी न्यूनता ही होती है और न एककी अधिकता ही। अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, असंख्य कालाणु द्रव्य, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य और एक अधर्मद्रव्य इस तरह ये सत् अनादि कालसे अनन्तकालतक रहेंगे। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंका सदा स्वाभाविक सदृश परिणमन ही होता है। इनमें कभी भी विकार परिणति नहीं होती। चूँकि सत्का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता यह एक निरपवाद लक्षण है अतः इन द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणकृत उत्पाद और व्यय प्रतिक्षण होता रहता है। आत्मद्रव्यमें जो आत्माएँ सिद्ध अर्थात्

मुक्त हो चुकी हैं उनका भी स्वाभाविक शुद्ध परिणमन ही होता है। और धर्मादि द्रव्योंकी तरह उनमें भी अगुरुलघु गुणकृत ही उत्पाद और व्यय होते हैं। संसारी आत्माओंमें संसारकालतक कर्मबद्ध होनेके कारण विभावपरिणति होती है। एक बार मुक्त हो जानेके बाद याने विभावपरिणतिकी शृंखला टूट जानेके बाद फिर विभाव-परिणतिका कोई कारण नही रहता। संसारी आत्मामे कर्मबद्ध जीव और पुद्गल दोनोंके निमित्तसे विकार होता है। पुद्गल द्रव्य शुद्ध हो जाने पर भी अशुद्ध हो जाते हैं और अशुद्ध होकर भी शुद्ध। ये अशुद्ध जीवसे प्रभावित होते हैं और परस्पर पुद्गलोंसे, अन्ततः कर्मबद्ध आत्माओं से भी। पुद्गल परमाणुओंके विविध विचित्र स्कन्धोंका दृश्य रूप ही संसार है।

बौद्ध दर्शनमे यदि वस्तुतः चित्त-सन्ततिके सर्वथा उच्छेद होनेको निर्वाण माना है तो उसकी यह एक मौलिक भूल है क्योकि उस चित्त-सन्ततिका कोई मौलिकत्व ही नहीं यदि वह कभी भी उच्छिन्न हो जाती है।

द्रव्यके सामान्य विशेषात्मकत्व और उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वकी विशेष चर्चा मैंने इसी ग्रन्थके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें विशेषरूपसे की है। इसी तरह सप्तभङ्गी और स्याद्वादकी चर्चा भी वहीसे पढ़ लेनी चाहिए।

हिन्दू विश्वविद्यालय
बनारस
२६।१२।५४

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

भट्टाकलङ्कदेवविरचितः

न्यायविनिश्चयः

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्तये ।
नमः श्रीवर्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥ १ ॥
बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः ।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥ २ ॥
प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ३ ॥
सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।
सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्प्लवः ॥ ४ ॥
एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।
अतद्धेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ॥ ५ ॥
अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।
अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते ॥ ६ ॥
पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।
तथैव व्यवसायः स्याच्चक्षुरादिधियामपि ॥ ७ ॥
आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः ।
विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥ ८ ॥
अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत् ।
परमार्थैकनानात्वपरिणामाविघातिनः ॥ ९ ॥
प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिषिध्यते ।
परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ॥ १० ॥
अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति ।
मिथ्याविकल्पकस्यैतद् व्यक्तमात्मविडम्बनम् ॥ ११ ॥
अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।
नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥ १२ ॥
आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ।
न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः ॥ १३ ॥
सुखदुःखादिसंवित्तेरवित्तेर्न हर्षादयः ।
आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः ॥ १४ ॥
तावत्परत्र शक्तोऽयमनुमातुं कथं धियम् ।
यावदात्मनि तच्चेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ॥ १५ ॥
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ।
अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धेर्व्यभिचारतः ॥ १६ ॥
असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।
सिद्धं तत्किमतो ज्ञेयं सैव किन्नानुपाधिका ॥ १७ ॥

एतेन येऽपि मन्येरन्नप्रत्यक्षं धियोऽपरम् ।
संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ १८ ॥
विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः ।
असञ्चारोऽनवस्थानमविशेष्यविशेषणम् ॥ १९ ॥
निराकारेतरस्यैतत्प्रतिभासभिदा यदि ।
तत्राप्यनर्थसंवित्तावर्थज्ञानाविशेषतः ॥ २० ॥
ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षितपरं तथा ।
ज्ञानज्ञानलताशेषनभस्तलविसर्पिणी ॥ २१ ॥
प्रसज्येतान्यथा तद्वत्प्रथमं किन्न मृग्यते ।
गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्त्यचेतसः ॥ २२ ॥
असिद्धेरितरेषां च तदर्थस्याप्यसिद्धितः ।
असिद्धो व्यवहारोऽयमतः किं कथयाऽनया ॥ २३ ॥
[एते (२०–२३) अन्तरश्लोकाः]
प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ।
अथ नायं परिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ॥ २४ ॥
प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिबिम्बमसंविदः ।
अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः ॥ २५ ॥
एतेन चित्तिसत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ।
प्रलपन्तः प्रतिक्षिप्ताः प्रतिबिम्बोदये समम् ॥ २६ ॥
सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ।
अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थदृक् ॥ २७ ॥
अथेदमसरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ।
तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोहवत् ॥ २८ ॥
अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ।
स्वचित्तमात्रगर्तावतारसोपानपोषणम् ॥ २९ ॥
सामान्यमन्यथासिद्धं न हि ज्ञानार्थयोस्तथा ।
अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ॥ ३० ॥
अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम् ।
असतोऽज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी ॥ ३१ ॥
प्रकाशनियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिबिम्बतः ।
अन्तरेणापि तादूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥ ३२ ॥
अनर्थाकारशङ्केषु शुद्ध्यत्येष नयो यदि ।
सर्वं समानमर्थात्मासम्भाव्याकारडम्बरम् ॥ ३३ ॥
तद्भ्रान्तेराधिपत्येन सान्तरप्रतिभासवत् ॥३३½॥
यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते ।
तथैवात्मानमात्मा चेदभूतमवलम्बते ॥ ३४½ ॥
न स्वसंवेदनात् तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ॥ ३५ ॥
सत्यं तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ।
यथार्थमयथार्थं वा प्रभुरेषोऽवलोकते ॥ ३६ ॥
विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः ।
अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते ॥ ३७ ॥

सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ।
तद्व्यक्तिं ततो नान्यत् व्यक्तिश्चेद्सतः कथम् ॥ ३८ ॥
आरादपि यथा चक्षुरचिन्त्या भावशक्तयः ।
विषमोऽयमुपन्यासस्तयोश्चेत्सद्सत्त्वतः ॥ ३९ ॥
यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ।
अतत्कालादिरप्यात्मा न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ ४० ॥
व्यवहारविलोपो वा मोहाच्चेद्यथार्थता ।
अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः॥४१॥
अस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ।
प्रदेशादिव्यपायेऽपि प्रतियन् प्रतिरुध्यते ॥ ४२ ॥
एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ।
प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदं प्रत्यज्ञानवबोधतः ॥ ४३ ॥
अविज्ञाततथाभावस्याप्युपायविरोधतः ॥ ४३½ ॥
[एते 'यथैवात्मा' (३४) इत्यादि 'अविज्ञात' (४३½) इति पर्यन्तम् अन्तरश्लोकाः]
अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः ।
विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः ॥ ४४½ ॥
अन्तःशरीरवृत्तेश्चेद्दोषोऽयं न तादृशः ।
तत्रैव ग्रहणात्किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥ ४५½ ॥
विप्लुताक्षा यथा बुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी ।
तथा सर्वत्र किन्नेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥ ४६½ ॥
प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।
वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥ ४७½ ॥
अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा वेदनमासते ।
न स्वतो नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः ॥ ४८½ ॥
प्रतिसंहारवेलायां न संवेदनमन्यथा ॥ ४९ ॥
इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम् ।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ॥ ५० ॥
तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी ।
बभूवेति वयं तावद् बहुविस्मयमास्महे ॥ ५१ ॥
तत्राद्यापि जनाः सक्ताः तमसो नापरं परम् ।
विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ॥ ५२ ॥
कथमेवार्थ आकाङ्क्षानिवृत्तेरपि कस्यचित् ।
व्यवहारो भवेज्जालिमूकलोहितपीतवत् ॥ ५३ ॥
अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ।
अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः ॥ ५४ ॥
स्वतस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ।
मिथस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ॥ ५५ ॥
यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद् बुधः परः ।
ततस्तत्त्वं मतं केन कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः ॥ ५६ ॥
यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ।
तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥ ५७ ॥

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसतत्त्वयोः ।
न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासतत्त्वयोः ॥ ५८ ॥
परितुष्यति नामैकः प्रमयोः परिधावतोः ।
मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥ ५९ ॥
सति भ्रान्तेरदोषश्चेत् तत्कुतो यदि वस्तु न ।
कामं सति तदाकारे तद् भ्रान्तं साधु गम्यते ॥ ६० ॥
अयमेवं न वेत्येवमविचारितगोचराः ।
जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः ॥ ६१ ॥
तावता यदि किञ्चित्स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥ ६१½ ॥
पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः ।
विकल्पैरुत्तरैर्वेत्ति तत्त्वमित्यतियुक्तिमत् ॥ ६२½ ॥
सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः ।
विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ॥ ६३½ ॥
ज्ञायते न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः ।
अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत् तत्किमज्ञानमेव तत् ॥ ६४½ ॥
अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ।
वीक्षते किं तमेवायं विषमज्ञ इवान्यथा ॥ ६५½ ॥
समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत्सविकल्पकैः ।
नैषापि कल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तितः ॥ ६६½ ॥
न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति ।
असंश्चेद्बहिरर्थात्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः ॥६७½॥
सन्देहलक्षणाभावान्मोहश्चेद्व्यवसायकृत् ।
बाधकासिद्धेः स्पष्टाभात्कथमेष विनिश्चयः ॥ ६८½ ॥
विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धितः ॥ ६९ ॥
अद्वयं द्वयनिर्भासमात्मन्यप्यवभासते ।
इतरत्र विरोधः क एक एव स्वहेतुतः ॥ ७० ॥
तथा चेत्स्वपरात्मानौ सदसत्तौ समश्नुते ॥७०½॥
तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ।
तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किन्नोपगम्यते ॥७१½॥
सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येष समो न किम् ।
भेदाभेदव्यवस्थैवं प्रतीता लोकचक्षुषः ॥ ७२½ ॥
विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ।
भासते केवलं नो चेत्सिद्धान्तविषमग्रहः ॥ ७३½ ॥
अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ।
सम्प्रीतिपरितापादिभेदात्तत्किं द्वयात्मकम् ॥ ७४½ ॥
ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किवानुषज्यते ॥ ७५ ॥
भेदो वा सम्मतः केन हेतुसाम्येऽपि भेदतः ।
तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ॥ ७६ ॥
प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथं ततः ।
अज्ञानरूपहेतुस्तवद्धेतुत्वप्रसङ्गतः ॥ ७७ ॥
प्रवाह एकः किन्नेष्टस्तदभावाविभावनात् ॥ ७७½ ॥

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ।
दीपयेत् किन्न सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा ॥ ७८३ ॥
अन्यवेद्यविरोधात् किमचिन्त्या योगिनां गतिः ।
आयातमन्यथाऽद्वैतमपि चेत्यमयुक्तिमत् ॥ ७९३ ॥
व्याहारादिविनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावतः ।
अनाधिपत्यशून्यं तत्पारम्पर्येण चेदसत् ॥ ८०३ ॥
अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्चेत्यहेतुमपरे विदुः ॥ ८१ ॥
सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकान्वयत्वतः ॥ ८२ ॥
साध्यसाधनसङ्कल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ।
परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः ॥ ८३ ॥
अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः ।
केनापि विप्रलब्धोऽयं हा ! कष्टमकृपालुना ॥ ८४ ॥
तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ।
नो चेत्पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ॥ ८५ ॥
न चैकमेकरागादौ समरागादिदोषतः ।
स्वतः सिद्धेरयोगाच्च तद्वृत्तेः सर्वथेति चेत् ॥ ८६ ॥
एतत्समानमन्यत्र भेदाः संविदसंविदोः ।
न विकल्पानपाकुर्युर्नैरन्तर्यानुबन्धिनः ॥ ८७ ॥
आहुरर्थबलायातमनर्थमविकल्पकाः ॥ ८७३ ॥
चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।
चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥ ८८३ ॥
तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नासत्संवृतिरेव वा ।
अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥ ८९३ ॥
न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भाषते ।
बुद्धः शुद्धः प्रवक्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् ॥ ९०३ ॥
न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ।
तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते ॥ ९१३ ॥
एकेन चरितार्थत्वात्तत्राऽविप्रतिपत्तितः ।
अलमर्थेन चेन्नैवमतिरूढानुवादतः ॥ ९२३ ॥
कल्पना सदसत्त्वेन समा किन्तु गरीयसी ।
प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा ॥ ९३३ ॥
न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ॥ ९४ ॥
वासनाभेदाद्भेदोऽयं सिद्धस्तत्र न सिद्ध्यति ।
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ॥ ९५ ॥
पारम्पर्येण साक्षाद्वा परापेक्षाः सहेतवः ।
विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्याहारादिधियो यथा ॥ ९६ ॥
सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराट्टालकादिषु ।
बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते भूधरादिषु ॥ ९७ ॥
तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ।
भवाद्यभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ॥ ९८ ॥

अत्र मिथ्याविकल्पौघैरप्रतिष्ठानकैरलम् ॥ ९८३ ॥
अत्यासन्नानसंसृष्टानणूनेवाक्षगोचरान् ।
अपरः प्राह तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः ॥ ९९३ ॥
तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ।
अत्यक्षेषु ध्रुवेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः ॥ १००३ ॥
कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ॥ १०१ ॥
समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ।
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ॥ १०२ ॥
अथ ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः ।
तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥ १०३ ॥
तुलितद्रव्यसंयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ।
तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ॥ १०४ ॥
गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्चा सूक्ष्मतः किल ।
अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम् ॥ १०५ ॥
ताम्रादिरक्तिकादीनां समितक्रमयोगिनाम् ।
कथमातिलकात् स्थूलप्रमाणानवधारणे ॥ १०६ ॥
अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुषज्यते ।
अंशुपातानुमादृष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ॥ १०७ ॥
क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः ।
तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ॥ १०८ ॥
नाशोऽप्यंशी न तेऽत्रान्ये वीक्ष्या न परमाणवः ।
आलोच्यार्थान्तरं कुर्यादत्रापोद्धारकल्पनाम् ॥ १०९ ॥
गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ।
विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ॥ ११० ॥
सदापि सविकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ।
गुणपर्ययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ॥ १११ ॥
गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः ।
दुद्राव द्रवति द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्ययम् ॥ ११२ ॥
भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ।
अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ॥ ११३ ॥
सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदसतोऽगतेः ।
तादात्म्यनियमो हेतुफलसन्तानवच्चेत् ॥ ११४ ॥
भिन्नभन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि नः ।
प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्तमयुक्तिमत् ॥ ११५ ॥
प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ ११५३ ॥
समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यो व्यपेक्षया ॥ ११६ ॥
स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ।
समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्तिभिः ॥ ११७ ॥
यदि शेषपरावृत्तेरेकज्ञानमनेकतः ।
अनर्थमन्यथाभासम् अनंशानां न राशयः ॥ ११८ ॥

तथाऽयं क्षणभङ्गी न ज्ञानांशः सम्प्रतीयते ।
अर्थाकारविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ॥ ११९ ॥
तद्भावः परिणामः स्यात्सविकल्पस्य लक्षणम् ।
तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धृतम् ॥ १२० ॥
भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ॥ १२०½ ॥
अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।
ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्यत्काको मयूरवत् ॥ १२१½ ॥
प्रामाण्यं नागृहीतेऽर्थे प्रत्यक्षेतरगोचरौ ।
भेदाभेदौ प्रकल्प्येते कथमात्मविकल्पकैः ॥ १२२½ ॥
उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ।
सद्भिन्नप्रतिभासेन स्याद्भिन्नं सविकल्पकम् ।
अभिन्नप्रतिभासेन स्यादभिन्नं स्वलक्षणम् ॥ १२४ ॥
विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा ॥ १२४½ ॥
असम्भवदतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ।
समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् ॥ १२५½ ॥
प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।
सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः ॥ १२६½ ॥
सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ॥ १२७ ॥
तथा सुनिश्चितैस्तैस्तु तत्त्वतो विप्रशंसतः ।
प्रत्यभिज्ञाविशेषात्तदुपादानं प्रकल्पयेत् ॥ १२८ ॥
अन्योन्यात्मपरावृत्तभेदाभेदावधारणात् ।
मिथ्याप्रत्ययमर्शिभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥ १२९ ॥
तथा प्रतीतिमुल्लङ्घ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।
नानैकान्तग्रहग्रस्ता नान्योन्यमतिशेरते ॥ १३० ॥
शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः ।
पश्चादनुपलम्भेऽपि युक्तोपादानवद्गतिः ॥ १३१ ॥
तस्यादृष्टमुपादानमदृष्टस्य न तत्पुनः ।
अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥ १३२ ॥
तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्धृतैः ।
निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा ॥ १३३ ॥
समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम् ॥ १३३½ ॥
अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ।
मिथ्याभयानकग्रस्तैर्मृगैरिव तपोवने ॥ १३४½ ॥
यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासत्त्वादिभेदतः ।
प्रतिभासभिदां यतोऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् ॥ १३५½ ॥
विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ।
तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे ॥ १३६½ ॥
अन्यथार्थात्मनोस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥ १३७ ॥
विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात् ।
विरुद्धधर्माध्यासः स्याद् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥ १३८ ॥

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत् ।
अतद्भावतया बुद्धेरर्थाकारविवेकवत् ॥ १३९ ॥
अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।
दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः ॥ १४० ॥
सर्वथार्थक्रियायोगात् तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।
अंशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥ १४१ ॥
संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्तते ।
अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा परिणामिनः ॥ १४२ ॥
अतद्धेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति ॥ १४२½ ॥
समानाकारशून्येषु सर्वथानुपलम्भतः ।
तस्य वस्तुप्रभावादि साकारस्यैव साधनम् ॥ १४३½ ॥
न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कथञ्चन ।
तद्विभर्ति स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम् ॥ १४४½ ॥
अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धमुभयात्मकमञ्जसा ॥ १४५ ॥
सन्निवेशादिवद् वस्तु सांवृतं किन्न कल्प्यते ।
समप्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥ १४६ ॥
सर्वात्मना निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् ।
नौयानादिषु विभ्रान्तो न न पश्यति वाहनः ॥ १४७ ॥
न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुरञ्जकः ।
तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टः सकलो गुणः ॥ १४८ ॥
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ।
अध्यक्षलिङ्गतस्सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥ १४९ ॥
सत्यालोकप्रतीतेऽर्थे सन्तः सन्तु विमत्सराः ॥ १४९½ ॥
नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्यदि ।
व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १५०½ ॥
सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्ताद्यस्तथा ।
सर्वेऽर्था देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम् ॥ १५१½ ॥
सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥ १५२ ॥
तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिवत् ।
एकानेकमनेकान्तं विषमञ्च समं यथा ॥ १५३ ॥
तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः ।
अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षाभं पटीयसाम् ॥ १५४ ॥
अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ।
सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ॥ १५५ ॥
ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ॥ १५५½ ॥
अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ।
प्रत्यक्षं मानसं चाह भेदस्तत्र न लक्ष्यते ॥ १५६½ ॥
अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ।
सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम् ॥ १५७½ ॥
शष्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ।
यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ॥ १५८½ ॥

अथैकं सर्वविषयमस्तु किं वाक्षबुद्धिभिः ।
क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुध्यते ॥ १५९½ ॥
अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ।
वेदनादिषदिष्टं चेत्कथं नातिप्रसज्यते ॥ १६०½ ॥
प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः ।
लक्षणं तु न कर्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु ॥ १६१½ ॥
अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ।
स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ॥ १६२½ ॥
विच्छेदे हि चतुःसत्यभावानादिर्विरुध्यते ॥ १६३ ॥
प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ॥ १६३½ ॥
श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ।
प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ॥ १६४½ ॥
तथाक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ।
व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुध्यते ॥ १६५½ ॥
नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः ।
ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य नेश्वरज्ञानसंग्रहः ॥ १६६½ ॥
लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥ १६७½ ॥

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासि भावप्रवादं
चक्रे लोकानुरोधात्पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन्न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चि-
दित्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१६८½॥

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः

द्वितीयः प्रस्तावः

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ।
विरोधात्क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।
सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ॥ २ ॥
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥ ३ ॥
आतेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्याऽनुषज्यते ।
तथेष्टत्वाददोषोऽयं हेतोर्दोषत्रयं यदि ॥ ४ ॥
भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वाद् यथा वस्तुबलागमम् ।
प्रपेदे सर्वथा सर्ववस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन् ॥ ५ ॥
भावनादभ्युपैति स्म भावधर्ममवस्तुनि ॥ ५½ ॥
असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥ ६½ ॥
इष्टसिद्धिः परेषां वा तत्र वक्तुरकौशलम् ॥ ७ ॥
अतीतानागतादीनामपि सत्ताऽनुषङ्गवत् ।
अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ॥ ८ ॥
तदभावेऽपि तद्भावादस्यान्यथानुपपत्तितः ।
अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः ॥ ९ ॥
एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ।
तत्सत्सात्व्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ॥ १० ॥
व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ।
कुतश्चित्तदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ॥ ११ ॥
प्रमाणमर्थे संवादाद् भ्रान्तिरव्यवसायतः ।
प्रत्यक्षाभेऽप्रसङ्गश्चेत् तथाऽनभिनिवेशतः ॥ १२ ॥
दूरदूरतरादिस्थैरेकं वस्तु समीक्ष्यते ।
नानाभं स्यात्तथा सत्यं न चेद्वस्त्वनुरोधि किम् ॥ १३ ॥
तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ।
प्रतिभासभिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ॥ १४ ॥
समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तितः ।
तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ॥ १५ ॥
न भेदोऽभेदरूपत्वान्नाभेदो भेदरूपतः ।
सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ॥ १६ ॥
संसर्गो नास्ति विश्लेषाद्विश्लेषोऽपि न केवलः ।
संसर्गात्सर्वभावानां तथा संवित्तिसम्भवात् ॥ १७ ॥
[एतौ (१६–१७) अन्तरश्लोकौ]

तद्व्याप्तिव्यतिरेकाभ्यां मतं सामान्यदूषणम् ।
समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ॥ १८ ॥

सदृशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे।
प्रत्यभिज्ञादिना सिद्ध्येत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ॥ १९ ॥
तद्वतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः ॥ २० ॥
नोपधयो न तद्वन्तो भिन्नाभिन्ना अपि स्वयम्।
जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ॥ २१ ॥
तद्वत्यचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः।
चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्यां समं तैस्तस्य लक्षणे ॥ २२ ॥
सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तितः।
अनुमानमलं किं तदेव देशादिभेदवत् ॥ २३ ॥
एतेन भेदिनां भेदसंवृत्तेः प्रतिपत्तितः।
तत्रैकं कल्पयन् वार्यः समाना इति तद्ग्रहात् ॥ २४ ॥
अतद्धेतुफलापोहः सामान्यं चेदपोहिनाम्।
सन्दर्श्यते तथा बुद्ध्या न तथाऽप्रतिपत्तितः ॥ २५ ॥
यत्र निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम्।
यथानिश्चयनं तस्य दर्शनं तद्दृशान्किल ॥ २६ ॥
समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं दृशिः।
न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशभाक् ॥ २७ ॥
सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः।
तत्रैकमन्तरेणापि सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ॥ २८ ॥
तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामषु।
समयस्तत्प्रकारेषु प्रवर्त्तेतान साध्यते ॥ २९ ॥
तज्जातीयमतः प्राहुर्यतः शब्दा निवेशिताः ॥ २९½ ॥
नानेकत्र न चैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम्।
अतिप्रसङ्गतः तस्यादन्यत्रापि समानतः ॥ ३०½ ॥
व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात् सर्वतोऽनवधारणम्।
सादृश्याद्यदि साधूक्तं तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम् ॥ ३१½ ॥
एकान्ते चेत्तथाऽदृष्टेरिष्टं वक्तुर्कौशलम्।
सर्वंकत्वप्रसङ्गो हि तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम् ॥ ३२½ ॥
नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत्।
तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः ॥ ३३½ ॥
तथापि दर्शनं न स्याद्भिन्नाकारप्रसङ्गतः।
न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् ॥ ३४½ ॥
प्रतिभासभिदैकत्र तदनेकात्मसाधनम्।
अदृष्टिकल्पनायां स्याच्चैतन्यमयोगिनाम् ॥ ३५½ ॥
तस्माद्भेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते।
नेक्षते नाविरोधोऽपि न समानाः स्युरन्यथा ॥ ३६½ ॥
अक्षमानेऽपि तत्तुल्यं अनुमानवदिष्यते ॥ ३७ ॥
ततः सम्भाव्यते शब्दः सत्यार्थप्रत्ययान्वितः।
सत्यानृतार्थताऽभेदो विवक्षाव्यभिचारतः ॥ ३८ ॥
सदसज्ज्ञार्थदृष्टाव्यविकल्पयतः कथम्।
समयः नरप्रमाणत्वे क्व प्रमाणे धियात्मनाम् ॥ ३९ ॥

तदर्थदर्शनाभावात् मिथ्यार्थप्रतिभासिषु ।
ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित्प्रचक्षते ॥ ४० ॥
वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेष्वपि ।
सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः ॥ ४१ ॥
न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति ।
फलाभावादशक्तेश्च समयः सम्प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः ।
वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनिबन्धनः ॥ ४३ ॥
तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत् ॥ ४३½ ॥
तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ।
संक्षेपेण क्वचित्कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥ ४४½ ॥
तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनानात्वप्रतिपादने ।
एकत्र बहुभेदानां सम्भवान्मेचकादिवत् ॥ ४५½ ॥
समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।
भेदविद् धर्मिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥ ४६½ ॥
तदन्यत्र समानात्मा स एवेति तथाविधे ।
व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥ ४७½ ॥
तत्तन्निमित्तकः शब्दस्तथान्यत्रापि योज्यताम् ।
ततः सत्तेति साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः ॥ ४८½ ॥
['सहशब्दार्थं' (३९) इत्यादि 'ततः सत्तेति' (४८½) इत्यन्तं व्याख्यानश्लोकाः] ,
नानैकवचनाः शब्दाः तथा सङ्केतिता यतः ॥ ४९ ॥
प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचित्सादृश्यविनिबन्धना ।
प्रमाणपूर्विका नान्या दृष्टिमान्द्यादिदोषतः ॥ ५० ॥
अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवत्वतः ॥ ५०½ ॥
तत्रान्यत्रापि वासिद्धं यद्विना यद्विहन्यते ।
तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम् ॥ ५१½ ॥
अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।
जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥ ५२½ ॥
कर्मणामपि कर्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ।
संसरेत् परिणामात्तो मुच्यते वा ततः पुनः ॥ ५३½ ॥
आत्मादिव्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां व्रजेत् ।
नानायं क्रमशो वृत्तेर्न चेदत्राभिधास्यते ॥ ५४½ ॥
भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।
कायश्चित्कारणं सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ॥ ५५½ ॥
शक्तिभेदे तथा सिद्धिः संज्ञा केन निवार्यते ॥ ५६ ॥
यथा भूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः ।
तथा भूताविशेषेऽपि भवेद्भूतादिसंस्थितिः ॥ ५७ ॥
तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद् ग्रहणे पुनः ।
तद्रूपं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते ॥ ५८ ॥
यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत् ।
अनवस्थानतोऽभेदे सकलग्रहणं भवेत् ॥ ५९ ॥

तदनेकात्मकं तत्त्वं न हि ज्ञानात्मना क्वचित् ।
शरीरग्रहणं येन तद्गुणः परिकल्प्यते ॥ ६० ॥

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्यया ग्रहात् ।
तादात्म्यं केन वार्येत नोपचारप्रकल्पनम् ॥ ६१ ॥

अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वात् आधारस्यैकरूपतः ।
तत्रैकत्वं प्रसज्येत संख्यामात्रं यदीष्यते ॥ ६२ ॥

नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ।
प्रसक्ता रूपभेदाच्चेत् भेदो नानात्वमुच्यते ॥ ६३ ॥

एकता भावसाम्याच्चेत् उपचारस्तथा भवेत् ।
भेदेऽपि वस्तुरूपत्वात् न चेदन्यत्र तत्समम् ॥ ६४ ॥

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गता ॥ ६४½ ॥

जीवच्छरीरधर्मोऽस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः ।
यथाऽचैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥ ६५½ ॥

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।
प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥ ६६½ ॥

तद्दृष्टिहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना ॥ ६७ ॥

स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ।
तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् ॥ ६८ ॥

['तस्मादनेकरूपस्य' (५८) इत्यादि 'स्वातन्त्र्यदृष्टेः' (६८) इत्यन्तं व्याख्यानश्लोकाः]

कार्यकारणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ।
कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन ॥ ६९ ॥

तस्यापि देहानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽन्योन्यसंश्रयात् ।
उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः ॥ ७० ॥

अत एव विरुद्धत्वादलं प्रायस्तथा भवन् ।
तत्र कारणमित्येव कार्यसत्तानिवर्तकम् ॥ ७१ ॥

तन्निवृत्तौ तथा तक्षो गोपुराट्टालकादिषु ॥ ७२ ॥

युगपद्भिन्नरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।
न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥ ७२½ ॥

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद्विकृतेरविकारिणि ।
निर्ह्रासातिशयाभावान्निर्ह्रासातिशये धियः ॥ ७३½ ॥

बलीयस्यबलीयस्त्वाद्विपरीते विपर्ययात् ।
काये तस्मान्न ते तस्य परिणामा सुखादयः ॥ ७४½ ॥

एतदत्र घटादीनां न तु जातुचिदीक्ष्यते ।
तुल्यश्च गुणपक्षेण तत्तथा परिणामतः ॥ ७५½ ॥

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।
अन्यथानियमायोगात् प्रतीतेरपलापतः ॥ ७६½ ॥

कल्पनायामसामर्थ्यात् ततस्तद्विकृते ऋते ।
पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥ ७७½ ॥

कारणं नाक्षसङ्घातस्तत्प्रत्येकं विना भवात् ।
विकल्पानां विशेषाच्च तत्तद्वृत्ति विरोधतः ॥ ७८½ ॥

जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः ।
अन्यथा कल्पयन् लोकमतिक्रामति केवलम् ॥ ७९½ ॥
नाऽस्मृतेरभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।
तद्धि जन्मान्तरान्नायं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥ ८०½ ॥
गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन ।
तदाद्यावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥ ८१½ ॥
तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद् भूयो भूयः प्रवर्तितः ।
कोशपानं विधेयं न समं भूयस्तथा दृशः ॥ ८२½ ॥
रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम् ।
नावश्यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः ॥ ८३½ ॥
तथा रागादयो दृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाभुवः ॥ ८४ ॥
तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषयोः ।
भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदिष्विह च दृश्यते ॥ ८५ ॥
तस्मात् संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे ॥ ८६ ॥
तदभावे हि तद्भावप्रतिबंधो न युक्तिमान् ॥ ८६½ ॥
['जातिस्मराणां' (७९) इत्यादि 'तदभावे हि' (८६½) इत्यन्तं व्याख्यानश्लोकाः]
बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया ।
न भवेत्परिणामित्वाद्विनाशानुपलक्षणात् ॥ ८७½ ॥
परस्याप्यविरोधश्चेत् फलहेतुव्यपोहतः ।
प्रवृत्तेर्व्यवहाराणामविनाशेऽपि सम्भवात् ॥ ८८½ ॥
यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः ।
तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥ ८९½ ॥
तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे ॥ ९० ॥
अन्यस्यान्यो विनाशः किं किन्न स्यादचलात्मकः ।
तद्विवेकेन भावाच्चेत् कथन्नातिप्रसज्यते ॥ ९१ ॥
सदापि सर्वभावानां परस्परविवेकतः ।
न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक् ॥ ९२ ॥
तत्प्रतीत्यसमुत्पादात् भावश्चेत् स कुतो मतः ।
सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम् ॥ ९३ ॥
विशेषकल्पनायां स्यात् परस्याव्यभिचारिता ।
तस्मात् सभागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ॥ ९४ ॥
न चेत् स परिवर्तेत हेतुरेव फलात्मना ॥ ९४½ ॥
तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावः तदग्रहः ।
तद्ग्रहः प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निबन्धनः ॥ ९५½ ॥
अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ।
अन्य एवेति किन्नेष्टमिति केचित्प्रचक्षते ॥ ९६½ ॥
अन्यथात्वं न चेत्तस्य भवेद् ध्रौव्यमलक्षणात् ।
अभावस्याप्यभावोऽपि किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ॥ ९७½ ॥
स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।
नष्टो वा नान्यथाभूतः ततो नातिप्रसज्यते ॥ ९८½ ॥

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥ ९९३ ॥
तथार्थेऽसत्यसम्भूष्णुर्धर्मो न बहिरङ्गतः।
सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंस्थितेः ॥ १००३ ॥
एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टैर्नष्टं न चापरैः।
आवृतैरावृतं मार्गे रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥ १०१३ ॥
अन्यथा तदनिर्देश्यं नियमस्याप्यसम्भवात्।
वृत्तावपि न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते ॥ १०२३ ॥
सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः।
प्रत्यक्षं यदि बाध्येत लक्षणं प्रतिरुद्ध्यते ॥ १०३३ ॥
साङ्कर्यं व्यवहाराणां सन्निवेशविशेषतः।
मानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते ॥ १०४३ ॥
सत्यप्येकार्थकारित्वेऽसंश्लेषपरिणामतः।
इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा विरुद्ध्यते ॥ १०५३ ॥
तद्नेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः।
स्कन्धस्तु सप्रदेशोंऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः ॥ १०६३ ॥
नानाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत्।
तादात्म्येन पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥ १०७३ ॥
दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः।
विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुद्ध्यते ॥ १०८३ ॥
सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः।
इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीष्यते ॥ १०९३ ॥
अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे।
नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥ ११०३ ॥
भेदसामर्थ्यमारोप्य प्रत्यासत्तिनिबन्धनम्।
बोधं महति नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति ॥ १११३ ॥
सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः।
अन्यथा नाप्रदेशादीत्यपरैरुक्तमुत्तरम् ॥ ११२३ ॥
नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम् ॥ ११३ ॥
चित्रचैत्तविचित्राभदृष्टमङ्गप्रसङ्गतः।
स नैकः सर्वथा श्लेषात् नानेको भेदरूपतः ॥ ११४ ॥
स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते।
सङ्ख्यादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ॥ ११५ ॥
अतादात्म्यस्वभावे वा ज्ञानमैक्यादलं परैः ॥ ११५३ ॥
स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वान्न न रूपं स्पर्शनग्रहात्।
रूपादीनि निरस्यान्यं न चाभ्युपलभेमहि ॥ ११६३ ॥
सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः।
प्रायेणैकस्य ताद्रूप्यं पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः ॥ ११७३ ॥
अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धभेदोपलम्भवत्।
अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते ॥ ११८३ ॥

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ।
अप्रवृत्तेः फलाभावात्तत्र वृत्तेर्निषेधतः ॥ ११९½ ॥
प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ।
केवलं व्यान्ध्यमेवैतत् किन्न सत्त्वं समीक्ष्यते ॥१२०½॥
सत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् ।
हेत्वात्मनोः परं हेतुः तज्ज्ञानव्यवहारयोः ॥ १२१½ ॥
परसत्त्वमसत्ताऽस्यादर्शनं परदर्शनम् ।
सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्नियन्धनाः ॥ १२२½ ॥
अग्निः स्वपररूपाभ्यां भावाभावात्मको यथा ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते ॥ १२३½ ॥
अप्रमेयं प्रमेयं चेदसत्किन्न सदात्मकम् ।
अथ न व्यवहारोऽयं अन्यत्रापि निरंकुशः ॥ १२४½ ॥
सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतिस्तत्रैकलक्षणम् ।
साध्येऽसति विरोधोऽयमतस्तर्केण साध्यते ॥ १२५½ ॥
सर्वत्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वादिरन्यथा ।
शब्देऽपि साधयेत् केन तस्मान्नान्यथतो गतिः ॥ १२६½ ॥
सिद्धमर्थक्रियाऽसत्त्वं सर्वथाऽविचलात्मनः ।
निरन्वयविनाशेऽपि साधनं नोपचारतः ॥ १२७½ ॥
अवश्यं बहिरन्तर्वा प्रमाणमवगच्छताम् ।
सिद्धमेकमनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम् ॥ १२८½ ॥
परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठितः ।
परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते ॥ १२९½ ॥
अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित् कस्यचित् क्वचित् ।
शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥ १३०½ ॥
स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ।
तत्र सिद्धमसिद्धं वा तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥ १३१½ ॥
सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ।
न चेत् स परिवर्तेत भाव एव फलात्मना ॥ १३२½ ॥
परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ।
अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् ॥ १३३½ ॥
भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदव्यवस्थितिः ।
लोकतो वानुगन्तव्या सभागविसभागवत् ॥ १३४½ ॥
['सिद्धमर्थक्रिया' (१२७) इत्यादि 'लोकतो वानु' (१३४) इत्यन्तं विवरणश्लोकाः]।
सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ।
अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र सम्भवात् ॥ १३५½ ॥
प्रत्यक्षेऽपि समानान्यनिर्णयः प्रतिरुध्यते ।
यथा क्षणक्षयेऽणूनां इत्यात्मासौ विडम्बयेत् ॥ १३६½ ॥
अपृथग्वेद्यनियमादभिन्नाः परमाणवः ॥ १३७ ॥
देशकालान्तरव्याप्तिः स्वभावः क्षणभङ्गिनाम् ।
सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ॥ १३८ ॥
[illegible]ऽपि ग्रहणे किमनिश्चयः ।

आकृतिभ्रमवद्यद्वद्विषमैर्विलोकितम् ॥ १३९ ॥
न चर्तेऽर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलो व्यवसीयते ॥ १३९३ ॥
भावान्तरसमारोपेऽभाविताकारगोचरः ।
समक्षसंविदोऽर्थानां सन्निधिं नातिशेरते ॥ १४०३ ॥
अणवः क्षणिकात्मानः किल स्पष्टावभासिनः ।
अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः ॥ १४१३ ॥
स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ।
समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः ॥ १४२३ ॥
स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ।
नाशस्यैकार्थरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्ध्यते ॥ १४३३ ॥
व्यामोहशबलाकारवेदनानां विचित्रता ।
साकल्येन प्रकाशस्य निरोधः सम्प्रतीयते ॥ १४४३ ॥
सम्भावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ।
प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः ॥ १४५३ ॥
प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।
सत्यं परिस्फुटं येन तत्र प्रामाण्यमश्नुते ॥ १४६३ ॥
आसादितविशेषाणामणूनामतिवृत्तितः ।
एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः ॥ १४७३ ॥
कालापकपर्यन्तविवर्तातिशया गतिः ।
अशक्तेरणुवत् सेयमनेकान्तानुरोधिनी ॥ १४८३ ॥
अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशेरते ।
निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः ॥१४९३॥
जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नावृतः ।
सकलग्रहसामर्थ्यात्तथात्मानं प्रकाशयेत् ॥ १५० ॥
तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ।
अवस्थान्तरविशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते ॥१५१॥
सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ।
वितथेतरविज्ञाने प्रमाणेतरतां गते ॥ १५२ ॥
यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ।
भेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥ १५३ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१५४॥
प्रत्येति न प्रमाहेतुं प्रत्येति पुनरप्रमाम् ।
प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः ॥१५५॥
नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ।
अन्यथाऽसम्भवेऽज्ञाते ह्यर्थस्यात्मव्यवस्थितः ॥१५६॥
प्रतिव्यूढस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ।
प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः ॥१५७॥
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।
अन्यथाऽनुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ॥१५८॥

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।
व्याप्यव्यापक भावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥१५९॥
सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥१६०॥
सहदृष्टैश्च धर्मैस्तं न विना तस्य सम्भवः ।
इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥१६१॥
तस्माद्वस्तुबलादेव प्रमाणं मतिपूर्वकम् ।
यद्भेदं श्रुतं साक्षात् पारम्पर्येण चेष्यते ॥१६२॥
अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्तनम् ।
स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं तदनक्षवत् ॥१६३॥
लिङ्गसांवृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि ।
व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्तृप्रवृत्तयः ॥१६४॥
शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ।
अनुमानं तु हेतोः स्यात् अविनाभावनिश्चयात् ॥१६५॥
यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाशक्यसम्भवः ।
हेतुस्तथानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥१६६॥
प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।
अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥१६७॥
प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नोपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः ।
प्रमाणं सम्भवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात् ॥ १६८ ॥
तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥ १६९ ॥
तादात्म्यं तु कथञ्चित् स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।
सास्नाविषाणयोरेवं चन्द्रार्वाकपरभागयोः ॥ १७० ॥
उपलब्धेश्च हेतुत्वादन्तर्भावात् स्वभावतः ।
तयोरनुपलम्भेषु नियमो न व्यवस्थितः ॥ १७१ ॥
अभविष्यत्यसम्भाव्यो धर्मो धर्मान्तरे क्वचित् ।
शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः ॥ १७२ ॥
एतेन पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ कथा गता ।
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्यो दिशाऽनया ॥ १७३ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥ १७४ ॥
विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।
कृतकः क्षणिको न स्यात् नैकलक्षणहानितः ॥ १७५ ॥
सत्ता सम्प्रतिवद्धेव परिणामे क्रियास्थितेः ।
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥ १७६ ॥
अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ।
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्पते ॥ १७७ ॥
सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ।
अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुध्यते ॥ १७८ ॥

सत्त्वमर्थं क्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ।
हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः परिणामप्रसाधनाः ॥ १७९ ॥
सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।
रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् ॥ १८० ॥
धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ।
असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे ॥ १८१ ॥
वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञबाधिनी ।
शिरःपाण्यादिमत्त्वाद्या विरुद्धव्याप्तसिद्धयः ॥१८२॥
सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ।
स्वभावकारणासिद्धेरेकलक्षणविद्विषाम् ॥१८३॥
कथञ्च सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो ।
यावत् प्रक्लृप्यते रूपं तावत् कार्यं विरुद्धयते ॥१८४॥
विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥१८५॥
प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।
विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥१८६॥
अप्रमत्ता विवक्षेयमन्यथा नियमात्ययात् ।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ॥१८७॥
प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः ।
तत्कार्योत्कपर्यन्तभावः सर्वहिताभिधा ॥१८८॥
यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारण भूतयोः ।
अविरोधेन वाग्वृत्तेनरात्रेकस्तन्निषेधने ॥१८९॥
तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद बुद्धि विस्तरे ।
सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसंक्षयात् ॥१९०॥
अक्षयात् पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य संक्षयात् ।
सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते ॥१९१॥
कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात् कर्मपटलाच्छता ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥१९२॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥१९३॥
परदुःखपरिज्ञानाद् दुःखितः स कथं भवेत् ।
स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः ॥१९४॥
भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं मलक्षयः ।
कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते ॥१९५॥
असिद्धश्चाक्षुपत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ।
अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः ॥१९६॥
सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविलाशयोः ।
यो हेतोराश्रयः अनिष्टेरिष्टः स्वात्माविशेषतः ॥१९८॥
साध्यसाधनभावो न शब्दे नाशित्वसत्त्वयोः ।
अनकः पावकोऽग्नित्वात् इत्यनेकान्तविद्विषाम् ॥१९९॥
सर्वान्यार्थासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ॥२००॥

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयाद्वानहानयः।
शब्दोत्पत्तिविनाशाः सत्साध्यसाधनसंस्थितिः ॥२०१॥
अन्यथाऽनुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे ॥२०२॥
तत्र मिथ्योत्तरं जातिः यथाऽनेकान्तविद्विषाम्।
दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ॥२०३॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥२०४॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥२०५॥
अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेकाऽनवस्थितेः।
अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वा ऽनया दिशा ॥२०६॥
मिथ्योत्तराणामनन्त्याच्छास्त्रे वा विस्तरोक्तितः।
साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥२०७॥
प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः।
विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥२०८॥
असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥२०९॥
वादी पराजितो युक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः।
तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ॥२१०॥
सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः।
स दृष्टान्तस्तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥ २११ ॥
सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥ २१२ ॥
प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैवसिद्धये।
वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥ २१३ ॥
आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः।
न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम् ॥ २१४ ॥
तदाभासो वितण्डादिः अभ्युपेताव्यवस्थितेः।
तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिः अनेकधा ॥ २१५ ॥
प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्।
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम्।
आ ज्ञातं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः।
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छित्तये ॥ २१६ ॥
शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकम्,
मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहुमुखैरुद्वीक्ष्य तर्कागमैः।
दाहार्तैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतं।
निःसन्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥ २१७३ ॥

इति द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः

प्रवचनप्रस्तावः

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।
सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥१॥
तथाऽन्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः ।
पुरुषातिशयो ज्ञातुं यद्यशक्यः किमिष्यते ॥२॥
परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः ।
शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत् सम्प्रतीयते ॥३॥
सिद्धहिंसानृतस्तेयाब्रह्मचर्यप्रवृत्तितः ।
स प्रत्यस्तमिताशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥४॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेदृशः ।
प्रवक्ता धिगनात्मकं तदसाध्यमसाधनम् ॥५॥
सर्वथाऽसदुपादेयं हेयं सत् तदकारणम् ।
तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यव्यवस्थितिः ॥६॥
करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम् ।
इति न करुणा अत्यन्तं परदुःखं न गोचरः ॥७॥
तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः ।
मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥८॥
तत्त्वज्ञानमुदेतीति कुतस्तत्त्वविनिश्चयः ।
अनादिवासना न स्यात् त्रैलोक्यमविकल्पकम् ॥९॥
निरुपद्रवभूतस्य बाधाऽयुक्ता विपर्ययैः ।
विच्छेदो वरमुच्छेदाद्विदस्तत्पक्षपाततः ॥१०॥
यस्तावत्करुणावत्त्वात् तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।
सन्तानः स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥११॥
तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।
सन्तानस्यात्मनो वा इति शब्दमात्रं तु भिद्यते ॥१२॥
नित्यस्यापि सतः साक्षाददृश्यानुभवात्मनः ।
सुखादिर्विषयः शब्दाद्यविशेषो धियाऽन्यथा ॥१३॥
प्रदर्श्यः पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।
निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ॥१४॥
विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः ।
प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ॥ १५ ॥
परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।
अदृष्टदोषाशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥ १६ ॥
प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।
दर्शनादर्शनाभ्यासात् क्वचिद् वृत्तसमत्वतः ॥ १७ ॥
तज्ज्ञानपूर्वकं तथ्यमनुमानसमीक्षितम् ।
मानं वस्तुबलादेव सर्ववस्तुनिबन्धनम् ॥ १८ ॥

[एते १६–१८ अन्तरश्लोकाः]

प्रतिपक्षस्थिरीभावः प्रायः संस्कारपाटवत् ।
निर्ह्रासातिशयौ येषां तत्प्रकर्षापकर्षयोः ॥ ५९ ॥
यद्यप्यनात्मविज्ञानभावनासम्भवस्ततः ।
न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ॥ ६० ॥
हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ।
मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैत्र्यादिप्रतिरोधतः ॥ ६१ ॥
तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्रेषु महीयसाम् ।
आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते ॥ ६२ ॥
यस्तावत् करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।
सन्तानः स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥
तस्मात् निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।
सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते ॥ ६४ ॥

नित्यस्येच्छा-प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः ।
मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्षस्तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥ ६५ ॥
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥ ६६ ॥
तदतद्वस्तुभेदेन वाचो वृत्तेस्तथोभयम् ।
तदतद्भागवृत्तेश्च सह तद्भागवृत्तिना ॥ ६७ ॥
प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते ।
स हि शब्दार्थतत्त्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ॥ ६८ ॥
अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थितेः ।
उभयोक्तिवदत्रोक्तावुपालम्भो विरुद्ध्यते ॥ ६९ ॥

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थयोरपि ।
सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किन्न वर्तते ॥ ७० ॥
केवलं प्रतिपत्तारः स्याद्वादे जडवृत्तयः ।
जातितद्वदपोहादिवादं च न हि जानते ॥७१॥
सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थिताः ।
व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ॥७२॥
अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ।
संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ॥७३॥
साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ।
मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्तयेत् ॥७४॥

आप्तवादः स स एवायं यत्रार्थः समवायिनः ।
प्रमाणमविसंवादात् प्रणेता यदि शङ्क्यते ॥७५॥
आत्मा योऽस्य प्रवक्तायमपरालीढसत्पथः ।
नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्तते ॥७६॥
परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।
अदृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ॥७७॥

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां क्वचिद्वृत्तसमत्वतः ॥७८॥

तथा साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात् ।
सद्वृत्तकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ॥७९॥
ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
अप्राप्यकारिणः तस्मात् सर्वार्थानवलोकते ॥८०॥
शास्त्रे दुरवगाह्यार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ।
ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ॥८१॥
संघातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात् ।
एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणिकादयः ॥८२॥
शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात् ।
अपौरुषेयवृत्तान्तोऽप्यत एव विरुध्यते ॥८३॥
प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम् ।
प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति संग्रहः ॥८४॥
इदमेवमिति ज्ञानं गृहीतग्रहणेऽपि नः ।
प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ॥८५॥
अनुमानमतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः ।
उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् ॥८६॥
यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ।
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ॥८७॥
सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमानं तथागमः ।
सम्प्रदायाविघातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ॥८८॥
आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम् ।
केवलं लोकबुद्ध्यैव मतेर्लक्षणसंग्रहः ॥८९॥
स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिवत् ।
प्रमा प्रमितिहेतुत्वात्प्रामाण्यमुपगम्यते ॥९०॥
प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।
निःश्रेयसं परं प्रायः केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥९१॥
प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते ।
इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥९२॥
मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयं ,
प्रागल्भ्यं शाबराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।
पर्यासत्वं व्यपोहन्नुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गे ,
स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥९३॥
नैकान्तक्षायिकाणां अतिशयमवहन्नैव नानार्थसाध्यम् ,
नैष्किञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम् ,
योऽयं तस्मै नमामस्त्रिभुवनगुरवे सम्भवे शान्तये ते ॥९४॥
युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराराधिताम् ,
संसेव्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम् ।
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञागुणोद्भूतये ,
आभव्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम् ॥९५॥

शुद्धिपत्रम्

प्रस्तावना

[पृ० ५१ श्लो० २० इत्यादि पृ० ५७ श्लो० १४९½ इत्यन्त श्लोकानामङ्काः अर्धाङ्काधिका मुद्रिताः ते अर्धाङ्कन्यूनाः पठनीयाः]

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४	१६	-प्रतिबन्धो	-प्रतिषेधो
५५	३	-धर्मो	-धर्मो
५७	३५	निययेन	नियमेन
,,	३७	श्धूमयोः	धूमयोः
५८	४०	विरुद्ध्यते	विरुद्ध्यते
५९	२३	-श्रयाद	-श्रयाद्
,,	२६	सर्वार्थैः	सर्वार्थै·
,,	३७	॥१९८॥	॥१९७॥
,,	३९	॥१९९॥	॥१९८॥
,,	४०	॥२००॥	॥१९८½॥

[पृ० ६० श्लो० २०१ इत्यादि पृ० ६० श्लो० २१६ इत्यन्त एकार्धाधिकाः श्लोकाङ्काः मुद्रिताः ते एकार्धन्यूनाः पठनीयाः]

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६०	२	तत्साध्य	तत्साध्य
,,	१३	-णामनन्त्य	णामानन्त्य
,,	१९	पादी	वादी
,,	२९	-पेताख्य-	-पेताख्य-
,,	३०	॥२१५॥	॥२१३½॥
,,	३४	॥२१६॥	॥२१४½॥
,,	३८	॥२१७½॥	॥२१५½॥
,,	,,	-निचय-	-निचय-
६२	७	संसारिण	संसारिणः
,,	९	जीवः	जीवः
,,	,,	प्रामाण्य	प्रामाण्य
६३	२२	-शक्त्यः	-शक्यः
,,	२६	इति अत्रा-	इत्यत्रा-

[पृ० ६३ श्लो० ५२ इत्यादि पृ० ६५ श्लो० ९४ इत्यन्त श्लोकाङ्काः अर्धाङ्कन्यूना मुद्रितास्तेऽर्धाङ्काधिकाः पठनीयाः]

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६४	३३	यत्रार्थः	यत्रार्थाः
२५०	१६	भावानामेव	भावनामेव
२५८	१९	यथागतस्य	तथागतस्य
२६२	६	श्रुत्यादिदैवैरस्थितिरुच्यते (?)	श्रुत्वा देवैरस्थितिरुच्यते ।
३७२	१९	अयमेव	अयमेव
३७६	८	शब्दोय	शक्तोऽय
४३७		त्रिलोचन	२।२८०।२५

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितः

न्यायविनिश्चयः

स्याद्वादविद्यापतिश्रीमद्वादिराजसूरिरचित-

न्यायविनिश्चयविवरणसहितः

[द्वितीयोऽनुमानप्रस्तावः]

एतावदप्राकृतविप्रतिपत्तिकतया प्रत्यक्षं प्रभेदतो निरूपितम्, इदानीं परोक्षस्य तथा निरूपणमवसरप्राप्तमिति तत्प्रभेदमनुमानं निरूपयन्नाह-

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ।
विरोधात्क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥ १ ॥ इति ।

स्मरणादिरपि तत्प्रभेद एव तस्य कस्मादनिरूपणमिति चेत्? न, तस्यापि पश्चान्निरूपणात्। पूर्वमेव तस्य निरूपणमुपपन्नम्, स्मरणादिक्रमेण तत्प्रभेदस्य सूत्रे[1] निर्देशात्-"स्मृतिः सञ्ज्ञा चिन्ताभिनिबोधः" [त० सू० १।१३] इति, निर्देशानुरूपत्वाच्च निरूपणस्येति चेत्; सत्यमिदम्; तथापि प्राधान्यादनुमानस्य तदेवात्र प्रथमं निरूप्यते। कथं प्राधान्यमिति चेत्? उच्यते, शास्त्रमिदं प्रवचनप्रामाण्यनिरूपणपरम् 'बालानाम्' इत्यादिना शास्त्रारम्भे[2] तथैव प्रतिपादनात्। तत्प्रामाण्यञ्च[3] प्रत्यक्षानुमेयात्यन्तपरोक्षविषयम्। तत्र[4] प्रत्यक्षविषये तदविसंवादात् तत्प्रामाण्यनिवेदनार्थं प्रत्यक्षं निरूपितम्। तथा प्रवचनमत्यन्तपरोक्षे तत[5] एव तदर्थं निरूपयिष्यते। परिशिष्टमनुमेयं तत्र च प्रधानमनुमानमेव तदविसंवादादेव तत्र तत्प्रामाण्यनिर्णयात्, ततस्तदेवात्र प्रथमं निरूप्यते। तन्निर्णयानुपयोगिनः[6] स्मरणादेः पश्चादपि किमर्थं निरूपणमिति चेत्? अनुमान(नार्थ)मेवेति ब्रूमः। न ह्यनुमानं तन्निरपेक्षमुत्पत्तुमर्हति[7]। निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव। शास्त्रान्तरे तर्हि कथं स्मरणादेः पूर्वं निरूपणं कृतमिति चेत्? न; तत्रापरतद्भेदापेक्षस्य तत्प्राधान्यस्य विवक्षितत्वात्। तदपि तस्य तत्प्रामाण्यनिर्णयं प्रति न प्रत्यक्षादिवत् साक्षादुपयोगात् अपि तु पारम्पर्येण। अत एव कथञ्चित्तदुपयोगिन एव परोक्षभेदस्य शास्त्रे निरूपणं नापरस्य। न ह्यपरस्तद्भेदो नास्त्येव सम्भवैतिह्यप्रतिमादेरनेकप्रकारस्य तस्योपलम्भादित्यलं प्रसङ्गेन।

प्रकृतं व्याचक्ष्महे-**साधनं** साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं वक्ष्यमाणं लिङ्गम्, तस्मात्। **साध्यस्य** वक्ष्यमाणलक्षणस्यैव यद् **विज्ञानम्**। तद् अनु व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद्भावि मानम् **अनुमानम्**।

---

१ 'मति स्मृति सञ्ज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।" इति सूत्रे। २ श्लो० २। ३ प्रवचनप्रामाण्यञ्च। ४ तत्र-आ०, ब०, प०। ५ "प्रवचनाविसंवादात्। पूर्वापराविरोध एव प्रवचनस्य प्रवचनाविसंवादः। उक्तञ्चाचार्यैः-दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः। पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणतामिति।"-ता० टि०। ६ प्रवचनप्रामाण्यनिर्णयानुपयोगिनः। ७ स्मरणादिनिरपेक्षम्।

'साधनाद्विज्ञानम्' इत्येवास्तु न साध्यग्रहणम्, साध्यविज्ञानस्यैव साधनादुत्पत्तेः। न साधनत्वं[1] तस्य स्वरूपविषयं[2] सम्भवति साध्यविषयतयैव तस्य निर्णयात्। रूपान्तरप्रयुक्तन्तु[3] ततस्तद्विज्ञान रूपान्तराद्विज्ञानमेव न साधनाद्विज्ञानम्। तत्र साधनज्ञाननिवृत्त्यर्थं साध्यग्रहणम्। असाध्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमित्यपि न चतुरस्रम्; असाध्यापेक्षया कस्यचित् साधनत्वानुपपत्तेः।

अन्यथाऽनुपपत्त्या हि साधनं व्यवतिष्ठते।
अन्यथानुपपत्तिश्च साध्यापेक्षैव नान्यथा॥ १२१०॥
साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नमिति श्रुतेः।
शक्यत्वादिविशिष्टञ्च साध्यं प्रकृतमुच्यते॥ १२११॥
तदसाध्ये न विज्ञानं साधनादस्ति सम्भवि।
यद्व्यवच्छित्तये साध्यपदमत्रोपवर्ण्यते॥ १२१२॥

तत्र साध्यपदमर्थवत् विनाऽपि तेन तदर्थस्य प्रतिपत्तेः। साध्यविज्ञानमित्येवं[4] वाऽस्तु न साधनादिति, साधनादेव तद्विज्ञानस्य भावात्। प्रत्यक्षादपि भावः पर्वतादावनुमितस्य पावकादेः प्रत्यक्षादपि प्रतिपत्तेरिति चेत्; न; साध्यस्य शक्याभिप्रेतादिरूपत्वात्, तद्रूपतया च ततस्तस्याप्रतिपत्तेः।[5] अव्यतिरिक्तमेव पावकादेस्तद्रूपम्, द्रव्यनयार्पणादिति चेत्; सत्यम्; न तथाऽपि तस्य मुख्यं साध्यत्वम्, विशेषरूपस्यैव पर्यायनयार्पितस्य मुख्यतया तत्त्वेनं[6] लक्षणात्। तस्य च साधनादेव प्रतिपत्तिः, न प्रत्यक्षादिति विफलं साधनादिति पदमिति चेत्; इत्थमेतत् तान् प्रति येषामेवं परिज्ञानसामर्थ्यम्, ये तु बालाः शब्दताडित एवार्थे प्रतिपत्तिसौकर्यं मन्यन्ते न तान्प्रति। ततस्तेषां तत्सौकर्यावकल्पनाय पदद्वयोपादानम्। शास्त्रस्यापि मुख्यतस्तदुपकारपरतयैव प्रवृत्तत्वात्। अत एवोक्तम्—'**बालानां हितकामिनाम्**' इति।

विज्ञानग्रहणं तर्हि व्यर्थं प्रमाणत्वादेवानुमानस्य विज्ञानत्वप्रतिपत्तेः, विवेचितञ्च विज्ञानमेव प्रमाणमिति। यदि पुनर्विज्ञानं विज्ञेयमुच्यते कर्मणि कृद्विधानात्, तदयमत्र समासः—साध्यं विज्ञानं विज्ञेयं यस्य तत् साध्यविज्ञानमिति; तन्न; एवं सति साध्यविज्ञेयमिति स्पष्टस्यैवोपन्यासस्य प्रसङ्गात्। तन्न तद्ग्रहणमर्थवदिति चेत्; न; अनुमानस्य परिच्छित्तिरूपत्वप्रतिपादनार्थत्वात्। तस्य तद्रूपत्वमपि विज्ञानत्वादेव प्रतीयत इति चेत्; न; तथाऽपि बौद्धैस्तदनभ्युपगमात्। न चैतद्वाङ्मात्रम्; प्रमाणभावात्—विषयपरिच्छित्तिरूपमनुमानं प्रमाणत्वात् प्रत्यक्षवदिति। प्रत्यक्षमपि प्रतिबन्धादेव तद्विषये प्रमाणं न तत्परिच्छित्तिरूपत्वादिति चेत्; न; द्विचन्द्रादिज्ञानस्याप्येवं प्रामाण्यापत्तेः। एकचन्द्रादौ तस्यापि तद्भावभावित्वेन प्रतिबन्धात्। तथा च न तत्प्रत्यक्षम्, भ्रान्तत्वात्[7]। नानुमानम्; अलिङ्गजत्वादिति प्रमाणद्वित्वनियमव्याघातकमन्यदेव प्रमाणं भवेत्। अथ तल्लिङ्गमेव एकचन्द्रादौ न प्रमाणम्; तल्लिङ्गजस्यानुमानस्यैव तत्र प्रामाण्यात्।

१–त्व न तस्य आ०, ब०, प०। २ साधनस्वरूप। ३–कं तत–आ०, ब०, प०। ४–त्येवास्तु आ०, ब०, प०। ५ प्रत्यक्षतः। ६ साध्यत्वेन। ७ "प्रत्यक्ष ह्यभ्रान्त प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचनात्"–ता० टि०।

"प्रतिभासो य ईदृक्षो न संस्थानविवर्जितः।

एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इति

वचनादिति चेत्; तल्लिङ्गमेवेति कुतः ? प्रतिबन्धादिति चेत्; अनुमानमपि तदेव स्यात् तदविशेषात्। तत्राप्यन्यदेव तदुद्भवमनुमानं प्रमाणमिति चेत्; न; तत्रापि पूर्ववल्लिङ्गत्वोपनिपातात् पुनरनुमानान्तरपरिकल्पनायामव्यवस्थापत्तेः। न चैवं प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यम्, प्रतिबन्धबलेन तत्रापि लिङ्गत्वस्यैवोपपत्तेः; सत्यम्; वस्तुतः तत्प्रतिभासस्यापि लिङ्गत्वम्। अनभ्यासे तत एव प्राप्यस्यानुमानात्। अभ्यासे तु लिङ्गमपि प्रत्यक्षमेव, तस्यैव प्राप्यप्रतिभासित्वेन व्यवहारिभिरभ्यनुज्ञानात्। तदनुरोधादेव च तत्प्रामाण्यस्य बौद्धैः परिचिन्तनादिति चेत्; सिद्धमिदानीं तद्वदेवानुमानस्यापि तद्विषये तत्प्रतिभासित्वादेव प्रामाण्यं व्यवहर्तृभिस्तथैवाभ्युपगमात्, तत्प्रामाण्यस्यापि तदनुरोधादेव तैः परिचिन्तनात्। कः पुनस्तस्य विषय इति चेत् ? प्रत्यक्षस्य कः ? स्वलक्षणमेव परमाणुलक्षणमिति चेत्; न; तस्य कदाचिदप्यप्रतिवेदनात्। स्थूलपावकादिरिति चेत्; अनुमानस्यापि स एवास्तु तस्यैव तत्रापि प्रतिभासनात्। अर्थ एव तत्प्रतिभासो न भवति अस्पष्टत्वात्, न ह्यस्पष्टोऽर्थः प्रत्यक्षेण पुनरन्यथैवोपलम्भात्। न हि तस्यैव पुनरन्यथोपलम्भो विरोधात्। अस्ति च ततो नार्थ एवायम्। अत एवोक्तम्–

"न च स एव प्रतिभासोऽर्थो युक्तस्तस्य पुनः प्रत्यक्षेणान्यथा दर्शनात्" [ ]

इति। इति चेत्; किम्पुनरिदं तस्यानर्थत्वम् ? बोधरूपत्वमेव, स्वतस्तथैव प्रतिपत्तेरिति चेत्; न तर्हि तत्रार्थविभ्रमः, अनर्थत्वप्रतिपत्त्या तस्य विरोधात्। अथ स एवानुमानविकल्पः तद्विभ्रमो न भवति, विकल्पान्तरस्यैव तज्जन्मनस्तत्त्वादिति चेत्; कथं तर्हि तस्यैव विभ्रमत्वमुक्तम्–"तदेतदतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः" [ ] इति ? विभ्रमविकल्पजननादिति चेत्; न; तेनापि व्यतिरिक्तस्याप्रतिवेदनात्। अव्यतिरिक्तस्य च बोधरूपतयैव प्रतिपत्तेः कथं सोऽप्यर्थविभ्रमः ? मा भूत्तज्जन्मनो विकल्पस्यैव तत्त्वादिति चेत्; न; तेनापीत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च। तन्नेदमनर्थत्वम्। अवस्तुरूपत्वमिति चेत्; तद्रूपस्य कथमनुमानेऽपि प्रतिभासनम् ? तत्कारणत्वादिति चेत्; न; तत्र तदसम्भवात्। तदव्यतिरेकादिति चेत्; वस्तुरूपत्वमेव स्यात् अनुमानस्य तत्त्वात्। तस्याप्यवस्तुरूपत्वमिति चेत्; सुस्थितमनुमानत्वम् बोधस्यैव तत्त्वोपगमात् अवस्तुरूपस्य च बोधत्वासम्भवात्। अवस्तु-वस्तुरूपमेवानुमानम्, तद्ग्राह्याकारस्यैवावस्तुरूपत्वात्, तदतद्रूपतया द्विरूपस्यानुमानस्य प्रतीतिबलेनाभ्युपगमादिति चेत्; अभिमतमापतितम्, अर्थस्यापि स्पष्टेतररूपतया द्विरूपस्यैवापत्तेः। द्विरूपतयैव प्रत्यक्षेऽन्यत्र च किन्न तस्य प्रतिभासनमिति चेत् ? न; प्रमाणस्य समानाकारगोचरत्वाभावात्। अन्यथाऽनुमाने ग्राह्याकारस्यावस्तुरूपत्वमपि प्रतिभासत इति कथं तत्रार्थभ्रान्तिः ? अनिश्चयादिति चेत्; तदव्यतिरिक्ते भासुरादिरूपेऽपि कथं निश्चयो यतः पावकादौ तदर्थिनः प्रवर्तेरन् ? निश्चये वा खण्डशो ग्रहणमप्यर्थस्य तथैव स्यात् प्रत्यक्षेण स्पष्टतया अन्यथा चानुमानेन। तन्न प्रतिभासभेदादर्थभेदप्रकल्पनं तयोरूपपन्नमिति न

---

१ नः स–आ०, ब०, प०। २–त्व–आ०, ब०, प०। ३–दविशे–आ०, ब०, प०। ४–मनव–आ०, ब०, प०। ५ व्यवहार्यनुरोधादेव। ६–नादिति चे–आ०, ब०, प०। ७ सोन्यर्थ–आ०, ब०, प०। ८–यादवस्तुरूप–आ०, ब०, प०। ९ न सम्भावित–आ०, ब०, प०।

सुभाषितमेतत्—

"प्रामाण्यं वस्तुविषयस्तयोरर्थमिदां जगौ ।
प्रतिभासस्य भिन्नत्वादेकस्मिंस्तदयोगतः ॥" [ ] इति ।

मा भूदनुमानमपि द्विरूपमिति चेत्; किमिदानीं तदेव नो[1]स्ति, सदेकरूपं वेति ? न तावदेकरूपम्; ग्राह्याकारमात्रेणावस्तुत्वात्, स्वालक्षण्यमात्रेण प्रत्यक्षत्वात् । तदेव नास्तीति चेत्; किमिदानीं तत्प्रमाणम् यतः किमपि स्वाभिमतं सिध्येत् ? प्रत्यक्षमेव, तत एवाभिमतस्याद्वैतात्मनः स्वरूपस्य सिद्धेरिति चेत्; कुतस्तस्य वस्तुसत्त्वम् ? प्रतिभासादिति चेत्; न; तस्य बहिर्भावसन्तानभेदादाववस्तुसत्यपि भावात् । विचारसहात् प्रतिभासादिति चेत्; यदि नामायं तथाऽपि तस्मात् कुतो वस्तुसत्त्वस्यावगतिः ? अविनाभावादिति चेत्; आगतमनुमानम्—अविनाभाविनो धर्मात् धर्मान्तरावगमस्यैवानुमानत्वेन तद्वादिनामिष्टत्वात् । वस्तुसतोऽपि ततः कस्मात् स्वरूपस्यैवाद्वैतात्मनः परिज्ञानं न पुनर्बहिर्भावादेः भेदस्यापि ? तस्य तत्रानुपलम्भादिति चेत्; अस्तु नामानुपलम्भः तथापि कस्मादसौ तत्परिज्ञाननिषेधमवबोधयति ? अविनाभावादिति चेत्; उक्तमुत्तरम्—'आगतम्' इत्यादि । तन्नानुमानमन्तरेण क्वचित्कस्यचिद्विधानं प्रतिषेधो वा सम्भवति, तत एवाह—**तदत्यये** । तस्यानुमानस्य अत्यये अभावे **क्वचित्** प्रत्यक्षे **एकस्य** वस्तुसत्त्वस्य **यद्विधानं** यश्च **प्रतिषेधो** बहिर्भावादिपरिज्ञानस्य तयोः **विरोधात्** अनुपपत्तेः । साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति सम्बन्धः । तन्न तदेव नास्ति । सतोऽपि नैकरूपत्वम्; द्वैरूप्येऽपि न प्रत्यक्षाद्भिन्नविषयत्वमित्युपपन्नमेतत् विषयपरिच्छेदरूपमनुमान प्रमाणत्वादिति ।

बार्हस्पत्यास्तु प्राहुः—सतोऽप्यनुमानस्य कथं प्रामाण्यम् ? अव्यभिचारिलिङ्गप्रभवत्वादिति चेत्; तदेव कुतः ? प्रामाण्यादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्—तत्प्रभवत्वात्प्रामाण्यं ततश्च तत्प्रभवत्वमिति । अन्यत एव तस्य तत्प्रभवत्वमवगम्यते ततश्च प्रामाण्यमिति चेत्; अन्यस्य प्रत्यक्षत्वे व्यर्थं तत्प्रामाण्यपरिकल्पनम्, तत एव साध्यस्यापि परिज्ञानात् अन्यथा तदव्यभिचारिलिङ्गप्रभवत्वस्य ततोऽनवगमात् । अनुमानत्वे तु कथं तस्यापि प्रामाण्यम् ? अव्यभिचारिलिङ्गप्रभवत्वादिति चेत्; न; तत्रापि 'तदेव कुतः' इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थानदौस्थ्योपनिपातात् । [2]क चेदमव्यभिचारित्व लिङ्गस्य प्रतिपत्तव्यम् ? दृष्टान्त इति चेत्; न; तत्र तद्गतस्यैव त[3]स्य प्रतिपत्तेर्नान्यस्य । तस्य तत्प्रतिपत्तिरेवान्यस्यापि तत्प्रतिपत्तिः समानत्वादिति चेत्; तर्हि धूमादे[4]रिव तत्पुत्रत्वादेरपि तथा त[5]त्प्रतिपत्ते श्यामत्वादौ सोऽपि गमक एव भवेत् । भवत्येव यस्तत्समानः तस्याव्यभिचारात्, यस्तु [6]गौरत्वादावपि दृश्यते स विलक्षण एवेति चेत्; न कश्चिदिदानीं व्यभिचारी हेतुः सर्वस्यैव गमकत्वात् । सत्यमिदम्, तदपेक्षया यस्य वैलक्षण्यपरिज्ञानं तद्विकलप्रतिपत्रपेक्षयैव व्यभिचारस्य परिकल्पनादिति चेत्; नेदानीमेकान्ततः कश्चिद्व्यभिचार इति कथं तेन परस्यैकान्तिकः पराजयः स्यात । तन्न दृष्टान्ते तत्प्रतिपत्तिः । नापि सर्वत्र; तद्वतः सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्[7] । न पक्षेऽपि; तत्र साध्यस्य प्रतिपत्तौ तत्प्रतिपत्तिवैफल्यात्, तस्यास्तदर्थत्वात् । अप्रतिपत्तौ तदव्यभि-

१ नास्ति तदे–आ०, ब०, प० । २ क्वचिदव्य–आ०, ब०, प० । ३ अव्यभिचारित्वस्य । ४–देरिति त–आ०, ब०, प० । ५ अव्यभिचारित्वप्रतिपत्तेः । ६ गोचरत्वादावपि आ०, ब०, प० । ७–तत् सर्वज्ञत्वेऽपि तत्र–आ०, ब०, प० ।

चारस्य दुरवबोधत्वात् । तन्नाव्यभिचारि किञ्चिल्लिङ्गमिति कथं तत्प्रभवत्वेन प्रामाण्यमनुमानस्येति ?

तेषामपि तदप्रामाण्ये कुतश्चैतन्यमूतोपादानत्वपरलोकनिषेधादेः प्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिति चेत्; किमर्थमिदानीं शास्त्रम् ? विप्रतिपत्तौ तन्निवर्तनार्थमिति चेत्; न; प्रत्यक्षविषये तस्या एवाभावात् पृथिव्यादिवत् । भावेऽपि न तत् स्वत एव तस्या निवर्तकम् अप्रमाणकत्वात् । निवर्तकस्य प्रमाणस्योपदर्शनादिति चेत्, न; प्रत्यक्षस्यातन्निवर्तकत्वात् । अनुमानस्येति चेत्; किं तदनुमानम् ? भूतोपादानं चैतन्यं तद्विकारे विकारित्वात्, यत् यद्विकारे विकारि तत्तदुपादानं दृष्टम् यथा मृद्विकारविकारिशिवकादि मृदुपादानम्, भूतविकारविकारि च चैतन्यम्, तस्मात्तदुपादानमिति । तथा, न तत् परलोकि भूतोपादानत्वात् शरीरवदिति । इति चेत्; कथं पुनः सामान्येनानुमानस्य निषेधे तद्विशेषयोरनयोरपि सम्भवो विशेषस्य सामान्याभावेन विरुद्धत्वात् । एतदेवाह–**तदत्यये । क्वचित्** चैतन्ये । यत् **एकस्य** भूतोपादानत्वस्य **विधानम्** तत्परमनुमानं यश्चैकस्य परलोकित्वस्य **प्रतिषेधः** तत्परमनुमानं तयोर्**विरोधादिति** । अथेष्यत एव हीदृशमनुमानं परलोकाद्यनुमानस्यैव परपरिकल्पितस्य निषेधादिति चेत्, कुतस्तस्यैव निषेधः ? तत्साधनस्यैवाव्यभिचारनिर्णयाभावेनाभावादिति चेत्; न, तदभावस्यान्यत्राप्यविशेषात् । नचाविशेषे कस्यचिदिच्छया विधानं प्रतिषेधश्च परस्योपपन्नः । तदाह–**तदत्यये** । तस्य साधनस्यात्यये **क्वचित्** । इष्टसाध्ये यत् **एकस्य** अनुमानस्य **विधानम्** इच्छया यश्चापरस्य **प्रतिषेधः** तयोः **विरोधात्** । भवतु तर्हि परप्रसिद्धादेवानुमानादभिमतसिद्धिरिति चेत्; कः पुन परो नाम ? काय एव देवदत्तादेरिति चेत्; न; तस्याचेतनत्वेनानुमानस्य तत्प्रसिद्धत्वायोगात् । तद्गतो बुद्धिविवर्त इति चेत्; तस्यापि न प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तिः, संशयाभावप्रसङ्गात् । न हि तत्प्रतिपन्ने संशयो रूपादिवत् । अस्ति च 'साधुरयं धूर्तो वा, पण्डितोऽयं मूर्खो वा' इति । नापि व्यापारादिलिङ्गजादनुमानात्, तस्यापि स्वयमसिद्धेः । ततोऽपि परप्रसिद्धादेव तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्; कः पुनरत्र परो यस्यातः प्रतिपत्तिः ? स एवेति चेत्; न; तस्याप्रतिपत्तावस्यैवाभावात् । प्रतिपत्तौ भावश्चेत्; न; परस्पराश्रयात्–भावात्प्रतिपत्तिः, ततश्च भाव इति । तदन्य एव परः, तत्प्रसिद्धादनुमानात् प्रकृतस्य प्रतिपत्तिरिति चेत्, तस्यापि न प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तिरुक्तदोषात् । नापि व्यापारादिलिङ्गजादनुमानात्; तस्यापि स्वयमप्रसिद्धेः । परप्रसिद्धादेव ततोऽपि तस्य प्रतिपत्तिरिति चेत्; न; अत्रापि 'कः पुनः' इत्यादेः प्रसङ्गादव्यवस्थैवैधुर्याच्च । तन्न परप्रसिद्धादपि ततः परेषामभिमतनिष्पत्तिः । कथञ्चैवं प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यम् ? विषयपरिच्छेदादिति चेत्; न, तस्याऽसत्यपि विषये भावात् । अव्यभिचारादिति चेत्; स एव तत्र कुत. ? प्रामाण्यात् । तदपि ? अव्यभिचारादिति चेत्; न; परस्पराश्रयस्य स्पष्टत्वात् । अन्यतस्तस्याव्यभिचार. प्रतीयते ततश्च प्रामाण्यमिति चेत्, किं तदन्यत् ? प्रत्यक्षमिति चेत्; न, तदव्यभिचारस्यापि तदन्यत· प्रतिपत्तावव्यवस्थापत्ते. । अर्थक्रियाज्ञानमिति चेत्, न; अविशेषात् ।

१ अनुमानाप्रामाण्ये । २ शास्त्रम् । ३ 'चार्वाकमतापेक्षया"–ता०टि० । ४ चैतन्यम् । ५–श्चदिति चेत् आ०, ब०, प० । ६ तद्विषययोः आ०, ब०, प० । ७ "रूपादौ संशयो नास्ति यथा, सुप इवेति सूत्रेण ससम्यन्तात् वत्प्रत्ययः ।"–ता० टि० । ८ "स्वस्य चार्वाकस्य"–ता० टि० । ९–वस्थातैमर्थ्याच्च आ०, ब०, प० ।

स्वत एव तत्राव्यभिचारप्रतिपत्तौ प्रथमज्ञानेऽपि स्यात् । तस्य कचिद्व्यभिचारोऽपि दृश्यत इति चेत्; न; अर्थक्रियाज्ञानस्यापि स्वप्ने तद्दर्शनात् । स्वप्नतज्ज्ञानविलक्षणमेव जाग्रत्तज्ज्ञानमिति चेत्; प्रथमज्ञानमपि व्यभिचारिज्ञानविलक्षणमेव किन्न स्यात् ? लोकस्य तथा विवेकाभावादिति चेत्; न; इतरत्रापि तुल्यत्वात् ।

अपि च, तत एवानुमानस्यापि किन्न प्रामाण्यम् ? सर्वत्र तद्विषये तदभावादिति चेत्; प्रत्यक्षस्यापि न स्यात्, तद्विषयेऽपि सर्वत्र तदभावात् । विद्यमानतज्ज्ञानप्रत्यक्षसाधर्म्यादितरतत्प्रामाण्यपरिकल्पनम् अनुमानप्रामाण्यमपि परिपुष्णाति विशेषाभावात् । अथ प्रत्यक्षमविचारितप्रामाण्यमेव परिगृह्यते, अन्यथा व्यवहारविलोपात्; किमिदानीमनुमानेन भवतोऽपराद्धम् यतस्तदपि तथाविधमेव न परिगृह्येत ? किं तेन परिगृहीतेनापि परमार्थपरिज्ञानस्य तादृशादनुपपत्तेरिति चेत्; प्रत्यक्षेणापि किं ततोऽपि तदनुपपत्तेरविशेषात् ? तस्मादनुपपन्नमेव प्रत्यक्षस्य विधानं प्रतिषेधश्चानुमानस्य । तदाह–**तदत्यये** तनोति विस्तारयति प्रामाण्यमिति **तत्** प्रामाण्यहेतुर्विशेषः तस्य **अत्ययः** तस्मिन् **क्वचित्** पृथिव्यादौ यत् **एकस्य** प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य **विधानम्** यच्च **क्वचित्** परलोकादावेकस्यानुमानप्रामाण्यस्य **प्रतिषेधः** तयोः **विरोधात्** इति ।[1]

मा भूत्प्रत्यक्षमपि प्रमाणम्, उपप्लवस्यैव सर्वत्रोपगमादिति चेत्[2]; न; तद्वादस्य प्रतिक्षिप्तत्वात् । ततः प्रत्यक्षं प्रमाणयता प्रमाणयितव्यमनुमानमपि, तदव्यभिचारिलिङ्गप्रभवत्वस्योत्तरत्र समर्थनादित्युपपन्नमिदम्–स्वार्थपरिच्छेदरूपमनुमानम् प्रमाणत्वात् प्रत्यक्षवदिति ।

प्रत्यक्षस्यापि न वस्तुतः स्वार्थपरिच्छेदः तत्काले तदर्थस्य कारणत्वेन व्यतिक्रमात्, अपि तु तदाकारस्वरूपपरिच्छेदस्य तत्रारोपादौपचारिक एव, तथानुमानस्यापि तत्परिच्छेदसाधने सिद्धसाधनमिति चेत्; अत्राह–

प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।
सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ॥ २ ॥ इति ।

तात्पर्यमत्र कीदृशं तत्प्रत्यक्षं यदाकारपरिच्छेदस्तद्विषये समारोप्येत[3] ? निर्विकल्पं निरंशपरमाणुविषयमिति चेत्; न; तस्य क्वचिदप्यपरिज्ञानात्, [4]संहृतविकल्पकालेऽपि नानाभागसाधारणस्य नीलादिवेदनस्यैवानुभवात्, अन्यथा तत्कल्पनायां न क्वचिद्वस्तुनि व्यवस्था स्यात् । परिज्ञानेऽपि तस्य[5] यदि विषयादुत्पत्तेः प्रामाण्यं चक्षुरादावपि स्यात् । उत्पत्तिविशेषात् सारूप्यलक्षणादिति चेत्; न; तथाऽप्यकिञ्चित्करादौ प्रसङ्गात् । अकिञ्चित्करं हि विषदर्शनमज्ञस्य संशयादीनामन्यतमस्यापि तेनाकरणात्, तस्यापि विषयसारूप्यात् प्रामाण्ये ततोऽपि नः प्रवृत्तिः स्यात् । तथा च–

वस्तुशक्त्यवबोधस्य दर्शनादेव सम्भवात् ।
मैत्र्यकाद्युपदेशोऽयं तदर्थो व्यर्थतां व्रजेत् ॥ १२१३ ॥

१–तत्त्वज्ञानाद्य–आ०, ब०, प० । २ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ३–त तमि–आ०, ब०, प० । ४ संभृतवि–आ०, ब०, प० । ५ निर्विकल्पस्य ।

क्षणक्षयादावध्यक्षं विपर्यासादिकार्यवत् ।
तस्याप्येवं प्रमाणत्वं तत्प्रवृत्तिक्षमं भवेत् ॥ १२१४ ॥
[1]आरोपेण सताऽप्येवं तत्प्रामाण्यानुपद्रवात् ।
तद्व्यवच्छेदयंस्तत्ते[2] प्रयासायैव केवलम् ॥ १२१५ ॥
अनुमानं प्रमाणत्वं तद्व्यवच्छेदिनोऽपि तत् ।
कथं नामावतिष्ठेत यत्प्रमाणद्वयं भवेत् ॥ १२१६ ॥
नीलादावेव तन्मान यदि तत्रैव निर्णयात् ।
प्रागेवाधिगमे तस्मान्निर्णयः किमपेक्ष्यते ॥ १२१७ ॥
फलं तदेव तस्यापि निष्पन्न तच्च दर्शनात् ।
निष्पन्नेऽपि व्यपेक्षायां व्यपेक्षा नावतिष्ठते ॥ १२१८ ॥
परतोऽधिगमे तस्मात् दर्शनात्स पृथग् भवेत् ।
ततश्चेदं विरुध्येत तेनानर्थान्तरं फलम् ॥ १२१९ ॥ इति ।
तत्साधकतमत्वञ्च निर्णयस्यैव युज्यते ।
सत्येव तस्मिंस्तद्भावान्न सारूप्याद्विपादिवत् ॥ १२२० ॥
"तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।"[3]
विदुषा न तु वक्तव्या वक्तव्या निर्णयात्मता ॥ १२२१ ॥
निर्णयात्मनि चाध्यक्षे प्रागेवार्थभासनात् ।
उपचारात् परिच्छित्तिः कथं तत्रोपकल्प्यताम् ॥ १२२२ ॥ इति ।

शब्दार्थः कथ्यते–**परम्** इत्यस्यानन्तरम् '**अपि च**' इत्येतद् द्रष्टव्यम् । तदयमर्थः– **प्रत्यक्षम्** उक्तरीत्या निर्णयरूपं स्पष्टं ज्ञानम्, तत् **आत्मानं** स्वरूपं **प्रतिभासयेत्** प्रतिभासमानं कुर्वीत । न केवलं तमेवापि तु **परमपि च** बहिरर्थमपि च **प्रतिभासयेत्** । कथम् ? **सत्यम्** अवितथम्, तत्त्वञ्च[4] मुख्यतयैव तत्र तत्करणात्[5] । उपचारेण तत्करणे हि वितथमेव तद् भवेत् । एवमपि सत्यं तत्करणं परस्मिन्नेव वक्तव्यम् नात्मनि विवादाभावादिति चेत्; न; दृष्टान्तार्थत्वात् तद्वचनस्य । यथा आत्मनि तत्करणं सत्यमेवं परस्मिन्नपीति । [6]केनैवम् ? इत्याह–**परिस्फुटम्** अनुभवारूढं येन ।

प्रसिद्धानुभवं हीदं यन्नीलादि बहिर्गतम् ।
प्रत्यक्षे प्रतिभातीति सर्वप्राणभृतामपि ॥ १२२३ ॥
अर्थसारूप्यवादोऽयं यदि तत्रोपकल्प्यते ।
प्रत्यक्षेण स बाध्येत पावकानुष्णवादवत् ॥ १२२४ ॥

---

१ आरोप्येण आ०, ब०, प० । २–यत्कस्ते आ०, ब०, प० । ३ प्र० वा० २।३०६ । ४–तत्त्वञ्च मु– आ०, ब०, प० । ५ "प्रतिभाससमानत्वकरणात्"–ता० टि० । ६ केन्नैवमि–आ०, ब०, प० ।

तत्रानाकार एवेयं प्रतिकर्मस्थितिर्यथा ।
अंकाशनियमो हेतोरित्यत्रैव निरूपितम् ॥ १२२५ ॥
तत्र सारूप्यतो मानं प्रत्यक्षमिति युक्तिमत् ।
निर्णयात्मतयैवास्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः ॥ १२२६ ॥

तदाह–**तथा** तेन परिस्फुटेन निर्णयप्रकारेण **प्रामाण्यमश्नुते** व्याप्नोति प्रत्यक्षमिति ततो युक्तं प्रत्यक्षवत् स्वविषयनिर्णयरूपमनुमानं प्रमाणत्वादिति साधनात् साध्यविज्ञानमित्युक्तम् ।

तत्र साधनं बहुवक्तव्यतया पश्चान्निरूपयिष्यन्निदानीं साध्यं निरूपयन्नाह–

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं [ततोऽपरम्] । इति ।

ननु साधनार्हं साध्यं तच्च शक्यादिरूपमेव । न ह्यशक्यस्य तदर्हत्वम् अशक्यत्वविरोधात् । नाप्यनभिप्रेतस्य प्रसिद्धस्य वा, अतिप्रसङ्गात् । ततः साध्यलक्षणस्य व्युत्पत्तिवशादेव प्रतिपत्तेः किं तत्प्रणयनेनेति चेत् ? न ; तथा तत्प्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वात्, व्युत्पत्तेर्बहुधाभावेन सम्मोहसम्भवाच्च । प्रसिद्धादन्यद् **अप्रसिद्धम्** तदेव साध्यम्, न प्रसिद्धम् तत्र साधनवैफल्यात्, प्रसिद्धिरेव हि फलं साधनस्य सा च प्रागेव सिद्धेति । का पुनरियं प्रसिद्धिः ? निश्चयशून्यमधिगतिमात्रमिति चेत्; न ; क्षणिकत्वादेरसाध्यत्वप्रसङ्गात् । अधिगतत्वेन प्रसिद्धित्वादिष्टिरेवेयमिति चेत्, किमिदानीं साध्यम् ? न यत्राधिगतिरिति चेत्; न ; स्वभावलिङ्गविषये सर्वत्र तद्भावात् । कार्यलिङ्गविषये नेति चेत्; न ; तत्रापि व्याप्तिज्ञानेन तद्भावात्, अन्यथा अनुमानस्यैवानुत्पत्तेः । ततो न किञ्चिदनधिगतमस्ति यत्साध्यं सम्भवेदिति तल्लक्षणवर्णनं सौगतस्य प्रयासमात्रमाकाशचर्वणवत् । यदि चाधिगतमसाध्यम्, किमिदानीं तत्रानुमानेन ? समारोपव्यवच्छेद इति चेत्; सोऽपि प्रध्वंसनम्, [3]मिथ्यात्वज्ञापनं वा भवेत् ? न ताव-त्प्रध्वंसनम्; तस्य स्वरसभावित्वेनानुमानकार्यत्वानुपपत्तेः । अथ न साक्षात्तस्य तत्कार्यत्वम्, अपि त्वनु-मानसहितात् समारोपादुत्तरस्य तस्यासमर्थस्य ततोऽप्यसमर्थतरस्य तस्मादप्यत्यन्तासमर्थस्योत्पत्तौ ततः परस्यानुत्पत्तेः, तस्य च स्वरसभङ्गुरत्वेन विनाशात् पारम्पर्येणैवेति ; तन्न ; यस्मात्–

समर्थकरणे शक्तिः समारोपस्य चेत्ततः ।
उत्तरोऽपि समारोपः समर्थः किन्न जायते ? ॥ १२२७ ॥
अनुमानेन तच्छक्तेर्विनाशादिति चेदसत् ।
निर्हेतुकत्वात्तस्यापि[4] तत्कार्यत्वाव्यवस्थितेः ॥ १२२८ ॥
स्वभावस्तादृशस्तस्य सानुमानात्ततो यतः ।
असमर्थादिरूपः स्यादारोप इति चेदयम् ॥ १२२९ ॥
स्वहेतोस्तस्य चेद् व्यर्थमनुमानं प्रसज्यते ।
अनुमानाच्च नेवासौ समकालतया स्थितेः ॥ १२३० ॥

---

१ न्यायवि० श्लो० ३३ । २ 'अल्पवक्तव्यमादौ वक्तव्यमिति न्यायात् ।''–ता० टि० ।
३ मिथ्याज्ञान आ०, ब०, प० । ४ शक्तिविनाशस्यापि । -प्र० वा० ३।२७९ ।

किञ्च,   सानुमानात् समारोपादशङ्कादिसमुद्भवे ।
सहकारिसहायात्कि नित्यात्कार्यभिदा न यत् ॥ १२३१ ॥
"अपेक्ष्येत परः कार्यम्" इत्यादि वदता त्वया ।
सहकारिप्रतीक्षत्वं नित्यस्य प्रतिषिध्यते ॥ १२३२ ॥
तस्मान्नास्ति समारोपप्रध्वंसस्तद्व्यवच्छिदिः ।
मिथ्यात्वज्ञापनं सा चेन्नातत्त्वज्ञे तदत्ययात् ॥ १२३३ ॥

न हि तत्त्वज्ञापनमतत्त्वज्ञानात्सम्भवति, तत्त्वज्ञानादेव मरीचिकाविषयाज्जलारोपे तज्ज्ञापनस्योपलम्भात्, तद्वदनुमानादपि तत्त्वज्ञानादेव तज्ज्ञापनमिति साध्यमेव क्षणक्षयादिकम् । न चेदमधिगतिमात्रेण प्रसिद्धौ उपपन्नम्; क्षणभङ्गादेरपि प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । प्रसिद्धस्य च "स्वरूपेणैव निर्देश्यः" [प्र० वा० ४।७८] इत्यत्र स्वरूपग्रहणेन साध्यत्वप्रत्याख्यानात् । तस्मान्निर्णीतिरेव प्रसिद्धिः । तदभावेऽधिगतमात्रस्यापि साध्यत्वोपपत्तेः । कथमेवमनेकान्तस्य साध्यत्वं वहिरन्तश्च प्रत्यक्षतः प्रसिद्धत्वादिति चेत् ? सत्यमिदं यदि तत्र विपरीतारोपेणानुपहतिः । निर्णयात्मनि प्रत्यक्षे स एव कथं तस्य तद्विरोधित्वादिति चेत् ? न; दृष्टत्वात् । दृश्यते हि दुरागमाभ्यासविपर्यासितचेतसां तद्विषयेऽपि वहिर्भावादौ तदारोपः—कस्यचिदसन्निति अन्यस्य बोध इति अपरस्योपप्लव इति । न च दृष्टस्यापह्नवो दर्शनादेव तत्प्रतिषेधात् । ततस्तदारोपविकला निर्णीतिरेव प्रसिद्धिः । अत एव प्रशब्दोपादानम्, प्रकर्षेण तद्वैकल्यलक्षणेन सिद्धं निश्चितं प्रसिद्धमिति, प्रसिद्ध्यतिशयप्रतिपत्त्यर्थम् । यद्येवं प्रत्यक्षमपि कथमनेकान्तप्रतिपत्तये परं प्रत्युपदर्श्यते—

"जात्यन्तरं तु पश्यामस्ततोऽनेकान्तसाधनम्" [सिद्धिवि० परि० २] इति ।

न हि तस्मादारोपवतः तत्प्रतिपत्तिः, आरोपस्य तेन तदविरोधित्वेनानिवर्तनात्, तन्निवर्तनरूपत्वाच्च तत्प्रतिपत्तेः । अनारोपवतस्तु तदुपदर्शनमकिञ्चित्करमविवादादिति चेत्; नायं नियमोऽपरस्तत्त्वमवबोधयितव्य इति । अयन्तु नियमः—प्राश्निकाः प्रतिपादयितव्या इति । ते च वादिवचनात् प्रत्यक्षव्यापारं परामृशन्तोऽनेकान्तविषयमेव प्रतियन्ति, प्रतिपुरुषमेव तद्व्यापारस्यानुभवोपारूढत्वात् । न हि तेषां विपरीताभिनिवेशो यतः प्रसिद्धमप्यनुभवमपलपेयुः तत्कारणाभावात् । तदागमाभ्यास एव तेषामपि तत्कारणमिति चेत्; न; तस्यापि मन्दप्रज्ञ एव तत्त्वान्न महाप्राज्ञे । न ह्यपथ्याहार इत्येव दुर्बलवद् बलवतोऽपि ततः प्रत्यवायः । प्रज्ञातिशयवन्तश्च प्राश्निकास्ततो न तेषामनुभवव्यापारपरिपन्थी कुतश्चिदप्यभिनिवेश इति यथानुभवमेव तत्त्वमवबुद्ध्यन्ते । तदनुमत्या प्रतिवाद्यपि यदि तथैवावबुद्ध्येत सुतरां फलवत् तदुपदर्शनम् । यदि नावबुद्ध्येत तथाऽपि न दोषः; प्राश्निकप्रत्यायनमात्रेणैव वादिपक्षव्यवस्थितेः । अप्रसिद्धस्य साध्यत्वे तादृशस्य साधनस्यापि तत्प्रसङ्ग इति चेत्; किमेवं सति विहन्येत ? साधनत्वमेव, साध्यस्य सतस्तत्त्वानुपपत्तेरिति चेत्; न; साध्यान्तरापेक्षया तस्याप्यव्याघातात् । कथमेकस्य रूपद्वयमिति चेत् ? कथं रूपत्रयम् ? तदपि नेति चेत्; नेदानीं साध्यं

१–मतत्त्वज्ञापना–आ०, ब०, प० । २ विपरीतारोपः । ३ शून्यवादिनः । ४ विज्ञानवादिन । ५ तत्त्वोपप्लववादिनः । ६–रोपतस्त–आ०, ब०, प० । ७ प्रत्यपाय आ०, ब०, प० ।

नाम किमपि तस्य साधनापेक्षत्वात् , साधनस्य च त्रैरूप्याभावेऽनुपपत्तेः । कल्पितं त्रैरूप्यमिति चेत्; द्वैरूप्यमपि तादृशं किन्न स्यात् ? यतः साधनस्यापि साध्यत्वन्न भवेत् । तन्न तद्व्यवच्छेदाय रूपेणैवेत्यवधारणमुपपन्नम् ।

अप्रसिद्धमप्युक्तमेव साध्यम् , नार्थावगतमिति कश्चित् ; तन्न; अभीष्टस्य साध्यत्वात् , उक्तमेव यदभीष्टं तदेव साध्यम् । अथार्थावगतम्[1] तदेव नापरम् । तदाह–अभिप्रेतम् इति ।

सत्यमिदम् , मयाऽप्यभीष्टस्यैव साध्यत्वोपगमादिति सौगतः ; तन्न; क्षणिकत्वस्येष्टस्यापि तेनासाधनात् । तदेव[2] शब्दादौ कृतकत्वादिना साध्यमनित्यशब्देनापि तस्यैवाभिधानादिति चेत् ; चक्षुरादावात्मार्थत्वमेवं[3] संहतत्वादिना किमेवं न साध्यम् पारार्थ्यशब्देनापि तस्यैवाभिधानात् । दृष्टान्ते[4] तस्याभावेन हेतोस्तदन्वयस्याग्रहणादिति चेत् ; क्व पुनः क्षणिकत्वेनापि तस्य[5] तद्ग्रहणम् ? प्रदीपादाविति चेत् ; कुत एतत् ? प्रत्यक्षत एव तत्र क्षणिकत्वस्य प्रतिपत्तेरिति चेत् ; न ; शब्दवत्तत्रापि तत[6]स्तत्प्रतिपत्तेर्विवादात् । अनुमानत एव तत्प्रतिपत्तौ तदन्यत्र तदन्वयग्रहण लिङ्गस्याङ्गीकर्तव्यम् । तत्रापि तत एव तत्प्रतिपत्तौ तदन्यत्र तद्ग्रहणं तस्याङ्गीकर्तव्यमित्यनवस्थापत्तिः । यत्पुनरेतत्–प्रदीपादेरक्षणिकत्वे परापरस्तैलादिव्यापारो व्यर्थः । न हि तस्य तदुत्पत्तिरर्थः, प्रथमतद्व्यापारादेव तद्भावात् । नाप्युपकारः, तस्याप्यभिन्नस्य करणायोगात् । भेदे सम्बन्धाभावात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तेः । तेनापि तदन्तरकरणेऽनवस्थानुषङ्गात् । ततोपरापर एव तत्प्रभवः प्रदीपादिरिति ; तदपि न शोभनम् ; ततो[7]ऽप्यप्रमाणात् तत्प्रतिपत्तेरयोगात् । प्रमाणत्वञ्च न प्रत्यक्षत्वेन ; तत्रैव क्षणिकविषये विवादात् , अन्यथा शब्देऽपि तत एव तत्प्रतिपत्तेः किमनुमानेन ? अस्ति हि तत्राप्येवं परामर्शः–यदि शब्दोऽप्यक्षणिको व्यर्थस्तत्रापरापरस्ताल्वादिव्यापारः, तदुत्पत्तौ तदुपकारे च पूर्ववत्तस्यानुपयोगात् । ततोऽपरापर एव शब्दोऽपि तत्प्रभवः ततः क्षणिक एवेति । तत्र सतोऽपि ततस्तदभिव्यक्तिवादिनां न तत्प्रतिपत्तिः, एकत्वारोपानिवृत्तेरिति चेत् ; प्रदीपादावपि भवेत् , तदभिव्यक्तिवादिनामपि साङ्ख्यानां भावात् , तेषु तदारोपस्याप्यनिवृत्तेः । तन्न प्रत्यक्षत्वेन तत्प्रामाण्यम् । नाप्यनुमानत्वेन ; तल्लिङ्गस्यापि क्षणिकत्वेनान्यत्रान्वयग्रहणे तत्क्षणिकत्वस्याप्यपरापरतत्कारणव्यापारादनुमानतया प्रमाणात्प्रतिपत्तौ अनवस्थापत्तेः । तन्न बहिस्तेनाप्यन्वयग्रहणं यतस्तत्साध्यम् ।

भवतु तर्ह्यनित्यत्वमेव साध्यम् , तस्य प्रदीपादावपि प्राक्प्रध्वंसाभावमध्यवर्त्तिभावात्मनः प्रत्यक्षत एव प्रतिपत्तेः, न क्षणिकत्वं तस्यातिसूक्ष्मसमयपर्यवसायिभावस्वभावस्य तत्र ततोऽप्रतिपत्तेरिति चेत् ; किमेवं साङ्ख्यस्यापि पारार्थ्यमेव साध्यं न भवेत् ? तस्यापि शयनादौ प्रसिद्धत्वात् । आत्मार्थत्वस्याभीष्टस्यासाधने स्वपक्षसिद्धेरभावात् , तदुपक्रम्य तद्विपरीतसाधने साधनस्य विरुद्धत्वदोषात् । तद्विपरीतस्यैवोपक्रम्य साधने निर्विवादत्वेन साधनवैफल्यात् । तदुक्तम्–

१ "अभी॰-मिति पदमत्रापि सम्बन्धनीयम् ।"–ता॰ टि॰ । २ क्षणिकत्वमेव । ३ "चक्षुरादिः परार्थः संहतत्वात् शयनासनादिवत्–इदमनुमानं साङ्ख्यमतप्रसिद्धं बौद्धं प्रति आत्मास्तित्वसाधकम् ।" –ता॰ टि॰ । ४ "शयनासनादौ"–ता॰ टि॰ । ५ "कृतकत्वादिहेतो"–ता॰ टि॰ । ६ प्रत्यक्षत क्षणिकत्वप्रतिपत्तेर्विवादसद्भावात् । ७ "उक्तप्रकारात् परामर्शात्"–ता॰ टि॰ । ८ क्षणिकत्वस्य त– आ॰, ब॰, प॰ ।

"साधनं यद्विवादेन न्यस्तं तच्चेत्र साधयेत् ।
किं साध्यमन्यथाऽर्जिष्टं भवेदैकल्यमेव वा ॥" [प्र० वा० ४।२३]

[illegible] चेत् ; [illegible] दोषात् । न दोषः, तत्साधनादेव [illegible] चेत् ; [illegible] तथापि तथा च [illegible] स्यात् । [illegible] कचित्सम्भवा- [illegible] न चेत् , [illegible] सिद्धेरिति चेत् ; न हि [illegible] सिद्धौ [illegible] चेत्, [illegible] निरूपणात् । ततो नेदं तत्र [illegible] -

"यद्यन्यस्मिन् साध्यमानेऽन्यसाध्यं सिद्धयेदिष्टं सर्वसिद्धिस्ततः स्यात् ।
अन्यासत्त्वेऽनात्मम्यं विनाऽपि सिद्ध्येत् किश्चिन्नान्यदेतत् कुतः स्यात् ॥"
[प्र० वार्तिकाल० ४।३३] इति ।

[illegible] सिद्धिः, [illegible] साध्यसिद्धेरनुमान- [illegible] । [illegible] चेत् ; [illegible] साधनम् अनन्वयात् । [illegible] चेत् ; न ; अनवस्थादोषात् । इत्यपि दूषण- [illegible] न [illegible] प्रत्यापयति । तत्र बहिः [illegible] चेत् ; न ; [illegible] अपि प्रसङ्गात् ।

[illegible] ; न [illegible] ; [illegible] । नापि विषयानुभवः ; [illegible] , [illegible] न [illegible] , [illegible] । तेनापि तदनन्तरक्षणे- [illegible] । [illegible] । तत्र [illegible] कश्चिदप्यर्थः सम्भवति यत्तेषां [illegible] , [illegible] स्यात् । [illegible] सम्भवत्येव तेषां इति चेत् ; [illegible] तस्यासौ विरुद्ध एव हेतुः स्यादिति चेत् ; उच्यते–किमिदं क्षणिक- [illegible] इति चेत् ; न ; तस्य [illegible] विषयत्वात् । कालापकर्ष- पर्यन्तपर्यवसित [illegible] चेत् ; कथं तस्य वस्तुत्वम् ? न प्रतिभासात् ; व्यभिचारात् । नाप्यर्थक्रि- [illegible] ; तत्र तस्य [illegible] । तत्र तस्यापि [illegible] स्यात् । सान्वयवि- [illegible] तत्र तत्सामर्थ्यस्यानिश्चयादिति चेत् ; तर्हि जैनसिद्धमनेकान्तमेवेति तत्सा- [illegible] न विरुद्धो हेतुः । तदुक्तम्–

"पारार्थ्यं चक्षुरादीनां यथाऽनिष्टं प्रसाधयेत् ।
संघातत्वं तथा सत्त्वं शब्दानित्यत्वसाधने ॥" [   ] इति ।

[illegible] साध्यप्रतिपादनार्थं बौद्धस्येष्टमरणमुपपन्नम् , अनिष्टापत्तेः । न चैव- [illegible] साध्यमिच्छतो जैनस्य काचित्क्षतिः ; तदभिमतस्य बहिरन्वये सत्यसत्यपि अन्तर्व्याप्ति-

१ 'साधनप्राप्तेः'–आ० टि० । २ साध्यसिद्धिरनु–आ०, ब०, प० । ३ अन्वयः ।

बलात् साध्यस्यैव भावात्। कथमेवमप्रवृत्ताभिप्रायस्य पावकादेर्झटिति धूमादिप्रतिपत्त्या साध्यत्वमिति चेत् ? न; योग्यतया तस्यापि तत्त्वाविरोधात्। अभिप्रेतमपि न सर्वं साध्यम्, अपि तु सम्भवत्साधनमेवेत्याह–**शक्य**मिति।

तदेवं विधिमुखेन साध्यं निश्चित्य तदन्यव्यवच्छेदमुखेनापि तदेव निश्चेतुं साध्याभासं निरूपयति–

ततोऽपरम्।
साध्याभासम् [विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः।] ॥ ३ ॥ इति।

सुबोधमेतत्। किं तदपरमित्याह–**विरुद्धादि** । विविधं रुद्धं निराकृतं प्रत्यक्षादिना विरुद्धम् अनेनाशक्यमुक्तम्। न हि प्रत्यक्षादिनिराकृत शक्यं साधयितुम्। **"न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः।"** [ ] इति न्यायात्। आदिशब्देनानभिप्रेतं प्रसिद्धञ्च। कुतस्तस्य न साध्यत्वमेव ? इत्याह–**साधनाविषयत्वतः** इति। साधनं वक्ष्यमाणं तस्याविषयत्वमगोचरत्वम्, तस्मात्तत इति। तदविषयत्वञ्च निराकृतस्याशक्यत्वात् अनभिप्रेतस्यातिप्रसङ्गात् प्रसिद्धस्य च वैफल्यात्।

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतमेकान्तक्षणक्षयादि तद्विपर्ययस्यैव प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तेः। तस्यैव ततः प्रतिपत्तिः, तद्विपर्यये तज्जन्मनो व्यवसायस्यैव व्यापारादिति चेत्; न; व्यवसायादन्यस्य प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात्। अस्त्येवेदं केवलं तदेकत्वाभिमानान्न पृथगवसीयत इति चेत्; नन्वेवं पावकानुष्णत्वमपि न प्रत्यक्षनिराकृतं भवेत् प्रत्यक्षतस्तस्यैव परिज्ञानात्, तद्विपर्ययेऽपि व्यवसायस्यैव व्यापारात्। :सतोऽपि तद्व्यतिरिक्तप्रत्यक्षप्रतिवेदनस्य तदेकत्वाभिमानादेव पृथगनवसायात्। अभिमतञ्चैतद् ब्रह्मविदाम्–तत्प्रत्यक्षस्य विधिमात्रविषयत्वेन शीतोष्णादिभेदाविषयत्वात्। तद्विषयत्वे हि निषेधविषयत्वमपि भवेत् तद्भेदस्येतरेतराभावात्मकत्वेन निषेधात्मकत्वात्। अनवसितं तत्प्रत्यक्षं कथमस्तीति चेत् ? भवत्प्रत्यक्षमपि कथम् ? एकत्वादिविकल्पसंहारे तस्यैव निर्व्याकुलमनुभवादिति चेत्; न; भेदविकल्पसंहारे तस्यापि निर्व्याकुलमनुभवात्; तथा च श्रूयते–**"यद्वैतं न पश्यति पश्यन्वैतद्द्रष्टव्यं न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते विनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।"** [बृहदा० ४।३।२३] इति; श्रूयत एव केवलं तत्संहारो न कदाचिदपि दृश्यत इति चेत्; न; इतरसंहारस्याप्यदर्शनात्। ततो यथा न निर्भेदसामान्यविषयं प्रत्यक्षम् अपि तु भेदविषयमेव तथैव प्रतीतेः, तद्विरुद्धत्वात् पावकानुष्णत्वं साध्याभासम्, तथा नासाधारणस्वलक्षणविषयं तत्, अपि त्वनुवृत्तव्यावृत्तादिरूपजात्यन्तरगोचरमेव तथैव प्रसिद्धत्वात्, प्रसाधितत्वाच्चेति तद्विरुद्धत्वादेकान्तक्षणिकादिकमपि साध्याभासमेव। अत एवैकान्तनित्यत्वादेरपि तदाभासत्वं प्रतिपत्तव्यम्।

तद्वदेव चानुमाननिराकृतम्, अनुमानेनापि जात्यन्तरस्यैव बहिरन्तश्च वस्तुतानिरूपणात्। एवमागमनिराकृतमपि, आगमस्यापि तद्विषयस्यैव प्रामाण्यात् तदन्यविषयस्य तत्प्रतिक्षेपात्। अनभिप्रेतं तु साध्याभासं पारार्थ्यमात्रम्, साङ्ख्यस्य तत्सिद्धावप्यात्मसिद्धेरभावात्। सौगतादेरप्यनित्यत्वादिकं तत्प्रतिपत्तावप्यभीष्टस्य क्षणभङ्गादेरनिश्चयात्। प्रसिद्धं तु जैनं प्रति सौगतादेर्जात्यन्तरम्। ततः

१ उष्णत्वे। २ प्रत्यक्षम्।

स्थितम्–'ततोऽपरम् । साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।' इति ।

यद्यप्रसिद्धं साध्यं धर्मिणो विद्यमानत्वमपि[1] साध्यं भवेत् तत्रापि विप्रतिपत्तेः सम्भवात् तदाह–

जातेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्याऽनुषज्यते । इति ।

सुगममेतत् । विप्रतिपत्तीनामिति बहुवचनं संशयादिभेदेन तासां बहुत्वात्[2] । न च साधयितुं शक्यत इति चोद्यस्याभिप्रायः । तत्रोत्तरमाह–

तथेष्टत्वाददोषोऽयम् [हेतोर्दोषत्रयं यदि] ॥४॥ इति ।

तथा तेन सत्ता साध्येति प्रकारेण **इष्टत्वात्** जैनस्याभिमतत्वाद् **अदोषो** दोषो न भवति **अयम्** अनन्तर इति ।

पर इदानीमशक्यसाध्यतां तस्यां दर्शयन्नाह–**हेतोर्दोषत्रयं यदि** इति । दोषाणामसिद्धत्वादीनां त्रय **दोषत्रयं हेतोः** सत्तासाधनस्य **यदि** चेत् । तथा हि–यदि भावधर्मो हेतुः, कथमसिद्धे भावे सिद्धः ? सिद्धश्चेद्, भावोऽपि सिद्ध एवाव्यतिरेकात् । न हि तदव्यतिरिक्तं धर्मं प्रतिपद्यमानस्तमेव न प्रतिपद्येत व्याघातात् । ततो न तस्य साध्यत्वं प्रसिद्धस्यैव तत्त्वोपपत्तेः । अथोभयधर्मः; तदा व्यभिचारः, तस्य भाववदभावेऽपि भावात् , न तादृशो हेतुरतिप्रसङ्गात् । कथं पुनर्भावधर्मस्याभावे सम्भवो यतो व्यभिचारः ? परस्य वचनादिति चेत् ; न; वचनात् तत्सम्भवे अतिप्रसङ्गात् । असम्भवन्तमपि ब्रुवाणो दृश्यत इति चेत् ; स तर्हि मिथ्यावादित्वेनैव निगृहीतव्यो न व्यभिचारेण असम्भवतस्तदभावात् , अभूतमुद्भावयतश्च स्वयं निग्रहावाप्तेः । सम्भवत्येव कल्पितः स तत्रापि अमूर्तित्ववत् । अमूर्तित्वं हि मूर्तित्वप्रतिषेधमात्रमाकाशादाविव अभावेऽपि खरविषाणादावस्ति–अमूर्तमाकाशादि अमूर्तं खरविषाणमिति च व्यपदेशात्, तद्वदन्योऽपि कल्पितभाववदन्यत्रापि[3] सम्भवन्न विरुध्यत इति चेत् ; न; तस्य भावधर्मत्वाभावात् , अतत्स्वभावत्वात् अतत्कार्यत्वाच्च, अन्यथा कल्पितत्वानुपपत्तेः । व्यवहारमात्रात्तस्यापि तद्धर्मत्वे वस्तुतः पक्षधर्मत्वाभावात् स एव दोषो वक्तव्यो न व्यभिचारः, तस्यावस्तुसत्यसम्भवात् । "वस्तुन्येष विकल्पः स्याद् विधेर्वस्त्वनुरोधतः ।" [ ] इति स्वयमेवाभिधानात् । तन्न व्यभिचारोद्भावनमुपपन्नमिति चेत् ; आस्तामेतत् , वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् । यदि पुनरभावधर्मः; तदा विरुद्धः, भावसाधनार्थमुपनीतेनाभावस्यैव साधनात् । तन्न सत्तायां[4] साध्यत्वं तत्साधनस्य दोषत्रयानतिवृत्तेः । तदुक्तम्–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥" [प्र० वा० ३।१९०] इति ।

विरुद्धत्वं विरुद्धसाधनत्वात् । तच्च नासिद्धस्यैवाभावधर्मस्य चाक्षुषत्वादिवत् । नापि सिद्धस्य; तत्सिद्धावेवाभावस्यापि सिद्धेरव्यतिरेकात् । व्यतिरेके हि न तस्य तद्धर्मत्वमसम्बन्धात् । तत्कार्यत्वं

---

१ मानमपि–आ०, ब०, प० । २ बहुत्व न च–आ०, ब०, प० । ३ कल्पितो भावभाववद– आ०, ब०, प० । ४–त्तायामसा–आ०, ब०, प० ।

सम्बन्ध इति चेत् ; न ; अभावात्मनस्तदभावात्, भावात्मनश्च तद्धर्मस्यासम्भवात्। सम्भवन्तोऽपि न तत्कार्यत्वम्, अभावस्याहेतुत्वात्। तत्र व्यभिचारस्य विरोधस्य चोद्भावनमुपपत्तिमदिति चेत्; सत्यम्, अस्त्ययमुद्भावयितुर्दोषः, शास्त्रकारस्तूभयाभावधर्मयोरनभ्युपगमं परिहारं मन्यमानः परिहारान्तरमनुक्त्वा भावधर्मस्यासिद्धत्वमेव परिहरन्नाह–

भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् [यथा वस्तुबलागमम्]। इति।

अत्र 'अदोषोऽयम्' इत्यनुवर्तनीयम्। तदयमर्थः–यदुक्तम्–**"यो हि भावधर्मं तत्र हेतुमिच्छति स कथं भावं नेच्छेत्"** [प्र० वा० स्ववृ० १।१९३] इत्ययमदोषो दोषो न भवति, **भ्रान्तेः** भावधर्ममिच्छतोऽपि भावानिच्छासम्भवात्, तस्याश्च **पुरुषे** तद्धर्मत्वेन **सम्भवात्**। एतदेवोदाहरणेन दर्शयन्नाह–

यथा वस्तुबलागमम्।
प्रपेदे सर्वथा सर्ववस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन्॥ ५॥ इति।

यथा इत्युदाहरणोपदर्शनार्थम्। **प्रपेदे** प्रपन्नवान्। किम्? **वस्तुबलागमम्** वस्तु तात्त्विकं बलमभिमतसाधनसामर्थ्यं यस्य स वस्तुबलः स चासावागमश्च, आगमो ज्ञानं वचनं वा आगच्छत्यनेन आगमयत्यनेन वेति व्युत्पत्तेः, गमेश्च बोधार्थत्वात् वस्तुबलागमः तमिति। अनेन भावधर्ममिच्छन्नपीति दर्शितम्। प्रसिद्धश्चैतद् बौद्धस्य–**"इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।"** [प्र० वा० २।२०९] इति वचनात्। क एवं प्रपेदे? इत्याह–**सर्वथा** सर्वेण पररूपादिप्रकारेण स्वरूपादिप्रकारेण च **सर्वस्य** चेतनस्येतरस्य च **वस्तुनः सत्तां प्रतिक्षिपन्** निराकुर्वन् इति। अनेनापि भावं नेच्छतीति प्रतिपादितम्। इदमपि प्रसिद्धमेव–

"यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥" [प्र० वा० २।२०९]

इत्यभिधानात्। विविच्यन्ते इति च न नानात्वस्य वचनम् अपि तु विशरणस्यैव। तथा च व्याख्यानम्–**"तस्माद्यथा यथा वस्तु चिन्त्यते तथा तथा विशीर्यत एवेति किमत्र कुर्मः।"** [प्र० वार्तिकाल० २।२०९] इति। कुतः पुनस्तदागमस्य भावधर्मत्वमिति चेत्? अभावधर्मस्य वस्तुबलत्वाभावेन ततो भावप्रतिक्षेपायोगात्। तद्बलत्वमपि व्यवहारत एव तस्येति चेत्; न; तथाविधात्ततो भावप्रतिष्ठानस्यापि भावात् कथमेकान्तिकस्तत्प्रतिक्षेपो यत इदं सूक्तम्–**"विज्ञानं विज्ञानरूपतयापि शून्यमिति सकलधर्मशून्यतैव न्याय्या।"** [प्र० वार्तिकाल० २।२०९] इति। ततः प्रतिष्ठापरिहारेण प्रतिक्षेपमेव ब्रुवता तात्त्विकमेव भावधर्मत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यम्। तदाह–

भावनादभ्युपैति स्म भावधर्ममवस्तुनि। इति।

भावनात् भावप्रतिक्षेपस्य स्वपरबुद्धौ भवतः करणात् **अभ्युपैति स्म** सौगतो वस्तुबलागममिति सम्बन्धः। कीदृशम्? **भावधर्मं** तदन्येन तद्भावनानुपपत्तेः। कस्मिन्? **अवस्तुनि** भावप्रतिक्षेपे। ततो युक्तं भावमनिच्छतोऽपि भावधर्मस्येष्टत्वात्तस्य हेतुत्वमसिद्धत्वाभावात्। तदयमत्र

१–दगमपरि–आ०। २–च्छतो मा–आ०, ब०, प०। ३ विज्ञानतयापि आ०, ब०, प०। ४ तथाह आ०, ब०, प०।

प्रयोगः—अस्ति चेतनाचेतनात्मकं वस्तु वस्तुबलागमसद्भावात्। धर्मो हि सिध्यन् अन्यथा तदनुपपत्तेः। ततो यदुक्तम्—

"भावोपधानमात्रे तु साध्ये सामान्यधर्मिणि।
न कश्चिदर्थः सिद्धः स्यादनिषिद्धश्च तादृशम्॥" [प्र० वा० ३।१८७] इति।

तत्प्रतिक्षिप्तम् ; भावोपधानमात्रस्य सत्ताविशेषणमात्रस्य सामान्यधर्मिणो वस्तुमात्रस्यापि विप्रतिपत्तिविषयत्वे तत्सिद्धित एव स्वार्थसिद्धेः 'न कश्चिदर्थः सिद्धः स्यात्' इत्यस्यायोगात्। कथञ्चायम् "इदं वस्तुबलायातम्" [प्र० वा० २।२०९] इत्यादिना भावोपधानमात्रमपि साध्यं प्रतिषेधन्नेव "अनिषिद्धं च तादृशम्" इति ब्रूयात् न चेत् प्रतिक्षणोपक्षीणबुद्धिः। अथ व्यवहारे तस्यानिषिद्धत्व निषिद्धत्वं तु परमार्थे, ततो मार्गभेदात् न तद्वचनयोः परस्परतो विरोध इति चेत् ; व्यवहारतोऽपि तन्निषेधे किं नश्यति ? साध्यत्ववत् साधनत्वमपि नश्येत्, अस्ति च तत् शब्दे नित्यत्वस्य सत्येव (सतैव) शुद्धाशुद्धरूपेण साधनादिति चेत् ; न तर्हि परमार्थतोऽपि तन्निषेधो भावप्रतिक्षेपस्यापि सतैव केनापि साधनोपपत्तेः। असतापि तत्साधने तदनित्यत्वसाधनमपि स्यात्। तन्न व्यवहारेऽप्यनिषिद्धमित्याद्युपपन्नमिति कथं न तद्वचनयोर्विरोधः ? कथं वा निषिद्धस्य साधने सिद्धसाधनत्वम्।

तदेवं निरुपाधिकं सत्त्वं प्रसाध्य सोपाधिकं साधयन्नाह—

असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्॥६॥
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्। इति।

असिद्धस्य अनिश्चितस्य **धर्मिणो धर्मत्वेऽपि** शब्दान्न केवलं सिद्धधर्मिधर्मत्वे, **हेतुरेव** गमक एव तद्धर्मत्वेऽप्यसिद्धिदोषाभावस्य निरूपितत्वात्। कीदृशः ? **अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुपपत्तिमान्** असम्भववान्। अत्रोदाहरणम्—'**यथा**' इत्यादि। यथेत्युदाहरणप्रदर्शने। **सन्ति** विद्यन्ते **प्रमाणानि**। बहुवचनं प्रतिपत्तृभेदेन तद्बहुत्वात्। कुतः सन्ति ? **इष्टसाधनात्** इष्टस्य भावनैरात्म्यस्य साधनात्। क्व पुनः प्रमाणोपाधिकं सत्त्वं प्रतिपन्नं येन तदन्वयदृष्टिरिष्टसाधनस्येति चेत् ? न; तददृष्टावपि अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन गमकत्वात्। मा भून्नामान्यथानुपपत्तिमतोऽन्यथा गमकत्वं, तथा गमकत्वम्, तथोपपत्त्यभावे कथमिति चेत् ? न; अन्यथानुपपत्तेरेव पर्युदासवृत्त्या तथोपपत्तित्वात्, तस्याः प्रसज्यप्रतिषेधरूपायाः अप्रातीतिकत्वात्। हेतुस्वरूपे तत्प्रतिपत्तिरेव च तथोपपत्तेरपि प्रतिपत्तिः, बहिस्तदभावेऽपि दोषाभावात्। ततो नेदमत्र दूषणम्—

"उपात्तभेदे साध्येऽस्मिन् भवेद्धेतुरनन्वयः।" [प्र० वा० ३।१८८] इति।

बहिरनन्वयेऽपि क्षतेरभावात् अन्तरनन्वयस्यासिद्धत्वात्। कुतः पुनरिष्टसाधनं प्रमाणादेव न तद्विपर्ययादपीति चेत् ? न; ततोऽनिष्टस्यापि साधनात्, प्रतिपक्षस्य व्यवच्छेदानुपपत्तेः। साधयता

---

१ "भावोपादानमात्रे"–प्र० वा०। २ भावोपादानमा–प०। ३ सत्येव के–आ०, ब०, प०। ४ असतोऽपि आ०, ब०, प०। ५–हारे तस्यानि–आ०, ब०, प०। ६–धनस्य चेत् आ०, ब०, प०। ७ तथानुग–बा०। ८ अन्यथानुपपत्तिप्रतिपत्तिरेव। ९–न्तदा भा–आ०, ब०, प०।

हि स्वपक्षं प्रतिपक्षो व्यवच्छेत्तव्यः, स्वपक्षसाधनस्यैवान्यथानुपपत्तेः । ततो वस्तुषु भावव्यवच्छेदेनाभावं साधयता प्रमाणादेव तत्साधनमनुमन्तव्यम् । भावनैरात्म्यवादिनः तत्साधनमपि नास्त्येव तत्कथमन्यथानुपपत्तिमत्त्वम् असिद्धस्य तदनुपपत्तेरिति चेत् ? न; "इदं वस्तुबलायातम्" [प्र० वा० २।२०९] इत्यादेस्तद्वचनादेव तत्साधनस्य श्रवणात् । तदपि स्वप्नवदेव न तत्त्वत इति चेत्; किमनेन कर्त्तव्यम् । इष्टसाधनस्याभावसाधनमिति चेत्; सिद्धमिष्टसाधनं तदभावसाधनस्यैव तत्त्वात् । इदमपि स्वप्नवदेव न तत्त्वत इति चेत्; न; अत्रापि[1] 'किमनेन' इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थादोषाच्च । ततो दूरमनुसृत्यापि किञ्चिद् ब्रुवता तात्त्विकमेव तच्च तत्प्रयोजनञ्च वक्तव्यमिति कथमिष्टसाधनस्यासिद्धिः यतोऽन्यथानुपपत्तिर्न भवेत् ? प्रमाणादिष्टसाधने प्रमाणस्यापि तदन्यतः साधनं तस्यापि तदन्यतः साधनमित्यनवस्थानम् । स्वतस्तत्साधने भावनैरात्म्यस्यापि तत एव तदिति किं प्रमाणेन यतस्तत्साधनात् तदवस्थाप्यत इति चेत् ? अत्राह–

इष्टसिद्धिः परेषां वा [तत्र वक्तुरकौशलम्] ॥७॥ इति ।

परं ब्रह्म तस्यैव परत्वेन ब्रह्मविदां प्रसिद्धत्वात् तदिच्छन्तीति **परेषां 'वा'** इति समुच्चये तेषामपि न केवलं बौद्धानाम् । किम् ? **इष्टस्य** ब्रह्मणः **सिद्धि**र्भवेदिति शेषः । तात्पर्यम्–

स्वत एव यथा भावनैरात्म्यं वः प्रसिद्ध्यति ।
न प्रमाणात्प्रमाणे तन्नैरात्म्यस्यानवस्थितेः ॥ १३४ ॥
सर्वमिदात्मकं तद्वत् ब्रह्म सिद्धं स्वतो भवेत् ।
प्रमाणान्नान्यतस्तस्मिन् तदभेदानवस्थितेः ॥ १३५ ॥

ततः किम् ? इत्याह–**'तत्र वक्तुरकौशलम्'** इति । **तत्र** तस्यां परेषामपीष्टसिद्धौ **वक्तुः** सर्वाभाववादिनः **अकौशलं** स्वपक्षस्य तत्प्रत्यनीकव्यवच्छेदेनाव्यवस्थापनादनिपुणत्वम् । ननु तदिष्टसिद्धिरप्यभावरूपैव "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृहदा० ४।४।१९] इति "स एष न" [बृहदा० ३।९।२६] इति च भेदप्रतिषेधस्यैव तदाम्नायेन श्रवणादिति चेत्; न; तेनापि तस्य पर्युदासस्यैव श्रवणात् न तुच्छस्य । अन्यथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" [छान्दो० ६।८।७] इत्यादिना तदसाङ्गत्यप्रसङ्गात् । ततः सत्त्वैव सर्वमिदात्मिका तदिष्टसिद्धिः । इदमेवाह–

अतीतानागतादीनामपि सत्ता [अनुषङ्गवत्] । इति ।

आदिशब्दाद्वर्तमानानाम् । **अपि**शब्दात् स्वभावदेशभिन्नानाञ्च भावानां **सत्ता** विद्यमानता । 'इष्टसिद्धिः परेषाम्' इति सम्बन्धः । कीदृशी सा ? इत्याह–**अनुषङ्गवत्** इति । अनुषङ्गो देशकालादिभिरव्यवच्छेदः, तेन वदते दीप्यत इत्यनुषङ्गवत्, वदेः दीप्त्यर्थस्य विचि सत्येवंरूपात् । कथमिष्टसिद्धिरीदृश्यपि स्वतः परेषाम् ? "गृह्यते अग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।"[2] [कठोप० ३।१२] इति बुद्धिकृताया एव तस्याः श्रवणादिति चेत्; भवदिष्टसिद्धिरपि न स्वतो भवेत् "यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ।" [प्र० वा० २।२०९] इति

१–पि किमनेनकर्त्तव्यमिष्टसाधनं तदभावसाधनस्यैव तत्त्वात्, इदमपि स्वप्नवदेव न तत्त्वत इति चेन्नात्रपि किम–वा० । २ "दृश्यते त्वग्र्यया"–कठोप० ।

चिन्ताकृताया एव तस्या अप्याकर्णनात् । अभावरूपैव चिन्तेति चेत्; बुद्धिरपि भावरूपैवेति समः समाधिः । अतो न प्रमाणाभावे परस्येवात्मनोऽपीष्टसिद्धिः । अस्तु तर्हि संवृत्यैव प्रमाणमिति चेत्; किमिदं संवृत्येति ? स्वरूपेणेति चेत्; वस्तुसदेव तर्हि प्रमाणं स्वरूपभावात् । तथा च परेषां जैनानामेवेष्टसिद्धि सिषाधयिषितप्रमाणप्रतिष्ठानां न सौगतानाम्, सति तस्मिन् सर्वाभावस्याप्रतिष्ठितेः । तदाह–**इष्टसिद्धिः** इष्टस्य साधयितुमभिप्रेतस्य प्रमाणस्य सिद्धिः निर्णीतिः **परेषां वा** जैनानामेव वेत्यस्यावधारणार्थत्वात् । दूषणान्तरमाह–**तत्र** तस्मिन्स्वरूपे संवृत्यर्थे **वक्तुः** संवृत्यास्ति प्रमाणमिति ब्रुवाणस्य **अकौशलं** वचनवैदग्ध्याभावः । प्रसिद्धार्थं स्वरूपपदं परित्यज्य तद्विपरीतस्य संवृतिशब्दस्योपादानात् यथा 'तरुपङ्क्तिरसङ्कटैव मुने' इत्यनुक्त्वा 'तर्वाल्युर्वेर्वर्पे' इति ब्रुवाणस्य । तन्न संवृत्येति स्वरूपेणेत्यर्थः । न पररूपेणेत्यपि; तत्रापि वस्तुतः प्रमाणसिद्ध्या परेषामेवेष्टसिद्धेर्वचनकौशल्याभावस्य च तदवस्थत्वात् । अपि च, यदि पररूपम्; कथं तेन भावः ? स चेत्; कथं पररूपं व्याघातात् । अव्याघातेऽप्याह–**अतीतानागतादीनामपि सत्ता** इति । तेषामपि सत्त्वं पररूपेण प्राप्नुयादित्यर्थः, न केवलं प्रमाणस्यैवेत्यपिशब्दः । तथा च–

भावावबोधरूपेणैवातीतेन भवेदयम् ।
भावनैरात्म्यबोधस्ते भाविकालसमन्वयी ॥ १२३६ ॥
तेनैव भावबोधः स्यादतीतो भावनाऽथवा ।
तद्गोचरो विचारश्च सर्वोऽप्येवं वृथा भवेत् ॥ १२३७ ॥
सतापि तेन पूर्वस्मिन् भावग्राहनिवर्तनात् ।
परत्रापि विना तेन भावनैरात्म्यनिर्णयात् ॥ १२३८ ॥
प्रतिपाद्यो न कश्चित्स्यादेवमन्यत्र कथ्यताम् ।

तन्न पररूपेणेत्यपि तदर्थः । अयं तर्हि स्यात् संवृत्या स्वपरविकल्पनिर्मुक्तयेति चेत्; न; तन्निर्मुक्तेरप्यस्य स्वरूपत्वेन तत्रापीष्टसिद्धिरित्यादेर्दोषस्याविशेषात् । तदाह–**अनुषङ्गवत्** अनुषञ्जनं पूर्वदोषस्यानुगमोऽनुषङ्गः स विद्यतेऽस्येति **अनुषङ्गवत्** । तन्निर्मुक्तिः संवृतिरिति परमतं तस्यानुक्तस्य प्रक्रमवशात् आगमात् । यदि पुनस्तुच्छैव तन्निर्मुक्तिः; तर्हि स्पष्टमभिधातव्यम्–'न कथञ्चिदप्यस्ति प्रमाणम्' इति, किं संवृत्याऽस्तीति ? प्रथमत एव तदभावाभिधाने तत्त्वगवेषिणामुद्वेगात् न तत्त्वप्रतिपत्तावाभिमुख्यं भवेत्, ततो मा भूत्तथोद्वेग इति प्रच्छादिताभावस्य प्रमाणस्येदमभिधानं संवृत्याऽस्तीति । तदुक्तम्–

"सर्वमस्तीति वक्तव्यमादौ तत्त्वगवेषिणा" [ ] इति ।

न चैवं वदतः किमप्यकौशलमनुद्वेगवचनादेव कौशलोपपत्तेरिति चेत्; न; एवं नित्येश्वरप्रधानादेरपि वचनप्रसङ्गात्, तदभावस्याप्रच्छादितस्य वचने लोकस्योद्वेगाविशेषात् । उद्विजतां वा लोको मा वा यथावस्थितमेव तु तत्त्वं तत्त्वविदा वक्तव्यम्, अन्यथा वञ्चकत्वप्रसङ्गादिति चेत्; न;

१ तर्वाल्युर्वेर्वर्पे इ–आ०, ब०, प० । तर्वालि तरुपङ्क्तिः ऊर्वेव विशालैव ऋषेः मुने । २–द्विर्व– आ०, ब०, प० । ३ तेनाभा–आ०, ब०, प० । ४–सिद्धेरि–आ०, ब०, प० । ५–नुयुक्त–आ०, ब०, प० ।

प्रमाणतत्त्वस्यापि तथैव वक्तव्यत्वापत्तेः। अथ तत्त्वं पश्चात् संवृत्यर्थपर्यालोचनपाटवाल्लोकः स्वयमेव प्रत्येति। यदुक्तम्–

"पश्चादवगतार्थस्य भावग्राहो निवर्तते।" [ ] इति;

ततो न पूर्वमेव तद्वचनेनोद्वेगः क्रियत इति चेत्; ईश्वरादितद्वचनेनापि न कर्तव्यः तस्यापि तथैव प्रतीतेः। ततः संवृत्या प्रमाणादिवत् ईश्वरादिकमपि सौगतेन सिद्धान्तीकर्तव्यम्। तदाह–**इष्टसिद्धिः परेषां वा** इति। **इष्टस्य** लोकपूजितस्येश्वरस्य **सिद्धिः** संवृत्या स्यात् **परेषां** प्रमाणादीनामिव 'वा' इत्यस्येवार्थत्वात्। ततः किम्? इत्याह–'**तत्र**'इत्यादि। तत्रेति तस्येत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः। तदयमर्थः–**तत्र** तस्येष्टस्य **वक्तु**र्वदतः बौद्धस्य। कथं वक्तुः? **अनुषङ्गवत्**। अनुषङ्गो दोषोऽनुषज्यमानत्वात् तद्वत् यथा भवति, एवं न कौशलम् अकौशलमभिमतस्यैव दोषवत्त्वेन वचनात्। अपरमप्यतिप्रसङ्गमाह–'**अतीत**' इत्यादि। अतीतानां घटादीनां कपालादिषु तेषाञ्चानागतानां घटादिषु आदिशब्दाद्वर्तमानानां दण्ड-चक्रादीनां परस्परात्मनि **सत्ता** शक्तिरूपेण साङ्ख्यसिद्धा **सापि न** केवलमिष्टसिद्धिरेव संवृत्या सौगतस्य भवेत्। 'ततः किम्' इति प्रश्ने पूर्ववदत्रापि '**तत्र**' इत्यादि वक्तव्यम्। तत्र संवृत्याऽस्तित्वं प्रमाणानां यतस्तत्साधनं सिद्धसाधनं भवेत्।

अभावैकान्ते विरोध एवोद्भावयितव्यः–'यदि तदेकान्तो न किञ्चित्तत्साधनम्, तच्चेत न तदेकान्तः' इति किं सत्तासाधनेन? तावता तद्वादिनः पराजयादिति चेत्, उच्यते–विरोधो नाम हेतोरेव विपक्षगोचरो व्यापारः स कथमसतस्तस्य स्यात्? सतश्चेत्; सिद्धं तदुद्भावनं भावसाधनं तस्य तन्नान्तरीयकत्वात्। अस्तीदं किन्तु तेन तदेकान्तनिषेध एव कर्तव्यो भावं साधयतापि तस्यावश्यकर्तव्यत्वात्, अन्यथा परस्यापरिक्षीणपक्षताप्राप्तेरिति चेत्; न; तन्निषेधस्य नीरूपस्य करणेऽपि तत्प्राप्तेरविशेषात्। भावरूपस्य तु करणं भावसाधनमेव। न चायमप्येकान्तः, यस्मान्न हि तस्य स्वतः प्रतिपत्तिः; विप्रतिपत्तेः। नापि परतः तदेकान्ते परस्यैवा-भावात्। भावे तद्विरोधः, परस्परव्यवच्छेदस्यापि भावात्। अवस्त्वेव परम् अविद्याकल्पितत्वात्, न हि तेन तदेकान्तो विरुध्यते चन्द्रमस्येकत्वैकान्तवत् द्वित्वेनेति चेत्? न; अभावैकान्तस्याप्येवं परतः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। सति तस्मिन् कथं तदेकान्त इति चेत्? न; तत्सत्त्वस्य सांवृतत्वात्। वस्तुसता हि तेन तद्विरोधो न सांवृतेन तदनुकूलत्वात्। सांवृतात् कथं प्रतिपत्तिरिति चेत्? अविद्योपकल्पात् कथम्? न ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिः भेदारोपस्यैव निवृत्तेः। परं हि परैराम्नाय-ज्ञानमुच्यते, तच्च **"अस्थूलमनल्पमह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्"** [बृहदा० ३।८।८] इति स्थूलादिभेदपर्युदासप्रतिभासितयोपजायमानमखिलमपि भेदारोपमभ्यासपाटवाद्विनि-वर्त्य स्वयमपि निवर्तते विषवत्। इष्टं हि विषं विषान्तरमुपशमय्य पुनरात्मानमप्युपशमयतीति,

१–दिः त–आ०, ब०, प०। २–ति सर्वस्येत्य–बा०। ३ तत्रेष्टस्य प०। ४ दोषत्वेन आ०, ब०, प०। ५–मस्य स्या–आ०, ब०, प०। ६–मप्रेक्षतः–आ०, ब०, प०। अखण्डितपक्षता। ७ चन्द्रस्यैक–आ०, ब०, प०। ८ विषं हि आ०, ब०, प०।

तन्निवृत्तौ च निराकुलो भावैकान्तः परनिःश्रेयसरूप इति चेत् : न ; तद्भावैकान्तस्या न्यत्कुलम्। पत्तेः, तत्रापि हि पर [1]परैर्विचारज्ञानमूरीक्रियते। तदपि न चित्रमेकं वस्तु ; विरोधात्। नापि निष्कल-स्वलक्षणरूपम् ; अपरिबोधगोचरत्वादिति भावप्रतिषेधपरतयोपजायमानमशेषमपि भावारोपमपसार्य गगन-निदर्शनबलेनात्मानमप्यपसारयद्भावैकान्तमेव तन्निःश्रेयसमव्याकुलमवकल्पयेत्। कथं तादृशेनाप्य-तद्विषयेण तदवकल्पनमिति चेत् ? आम्नायज्ञानेनापि कथम् ? न हि तस्यापि तद्विषयत्वम्। "यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो वेदेभ्योऽन्तरो यं सर्वे वेदाः न विदुर्यस्य सर्वे वेदाः शरीरं यः सर्वान् वेदानन्तरो यमयति स त्वन्तर्याम्यमृतः।" [बृहदा० ३।७।१५] इति श्रुत्यैव तस्य तदविषयत्वनिवेदनात्। स्वसंवेदनादेव तस्य तत्त्वावकल्पनमिति चेत् : न ; विवादात्। तदवस्थागतस्य न विवाद इति चेत् ; तदपि कथं तस्यापरिज्ञाने ? सति हि तत्परिज्ञाने तद्गतं निर्विवादत्वमन्यद्वा सुपरिज्ञातं भवति नान्यथा। न चान्यतस्तत्परिज्ञानं भवतः सम्भवति, "विज्ञाना-न्तरमरे (विज्ञातारमरे) केन विजानीयात्" [बृहदा० ४।५।१५] इति तदनन्यवेद्यताया एव श्रवणात्। तन्न भावाभावैकान्तयोः परस्परतोऽतिशयो यत एकत्र विरुद्धमिष्टसाधनं परस्य सत्त्वं साधयेत् तत्रापि तदभावात्, स्वपरभावाभ्यां भावाभावात्मकस्य साधयत्येव तत्र तस्य प्रतीतेः। ततो युक्तं विरोधादपि सत्त्वसाधनम्।

विज्ञानवादी प्राह–मा भूद्भावैकान्तः, तथापि विज्ञानमेवास्तु न बहिरर्थः तस्य तद्व्यतिरेकेणा-प्रतीतेरिति ; सोऽपि न प्रातीतिकवादी ; यतः–

अविवेके हि नीलादिज्ञानयोरवकल्पिते।
बहिरेव भवेद्देहाद् बोधो नीलादिरूपवत् ॥ १२३९ ॥
तज्ज्ञानरहिताद्देहात्कथमेवं ततो वचः।
"दर्शनं नीलनिर्भासं नार्थो बाह्यः" इति स्फुटम् ॥ १२४० ॥
तद्ज्ञानरहितोऽप्यन्यो यद्यन्यावगतं वदेत्।
सुगतावगतं तत्त्वं किन्न वक्ति कृषीवलः ॥ १२४१ ॥
अन्तःशरीरमेवायं नीलादिर्यदि बोधवत्।
अन्तर्गतगिरिः कायो गिरेरपि पृथूभवेत् ॥ १२४२ ॥
अन्तर्गतः कुतश्चायं बहिष्ठेनावभासताम्।
वासना प्रकृतेः [10]तद्वदसंस्तद्वद्विभासताम् ॥ १२४३ ॥
तथा च शून्यवादाप्तेः ज्ञानवादो विभज्यते।
न च ज्ञानं निराकारं सौगतैरुपगम्यते ॥ १२४४ ॥

---

१ पौर्दे। २–सुरीकि–आ०, ब०, प०। ३ "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्त.......''–बृहदा०। ४–स्य तत्त्वं सत्त्वं सा–आ०, ब०, प०। ५–परभावाभावाभ्या–आ०, ब०, प०। ६ प्र० वा० २।३३५। ७ 'देहः'–आ० टि०। ८ "देहबहिर्गतबोधाभवत्"–आ० टि०। ९ वहि-ष्ठेनाव–आ०, ब०, प०। १०–स्तद्वदसस्तद्वद्वि–आ०, ब०, प०।

यतः शून्यप्रवादस्य प्रत्याख्यानं प्रकल्प्यताम् ।
सतोऽपि ब्रह्मणस्तस्य विशेषः कल्प्यतां कुतः ॥ १२४५ ॥
अनित्य[1]त्वाविभुत्वादेरिति चेन्नेदमुत्तरम् ।
नीलादेरिव तस्यापि वासितस्यैव भासनात् ॥ १२४६ ॥
सन्नेव यदि नीलादिः निर्भासत्वेन बुध्यते ।
बहिर्भावोऽपि सन्नेव तथा किन्नावबुध्यते ॥ १२४७ ॥
न हि तत्रान्यथा ज्ञानं कदाचिदपि दृश्यते ।
बाधितो येन सैषः स्याद् बहिर्भावः प्रतीतिमान् ॥ १२४८ ॥

स्यान्मतम्—शरीरनीलादितदन्तरालप्रतिभासमेकमेव ज्ञानम्, न तत्कस्यचिदन्तर्नापि कुतश्चिद् बहिः स्वरूप एवावस्थानात् तदयमदोष इति; [2]तन्न; 'दूरादेवाहमत्रस्थो नीलादिकमवलोकयामि' इति नीलादितद्वेदनयोः भेदस्यैवानुभवतः प्रतीतेः। तस्याश्च भेदानवगमे बुद्धिचैतन्ययोरभेदप्रतीतेरप्यभेदावगमो मा भूत्, तथा च यथा साङ्ख्यं प्रत्येतत्त्वयोच्यते—

"अभिन्नवेदनस्यैक्ये यन्नैवं तद्विभेदवत् ।
[3]सिद्ध्येदसाधनत्वेऽस्य न सिद्धं भेदसाधनम् ॥" [प्र० वा० २।२७८] इति ।

तथा च भवन्तं प्रत्यस्माभिरिदमुच्यते—

विभिन्नवेदनाद् भेदे यन्नैवं तदभेदवत् ।
सिद्ध्येदसाधनत्वेऽस्य सिद्धं नाभेदसाधनम् ॥ १२४९ ॥ इति ।

कथं पुनर्नीलादेः तद्वेदनाद् भेदे 'नीलादिः प्रतिभासते' इति प्रतिभाससामानाधिकरण्येन प्रतिपत्तिः, अप्रतिभासात्मनि तदनुपपत्तेरिति चेत्? अभेदेऽपि 'नीलादिः' इत्येव[4] 'प्रतिभासः' इत्येव वा भावात् कथं तथा प्रतिपत्तिः? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदपरिकल्पनात्, अन्वितो हि प्रतिभासः तस्य पीतादावपि भावाद्, व्यतिरिक्तश्च नीलादिर्विपर्ययात् ।

तदनेन विरुद्धधर्माध्यासेन भेदपरिकल्पनमुपस्थाप्यमानं सामानाधिकरण्यव्यवहाराय कल्पते इति चेत्; उच्यते—

विरुद्धधर्माध्यासोऽयं तत्त्वतो यदि विद्यते ।
नीलतज्ज्ञानभेदः स्यात् तात्त्विकः कल्पितः कथम् ॥ १२५० ॥
कल्पितश्चेत्तदध्यासः कुतस्तत्कल्पनं मतम् ।
अन्यतश्चेत्तदध्यासादनवस्था प्रसज्यते ॥ १२५१ ॥
तद्भेदकल्पनादेव प्राच्यात्तद्भेदकल्पनम् ।
प्राच्यस्यापि ततः प्राच्यान्न चेहास्त्यनवस्थितिः ॥ १२५२ ॥

१–त्यत्वावि–प० । २ तन्न प० । ३ विद्धे साधनत्वेऽस्य न सिद्धि भेदसाधनम् । वा० । ४–न भासतेरित्येवाभा–आ०, ब०, प० ।

अनादेस्तत्प्रबन्धस्य प्रवृत्तेरिति चेत्तथा ।
भेदस्तात्त्विक एवासौ किन्न तत्कल्पितो मतः ॥ १२५३ ॥
अभेदस्यैव संवित्तेः स्वतश्चेन्नीलवेदनम् ।
तद्भेदकल्पनं चैतद्द्वयं केनावगम्यताम् ॥ १२५४ ॥
तद्व्यापारं कथं विद्याद्जानानश्च तद्द्वयम् ।
एकत्वं दर्शनाभेदः कल्पनादिति यद्वदेत् ॥ १२५५ ॥
केनापि तद्द्वयज्ञाने जानीयादर्थमप्यसौ ।
ज्ञानस्यैवान्यवेद्यत्वं नार्थस्येत्यव्यवस्थितेः ॥ १२५६ ॥

तदाह–

अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ॥ ८ ॥ इति ।

अतः अस्मादनन्तरसाधितात् प्रमाणात्, सामान्योक्तावपि प्रत्यक्षादिति प्रतिपत्तव्यम् । अनुमानस्य वक्ष्यमाणत्वात् । चशब्दः सौछवे । **बहिरर्थानां** जडनीलादीनाम् **अपि**शब्दान्न केवलं विज्ञानानां **सत्ता** विद्यमानता **प्रसाध्यते** प्रकर्षेण सिद्धिं नीयते । कथं पुनः प्रत्यक्षतस्तत्साधनम्, तस्य तदभावेऽपि तन्निर्भासिनो दर्शनात्[1] तैमिरज्ञानवदिति चेत्; स्वरूपसाधनमपि न भवेत्, तदभावे तन्निर्भासिनोऽपि [2]दर्शनात् भ्रान्तस्य विभागवेदनवत्[2] । न तद्विभागस्य प्रत्यक्षतः साधनं तद्विवेकस्यैव साधनादिति चेत्; न तर्हीदमुपपन्नम्–

"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ।" [प्र० वा० २।३५४] इति ।

तद्भेदविवेकवेदिन एव तल्लक्षणानुपपत्तेः । प्रत्यक्षजन्मनो विकल्पादेव तल्लक्षणमिति चेत्; न; ततोऽपि व्यतिरिक्तस्यार्थ[3]वदलक्षणात् । अव्यतिरेके तदात्मा तत्त्वतः सविभागः स्यात् तत्प्रत्यक्षात्मापीति न सूक्तमेतत्–"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इति । तदात्मन्यपि तल्लक्षणमन्यत एव विकल्पादिति चेत्; न; पूर्ववत्प्रसङ्गादनवस्थितेश्च । ततो गत्वापि दूरं स्वत एव कुतश्चित्तल्लक्षणमनुमन्तव्यम् । एवञ्च यथेदमर्थग्रहापेक्षयोच्यते–

"यथाकथञ्चित्तस्यार्थरूपं मुक्त्वावभासिनः ।
अर्थग्रहः कथं सत्यं न जानेऽहमपीदृशम् ॥" [प्र० वा० २।३५३] इति ।

तथेदं स्वग्रहापेक्षया वक्तव्यम्–

यथा कथञ्चित्तस्यात्मरूपं मुक्त्वावभासिनः ।
आत्मग्रहः कथं सत्यं न जानेऽहमपीदृशम् ॥ १२५७ ॥ इति ।

विभागग्रहस्य सबाधत्वादसत्यत्वेऽपि सत्यत्वमेव विपर्ययात्[4] संवित्तिमात्रग्रहस्येति चेत्; न; अर्थग्रहस्यापि सत्यत्वापत्तेः । न हि तद्ग्रहोऽपि सर्वः सबाध एव; बाधस्यैवाभावप्रसङ्गात्, सत्येव निर्बाधमरीचिग्रहे जलग्रहस्य बाधोपलम्भात् । वास्तवञ्च मरीचौ [5]तज्ज्ञानस्य निर्बाधत्वं न वासनास्थैर्यात्,

१ दर्शनादविभा–भा०, ब०, प० । २ "ग्राह्यग्राहकसंवित्तिविभागवेदनवत् ।"–ता० टि० । ३–र्थस्य संवित्तिवदिति चालक्षणात् भा०, ब०, प० । ४ "निर्बाधत्वात्"–ता० टि० । ५ मरीचिज्ञानस्य ।

एवं स्वरूपेऽपि प्रसङ्गात् । ततो मरीचिरर्थ एव । जलं तर्हि किं स्यादिति चेत् ? ग्राह्यादिविभागवन्न किञ्चिदिति ब्रूमः । ततः प्रत्यक्षादर्थसाधनोपपत्तेः स्थितमेतत्– **'अतश्च'** इत्यादि ।

यदि चायं निर्बन्धो न ततस्तत्साधनमिति तथापि तदाह–

तदभावेऽपि तद्वादस्यान्यथानुपपत्तितः । इति ।

तस्यप्रत्यक्षस्यार्थविषयस्या **भाव**स्तस्मिन्न**पि** न केवलं तद्भावे **बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यत** इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? **तद्वादस्य** तस्मिन् विज्ञाने वादः तत्साधनस्य यथा **"दर्शनोपाधिरहितस्य"** [प्र० वा० २।३३५] इत्यादि[1], तस्मिन् वा बहिरर्थे वादः तद्दूषणस्य यथा **"यथा कथञ्चित्"** [प्र० वा० २।३५३] इत्यादि, तस्य **अन्यथा** बहिरर्थसत्ताभावप्रकारेण **अनुपपत्तितो** घटनाभावात् । अयमत्र प्रयोगः–'सन्ति बहिरर्थाः साधनदूषणप्रयोगान्यथानुपपत्तेः' इति ।

अभावे सर्वथार्थस्य तद्विशेषः कथं भवेत् ।
तत्प्रयोगो यतो ज्ञानसाधनं वाऽर्थदूषणम् ॥ १२५८ ॥
व्यवहारप्रसिद्ध्या चेत्तत्प्रयोगोऽनुमन्यते ।
कः पुनर्व्यवहारार्थः ? कल्पना यदि; कल्पितात् ॥ १२५९ ॥
कुतश्चित्सिद्धिरर्थस्य बुद्धेर्वा किन्न दूषणम् ? ।
न हि कल्पनया कस्याप्यस्ति वक्तुर्दरिद्रता ॥ १२६० ॥
विपक्षमव्यवच्छिन्दंस्तत्प्रयोगस्तथा सति ।
एकान्तेन स्वपक्षस्य कथं नामास्तु साधकः ? ॥ १२६१ ॥
तत्र कल्पितरूपोऽयं परमार्थो भवन्नपि ।
बोध एवेति चेत्तस्य परार्थत्व कथं भवेत् ? ॥ १२६२ ॥

यदि [2]तत्प्रयोगः प्रतिपादकस्यैव बोधः; कथमसौ परार्थः ? परस्य ततस्तद्विषयप्रतिपत्तेरसम्भवादतिप्रसङ्गात् । प्रतिपाद्यस्यैवेति चेत्, कुतोऽसौ तस्य ? स्वत एवेति चेत्; न; प्रतिपादकस्य वैफल्यात् । तत एवेति चेत्; न; तस्याप्यप्रयोगकृतस्तदनुपपत्तेः । प्रयोगकृत इति चेत्; न; तत्प्रयोगस्यापि [3]तद्बोधत्वे परार्थत्वासम्भवात् । प्रतिपाद्यबोधत्वे तु पूर्ववत्प्रसङ्गः 'कुतोऽसौ तस्य' इत्यादिः, अनवस्था च । भवतु स्वार्थ एवायं न परार्थः परस्यैवाभावादिति चेत्; कुतस्तदभावः ? त्वयाऽनुपलम्भाच्चेत्; परेणानुपलम्भात्तवाप्यभावः । स्वयमुपलम्भात्तेति चेत्; तत एव परस्यापि न भवेत् । सतोऽपि परस्याविनेयत्वान्न तदर्थोऽयमिति चेत्; न; विनेयस्यापि लोके सम्भवात् ।

"विनेयराजहंसास्ते सन्त्येव हि जगन्मताः ।
निरस्य जडसम्पर्कं ये गृह्णन्ति [4]वचोऽमृतम् ॥" [ ]

इत्युक्तत्वात् । तन्न स्वार्थ एवायम् । स्वार्थोऽपि कुतोऽयमुत्पन्नः ? स्वशक्तित इति चेत्; न

---

१ "दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहेऽग्रहात् तद्ग्रहे ग्रहात् । दर्शनं नीलनिर्भासं नार्थो बाह्योऽस्ति केवलम् ॥"–प्र० वा० । २ साधनदूषणप्रयोग । ३ प्रतिपादकबोधत्वे । ४ वचो धृतम् आ०, ब०, प० ।

तर्हीदं सुभाषितम्–"ज्ञानवान् मृग्यते" [प्र० वा० १।३२] इति, स्वत एव बोधात् तदन्वेषणस्य वैयर्थ्यात्। ज्ञानवत एव बुद्धस्योपदेशादिति चेत्; स[1] तर्हि बहिरर्थरूप एव, बोधरूपत्वे पूर्ववद्दोषात्। साधनदूषणात्मा च स इति कथन्न तत्प्रयोगान्यथानुपपत्त्या बहिरर्थसत्तासाधनम्? अथ तत्प्रयोग एव कस्यचिन्नास्ति तत्प्रतिभासस्तु विप्रलम्भ एव स्वप्नवत् तदयमसिद्धो हेतुरिति चेत्; न; अस्यैव असिद्धतोद्भावनस्य तत्प्रयोगत्वप्राप्तेः। अयमपि नास्त्येव, एतत्प्रतिभासस्यापि विप्रलम्भत्वादिति चेत्; न; अत्रापि तथैव प्रसङ्गादनवस्थादोषाच्च। तन्न तत्प्रतिभासो विप्रलम्भः स्वरूपप्रतिभासेऽपि प्रसङ्गाच्च।

भवतु तत्त्वं विभ्रम एव बहिरन्तश्चासत एव प्रतिभासात् स्वप्नवदिति चेत्; नेदानीमसिद्धो हेतुः तत्प्रयोगत्वात्। नापि विरुद्धो बहिरर्थत्वादन्यत्र तदभावात्। न हि विभ्रमत्वे तद्भावः; विभ्रमाद्विभ्रमसिद्धेर्निषेधात्। तत एव न व्यभिचारी चेति युक्तमतो बहिरर्थसत्तासाधनम्। ततः स्थितं **'तदभावेऽपि'** इत्यादि। साम्प्रतं सौत्रान्तिकं प्रति सत्तासाधनमाह–

अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः ॥ ९ ॥ इति।

अक्षमिन्द्रियं चक्षुरादि, तदादिर्यस्य [2]भूतादेस्तस्यापि न केवलं प्रमाणादेः। **'सत्ता प्रसाध्यते'** इत्यधिकृत्याभिसम्बन्धः। कुत एतत्? तस्याक्षादेः **कार्यं** रूपादिज्ञान-कार्यविकारादिकं तस्य **व्यतिरेकः** कारणान्तरसाकल्येऽप्यभावः ततः। कार्यव्यतिरेको हि कारणव्यतिरेकं गमयत्यन्यथा तदनुपपत्तेः। यच्च गम्यमानव्यतिरेकं कारणं तदक्षादि, इत्युपपन्नं ततस्तत्साधनम्। किं तत्साधनेन प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धेः, गोलकादिकमेवाक्षादि तत एव तत्कार्यदर्शनात्, तच्च प्रत्यक्षत एव प्रतिपन्नमिति चेत्; न; तस्य[3] तद्धेतुत्वेऽविशेषेण प्रसङ्गात्। न चैवम्, सत्यपि तस्मिन्[4] कस्यचित्तदभावात्। तदपि सशक्तिकमेव कारणं नापरमिति चेत्; तर्हि कथं दृश्यं शक्तेरतीन्द्रियत्वात्? नन्वेवं न किञ्चिदपि कारणं दृश्यं स्यात् सर्वशक्तेरतीन्द्रियत्वात्, तत्कथं जलादौ तत्कार्यार्थिनः प्रवृत्तिः तच्छक्तेरपरिज्ञाने तदनुपपत्तेः? कार्याच्च तत्प्रतिपत्तौ परस्पराश्रयात्–तत्परिज्ञाने कार्यम्, ततश्च तत्परिज्ञानमिति। क्वचिदभ्यासादिसहायात् प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तौ गोलकादावपि स्यादविशेषादिति चेत्; न; जलादिवत्तत्राकारविशेषस्यानवधारणात्। यादृशो हि शक्तिमदभिमतस्याकारस्तादृशस्यैव तद्विपरीतेऽपि तस्मिन्नवलोकनात्[5]। तन्न तत्प्रतिपत्तौ प्रत्यक्षमवलम्बनं हेतोरेवावलम्बनत्वात्। न चायमसिद्धो हेतुः; [6]रूपादिकारणान्तरे तस्य प्रसिद्धत्वात् पिहितलोचनादिवत्। तत्रापि रूपादेः परिणतिविशेषव्यतिरेकादेव तद्व्यतिरेको न लोचनादिव्यतिरेकादिति चेत्; न; अपिहितलोचनादेः तत एव तत्कार्यदर्शनात्। न हि परिणतिविशेषविकलादेव कस्यचित्कार्यमपरस्य तद्व्यतिरेक इत्युपपन्नम्। अतो लोचनादिव्यतिरेकादेव तद्व्यतिरेक इति कथं न स तत्प्रतिपत्तावालम्बनम्? भवत्येवालम्बनं तत[7]स्तु नाक्षादेः सत्त्वं साधयितव्यं परकीयस्यापि तत्प्रसङ्गात्, अपि तु [8]कार्यस्यैव तदपेक्षत्वमिति चेत्; तदपि परकीयेन[9] किन्न साध्येत? आत्मीयेनैवाविनाभावादिति चेत्; न; सत्तासाधनेऽप्यस्यैव परिहारत्वात्। अपि च;

---

१ उपदेश-। २ "भूतशब्दोऽत्र व्यन्तरविशेषवाची"–ता० टि०। ३ गोलकस्य रूपादिज्ञानहेतुत्वे। ४ गोलके। ५ शक्तिशून्येऽपि गोलके। ६ रूपादि- कारणा-न्तराद्व्यतिरेकस्य प्र–आ०, ब०, प०। ७ तदस्तु आ०, ब०, प०। ८ "रूपादिज्ञानस्यैव"–ता० टि०। ९ "प्रत्यक्षेण"–ता० टि०।

अक्षादेस्तदपेक्षत्वमन्यच्चेत्तस्य सिद्धितः ।
नाक्षादिसिद्धिस्तस्यां वा कथं नातिप्रसज्यते ॥ १२६३ ॥
तत्सिद्धिरेव तत्सिद्धिरविनाभावतो यदि ।
हेतुसिद्धिर्भवेत्साध्यसिद्धिरित्यनुमा वृथा[1] ॥ १२६४ ॥
ततोऽपि तदपेक्षत्वात्[2] कार्यधर्मान्तरस्य चेत् ।
सिद्ध्या तत्सिद्धिरुच्येत प्राद्युच्यादनवस्थितिः ॥ १२६५ ॥
साक्षात्तत्साधने व्यर्थं तदपेक्षत्वसाधनम् ।
हेतोरेवोदितात्तस्य तथा साधननिर्णयात् ॥ १२६६ ॥
अक्षादेस्तदपेक्षत्वस्याभेदे भिद्यते वचः ।
तत्सत्त्वं तदपेक्षत्वमिति साध्यं न वस्तुतः ॥ १२६७ ॥

यदि तदपेक्षत्वमक्षाद्येव न तर्हि तदपेक्षं तत्कार्यमिति सामानाधिकरण्य व्यतिरेकात्, अन्यथा हेतुफलभावायोगादिति चेत्; सत्यमिदं वस्तुवृत्तेन, वचनं तु केवलमपेक्षकप्राधान्येनापेक्ष्यमेव दर्शयत् सामानाधिकरण्यमुपदर्शयति । तस्मादुपपन्नम्–अक्षादेस्तत्कार्यव्यतिरेकात् सत्त्वसाधनम् अविनाभावनिश्चयात् । एवमदृश्यस्यापि सत्तां प्रसाध्य तत्र परोक्तं दूषणं प्रत्याचक्षाण आह–

एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ।
तत्सत्ताव्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ॥१०॥ इति ।

निवारितं निराकृतम् । किम् ? **प्रत्याख्यानं** प्रतिषेधवचनम् । केषाम् ? **तत्सत्ताव्यवहाराणां** तेषामतीन्द्रियाभावादीनां सत्ता विद्यमानता तद्व्यवहाराः तन्निर्णयादिरूपास्तेषामिति । अस्ति तत्प्रत्याख्यानं बौद्धस्य "अन्येषामदृश्यानां हेतुफलभावाभावविरोधासिद्धेः" [ ] इति वचनात् । कुतस्तन्निवारितम् ? इत्याह–**अतीन्द्रिये** अदृश्ये[4] **अभावश्च कार्यकारणता** च तयोः, उपलक्षणमिदं तेन विरोधस्यापि **गतेः** प्रतिपत्तेः । केन तद्गतिः ? **एतेन** अनन्तरन्यायेन ।

तथा हि–
इन्द्रियादि हि तत्कार्यात् साधितं साधयत्यलम् ।
हेतुमन्य स्वनिष्पत्तेस्तदभावे तदत्ययात् ॥ १२६८ ॥
तयोरदृश्ययोरेव कार्यकारणतागतेः ।
न हेतुफलनिर्णीतिस्तत्रास्ति प्रतिषेधनम् ॥ १२६९ ॥
रूपज्ञानाद्यभावाच्च यदाक्षादेरभाववित् ।
अभावोऽयमदृश्यस्य कथन्नैवं प्रसिद्धिमान् ॥ १२७० ॥

---

१ "मा भूत्तदपेक्षत्वसिद्धिरेवाक्षादिसिद्धिरुक्तदोषात्, अपि तु प्राक्तनसाधनात्तदपेक्षत्व सिद्ध्यदक्षादिक साधयतीति साधनभेदात् सिद्धिभेदसिद्धेर्नोक्तदोष इति चेत् ।" –ता० टि० । २ "भवतु तदपेक्षत्वसाधनादक्षादिसिद्धिस्तदपि तत्साधयद्रूपादिकार्यगतधर्मान्तर साधयति, तद्धर्मान्तरमक्षादिक साधयतीति परम्परया तत्सिद्धेर्वा साक्षाद्वा ? न तावत्परम्परयेत्याह ।" –ता० टि० । ३–धासिद्धि–आ०, ब० । ४–श्ये भाव–आ० ब० प० ।

कार्याभावात्प्रसिद्धश्च[1] हेतुशक्तिनिषेधनम् ।
परस्याप्यनलाभावं धूमाभावेन जल्पतः ॥ १२७१ ॥
नयनादिगुणस्यास्ति दोषेणानुमितेन यत् ।
विरोधावगतिस्तस्मादहश्येऽप्यस्तु तद्गतिः ॥ १२७२ ॥
गुणवाचात्र नेत्रादिर्मिथ्याज्ञानोपलम्भनात् ।
इत्थं विरुद्धकार्योपलम्भस्याप्युपपत्तितः ॥ १२७३ ॥
अदृश्यानुपलम्भस्य संशयायैव कल्पनम् ।
[2]वर्णयन्ति कथं नाम निपुणा वस्तुनिर्णये ॥ १२७४ ॥

इदानीमतीन्द्रिये भावेत्यादिकमेव व्याचिख्यासुराह—

व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ।
कुतश्चित्सदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ॥ ११ ॥ इति ।

गम्यते बुध्यते । किम् ? सदसतोर्भावश्च विरोधश्च प्रभवश्च हेतुफलभावः **सदसद्भावविरोधप्रभवम्** । कुतः ? **कुतश्चित्** आकारविशेषादेः । कथम् ? **तथा** तेनाऽन्यथानुपपत्तिप्रकारेण । केषाम् ? **व्याधिभूतग्रहादीनाम्**, आदिशब्दात् परचैतन्यानामपि । **विप्रकर्षेऽपि** अदृश्यत्वेऽपि । तथा हि—

अदृश्यस्यापि रोगादेर्हेतुत्वं कार्यजन्मनि ।
ततोऽपि तस्य सद्भावमसद्भावं विपर्ययात् ॥ १२७५ ॥
आरोग्यादिविरोधश्च विप्रकर्षेऽपि तत्त्वतः ।
प्रतियन्तः प्रतीयन्ते निर्विवादं परीक्षकाः ॥ १२७६ ॥

यत्पुनरुक्तं धर्मोत्तरेण[3]—"न घटे पिशाचस्य भिन्नस्याभावः साध्यते यतो दृश्यानुपलब्धिः स्यादपि त्वभिन्नस्य । एतदुपलभ्यमानं रूपं न भवति पिशाच[4] इति तत्रोपलभ्यमानत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधः क्रियते पिशाचस्येति दृश्यानुपलब्धिरेव यथा घटस्य दृश्यत्वमभ्युपगम्य यद्यत्र घटः स्यात् दृश्य एव भवेत्, तथा यद्ययं पिशाचः स्यात् दृश्यः स्यादित्येवं दृश्यमानरूपत्वमभ्युपगम्य नित्यत्वं निषिध्यत इति दृश्यानुपलब्धिरेव ।" [ ] इति । तन्न; घटवच्छरीरेऽपि तस्याभिन्नस्यैव प्रतिषेधप्रसङ्गात् । न चैवम्, भिन्नस्यैव तत्र तत्कार्यानुपलब्ध्या परीक्षकैः प्रतिक्षेपात् ।

---

१ शक्तिहेतु–आ०, ब०, प० । २ द्रष्टव्यम्–प्र० वा० ४।२७७ । ३ "एवं प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वञ्च दृश्यमानात्मत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेध कृतो भवति । वस्तुनोऽप्यदृश्यस्य पिशाचादेर्यदि दृश्यघटात्मत्वनिषेध क्रियते दृश्यात्मत्वमभ्युपगम्य कर्तव्यः । यद्ययं दृश्यमानः पिशाचात्मा भवेत् पिशाचो दृष्टो भवेत् । न च दृष्टस्तस्मान्न पिशाच इति दृश्यात्मत्वाभ्युपगमपूर्वको दृश्यमाने घटादौ वस्तुनि वस्तुनोऽवस्तुनो वा दृश्यस्यादृश्यस्य च तादात्म्यनिषेधः । तथा च सति यथा घटस्य दृश्यत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधो दृश्यानुपलम्भादेव तद्वत् सर्वस्य परस्परपरिहारवतोऽन्यत्र दृश्यमाने निषेधो दृश्यानुपलम्भादेव ।" –न्या० बि० टी० पृ० ५१ । ४–च त –आ०, ब०, प० ।

अपि च, एवं परचैतन्यस्यापि शरीरादभिन्नस्यैव प्रतिषेधो न भिन्नस्येति [1]कथं मृतप्रतिपत्तिः यतो नास्त्येव अदृश्यत्वेन संशयविषयत्वात् । नित्यत्वस्यापि यदि भावादभिन्नस्यैव प्रतिषेधो भिन्नमप्रतिषिद्धं भवेत् । अस्तु कल्पितमेव तन्न वस्तुत इति चेत्; कुत एतत्? अप्रतिपत्तेश्चेत्; अस्ति तर्ह्यदृश्यानुपलब्धेरप्यभावगतिरिति न युक्तम् 'एवम्' इत्यादि ।

किञ्च, परमाणूनामपि घटेऽभिन्नानामेव प्रतिषेधः पिशाचवत्, शक्यो हि तत्रापि दृश्यत्वमभ्युपगम्य निषेधो यद्ययं परमाणुरूपः स्याद् दृश्यः स्यादिति ।

एवञ्च परमाणुभ्यो घटस्यान्यस्य सिद्धितः ।
नैयायिकमतं सुस्थमवयव्यनिराकृतेः ॥ १२७७ ॥
घटोऽणुसञ्चयात्मैव नैकः स्थूलोऽस्ति चेदसत् ।
एकश्चायं[2] ज्ञानसन्निवेशीत्येवं विनिश्चयात् ॥ १२७८ ॥
संवृत्या स न तत्त्वाच्चेत् स कथं दृश्यतां यतः ।
तदभेदात्पिशाचादेर्दृश्यत्वमुपगम्यताम् ॥ १२७९ ॥

न हि सांवृतस्य दृश्यत्वम्; दर्शनस्य वस्तुविषयत्वात्, सांवृतस्य चावस्तुत्वात् । न चाणुसञ्चयो दर्शनविषयः स्थूलस्यैकस्यैव तद्विषयत्वेनानुभवात्, 'एकश्चायं ज्ञानसन्निवेशीत्येवं विनिश्चयात्' इत्युक्तेः । ततो यदि तदभेदेन दृश्यत्वोपगमात् पिशाचे दृश्यानुपलब्धिः परमाणुष्वपीति तेषामपि तदभिन्नानां प्रतिषेधात् कथं नावयविसिद्धिः? तदभेदेनापि तत्रादृश्यत्वस्यैवोपगमे स एव पिशाचेऽपीति न तस्याभिन्नस्यापि घटादौ प्रतिषेधो दृश्यानुपलब्धेरभावात्, अन्यतश्च तदनुपगमात् । इदमेवाकलय्य देवैरन्यत्रोक्तम्—

"अदृश्यानुपलम्भादेरेकान्तेऽयं[3] न लक्षयेत् ।
पिशाचो नाहमस्मीति दृश्यादृश्याविवेकधीः ॥" [सिद्धिवि० प० ३४८] इति ।

अदृश्यानुपलम्भादेवाभिन्नस्य प्रतिषेधे भिन्नस्यापि स्यात् व्याध्यादौ तथा तत्प्रतिपत्तेः । इत्युपपन्नम्—अदृश्यानुपलम्भस्याप्यभावसाधनत्वम् । व्याधीत्यादि अन्तरश्लोकः ।

कथं पुनरनुमानात् सत्तासाधनं तस्यावस्तुविषयत्वात्? अवस्तु हि सामान्यं तस्य विषयो निदर्शनसमानस्यैव पावकादेस्तत्र प्रतिभासनात् । सामान्यस्य च विचार्यमाणस्य वस्तुत्वेनानवस्थानात् । सत्तायाश्च वस्तुरूपत्वादिति चेत्; कथमिदानीं तस्य[4] प्रामाण्यम्? वस्तुनि प्रवर्तनात्, तदपि तद्विषयस्य वस्त्वेकत्वेनाध्यवसायादिति चेत्; उच्यते—तदेकत्वं यदि वस्तुरूपमेव; सिद्धमनुमानस्य तद्विषयत्वम्[5]? अवस्तुरूपं चेत्; कथं ततोऽपि तत्र प्रवर्तनमतिप्रसङ्गात्? तस्यापि तदेकत्वेनाध्यवसायादिति चेत्; न; तत्रापि पूर्ववत्प्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च । किञ्चेदं सामान्यस्यावस्तुत्वम्? सर्वशक्तिवैकल्यम्, तच्च विचारादिति चेत्; सोऽपि[6] न तदेवानुमानम्; तेन तत्र वस्तुत्वस्यैवाध्यवसायात्, तस्यापि

१ कथममृतप्रति–आ०, ब०, प० । २ "घट"–ता० टि० । ३–मादेकैका–आ०, ब०, प० ।
४ अनुमानस्य । ५ वस्तुविषयत्वम् । ६ विचारोऽपि ।

तल्लिङ्गस्येवातल्लिङ्गस्यापि तदेकसाध्यत्वे वस्तुत्वाध्यवसायस्यैव भावात्, भिन्नसाध्येन च करणात्। न चाविषयीकृतमवस्तु वस्तु वेति शक्यमवगन्तुम्। नापि प्रत्यक्षं विचारः; तस्यापि क्षणनियतत्वेन तत्राप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा प्रमेयाभावान्नानुमानं भवेत्। नाप्यन्यत्प्रमाणम्; तद्द्वयनियमव्याघातात्। नाप्यप्रमाणम्; ततः कस्यचित्तत्त्वनिर्णयायोगात्, प्रमाणचिन्तावैफल्यात्। तन्न तस्यावस्तुत्वं कुतश्चिदपि सुनिश्चयम्। निश्चयेऽपि न तस्य वस्त्वेकत्वाध्यवसायो येन प्रवर्तकत्वात् प्रामाण्यमनुमानस्य निगदितोत्तरत्वात्।

भवतु तर्हि संवादादेव वस्तुनि तस्य प्रामाण्यम्, सोऽपि तस्मादात्मलाभादिति चेत्; स कुतोऽवगन्तव्यः? नानुमानात्; वस्तुनस्तेनावेदनात्। नापि वस्तुप्रत्यक्षेण; अनुमाने तस्याप्रवृत्तेः। न च तद्द्वयोरेकाविषयत्वे तत इदमिति प्रतिपन्नः संवादः। संवादाच्च प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गमाह—

प्रमाणमर्थे संवादाद् भ्रान्तिरध्यवसायतः। इति।

भ्रान्तिः अतस्मिंस्तद्ग्रहो मणिप्रभामणिज्ञानादिः, **प्रमाणम्**। कुतः? **अर्थे** मण्यादौ **संवादाद्** अविप्रतिसारात्। स एव कस्मात्? **अध्यवसायतः**। अध्यवसायो य एव दृष्टः स एव प्राप्तः इत्यभिप्रायः तस्मात्तत इति। प्रसिद्धश्चैतत् परस्मात्-(परस्यापि) "अविसंवादनमभिप्रायनिवेदनात्" [प्र० वा० १।३] इति वचनात्। दृष्टमेव तत्र प्रामाण्यं प्रत्यक्षत्वेन तत्कथमतिप्रसङ्ग इति चेत्? न; भ्रान्तेस्तत्त्वानुपपत्तेः। अप्रतिपन्नव्यभिचारस्य न तत्र भ्रान्तिबुद्धिरपीति चेत्; न तर्हीमं प्रत्यनुमानप्रामाण्ये तन्निदर्शनम्। भ्रान्तमपि यथेदं प्रमाणं तथानुमानमपीति भ्रान्तिविदं प्रत्येव यत्तत्र निदर्शनमिति चेत्; इतरं प्रति तन्निरपेक्षमेव यदि तत्सिद्ध्यतीति तथैव तद्विदं प्रत्यपि सिद्ध्यतीति व्यर्थमेतत् "मणिप्रदीपप्रभयोः" [प्र० वा० २।५७] इत्यादि। तद्विदं प्रत्यपि नानुमानत्वेन निदर्शनं विप्रतिपत्तिविषयत्वेन साध्यान्तःपातित्वात्, अतः प्रमाणान्तरमेव सेति कथन्नातिप्रसङ्गः? तन्न संवादादपि प्रामाण्यमनुमानस्य अपि तु वस्तुविषयत्वादेव।

यद्येवं तदेवं स्पष्टावभासित्वमपीति कथमनुमानत्वम्? लिङ्गजत्वादिति चेत्; न; तथापि परोक्षलक्षणस्यावैशद्यस्याभावेन तत्त्वानुपपत्तेः। परोक्षं च जैनस्यानुमानम्। एतदेवाह—

प्रत्यक्षाभेऽप्रसङ्गश्चेत् [तथाऽनभिनिवेशतः] ॥१२॥ इति।

प्रत्यक्षमिव स्पष्टत्वेनाभातीति **प्रत्यक्षाभमनुमानं** तस्मिन् **अप्रसङ्गः** प्रसङ्गाभावः प्रक्रमादनुमानत्वस्य। ततो वस्तुविषयत्वं तस्य ब्रुवतां तदेव निर्लुप्तमिति परस्याकूतम्। **चेदि**ति तद्द्योतने। तत्रोत्तरमाह—'**तथानभिनिवेशतः**' इति। **तथा** तेन स्पष्टप्रकारेण **अनभिनिवेशतः** अनध्यवसायात् **प्रसङ्ग** इति। प्रसङ्गाप्रसङ्गयोः संहितायां समानत्वात् पूर्वत्राप्रसङ्गस्य अत्र च प्रसङ्गस्य सम्बन्धः। न हि वस्तुविषयत्वात् तदाभत्वमपि तु अन्तरङ्गादेव कारणविशेषात्, अन्यथा दूरे क्वचिन्नरस्य दूरतरे गृध्रादेः दूरतमे च योगिनोऽवस्थितस्य एकवस्तुविषयमेकप्रतिभासमेव विज्ञानं भवेत्, न चैवम्, स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतमभेदेन तद्भावात्। न च तत्र प्रतिप्रतिभासं विषयस्य भेदः; तस्यासाधारणतया

१ बौद्धस्यापि। २ भ्रान्तिविदम्। ३ वस्तुविषयत्वमेव। ४ तत्तत्प्रतिपत्तृज्ञानविषयतया अनन्यवेद्यत्वं स्यात्, तथा च बहिरर्थलाभाव।

बहिरर्थत्वाभावप्रसङ्गात् । अन्तरङ्गात्तु तदाभत्वे नायं दोषः ; एकविषयस्यापि तद्विशेषात् प्रतिभासविशेषोपपत्तेः । एतदेवाह–

दूरदूरतरादिस्थैरेकं वस्तु समीक्ष्यते । इति ।

सुगममेतत् । कथं समीक्ष्यते ? इत्याह–

[नानाभं स्यात्तथासत्यं न चेद्वस्त्वनुरोधि किम् ? ॥१३॥]

नानाभं वैशद्यतारतम्ये नानेकप्रतिभासं वस्तुविषयत्वात् । तदाभत्वे दूषणान्तरमाह–**'स्यात्तथाऽसत्यं न'** इति । **तथा** तेन प्रत्यक्षाभप्रकारेण **असत्यम्** अविद्यमानं कामिन्यादि **न स्यात्** । अस्ति चाविद्यमानस्यापि तस्य तदाभत्वम् । परस्यापि **"अभूतानपि पश्यन्ति"** [प्र०वा० २।२८२] इति ब्रुवाणस्य प्रसिद्धत्वात् । तन्न वस्तुविषयत्वात्तदाभत्वं यतोऽनुमानेऽपि ततस्तदापत्त्या प्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इति भावः ।

कथं पुनः कामिन्यादेरसत्यत्वं ज्ञानरूपतया तस्यापि सत्यत्वात् ? 'अभूतानपि' इति वचनं बाह्यस्यापेक्षयैव । न चैवं पुरतोभावस्य विरोधः तस्य ग्राहकान्तरापेक्षत्वात्, स्वात्मनि च ग्राहके तदनुपपत्तेरिति मन्तव्यम् ; तस्यापि वेद्यवेदकभेदकल्पनादुपपत्तेः । ज्ञानात्मकत्वञ्च तस्य 'प्रतिभासमानत्वात् सुखादिवत्' इत्यनुमानात् । न च सत्यकामिन्यादिना व्यभिचारः, तस्यापि पक्षीकरणात् । ततो ज्ञानमेवास्ति न बाह्यमिति चेत् ; एतदेवाह–**'न चेद्वस्तु'** इति । नञो मध्यदीपकत्वेनात्रापि सम्बन्धात् । **न यदि वस्तु** बाह्यं प्रक्रमात् । अत्र दूषणमाह–**'अनुरोधि किम्'** इति । अनुरोधः स्वीकारः सोऽस्मिन्नस्तीत्यनुरोधि पराभिमतं ज्ञानम् । तत्किम् ? **नैव** । तथा हि–न तन्नीलमेव तस्य बाह्यस्याप्यविरोधात् । अपरोक्षत्वेन विशिष्टमिति चेत्; तदपि यदि नीलमेव कथं तदेव तेन विशिष्टं नाम ? कथं वा तद् बाह्यं न भवेत् ? अन्यदेव चेत्; तदेव ज्ञानं स्यात् न नीलम् । भवत्वसदेव तदिति चेत् , न ; प्रतिभासात् । सोऽप्यसत एवेति चेत्; न; स्वतस्तदयोगात् । ज्ञानादिति चेत्, न; **"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति"** [प्र०वा० २।३२७] इत्यस्य विरोधात् । विभ्रमादिति चेत्; न; तस्यापि विज्ञानत्वे तदयोगात् । तत्रापि विभ्रमान्तरकल्पनायामनवस्थापत्तेः । अज्ञानत्वे तु न ततः तत्प्रतिभासो विरोधात्, बहिर्भावप्रत्युज्जीवनाच्च । तन्नासत्त्वे तस्य प्रतिभासः । तदभावे ज्ञानमपि न भवेत् तस्यापि निर्भेदस्याप्रतिवेदनात् इत्युपपन्नमेतत्–**'अनुरोधि किम्'** इति । यदि तु न ज्ञानं नीलमात्रम् अपरोक्षत्वमात्रं वा तदुभयरूपत्वात्तस्येति; तदा स्वपरविषयतयापि द्वैरूप्यापत्तेः कथं बाह्यस्य सतोऽसतो वा न ततः प्रतिपत्तिः यतो **'दूर'** इत्यादि न स्यात्, **'तथा सत्यं न'** इति च सूक्तं न भवेत् । तन्न[१] वस्तुविषयत्वादेवानुमानस्य स्पष्टत्वं दूरस्थादिज्ञानानां तद्विशेषाभावप्रसङ्गात् , अवस्तुविषये च तदभावापत्तेः ।

अथवा यद्यस्पष्टावभासित्वादनुमानमवस्तुविषयं प्रत्यक्षमपि कथञ्चित्तथा भवेदित्याह–**'दूर'** इत्यादि । **दूरदूरतरयोः आदि**शब्दादासन्नासन्नतरयोस्तिष्ठन्तीति **तत्स्थास्तैः एकं** पादपादिलक्षणं **वस्तु समि**त्यविप्रतिसारेण[२] **ईक्ष्यते** दृश्यते । कथम् ? **नानाभं** दूरादावस्पष्टादित्वेन आसन्नादौ स्पष्टादित्वेनानेकप्रतिभासमेकमिति । आसन्नादिप्रतिभासमेव सत्यं नेतरदिति चेत् ; उत्तरम्–**तथा** तेन नानाभमिति प्रकारेण **सत्यम**वितथं वस्तु । यद्येवं दूरादिवदासन्नादावपि किमस्पष्टादितया तत्र दृश्यत

१ क्षयोपशमविशेषात् । २ अविसंवादितया ।

इति चेत् ? नः संसारिज्ञानस्यासकलग्राहित्वात् , अन्यथा परमाणूनां नीलादिनेव परस्य दर्शनात् न क्वचित् स्थूलप्रतिभासः स्यात् । न च तदपह्नवः, सर्वत्र तत्प्राप्तेः । अपह्नुतोऽपि [ ] देवासौ न दर्शनादिति चेत् ; न; ततोऽप्यतदाकारात्तदयोगात् । तदाकारत्वे वस्तुतः परमाणुस्वलक्षणवादव्यापत्तिः । भ्रान्त्या तस्यापि तदाकारत्वमिति चेत्; न; ततस्तद्विवेकस्य दर्शने भ्रान्तेरयोगात् । अदर्शने सर्वात्मनाप्यदर्शनप्रसङ्गात् । असकलदर्शने तु सिद्धं परमाणुविवेकस्याप्यदर्शनम् । तद्वदासन्नादावस्पष्टादेरपि । विकल्पेऽपि विकल्पान्तरादेव तत्प्रतिभासो न स्वत इति चेत् ; न ; तत्रापि पूर्ववद्दोषादनवस्थापत्तेश्च । ततो दूरमुपसरतो द्वयेतरात्मकत्वस्याशक्यपरित्यागत्वादुपपन्नं तद्वदेव क्वचिदस्पष्टेतरस्वभावत्वमपि । कथं पुनरस्पष्टस्येतरेण क्वचित्समुच्चयो बाधनस्यैवोपपत्तेर्विरोधात् ? अन्यथा चन्द्रमसि द्वित्वस्याप्येकत्वेन समुच्चयात्तदपि तात्त्विकमेवेति मिथ्याज्ञानविलोपः स्यात् , न चैवम् , अतो द्वित्ववदसत्य एवास्पष्टस्वभाव इतरेण बाधनात्; इत्यपि न सङ्गतम् ; द्वयेतरेण समुच्चयेऽपि समानत्वात् । न हि स्वलक्षणेषु विवेकः कुतश्चिदवस्थाप्यमानः स्थूलस्वभावमबाधित्वा अवस्थातुमर्हति । सत्यम्, असत्य एव स[1] इति चेत्; क्व इदानीं सत्यस्वभावः स्यात् ? नीलादिरिति चेत्; न; तस्यापि स्थूलादभेदेन प्रतिपत्तेः, तदसत्यत्वे सत्यत्वानुपपत्तेः । अन्यथा–

स एव सत्योऽसत्यश्च नीलादिरिति ते कथम् ? ।
समुच्चयप्रवादोऽयमनिष्टोऽपि प्रवर्तताम् ॥ १२८० ॥
सत्य एव स चेत्स्थूले तदभेदेन सत्यता ।
परमाणुप्रवादं ते भद्र भद्राकरोत्यलम् ॥ १२८१ ॥
असत्य एव नीलादिर्यदि प्रत्यक्षवेद्यता ।
कस्येदानीं प्रवृत्तस्य यतः स्यादीहितस्थितिः ? ॥ १२८२ ॥

एतदेव दर्शयति–न चेत् न यदि । सत्यम् , अस्पष्टादिप्रतिभासं वस्तुतत्त्वम् **अनुरोधि** स्वीकारविषयः । किम् ? न किञ्चित्, उक्तनीत्या नीलादेरप्यसत्यत्वात् ततो नीलादावसत्यस्येतरेण समावेशो वक्तव्यः, तद्वदस्पष्टस्येतरेण अविरोधात् । नीलस्येतरेण किन्न स इति चेत् ? न; तत्र लोकाभिप्रायेण बाधनस्यैव भावात् । न चैवमस्पष्टादौ तदभिप्रायः–'स एव दविष्ठतया दृष्टोऽधुना अधिष्ठितो वृक्षः' इति तद्भावात् । ननु पूर्वमन्तरङ्गनिबन्धनत्वेनावस्तुरूपत्वमस्पष्टत्वादेरुक्तम्, इदानीं तु स्वभावत्वम्, तत्कथन्न विरोध इति चेत् ? न; इदानीमपि परानुरोधादेव तद्वचनात् । परो हि बाह्यस्यासतोऽपि लोकबुद्ध्या वस्तुत्वमन्विच्छन्नस्पष्टस्याप्यन्वेष्टुमर्हति तदविशेषात् । एवमपि कथं तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं विस्पष्टज्ञानस्यैव तदुपगमादिति चेत् ? न; तस्यापि परापेक्षयैवाभिधानात् । न तावत्तज्ज्ञानमप्रमाणम् ; अविप्रतिसारात्, तल्लक्षणत्वादन्यत्रापि प्रामाण्यस्य । नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावात् । तदेव लिङ्गमिति चेत्; न; तज्जनितस्य ज्ञानान्तरस्याप्रवेदनात् । प्रवेदनेऽपि न तत्स्पष्टम्; अनुमानत्वात् । अस्पष्टमपि कथं प्रमाणम् ? साध्यं[2] प्रत्यविनाभावादिति चेत् ; न ; लिङ्गस्यैव तत्त्वप्रसङ्गात् । तज्ज्ञानजनकत्वाच्चेत् ; न : अनुमानानवस्थोपनिपातात् । तद्विषयत्वाच्चेत् ; सिद्धो नः

---

१ स्थूलस्वभाव । २ यत एव आ०, ब०, प० ।

सिद्धान्तः—प्रथमस्यापि तत एव तत्त्वोपपत्तेः । तथा च प्रत्यक्षमेव तद् गत्यन्तराभावादिति सिद्धं तस्य स्पष्टज्ञानेनैकविषयत्वम् । ततो यदुक्तम्—"**यद्यस्माद् भिन्नप्रतिभासं न तत्तेनैकविषयं यथा रूपज्ञानाद्रसादिज्ञानम्, भिन्नप्रतिभासं चानुमानं प्रत्यक्षात् ।**" [ ] इति; तन्निषिद्धम्; दूरवृक्षवेदनेन व्यभिचारात्, तस्यास्पष्टावभासित्वेन आसन्नतद्वेदनात् भिन्नप्रतिभासित्वेऽपि तदेकार्थत्वात् । एतदेव दर्शयन्नाह—

तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ।
प्रतिभासभिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ॥१४॥ इति ।

अनुमितेः अनुमानस्य **अर्थविषयत्वनिराकृतिः** वस्तुप्रतिभासवत्त्वप्रत्याख्यानम् । कुतः ? **प्रतिभासभिदायाः** प्रतिभासस्य तदाकारस्य भिदा भेदो स्पष्टतालक्षणः तस्याः । **किम्** नैव । कस्मात् ? **तस्मात्** अनन्तरोक्तात् । कस्मात् ? **एकस्यानेकतो ग्रहात्** । एकस्य पादपादेरनेकतोऽनेकेनास्पष्टास्पष्टतरादिरूपेण अनेकेन वा ज्ञानेनास्पष्टादिप्रतिभासिना ग्रहण ग्रहस्तस्मात् । एतदुक्तं भवति—दूरभूरुहादिज्ञानेन प्रतिभासभेदस्य व्यभिचारात् न ततः तन्निराकृतिरिति । यदि प्रत्यक्षैकार्थमनुमानं गृहीतग्राहित्वात् कथं प्रमाणम् ? क्षणक्षयादेरतद्विषयस्यापि ग्रहणादिति चेत्; न; [1]तस्यातद्विषयत्वे तद्विपर्ययस्य[2] तद्विषयत्वं स्यात् गत्यन्तराभावात्, तथा च सुतरामप्रामाण्यमनुमानस्य तेन[3] बाधनात्, प्रत्यक्षस्य वा [4]तत्प्राप्तं तेन बाधनात् । न चैतन्न्याय्यं तदप्रामाण्ये तस्यैवाभाव-प्रसङ्गात् [5]तत्पूर्वकत्वात् । तत्र क्षणक्षयादेरतद्विषयत्वं यतोऽपूर्वार्थत्वमनुमानस्येति चेत्; मा भूत्, तथापि नाप्रामाण्यं यथार्थत्वात् । अपूर्वार्थमेव [6]ततोऽपि प्रमाणं नापरमिति चेत्; कुत एतत् ? तत एव प्रयोजनादिति चेत्; किं तत्प्रयोजनम् ? अधिगमश्चेत्; न; तस्यानुमानेऽपि भावात् । परितोषोऽनेन व्याख्यातः । प्रवृत्तिरिति चेत्; न तर्हि स्वसंवेदनं प्रमाणम्, ततोऽपि तदभावात् । क्व चेयं प्रत्यक्षात् प्रवृत्तिः ? न क्षणे; तस्य प्रवृत्तिकालेऽनन्वयात् । नापि सन्ताने; तस्य तेनाग्रहणात् । ग्रहणेऽपि नापूर्वार्थत्वम्; पूर्वमपि तस्यान्यतोऽधिगमात् इत्यपूर्वार्थं प्रमाणयतः प्रत्यक्षमप्यप्रमाण प्राप्तम् । अर्थाधिगमात्तु प्रामाण्य नानुमानेऽपि प्रातिकूल्यमुद्घोषयति ।

किञ्च, कथञ्चिदपूर्वार्थमेवानुमानं तद्विषयस्य क्षणक्षयादेः प्रत्यक्षेणाग्रहणात्, न तावता तद्विपर्ययस्य तेन ग्रहणं तदुभयधर्मसाधारणस्य नीलादेरेव ग्रहणात् सदसत्त्वसाधारणस्येव भ्रान्त्या । न हि तया तद्विषयसत्त्वग्रहणम्; भ्रान्तित्वापत्तेः । नाप्यसत्त्वस्य वेदनम्; अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न हि तत एव तद्विषयस्यासत्त्वं प्रतिपद्यमानः तदर्थितया प्रवर्तितुमर्हति । प्रतिपद्यमानोऽपि सत्त्वसमारोपात् प्रवर्तत इति चेत्; न; [10]तस्याप्रवेदनात् । प्रवेदनेऽपि तद्विषयस्याप्यसत्त्व यदि तत एवावगम्येत स एव प्रवृत्त्यभावः । तत्रापि तत्समारोपकल्पनायामनवस्थापत्तिः । ततः सदसत्त्वसाधारणं नीलधवलादिकमेव भ्रान्तेर्विषयः तद्वत् प्रत्यक्षस्यापि क्षणभङ्गतद्विपर्ययसाधारणमिति

---

१ क्षणक्षयादे प्रत्यक्षाविषयत्वे । २ नित्यत्वादे । ३ नित्यत्वादिग्राहिणा प्रत्यक्षेण । ४ अप्रामाण्यम् । ५ क्षणिकत्वादिग्राहिणाऽनुमानेन । ६ प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । ७ यथार्थत्वादपि । ८ प्रवृत्त्यभावात् । ९ नित्यत्वादे । १० सत्त्वसमारोपस्य ।

कथं तदधिगतार्थमनुमानं यतः प्रामाण्यं न भवेत् ? असाध्यविषयत्वे प्रत्यक्षस्य कथं ततो ग्रहणमिति चेत् ? न; विपक्षे बाधकसामर्थ्यादेव तद्ग्रहणात् । साध्यविषयत्वे तु तस्य किमर्थमनुमानम् ? समारोपव्यवच्छेदार्थमिति चेत्; तदभावे किं न भवेत्ततो विषयपरिज्ञानमिति चेत्; व्याप्तिवेदनं कथम् ? तदपि तद्व्यवच्छेदादेवेति चेत्; न; चक्रकात्–सति तद्व्यवच्छेदे तद्वेदनम्, ततोऽनुमानम्, ततस्तद्व्यवच्छेद इति । ततो नीलादेः प्रत्यक्षावगतस्यैव क्षणभङ्गादिविशिष्टतया अनुमानतो निर्णयादुपपन्नं तस्य तदेकार्थत्वमपूर्वार्थत्वञ्चेति वस्तुविषयमेवानुमानम् । कथमेतत् ? कथं च न स्यात् ? सम्बन्धापरिज्ञानात् । तथा हि–न साध्यसाधनयोरपरिज्ञाने सम्बन्धपरिज्ञानम्; तस्य तत्पूर्वकत्वात् । परिज्ञानेऽपि न निर्विकल्पेन तत्परिज्ञानम्; 'इदमत्र प्रतिबद्धम्' इत्यपरामर्शात् । नापि तज्जन्मना विकल्पेन; तत्काले साध्यसाधनयोस्तद्दर्शनस्य च व्यपगमात् । विकल्पोपनीतयोस्तत्परिज्ञाने कथं वस्तुगतः सम्बन्धः, तदुपनीतयोरवस्तुत्वात् ? भवदपि तत्परिज्ञानं न सामस्त्येन; साध्यसाधनवस्तूनामानन्त्यात् अनन्तेनापि कालेन तदसम्भवात् । नाप्येकदेशेन; फलाभावात् । अनुमानं हि तत्फलम्, न च यत्रैव तत्परिज्ञानं तत्रैवानुमानं सम्बन्धज्ञानादेव साध्यसिद्धेः । नाप्यन्यत्र; तत्र तत्साधनादेरभावात्, अन्यतश्च तदनुपपत्तेः । सम्बन्धप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य च प्रकारान्तरस्याभावादिति चेत्; किमिदानीमनुमानमेव नेच्छेत् ? तथा चेत्; न कुतश्चिदभिमतसिद्धिः । निवेदितञ्चैतत् । इच्छतोऽपि तदवस्तुविषयमेवेति चेत्; न; अवस्तुन्यपि सम्बन्धापरिज्ञाने तदनुपपत्तेः । तत्परिज्ञानस्य चोक्तनीत्या तत्राप्यसम्भवात् । किमर्थं वा तदनुमानम् ? व्यवहारार्थमिति चेत्; न; व्यवहारस्यावस्तुन्यसम्भवात् मरीचिकातोयादिवत् । वस्तुन्येवासौ तत्रानुमानस्य प्रतिबन्धादिति चेत्; न; तत्परिज्ञानेऽपि पूर्ववद्दोषात् । न दोषः, देशकालादिविशेषपरामर्शमन्तरेणापि 'ईदृशमीदृशप्रतिबद्धम्' इति कुतश्चित्प्रतिपत्तेः । नापि वैकल्यमनुमानस्य पुनस्तादृशादेव विशेषाल्लिङ्गात्लिङ्गाल्लिङ्गिविशेषस्य प्रतिपत्तेरिति चेत्; सिद्धं तर्हि वस्तुन्येव प्रतिबन्धपरिज्ञानमनुमानस्य च साफल्यम् । एतदेवाह–

समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तितः ।
तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ॥ १५॥ इति ।

समानः सदृशः स चासौ **परिणाम**श्च विवर्तः स एव**आत्मा** स्वभावस्तेन **सम्बन्ध**स्याविनाभावस्य **प्रतिपत्तितः** परिज्ञानात् । [3]कयोस्तत्प्रतिपत्तितः ? इत्याह–**लिङ्गलिङ्गिनोः** लिङ्गस्य धूमादेः लिङ्गिनश्च पावकादेः । ततः किम् ? इत्याह–**तत्र** तस्यां प्रतिपत्तौ **तत्रा**नुमाने चा**शक्तिश्च फलाभावश्च न स्यातां** न भवेताम् । **समान**ग्रहणेनात्यन्तवैलक्षण्यं स्वलक्षणानां प्रत्युक्तम्, तथाविधानां तेषामप्रतिपत्तेः । निरूपितं चैतत् । **परिणाम**ग्रहणेन समानाकारस्य कौटस्थ्यम्[4]; तस्याप्यपरिज्ञानाद्वैफल्याच्च । तत्र सम्बन्धप्रतिपत्तिः फलमिति चेत्; न; तस्यैवानुमानविषयत्वप्रसङ्गात्, तथा च कथं विशेषे ततः प्रवृत्तिः ? तस्य तत्र सम्बन्धादिति चेत्; लिङ्गस्यैव तत्र किन्न स्यात् तत्परिज्ञानाशक्तेरन्यत्रापि तुल्यत्वात् । प्रवृत्तिरपि सामान्य एवेति चेत्; न;

१–नुमानस्य ता० । २–पात्तिर्लिंगात्लार्लिंगा– आ०, ब०, प० । ३ तयो–आ०, ब०, प० ।
४ "प्रत्युक्तमिति प्रागुक्तमत्रापि सम्बन्धनीयम् ।"–ता० टि० । ५ सामान्ये । ६ सामान्यस्य । ७ विशेषे ।

विशेषकल्पनावैफल्यानुषङ्गात् । **आत्मपदेन** च तत्परिणामस्य कल्पितत्वम्[2] ; कल्पितस्य वस्तुस्वभावत्वानुपपत्तेः, कल्पनानुपपत्तेश्च । तथा हि—

कल्पना सदृशाकारा न चेत्तत्कल्पनं कथम् ?।
वस्तुतः सदृशाकारा सा चेद्वस्तु न किं तथा ?॥१२८३॥
यदि कल्पनयैवासौ तदाकारा तदा कथम् ।
अनवस्थानदोषोऽयमनुषङ्गी निषिध्यताम् ? ॥१२८४॥
ततो दूरं गतेनापि सादृश्यं कल्पनागतम् ।
वस्त्वेव प्रतिपत्तव्यं तथा वस्तुषु धीमता ॥१२८५॥

तेन **सम्बन्ध** इत्यनेनाप्यात्मान्तरेण[3] सम्बन्धव्याख्यानम्[4] ; न हि सम्बन्धस्यात्मान्तरमन्यत्र सन्धिरूपात् । संयोगादिरात्मान्तरमेवेति चेत् ; सोऽपि कथं तदन्तरम् ? पावकादौ सम्बन्धप्रत्ययजननादिति चेत् ; तदपि सर्वत्र कस्मान्न भवति ? तस्य तत्रासम्बन्धादिति चेत् ; पावकादावपि न भवेत् तदविशेषात् । तत्र सम्बध्यत इति चेत् ; यदि स्वतः ; पावकादिरपि धूमादिना तथैव सम्बध्येतेति पर्याप्तं संयोगादिपरिकल्पनया । तस्य सम्बन्धत्वादुपपन्नः स्वतः सम्बन्धो न पावकादेर्विपर्ययादिति चेत् ; तदेव कुतः ? स्वतः सम्बन्धादिति चेत् ; सोऽपि कस्मात् ? सम्बन्धत्वाच्चेत् ; न ; परस्पराश्रयात् । सम्बन्धत्वं तथा प्रतीतेरिति चेत् ; नन्वियमेव तत्र दुर्लभा पावकादिव्यतिरेकेण तस्यैवाप्रतिपत्तेः । यदि न तत्प्रतिपत्तिर्न कश्चित्सम्बन्ध इति कथं 'सम्बन्धी पावकादिः' इति प्रत्ययः ? विशिष्टप्रत्ययस्यासति विशेषणेऽनुपपत्तेरिति चेत् ; न ; स्वयं तथा तस्य परिणामादेव तदुपपत्तेः 'सम्बन्धः संयोगादिः'[5] इति प्रत्ययवत् । न हि तत्र व्यतिरिक्तं सम्बन्धत्वमस्ति, तस्य द्रव्यादावनन्तर्भावेन सप्तमपदार्थत्वप्रसङ्गात् । न हि तद्विलक्षणं तत्रान्तर्भवति तदा पदार्थभेदाभावापत्तेः । तन्न स्वतस्तस्य तत्र सम्बन्धः । नापि तदन्तरेण ; तत्कल्पनायामनवस्थादोषात् । नायं दोषः ; समवायस्य तदन्तरत्वात्, तस्य चानाश्रितत्वेन तदन्तरनिरपेक्षत्वात् । न चैवं तस्यासम्बन्धत्वम् ; सम्बन्धबुद्धिकरणात् सम्बन्धत्वोपपत्तेः । न च पारतन्त्र्यात्सम्बन्धत्वं तद्बुद्धिकरणं वा ; द्रव्यगुणादावपि तत्प्रसङ्गात् । ततः स्वाभाव्यादेव तस्य तत्त्वं तत्करणञ्चेति किं पारतन्त्रेण यतोऽनवस्थानमिति चेत् ? उच्यते—

समवायस्य नित्यत्वव्यापकत्वोपकल्पनात् ।
एकत्र वृत्तः संयोगः सर्वत्रापि ततो भवेत् ॥ १२८६ ॥
न हि तत्रापि तद्भावे तस्मादन्यन्निबन्धनम् ।
[6]स चेत्सर्वत्र सर्वत्र संयोगोऽपि नियोगतः ॥ १२८७ ॥
ततोऽग्नाविव संयोग धूमोऽन्यत्राप्युपव्रजन् ।
व्यभिचारात्कथं नाम पावकस्यानुमापकः ॥ १२८८ ॥

१–पविक–आ०, ब०, प० । २ "प्रत्युक्तमिति सम्बन्ध"–ता० टि० । ३ स्वरूपान्तरेण । ४ प्रत्युक्तमिति सम्बन्ध । ५ सयोगादिति प्र–ता० । ६ न चेत्स–आ०, ब०, प० ।

न च स्वभावनानात्वं समवायस्य यद्बलात् ।
विषयेषु नियामोऽयं संयोगस्य प्रकल्प्यताम् ॥१२८९॥
तन्नानात्वादभेदश्चेत् समवायोऽपि भिद्यते ।
तथा च "तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्" इति[1] दुष्यति ॥१२९०॥
भेदश्चेत् तत्कथं तस्य तत्र चेत्समवायतः ।
तस्याप्येकस्वभावत्वे ततस्तन्नियमः कथम् ? ॥१२९१॥
तत्र स्वभावनानात्वे दोषः पूर्वोऽभिलक्ष्यताम् ।
समवायान्तराक्षेपस्त्वाक्षिपत्यनवस्थितिम् ॥१२९२॥
कथञ्चिदेवाभेदश्चेत्स्वभावसमवाययोः ।
सम्बन्धतद्बद्रूपः स्यादेको भावस्तथा न किम् ? ॥१२९३॥
यतः सम्बन्धिनोऽन्यस्य सम्बन्धस्य प्रकल्पना ।
प्रेक्षावत्ताविलोपाय भवतो नावकल्पते ॥१२९४॥

तन्नापरः संयोगादिः सम्बन्धः । नाप्युपकार्योपकारकभावादिः;[2] तस्यापि भावादर्थान्तरत्वे कुतः स तस्येति व्यपदेशः ? सम्बन्धादुपकार्योपकारकभावादेरिति चेत्; न; तत्रापि तथैव प्रसङ्गादनवस्थोपनिपाताच्च । ततः स्थितम्–'**समान**' इत्यादि ।

'**प्रतिपत्तितः**' इत्यनेन तदात्मनः सम्बन्धस्य निरवद्यसंवेदनविषयतामवद्योतन् स्वमनीषिकया तत्कल्पनं परिहरति । प्रतिपादिता च तत्प्रतिपत्तिर्बहुशः पूर्वमिति नेदानीं प्रतन्यते । ननु यथा धूमस्य तदन्तरसदृशस्य पावकसम्बन्धः तथा मशकवर्तेरपि, पावकस्यापि यथा तादृशस्य धूमप्रतिबन्धस्तथा मणिविशेषादेरपीति मशकवर्तेः पावकस्य धूमाच्च मण्यादेरनुमानमापद्यत इति चेत्; एवमेतद्, यदि समानपरिणाममात्रेण तद्भावः । न चैवम्; तद्विशेषेण तदुपकल्पनात्, तस्य च धूमपावकभेदेष्वेव भावात् न मशकादिभेदेषु । कथं पुनस्तत्परिणामो विशिष्टश्चाविशिष्टश्चेति चेत् ? कथ सामान्यं तादृशं यतो यथोक्तदोषस्तत्रापि न भवेत् ? तथा प्रतीतेरिति समानमन्यत्र । नन्वेवं सामान्यस्यैव समानपरिणाम इति शब्दान्तरमिति चेत्; न; प्रतिव्यक्तिपर्यवसितस्यैव परिणतिविशेषस्य तेन[3]ाभिधानात्, सामान्यस्य तद्विपरीतत्वात् ।

भवतु तत्परिणाम एव सामान्यम्, तस्य तु व्यक्तिभ्यो भेद एवेति योगाः । अभेद एवेति साङ्ख्याः । तत्राह–

न भेदोऽभेदरूपत्वान्नाभेदो भेदरूपतः । इति ।

न भेदो न व्यतिरेकः तत्परिणामस्य विशेषेभ्य । कुत एव तद् (एतद्)? **अभेदरूपत्वात्** अभेदस्तस्य तैस्तादात्म्यं रूपं यस्य तस्य भावात् **अभेदरूपत्वात्** । एतदपि कुत इति चेत् ? तथा प्रतीतेरेव । तथा च वक्ष्यति–'**तथासंवित्तिसम्भवात्**' इति । संवेद्यते हि तत्परिणामस्य तदभेदरूपत्वं 'सदृशो देवदत्तः' इति देवदत्तविशेषसामानाधिकरण्येन तस्य संवित्तेः ।

---

१ वैशे० सू० ७।२।२८ २ –दि व–आ० । ३ समानपरिणामशब्देन ।

न हि सामानाधिकरण्यमन्यदभेदरूपत्वात् । समवायरूपमेव तत्राभेदरूपत्वमिति चेत् ; न : 'समवायः सम्बन्धः' इत्यादावभेदरूपतयैव भवतोऽपि तत्प्रसिद्धेः । **नाभेदो** नाप्येकान्तेन तस्य तैस्तादात्म्यम् । कुत एतत् ? **भेदरूपः [पतः]** तस्य तद्व्यतिरेकस्वभावत्वात् । एतदपि तथाप्रतीतेरेव । किं पुनर्भेदस्याभेदस्य च पृथक्प्रतिपत्तिरस्ति ? तथा चेत्; न; "न पश्यामः क्वचित् किञ्चित्" [सिद्धिवि० पृ० १२१] इत्यादेर्विरोधात्, तद्विषययोरन्योन्यासम्पृक्तयोरेव सिद्धिप्रसङ्गाच्च । न हि तत्प्रतीत्योरन्योन्यविषयासंस्पर्शे तत्संसर्गकल्पनमुपपन्नं प्रतीतिनिबन्धनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः । तयोस्तत्संस्पर्शे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तिरेवास्ति नाभेदप्रतिपत्तिः भेदप्रतिपत्तिर्वा पृथगिति चेत् ; सत्यमिदम् ; प्रमाणतो भेदाभेदप्रतिपत्तेरेव भावात्, भावस्य च ततो भेदाभेदात्मन एव प्रसिद्धेः न पृथग्भेदात्मनो नाप्यभेदात्मनश्च, किन्तु तत एव जात्यन्तरप्रतिपत्तेरपोद्धारपरिकल्पनया भेदस्येतरस्य च पृथक् प्रतिपत्तिमवस्थाप्य तद्विषयसद्भावः तदपरैकान्तप्रतिषेधे हेतुरुक्तः । तत एवाह–

सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ॥१६॥ इति ।

सामान्यं च चशब्दात् तत्प्रतिपत्तिश्च । **विशेषाश्च** चशब्दात्तत्प्रतिपत्तिश्च । तस्माज्जात्यन्तरात् तस्यास्तत्प्रतिपत्तेश्च **अपोद्धारो** निष्कर्षणं भेदस्य तत्प्रतिपत्तेश्चाभेदस्य तत्प्रतिपत्तेश्च तस्य **कल्पन**मभिप्रायाधिरोहणम्, तस्मात् 'व्यवस्थाप्यन्ते' इति शेषः । यदि पुनः सदृशपरिणामः सामान्यं तर्हि भेदेन भवितव्यं तस्य तन्निष्ठत्वेन इतरत्रासम्भवात् । न चायं सम्भवति; अभेदस्यैव सर्वभावेषु "सदेव सौम्येदम्" [छान्दो० ६।२।१] इति, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [छान्दो० ३।१४।१] इति, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" [छान्दो० ६।८।७] इति चाम्नायात् प्रतिपत्तेः । भेदप्रतिपत्तेश्चाविद्योपरचितत्वेन गन्धर्वनगरादिप्रतिपत्तिवत् भ्रान्तत्वादिति [1]कश्चित् । भेद एव भावानां तात्त्विको न कथञ्चिदप्यनुगमः तत्प्रतिपत्तेरारोपितविषयत्वेन वितथा(थ)त्वादित्यपरः[2] । तत्रोत्तरमाह–

संसर्गो नास्ति विश्लेषाद्विश्लेषोऽपि न केवलः ।
संसर्गात्सर्वभावानां तथा संवित्तिसम्भवात् ॥१७॥ इति ।

संसर्गः ऐक्यापत्तिरात्मापरनामा । केषाम् ? **सर्वभावानाम्** सर्वेषां चेतनेतरात्मनां भावानां पदार्थानाम् । स किम् ? **नास्ति** न विद्यते । कुतः ? **विश्लेषात्** व्यावृत्तेः विभ्रमापरनाम्नः संसारादिति गम्यते, विश्लेषस्य विश्लेष्याविनाभावात्, अन्यस्य विश्लेष्यस्य तत्रासम्भवात् । संसर्गे हि [3]भावानामात्मनो विभ्रमेणापि तद्भावाद्विभ्रम एव स्यान्नात्मवाद आत्मना वा तस्य तद्भावादात्मैव न विभ्रमवादः । तदनभ्युपगमे च निर्विषयमेतत् "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [ऋग्० ४।७।३३] इति । "एकधा[4]नेकधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" [ब्रह्मबि० १२] इति च । विभ्रमादन्यस्य तद्विषयस्याभावात् । तस्मादस्ति विभ्रमो विश्लिष्टश्चात्मन इति वक्तव्यम् । अविश्लेषे तस्य संसारित्वापत्तेः नित्यमुक्तत्वप्रतिज्ञाव्याघातो विभ्रमरूपत्वात् संसारस्य । भवतु संसारस्य तस्मादविश्लेषः तथापि न तत्प्रतिज्ञाव्याघातः, आत्मनस्तस्माद्विश्लेषस्यैव भावादिति चेत् ; न ; अविश्लिष्टा-

---

१ ब्रह्मवादी । २ बौद्ध । ३ भावानाम– आ०, ब०, प० । ४ –धानेक– आ०, ब०, प० ।

दविश्लेषस्यैवोपपत्तेस्तस्य द्विष्ठत्वात् । कथमिदानीं [1]रुचकादेः सुवर्णादविश्लेषेऽपि सुवर्णस्य ततो विश्लेषः अन्यथा रुचकाद्यपक्रमे तस्याप्यपक्रमप्राप्तिः, न चैवम् ;[2] असत्यपि तस्मिन् तद . चेत् ; रुचकादेरपि कथमवस्थायिनः सुवर्णादविश्लेषेऽनवस्थायित्वं विरोधादिति न किञ्चिदेतत् ।

स्याद्याकूतम्–वस्तुन्ययं भवति विकल्पः संश्लेषो विश्लेष इति[3] च । न च विभ्रमस्य वस्तुत्वम् , तत्त्वविरोधात् , अतस्तत्र सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव संश्लेषविश्लेषाभ्यामनिर्वचनीयत्वमेव तत्त्वमिति; तदपि दुराकूतमेव; नित्यमुक्तिप्रतिज्ञाव्याघातस्य तदवस्थत्वात् । तथा हि–

निश्चिते सति विश्लेषे नित्यमुक्तत्वसम्भवः ।
ताद्रूप्यात्तस्य विश्लेषावाच्यत्वे स कथं भवेत् ॥१२९५॥
आत्मविभ्रमयोस्तस्माद्विश्लेषं वक्तुमर्हसि ।
तथा चेदन्यभावानामप्यसौ किन्न कथ्यते ? ॥१२९६॥
कुतोऽसाविति चेदात्मभ्रमयोरप्यसौ कुतः ।
तथासंवित्तिभावाच्चेदन्यत्रापि स दृश्यते ॥१२९७॥

तदाह–'**तथासंवित्तिसम्भवात्**' इति । **तथा** तेन विश्लेषप्रकारेण सर्वभावानां **संवित्तेः** सम्यग्बुद्धेः **सम्भवात्** विश्लेषो विश्लेषाच्च संसर्गो नास्तीति संग्रहणेन तत्संवित्तेरविद्योपरचितत्वं प्रत्याख्यातम् ; तद्रचितत्वे सम्यक्त्वानुपपत्तेः । समीचीना च तत्संवित्तिः बाधकाभावात् । 'भ्रान्ता तत्संवित्तिः भेदविषयत्वात् मायातोयादिसंवित्तिवत्' इत्यनुमानं बाधकमिति चेत् ; न; तस्य विभ्रमात्मभेदसंवित्त्या व्यभिचारात् । ततः स्थितम्–'**संसर्गो नास्ति**' इति ।

तथा **विश्लेषोऽपि न केवलः** संसर्गरहितः । कुतः ? **संसर्गात्** समाश्लेषात् **सर्वभावानाम्** । तदपि कुतः ? **तथा संवित्तिसम्भवात्** । **तथा** तेन संसर्गप्रकारेण **संवित्तेः** गौरयम् गौरयमित्यनुगमवत्या बुद्धेः **सम्भवात्** । संसर्गश्चात्र न मिश्रीभावो मतान्तरसिद्धिप्रसङ्गात्, अपि तु सदृशपरिणामः तस्यैवोक्तसंवित्तौ प्रत्यवभासनात्, संसर्गशब्देन च तदभिधानोपपत्तेः सम सर्गः संसर्ग इति । न च तत्संवित्तेर्विभ्रमत्वं विश्लेषसंवित्तावपि तत्प्रसङ्गात् , बाधकाभावस्योभयत्रापि समानत्वादिति । एतावन्तरश्लोकौ, 'समानपरिणाम' इत्यादेराभ्यां व्याख्यानात् ।

कुतः पुनः समानपरिणाम एव सामान्यमभिमतं न नैयायिकादिकल्पितमेवेति ? अत्राह–

तद्व्याप्तिव्यतिरेकाभ्यां मतं सामान्यदूषणम् । इति ।

तत् अनन्तरोक्तं सामान्यं **मतम्** इष्टं जैनस्य । कुतः ? सामान्यस्यान्यकल्पितस्य दूषणं **सामान्यदूषणं** यत इति । तदपि कुतः ? व्याप्तिश्च सामान्यस्य स्वव्यक्तिवत् व्यक्त्यन्तरेष्वपि भावः, व्यतिरेकश्च स्वव्यक्तिष्वेव भावस्ताभ्यां **व्याप्तिव्यतिरेकाभ्याम्** । तथा हि–यदि सामान्यं व्यापि; खण्डादिवत् कर्कादावपि गोत्वस्य भावाद् वाहादयर्थी तत्रापि किन्न प्रवर्तेत ? तत्र तस्यानुपलम्भादिति चेत् ; खण्डादावुपलम्भः कुतः ? तत्र तस्य तत्करणशक्तेरिति चेत् ; कर्कादावपि स्यात् ।

1 "रुचक मङ्गलद्रव्ये ग्रीवाभरणदन्तयोरिति विश्वप्रकाशिका ।" –ता० टि० । 2–वं स–आ०, ब०, प० । 3 इति वचनवि–आ०, ब०, प० ।

न हि तस्यैव क्वचिच्छक्तिरशक्तिरन्यत्रेत्युपपन्नम् भेदापत्तेः । शक्तिः क्वचिदन्यत्राशक्तिर्नापरेति चेत्; न; विधिनिषेधयोरभेदस्यानभिमतस्य प्रसङ्गात् । ततः क्वचिच्छक्तावन्यत्रापि शक्तिरेव, अशक्तौ न क्वचिदपि शक्तिरित्येकान्तः । तत एवोक्तम्–

"आत्मनि ज्ञानजनने यच्छक्तं शक्तमेव तत् ।
अथाशक्तं कदाचिच्चेदशक्तं सर्वदैव तत् ॥" [प्र० वा० २।२१] इति ।

शक्तमपि सहकार्यभावान्न कर्कादौ तदुपलम्भं जनयतीति चेत्; खण्डादौ कः सहकारी? स एव खण्डादिरिति चेत्; कुत एतत्? तत्र तस्य समवायात्; कर्कादिरपि स्यात्तदविशेषात्[1] । शक्तस्य न च तदपेक्षणं सहकारिणोऽपि तत्प्रसङ्गात् अनवस्थापत्तेः । गोत्व (त्वं) तत्सहकारिसमुदायस्यैव शक्तिर्न पृथगिति चेत्, पृथक्तर्हि गोत्वमवस्त्वेव स्यादशक्तत्वात् । तत्र व्याप्तौ त[2]स्य क्वचिदुपलम्भोऽन्यत्रानुपलम्भश्चोपपन्नः । तथा तस्य कालव्याप्तौ आश्रये असतीव प्रध्वस्तेऽपि तस्मिन्नुपलम्भः स्यात् तज्जननस्वभावत्वात् । आश्रयं तस्य सहकारी, तदभावान्नेति चेत; न; तदभावेऽपि तस्य तत्स्वभावत्वाप्रच्युतेः अनित्यत्वप्रसङ्गात् । अत एवोक्तम्–

"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः ॥" [प्र० वा० २।२२] इति ।

शक्तिरपि तस्य सहकार्येव नापर इति चेत; न, तस्य सामान्यादिव व्योमकुसुमादपि कार्यप्रसङ्गात्, स्वतः शक्त्यभावेनासत्त्वस्य तद्व[3]त्सामान्येऽपि सहकारिशक्तिकृतस्य च सत्त्वस्य सामान्यवत्त[4]त्राप्यनिवारणात् । तन्न व्यापि सामान्यम् ।

एतेन मीमांसकोऽपि सर्वगतसामान्यवादी प्रत्युक्तः । स्यान्मतम्–न तत्सामान्यस्य सर्वगतत्वेऽपि सर्वत्रोपलम्भः सर्वत्र तदभिव्यक्तावशक्तेः । खण्डादौ भवत्युपलम्भस्तस्य तच्छक्तिभावात्, तस्य च कार्यादेव तदुपलम्भादवगतेः । कर्कादावपि किन्न तच्छक्तिरित्यपि न पर्यनुयोगः, 'दाहशक्तिर्दहनवदाकाशेऽपि किन्न स्यात्' इत्यपि तत्प्रसङ्गात् । न चैकस्योपलम्भेतरात्मकत्वं विरुद्धम्; उभयात्मकत्वाद्वस्तुन इति । तत्रोच्यते–

सामान्यरूपा शक्तिश्चेत्तदभिव्यक्तिकारणम् ।
तस्याः सर्वत्र सद्भावात्तद्व्यक्तिः सर्वतो भवेत् ॥१२९८॥
शक्तेरपि च तद्व्यक्तिर्व्यक्ताया एव नान्यतः ।
तद्व्यक्तिरपि खण्डादावेव नान्यत्र चेत्तदा ॥१२९९॥
शक्तौ तद्व्यक्तिकारिण्यां प्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत् ।
पुनस्तद्व्यक्तिचिन्तायामापतत्यनवस्थितिः ॥१३००॥
विशेषात्मापि शक्तिश्चेन्न समा खण्डमुण्डयोः ।
मुण्डात्कर्कादिव व्यक्तिर्गोत्वस्येह कथं भवेत्? ॥१३०१॥

१ समवायाविशेषात् । २ गोत्वस्य । ३ व्योमकुसुमवत् । ४ व्योमकुसुमेऽपि ।

शक्तिसाम्यं च सामान्यात्कुतश्चित्कल्प्यते यदि ।
तस्य सर्वत्र सद्भावात्समाः स्युः सर्वशक्तयः ॥१३०२॥
व्यक्तं तत्साम्यहेतुस्तद्व्यक्तिश्च समशक्तितः ।
यदि तत्साम्यचिन्तायामन्या स्यादनवस्थितिः ॥१३०३॥
स्वत एव समत्वञ्चेच्छक्तीनामवकल्प्यते ।
भावानामपि तद्वत्स्याद् वृथा सामान्यकल्पनम् ॥१३०४॥
गौरयं गौरयं चेति कथमन्वयिनी मतिः ।
सामान्यं यदि नास्त्येव गोत्वलक्षणमन्वितम् ? ॥१३०५॥
इत्यप्यचोद्यमेवेदं समानपरिणामिषु ।
तथासङ्केतसामर्थ्यात्तन्मतेरनुपद्रवात् ॥१३०६॥
इयं शक्तिरियं शक्तिरित्यप्यन्वयिनी मतिः ।
शक्तिष्वपि कथन्नाम सामान्यविरहोऽन्यथा ॥१३०७॥

तत्र मीमांसकस्यापि सर्वगतं सामान्यमुपपन्नम् । ततो निराकृतमेतत्—

"यद्वा सर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः ।
शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका ॥
तेन यत्रैव दृश्येत व्यक्तिः शक्ता तदेव तु ।
तेनैव च न सर्वासु व्यक्तिष्वेतत्प्रतीयते ॥
भिन्नत्वेऽपि हि कासाञ्चिच्छक्तिः काश्चिदशक्तिकाः ।
न च पर्यनुयोगोऽस्ति वस्तुशक्तेः कदाचन ॥
अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ।"
[मी० श्लो० आकृ० २६–२९] इति ।

सत्येव सामान्ये वक्तुमेवमुचितत्वात् । अपि च,

सर्वत्र विद्यमानत्वाद् ब्राह्मणत्वस्य गोत्ववत् ।
शूद्रस्याप्यधिकारित्वं किन्न यज्ञादिकर्मसु ॥१३०८॥
तद्व्यक्तावेव तत्त्वं स्यान्न च शूद्रेऽस्ति सा यदि ।
कौण्डिन्यादावपि व्यक्तिर्नाकृत्या तस्य विद्यते ॥१३०९॥
आकृत्या तदभिव्यक्तौ गोत्ववत्संशयः कथम् ?
यतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थमुपायान्तरमिष्यते ॥१३१०॥
तदन्तराच्च सामान्यरूपात्तत्प्रतिवेदने ।
शूद्रेऽपि तत्परिज्ञानं किन्न सर्वगतात्ततः ॥१३११॥
तस्याप्यवित्तेराकृत्या यदि सामान्यरूपतः ।
उपायान्तरतो वित्तिरनवस्था प्रवर्तते ॥१३१२॥

तदन्तरं क्रियारूप यद्यन्योन्यसमाश्रयः ।
तदन्तरेण तद्वित्तेस्तद्वित्तेश्च तदन्तरात् ॥१३१३॥
ब्राह्मणत्वपरिज्ञानं सम्प्रदायात्कचिद्यदि ।
शूद्रेऽपि किन्न भट्टस्य सम्प्रदायात्तदिष्यते ॥१३१४॥
शूद्रत्वस्यापि कौण्डिन्ये गतेस्तत्सम्प्रदायतः ।
तस्यापि नाधिकारः स्यात्तत्कर्मस्वन्यशूद्रवत् ॥१३१५॥

तत्र व्याप्तिः सामान्यस्य ।

भवतु व्यतिरेक एव स्वव्यक्तिष्वेव वर्तनात् न तदभावे नापि तदन्तरेष्विति चेत्; तर्हि व्यक्तीनां विनाशे चोत्पादे च कस्तस्य विधिः ? न विनाशोत्पादौ; नित्यत्वात्, व्यक्तिरहिते च तदभावे[1] कथं तद्देशजन्मनि[2] तद्भावः ? तस्य तत्र पूर्वमभावात्, व्यक्त्यन्तराच्चातदात्मनोऽनागमनात् । तदुक्तम्—

"सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः ।
अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ?"

[आप्तमी० श्लो० ६५] इति ।

तत्र व्यतिरेकेऽपि सामान्यमुपपन्नम् । ततो निषिद्धमेतदपि—

"व्यक्तिष्वेव हि सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः ।
न ह्याकाशवदिच्छन्ति सामान्यं नाम किञ्चन ॥"

[मी० श्लो० आकृ० श्लो० २५] इति ।

यस्य तु मतं स्वाश्रयादपि तद्व्यतिरिक्तमिति; तत्र कथं तस्य ? तेनोपकाराद्राजपुरुषवदिति चेत्; न; उपकारस्याव्यतिरिक्तस्यासम्भवात्, तस्य कौटस्थ्येनानाधेयातिशयत्वात् । व्यतिरिक्तश्च कथं तस्य ? ततोऽप्युपकारादिति चेत्; न; तस्याप्यव्यतिरिक्तस्यासम्भवात् । व्यतिरेके पूर्ववद्दोषादनवस्थानुषङ्गाच्च । नोपकारात्तत्तस्य अपि तु तदाधेयत्वादिति चेत्; तदपि कुतः ? स्वशक्तितश्चेत्; तया तर्हि तदात्मकमेवास्तु तथैव प्रतीतेः, आश्रयाव्यतिरेकेण हि सामान्यस्य प्रतीतिः खण्डो गौः कर्कोऽश्व इति । चेन्न ततो[3] विश्वासः स्वरूपेऽपि न स्यादविशेषादिति सामान्यमेव न किञ्चित् सामान्यकल्पनावैफल्योपनिपातात् । तथा हि—

समानशक्त्या सामान्यं बिभ्रते यावदाश्रयाः ।
समानप्रत्ययं तावत्किन्न कुर्वन्ति ते तया ॥१३१६॥
एवं हि न भवत्यत्र पारम्पर्यप्रकल्पनम् ।
सामान्यभरण शक्तेस्तस्मादपि च तन्मतिः ॥१३१७॥ इति ।

तत्राश्रयशक्तितोऽपि तस्य तदाधेयत्वम् । आश्रयव्यङ्ग्यत्वादिति चेत्; न, तदभिव्यक्तिकृतस्तच्छक्तेः वैलक्षण्येतरपक्षयोः पूर्ववद्दोषात् । आश्रयादपि नाव्यक्तादेव तद्व्यक्तिः; अन्धकारेऽपि तत्प्रसङ्गात् । व्यक्तिरपि न सामान्यरूपेण; एकत्र व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावानुपपत्तेः । अन्यदेव तत्सामान्यं

१ तदभावेन क–ब० । २ विशेषे । ३–त्तमपि तत्र –प० । ४ प्रतीतित ।

यद्रूपेण तस्याभिव्यक्तिः तदप्यन्यदेव यस्य ततोऽभिव्यक्तिरिति चेत्; न; तत्राप्येवं [१]स्थितेश्च । नापि विशेषरूपेण; तस्यैव स्वतो भावविलक्षणस्याभावात् । स्वतोऽसतः सत्तासम्बन्धस्याप्यनुपपत्तेः व्योमकुसुमवत् । तत्र तद्व्यञ्जकत्वादपि तस्य तदाधेयत्वम् । तत्र वृत्तेरिति चेत्; सापि यदि स्वतन्त्रा; कथमसौ सामान्यतदाश्रययोः ? स्वतन्त्रा च तयोश्चेति व्याघातात् । [२]वृत्त्यन्तरापेक्षयैव (स एव) सम्बन्धः स्वतन्त्रत्वान्न भवति न [३]स्वभावत इति चेत्; सोऽपि यद्येकः; कथमनेकसम्बन्धित्वं ततस्तस्या[४] ? कारणस्वभावादप्येकस्मादेव निरवशेषकार्यविशेषोत्पत्तेः [५]प्रधानवादस्याप्रतिक्षेपप्राप्ते. । अनेकश्चेत्, न; तद्भेदे वृत्तेरपि भेदप्रसङ्गात् । भिन्नैव ततो वृत्तिरपीति चेत्; कथमसौ वृत्तेः ? तस्यास्तत्र सम्बन्धादिति चेत्; न; तत्राप्यनेकस्वभावकल्पनायामव्यवस्थितेः । तत्कार्यत्वादित्यप्यनेनापास्तम् । तस्मादसम्बन्ध एव सामान्यसमवाययोरर्थस्य च ताभ्यामभ्युपगन्तव्यः । न च तथाविधं तत्त्रितयं कुतश्चिदपि प्रमाणान्निश्चितवपुरिति खपुष्पकल्पितमेव तदनल्पमतयः प्रतिपद्यन्ते । तदुक्तम्—

"सर्वथा न हि सम्बन्धः सामान्यसमवाययोः ।
ताभ्यामर्थो न सम्बद्धः तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥"

[आप्तमी० श्लो० ६५] इति ।

कुतः पुनः समानपरिणामेऽपि न सामान्यदूषणमिति चेत् ? अत्राह—

समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ॥१८॥ इति ।

समानपरिणामो व्याख्यातः तत्र, **न** सामान्यदूषणम् । कुतः ? **तस्य** तत्परिणामस्यैकस्य व्यक्तिष्वनुस्यूतस्य **अनुपायतः** अनभ्युपगमात् । नन्वेवं सामान्येऽपि व्यक्तिनियते न दूषणं स्यात्, तस्यापि व्यक्त्यन्तराले विच्छेदेनैकत्वाभावादिति चेत्; न; सत्यपि तस्मिन्नेकस्यैव परैस्तस्याभ्युपगमात् । व्याहतमेतत्—'विच्छिन्नं चैकं च' इति, एकत्वस्याविच्छेदरूपत्वात्तस्य चेतरविरोधादिति चेत्; भवतु परेषामेवायं दोषः । न दोषः, तन्नियतस्यापि तस्यैकप्रत्ययादेकत्वस्यैवोपपत्तेः । एकत्वे कथमाश्रयभेद इति चेत् ? आश्रयस्य कथं कालभेदः ? सति [५]तस्मिंस्तस्यापि नैकत्वमिति चेत्; न; क्षणक्षयवादापत्तेस्तस्यानिषेधात् । ततो यथा कालभेदेऽपि व्यक्तिरेकैव तथा प्रतिपत्तेः[६], एवमाश्रयभेदेऽपि जातिरिति प्रतिपत्तव्यम् । तदुक्तम्—

"प्रत्येकसमवेतत्वं दृष्टत्वान्न विरोत्स्यते ।
तथा सत्यपि नानात्वं नैकबुद्धेर्भविष्यति ॥
न हि सम्बन्धिभेदेन स्वरूपैकत्वबाधनम् ।
विभुत्वावयवाभावौ प्रतिपाद्यौ च शब्दवत् ॥
यथा च व्यक्तिरेकैव दृश्यमाना पुनः पुनः ।

१–रिक्षेप– ता० । २ य सम्बन्ध· सयोगादिरूप सम्बन्धान्तरसापेक्ष तस्मिन्नेव स्वतन्त्रत्वात् सम्बन्धाभाव आपादयितु शक्य न तु स्वभावत सम्बन्धरूपे समवाये इति भाव । ३ स्वभाव इ–आ०, ब०, प० । ४ वृत्तेः । ५ साख्याभिमतस्य । ६ कालभेदे ।

कालभेदेऽप्यभिन्नैवं जातिर्भिन्नाश्रया सती ॥"

[मी० श्लो० वन० श्लो० ३०–३२] इति चेत्;

उच्यते—

व्यक्तीनामेवमेकत्वं कस्मान्न परिकल्प्यते ।
तथा सति न सामान्यमेकव्यक्तौ तदस्थितेः ॥१३१८॥
मिथो न तासामेकत्वं व्यतिरेकेण वेदनात् ।
इति चेन्ननु जातावप्यस्त्येव व्यतिरेकधीः ॥१३१९॥
अन्तरालेषु विच्छेदस्तस्याः कथमिवान्यथा ।
नाप्युपायान्तरं यस्मात्तद्विच्छेदव्यवस्थितौ ॥१३२०॥
[1]विच्छेदवदविच्छेदोऽप्येकप्रत्ययतो यदि ।
विच्छिन्नेतररूपत्वे जातेर्निर्भागता कथम् ॥१३२१॥

कथं चासौ स्वाश्रयेषु वर्तेत ? एकदेशेनेति चेत्; न तर्हि तत्र समानप्रत्ययः तस्यं जातेरेव भावात्, एकदेशस्य चाजातित्वात् जातिबहुत्वापत्तेः । सर्वात्मना चेत्; न; तदैवान्यत्र तत्प्रत्ययाभावापत्तेः । न ह्येकत्रैव सर्वात्मना वृत्ता सती तदैवान्यत्र सम्भवति यतस्तत्रापि तत्प्रत्ययः स्यात् । नन्ववयवशो वृत्तिः सावयवस्य यथा भूतकण्ठे स्रक्सूत्रादेः, परिसमाप्त्या च वृत्तिरविभोः यथा प्रतिपिण्डं गुणादेः । न च जातेः [3]सावयवत्वमविभुत्व वा यतस्तत्रैवंविधा वृत्तिरवकल्प्येत । तस्मादन्यादृगेव तद्वृत्तिस्तस्या अपि तत्रैव दृष्टत्वात् । तदुक्तम्—

"कार्त्स्न्यावयवशो वृत्तिः प्रष्टुं जातौ न युज्यते ।
न हि भेदविनिर्मुक्ते कार्त्स्न्यभागविकल्पनम् ॥
या चावयवशो वृत्तिः स्रक्सूत्रादिषु दृश्यते ।
भूतकण्ठे गुणादेश्च प्रतिपिण्डं समाप्तितः ॥
तत्रावयवयोगित्वमविभुत्वञ्च कारणम् ।
आकृतेस्तदभावेन न प्रसक्तमदो द्वयम् ॥
न च द्वैविध्यमेवेति वृत्तेरस्ति नियामकम् ।
त्रिविधापि हि दृष्टत्वात् सम्भवेद् द्विविधा यथा ॥"

[मी० श्लो० वन० श्लो० ३३–३७] इति चेत्;

अत्रोच्यते—तृतीयोऽपि वृत्तिप्रकारो नापरः स्वरूप[त]स्तन्निष्ठत्वात्, तत्प्रतीतेः । स्वरूपं च यदि तावदेव यावदेकत्र दृश्यते ; कथं व्यापकत्वम् ? न तावदेव, व्यापकत्वादिति चेत्; तस्य तर्हि निश्शेषव्यक्तिप्रतिपत्तावेव सम्भवति प्रतीतिः व्यापकप्रतिपत्तेः व्याप्यप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् ।

तथा च सति सत्त्वादिसामान्यप्रतिवेदिनः ।
सर्वे भवेयुः सर्वज्ञास्तत्कथं तन्निषेधनम् ॥१३२२॥

---

१ विच्छेद स्यादवि –ता० । २ प्रत्ययस्य । तस्याना–ता० । ३ समवायत्वमपि–ता० ।

व्याप्याग्रहेऽपि गृह्येत यदि तु व्यापकं तदा ।
विज्ञेयाग्रहणेऽपि स्यात्तज्ज्ञानग्रहणं न किम् ? ॥१३२३॥

ततो दुर्व्याहृतमेतत्

'सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवं तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० १३४] इति ।

अथ व्यापकतया तन्न गृह्यते ; तर्हि न गृह्यत एव, तत्स्वभावस्यान्यथा ग्रहणासम्भवात् तद्विभ्रमापत्तेः । तन्न सामान्यं नाम किञ्चित् । तदभावे कुतस्तत्प्रयोजनं समानप्रत्ययादिकमिति चेत् ? न, समानपरिणामादेव तद्भावात् । तदाह—

सदृशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे ।
प्रत्यभिज्ञादिना सिद्ध्येत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ॥ १९ ॥ इति ।

सदृशः समान **आत्मा** स्वभावो यस्य तस्मिन् धूमादौ **सम्बन्धस्य** पावकाद्यविनाभावलक्षणस्य **ग्रहः** परिज्ञानं **भूयो**ऽनेकवारम् । सकृत् तद्ग्रहे तस्मिन् विस्मरणस्य व्यभिचारस्य च सम्भवात्, सति तस्मिन **सिद्ध्येत्** निष्पद्येत । किम् ? **लोकव्यवस्थितिः** लोकस्य व्यवहर्तुर्जनस्य विशिष्टा प्रवृत्त्यादिलक्षणा अवस्थितिः परिणतिः । क्व ? **तथाविधे** सदृशात्मनि पावकादौ । केन सा सिद्ध्येत् ? **प्रत्यभिज्ञादिना** तादृशमिदमिति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा, सादिर्यस्य तर्कादेस्तेन । प्रत्यभिज्ञासामर्थ्यादत्र दर्शनस्मरणयोरपि प्रतिपत्तिः तदभावे तदनुत्पत्तेः । तदयमर्थः—भूयोवृत्त्या क्वचित् प्रतिपन्नसम्बन्धस्य पुनस्तादृशवस्तुदर्शने संस्कारप्रबोधादनुस्मृतौ तादृशमिदमिति प्रत्यभिज्ञानम्, ततोऽपि 'इदमत्रैव नान्यत्र' इति व्याप्तिवितर्के साध्यपरिज्ञानाल्लोकव्यवस्थितिरिति । तदुक्तम्—

"अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥" [सिद्धिवि०पृ० ९७] इति ।

यद्येवम् 'पुनर्दर्शनादिना सिद्ध्येत्' इति स्पष्टमेव निर्देष्टव्यं किं प्रत्यभिज्ञाग्रहणेन ? ततो[1] दर्शनाद्याक्षेपे प्रतिपत्तिगौरवादिति चेत्, सत्यम्, तथापि लोकव्यवस्थित्या तदस्तित्वनिवेदनार्थं तद्ग्रहणं तस्यास्तन्नान्तरीयकत्वात् । प्रत्यभिज्ञानाभावे हि व्याप्तिवितर्कानुत्पत्तेरनुमानासम्भवात् कुतस्तद्व्यवस्थितिः ? अस्ति चेयं प्रज्ञाकरस्यापि तस्मात्तेनापि साऽभ्युपगन्तव्या । ततो न युक्तमिदम्—"स इति स्मरणमयमिति प्रत्यक्षं न च तयोरेकत्वं प्रतिभासभेदात् । न च ततोऽपरं प्रतिभाति यत्प्रत्यभिज्ञानमुच्यते ।" [   ] इति तद्व्यवस्थितिरपि[2] मा भूदिति चेत्, किमिदानीं तत्त्वम् ? सर्ववस्तुनैरात्म्यमद्वैतं वेति चेत्, न, तस्यापि प्रतिपादनलक्षणया तद्व्यवस्थित्यैव सिद्धेर्निरूपितमिदं प्रागिति न प्रतन्यते । तद्व्यवस्थित्या प्रत्यभिज्ञोपकल्पने किं "प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचिद्" इत्यादिना[3] वक्ष्यमाणेनेति चेत् ? न ; तस्य तद्भेदप्रति-

---

1 प्रत्यभिज्ञाशब्दतः । 2 लोकव्यवस्थितिरपि । 3 न्यायवि० श्लो० २१९ ।

पादनार्थत्वात् । सदृशात्मत्वे वस्तुनस्तस्य कुतश्चित्प्रत्ययादभिधानतो वा प्रतिपत्तौ तदन्तस्य वैफल्यं स्यात्, अनधिगतस्य तद्विषयस्याभावात् । अधिगतविषयत्वे च प्रयोजनाभावादिति चेत्, सत्यमिदम्, यद्येकस्वभावो भावः स्यात् । न चैवम्, सदृशरूपस्येव विसदृशस्यापि रूपस्य विचित्रस्य तत्र भावात् । न चैवं कुतश्चित् कस्यचिदधिगमेऽपि तदन्तरवैफल्यम्, अनधिगतस्य तद्विषयस्य भावात् कथं पुनः सदृशस्येतरदितरस्य वा सदृशं रूपं विरोधात् तापहिमस्पर्शवदिति चेत् ? उपपन्नं तापेतरस्पर्शयोः विरोधवत्त्वं तदेकस्येतरपरिहारेणैव प्रतिपत्तेः, न चैवं सदृशेतरयोः, परस्परात्मतयैव सर्वदा संवेदनात् । संविदिते च न विरोधो वस्तुमात्रेऽपि प्रसङ्गेन शून्यतापत्तेः । निरूपितं चैतत् पूर्वम् ।

अपि च, सदृशेतरवदेकानेकरूपयोरपि विरोधाविशेषात् कथमेकत्रानेकोपाधिसम्भवो यतस्तैस्तद्वान् व्यपदिश्येत ? अर्थान्तरमू तैरेव स तैर्व्यपदिश्यत इति चेद्, अत्राह–

तद्वतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः । इति ।

उपाधयो विशेषणानि गोत्वशुक्लत्वादीनि **तद्वत** उपाधिमतः **कथम्** न कथञ्चित् भवेयुरित्युपस्कारः । कदा ? **भेदे** तद्वतस्तेषामर्थान्तरत्वे घटस्येव पटादय इति भावः । भेदेऽपि सम्बन्धात्ते तस्येति चेत्, न, तस्य निषेधात्, अनिषेधे खण्डादेरिवात्मादेरपि ते भवेयुः तस्य सर्वत्र भावात् । उपकारादिति चेत्, न, नित्यानामनुपकारात् । उपकारेऽप्यतिप्रसङ्गात् । न ह्युपकारादेव ते तस्य, महेश्वरस्यापि तत्प्रसङ्गात्, तस्य सर्वोपकारकारित्वेन प्रसिद्धेः । एतदेवाह– **अनुपकारेऽपि** । अपिशब्दादुपकारेऽपीति । यदि चोपकर्ता तेषांस्तदा स केनचिदुपाधिना प्रतीयमानः स्वोपकार्यानुपाधीनपि सर्वान् प्रत्याययति उपकार्याप्रतीतावुपकर्तुरप्रतिपत्तेः । तथा च न तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः अनधिगतस्य तद्विषयस्याभावात् । प्रमाणसम्प्लवस्याभिमतत्वान्न दोष इति चेत्, एवमपि कथं परप्रतिपादनं तस्यापि तत्राविप्रतिपत्तेः । न हि प्रतीयमान एवानित्यत्वादौ विप्रतिपत्तिः धर्मिणि शब्देऽपि तत्प्रसङ्गेन हेतोराश्रयासिद्धत्वापत्तेः । एकोपाधिद्वारेण प्रतीयमानस्तदुपकारशक्त्यैव प्रतीयते न तदन्तरोपकारशक्तिभिरिति चेत्, न, शक्तीनां तद्वतोऽनर्थान्तरत्वात् । अर्थान्तरत्वेऽपि कथं तस्येति व्यपदिश्यन्ताम् ? उपकारादिति चेत्, अनिवृत्तो व्याघातः । तदुपकारशक्तिरूपतया तत्प्रतीतौ तच्छक्तीनां तदुपाधीनाञ्चावश्यन्तया प्रतिपत्तेः, पुनस्तच्छक्तीनां तदर्थान्तरत्वकल्पनायामनवस्थापत्तिः । तन्नोपाधितद्वतां भेदे तद्व्यवहारः ।

भवत्वभेद एवेति चेत्, अत्राह—

तत्रैकत्वप्रसङ्गाच्चाभेदे कथमुपाधयः ॥ २० ॥ इति ।

तत्र तस्मिन् विवादगते । **कस्मिन्** ? **अभेदे** शब्दादेरुपाधिमतः कृतकत्वादीनामनर्थान्तरत्वे **कथं** नैव **उपाधयः** तदा शब्दादेर्धर्मिण एवावशेषात् । तथा च न स्वभावलिङ्गजमनुमानं साध्यसाधनभेदस्याभावात् । कल्पितस्तद्भेद इति चेत्; न, कल्पनस्यैवास्मिन् पक्षे निर्विकल्पेतरोपाधिद्वयाधिष्ठानस्यासम्भवात् । कल्पनातस्तत्सम्भवे अनवस्थादोषात् । । एवं ब्रह्मणो जीवानामभेदे तदेवं न ते इति कथं तद्विशिष्टतया तत्प्रतिपत्तिर्यत एवमाम्नायते—"अनेन जीवेनात्मना"

१ उपाधयः । २ उपाधिमान् । ३ तदनन्तरो–आ०, ब०, प० । ४ ब्रह्मैव । ५ जीवादयः ।

[छान्दो० ६।३।२] इति ? सत्यं वस्तुवृत्त्या तदभेदिन एव ते भेदस्तु कल्पनात इति चेत् , न, भेदेऽप्युपाधित्वस्य निषेधात् । कुतो वा तत्कल्पना ? न तावद् ब्रह्मण एव; तस्य सत्यज्ञानत्वात् । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इत्याम्नायात् , तस्य च मिथ्याप्रतीतेरसम्भवात् , कल्पनायाश्च तत्प्रतीतिरूपत्वात् । नाप्यन्यतः तदभावात् । कल्पनातस्तद्भावे स एव प्रसङ्गः 'न तावत्' इति । अस्याप्यन्यतः कल्पनायाम् अनवस्थापत्तिः । नायं दोषः, कल्पनायास्तादृक्-प्रबन्धस्यानादित्वादिति चेत् , न, तस्यापि ब्रह्माभेदेनाभावात् । पुनरन्यतस्तत्प्रबन्धात् तत्परिकल्पनायाम् अनवस्थापत्तेरप्रतिपत्तेश्च । न हि परापरस्य तत्प्रबन्धस्य प्रतिपत्तिः । कुतो वा तस्य[1] व्यवस्थितिः ? न तावद् ब्रह्मणः, तन्निषेधात् । नापि स्वतः, स्वयं प्रकाशरूपत्वे ब्रह्मवत् परमार्थत्वापत्तेः । ब्रह्मसम्पर्कात्तस्य[2] तादृप्यं घटस्येव [3]प्रतिसम्पर्कात् , न स्वत इति चेत् , न; सत्यपि तस्मिन् स्वयमतद्रूपस्य तद्रूपत्वानुपपत्तेः । घटस्य तु न तन्मात्रा[4]त्तादृप्यमपि तु स्वयं तथा परिणामादेव, अन्यथा परमाण्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् तत्सम्पर्कस्य तत्राप्यविशेषात् । तन्न तद्वत उपाधीनामभेदे तद्भावः । नाप्युपाधिमत उपाध्यभेदे, तत्र हि तस्या[5]भाव एव स्यात् तत्र च नोपाधयस्तेषां तदपेक्षत्वात्[6] । एतदेवाह-'**एकत्वप्रसङ्गाच्च**' इति । उपाधीनामुपाधिमदभेदे तद्वदेकत्वस्य उपाधिमतश्चोपाध्यभेदे चशब्दात्तद्वन्नानात्वस्य **च प्रसङ्गान्नोपाधय** इति । कथं पुनर्भेदाभेदाभ्यामुपाधितद्वद्भावनिराकरणं जैनस्य स्वयमपि तदभ्युपगमादिति चेत् ? अत्राह-

नोपधयो न तद्वन्तो भिन्नाभिन्ना अपि स्वयम् । इति ।

अपि स्वयम् आत्मनो जैनस्य **नोपधयो** न विशेषणानि कृतकत्वादीनि सन्ति **न तद्वन्त** उपाधिमन्तः शब्दादयः । कीदृशाः ? **अभिन्नाः** परस्परमेकान्तेनाव्यतिरिक्ता साङ्ख्यवत् । तथा **भिन्ना अपि** व्यतिरिक्ता अपि यौगवत् , उक्तन्यायादिति भावः । तत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह-

जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ॥ २१ ॥ इति ।

ऐकान्तिकाद्भेदादभेदाच्चान्या जातिः **जात्यन्तरं** भेदाभेदात्मकं वस्तु तत्र **दर्शनात्** उपाध्युपाधिमद्भावस्योपलम्भात् , न केवलं पूर्वोक्तन्यायादित्यपिशब्दः । भवति चात्र प्रयोगः- यद्यस्य[7] विरुद्ध एव दृश्यते न तत्तत्र विद्यते तथा कृतकत्वादिकं नित्यत्वादौ, दृश्यते चैकान्तविरुद्धे जात्यन्तर एवोपाध्युपाधिमद्भाव इति । न चेदं तत्रैव तद्दर्शनमसिद्धम्; कृतकश्शब्द इत्युपाधितद्वतोः कथञ्चिदव्यतिरेकस्य प्रतिपत्तेः । न चात्र कुतश्चिद्विरोधः, प्रतिपन्ने तदयोगात् । प्रतिपत्त्यपह्नवे च न किञ्चित् स्यात् , तदन्यस्य[8] वस्तुव्यवस्थानिबन्धनस्याभावात् । भवतु सर्वनैरात्म्यमेवेति चेत् , न, तद्वादे तदसम्भवाद् विरोधात् । नापि तादृशात् , तस्यापि तादृशात् सिद्धावनवस्थानात् । नाप्यन्यादृशात् , तद्वादे तदसम्भवाद् विरोधात् । कथं पुनरव्यतिरेकाविशेषे शब्दस्योपाधिमत्त्वमेव नोपाधित्वमिति चेत् , न; 'पौद्गलिकः शब्दः' इत्युपाधिमत्त्ववत् 'शब्दः पुद्गलः' इत्युपाधित्वस्यापि तत्र प्रतीतेः । एकोपाधिप्रतिपत्तौ किन्न सर्वोपाधिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? न , एकान्ताभेद एव दोषात्-

१ कल्पनाप्रबन्धस्य । २ कल्पनाप्रबन्धस्य । ३ प्रदीपादिसम्पर्कात् । ४ प्रदीपादिसम्पर्कमात्रात् । ५ उपाधिमतः । ६ उपाधिमदपेक्षत्वात् । ७ यद्यद्विरु-आ०, ब०, प० । ८ प्रतीतिव्यतिरिक्तस्य ।

तथा हि—

शब्दाच्चेत्तदनित्यत्वमेकान्ताव्यतिरेकवत् ।
तद्ग्रहे ग्रहणात्तस्याप्यनुमानेन किं फलम् ॥ १३२४ ॥
निश्चयश्चेन्न तस्यापि तन्निश्चित्यैव निश्चयात् ।
निश्चितानिश्चितत्वेन तद्भेदोऽन्यथा भवेत् ॥ १३२५ ॥
निश्चिते च समारोपो विरोधान्नावकल्पते ।
यतस्तस्य व्यवच्छेदः फलं स्यादानुमानिकम् ॥ १३२६ ॥

तथा यौगस्य—

अर्थान्तरत्वमेवात्मा भागेभ्यो यदि भागिनः ।
तथैवासौ प्रतीयेत नानुस्यूततया जनैः ॥ १३२७ ॥
अस्ति चायमनुस्यूतप्रत्ययस्तन्तवो हि ते ।
पटोऽयमिति लोकस्य प्रवादादप्रमादिनः ॥ १३२८ ॥
न चायं विभ्रमादेव निश्चिते तदसम्भवात् ।
सुप्रसिद्धं च योगस्य प्रत्यक्षं निश्चयात्मकम् ॥ १३२९ ॥
न तन्निश्चितभेदस्याप्यभेदविषया मतिः ।
निवेदितमिदं द्वेधैः स्वयमन्यत्र तद्यथा ॥ १३३० ॥
"प्रत्यक्षं सविकल्पं चेत्सामान्यसमवायिनाम् ।
अनुस्यूतधियो न स्युरेकस्यात्र विनिश्चयात् ॥" इति ।
सामान्यगुणकर्मस्वप्येवं तद्वद्भिभेदिषु ।
तथैवावगमात्तेषु विवादो विदुषां कथम् ॥ १३३२ ॥
तद्व्यवच्छित्तये तस्माद्व्यर्थं शास्त्रोपकल्पनम् ।
एकान्तव्यतिरेकस्तन्नोपाधीनां परस्परम् ॥ १३३३ ॥

तस्मादुपपन्ना जात्यन्तरे कस्यचित्प्रतिपत्तावपि उपाधेस्तदन्तरस्याप्रतिपत्तिः कथञ्चिदेव तयोरव्यतिरेकात् । जात्यन्तरं विशिनष्टि—तथा तेनोपाध्युपाधिमद्भावप्रकारेण भूते स्वहेतोरेवोत्पन्ने इति । न हि स्वहेतोरनुपजातमन्यतो भवति । समवायाद्भवत्येवेति चेत्, न, तस्य निषिद्धत्वात् । कथं तत्र तद्दर्शनमिति चेत्? सर्वथा सर्वेण परमार्थप्रकारेण चेति । न हि कल्पना नाम जात्यन्तरमन्तरेण, तस्या अभिलाप्येतरस्वरूपतया तदात्मत्वात् । अन्यथा तदसम्भवस्य निवेदितत्वादित्यलं प्रसङ्गेन ।

परस्यं तु मतम्—न शब्दाल्लिङ्गाद्वोपाधिमतः प्रतिपत्तिर्यतस्तस्य निरवशेषोपाधिशवलितस्यैकस्मादेव शब्दादेरवगमात् तदन्तरस्य तत्र वैफल्यं स्यात्, अपि तूपाधीनामेव । तत्र चैकतम-

१ सिद्धिविनिश्चये (परि० २)। २ "मीमांसकस्य"—ता० टि०। "अनन्तधर्मके धर्मिण्येकधर्मावधारणे। शब्दोऽभ्युपायमात्रं स्यात्तात्माध्यारोपकारणम् ॥"—मी० श्लो० १।१।४ श्लो० १७८ ।

विपर्येणान्येषामनवगमात् न तदन्तरवैयर्थ्यमिति । तत्राह—

तद्वत्यचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः ।
चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्याम् [समं तैस्तस्य लक्षणे] ॥ २२ ॥ इति ।

ते उपाधयो विद्यन्तेऽस्येति **तद्वान्** खण्डादिस्तस्मिन् । कीदृशे ? **शक्ते** वाहदोहादि-प्रयोजननिर्वर्तनसमर्थे । **किं** न किञ्चित् तदर्थिनां तत्र प्रवृत्त्यादिकम् । यदि स तत्र समर्थः कथं न प्रवृत्त्यादिकमिति चेत् ? आह—**अचोदिते** बुद्धिविषयत्वेनाप्रेरिते । **शब्दलिङ्गाभ्यां** शब्देन गवादिना लिङ्गेन ककुद्मत्त्वादिना । न हि शक्त इत्येव कश्चित् कस्यचित् प्रवृत्तिरतिप्रसङ्गात्, अपि तु प्रतिपन्ने । न च शब्दादेस्तद्वतः प्रतिपत्तिः। अस्तूपाधिष्वेव प्रवृत्तिः तेषां ततः प्रतिपत्तेः, तदाह—'**तदुपाधयश्चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाभ्याम्**' इति । तत्रोत्तरम्—**किं** न किञ्चिद् वाहादि-प्रयोजनं तदुपाधिभिरिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। कुतः? **अशक्ताः** ते तत्रासमर्था यत इति ।

उपाधयस्त्वेते तत्र समर्थाः परिकल्पिताः ।
उपाधिमान् परः कस्मात् कल्प्यते निष्प्रयोजनः ? ॥ १३३४ ॥
तस्मादशक्तितस्तेषां चोदितैरपि तैः फलम् ।
न किञ्चिद् व्यवहर्तॄणां व्यर्था तच्चोदना ततः ॥ १३३५ ॥

यदि चोपाधिमतो न चोदना कुत इदानीं 'खण्डादेर्गोत्वादिः' इति प्रतिपत्तिः ? प्रमाणान्तरादिति चेत्; यत्र तर्हि नोभयविषयं तदस्ति तत्र कथं यथा 'श्रेयःसाधनत्वं द्रव्यादेः' इति । न ह्यत्र द्रव्यादेरिव तदुपाधेः श्रेयःसाधनत्वस्यापि प्रमाणान्तरात् प्रतिपत्तिः, आगमादेव तद्भावात् । अत एवोक्तम्—"धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इति । न च तत्साधनत्वस्येव द्रव्यादेरपि तद्वतः शब्दादेव प्रतिपत्तिः 'उपाधय एव चोद्यन्ते' इत्यस्य विरोधात् । न चोभय-विषयमन्यदस्ति यतोऽयमस्येति सङ्कलनम् । आत्मास्तीति चेत्, न, ततोऽन्यप्रमाणात्तद्योगात् प्रमाणकल्पनावैफल्यात् । प्रमाणत्वेऽपि नोभयविषयत्वम्, प्रत्यक्षादित्वे द्रव्यादावेव, शाब्दत्वे च तत्साधनत्व एव पर्यवसानात् । न चैकैकमात्रपर्यवसितं इदमस्येति सङ्कलयितुमर्हति, सत्ये-वोभयविषयत्वे तद्दर्शनात् यथा देवदत्तस्य कम्बल इति । ततो न युक्तमिदम्—

"द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते ।
[मी० श्लो० १।१।२ श्लो० १३] इति ।

तत्र उपाधिमतोऽचोदनायामसङ्कलनं प्रवृत्तिर्वा । तत्रोपाधिभिस्तत्परिज्ञानात् प्रवृत्तिरिति चेत्; शब्दादिनैव किन्न तत्परिज्ञानं यतः पारम्पर्यं परिकल्प्येत ? तद्वतामानन्त्यात् तत्र शब्द-सम्बन्धस्य दुरवबोधत्वादिति चेत्; न, उपाधिसम्बन्धस्यापि तत्राविशेषात् । न ह्युपाधयोऽ-प्यपरिज्ञातसम्बन्धा एव तमवगमयन्ति अतिप्रसङ्गात् । कथं वा तत्र शब्दान्तरादिप्रवृत्तिः ? एकोपाधिद्वारेणैकवत् तद्वतः सकलोपाधिशबलितस्य प्रतिपत्तेः । तदाह—'**समं तैस्तस्य लक्षणे** ।' इति । **समं** सदृशं दूषणम् । तैरुपाधिभिः **तस्य** तद्वतः **लक्षणे** परिज्ञाने इति ।

---

१ "वाहदोहादिप्रयोजने"–ता० टि० । २ शब्दतश्च आ०, ब०, प० । ३ उपाधिभिस्तत्परिज्ञानात् । ४ उपाधिगतः परिज्ञानम् । ५ तद्वता नून स्यात्–आ०, ब०, प० । ६ तदुपगम–आ०, ब०, प० ।

तदुपाधिभिरप्युपाधिरूपतयैव तस्य लक्षणाददोष इति चेत्; न, अन्यरूपतयाऽन्यस्य लक्षणायोगादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । कथञ्चोपाधेरपि चोदनम्, कथञ्च न स्यात्? सम्बन्धापरिज्ञानात्। न ह्यपरिज्ञातसम्बन्धादेव लिङ्गादेस्तत्परिचोदनम्, अतिप्रसङ्गात्। तत्परिज्ञानञ्च सिद्ध एव गोत्वादा उपाधौ भवति नासिद्धे खरविषाणवत्। सिद्ध एवायं 'खण्डो गौर्मुण्डो गौः' इत्यनुगमप्रत्ययादिति चेत्, ततः पूर्वं कीदृशस्तत्स्वभावः? सिद्ध एव तदापि तत्प्रत्ययादिति चेत्? न, ततोऽपि पूर्वं तत्प्रत्ययात्तत्सिद्धौ तत्प्रसङ्गात्, तस्य चाप्रतिपत्तेः, विषयान्तरसञ्चारव्यतिक्रमाच्च असिद्ध एवेति चेद्, उच्यते–

तत्प्रत्ययेऽपि तस्यासौ[5] स्वभावश्चेन्न नश्यति ।
स[6] कथन्नाम सिद्धः स्यात्तादृगन्यपदार्थवत् ॥ १३३६ ॥
स एव प्रत्ययस्तस्य सिद्धिश्चेत्[7] सर्ववस्तुनः ।
स एव सिद्धिरेवं च विफलं प्रत्ययान्तरम् ॥ १३३७ ॥
प्रतीतिस्तस्य सर्वस्य न परिस्फुरतीति चेत् ।
अत्यक्तासिद्धरूपस्य[8] प्रकृतस्यापि तत्समम् ॥ १३३८ ॥
यदि तस्य परित्यागे सति तत्प्रत्ययो भवेत् ।
कथं नित्यस्वभावत्वं गोत्वादेरुपवर्णितम् ॥ १३३९ ॥
न चानेकान्तवादेऽस्ति परस्याभिरुचिर्यतः ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्वभावोऽयं प्रकल्प्यताम् ॥ १३४० ॥

किञ्च, अयमनुगमरूपतया क्वचित्सिध्यन् विशेषादव्यतिरिक्तश्चेत्, विशेषस्यैवानुगमः स्यात् अव्यतिरेकस्यैवंरूपत्वात्[10] । न चैवम्, खण्डादिरेव मुण्डादिरित्यप्रतिपत्तेः, वस्तुसाङ्कर्यदोषाच्च। नैकान्तेनाव्यतिरेकः व्यतिरेकस्यापि भावादिति चेत्, न, उभयस्वभावतया सावयवत्वापत्तेः । न चेदमुचितम्–"विभुत्वावयवाभावौ प्रतिपाद्यौ च शब्दवत् ।" [मी० श्लो० वन० श्लो० ३१] इत्यस्य विरोधात्। व्यतिरिक्तश्चेत्, न,

"सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सापि न युक्तिमत् ॥" [मी० श्लो० आकृति० श्लो०५]

इत्यस्य व्यापत्तेः, अनेनाव्यतिरेकस्य प्रतिपादनात्। तन्न गोत्वादेः सिद्धिर्यत्र सम्बन्धपरिज्ञानं लिङ्गस्य । भवतु विशेषेष्वेव तस्य तदिति चेत्, न, तेषामानन्त्येनार्वाग्दृशां तत्र[11] तदसम्भवादित्यभाव एवानुमानस्य । इदमेवाह—

सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तितः ।
अनुमानमलं [किं तदेव देशादिभेदवत्] ॥२३॥ इति ।

---

१ उपाधिमतः । २ गोत्वादिः । ३ तथापि आ०, ब०, प० । ४ अनुगतप्रत्ययात् । ५ असिद्धः स्वभावः । ६ कथन्नाम भवेत्सिद्धस्ता–आ०, ब०, प० । ७ सिद्धश्चे–आ०, ब०, प० । ८ अत्यक्ता– आ०, ब०, प० । ९ गोत्वादिः । १०–स्यैव रूपात्वत् आ०, ब० । ११ तत्र सम्म–आ०, ब०, प० ।

सम्बन्धो लिङ्गस्याविनाभावः सिद्ध्येदिति शेषः । कुतः ? **यत्र** यस्मिन् साध्ये गोत्वादौ स मतः **तत्सिद्धेः** । न च तत्सिद्धिरुक्तान्न्यायादिति भावः । ततश्च **अनुमानमलम् अनुमानस्य मलं** दूषणमभावलक्षणमित्यर्थः । सम्बन्धप्रतिपत्तिपूर्वकत्वेन तस्य तदभावेऽनुपपत्तेः । अतश्च तन्मलम् , **अन्यतः** अन्येषु विशेषेषु **अप्रतिपत्तितः** । सम्बन्धस्येति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः ।

भवतु विशेषेषु देशत एव तत्परिज्ञानं न साकल्येनेति चेत् , अत्राह–**सम्बन्ध** इत्यादि । **यत्र** यस्मिन् विशेषरूपे लिङ्गे साध्ये च **सम्बन्धो** ज्ञातस्तयोस्तज्ज्ञानादेव सिद्धिः **तत्सिद्धिः** तस्याः सम्बन्धसिद्धेः सम्बन्धसिद्धित एवोपपत्तेः **अनुमानमलं** पर्याप्तं निष्प्रयोजनत्वात् । अन्यत्र सप्रयोजनमिति चेत् , न , **अन्यतः** अन्यस्मादप्रतिपन्नसम्बन्धाल्लिङ्गाद् **अप्रतिपत्तितः** साध्यस्यापरिज्ञानादतिप्रसङ्गादनुमानमलं कल्पयित्वेति शेषः । नायं दोषः, सामान्ये सम्बन्धज्ञानात् , तस्य च निदर्शनवदन्यत्रापि भावेन अनुमानोपपत्तेरिति चेत् , न , दत्तोत्तरत्वात् । अपि च, सामान्यं यदि प्रतिव्यक्ति भिन्नम् , कस्तस्य विशेषेभ्यो विशेषो यतस्तत्र सम्बन्धग्रहणम ? अथाभिन्नमेव निदर्शनगतस्यैवान्यत्रापि भावात् ; तर्हि निदर्शनस्थान एवान्यत्र गतस्यापि किन्न प्रतिपत्तिः ? न हि प्रतिपन्नादभिन्नमप्रतिपन्नमुपपन्नं नाम विरोधात् । अस्त्येव तस्यापि प्रतिपत्तिरिति चेत् , न , तदधिकरणानामपि तत्प्रसङ्गात् । न हि तदप्रतिपत्तौ तन्निष्ठस्य प्रतिपत्तिः । मा भूत्तन्निष्ठतया तस्य सेति चेत् , न , तस्य तत्स्वभावत्वात् , प्रतीतस्य चेतरस्वभावानुपपत्तेः । नासौ तस्य स्वभावः समवायत्वेनार्थान्तरत्वादिति चेत् , तेन कथं तन्निष्ठं नाम ? अनभिमतव्यक्तिनिष्ठताया अप्यनुषङ्गात्तदविशेषात् । तथापि स्वगतात्कुतश्चिद्विशेषात् नियतविशेषनिष्ठमेव तदिति चेत् , स तर्हि विशेषः प्रतीयमानः तद्विशेषानपि प्रत्याययति, अन्यथा स्वयमप्रतिपत्तेः । न हि तदभिमुखस्य तदप्रतिपत्तौ सम्भवति प्रतिपत्तिः । न च तस्यापि तदर्थान्तरत्वं पूर्वप्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च । दृश्यमानव्यक्त्यभिमुखस्यैव तस्य ज्ञानं न तदन्याभिमुखस्येति चेत् , किमिदानीं प्रतिव्यक्ति तस्य भेदः ? तथा चेत् , न , तदनन्यत्वेन सामान्यस्यापि तत्प्रसङ्गात् , 'भिन्नादभिन्नं भिन्नमेव, इति न्यायात् । तदाह–'**किं तदेव देशादिभेदवत्**' इति । **तदेव** एकमेव । किम् ? नैव । सामान्यम् । कीदृशम् ? देशस्तदंशो व्यक्त्यभिमुखस्वभाव आदिर्यस्याश्रयादेः सोऽस्यास्तीति **देशादिभेदवत्** इति । तन्न सामान्यं नाम किञ्चित् , यत्र प्रतिबन्धग्रहणं लिङ्गस्य ।

भवतु वा तत , तथापि किं तत्प्रतिपत्त्या ? तदनुमानमिति चेत् , तेनापि किम् ? अर्थक्रियार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत , न , तत्र तस्यासामर्थ्यात् विशेषकल्पनावैयर्थ्यापत्तेः । विशेषेष्वेव तदनुमानात्प्रवृत्तिरिति चेत् , कथमन्यानुमानादन्यत्र[10] प्रवृत्तिः[11], अतिप्रसङ्गात् । अनुमितात्नुमानादिति चेत् ; न, प्रतिबन्धापरिज्ञाने तदनुपपत्तेः । तत्परिज्ञानञ्च न साकल्येन; अस्मदादेरशेषविशेषप्रतिपत्तेरभावात्, देशत इति चेत् , न , तत्रापि प्रतिबन्धज्ञानविषयस्य तत

१–रक्तन्या–अ०, ब०, प० । २ सम्बन्धसि–आ०, ब०, प० । ३ भावे अ–आ०, ब०, प० । ४ प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । ५ समवायेन । ६ तदभिमुखत्वस्यापि । ७ तदन्यत्वेन आ०, ब०, प० । ८–नु तथापीति तत्र तत्प्र–आ०, ब० प० । ९ "प्रतिबन्धप्रतिपत्त्या"– ता० टि० । १० विशेषे । ११ प्रतिपत्ति- आ०, ब०, प० ।

एव सिद्धेः, अतद्विषयस्य चानुमानादप्रतिपत्तेः तस्यैवानवतारात्। एतदेवाह–'**सम्बन्ध**' इत्यादि। व्याख्यानं पूर्ववत्। एकत्र विशेषे सम्बन्धग्रहणमेव सामान्यस्यान्यत्रापि तद्ग्रहणं तदयमदोष इति; स्यादेवं यदि विशेषाणामेकत्वं भवेत्, न चैवम्, देशादिभेदाभावापत्तेः। तदाह–'**किम्**' इत्यादि। **तदेव** सम्बन्धज्ञानवेद्यमेव विशेषरूपम्, किम्? नैव भवति। कीदृशं न भवति? **देश आदिर्यस्य कालादेस्तेन भेदवदिति।**

सामान्यादपि सामान्यमनुमेयं यदीष्यते।
कस्तेनानुमितेनार्थो यदेकमुपकल्प्यते ॥ १३४१ ॥
वाहदोहादिरर्थश्चेत् सामान्यात्प्रथमादयम्।
असम्भवी कथन्नाम सामान्यान्तरतो भवेत् ॥ १३४२ ॥
तदन्तराच्च सामान्यमन्यच्चेदनुमीयते।
अनुमानानवस्थेयं चेतःखेदाय ते भवेत् ॥ १३४३ ॥

किं वा प्रयोजनं सामान्यात्? तत्र लिङ्गस्य प्रतिबन्धनिर्णय इति चेत्, विशेषेष्वेव किन्न भवति? तेषामानन्त्येन दुरवबोधत्वादिति चेत्, सामान्यस्यापि न भवेत्, दृष्टविशेषे तस्य निर्णय एवान्यत्रापि तन्निर्णयो दृष्टसमानत्वात्तस्येति चेत्, न, लिङ्गस्याप्येवं तन्निर्णयप्रसङ्गात्। कुतो वा तस्य दृष्टसमत्वम्? तत्र सामान्यभावात्। सोऽपि कुतः? तत्र तत्प्रतिबन्धस्य निर्णयात्। अयमपि कस्मात्? तस्य दृष्टसमानत्वादिति चेत्, न, चक्रकदोषात्। यदि पुनः स्वत एव तस्य तत्समत्वं तर्हि सामान्यप्रयोजनस्य तत एव भावाद् व्यर्थमर्थान्तरतत्कल्पनम्। यदि सामान्यमप्रतिपन्नम्, कथं तस्य प्रतिषेधः पिशाचादिवत्? प्रतिपन्नं चेत्, तथापि कथम्? तत्प्रतीत्यैव बाधनादिति चेत्, कथमिदानीं प्रत्यनीकव्यवच्छेदेन स्वपक्षस्थापनम्? शक्यं हि वक्तुम्—

प्रतीतिः प्रत्यनीकस्य न चेन्नास्ति निषेधनम्।
प्रतीतिः प्रत्यनीकस्य यदि नास्ति निषेधनम् ॥ १३४४ ॥
अनिषेधे च तस्य स्यात् कथमन्यः पराजयी?
तदभावे कथन्नाम यौगो विजयमुद्वहेत् ॥ १३४५ ॥
परोक्त्या विदितस्यापि युक्तिसाङ्गत्यवर्जनात्।
निषेधस्तस्य चेदेवं सामान्यस्याप्यसौ भवेत् ॥ १३४६ ॥

साम्प्रतमुक्तन्यायेन सौगतमपि प्रतिक्षिपन्नाह–

एतेन भेदिनां भेदसंवृतेः प्रतिपत्तितः।
तत्रैकं कल्पयन् वार्यः [समाना इति तद्ग्रहात्] ॥२४॥ इति।

तत्र तेषु भेदिषु[3] **एकम्** अनुगतमाकारम् **कल्पयन्** सौगतो **वार्यो** निवारयितव्यः। कुतस्तत्कल्पयन्? **प्रतिपत्तितः** प्रतीतेरेकस्याकारस्य। कुतः प्रतिपत्तितः? **भेदसंवृतेः** संव्रियते प्रच्छाद्यतेऽनयेति संवृतिर्विकल्पिका बुद्धिः। भेदस्य परस्परव्यावृत्तेः संवृतिः भेदसंवृतिस्तत इति। केषां स भेदो यस्य संवृतिरिति चेत्? **भेदिनां** विजा-

1 अदृष्टविशेषस्य। 2–समत्वादि–आ०, ब०, प०। 3 भेदेषु आ०, ब०, प०।

तीयव्यावृत्तिमतां खण्डादीनाम्। **'भेदिनाम्'** इत्यस्यापेक्षणेऽपि गमकत्वात् **'भेदसंवृत्ते'** इति वृत्तिः। केन स वार्यत इति चेत् ? **एतेन** मीमांसकादिदूषणेन। तथा हि–संवृतिविकल्पितस्याकारस्य भेदिभ्यो भेदे तस्यैव लिङ्गादेः प्रतिपत्तेः प्रवृत्तिरपि तत्रैव स्यात् न भेदेषु। न चेदमुचितम्; अशक्तत्वात्। न हि तस्य वाहादौ शक्तिः, भेदिकल्पनावैफल्योपनिपातात्। भवतु भेदिष्वेव प्रवृत्तिस्तेषां तदाकारेण लक्षणादिति चेत्; न; लिङ्गादिनैव तत्प्रसङ्गात्, तदाकारस्येव तस्यापि तत्र प्रतिबन्धपरिज्ञानोपपत्तेः। तेनापि सामान्यरूपेणैव तल्लक्षणे अनवस्थापत्तेश्च। ततः **'तद्वत्यचोदिते'** इत्याद्यत्रापि समानम्। तेभ्यस्तस्याभेदे तु तद्वदेव वस्तुसत्त्वान्न संवृत्या प्रतिपत्तिः। कथं वा तया तत्प्रतिपत्तिः, कथञ्च न भवेत् ? अतदाकारत्वे साकारवादविनिपातेन तदयोगात्। तदाकारत्वे कथं तस्याः क्षणिकनिरंशत्वं तद्वदेव देशकालाभ्यां दैर्घ्यात्। तथा तदाकारस्यैव दैर्घ्यं न तस्या इति चेत्, न, अविष्वग्भावे तदनुपपत्तेः। विष्वग्भूतैव सा ततः केवलमन्यैव संवृतिस्तदविष्वग्भावमाविर्भावयतीति चेत्; न, तथापि तस्याः परिज्ञाने तदयोगात्। तदाकारतया परिज्ञानेऽपि स एव प्रसङ्गः तस्याः कथं क्षणिकनिरंशत्वमित्यादिः। तस्या अपि ततो विष्वग्भावकल्पनायामनवस्थापत्तिः। तत्र कुतश्चिदप्येकाकारप्रतिपत्तिः। ततो निर्विषयमिदम्—

"पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः॥"[प्र० वा० ३।६७] इति।

'एकार्थप्रतिभासिन्या' इत्यस्यासम्भवात्। यदपीदमन्यत्—

"तया संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयम्।
अभेदिन इवाभान्ति भावरूपेण केनचित्॥" [प्र० वा० ३।६८] इति।

तत्र 'भेदिनः' इति न तावत्तद्बुद्ध्यपेक्षम्; तया तन्नानात्वस्यावरणात्। न हि तदावृण्वत्येव तद्भेदमुपदर्शयति विरोधात्। बुद्ध्यन्तरापेक्षमिति चेत्; कुतः सङ्कलनम्–भेदिनः स्वयमभेदिन इव इति ? न नानात्वसंवृतेः; तया भेदिनामप्रवेदनात्। नापि भेदिबुद्धेः, तयापि संवृतिविषयस्यापरिज्ञानात् उभयविषयाद् बुद्ध्यन्तरादिति चेत्; न; तदसम्भवात्। न हि किञ्चिद्भेदनं कचिद्भेदमुपदर्शयदेव तद्विपर्ययमुपदर्शयितु समर्थं नीलत्वमुपदर्शयतैव क्वचित्पीतत्वस्याप्युपदर्शनप्रसङ्गात्। तत्र सामान्याकारः शक्यप्रतिपत्तिक इति न तत्र नापि विशेषे सम्बन्धपरिज्ञानं लिङ्गस्येति प्रलीन एवानुमानव्यवहारः। तत इदमप्यत्र समानम्–**'सम्बन्धो यत्र'** इत्यादि। ततः सूक्तम् **'एतेन'** इति।

इतश्च वार्य इत्याह–**'समाना इति तद्ग्रहात्'** इति। खण्डादिभिर्मुण्डादयः समानाः **सदृशा इति**। **'तेषां** भेदिनाम् **ग्रहात्** प्रतिपत्तेः। **'तत्रैकं कल्पयन् वार्यः'** इति। खण्डादय एव मुण्डादय इति प्रतिपत्तौ हि तत्राभेदकल्पनमुपपन्नं न समाना इति प्रतिपत्तौ, ततस्तेषु समानताया एव प्रसिद्धेर्नाभेदस्य। न च त एव ते इति प्रतिपत्तिर्लोकस्य, एवं व्यवहारादृष्टेः। ननु च धर्मकीर्तिनाप्येतदभिहितम्—

---

१ समास। २ न्यायवि० श्लो० २।२२। ३ न्यायवि० श्लो० २।२५

"प्रतिभासो धियां भिन्नः समाना इति तद्ग्रहात्।" [प्र० वा० ३।१०६] इति। तत्कथं स एव तदेवैकं संवृतिनिबन्धनमभिदध्यादिति चेत्? स एवेदं प्रष्टव्यो य एवं स्ववाग्विरुद्धमवरुणद्धि।

स्यान्मतम्—नासौ संवृतिवेदनेऽप्येकमनेकसाधारणमाह यतः स्ववचनविरोधः। किं तर्हि? खण्डादीनामतद्धेतुफलापोहमेव, तस्यैव तेषु समानत्वेन सामान्यव्यवहारगोचरत्वात्। तस्यापि तेभ्यो भेदे तदपोहशब्देन सामान्यमेव यौगप्रसिद्धमभिहितं भवेत्। अभेदेऽपि मीमांस[क]परिकल्पितम्। तदुक्तम्—

"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्वमेव च तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्॥" [मी०श्लो० अपोह० श्लो० १]

इत्यपि न चोद्यम्; तेभ्यस्तस्य तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वात्। अवस्तुरूपा हि खण्डादयस्तत्सामान्यञ्च, उभयेषामप्यपोहकल्पितत्वात्। न च तेषामन्योन्यं तत्त्वमन्यत्वं वा; वस्तुन्येव तद्विकल्पोपपत्तेः। "वस्तुन्येष विकल्पः स्यात्" [ ] इत्यादिवचनात्। ततस्तत्र भेदाभेदाभ्यां दोषोपकल्पनं परमतानभिज्ञानं पिशुनयतीति। तदेवाह—

अतद्धेतुफलापोहः सामान्यं चेदपोहिनाम्।
सन्दृश्यते तथा बुद्ध्या [न तथाऽप्रतिपत्तितः]॥ २५॥ इति।

हेतुश्च फलञ्च हेतुफले तद्विवक्षिते खण्डादिवाहादिलक्षणे हेतुफले येषामन्येषां खण्डादीनां ते तद्धेतुफला न तद्धेतुफला **अतद्धेतुफलाः** कर्कादयस्तेषाम**पोहः सामान्यं** गोत्वादि नापरम्। केषाम्? **अपोहिनाम्** विजातीयविशेषवतां खण्डादीनाम्। कुत एतत्? **सन्दृश्यते** सम्यगबाधितत्वेन प्रकाश्यते सामान्यम्। **तथा** तेन तदपोहप्रकारेण, **बुद्ध्या** विकल्पवित्त्या यतः। **चेत्** शब्दः पराकूतद्योतने। तत्रोत्तरमाह—**न तथाऽप्रतिपत्तितः** इति। न नास्ति परोक्तम्। कस्मात्? **तथा** तेन तदपोहरूपप्रकारेण। **अप्रतिपत्तितो**ऽपरिज्ञानात् सामान्यस्य। तथा तत्प्रतिपत्तिर्हि न तत एव सामान्यज्ञानात्; तथैवानिश्चयात्। न हि तदेव तद्विषयस्यापोहरूपतां निश्चिनोति; निर्विवादापत्तेः। विचारात्तस्य ताद्रूप्यमिति चेत्, कुत एतत्? तस्य निश्चयरूपत्वात्; न तज्ज्ञानस्यापि सविकल्पत्वेन तदविशेषात्। निश्चितस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणे अनवस्थानं तत्रापि तदन्तरापेक्षणात्। विचारश्च सामान्यज्ञानस्यान्यतोऽसम्भवादेव अवतरति। न चासावस्ति सादृश्यविशेषादपि तदुपपत्तेः। सोऽपि नैयायिकादिसामान्यवत् भेदाभेदाभ्यां परिचिन्त्यमानो न सम्भवत्येवेति चेत्; उच्यते—

अपोहो यदि कर्कादेर्न समः खण्डमुण्डयोः।
असमानात् कथं तस्मात् समानप्रत्ययो भवेत्॥१३४७॥

१–त्सवि–आ०, ब०, प०। २ च शब्द आ०, ब०, प०। ३–व तन्निश्च–आ०, ब०, प०। ४–स्वाचिक्षि–आ०, ब०, प०। ५ सामान्यस्य। ६ अपोहरूपत्वम्। ७ एतस्य आ०, ब०, प०। ८–तद्विचा– आ०, ब०, प०। ९ सामान्यज्ञानस्य अन्यतोऽसम्भव। १० सादृश्यविशेषोऽपि। ११ कर्कादि आ०, ब०, प०।

समानश्चेत्कथं भट्ट, सादृश्यं दूषितं त्वया ।
अपोह एव सादृश्यं भावानामिति चाकुलम् ॥ १३४८ ॥
तस्य वस्तुष्वसद्भावात् कल्पनारोपितात्मनः ।
एकत्वाध्यवसायाच्चेत् तस्य वस्तुषु सम्भवः ॥१३४९॥
नैकत्वस्याप्यसद्भावात्तेष्वारोपितरूपिणः ।
तस्याप्येकत्वनिर्णीतिरन्यतस्तत्र सम्भवे ॥ १३५० ॥
अनवस्थालतापाशबन्धनान्मुच्यते कथम् ।
तन्न व्यावृत्तिसामान्यं विचारक्षममीक्षते ॥ १३५१ ॥
अविचार्यैव चेदिष्टं व्यवहाराय तत्परैः ।
मीमांसकादिसामान्यं तथैव न किमिष्यते ॥ १३५२ ॥
अविचारितरम्यत्वाविशेषेऽपि क्वचित् कथम् ।
पक्षपातः सता युक्तो न्यायनिर्मलचेतसाम् ॥ १३५३ ॥

मा भूत् कल्पनागतस्तदपोहः सामान्यं विचारासहत्वात्, खण्डादिगतस्तु भवत्येव विपर्ययात् । न हि ते खण्डादयः कर्कादिभिरात्मानं मिश्रयन्ति स्वरूपप्रच्युतिप्रसङ्गात् । ततः स एव तेषां सामान्यमिति चेत्; न; एवमप्यतिप्रसङ्गात् । तथा हि—यथा खण्डादयः कर्कादिव्यावृत्त्या गोव्यपदेशविषयास्तथा तृणवनगुल्मतूलोपलादयोऽपि स्युः, तेषामपि तदविशेषात् । न हि तेऽपि तैरात्मानं मिश्रयन्ति तद्भेदापरिज्ञानप्रसङ्गात्, तथा च गामानयेति चोदितेन तत्रापि प्रवर्तितव्यम् । तदविशेषेऽपि खण्डादय एव गावः तत्रैव वाहदोहादेरेककार्यस्य भावात् , न तृणादयो विपर्ययादिति चेत्; तत्रैव कुतस्तद्भावः ? तदपोहादिति चेत् ; न; तृणादावपि तत्प्रसङ्गात् । शक्तिसाम्यादिति चेत् ; तदेव तर्हि सामान्यं न तदपोहः, सतोऽपि तस्य वनगुल्मादौ ताद्रूप्याभावात् । तदाह—'न तथा' इत्यादि । न तदपोहः सामान्यं तथा तेन सामान्यरूपप्रकारेण अप्रतिपत्तितो वनतृणादौ तस्यापरिज्ञानात् । कथं पुनः शक्तिसाम्यमपि सामान्यम् ? कथं च न स्यात् ? तस्य वस्तुष्वेकस्याभावात् शक्तिमदभेदात् सामान्यस्य चैकरूपत्वादिति चेत्; कथमिदानीं तत एकं कार्यम् ? शक्तिभेदे तद्भेदस्यैवोपपत्तेः । मा भूदिति चेत्, कथमिदमुक्तम् —

"एकप्रत्यवमर्शार्थज्ञानाद्येकार्थसाधने ।" [प्र० वा० ३।७२] इति ?

तदपि वस्तुतो भिन्नमेव, अभेदस्तु तत्राप्यन्यस्मादेवैककार्यादिति चेत्, न; तस्यापि तद्भेदे भेदस्यैवोपपत्तेः । तस्याप्यन्यस्मात् तत एकत्वकल्पनायामनवस्थादोषात् । न जैनस्यैकरूपत्वादेव सामान्यम्, अपि तु तत्प्रयोजनात्, तच्चानेकत्र एव सदृशादुपपन्नम् । अत एव वक्ष्यति—"नानेकत्र न चैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणा" [न्यायवि० श्लो० २००] इति । अपि च, के नामापोहिनो येषां तदपोहः सामान्यमुपकल्प्येत ? प्रसिद्धा एव खण्डादय इति चेत्; न; तेषां तत्त्वतोऽसम्भवात्, अवयविवादप्रतिषेधात् । संवृत्या सम्भव इति चेत्; न तर्हि तदपोहः; तेषामवस्तुत्वाद् वस्तुसतामेव क्वचित्तत्त्वान्यत्वयोरु-

१ तस्याव–आ०, ब०, प० । २–यन्तीति त–आ०, ब०, प० । ३ तृणगुल्मादिपु । ४–सामान्यादि–आ०, ब०, प० । ५–सामान्यमपि आ०, ब०, प० । ६ शक्तिमदभेदे । ७ सम्प्रत्ययस–आ०, ब०, प० ।

पपत्तेः "वस्तुन्येष विकल्पः" [   ] इत्यादि वचनात्। वस्त्वेकत्वावसायात्तेऽपि वस्तुसन्त एवेति चेत्; न, तस्य निषिद्धत्वात्। तदेवाह—'न' इत्यादिना। अपोहिनामिति। कुतः ? **तथा** तेनापोहिनामिति प्रकारेण खण्डादीनाम् '**अप्रतिपत्तितः**' इति। भवन्तु[1] स्वलक्षणरूपा एवापोहिन इति चेत्, कुतस्तत्परिज्ञानम् ? निर्विकल्पाद्दर्शनादिति चेत्; न; तस्यापि[2] व्यवहारिष्वभावात्। न हि ते तद्दर्शनं विकल्पयन्तो दृश्यन्ते, निश्चयस्यैव बहिरन्तश्च स्थूलाकारगोचरस्य तैरवकल्पनात्। विकल्पैकत्वावसायात्तस्य[3] तैर[4]नवकल्पनं नाभावादिति चेत्; न, पृथगवगतस्य तदवसायानुपपत्तेः। तदवगमः सन्नप्यसत्कल्प एव निर्विकल्पत्वादिति चेत्; न तर्हि ततस्तस्यास्तित्वं व्यवहारविषयः[5] सुप्तस्येव तद्वेदनात्। अनुमानात्तदस्तित्वं तद्विषय इति चेत्; न; प्रत्यक्षतो बहिरन्तश्चासम्भवतोऽनुमानादप्यप्रतिपत्तेः, तस्य[6] तत्पूर्वकत्वात्। तदुक्तम्—

"ब्रुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं बहिरन्तरसम्भवम्।
अनुमानबलाद् व्यक्तमनात्मज्ञस्तथागतः॥" [सिद्धिवि० परि० १] इति।

तत्र अपोहिनः स्वलक्षणरूपा अपि। तदाह—'न' इत्यादि। न परमत **तथा** तेन परोक्तासाधारणप्रकारेण[7]। **अप्रतिपत्तितः** अपोहितां[8] [नां] खण्डादीनामिति। ततो यदुक्तम्—

"स च सर्वपदार्थानामन्योन्याभावसंश्रयः।
तेनान्यापोहविषयो वस्तुलाभस्य चाश्रयः॥" [प्र० वा० ३।७९] इति,

तत्प्रतिविहितम्; वस्तुन एव परपरिकल्पितस्याभावात्। सति हि तस्मिन् समानाकारविकल्पः पारम्पर्येण तस्मादात्मलाभात् तल्लाभस्याश्रयो भवेन्नासति खरविषाणवत्। तन्न अतद्धेतुफलापोहः सामान्यम्, सदृशपरिणामस्यैव तत्त्वोपपत्तेः।

कुतः पुनस्तत्परिणामो भावानाम् ? विशेषपरिणामः कुतः ? तत्प्रत्ययात्, परोऽपि तत एवास्तु विशेषाभावात्। ततः समानेतरपरिणामात्मानो भावास्तथैव प्रतिपत्तेरिति न्याय्यम्। प्रत्यक्षतो न तस्य प्रतिपत्तिः, ततो बहिरन्तश्चासाधारणस्यैवाकारस्य प्रतिपत्तेः, तत्प्रतिपत्तिस्तु वासनापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव, तस्य चावस्तुविषयत्वान्न ततस्तद्व्यवस्थापनं न्याय्यमिति चेत्, अत्राह—

यन्न निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम्। इति।

यत् पराभिमतं[9] रूपं दृश्यस्य दर्शनस्य च, **न निश्चीयते** न संशयादिव्यवच्छेदेनावधार्यते। **जातुचित्** प्रतिसंहारवेलायामन्यदा वा। न हि तस्य तद्वेलायां निश्चयः; निश्चयस्यैव तदा विकल्पत्वेनासम्भवात्। नाप्यन्यदा, अनुमानवैफल्यापत्तेः, निश्चिते समारोपाभावाच्च। **तस्य** रूपस्य। **दर्शन**मुपलम्भनम्। 'न' इत्यावृत्त्या सम्बन्धः। न ह्यनिश्चितं दृष्टं नाम, अन्यथा 'सत्तामात्रस्यैव दर्शनं सर्वत्र, भेदप्रतिपत्तिस्तु तदविद्यापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव' इति विकल्प्येत। भवतु निश्चितस्यैव तस्य दर्शनमिति चेत्, अत्राह—

---

१ भवत स्व–आ०, ब०, प०। २ तस्याप्यपहा–आ०, ब०, प०। ३ निर्विकल्पस्य। ४ तैरवक– आ०, ब०, प०। ५–या स्युस्तस्य आ०, ब०, प०। ६ अनुमानस्य। ७ "स्वलक्षणप्रकारेण"–ता० टि०। ८ अपोहिताना आ०, ब०, प०। ९ न हि तदभिमतस्य आ०, ब०, प०।

यथानिश्चयनं तस्य दर्शनं तद्वशात्किल ॥ २६ ॥ इति ।

निश्चयनस्यानतिक्रमात् **यथानिश्चयनम्**, पञ्चम्यन्तमेतत् । **तस्य** रूपस्य । **दर्शनं किल**[1] मेति यावत् । किलशब्दस्यारुचिवाचिनो निषेधपरत्वात् । कीदृशात्ततस्तद्दर्शनं न रुच्यत इति चेत् ? **तद्वशात्** सदृशेतरात्मकवस्तुवशात् । न ह्यन्यवशान्निश्चयादन्यदर्शनम्, नीलनिश्चयात् पीतादेरपि तत्प्रसङ्गात् । कुतः पुनस्तद्वशत्वं निश्चयस्येति चेत् ? स्वतस्तस्य बहिरन्तश्च जात्यन्तरविषयतयैव प्रसिद्धेः । असाधारणविषयत्वे तु निश्चय एव न भवेद्दर्शनवत् । तत्र चोक्तम्—"**अनिश्चितस्य न दर्शनम्**" [ ] इति । पुनर्निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानं पूर्वप्रसङ्गानतिवृत्तेः । ततस्तद्वश एवायं तथाप्रसिद्धेः । एतदेव **किल**शब्देन प्रसिद्धिवाचिना दर्शयति । तद्वशत्वेऽपि निश्चयस्य कथं दर्शनस्य तत्त्वम् ? न हि तदनुसार्येव निश्चयो विपरीतस्यापि दर्शनात् । मरीचिदर्शनात्तोयनिश्चयवदिति चेत्; भवतु तत्रैवं यत्र बाधकप्रत्ययः, न चेहासावस्ति । जात्यन्तरविलक्षणविषयस्य कस्यचिदपि तस्यानुपलम्भात् । जात्यन्तरविषयमपि न किञ्चिदुपलभ्यत इति चेत्; न; निश्चयस्यैव[2] दर्शनात्, तस्य विकल्पेतरात्मकतया विकल्पान्तरसदृशेतरात्मकतया च स्वत एवोपलम्भात् । दर्शनं तद्विषयं नोपलभ्यते यदनुसारी निश्चय इति चेत्, न; तस्यापि संस्कारप्राग्भाविनः अवायस्योपदर्शनात्[3] । निश्चयरूपत्वे तस्य किं संस्कारेण तद्रूपेणेति चेत् ? निश्चयतारतम्यात् प्रयोजनविशेषाच्च । विचारितञ्चैतत् प्रथमप्रस्ताव इति नेह विचार्यते । ततः समानपरिणाम एव सामान्यं निर्बाधप्रत्ययत्वान्नापरं विपर्ययात् । तत्परिणामोऽपि[4] यद्यनेकवृत्तिरेकः; कथं तस्य ग्रहणम् ? अनेकविशेषदर्शनादिति चेत्; न; सन्निहितवर्त्तमानविशेषदर्शनस्य तदन्यत्राप्रवृत्तेः, तद्वृत्तौ विश्ववेदित्वोपपत्तेः[5], तथा च किं तस्य शब्देनानुमानेन वा ? यतस्तदर्थेन परिणामिनि सम्बन्धपरिकल्पनेन कि क्लिश्येत ? न च तदनुपलम्भे तद्गतस्य तत्परिणामस्य प्रतिपत्तिः, व्यापकप्रतिपत्तेर्व्याप्यप्रतिपत्ति विनाऽनुपपत्तेः[6] । भवतु दृष्टे तस्य ग्रहणम्, अग्रहणञ्चान्यत्रेति चेत्; न; विरुद्धधर्माध्यासेन[8] भेदे[7] स्वरूपविरहापत्तेः । सत्यपि तस्मिन् गृहीतेतरात्मना तस्याभेदे विशेषाणामपि परस्परं तत्प्रसङ्गः; तथा चासन्निहितवत्तद्व्यतिरेकान्न सन्निहितस्यापि तस्य दर्शनम् । दर्शने वा तत एवासन्निहितस्यापि सर्वस्य दर्शनमिति प्रतीतिप्रत्यनीकमापद्येत । विशेषेभ्यो भिन्न एव तत्परिणामः, ततो न दर्शनादर्शनाभ्यां तत्र तत्कल्पनमुपपन्नमिति चेत्; अस्तु नामैव तथापि कथं स[9] कश्चित् खण्डादीनामेव न कर्क्यादीनामपि । तैरेवोपकारादिति चेत्, न; तस्य बहुभिरेकस्यासम्भवात् । अनेकत्वे तु तत्परिणामस्यापि तद्व्यतिरेकादनेकत्वं कार्यत्वञ्चेति कथमसावेको नित्यश्चोपगम्येत ? व्यतिरेके स एव प्रसङ्गः कथं स तस्येति ? तेनापि तदपरस्य करणादिति चेत्; न, तत्रापि तथा प्रसङ्गादनवस्थादोषाच्च । नोपकारवशात् स तेषाम्, अपि तु तदभिव्यङ्ग्यत्वात् तत्रावस्थानात्, तैस्तत्पातप्रतिषेधाद्वेति चेत्; न; अभिव्यङ्ग्यत्वादीनामप्युपकारविशेषत्वेनानुपकारिभिरसम्भवात् । तन्नैकस्तत्परिणामः सम्भवति यस्य दर्शनं यतो वा सामान्यप्रयोजनमुपकल्प्येत । तदेवाह—

---

१ किलेति आ०, ब०, प० । २ निश्चयरूपप्रत्यक्षस्य । ३ अवायस्य । ४ समानपरिणामोऽपि । ५–दितापि–आ०, ब०, प० । ६ विना कृत्यानुप–आ०, ब०, प० । ७ भेदस्व–आ०, ब०, प० । ८ विरुद्धधर्माध्यासे । ९ कथमसौ च. क–आ०, ब०, प० ।

समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं दृशिः । इति ।

समानपरिणामः सादृश्यपर्यायः, एकवचनादेकत्वस्य प्रतिपत्तेः । **चेत्** यदि । **अनेकत्र** बहुषु विशेषेषु । **कथं** न कथञ्चित् **दृशिः** दृष्टिः उक्तन्यायात् । भवतु प्रतिविशेष भिन्न एव स इति चेत्; कथमिदानीमसौ सामान्यम् असाधारणत्वात् विशेषवदसम्भवाच्च विशेषाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके सम्बन्धाभावात् तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः । तदाह—

न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशभाक् ॥ २७ ॥ इति ।

न चेत् न यदि **समानपरिणामोऽनेकत्र, कथं** न कथञ्चित्, स एव सामान्यमिति व्यपदेशः, तस्य वा विशेषस्य स इति व्यपदेशस्तद्व्यपदेशस्तं भजतीति **तद्व्यपदेशभाक्** । अत्र निदर्शनम्—**विशेषाकारो वा** विशेषाकार इव । 'वा' शब्दस्येवार्थत्वात् । यथा तदाकारस्यासाधारणत्वान्न तत्र सामान्यमिति व्यपदेशो नाप्यसौ तद्वपरस्येति ततो[1] भिन्नत्वात् तथा समानपरिणामेऽपीति परो मन्यते । प्रतिविधानमत्राह—

सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः । इति ।

सदृशश्चासदृशश्च सदृशासदृशौ समानासमानपरिणामौ **आत्मानो** येषां खण्डादीना ते तथोक्ताः । सदृशात्मान इति बहुवचनमनेकवर्तिनि एकस्य तत्परिणामस्य निषेधार्थम्, असदृशात्मान इति तु निदर्शनार्थम् । यथैवं तेष्वसदृशात्मसु नैकोऽनेकवर्तितत्स्वभावः तथाप्रतीत्यभावात् तथा सदृशात्मस्वपि तत्स्वभाव इति[2] । ततः'**समानपरिणामश्चेत्**' इत्यादि न दूषणमनभ्युपगमादिति भावः ।

यद्येवं भेदाविशेषात्कथमसौ सामान्यमितरवदिति चेत् ? न; तत एव सामान्यप्रयोजनस्य भावात्, अनेकवर्तित्वेऽपि तत एव तदु[3]पपत्तेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गस्य वक्ष्यमाणत्वात् । आत्मग्रहणं तयोः परस्परभेदार्थम् । तद्भेदे तदात्मनः खण्डादेरपि तत्प्रसङ्गात् । न चैवमप्रतीतेः । **नियतवृत्तयः** नियता सङ्करव्यतिकरविकला वृत्तिरात्मलाभो येषां ते तथोक्ताः । अनेन "**चोदितो दधि**" [प्र० वा० ३।१८] इत्यादि चोद्यं प्रत्युक्तम्; दधिद्रव्यस्य स्वगतैरेव सदृशपर्यायैरात्मलाभात् करभगतैः तथैव प्रतीतेः । न च तादृशास्ते बुद्धिपरिकल्पिता एव अपि तु **सन्तः** परमार्थतो विद्यमानाः । कुत एतत् ? दृशिर्यतः, दृशिरित्यस्यानुवर्तनात् । निदर्शनमपि तेषामत्यन्तविसदृशतयैवेति चेत्; न, नीलतज्ज्ञानयोः सदृशतयापि तद्भावात्, "**सारूप्यमस्य प्रमाणम्**" [न्यायवि०पृ०२५] इति वचनात्[4] । न च तत्र कल्पितमेव तत्, ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वव्यापत्तेः । तन्न प्रत्यक्षादत्यन्तविसदृशभावप्रतिपत्तिः । [5]नापि विकल्पात्; तस्यातद्विषयत्वात् । नातद्विषयेण तत्प्रतिपत्तिः, अतिप्रसङ्गात् । नाय दोषः, प्रतिबन्धविषयस्यैव ततः सिद्धेरिति चेत्, न; प्रतिबन्धस्य प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तेः तस्यासाधारणविषयस्याभावात् । न हि तदविषयात्तत्र कस्यचित्प्रतिबन्धपरिज्ञानम् । नापि विकल्पान्तरात्तत्प्रतिपत्तिः; तस्यापि तदविषयत्वात् । प्रतिबन्धेन तद्विषयत्वेऽनवस्थापत्तिः, तत्राप्यन्यतो विकल्पात् प्रतिबन्धपरिज्ञानात् । ततो न युक्तम्—"**स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावाः**" [ ] इति[6]; अत्यन्तविसदृशस्वभावव्यवस्थितेरपरिज्ञानात् । सदृशाकारस्यापि कथं परिज्ञानम् ?

---

१ तयाभिन्नत्वात्तया आ०, ब० । २ 'अनेकवर्ती नैक' इत्यन्वय । ३ तत्त्वोपपत्ते आ०, ब० प०, । ४ "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्"—न्यायवि० । ५ नाविक-आ०, ब०, प०, । ६ "सर्व एव हि भावाः स्वरूपस्थितयो नात्मान परेण मिश्रयन्ति ।"—प्र० वा० स्ववृ० ३।४२ ।

कथं च न स्यात् ? शावलेयप्रत्यक्षेण बाहुलेयादेरप्रतिपत्तेः[1] । न हि तदप्रतिपत्तौ तत्प्रतियोगितया तदाकारस्य सम्भवति प्रतिपत्तिरिति चेत्; किमिदानीं प्रत्यर्थनियता एव बुद्धयः ? तथा चेत्; तद्बहुत्वमपि न भवेत्, अप्रतिपत्तेः । मा भूत्, एकव्यक्तिकस्यैव संवेदनस्याभ्युपगमादिति चेत्; न; तस्यापि निष्कलपरमाणुरूपस्याप्रतिवेदनात् । नानाकारमेकं तदिति चेत्; सिद्धं नः समीहितम् । एकेनानेकस्य व्याप्तिवत् ग्रहणस्याप्युपपत्तेः । ततः शावलेयदर्शनेन बाहुलेयादेरप्युपलम्भादुपपन्नं परस्परप्रतियोगितया ततस्तत्सदृशाकारस्य परिज्ञानं विसदृशाकारवत् । कथं पुनः स एव सदृशो विसदृशश्चेति चेत् ? न; दृष्टत्वात्, दृष्टे चानुपपत्तिपरिप्रश्नायोगात्[1] । ततः सूक्तम्–'सन्तस्ते दर्शिताः' इति । अतश्च ते सन्त इत्याह–

तत्रैकमन्तरेणापि[2] सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ॥ २८ ॥ इति ।

तत्र इत्यत्रावधारणं द्रष्टव्यम् । तत्रैव तेषु सदृशासदृशात्मस्वेव । शब्दवृत्तयो वचनव्यापारा यतस्ततः ते सन्तः इति । न हि निर्भागे भावे तत्सम्भवः । यदि[3] स्यात् एक इव सा[4] स्यात् न बहवः[5] । [5]बहवश्च दृश्यन्ते शब्द इत्यनित्य इति कृतक इति च । न हि[9] शब्दत्वादिसदृशेतरधर्मबहुत्वमन्तरेण एकत्रानेकतत्प्रवृत्तिः पर्यायत्वापत्तेः । तदभावेऽपि व्यावृत्तिभेदात्[8] तत्प्रवृत्तिरिति चेत्; न; [7]तद्भेदस्य वस्तुसत्त्वे निरंशवादव्याघातात् । अवस्तुसतश्च प्रत्यक्षेणानवगमात् । विकल्पेनावगम इति चेत्; न, ततोऽपि वस्तुपराङ्मुखत्वेन वस्तुगतत्वेनाऽनवगमात् । अवस्तुगतत्वेनावगमस्यापि वैफल्याद् व्यवहारानुपयोगात् । वस्त्वेकत्वाध्यवसायात्तस्य तदुपयोग इति चेत्; न; तस्य निषिद्धत्वात् । तन्न एकत्रानेकशब्दवृत्तिः[6] असद्भावे सम्भवति । एतदर्थमेव 'शब्दवृत्तयः' इति बहुवचनम् । कथं पुनर्वस्त्वंशत्वे [10]तत्प्रवृत्तेः [11]देवदत्तादावेकत्रैव 'आत्मानमात्मना वेत्ति' इति कारकभेदस्यापोद्धारा इति, कलत्रे जलबिन्दौ[12] च बहुत्वस्य वचनमिति चेत् ? अत्रोत्तरम्–एकमन्तरेण एकधर्मं विना अनेकधर्मभावेनेत्यर्थः । भवति हि तत्र [13]शक्तिभेदरूपोऽवयवनानात्वादिलक्षणश्च धर्मभेद इत्युपपन्नैव तद्वाच्ये[14] तद्वचनप्रवृत्तिः । न चैवम्, तत्र देवदत्त इति जलमिति कलत्रमिति चैकवचनस्याप्रयोगः, एकस्यापि शक्तिभे[15]दादिरूपस्य तद्वाच्यस्य भावात् । एतत् अपिशब्देनैकत्वसद्भावं समुच्चिन्वता दर्शयति । यद्येवं किन्न कलत्रादिपदवद् दारादिपदेनाप्येकार्थकथनं यतस्तत्रैकवचनं न भवेदिति चेत् ? न; प्रायशस्तस्य बहुत्व एव सङ्केतात् । न हि शब्दाः स्वसामर्थ्यादेव वस्तुवाच्यमावेदयन्ति, यतो दारादिभिरेकत्वमप्यावेद्येत, अपि तु सङ्केतबलात् । सङ्केतश्च वृद्धानां यत्र यथा तत्र तथैव तन्मार्गप्रवृत्तेरनुसर्त्तव्यः, तद्व्यतिक्रमे प्रयोजनाभावात् । तच्चोक्तम्–'सङ्केतात्' इति ।

---

१ 'प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे काऽनुपपन्नता ॥ इति सौगतैः स्वयमेवाभिधानात् ।–'ता० टि० । २ सन्तो यच्छब्द–ता० । ३ •याद्येकादेश्साध्यस्यात्र वहवश्च प० । ४ शब्दवृत्ति । ५ 'वेदकिनो टी (शा०सू० १।३।५८) इत्यनुवर्तने सति बह्वादे (शा०सू० १।३।६ ।) इति सूत्रेण विकल्पेन ङीप्रत्यय तेन बहवः बह्व्य इति रूपद्वयम् ।'–ता० टि० । ६ शब्दवृत्तय । ७–दात्म–आ०, ब०, प० । ८ व्यावृत्तिभेदस्य । ९ सदृशेतरधर्मबहुत्वाभावे ।–त्तिस्तद्भावे आ०, ब, प० । १० शब्दप्रवृत्ते । ११ देवदत्तादावनेकत्रैव आ०, ब०, प० । १२–न्दौ ब–ता० । १३ भक्ति–आ०, ब०, प० । १४–च्ये वस्तुनि बहुवचनप्रवृ–आ०, ब०, प० । १५ 'आदिशब्देन अवयव्यादि. ।'–ता० टि० ।

शब्दप्रवृत्तिसङ्केतात् सदृशासदृशात्मसु ।
विचित्ररूपा दृष्टेयं न निषेध्या विपश्चिताम् ॥ १३५४ ॥

तत इदं प्रत्युक्तम्—

"न चादृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ।
तथा चेत्स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४२] इति ।

सङ्केतादेव शब्दस्यार्थप्रतिबन्धपरिज्ञानात् । ततोऽपि कथमनित्यस्य तत्परिज्ञानम्, उपलब्धस्य सङ्केतकालेऽनवस्थानात् ? अवस्थितस्य तत्परिज्ञानसिद्धौ नित्यत्वमेव तस्य कालान्तरावस्थितिलक्षणत्वात् । सत्यपि कथञ्चित्तत्परिज्ञाने न प्रयोजनं परिज्ञातप्रतिबन्धस्य व्यवहारेऽनन्वयात्, तत्कालभाविनश्च ततोऽन्यत्वात् । न चान्यस्य तत्परिज्ञाने तदन्यस्य वाचकत्वम्, गोशब्दस्य तत्प्रतिपत्तौ अश्वशब्दस्यापि तत्त्वापत्तेः । गोशब्दाद् गवाश्वशब्दयोः भेदेऽपि गोशब्द एव स्वाभाव्याद्वाचकः खण्डादीनां तथाप्रतीतेः, नाश्वशब्दो विपर्ययात् । दृष्टं चैतत् तेजसः कस्यचित् रूपसम्बन्धपरिज्ञानेऽपि तदपरस्यापि तेजस एव रूपप्रकाशकत्वं नापरस्येति चेत्; भवेदेवं यदि तत्र किञ्चिन्निबन्धनम्, तदभावे कोऽसाविति तन्निश्चयानुपपत्तेः । भवतु प्रतीतिरेव तत्र निबन्धनम्—यस्मिन्नुच्चारिते सत्यसौ भवन्ती व्यवहारमवकल्पयति स एवाभिधित्सितस्य वाचको नापर इति तन्निश्चयोपपत्तेरिति चेत्, इत्थं भवतु वा श्रोतुस्तदुपपत्तिर्न तु वक्तुः, उच्चारणात् पूर्वं तन्निबन्धनाभावात् । अनुत्पन्नतन्निश्चयश्च कथमसौ शब्दं नियतार्थोपदर्शनार्थमुच्चारयेत् ? अथ सोऽपि जानात्येव 'अयमेवास्य वाचकः' इति, यद्येवं प्रागपि तेनायमवधारित एव तत्क्षणप्रत्युत्पन्नशरीरे तथापरिज्ञानानुपपत्तेः, एवञ्च नित्य एवायम् । यदुक्तम्—'दृष्टं चैतत्, इत्यादि, तदपि न युक्तम्; न हि तेजसः सम्बन्धपरिज्ञानात् प्रकाशकत्वम्, अपि तु चक्षुरादीनां सन्निधिमात्रेण सहकारित्वात् । ततो यदुक्तम्—"प्रतिनवस्यापि तस्य तत्त्वं न शब्दस्य ।" [ ] तत्र तत्परिज्ञानस्यावश्यापेक्षत्वात् । तस्य चानित्यशब्दवादिनामुक्तन्यायेनासम्भवात् । उक्तञ्चैतत्—

"सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नानित्यस्योपपद्यते ।
सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् ध्रुवं कालान्तरस्थितिः ॥१॥
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ।
गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ॥२॥
अथान्योऽपि स्वभावेन कश्चिदेवावबोधकः ।
तत्रानिबन्धने न स्यात्कोऽसाविति विनिश्चयः ॥३॥

१ सङ्केतिताद् गोशब्दात् । २ रसादे । ३-नु हि श्रो-आ०,ब०,प० । ४ वक्ता । ५-तार्थप्रदर्श- आ०, ब०, प० ।

यतः प्रत्यय इत्येवं व्यवहारोऽवकल्पते ।
श्रोतॄणां स्यादसावित्थं वक्तॄणां नावकल्पते ॥४॥
अज्ञात्वा क्रमसौ शब्दमादावेव विवक्षितम् ।
जानाति चेदवश्यञ्च पूर्वं तेनावधारितः ॥५॥
तेजःप्रत्यक्षशेषत्वान्मूर्त्तेऽपि प्रकाशकम् ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४२–४७.]

इति चेत्; अत्राह—

तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु ।
समयस्तत्प्रकारेषु प्रवर्त्तेतेति साध्यते ॥२९॥ इति ।

समय ईदृश ईदृशस्य वाच्यो वाचकश्चेति संवित्तिः प्रतिपाद्यस्य । **साध्यते** निष्पाद्यते गणधरदेवादिभिः । किं कृत्वा ? **तत्र** तेषु पूर्वं निरूपितेषु **समानपरिणामिषु** सदृशविवर्त्तनशीलेषु वाच्येषु वाचकेषु च **एकं** वाच्यं वाचकञ्च **अभिसन्धाय** दर्शनस्मरणाभ्यां प्रत्यवमृश्य । तथाप्युपलब्धशब्दानुस्मरणेनाभिसन्दधानः तथाविधस्यैव प्रतिपाद्यस्य संकेतयति—'योऽसौ त्वयाऽभिसन्धीयते तादृशादीदृशः प्रत्येतव्यः' इति । ततो न युक्तम्—'सम्बन्ध' इत्यादि, कालान्तरानवस्थितावप्यभिसन्धानविषयस्य सम्बन्धज्ञानसिद्धेः । 'अन्यस्मिन्' इत्याद्यपि न सङ्गतम्; अन्यस्यापि प्रतिपन्नसम्बन्धसदृशस्यैव वाचकत्वान्नापरस्य । 'अथ' इत्याद्यपि न साधीयः; सादृश्यस्य तन्निश्चयनिबन्धनस्य भावात् । प्रत्ययस्य तु तत्त्वं नेष्यत एव, यतो 'यतः प्रत्यय' इत्यादि ब्रूयात् । एवम् 'अज्ञात्वा' इत्यादिकमपि तज्ज्ञानस्य निषेधितत्वात् । न चायं जानन्नप्येकत्वेन जानाति सदृशतयैव प्रतिपत्तेः । ततो 'जानाति चेत्' इत्याद्यपि दुर्व्याहृतमेव, नित्यत्वप्रसङ्गाभावात् ।

सादृश्याद्वाचक इत्ययुक्तम्, तस्यैव दुरवगमत्वेनाभावात् । भावेऽपि कस्य सादृश्यादुत्तरस्य वाचकत्वमवकल्प्येत ? अनर्थकस्येति चेत्; नः तस्योत्तरात्रिशेषात् । अर्थवतश्चेत्; कुतस्तस्य तावान् क्षणो यावताऽर्थवत्त्वप्रतिपत्तिः । न हि द्वित्रादिक्षणानवस्थितस्यार्थवत्त्वं शक्यावसायम्, इत्यप्यचोद्यम्; सादृश्यपरिज्ञानस्य सुलभत्वात्, अनर्थकसादृश्यस्य चानभ्युपगमात्, द्विस्त्रिरप्रतिपत्तिकत्वेऽर्थवत्त्वप्रतिपत्तेर्निरूपितत्वात् । तत इदमपि दुर्भाषितमेव—

"सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत्तद्द्वारेणाप्यवाचकः ।
कस्य वैकस्य सादृश्यात् कल्प्यतां वाचकोऽपरः ॥१॥
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा ।
अर्थवान् पूर्वदृष्टश्चेत्तस्य तावान् क्षणः कुतः ॥२॥

१–नश्वरीरेषु आ०, ब०, प० । २ संकेतो यदि आ०, ब०, प० । ३ इतीति त–आ०, ब०, प० । ४ इत्येतदपि आ०, ब०, प० । ५ ततो आ०, ब०, प० । ६ तानप्येक– आ० ब०, प० । ७ –र्थत्वप्र– आ०, ब०, प० । ८ द्वि प्रवृत्तिक– आ०, ब०, प० ।

द्विस्त्रिर्वानुपलब्धो हि नार्थवान् सम्प्रतीयते ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५०]

'अर्थवान्' इत्यादेः पुनरुक्तत्वाच्च तदर्थस्य 'सम्बन्धदर्शनञ्चास्य' [ ] इत्यनेनापि प्रतिपादितत्वात् ।

[1]सादृश्यादर्थवत्त्वमशब्दान्तरवेदिनं प्रति न भवेत्, तेन तत्सादृश्यस्यापरिज्ञानात् । भवतु [2]तदन्तरवेदिनं प्रत्येवेति चेत्; अद्भुतमेतत्–स एवार्थवानन्यथा च, इति विरोधात् । अतद्वेदिनं प्रत्यर्थवानेवायं स्वत एव केवलमुपायाभावान्न जानातीति चेत्; उत्तरोऽपि तर्हि स्वत एव वाचक इति किं तत्र सादृश्याद्वाचकत्वकल्पनया ? तन्नानन्यश्रुतिं प्रत्युत्तरस्यार्थवत्त्वमुपपन्नम् । अनर्थवत्त्वे तु पूर्वस्यापि स्यात्, तत्राप्यनन्यश्रुतिसद्भावात्, इत्यनर्थकत्वमेव सर्वस्यापि शब्दप्रबन्धस्य प्राप्तम् ।

अपि च, शब्दान्तरवेदिनामर्थवत्सदृशत्वेन योऽसावभिमतः स एवातद्वेदिनां मुख्यो भवेत्, तत्रैव प्रथमं तैरर्थवत्त्वप्रतिपत्तेः, तथा चायं पूर्वस्मान्मुख्यादभिन्न एव भवेत् मुख्यत्वात्तद्रूपवदिति न शब्दे नित्यत्वप्रतिक्षेपः ; इत्यपि न चोद्यम्; अनेकान्तवादिनः कचिदर्थवत्त्वेतरयोरपेक्षाभेदेनाऽविरोधात्, दृश्येतरत्ववत् । नहि [3]चक्षुरन्यतोऽप्यदृश्यमेव; तद्व्यवहारविलोपापत्तेः । न च स्वशक्तितः पूर्वस्यार्थवत्त्वं यत उत्तरस्यापि तथैव वाचकत्वात् 'सादृश्याद्वाचकः' इति कल्पनं न भवेत्, अपि तु सङ्केतादेव सादृश्यविशेषालम्बनात्, तद्वदुत्तरस्यापि । न चानन्यश्राविणं प्रत्यनर्थकत्वेऽपि वचनमबन्धस्य सर्वथाऽनर्थकत्वम्; प्रतिपन्नसङ्गतिं प्रत्यर्थवत्त्वप्रतिपत्तेः । न च 'मुख्य' इत्येव पूर्वस्मादुत्तरस्याभेदः, कालविच्छेदेन तयोर्भेदाध्यवसायात् । तन्न तत्र नित्यत्वप्रसक्तिः । तत इदमप्यपर्यालोच्य जल्पितम्—

"अप्रतीतान्यशब्दानां तत्काले ऽसावनर्थकः ।
प्रतीतान्यश्रुतीनां स्यादर्थवानिति विस्मयः ॥१॥
अथास्य विद्यमानोऽपि कैश्चिदर्थो न गृह्यते ।
तत्तुल्यमुत्तरस्येति किं सादृश्येन वाचकः ॥२॥
अनर्थकत्वमस्य स्यादथानन्यश्रुतीन् प्रति ।
पूर्वस्मिन्नपि तत्सत्त्वात् सर्वस्यानर्थता भवेत् ॥३॥
अर्थवत्सदृशत्वेन यो वा श्रुतवतां मतः ।
मुख्योऽसावश्रुतीनां स्यान्नित्यत्वेन प्रयुज्यते ॥४॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५०-५४] इति ।

धूमादौ हेतावप्यस्य समानत्वाच्च । नहि तस्यापि सादृश्यादन्यतो गमकत्वम् । तत इदं तत्र वक्तव्यम् —

१ –वत्त्वम– आ०, ब०, प० । २ तदनन्तरवे– आ०, ब०, प० । ३ चक्षुष्मतो दृ– आ०, ब०, प० । ४ स्वशक्तित एव । ५ –वचनप्रतिबन्धस्य प्रति–आ०, ब०, प० । ६ –ज्ञोऽसाव– श्रा० । ७ 'स एवान्यश्रुतानाम्'– मी० श्लो० । ८ अर्थवान् स– आ०, ब०, प० । ९ "स्याच्चदेकत्वेन युज्यते"– मी० श्लो० ।

न सादृश्येन धूमादिर्गमकस्तदवेदनात् ।
कस्य वैकस्य सादृश्याद्गमकः कल्प्यतां परः ॥१३५५॥
अदृष्टसङ्गतत्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा ।
गमकः पूर्वधूमश्चेत्तस्य तावान् क्षणः कुतः ॥१३५६॥
द्विस्त्रिर्वानुपलब्धो हि गमको नावगम्यते ।
अप्रतीतान्यधूमानां न चाय गमकस्तदा ॥१३५७॥
प्रतीतापरधूमानां भवेदित्येष विस्मयः ।
गमकत्वं सदृप्यस्य यदि कैश्चिन्न गृह्यते ॥१३५८॥
तत्तुल्यमुत्तरस्येति सादृश्याद्गमकः कथम् ।
अथास्यागमकत्वं स्यादनन्यगमकं प्रति ॥१३५९॥
पूर्वस्मिन्नपि तत्सत्त्वात् सर्वोऽप्यगमको भवेत् ।
गमयन् सदृशत्वेन यो वा तद्वेदिनां मतः ॥१३६०॥
मुख्योऽसावपरेषां स्यान्नित्यत्वेन प्रयुज्यते ।
न चादृष्टार्थसम्बन्ध इत्याद्यपि पुरोदितम् ॥१३६१॥
एवमत्रापि वक्तव्यं समानन्यायवेदिभिः । इति ।

भवतु नित्यत्वमेव हेतुष्विति चेत्; न; व्यक्तितस्तदभावात् । सामान्यत इति[1] चेत्; न ततो विशेषप्रतिपत्तिः तत्प्रतिबन्धस्य दुरवबोधत्वात् । प्रतिपत्तिरपि सामान्यस्यैवेति चेत्; न तर्हि ततो विशेष तदर्थिनां प्रवृत्तिः अपरिज्ञानात् । लक्षितलक्षणे चानवस्थानात् । निरूपितश्चैतत् '**तद्वत्यचोदिते**' [3]इत्यादिना । ततो व्यक्तीनामेव [4]सदृशरूपतया हेतुत्वमिति कथन्न तत्राप्ययं प्रसङ्गो यदनुमानमव्याकुलं भवेत् ।

लिङ्गं चेत् प्रसङ्गोऽयं न शब्देऽप्यविशेषतः ।
ततः प्रलाप एवायमनालोचितकल्पनः ॥१३६२॥
तुल्यकक्ष्यत्वमेवैवं भवतु शब्दलिङ्गयोः ।
अनुमानाधिकारेऽपि कृतं शब्दनिरूपणम् ॥१३६३॥

यदि न शब्दस्य कालान्तरावस्थितिः किमिति तत्र समयः साध्यते व्यवहारानुपयोगादिति चेत् ? अत्रोत्तरम्—

'**तत्प्रकारेषु**' तस्य साध्यमानसमयस्येव प्रकारः परिणतिविशेषो येषां तेषु शब्देषु । तैस्तदर्थप्रतिपादनाय तदर्थेषु च तैस्तत्प्रयोजनाय **प्रवर्त्तेन** प्रवृत्तिं कुर्वीत लोकः इति एवं स तत्र साध्यते न पुनस्तेनैव तस्यैव पुनरपि प्रतिपत्त्यर्थम् । लिङ्गमेवात्रोदाहरणम् ।

---

१ सर्वोऽस्य ग- आ०, ब०, प० । २ इति विशेषे प्र- आ०, ब०, प० । ३ न्यायवि० श्लो० .... । इति न आ०, ब०, प० । ४ सादृश्यरूप- ता० ।

धूमादिकं यथा किञ्चिदभिसन्धाय कुत्रचित् ।
सम्बन्धस्तत्प्रकारेषु प्रवर्त्ततेति साध्यते ॥१३६४॥
तथा वचः क्वचित्किञ्चिदभिसन्धाय सूरिभिः ।
समयस्तत्प्रकारेषु प्रवर्त्ततेति साध्यते ॥१३६५

उपसंहरन्नाह—

तज्जातीयमतः प्राहुर्यतः शब्दा निवेशिताः । इति ।

अतोऽनन्तरोक्तान्न्यायात् । आ (प्रा) हुः प्रतिपादयन्ति गवाश्वादयः । किम् ? **तज्जातीयं** तत्प्रकारम् । **यतो** यस्मिन् खण्डकर्कादौ **निवेशिताः** स्थापिताः **शब्दा** इति । किं पुनरिदं शब्दानां तत्र निवेशनम् ? सम्बन्धकरणमेव । सर्गादावीश्वरेण तत्करणस्य प्रसिद्धेरिति चेत्; न; नित्यत्वे तदयुक्तेः "तदुक्तम्" [शाबरभा० १।१।१८] इत्यनेन भाष्येण प्रतिपादनात् । अनित्यत्वेऽपि विशेषतः सम्बन्धस्य दुष्करत्वात् । न हि शब्दस्यासत्युच्चारणे तदनन्तरनाशे वा तत्करणं निर्विषयत्वापत्तेः प्रयोजनविरहाच्च । ततः पूर्वस्यासम्बद्ध्यैव नाशादुत्तरस्य चाकृतसम्बन्धत्वाद्दुर्विज्ञानमेवार्थवत्त्वम् । न चैकदैवोच्चारणं सम्बन्धकरणं व्यवहारश्च सम्भवति, तत्क्रियाणां क्रमस्वभावत्वेन युगपत्करणायोगात् । भवन्नपि कर्तृमुखनिष्क्रान्तः शब्दः कृतसम्बन्धो नैकः श्रोतॄणां सिद्ध्यति, तैर्देशकालादिभिन्नैः शब्दान्तरस्यैव श्रवणात्, अन्यथा तस्य नित्यव्यापित्वापत्तेः । तन्न सम्बन्धस्य करणं निवेशनम् । नापि कथनम्; तस्याप्येवं निराकृतेः । न हि तदपि नष्टे सति वर्तमाने वा सम्भवति उक्ताया एवोपपत्तेः । उक्तञ्चैतत्—

"सम्बन्धकरणे युक्तिस्तदुक्तमिति कथ्यते ।
शब्दानित्यत्वपक्षे हि विशेषेण स दुष्करः ॥१४॥
शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्धकरणं कुतः ।
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥२॥
तेनासम्बद्ध्य नष्टत्वात् पूर्वस्तावदनर्थकः ।
उत्तरोऽकृतसम्बन्धो विज्ञायेतार्थवान् कथम् ॥३॥
शब्दोच्चारणसम्बन्धकरणव्यवहारिकाः ।
क्रियाः क्रमस्वभावत्वात् कः कुर्याद्युगपत्क्वचित् ॥४॥
देशकालादिभिन्नानां पुंसां शब्दान्तरश्रुतेः ।
पूर्वं कृत्रिमसम्बन्धोऽप्येकः शब्दो न सिद्ध्यति ॥५॥

१ "कस्यचित्पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तदुक्तं सदृश इति चावगते व्यामोहा-दप्रत्ययो व्यावर्त्तेत शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव ।"– शाबरभा० १।१।१८ । २ –सम्बन्धिनि श्रो– ३ ', ब०, प० । ३ –"सम्बन्धस्येत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् ।"– ता० टि० ।

सम्बन्धकथनेऽप्यस्य स्यादेषैव निराक्रिया ।
नष्टासद्वर्तमानेषु नाख्यानस्य हि सम्भवः ॥६॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५४-५९]

इति चेत्; न, शब्दस्योच्चारणानन्तरनाशेऽपि सङ्कलनबुद्ध्यवस्थापितत्वेन तत्र सम्बन्धकरणतत्कथनयोरुपपत्तेरभिहितत्वात् ।

यदुक्तम्—'देशकालादिभिन्नानाम्' इत्यादि, तदपि न समीचीनम्; वक्तृमुखनिष्क्रान्तस्यैव शब्दपर्यायिणः पुद्गलस्कन्धस्यानेकधाकारेण प्रतिश्रोतृ श्रोत्रप्रदेशं प्रवेशाद् देवदत्तस्यायं शब्द इति प्रतीतेरस्खलनात् । उच्चारणानन्तरविनाशस्यापि तत्प्रवेशानन्तरभङ्गाभिप्रायेणैवाभिधानात् । कथञ्चैवं ध्वनीनामपि वर्णसम्बन्धो यतस्तदभिव्यक्तये तदुपादानं क्रियेत ? शक्यं हि वक्तुम्—

सम्बन्धकरणे युक्तिस्तदुक्तमिति कथ्यते ।
ध्वन्यनित्यत्वपक्षेऽपि विशेषेण स दुष्करः ॥१३६६॥
ध्वनिं तावदनुत्पाद्य सम्बन्धकरणं कुतः ।
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥१३६७॥
तेनासम्बद्ध्य नष्टत्वात् पूर्वस्तावद्वर्णवान् ।
उत्तरोऽकृतसम्बन्धो वर्णवान् वेद्यते कथम् ॥१३६८॥
ध्वन्युत्पादनसम्बन्धकरणव्यावहारिकाः ।
क्रियाः क्रमस्वभावत्वात् कः कुर्याद्युगपत्क्वचित् ॥१३६९॥
देशकालादिभिन्नानां पुंसां ध्वन्यन्तरश्रुतेः ।
न प्राक्कृतिमसम्बन्धो ध्वनिरेकोऽपि सिध्यति ॥१३७०॥
सम्बन्धकथनेऽप्यस्य स्यादेषैव निराक्रिया ।
नष्टासद्वर्तमानेषु नाख्यानस्य हि सम्भवः ॥१३७१॥इति

यच्चेदमपरमपरस्य वचनम्—

"अर्थवान् कतरः शब्दः श्रोतुर्वक्त्रा च कथ्यताम् ।
यदपूर्वश्रुतं शब्दं नासौ शक्नोति भाषितुम् ॥
न तावदर्थवन्तं स ब्रवीति सदृशं वदेत् ।
नार्थवत्सदृशः शब्दः श्रोतुस्तत्रोपपद्यते ॥
अर्थवद्ग्रहणाभावान्न चासावर्थवान् स्वयम् ।
वक्तुः श्रोतृत्ववेलायामेतदेव प्रसज्यते ॥

१ –णनाशे– आ०, ब०, प० । २ –कलनानु– आ०, ब०, प० । ३ –धाका– आ०, ब०, प० । ४ प्रवेशादौ दे– आ०, ब०, प० । ५ –पर प–– आ०, ब०, प० । ६ "सादृश्यादर्थवान् स्वतो वेति विकल्पद्वय मनसिकृत्याह"– ता० टि० । ७ श्रोत्रे आ०, ब०, प० ।

एवञ्च सर्ववक्तॄणां न शब्दः कश्चिदर्थवान् ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० २६०–६३] इति

तदप्यत्र समानम् । तथाहि—

वर्णवान् कतरो नादः श्रोतुर्वक्त्रा निवेद्यताम् ।
यदपूर्वोद्भवं नादं नासौ शक्नोति भाषितुम् ॥१३७२॥
न तावद्वर्णवन्तं स ब्रवीति सदृशं वदेत् ।
न वर्णवत्समो नादः [1]श्रोतुस्तत्रोपपद्यते ॥१३७३॥
वर्णवद्ग्रहणाभावान्न चासौ वर्णवान् स्वयम् ।
[2]वक्तुः श्रोतृत्ववेलायामेतदेव प्रसज्यते ॥१३७४॥
एवञ्च सर्ववक्तॄणां न नादः कोऽपि वर्णवान् ।

इति कृतं प्रसङ्गेन ।

साम्प्रतमुक्तार्थस्मरणार्थम् **'सदृशासदृशात्मानः'** इत्यादि व्याचक्षाण आह—

नानेकत्र न चैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम् ॥३०॥ इति ।

अनेकत्र अनेकस्मिन् खण्डादौ **वृत्तिः** वर्त्तनं समवायो **न सामान्यस्य** गोत्वादे-**र्लक्षणम्** । **न च** नापि । **एकत्र** एकस्मिन्निति । अत्र हेतुमाह—

अतिप्रसङ्गतः [तत्त्वादन्यत्रापि समानतः] । इति।

कार्यद्रव्यसंयोगादेरनेकवृत्तित्वेन कर्मणश्चैकवृत्तित्वेन [3]सामान्यरूपत्वापत्तेरिति दोषात्, मीमांसक प्रत्यनेकवृत्तेरसम्भवाच्च । तदाह—**'तत्त्वात्'** इति तत्त्वं सामान्यस्य व्यक्तिभ्योऽनर्थान्तरत्वं ततः, न तस्यानेकत्र वृत्तिस्ततश्च न तल्लक्षणम् । तथा हि—

व्यक्तिवत्तदभिन्नस्य [4]तस्यानेकत्र वर्त्तनम् ।
कथं स्यादन्यथा तस्य तदभेदः कथं भवेत् ॥१३७५॥
सामान्यं तद्विशेषेभ्यो भिन्नाभिन्नं मतं यदि ।
कथं सावयवं न स्याद्येनेदमभिलप्यते ॥१३७६॥
"[5]कार्त्स्न्यैकदेशवृत्तिः प्रभुं जातौ न युज्यते ।
नहि भागविनिर्मुक्ते कार्त्स्न्यावयवकल्पनम् ॥ १३७७॥ इति ।
दृश्यादृश्यात्मकञ्च स्याद् भिन्नाभिन्नात्म तद्यदि ।
तथा सत्यन्तरालेषु नाग्रहात्तन्निषेधनम् ॥१३७८॥
"[6]व्यक्तिष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः ।"
इति सर्वत्र तद्वृत्तेः प्रागेवोत्तरमीरितम् ॥ १३७९ ॥

---

१ श्रोतुस्तत्रोप– आ०, ब०, प० । २ –वक्तृश्रो– आ०, ब०, प० । ३ –पत्तेरतिव्याप्ते मी– आ०, ब०, प० । ४ सामान्यस्य । ५ मी० श्लो० वन० श्लो० ३३ । ६ मी० श्लो० आकृति० श्लो० २५ ।

तस्मादेकस्वभावं तद्यथमित्थं विशेषतः ।
तत्रैव न परत्रेति सामान्यं तन्न युज्यते ॥ १३८० ॥

कथं तर्हि सामान्यम् ? इत्याह—**'अन्यत्रापि समानतः'** इति[1] । अन्यत्र खण्ड मुण्डादावपि **समानतः** सदृशपरिणामात् सामान्यमिति । सर्वतः सर्वस्य व्यावृत्तत्वेन विलक्षणत्वात् कथं तत्परिणाम इति ? अत्राह—

व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात् सर्वतोऽनवधारणम् ॥ ३१ ॥ इति

सर्वतः सजातीयाद्विजातीयाच्च **व्यावृत्तिं** स्वलक्षणानां विच्छेदं **पश्यतः कस्मात् अनवधारणम्** अनिश्चयनम् । [2]एवं मन्यते—दर्शनविषयत्वे व्यावृत्तेर्निश्चयेन भवितव्यं नीलादिवत्, तथा च व्यर्थमनुमानं निश्चिते समारोपाभावादिति । न दृष्टमित्येव निश्चयः, तत्रापि मारूप्याद्विभ्रमोपपत्तेः मायागोलकवदिति चेत्, अत्राह—

सादृश्याद्यदि साधूक्तं [तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम्] । इति ।

सादृश्याद्यदि अनवधारणं व्यावृत्तेस्तर्हि **साधूक्तं** जैनेन **'अन्यत्रापि समानतः'** इति । सादृश्यमपि व्यावृत्तिरूपमेवेति चेत्; आह—**'तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम्'** इति । **तत्** सादृश्यम् । **किं** नैव, **व्यावृत्तिरेव** तन्मात्रकम् अपि त्वन्यदेव । एवं मन्यते—यद्यन्यव्यावृत्ति[3]रेव हेतुफलयोर्घटक्षणयोः सादृश्यं घटकपालक्षणयोरपि तद्भावात्तदन्त्यक्षणेऽपि व्यावृत्तिनिश्चय इति । "अन्ते क्षयदर्शनादादावपि क्षयः" [ ] इति प्लवेत । ततो यदभावात् सत्यामपि तद्व्यावृत्तौ अन्त्यक्षणे[4] तन्निश्चयस्तदेव सादृश्यं न तन्मात्रमिति । परमाशङ्कते परिहर्तुम्—

एकान्ते चेत्तथाऽदृष्टेरिष्टं [वक्तुरकौशलम्] ॥ ३२॥ इति ।

एकोऽसहायोऽन्तः स्वभावो यस्य तस्मिन् वस्तुनि **तथा** तेन जैनोक्तेन[5] प्रकारेण **अदृष्टेः** अदर्शनात् सादृश्यस्य **इष्टम्** अभ्युपगतम् 'व्यावृत्तिमात्रकं तत्' इति । अत्रायमभिसन्धिः—वस्तु तावदेकस्वभावमेव । स्वभावान्तरकल्पनायां तत्स्वभावप्रच्युतेः । न ह्यप्रच्युततत्स्वभावं तदन्तरवद् भवति, तथापि तदेकस्वभावमेव पुनस्तदन्तरकल्पनायामव्यवस्थापत्तेः । एकश्चान्तो वैलक्षण्यमेव अन्यथा सङ्करापत्तेः । अतो नान्यस्य सादृश्यस्य दर्शनमिति व्यावृत्तिमात्रकमेव तत् इति । चेत् इति पराकूते । अत्रोत्तरमाह—**'वक्तुरकौशलम्'** इति । एकान्तं वदतो न कौशलं तत्र प्रमाणाभावात् प्रत्यक्षादेरप्रवेशात् । तथा हि—वैलक्षण्यैकान्ते परत इव स्वतोऽपि तस्यैव भावादभाव एव भावानामिति न तद्वादिनः कौशलमव्यवस्थितवस्तुवादित्वात् । तदाह—

सर्वैकत्वप्रसङ्गो हि [तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम्] । इति ।

---

१ इति अन्यस्मादन्यत इत्यन्यत्र आ०, ब०, प० । २ "अकलङ्कदेवस्याभिप्रायमाह" – ता० टि० । ३–यै म– ता० । ४–णेन त– आ०, ब०, प० । ५ जैनोक्तप्रका– आ०, ब०, प० । ६–गन्तव्यम् आ०, ब०, प० ।

सर्वैकत्वम् अभावमात्रत्वेनाभिन्नत्वं तस्य **प्रसङ्गः** प्रसञ्जनं हि यतस्ततः प्रागुक्तम्। अथ न स्वतो वैलक्षण्यं न तर्हि तदेकान्त इति तत्कल्पन विभ्रमात्। एतदेवाह—'**तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम्**' इति। तस्य वैलक्षण्यैकान्तस्य **दृष्टं** दर्शनं कल्पनारूपं **भ्रान्तिः** दुरागमजनितो विभ्रमस्तत्**कारणं** तन्निबन्धनम्। यदि वचन (यदि च न) सादृश्यं वस्तुतः कुतस्तत्प्रतिभासः ? व्यावृत्तिबलादेवेति चेत्; न; तस्य सर्वत्र भावात्, गवादिव्यवहारसाङ्कर्यापत्तेः। ततोऽपि विशिष्टादेवेति चेत्, कस्तद्विशेषोऽन्यत्र वस्तुभूतात्सादृश्यात्। सोऽप्यतात्त्विक एव अन्यस्ततोऽवकल्पनादिति चेत्, न, तत्राप्यविशेषविशेषयोः[४] पूर्ववत्प्रसञ्जादनवस्थोपनिपाताच्च। ततो वस्तुभूतमन्यदेव व्यावृत्तेः सादृश्यं निर्बाधप्रतीतिगोचरत्वात्। तथापि तदवस्तुत्वे वैलक्षण्येऽप्यनाश्वासात् सर्वैकत्वमेव तात्त्विकं प्रसज्येत। तदाह '**सर्वं**' इत्यादि। तत्प्रसङ्गाद्वैलक्षण्यं वदतो न कौशलं तदव्यवस्थितेरिति भावः। सति वैलक्षण्यप्रतिभासे कथं सर्वैकत्वमिति चेत् ? सति सादृश्यप्रतिभासे वैलक्षण्यमपि कथम् ? तस्य भ्रान्तिकारणत्वादिति चेत्, न, अन्यत्रापि तुल्यत्वात्। तदाह—'**तद्**' इत्यादि। तस्य वैलक्षण्यस्य **दृष्टं** दर्शनं [५]कल्पनारूपं **भ्रान्तिकारणम्**—अविद्यानिबन्धनं विभ्रमादेव परमात्मापरिज्ञानरूपात् प्रतिभासः स्रगाद्यपरिज्ञानात् सर्पादिप्रतिभासवत् सर्पादिरूपेण स्रगादिवच्च भेदरूपेण तदात्मैवाविद्यावतामवभासत इति च ब्रह्मवादिभिरभिधानात्। तथा च तदीयं वार्तिकम्—

"सर्वैकत्वं परं ब्रह्म परमात्मेति[५] यद्विदुः।
तन्मोहभाजां सर्वेषां न तत्त्वं परमार्थतः ॥ १ ॥
तदज्ञानैकहेतुत्वात्तेनैव परमात्मना।
तदन्यान्यात्मवन्ति स्युः सर्पादीनि स्रजो यथा ॥ २ ॥
उक्तात्मच्युतदृष्टीनां तदबोधैकहेतुतः।
आब्रह्मस्थाणुभेदोऽयं नामरूपक्रियात्मकः ॥ ३ ॥
अविद्याकृत एव स्यात् न यथावस्तुधीकृतः ॥"

[बृहदा०वा०१।४।११२८-४१] इति

ननु चाविद्यैव सर्वैकत्वे तद्व्यतिरिक्ता न सम्भवति तद्वादविलोपात्। न च तदेवाविद्या; तस्य सत्यज्ञानत्वेनोपगमात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इति श्रवणात्। कथन्ततो भेदप्रतिभास इति चेत् ? न; [१०]तस्या अवस्तुत्वेन भेदेतराभ्यामनिर्वचनीयत्वात्। अवस्तुनः कथं प्रतिभासकारणत्वमिति चेत् ? न; प्रतिभासस्यापि तादृशत्वात्। नहि स्वप्नाद्यदन्तरानुत्पत्तिः दृष्टत्वात्। अथैवं [११]नेष्यते न कश्चिदप्यन्यथा प्रतिभासहेतुर्भवेत् नौयानादीनामपि निरंशवादिनामसम्भवात्। मा भूदिति चेत्; एतदेवाह—

---

१ सर्वमा— आ०, ब०, प०। २ –विकल्पयोः। ३ कल्पन भ्रा— आ०, ब०, प०। ४ ये वि— आ०, ब०, प०। ५ तन्मोहभाजा आ०, ब०, प०। ६ सकत्व आ०, ब०, प०। ७–कहेतुत्वात्तथैव आ०, ब०, प०। ८ स्रजो यथा आ०, ब०, प०। ९ अविद्यायाः। १० –त्मास्तवनु— आ०, ब०, प०। ११ तथैव ने –आ०, ब० प।

नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत् ॥ ३३ ॥ इति ।

तेषामेवाभावादिति भावः । बहुवचनं नौयानादिभेदेन तेषां बहुत्वात् । अत्रोत्तरमाह–

तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः । इति ।

स धर्मकीर्तिः पुनरिति शिरःकम्पे **किं** कस्मात् **न निश्चिनोति** । किम् ? **तदकिञ्चित्करत्वं** तेषां विभ्रमहेतूनामकिञ्चित्करत्वमन्यथाप्रतिभासं प्रत्यकारणत्वम्, न च निश्चितवान् स्वशास्त्रे 'तेषां तत्कारणत्वस्यैव तेन निश्चयात्[२], अन्यथा[३] अभ्रान्तपदवैयर्थ्यापत्तेः । संवृत्यैव तन्निश्चयो न वस्तुत इति चेत्; जीवन्तु ब्रह्मविदस्तेषामप्यविद्यायां तयैव तदुपपत्तेः । भवत्वेवं तथापि किम् ? इत्यत्राह– .

तथा हि दर्शनं न स्याद्भिन्नाकारप्रसङ्गतः ॥ ३४ ॥ इति ।

तथा तेनाविद्यानिबन्धनभेदप्रतिभासप्रकारेण **हि** इति सौष्ठवे **दर्शनं** सौगतस्य विलक्षणमेव सर्वमिति मतं **न स्यात्** न भवेत् । अत्र हेतुः– **भिन्न**स्तन्मताद्विलक्षण **आकारः** स्वरूपं यस्य अद्वैतात्मनस्तस्य **प्रसङ्गतः** प्राप्तेः, भेदस्य भ्रान्तत्वे तदन्यप्राप्तेरवश्यम्भावात् । विशेष एव परमार्थसंज्ञः तस्यैव दृष्टेः नाविशेषः परमार्थो विपर्ययादिति चेत्; अत्राह–

न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् । इति ।

न च नैव **दृष्टे**र्दर्शनाद् **विशेषः** परस्परविलक्षणरूपः सिद्धयतीति शेषः । कीदृशो न सिद्धयति ? **यो** विशेषः **प्रतिभासात्** परमात्मनः "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" [कठो० ५।१५] इति तस्य प्रतिभासरूपत्वश्रवणात् **परो** विभिन्नो **भवेत्**, स दृष्टेर्न सिद्धयति तस्या एव तत्राभावादिति भावः । भवतु तर्हि यथादर्शनं वस्तुव्यवस्थेति चेत्; अत्राह–

प्रतिभासभिदैकत्र तदनेकात्मसाधनम् ॥ ३५ ॥ इति ।

तत् तस्मादविशेषवत् विशेषस्यापि तद्दर्शनबलादव्यवस्थानात् **एकत्र** एकस्मिन् घटादौ **अनेकस्य** समानेतरस्थूलेतरादेः **आत्मनः** स्वभावस्य **साधनं** सिद्धिः 'भवतु' इत्याकृष्य सम्बन्धः । कया तत्साधनम् ? **प्रतिभासस्य** दृष्टे**र्भिदा** विशेषेण एकान्तवैमुख्यरूपेण । अनेकान्तेऽपि दुर्लभैव दृष्टिरिति चेत्; आह–

अदृष्टिकल्पनायां स्यादचैतन्यमयोगिनाम् । इति ।

अनेकान्तस्यादृष्टिरनुपलब्धिस्तत्**कल्पनायां स्यात्** भवेत् **अचैतन्यं** चैतन्यवैकल्यम् **अयोगिनां** संसारिणाम् । तेषां तदन्यदृष्टेरभावात् तद्दृष्टेश्चापलापात् । भवतु तेषां तद्दृष्टिः, न तावता तत्सिद्धिः, योगिभिरन्यथा दर्शनात् "व्याख्यातारः खल्वेवं विवे-

१ नौयानादीनाम् । २ न्यायबि० पृ० १६ । ३ प्रत्यक्षलक्षणे । ४ तस्य एव आ०, ब०, प० । ५ –दपि वि–आ०, ब०, प० ।

चयन्ति" [प्र० वा० स्व० १।७२] इति वचनात्। योगिदृष्टस्यैव परमार्थसत्त्वोपपत्तेरिति चेत्; न; अत्र प्रमाणाभावात्।

योगिनः परिपश्यन्ति सौगतोक्तं स्वलक्षणम्।
किं वा तदन्यदेवेति प्रमाणान्नात्र दृश्यते ॥ १३८१ ॥
वाङ्मात्रात्तेषु तद्दृष्टावत्तद्दृष्टिस्ततो न किम्?
तामवस्थां गतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ॥ १३८२ ॥

उपसंहरन्नाह—

तस्मादभेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते ॥ ३६ ॥ इति।

तस्मात् उक्तन्यायाद् **अभेदः** तिर्यक्सामान्यम् **इति** एवम् **अत्र** विचार्यमाणे **समभावं** सदृशपरिणामं **प्रचक्षते** तद्रूपत्वेन तत्त्ववेदिनः। कथं पुनस्तं प्रचक्षीरन् तस्य विसदृशपरिणामे सति विरोधेनासम्भवादिति चेत्? तदाह—

नेक्षते नाविरोधोऽपि [न समानाः स्युरन्यथा]। इति।

समभावमित्यनुवर्तते **तं नेक्षते न** किन्तु वीक्षत एव। कस्तन्नेक्षते? **नाविरोधः** तत्परिणामयोः परस्परापरिहारः कथञ्चिद् वस्तुषु तस्य सद्भावात्, अन्यथा वस्तुत्वहानेरिति भावः। केवलमविरोध एव तन्नेक्षते न इति **अपि**शब्दः।

तयोः कथञ्चित्तादात्म्यादविरोधस्तमीक्षते।
यथा तथैव नानात्वाद्विरोधोऽपि तमीक्षते ॥ १३८३ ॥

तदनभ्युपगमे दोषमाह—'**न समानाः स्युरन्यथा**' इति। **अन्यथा** अन्येनाविरोध एव विरोध एव वा तमीक्षत इति प्रकारेण **समानाः** सदृशा **न स्यु**र्भावाः। तथा हि—यदि भावेषु विसदृशा एव धर्मा नापरे विरोधात्; कथं तत्र समानप्रत्ययो विषयाभावात्? विभ्रमादिति चेत्; न; तन्निषेधात्। तथा यदि सदृशा एव, तदापि सर्वथा सादृश्येन भेदाभावात् कथं तत्प्रत्ययः? तस्य भेदोपाधित्वेन प्रतीतेः। भवन्ति च समानास्तत्प्रत्ययाः। ततः सूक्तम्—'**नेक्षते न**' इत्यादि। '**नानेकत्र**' इत्यादयो व्याख्यानश्लोकाः सदृशपरिणामस्य प्रागुक्तस्यैव तैरभिधानात्।

कथं पुनः शब्दानामर्थवत्त्वं तदभावेऽपि प्रवृत्तेः प्रधानादिशब्दानाम्? तेषामपि तत्त्वे न कश्चिदप्यनृतवादी तीर्थंकर इति प्रामाण्यमेव सर्वप्रवादानाम्। न च तदुपपन्नं परस्परविरुद्धार्थत्वात्। ततः प्रधानेश्वरादिशब्दवदन्येऽप्यनृतार्था एवेति चेत्; अत्राह—

अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्यम् [अनुमानवदिष्यते] ॥ ३७ ॥ इति।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यं रूपादिविषयं ज्ञानम् **अक्षज्ञानं** तत्राऽपि न केवलं शब्दे **तद्** अनृतार्थत्वं **तुल्यं** सदृशम्, तस्याऽपि केशमशकादावनृतार्थत्वाऽवगमात्। अस्तु बहिस्तद-

---

१ –रप– आ०, ब०, प०। २ –व न के– आ०, ब०, प०। ३ सर्वदा सा– आ०, ब०, प०। ४ अक्षज्ञानस्यापि।

नृतार्थं नान्तः,अन्यथा तदसत्यत्वस्याप्रतिपत्तेरिति चेत् ; तर्हि तत एव बहिरपि तत् किञ्चित् सत्यार्थमङ्गीकर्तव्यम् । सत्यार्थमेकचन्द्रादिज्ञानमन्तरेण द्वि[1]चन्द्रादावज्ञानस्यापि मिथ्यार्थत्वानवगमात् । भवत्वेवं तत्प्रामाण्यस्योपगमादिति चेत् ; कथमिदम्[2] इतरस्मादविशेषात् ? नाविशेषः तस्या[3]र्थकार्यत्वात् इतरस्य विपर्ययादिति चेत् ; सिद्धं नः समीहितम्– शब्दस्यापि तत्कार्यस्यार्थवत्त्वोपपत्तेः । विवक्षात एव शब्दो नार्थादिति चेत् ; न, परम्परया ततोऽपि भावात् 'यथा धूमश्चायम्' इत्यस्य । अत्र हि धूमस्य दर्शनं ततो विवक्षा ततोऽप्ययंशब्द., एवमन्योऽपि । यदि पुनरस्यापि तत्कार्यत्वं नेष्यते कथमतो धूमप्रतिपत्तिः परस्य, अतोऽनुमानम् ? अप्रतिपन्नात्तदनुपपत्तेरिति कदर्थित एव पै[4]रार्थानुमानव्यवहारः । ततो युक्तं पारम्पर्येणार्थादुत्पत्तेस्तद्वत्त्वं शब्दानाम् । अतीतानागतयोस्तर्हि कथं तेषां प्रतिबन्धः, तयोरेकस्य नष्टत्वेनान्यस्यानुत्पन्नत्वेनावस्तुत्वात् । अवस्तुनि च प्रतिबन्धानुपपत्तेरिति चेत् ; आह–'**अनु[5]मानवदिष्यते**' इति । **अनुमानमत्र** लिङ्गं तन्निमित्तत्वात्, तस्येव तद्वत्, **इष्यते** अतीतादौ तेषां प्रतिबन्ध इत्यर्थः । नहि लिङ्गमतीतादावप्रतिबन्धमेव तद्गमयत्यतिप्रसङ्गात् । गमयच्च दृश्यते–कृत्तिकोदयादतीतस्य भरण्युदयस्य अनागतस्य च शकटोदयस्याविगानेन प्रतिपत्तेः । ततो यथा लिङ्गस्य तत्र प्रतिबन्धस्तथा शब्दानामपि, भाविकार्यत्वस्यापि लिङ्गवत्तत्रोपपत्तेः । योग्यत्वादेवास्य तत्र प्रतिबन्धो न तत्कार्यत्वादित्यपि न वाच्यम् ; शब्देष्वपि सदृशत्वात् । सत्यपि प्रतिबन्धे ततस्तत्प्रवृत्तिर्मिथ्यैवास्पष्टत्वादिति चेत् ; न, अनुमितावपि तुल्यत्वात् । सापि[6] तथैवेति चेत् ; किमिदानीं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति चेत् ; न; तस्यापि प्रवृत्तिविषये भाविनि स्नानादावस्पष्टत्वात् । सन्निहिते त्वप्रवर्तकत्वेन प्रामाण्यानभ्युपगमात् । व्यवहर्त्रभिप्रायात् प्रत्यक्षानुमानुमानयोः प्रामाण्ये शब्दस्यापि स्यात् ; तदन्तरेण क्षणमपि व्यवहर्तृणामाश्वासोऽनु(सानु) पपत्ते । तथा च कस्यचित् सुभाषितम्—

"इ[7]दमन्धंतमः कृत्स्नं जा[8]येत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥" [ ] इति ।

तदेवाह—

ततः सम्भाव्यते शब्दः सत्यार्थ[9]प्रत्ययान्वितः । इति ।

ततस्तस्मान्न्यायात् सम्भाव्यते अवकल्प्यते **शब्दः** । कीदृशः ? सत्यश्चासावर्थप्रत्ययश्चार्थज्ञानं **तेनान्वितः** सम्बद्ध इति । अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम् [10]"नार्थान्.शब्दाः स्पृशन्त्यमी" [ ] इत्यादेरप्यनर्थकत्वेन तद्वादिनो निग्रहापत्तेः । अपि

१ द्विचन्द्राद्यज्ञा– आ० ब०, प० । २ तत्प्रामाण्यम् । ३ एकचन्द्रज्ञानस्य । ४ परार्थेऽनुमान– आ०, ब०, प० । ५ अनुमान तदीष्य– आ०, ब०, प० । ६ नापि त– आ०, ब०, प० । अनुमितिरपि । ७ इद मन्द तमः आ०, ब०, प० । ८ जायते आ०, ब०, प० । ९ –चर्थ प्र– आ०, ब०, प० । १० "उद्धृतमिदम्–विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः । तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दा स्पृशन्त्यमी ॥–" न्यायकुसु० पृ० ५३७। टि० ७।।

च यस्यायं[1] निर्बन्धः "विवक्षाजन्मानः शब्दास्तामेव गमयेयुर्न बहिरर्थम्" [ ] इति ।, तत्राह-

सत्यानृतार्थताऽभेदो विवक्षाव्यभिचारतः ॥ ३८ ॥ इति ।

सत्यानृतार्थौ ययोस्तयोर्भावस्तत्ता तयाऽ**भेदो** भेदाभावः सत्यार्थं सुगतवचनम्, अनृतार्थं वेदादिवचनमित्ययं भेदो न भवेत्, सर्वस्य सत्यार्थतैव स्यादित्यर्थः । कुत एतत् ? **विवक्षा** वक्तुमिच्छा तस्याम् **अव्यभिचारतः** अविप्रतिसारतः शब्दस्य । शब्द इत्यागतस्य विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात् । नहि तस्य तद्व्यभिचारे तत्कार्यत्वम्, अतिप्रसङ्गात् ।

> शब्दार्थश्चेद्विवक्षैव तस्यामव्यभिचारतः ।
> अर्थवानेव सर्वोऽपि शब्दः स्यान्न निरर्थकः ॥ १३८४ ॥
> एवञ्च सौगतं वाक्यं प्रमाणं नान्यदित्ययम् ।
> विभागो न भवेदेव विवक्षावाच्यवादिनाम् ॥ १३८५ ॥

नहि विवक्षाया भावाभावाभ्यां शब्दस्य सत्यार्थत्वमन्यत्वं वा येनायं प्रसङ्गः किन्तु विवक्षितस्यार्थस्य, तद्भावश्च सुगतवचन एव तदर्थस्यानित्यादेरुपपत्तिमत्त्वात्, नान्यत्र तद्विषयस्य नित्यादेः विपर्ययात्, ततो भवत्येव तद्विभाग इति चेत् ; न; अर्थस्यातद्विषयत्वात् । न ह्यर्थः शब्दस्य विषयो यतस्तद्भावाभावाभ्यां सत्यानृतविभागस्तत्र कल्प्येत । अविषयधर्माभ्यां तु ताभ्यां तत्कल्पने अतिप्रसङ्गात् । तद्विवक्षाया विषय एवार्थ इति चेत्, तत्रैव तर्हि स विभागोऽस्तु कथं शब्दे ? विवक्षागतस्य तत्राप्यारोपादिति चेत्, अनृतार्थमेव स्यात्, विवक्षायामप्यर्थासंस्पर्शित्वेन तस्यैव भावात् । नायं दोषः तद्धेतोर्विकल्पस्यार्थवत्त्वात्, तस्य च तस्यामध्यारोपादिति चेत् ; न, तस्याप्ययथार्थत्वात् । प्रतिपत्त्रभिप्रायाद् यथार्थ एव विकल्पः, प्रतिपत्तृभिर्दृश्यविकल्प्ययोरेकीकारेण व्यवहारादिति चेत्, न; तदेकीकारस्य दर्शनादसम्भवात्, तस्य विकल्प्याविषयत्वात् । विकल्पाच्च,[10] तस्यापि दृश्यागोचरत्वात् । उभयवेदिनश्च प्रत्ययस्यानभ्युपगमात् । सत्यमेतत्, केवलम् 'इदमेव दृश्यम्' इति विकल्प एव स्ववासनाप्रकृतेः स्वाकारमदृश्यमपि दृश्यतया व्यवस्यन्नुपजायते, ततस्तदभिप्रायभावाभावाभ्यां सत्यानृतार्थत्वयोर्विकल्पे सम्भवात्-तज्जन्मनि विवक्षायां तत्प्रसवे शब्देऽपि[11] तदुभयोपपत्तिरिति चेत्, न ; विकल्पस्य स्वाकारे प्रत्यक्षत्वेन[12] अन्यथाध्यवसायासम्भवात्, विविक्तसम्भ्रमस्यैव[13] तत्त्वोपपत्तेः । विकल्पान्तरात्तत्र तदध्यवसाय इति चेत्, न; तेनापि तदाकारस्याग्रहणात्, ग्रहणेऽपि अनिश्चयात् । अथ निश्चयेऽप्यतदाकारतया ग्रहणे [14]स्वमतविरोधात् । तदाकारे तु स्वाकार एव तदध्यवसायो नान्यत्र । स चायुक्त एव उक्तोत्तरत्वात् । विकल्पान्तरात्तत्रापि तदध्यवसायेऽनवस्थापत्तेः । तन्न

---

१ "नान्तरीयकताभावाच्छब्दाना वस्तुभि सह । नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका ॥"... ते हि वक्तुर्विवक्षावृत्तित्वात् तन्नान्तरीयकतया तयैव गमकाः स्युः ।"- प्र० वा० स्व० १ । २१६ । तत्त्वसं० पृ० ७०२ । तर्कभा० मो० पृ० ४ । २ तयोर्भेदो आ०, ब०, प० । ३ सत्यार्थमन्यद्वा आ०, ब०, प० । ४ विवक्षितार्थसद्भाव । ५-वचनमेव । ६ विवक्षायामेव । ७ अनृतार्थत्वस्यैव । ८ न नापित- आ०, ब०, प० । ९-कल्प्य- आ०. ब०, प० । १० 'असम्भवात्' इति सम्बन्ध । ११ शब्दे तदु -आ० । १२ अन्यथा व्यव- आ०, ब०, प० । १३ भेदे विभ्रमवत् । १४ स्वयमविरो- आ०, ब०, प० ।

तदभिप्रायः। सत्यपि तस्मिन् कथन्नाम स्वतोऽनर्थकस्य तद्वशादर्थवत्त्वम् ? गुडस्यापि विषाभिप्रायाद्विषत्वापत्तेः। अतिप्रसङ्गाच्च–तदभिप्रायस्य नित्यत्वादिविकल्पेष्वपि तद्भावादिनां भावात्। भावेप्यनित्यादिविकल्पानामेवाविसंवादकत्वेनार्थवत्त्वं न तेषां विपर्ययादिति चेत्, गतमिदानीं [1]तद्वशात्तद्वत्त्वकल्पनम्। अविसंवादोऽपि तेषामेवेति कुतः ? वस्तुनि प्रतिबन्धादिति चेत्, वस्तुदर्शनाद् विकल्पस्ततो विवक्षा ततोऽपि शब्द इति प्रणालिकया शब्दस्यापि तत्र प्रतिबन्ध इति कथं नियमेनातत्प्रतिबन्धत्वं तस्योपकल्प्येत ? भवतु प्रतिबन्धः, तथापि तस्य विकल्पस्याकारे सामान्य एव सङ्केतात्, तस्य चावस्तुत्वान्न वस्तुविषयत्वमिति चेत्; तदेव तस्य कस्मात् ? दर्शनेनाग्रहणात्, तद्गृहीतस्यैव वस्तुत्वोपपत्तेरिति चेत्, कथमतद्विषयस्य विकल्पेनापि तज्जन्मना प्रतिपत्तिः ? अन्यथा नीलादेरप्यतद्गोचरस्यैव ततः प्रतिपत्तेर्निराकारमेव दृश्यं तद्दर्शनञ्च प्राप्तम्। नीलादेः दर्शनेऽपि प्रतिभासनमुपलभ्यत इति चेत्; न, एकान्तविसदृशस्य तदप्रतिवेदनात्। कथञ्चित् सदृशात्मन इति चेत्, तर्हि विकल्पेनापि तस्यैव ग्रहणात् कथमवस्तुसत्त्वं दृष्टे तदनुपपत्तेर्नीलादिवत् ? वस्तुविषयत्वे विकल्पस्य वैशद्यमेव स्याद् दर्शनवत्, न चैवम्, दर्शनस्यैव तत्प्रतीतेः, ततो दर्शनाद्भिन्नविषय एव विकल्पः तद्भिन्नप्रतिभासित्वात् रूपदर्शनाद्रसादिज्ञानवदिति चेत्, न; हेतोर्व्यभिचारात्–आसन्नपादपदर्शनात् [2]दूरतद्दर्शनस्याविशदत्वेन भिन्नप्रतिभासत्वेऽपि एकविषयत्वप्रवृत्तेः। निरूपितञ्चैतत्– "दूरदूरतरादिस्थैः" इत्यादौ। ततस्तयोरिव दर्शनविकल्पयोरप्यावरणमलविश्लेषविशेषादेकविषयत्वेऽपि विशदेतरभावोपपत्तेः उपपन्नमेव वस्तुविषयत्व विकल्पस्य, एवं शाब्दज्ञानस्यापि। शब्दस्य [10]सत्यर्थे प्रयुक्तस्य तदभावेऽपीच्छया प्रयोगदर्शनात् कथमर्थविषयत्वमिति चेत् ? विवक्षाविषयत्वमपि कथम् ? तदभावेऽपि गोत्रस्खलनादौ तत्प्रयोगस्यापि प्रतिपत्तेः। तत्र विवक्षाविशेषस्याभावेऽपि तन्मात्रमस्त्येवेति चेत्; न, अन्यत्राप्यर्थमात्रस्यानिवारणात्। तन्मात्रे न शब्दविशेषस्य प्रयोग इति चेत्, विवक्षामात्रेऽपि न भवेत्। ततो विवक्षाया अपि तदर्थत्वानुपपत्तेः ताल्वादिपरिस्पन्द एव तदर्थः स्यात्, तत्र शब्दस्याव्यभिचारात्। विवक्षायां तु व्यभिचारः; योगिनः [11]तन्मात्राभावेऽपि तत्प्रवृत्तेः। कथं पुनः शब्दज्ञानेऽनवभासमानस्य तस्य[12] तदर्थत्वमिति चेत् ? अभिप्रायस्य कथम् ? श्रवणे वक्तुरयमभिप्राय इत्यवगमादिति चेत् ? न, तस्यानुमानत्वेनाशाब्दत्वात्, अनुमानस्य च परिस्पन्देऽप्यविशेषात्। ततो न कश्चिदपि शब्दार्थ इति प्राप्तम्।

एवमेतत्, तद्व्यवहारस्तु विभ्रमादेव स्वप्नवत्। अस्ति हि स्वप्ने तदभावेऽपि तद्व्यवहारः– 'ममायमाह, मया चैतद्वचनात् प्रतीयते' इति तद्दर्शनादिति चेत्; न, अतो वचनात्प्रकृतार्थप्रतिपत्तौ[13] सार्थवत एव शब्दस्योपपत्तेः। अप्रतिपत्तौ किमस्योच्चारणं वैफल्यात्। तदपि विभ्रमादेव न वस्तुत इति चेत्; न, अस्यापि तुल्यचोद्यत्वात्। पुनर्विभ्रमकल्पनायामनवस्थापत्तेः। ततः कस्यचित् किञ्चित्

---

१ अभिप्रायवशादर्थवत्त्वकल्पनम्। २ अर्थे। ३ अवस्तुत्वमेव। ४ दर्शनाविषयस्य। ५ विकल्पात्। ६ प्रत्यक्षाग्राह्यमेव। ७– भासत्वात् आ०, ब०, प०। ८ दूरदर्श– आ०, ब०, प०। ९ न्यायवि० श्लो० २।१३। १० सत्यार्थे ता०। ११ सामान्यविवक्षाऽभावेऽपि। १२ ताल्वादिपरिस्पन्दस्य। १३– तार्थवत एव शब्द–आ०, ब०, प०।

निरूपयता शब्दस्य तद्विषयत्वमङ्गीकर्तव्यम् अन्यथा तदनुपपत्तेः। कथं पुनर्विपर्ययवतः तदभावे प्रयोग इति चेत्? न; तस्य[1] ततोऽन्यत्वात्। [2]गुणनिबन्धनो हि शब्दो विषयवान्न तस्य ... प्रयोगः। यस्य तु प्रयोगः स तस्माद् भिन्न एव दोषोपनीतत्वात्। सोऽपि स एव, स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्; न; तस्य सादृश्यमात्रभावित्वेन विभ्रमत्वात् केशनखादिप्रत्यभिज्ञानवत्। गुणदोषविवेक एव वक्तरि दुष्करो वीतदोषस्यापि सदोषवत् सदोषस्य वीतदोषवच्चेष्टासम्भवादिति चेत्; न; परीक्षया तस्यापि सुकरत्वात्, अन्यथा चेष्टाव्यत्यासस्याप्यनवबोधे "न[4] वीतदोषस्य" [प्र० वार्तिकाल० २।२८६] इत्यादेरवचनप्रसङ्गात्।

तस्मादनर्थकत्वेऽपि शब्दानां दोषजन्मनाम्।
अर्थवत्त्वं भवत्येव गुणालङ्कृतजन्मनाम्॥ १३८६॥

साम्प्रतं '**तत्रैकमभिसन्धाय**' इत्यादि प्रपञ्चेन श्लोकैर्व्याचिख्यासुः सङ्केतनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानम् एकत्र स इति अयमिति च स्मरणदर्शनरूपयोर्विरुद्धाकारयोरनुपपत्त्या निराकुर्वन्तं प्रत्याह—

सहशब्दार्थदृष्टावप्यविकल्पयतः कथम्।
समयः [तत्प्रमाणत्वे क्व प्रमाणे विभाव्यताम्]॥ ३९॥ इति।

सह युगपत् **शब्दाश्च** गौरित्यत्र गकारादयो वर्णा **अर्थाश्च** रूपादयः तेषां **दृष्टौ** दर्शने, न केवलमदर्शने इत्यपिशब्दः, **अविकल्पयतो** विकल्पमनाचक्षाणस्य। तात्पर्यमत्र-यथा न प्रत्यभिज्ञानमयमाचष्टे विरुद्धधर्माध्यासात् तथा विकल्पमप्यभिलाप्येतराकारमिति तस्य **कथं** न कथञ्चित् **समयो**ऽनुगमो गकारादिगोरूपादिसमुदायवेदनं यतो गौरित्युच्चारयेत् खण्डादिरिति वा व्यवहरेत्, अस्ति च समयः, भवितव्यं ततो विकल्पेन तथा प्रत्यभिज्ञानेनापीति। एवं भवन्नपि विकल्पो न प्रमाणं तथा प्रत्यभिज्ञानमपीति चेत्; न, ततः समयायोगात्। सोऽपि प्रत्यक्षादेवेति चेत्; न; वक्ष्यमाणत्वात्। प्रमाणत्वे तु प्रत्यभिज्ञानस्यापि तद्वत्प्रामाण्यात् युक्तस्तद्विषये सङ्केतः। किञ्च, प्रत्यभिज्ञानस्य भवत्यस्माकं परोक्षेऽन्तर्भावः, भवतस्तु क्व विकल्पस्य? न प्रत्यक्षे; विकल्पत्वात्। नानुमाने; अलिङ्गजत्वात्। प्रमाणान्तरत्वे तु न प्रमाणद्वयनियमः। इदमेवाह—'**तत्प्रमाणत्वे क्व प्रमाणे विभाव्यताम्**' इति। **तस्य** विकल्पस्य **प्रमाणत्वे क्व** स **विभाव्यताम्**? न क्वचित् प्रत्यक्षानुमानयोस्तदनुपपत्तेः। प्रमाणान्तरत्वे **क्व प्रमाणे द्वे**? न क्वचित् तृतीयस्यापि भावात्। किं पुनर्विकल्पेन समुदायपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षादेव भावादिति चेत्? अत्राह—

तदर्थदर्शनाभावात् [मिथ्यार्थप्रतिभासिषु]। इति।

तस्य समुदायात्मनोऽर्थस्य **दर्शनं तस्याभावात्**। नहि क्रमभाविषु गकारादिष्वेकं[8] दर्शनम्, तन्नित्यत्वापत्तेः। नापि नानादेशेषु रूपादिषु, देशव्याप्त्या निरंशवादव्यापत्तेः। दर्शनसमुदा-

---

१ शब्दस्य। २ निरर्थकशब्दस्य। ३ गुणनि- आ०, ब०, प०। ४ "न वीतरागस्य सुखयोषिदालिङ्गनादिजम्। वीतद्वेषस्य तु कुतः शत्रुसेनाविमर्दजम्॥"- प्र० वार्तिकाल०। ५- नमेव तत्र आ०, ब०, प०। ६- व्यज्ञानं न आ०, ब०, प०। ७- ष्वेव द- आ०,ब०, प०। ८ एकं दर्शनमिति सम्बन्धः।

न्यात् तत्परिज्ञानमित्यपि न युक्तम्; तत्समुदायस्याप्येकदर्शनागोचरत्वात्। दर्शनान्तरसमुदायस्य च तद्विषयस्यानभ्युपगमात्। ततो विकल्पादेव तत्परिज्ञानम्, तस्य च स्वविषयेणार्थवत्त्वे प्रत्यभिज्ञानस्यापि तदुपपत्तेः। अर्थ एव सङ्केतो न ज्ञानाकारेषु इत्याह–

मिथ्यार्थप्रतिभासिषु।

ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित्प्रचक्षते ॥४०॥ इति।

मिथ्या वितथो यो**ऽर्थ** एकत्वसादृश्यलक्षणस्तत्**प्रतिभासिषु ज्ञानाकारेषु** ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं तदाकारेषु **सङ्केत इति** एवं **केचित्** कुत्सिताः; कुत्सितत्वञ्च तदर्थस्य सत्यार्थस्यैव मिथ्यार्थत्वप्रतिपादनात्, **प्रचक्षते** कथयन्ति शाक्याः, तन्न; तदाकारेष्वेवं[1] सङ्केतशक्तेः, तद्वचनाद्बहिरप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च एकत्वाध्यवसायस्य[2] प्रतिक्षेपात्। क्व तर्हि सः ? इत्याह–

वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेष्वपि।

सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः ॥४१॥ इति।

वाक् च शब्दः[3] **अर्थश्च** वाच्यो **दृष्टिश्च** तत्प्रत्ययः त एव **भागा** वचनविषयस्य तेषु **सङ्केतं** शब्दसमयम् **अपरे** जैना **विदुः** जानन्ति न ज्ञानाकारमात्रे दोषवचनात्। कीदृशेषु ? **सत्याकारैः** सत्यनिश्चयः **अवबोधो** येषां तेषु अपिशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् 'असत्याकारावबोधेषु' इत्यपि द्रष्टव्यम्, ततश्च शब्देषु सत्यानृतार्थत्वविभागोपपत्तिः। केषु तेषां तदवबोधत्वम् ? **गृहीतानां** दर्शनविषयीकृताना **ग्रहणानि** परामर्शरूपाणि तेषु सत्सु। बहुवचनं विषयभेदेन तेषां बहुत्वात् अपिशब्दाद् अगृहीतग्रहणेष्वपि। ततो गृहीतग्रहणेषु सत्याकारावबोधत्वम्, इतरत्र तदन्यावबोधत्वमित्युक्तं भवति।

भवतु तर्हि वागादिभेदेष्वेव समय इति चेत्; न तत्र समयविषयस्यान्यतः प्रतिपत्तिः, भेदान्तरे च समयस्याभावेन फलाभावात्। नापि तेष्वेव सामान्यवत्सु; तत एव। अभिहितञ्चैतत्–'सम्बन्धो यत्र'[5] इत्यादिना। नापि केवले सामान्ये; तस्यार्थक्रियायामशक्ते, विशेषे[6] वैयर्थ्यात्। लक्षितलक्षणया[7] ततो विशेषाधिगमेऽप्युक्तम्–'तद्वत्यचोदिते'[8] इत्यादिना। न च भेदादौ शक्यक्रियः सम्बन्धः; तस्यैवैकान्तरूपस्य प्रमाणाविषयत्वात्। निरूपितञ्चैतत्। एतदेवाह–

न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति।

फलाभावादशक्तेश्च समयः सम्प्रवर्तते ॥ ४२ ॥ इति।

सुबोधमेतत्। किन्निबन्धनः पुनः सङ्केतोऽयमपरे विदुरिति चेत् ? अत्राह–

स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः।

वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनियन्धनः ॥ ४३ ॥ इति।

१– व श– आ०, ब०, प०। २– स्या प्र–आ०, ब०, प०। ३– रास– आ०, ब०, प०। ४– दु धा त– आ०, ब०, प०। ५ न्यायवि० श्लो० २।२३। ६ 'नापि केवले विशेषे' इत्यन्वयः। ७ शब्देन लक्षितं सामान्यं तेन च लक्ष्यते विशेष इति। ८ न्यायवि० श्लो० २।२२।

प्रतिपादितमेव प्रत्यवमर्शनिबन्धनत्वं तस्य गृहीतग्रहणेष्विति[1], तत्किमनेनेति चेत्; न; तस्यैवानेन विस्तरतः कथनात्। **स एव** पूर्वगृहीत एव **अयं** प्रतीयमानो नापरः, **समश्च** सदृशश्च तेन 'अयम्' **इति** एवं यः **प्रत्ययः** प्रत्यवमर्शः **तन्निबन्धनस्तद्धेतुकः 'समयः'** इति गतेन सम्बन्धः। स च प्रत्ययो **वितथोऽवितथश्चापि** प्रातीतिकमेतत्। क्व पुनस्तस्याय विभागः प्रतिपत्तव्य इति चेत्? उक्तं **तत्र** तेषु वागादिषु भिन्नदेशेषु **एकत्वनिबन्धनः** एकत्वविषयः प्रत्ययो मीमांसकस्य वितथः; तदेकत्वाभावस्य निरूपणात्, स्वस्तिकरुचकादौ त्ववितथ एव तदेकत्वस्यावस्थापनात्। तथा 'समत्वनिबन्धनः' इत्यपि द्रष्टव्यम्, अस्योपलक्षणत्वात्।[2] सोऽपि तत्रोपादानोपादेयरूपेषु सादृश्यमात्रविषयो मिथ्या तदेकत्वस्यापि वास्तवत्वात्, शबलशाबलेयादावमिथ्या तत्सादृश्यस्य [3]निर्बाधत्वात्।

न केवलमेकत्वसमत्वयोरेवेयं प्रक्रिया अपि तु तदन्यत्रापीत्याह—

तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत्। इति।

तथा तेनोक्तप्रकारेण **तयो**रेकत्वसमत्वयोः 'स देवदत्तोऽयं जिनदत्तो न भवति, स कर्कोऽनेन खण्डेन समानो न भवति' इति **प्रतिषेधेऽपि** न केवलं विधौ यः प्रत्ययस्तन्निबन्धनश्च सङ्केतः। तथा स वितथोऽवितथश्चापि तत्रोपादानोपादेयेष्वेकत्वनिषेधी वितथः शरीरचैतन्ययोरवितथः। तथा शबलशाबलेयादौ सादृश्यनिषेधी वितथः, खण्डकर्कादौ त्ववितथः, सादृश्यविशेषस्य तत्राभावात्। तत्रोदाहरणम्— **वैलक्षण्यं** सादृश्याभावः **आदि**शब्दादेकत्वाभावः तयोः **शब्द**स्तत्रेव तद्वदिति।

साम्प्रतं सङ्केतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—

तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ॥४४॥
संक्षेपेण क्वचित्कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥ इति।

तत् तस्मात् **समानासमानेषु** सदृशासदृशेषु वस्तुषु **तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये** तेषु प्रवृत्त्यर्थमनित्य इति निवृत्त्यर्थं[4] नानित्य इति **संक्षेपेण** समासेन **क्वचित्** शब्दादौ **कश्चित्** शब्दादिलक्षणः **शब्दः सङ्केतं** समयम् **अश्नुते** इति। न केवलमेक एव अपि तु अनेकोऽपि। इत्याह—

तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनानात्वप्रतिपादने ॥ ४५ ॥ इति।

तथा उक्तप्रकारेण शब्दः श्रावणोऽनित्य इत्यादि क्वचिद्धर्मिणि सङ्केतमश्नुते इति सम्बन्धः। किन्निमित्तम्? **तस्य धर्मिणो धर्माः** कृतकत्वादयस्तेषां **नानात्व**[5]स्य **प्रतिपादने** तन्निमित्तम्। कथं पुनरेकत्रानेकधर्मसद्भावः? इत्यत्राह[6]—

एकत्र बहुभेदानां सम्भवान्मेचकादिवत् ॥ ४६ ॥ इति।

निरूपितमेतद् बहुशः इति न प्रतन्यते।

---

१ श्लोकांशेन। २ समत्वनिबन्धन- प्रत्यय। ३ तन्निबन्धनत्वात्र केवलमेतयोरेव आ०, ब०, प०। ४ न नित्य आ०, ब०, प०। ५- त्वमनेकत्वस्य प्र- आ०, ब०, प०। ६ इत्याह ता०।

कथं पुनः सामान्यस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्याभावे तद्व्यवहार इति चेत् ? अत्राह—

समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।
भेदिवद् धर्मिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥ ४७॥ इति ।

भेदिवत् भेदिनमिव **कृत्वा** निश्चित्य । कुतः ? **धर्मिणः** शब्दादेः । कम् ? **समानं** सदृशपरिणाममनित्यादिव्यपदेशविषयं **कञ्चित्** न सर्वम्, सर्वस्य भेदिवत्करणे [1]धर्मिणोऽनवशेषात्, तस्य तद्व्यतिरेकेणाभावात् **अपरं च** तमेवान्यतस्तत्परिणामादनर्थान्तरं च **कृत्वा** । कीदृशम् ? **तथाविधम्** अन्यगततत्परिणामप्रकारम्, अनेन तदपरत्वकरणे निमित्तमुक्तम् तथाविधत्वात्तदपरं कृत्वेति; कृतिरपि केनचिदपोद्धारन[3]येन । ततः किम् ? **समानाकारकल्पना** सामान्यव्यवहारः ।

तदपरत्वकारिणं नयं दर्शयति—

तदन्यत्र समानात्मा स एवेति [तथाविधे] । इति ।

तस्मात् शब्दादेरन्यत्र घटादौ यः **समानात्मा** समानः स्वभावो नित्यत्वादिः **स एव**[4] यः शब्दाधिगतः तदात्मैव नापर इति एवं केनचिदपरं कृत्वा तत्कल्पनेति । ततो यदुक्तं कुमारिलेन—

"तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत् ।
एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥
भिन्नत्वैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रसज्यते ।"
[मी०श्लो०शब्दनि० २७१-२७२] इति,

तत्प्रतिविहितम्; भिन्नत्वादेरपोद्धारनयार्पणयैव भावात् । तदपेक्षया च सादृश्यं 'जातिरेव प्रसज्यते' इत्यस्येष्टत्वेनादोषत्वात् । अकल्पिततद्रूपाया एव तस्या अनभ्युपगमात् । प्रमाणार्पणया तु न तत्र भिन्नत्वादिकम् अभेदानित्यनानारूपतयैव तथा तस्य प्रतीतेः । विशेष एवैवं शब्दार्थः स्यान्न सादृश्यं तस्य तद्व्यतिरेकेणाभावात्, ततो व्यक्तिवादात् प्रागुक्तान्न सादृश्यवादस्य विशेषः । तदुक्तम्—

अभेदानित्यनानात्वे[5] पूर्वोक्तेनैव तुल्यता ।" [मी० श्लो० शब्दनि० २७२]

इति चेत्; न सारमेतत्; प्रमाणतस्तस्याऽभेदादिरूपत्वेऽपि नयवशात्तदन्यरूपत्वस्यापि भावात् पूर्वोक्तेन तुल्यत्वानुपपत्तेः । [6]प्रमाणतोऽप्येकान्ततस्तत्राभेदादेरप्रतिपत्तेरित्यलं बहुजल्पितेन, तं प्रति अपोद्धृतभेदेषु समानाकारेषु तन्निबन्धनं प्रयोजनमाह—

तथाविधे ।
व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥ ४८ ॥
तन्निमित्तकः शब्दस्तथान्यत्रापि योज्यताम् । इति ।

तथा तेन प्रकारेण **विधा** विधानं तदाकारापोद्धा रणं यस्मिन् तस्मिन् धर्मिणि शब्दादौ

---

१ धर्मिणो न निशे- आ०, ब०, प० । २- मान- आ०, ब०, प० । ३ भेददृष्ट्या । ४ एवा- ञ ञ-ता० । ५ अभेदनित्यतानाना- प० । ६ प्रमाणेप्ये-आ०, ब०, प० । ७ तदान्यत्रा- आ०, ब०, प० । ८- ण वा विधानं आ०, ब०,प० ।

योज्यताम् सम्बद्ध्यताम्, **विशेषणविशेष्यधीः** विशेषणधीरनित्य इति विशेष्यधीः शब्द इति। केषु सत्सु सा तत्र योज्यताम्? **व्यवच्छेदस्वभावेषु** व्यवच्छेदो विपरीतव्यावर्त्तनं स्वभावो येषां तेषु समानाकारेष्वपोद्धृतेषु, तदभावे निमित्ताभावेन तत्र तद्योजनानुपपत्तेः। अतद्रूपाव्यवच्छेदे च तेषां न ततो विशेषणादिबुद्धिः, तेषामेवाव्यवस्थितेरिति व्यवच्छेदपदम्। स्वभावग्रहणं तु तेषामपोहरूपत्वनिषेधार्थम्, अपोहस्य नीरूपत्वेन स्वभावत्वासम्भवात्, अस्वभावस्य च तद्बुद्धिनिमित्तत्वानुपपत्तेः। न केवलं तद्धीरेवापि तु **शब्दो** विशेषणादिश्रुतिः तत्र योज्यताम्। कीदृशः तत्तन्निमित्तकः स स समानाकारविशेषो निमित्तं यस्य स **तत्तन्निमित्तकः**। वीप्साद्विरुक्तस्य तच्छब्दस्य निमित्तपदेन बहुव्रीहिः। न केवलं धर्मिण्येव **तथान्यत्र** घटादावपि **योज्यताम्** उक्तरूपा बुद्धिः शब्दश्च।

अस्तु वस्तुतः सादृश्ये ते नित्यसदृशो नित्यसदृशस्य शब्दस्य योजनम्, सादृश्यञ्च न वस्तुन्यवस्थितं सम्भवति, प्रत्युत्पत्तिविलक्षणे वस्तुनि चिरापक्रान्तसङ्केतविषयापेक्षया पश्चाद्भाविनि सादृश्यस्य निर्मूलतो विनाशात्। विशेषणशब्दे स्वरव्यञ्जनादिभेदेन तत्रात्यन्तवैसादृश्यस्य प्रतीतेः, यथा शालाशब्दान्मालेत्यादौ अपकृष्यमाणस्य वेश्येत्यत्रात्यन्तिकविनाशः, तथान्यत्रापि तत्सम्भवमुत्पश्यतां कथं कस्यचित्प्रयोगः सतोऽप्यर्थवत्? सदृशाच्छब्दात्तत्प्रतीतिः भ्रान्तिरेव धूमसदृशाद्बाष्पादेरिव पावकप्रतीतिः। भवत्वेवमिति चेत्, न, बाधकविरहात्। तावता तर्हि तत्प्रतीतेरपि अभ्रान्तत्वमिति चेत्, तथा शब्दनित्यत्वमपि सिध्येत्, तज्ज्ञानस्यापि तद्विरहाविशेषात्। तदुक्तम्—

"वस्तुन्युत्पत्तिभिन्ने च दूरादारभ्य कल्पितम्।
स्तोकस्तोकविशेषेण सादृश्यं विप्रकृष्यते॥
स्वरव्यञ्जनमात्रादिभेदाच्छब्दे विशेषतः।
शाला माला बला वेला वेश्येत्यादि विकल्पनात्॥
सदृशात्प्रतिपत्तौ च भ्रान्तिज्ञानं प्रयुज्यते।
धूमे दृष्टेऽग्निसम्बद्धे बाष्पादिन्न कृशानुधीः॥
एवमस्त्विति चेद् ब्रूयान्नैतद्बाधकवर्जनात्।
तावता सिद्धमिति चेच्छब्दाभेदोऽपि सिध्यतु॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २६७-७०]

इति चेत्; न; अपकर्षातिशयेऽपि सादृश्यस्य क्वचिदत्यन्तनाशस्यासम्भवात् क्वचिदपरिज्ञातसादृश्यस्यापि तत्प्रसङ्गात्। दृश्यते हि तस्यापि तदतिशय अस्मादेः एकेन्द्रियजीवे, ततोऽपि द्वीन्द्रिये, ततोऽप्यन्यत्र यावच्छास्त्रार्थवेदी पुरुषः। यत्र च तस्यात्यन्तनाशस्तस्य सर्ववेदित्वेन धर्मेऽपि प्रामाण्यात् न "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवतिष्ठेत। न च सादृश्या-

१-द्विश्च श- आ०, ब०, प०। २ विशेषणविशेष्यधियौ। ३ भवत्येव-आ०, ब०, प०। ४ कल्पनं आ०, ब०, प०। ५-ब्दाद्भेदो- आ०, ब०, प०। ६ यावान् शा- आ०, ब०, प०।

त्प्रतिपत्तिभ्रान्तिरेव, विशेषावधारणे तदभावात् । तदनवधारणाच्च प्रतिपत्तुरेव दोषान्न सादृश्यस्य । कथञ्चैवम् अहमिव सर्वे पुरुषाः प्रतिनियतार्थमिन्द्रियैः पश्यन्ति इत्युपमानमभ्रान्तम् ? सादृश्यादेव तस्यापि भावात् । ततो विभ्रमविलासादेवं 'वस्तुनि' इत्याद्यभिजल्पितं न परिशुद्धज्ञानसामर्थ्यात् । 'तावता' इत्याद्यपि न सुभाषितम् ; शाब्दज्ञानवत् शब्दैकत्वज्ञाने [1]बाधविवर्जनस्याभावात्, तस्य च यथावसरं निरूपणात् ।

[2]तथा, वाचकत्वं शब्दस्य अर्थवता तदन्तरेण सादृश्यात्, अर्थवत्त्वञ्च सम्बन्धात् । स च न क्षणिकत्वे सम्भवति दुरवबोधत्वात् । सम्भवेऽपि सर्गादौ सर्वज्ञकृतस्य तद्वतः शब्दस्यास्माभिरनवलोकनात् कथं तत्र तत्सदृशे बुद्धिः ? यदि मतम्–तत्कालीनैः पुरुषैः तत्सदृशप्रतिपत्त्या तन्निबन्धनो व्यवहारः प्रबन्धेन प्रवर्तितः ततोऽनुमीयते मुख्यः कश्चिदर्थसम्बन्धः शब्द आसीत्, ततः सुगमैव तत्सादृश्यपरम्परा परापरशब्देषु प्रसज्यत इति, तन्न; एवमपि तद्विशेषस्यानवगमात् कथं क्वचिद्विशिष्टस्य सादृश्यस्यावगमो यतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तये तत्प्रतियत्न इति चेत् ? न; लिङ्गेऽप्येवं प्रसङ्गात् । नहि तस्यापि सादृश्यादन्यतो गमकत्वं सामान्यप्रतिक्षेपात्, तत्र च सम्बन्धाभावस्य सत्यपि सर्गादिकृते सम्बन्धे तद्वतोऽन्यत्र तत्सादृश्यापरिज्ञानस्य च शब्दवदुपनिपातात् । तत इदमपि वेदवादिनो बालविलसितमेव–

"[3]सम्भवेद्यदि सम्बन्धः सर्गादौ कस्यचित्कृतः ।
तस्मिन्नबुद्धे नैव स्यादस्माकं सदृशे मतिः ॥
अथ तत्कालजैः पुंभिस्तस्मिन् शब्देऽवधारिते ।
प्रवृत्तेरनुमीयेत तत्सादृश्यपरम्परा ॥
तत्र सम्बन्धमात्रेण पूर्वोक्तेन प्रयुज्यते ।
स्मार्य्यो तन्मूलसादृश्यं तदधीनार्थनिश्चये ॥"

[मी०श्लो०शब्दनि० २६४–६६] इति ।

न च सर्वज्ञकृतसम्बन्धशब्दसादृश्यादेव अधुनातनस्य वाचकत्वम्, उपाध्यायोपदर्शितप्रतिबन्धगोशब्दसादृश्यादपि तदपरगोशब्दस्य [4]गवादौ तदर्थप्रयोगोपपत्तेः । उपाध्यायस्यापि तत्र तत्प्रयुक्तिः तदपरोपदर्शिततत्सादृश्यादपीति न किञ्चिदाद्यसादृश्यपरिज्ञानप्रयासेन ? ततो युक्तमुक्तम्–'शब्दः प्रयुज्यताम्' इति ।

यदि न पुनः सदृशपरिणाम एव सामान्यं तस्य व्यक्तिवदनेकत्वात् कथं तत्र सत्तेत्येकतया व्यवहार इति चेत् ? अत्राह–

ततः सत्तेति [साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः] ॥४९॥

ततस्तस्मादपोद्धारनयात् सत्तेति उपलक्षणमिदं तेन द्रव्यत्वं गुणत्वमित्याद्यपि भवतीति शेषः । नन्विदमुक्तमेव '[5]समानम्' इत्यादिनेति चेत्, न तस्यैवानेनोपसंहारात् । तत. किम् ?

१ विवर्जितस्या– आ०, ब०, प० । २ अथा वा– ता० । ३ भवेद्यदि च स– आ०, ब०, प० । ४ शागादौ आ०, ब०, प० । ५ सामान्यमि–ता० ।

इत्याह—साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः इति तत इत्यत्रागतम्। ततस्तस्मात् सामान्यस्यैकस्याभावात् 'अस्ति बहिरर्थः' इत्यादौ भावाः घटादयः सन्तो विद्यमानाः साध्यन्ते नैका सत्ता तदभावात्। अन्यथा पृथिव्यादिषु तत्साधनादेव रूपादावपि तत्सिद्धेः, द्रव्यतत्साधनात् पृथग्गुण[1]तत्साधनप्रयासो व्यर्थ इति मन्यते। निरूपितञ्चैतत्—'नित्यं सर्वगतम्' [ ] इत्यादिना। कीदृशास्ते सन्त ? स्वलक्षणाः स्वा (स्वम् था) त्मीयमपरामिश्रणं लक्षणं सदृशेतरपरिणामरूपं येषां ते तथोक्ताः। एकान्तत सादृश्ये वैलक्षण्ये च सत्त्वप्रतिक्षेपात्।

पुनरपि तन्नयात् सिद्धं दर्शयति—

नानैकवचनाः शब्दाः [तथा सङ्केतिता यतः] इति।

एकत्रापि जलक[3]णिकादौ वस्तुसतोऽनेकस्यैकस्य च धर्मस्यापोद्धारे यथाक्रममपोद्धाराः जलं कलत्रमिति नानावचना एकवचनाश्च भवन्ति शब्दाः। कुतः पुनरबादयः एकवचना कलत्रादयश्च नानावचना न भवन्तीति चेत् ? अत्राह—'तथा सङ्केतिता यतः' इति। नानैकवचनप्रकारेण सङ्केतिता वृद्धैर्यतस्ततो नानैकव[4]चना नान्यथेति मन्यते। ततो न युक्तमेतत्—

"विवक्षापरतन्त्रत्वान्न शब्दाः सन्ति कुत्र च।" [प्र० वा० १।१८] इति।

अर्थवतोऽपि वृद्धव्यवहारा[5]तिक्रमेण न प्रयोगोपपत्तिः सुतरामनर्थकस्य अन्यथा विवक्षेत्यादेरपि सर्वत्र शब्दाभाव एव विवक्षया प्रयोग इति शङ्कायां कथमतः सर्वत्रातत्सद्भावप्रतिपादनं यतोऽसाधनाङ्गवचनात्तद्वादिनो न निग्रहावाप्तिः ? ततो युक्तं 'तथा' इत्यादि। 'सह' इत्यादयो व्याख्यानश्लोकाः।

यदि समानप्रत्यवमर्शात्सामान्य तर्हि जलयोरिव जलमरीचिकाचक्रयोरपि तद्भवेत्—'इदं जलमिदमपि जलम्' इति, तत्रापि समानप्रत्यवमर्शादिति चेत्, न, तच्चक्रे तत्प्रत्यवमर्शस्य बाध्यत्वेन मिथ्यात्वात्। न हि मिथ्याप्रत्ययात् तद्विषयसिद्धिः; द्विचन्द्रादिज्ञानादपि तत्प्राप्तेः। ततो निर्बाधादेव प्रत्यवमर्शात्तत्सिद्धिः। एतदेवाह—

प्रत्यभिज्ञा द्विधा [काचित्सादृश्यविनिबन्धना]॥५०॥ इति।

[6]प्रत्यभिज्ञा प्रत्यवमर्शः। प्र[7]स्तावात् सामान्यविषयैव गृह्यते नैकत्वविषया विपर्ययात्, तस्याः निरूपितत्वाच्च। सामान्यप्रत्यभिज्ञापि निरूपितैव 'स एवायं समश्च' [8]इत्यत्रेति चेत्, सत्यम्, तथापि सम्यङ्मिथ्यार्थप्रतिपादनार्थमिदमुक्तम्। सा द्विधा मिथ्या तथ्या चेति द्विप्रकारा। ततस्तथ्याया एव सामान्यसिद्धिरिति मन्यते। सामान्यमपि समाना[9]कार एव, स च जलवत्तच्चक्रस्यापि विद्यत एव तत्कथं तत्प्रत्यवमर्शो मिथ्येति चेत् ? न, तद्विशेषस्यैव तत्त्वेनोपगमात्, न तन्मात्रस्य। स च जल एव, तत्रैव निर्बाधात्प्रत्यवमर्शत्वात् न तच्चक्रे विपर्ययात्। तन्मात्रापेक्षया तु भवत्येव स तत्रापि तथ्य एव चैकचिक्यादेः सत एव तदाकारस्य तेनाधिगमात्। कथं पुनः स एव तद्विशेषतन्मात्रापेक्षया मिथ्या तथ्यश्चेति[10] चेत् ? बाधकभावेतराभ्यामिति ब्रूम। कथञ्च विरोध

१ – णादौ त– आ०, ब० प०। २ न्यायवि० श्लो० १।१५४। ३– कर्णिका– आ०, ब०, प०। ४– वचनेनान्य– आ०, ब०, प०। ५ रानति– आ०, ब०, प०। ६ 'प्रत्यभिज्ञा नाम प्र– ब०। प्रत्यभिज्ञानामप्र– प०। ७ "अवसरात्, प्रस्ताव स्यादवसर इत्यमर"–ता० टि०। ८ न्यायवि० श्लो० २।४३। ९ सामान्याकार आ०, ब०, प०। १०– ति बा– आ०, ब०, प०।

इति चेत् ? न; दृष्टत्वात् । तत्रापि तत्कल्पनायां न किञ्चिद्भवेत् । ततो निर्बाधाया एव प्रत्यभिज्ञा तत्सिद्धिर्नान्यतः । सा च काचिदेव तदेवाह–'काचित्सादृश्यविनिबन्धना' इति । काचि जलविषया न तच्चक्रादिगोचरा सादृश्यस्य विशेषेण तन्मात्रातिशायिना रूपेण निबन्धनं व्यवस्थापनं यस्या सा तथेति । सैव कस्मात्तथा ? इत्याह–

प्रमाणपूर्विका नान्या [दृष्टिमान्द्यादिदोषतः ।] इति ।

प्रमाणं प्रत्यक्षादि **पूर्वं** कारणं यस्याः सा काचिदेव **नान्या** तच्चक्रविषया यत , इत्यनेन कारणशुद्ध्या तस्या सत्यत्वोपदर्शनात् सैव तद्विनिबन्धना नापरेत्युक्त भवति । कुत. पुनरस्या भवति ? इत्याह–'दृष्टिमान्द्यादिदोषतः' इति । दृष्टेर्मरीचिकादर्शनस्य **मान्द्यं** यथावस्थिततत्परिच्छित्ति प्रत्यपाटवम् **आदि**र्यस्य जलाभिलाषादेः स एव **दोष**स्तत इति । अनेनापि दोषवत्कारणत्वेनासत्यत्वान्न सा तन्निबन्धनेति निवेदितम् ।

स्यान्मतम्–खण्डादौ सामान्यप्रत्यभिज्ञावत्[1] एकत्वप्रत्यभिज्ञाप्यस्ति कथं समान एवाकारः सामान्य नैक इति ? तन्न; समानप्रत्यभिज्ञाया एव प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तत्संवादनात् प्रामाण्योपपत्तेर्न परस्याः । तदाह–'प्रत्यभिज्ञा' इत्यादि । यद्यपि समानैकविषयभेदेन द्विधा खण्डादौ **प्रत्यभिज्ञा** तथापि **काचित्** सा समानविषया **दृश्यविनिबन्धना** दृश्यो दर्शनवेद्य. समानाकारस्तद्विनिबन्धना तद्गोचरा । तत एव **प्रमाणपूर्विका** च तत्र प्रमाणं **नान्या** नैकत्वविषया तद्विपर्ययात । नहि सामान्यमेकं शक्यदर्शनम् । तथाहि– यदि तदेकम्; व्यक्तिवदन्तरालेऽपि स्यात् । अनुपलम्भान्नेति चेत्, कथमेकम् ? प्रत्यन्तराल विच्छेदे व्यक्तिवन्नानात्वस्यैवोपपत्तेः । विच्छिन्नमप्येकमेव एकप्रत्यवमर्शादिति चेत्; अहो महती विवेकशक्तिः कुमारिलस्य यदसौ मृतमपि जीवन्तमभिधत्ते । कथञ्चैव लूनपुनर्जातकेशादिरप्येको न भवेत् 'स एवायं केशादि.' इति प्रत्यवमर्शात् ? लूनप्रत्ययेन बाधनान्नेति चेत्, न; अन्यत्रापि विच्छेदप्रत्ययेन [3]तस्यावश्यम्भावात् । विच्छेदं पश्यतोऽपि[4] एकप्रत्यवमर्शो न निवर्त्तत इति चेत्, सौगतादेः शब्दं नित्यं पश्यतोऽप्यनि[5]त्यप्रत्ययस्यानिवर्त्तनाद् वेदादेरनित्यत्वमेव स्यात् । दुरागमाभ्यासोपनीतस्य मनोदोषस्याभावे निवर्त्तनमन्यत्रापि । ततः—

"व्यक्तिष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः ।" [मी०श्लो० आकृति० श्लो० २५]

इति ब्रुवाणस्य स्ववचनविरुद्धमेतत्—

"तस्मादेकस्य भिन्नेषु या वृत्तिस्तन्निबन्धनः ।
सामान्यशब्दः [6]सत्तावदेकाधिकरणेन वा ॥" [मी० श्लो० आकृति० २४] इति ।

न वस्तुतो भिन्नेषु तदेकम् अनेकस्यापि कुतश्चिदेकबुद्धिकरणादेवैकत्वस्योपगमात्, 'एकाधिकरणेन वा' इत्यस्यैव पक्षस्य परिग्रहादिति चेत्; न किञ्चिद् व्याहतम्, स्याद्वादिभिरप्यपोद्धारनयेन तदुपगमात् । निवेदितश्चैतत्–'समानं केनचित्' इत्यादिना[7] । तन्न व्यक्तिगतं तदेकम् । सर्वगत-

1 – शानव– आ०, ब०, प० । 2 – यात्तर्हि विपर्ययात्तर्हि सा– आ०, ब०, प० । 3 बाधनस्य । 4 – तो ह्येकत्र प्र– आ०,ब०,प० । 5 – नित्यस्यानि– आ०,ब०, प० । 6 सत्तावदभावे कथं करणेन आ०, ब०, प० ।"सत्तादावेकधीकरणेन" मी,० श्लो० । 7 न्यायवि० श्लो० २।३७ ।

मेकमिति चेत्;अन्तराले किन्न तदुपलब्धिः ? अनभिव्यक्तेरिति चेत्; व्यक्तिष्वपि[1]न भवेत् । नहि तदेव क्वचिदभिव्यक्तमनभिव्यक्तञ्चोपपन्नं विरोधिरूपाधिकरणत्वेन भेदापत्तेः । इष्टैव तदापत्तिः कथञ्चित्, कथञ्चिदेव तदधिकरणत्वस्यापि भावादिति चेत्; न, तस्य सावयवत्वप्रसक्त्या **"विभुत्वावयवाभावौ प्रतिपाद्यौ च शब्दवत् ।"** [मीं० श्लो० वन० ३१] इति व्याप्तेः । कुतश्च व्यक्तिषु तस्याभिव्यक्तिः ? स्वशक्तित इति चेत्; तदन्तरालेऽपि स्यात् । सति तस्मिन् शक्तेरप्यवश्यम्भावादभेदात् । भेदे कथं सा तस्येति व्यपदेशः ? सम्बन्धादिति चेत्; तथापि कथन्न सा तदन्तराले ? निरवयवेन सम्बन्धे 'व्यक्तिगत एव तत्र सोनान्तरालगते' इति विभागानुपपत्तेः । कथञ्चैवम् **"व्यक्ति [:] शक्त्यनुरोधतः"** [मी० श्लो० आकृति० २६] इत्युक्तम् ? स्वशक्तितस्तदभिव्यक्तौ तदनुपपत्तेः । अस्तु व्यक्तिशक्तित एव तदभिव्यक्तिरिति चेत्; किमभिव्यक्तेनापि तेन ? अशक्तत्वेन क्वचिदनुपयोगात् । शक्तमेव तदपि वाहदोहादौ, न चैवं विशेषवैयर्थ्यं विशेषाणामपि तदात्मनामेव तत्र व्यापारान्न केवलानामिति चेत् ; उच्यते–यदि विशेषशक्तिरेव तस्यापि शक्तिः कथन्न तद्भेदे विशेषवत्तस्यापि नानात्वम् ? तद्भेदेऽप्येकत्वस्याविरोधादिति चेत् , विशेषाणामपि तदेव स्यात् । न तथा प्रतिभासनमिति चेत्; समानमेतत्सामान्येऽपि । न हि तस्याप्यविच्छिन्नस्य प्रतिभासनम् अन्तराले विच्छिन्नविग्रहस्यैव तस्य तदुपलब्धेः । अन्यैव तस्य शक्तिरिति चेत् ; तन्नानात्वे कार्यनानात्वस्य तत एव भावाद् व्यर्थं व्यक्तिषु तन्नानात्वकल्पनम् । तदेकत्वे वा न कार्यनानात्वं शक्त्यभेदेन तदनुपपत्तेः । व्यक्तिशक्तीनां नानात्वात्तन्नानात्वमिति चेत्; आगतं काचपच्यं सामान्यशक्तित एकत्वम्, नानात्वञ्च व्यक्तिशक्तितः इति । तन्न वाहादौ तस्योपयोगः । स्वप्रतिपत्ताविति चेत् ; न , तस्यापि व्यक्तित एव भावात् **"व्यक्तिशक्त्यनुरोधतः"** [मी० श्लो०] इत्यभिधानात् । ततस्तत्समवायिन एवाभिव्यक्तिर्न व्यापिनः । व्यापिनस्तु तदभिव्यक्तात्स्वरूपादेवेति चेत् , कथं पुनस्तत्समवायिरूपं व्यापिसामान्यस्य ? यतस्तदभिव्यक्तिस्तस्य स्यात् । तस्यैव समाप्त्या तत्र समवायादिति चेत्; कथं व्यापित्वं समाप्तौ तदयोगात् ? अन्यत्रापि तस्यैव प्रतीतेरिति चेत् , न , युगपत्तदसम्भवाद् व्यक्तिवत् । क्रमेणेति चेत् ; न ; तदविशेषात् व्यक्तीनामपि विभुत्वात् । ततो न युक्तमेतत्—

"यथा च व्यक्तिरेकैव दृश्यमाना पुनः पुनः ।
कालभेदेऽप्यभिन्नैवं जातिर्भिन्नाश्रया सती ॥" [मी०श्लो०वन० ३२] इति ।

क्रमव्याप्तावेव व्यक्तेरुदाहरणत्वोपपत्तेः । युगपत् युगपदपि तत्र तत्र तस्य प्रतिपत्तिर्दृश्यत इति चेत् ; न; दृष्टाया अपि समाप्तिप्रत्ययबाधितत्वेन विभ्रमत्वात् । तस्मादवस्त्वेव मीमांसकस्य सामान्यमशक्तेरविज्ञानाच्च ।

तत एव नैयायिकादेरपि ; तस्यास्त्येव परिज्ञानं गौरयमयमपि गौरिति प्रत्ययादिति चेत् ; न , तस्य विशेषगोचरत्वात् । भिन्नेषु कथमभिन्नप्रत्यय इति चेत् , भवत. कथम् ? अभिन्नसामान्यसम्बन्धादिति चेत् ; न , तेनापि तत्र भेदस्यानपाकरणात् साङ्कर्यापत्तेः । अभिन्नप्रत्ययमेव तत्र स

१– पि तु न– आ०, ब०, प० । २ साधना– आ०, ब०, प० । ३– त्वे क– आ०, ब०, प० । ४ तदेव तस्या– आ०, ब०, प० । ५ युगपदपि आ०, ब०, प० । ६– सत्वमेव तत्सा– आ०, ब०, प० ।

करोतीति चेत् ; स तर्हि विभ्रम एव अतस्मिंस्तद्ग्रहणत्वात्। ततः कथं सामान्यसिद्धिः ; तन्मात्रे सम्यक्त्वादिति चेत् , न , एकत्र सम्यक्त्वविभ्रमयोर्विरोधात् । अविरोधे वा समानाकारे तस्य सम्यक्त्वं तदेकत्वे तु विभ्रम एव बाधाविशेषात् । तन्न सामान्यस्यैकत्वमाकारः । कुतस्तर्हि तत्प्रत्यभिज्ञा ? इत्याह—'दृष्टि' इत्यादि । दृष्टचा स्वमतश्रद्धया **मान्द्यं** बुद्धेर्वस्तुविचारं प्रत्यपाटवम् आदिशब्दादेकसामान्यसंस्कारादि. स एव **दोषः** तत इति ।

स्वमताभिनिवेशादेः सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
इति बुद्धिर्यथैवेयं पारमर्षैः प्रकल्प्यते ॥१३८७॥
मीमांसकादिभिस्तद्वदेकं सामान्यमित्यपि ।
कल्प्यते बुद्धिरीदृक्षा दृष्टिमान्द्यादिदोषतः ॥१३८८॥

कथमेवं समानपरिणामे समर्थिते विशेषपरिणामो यत इदमवतिष्ठेत्–'**तत्समानासमानेषु**' इत्यादीति[1] चेत् ; न , विशेषप्रत्यभिज्ञया तस्यापि समर्थनात् तदाह—'**प्रत्यभिज्ञा द्विधा**' इति । कुतो द्विधा ? **काचित्सादृश्यविनिबन्धना** । काचिदिति वचनादन्या [2]वैसदृश्यनिबन्धना यत इति । सापि **प्रमाणपूर्विका** प्रमाणतः प्रत्यक्षादेः सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयादुत्पत्तेः **नान्या** । या त्वन्या सादृश्याद्येकान्तप्रत्यभिज्ञा न सा तत्पूर्विका प्रत्यक्षादिना तद्विषयस्याप्रतिपत्तेः । ततो न ततस्तत्समर्थनमप्रमाणत्वादिति मन्यते । कुतस्तर्हि सा ? तत्रोत्तरम्–'दृष्टि' इत्यादि व्याख्यानं पूर्ववत् । ततो यदुक्तम्–

"**सर्वज्ञानानि मिथ्या च प्रसज्यन्तेऽत्र कल्पने ।**" [मी०श्लो०आकृति०७२] इति ।

तथापि सामान्यज्ञानवद्विशेषज्ञानानामपि समानाकारपराङ्मुखत्वात् अभिमतमेव तन्मिथ्यात्वं तदभिमुखतयैव सम्यक्त्वोपपत्ते, तत्र निर्बाधत्वादन्यत्र विपर्य्ययात् । ततः सिद्धं शब्दानां वस्तुविषयत्वं समानपरिणामे सङ्केतात्, तस्य च वस्तुत्वेनावस्थापनात् । गौरेव कश्चिन्न प्रसिद्धस्तदन्यतो विशेषाग्रहणात् कथं तत्सादृश्येन खण्डादौ गोशब्दस्य सङ्केतः ? तदुक्तम्–

"**विशेषग्रहणाभावादेका गौः कश्च कल्प्यताम् ।**" [मी०श्लो०आकृति०७३] इति ।

इति चेत्; न; तस्य वृद्धव्यवहारविषयस्य प्रसिद्धत्वात् । वृद्धानाञ्च तदपरव्यवहारविषयसादृश्यात्तदुपपत्तेः । अतद्व्यवहारद्वीपादागतं तु प्रतिपत्तारं प्रति न प्रसिद्धसादृश्यात्सङ्केतः किन्तु सादृश्यविशेषाधिष्ठानेषु खण्डादिषु 'एते गाव इति प्रतिपत्तव्याः' इति । ततो निरवद्यं तेषां तद्विषयत्वं [3]लिङ्गवत् । लिङ्गादवस्त्वेव प्रतीयत इति चेत्; न; अप्रतिबन्धात् । नहि तस्य तस्मादुत्पत्तिः; अशक्यत्वात् । नापि तादात्म्यम्; स्वयमवस्तुत्वापत्ते, अनेकान्तस्य चानभ्युपगमात् । ततस्ततोऽपि साध्यस्य वस्तुन एव प्रतिपत्ति ।

कथं तर्हि बहिरर्थादिवत् प्रधानस्यापि सत्त्वं ततो न साध्यते ? अनन्वयादिति चेत्; न. अन्वयस्यै भवन्मतेनालिङ्गलक्षणत्वादिति । अत्राह–

---

१ न्यायवि० श्लो० २।४४ । २ वैसाद– प० । ३ "लिङ्गस्य यथा साध्याख्यवस्तुविषयत्वम्" ता० टि० । ४–स्य च तन्म–आ०, ब०, प० ।

अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवत्वतः ॥५१॥ इति ।

अस्ति विद्यते **प्रधानं** सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थानम् इति एवं[1] न साध्यते 'साध्यन्ते' इत्यनुवृत्तस्य[2] नेत्यनेनाप्यनुवृत्तेनैव (नैक) . नपरिणामेन सम्बन्धात् । कुतो न साध्यते ? **अत्र** अस्मिन् साध्ये **लक्षणस्य** 'साध्यं शक्यम्' इत्यादेः[3] **असम्भवत्वतः** सम्भवतो भावः सम्भवत्वं तदभावात् । न ह्यभिप्रेतमप्रसिद्धमित्येव लक्षणमपि तु शक्यञ्च । न च प्रधानं शक्यम् ; त[4]स्यैककारणरूपस्य जगत्कारणानेकत्वग्राहिणा प्रत्यक्षादिना प्रतिक्षेपात् अनुष्णाग्निवत् । अथवा **अत्र** अस्मिन् परप्रतिपादिते भेदानां परिमाणादौ[5] तल्लिङ्गे **लक्षणासम्भवत्वतो** लिङ्गलक्षणस्याभावात् न साध्यत इति । त्रैरूप्यमेव[6] तल्लक्षणं तदभावादेव तर्हि तन्न साध्यत इति चेत्, न, तस्यालक्षणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ततोऽन्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैवाभावात्ततस्तन्न साध्यते । तदभावश्च प्रधानानपेक्षे भोगे तद्भावात् । अस्ति हि विषयानुभवात्मनि भोगे परिमाणादिः, न च तस्य प्रधानं कारणम् अचेतनत्वापत्तेः । अचेतन एव वस्तुतो भोगो[7] बुद्धेर्विषयाकारपरिणामस्यैव तत्त्वात्, चेतनत्वं तु तत्र पुरुषसम्बन्धनिबन्धनाद्विभ्रमादेवेति चेत्, न, एवं पुरुषस्यैवासिद्धेः । नासिद्धिः, सङ्घातपरार्थत्वाल्लिङ्गात् प्रतिपत्तेरिति चेत् ; कः पुनः पुरुषस्य सङ्घातेनार्थः ? भोग इति चेत् ; न ; तस्य बुद्धावेव भावात् । विभ्रमात्पुरुषेऽपीति चेत् ; न ; विभ्रमस्यैव पुरुषासिद्धावसिद्धेः । तत्सिद्धौ सिद्धिरिति चेत् . न ; चक्रकदोषात् । तत्सिद्धौ तस्य बुद्धिसंसर्गात्तत्र भोगविभ्रमः तेन च सङ्घातस्य तादर्थ्यम्, ततश्च तत्सिद्धिरिति । किञ्च–

विभ्रमोऽचेतनश्चेन्न तेन भोगमतिर्नरे ।
अन्यथा व्यर्थमेव स्यात् क्वचिच्चैतन्यकल्पनम् ॥१३८९॥
तत्रापि चेतनत्वं चेद्विभ्रमादवकल्प्यते ।
अनवस्थानदोषस्त्वां जीवन्तन्नावमुञ्चति ॥१३९०॥
न च विभ्रममालेयमेकभोगानुबन्धिनी ।
प्रतीतिपथमाप्नोति प्रीत्यै या तव कल्प्यते ॥१३९१॥
वस्तुनश्चेतनत्वे तु [10]भोगविद्विभ्रमात्कथम् ।
विभ्रमस्यापि भोगत्वादन्यथानुभवात्मनः ॥१३९२॥
ततो न परिमाणादेः प्रधानास्तित्वसाधनम् ।
अन्यथानुपपन्नत्ववैकल्याद् व्यभिचारिणः ॥१३९३॥
[9]साधनादिप्रयोगस्य न चैव व्यभिचारिता ।
यतस्ततो न सिद्धिः स्याद् बहिर्भावादि वस्तुनः ॥१३९४॥

---

१ एतन्न सा– आ०, ब०, प० । २– स्य तेने– आ०, ब०, प० । ३ न्यायवि० श्लो० २।१ । ४ तस्यैव का– आ०, ब०, प० । ५ "भेदानां परिमाणात्समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥"–सांख्यका० १५ । ६ लिङ्गलक्षणम् । ७ बुद्धिविपर्ययाका– आ०, ब०, प० । ८ भोगे । ९ तदेव युक्त्यनु(?)का० १७ । १० भोगविद्वि– आ०, ब०, प० ।

ननु अन्यथानुपपन्नत्वमपि सत्येव पक्षधर्मत्वादौ भवति ततस्तदेव हेतुलक्षणं तदसत्त्वा. च प्रधानास्तित्वमप्यसाध्यमिति चेत् ; न, [1]तदभावेऽपि क्वचित्तदुपलम्भात्। तदाह—

तत्रान्यत्रापि वासिद्धं यद्विना यद्विहन्यते ।
तत्र तद्गमकं [तेन साध्यधर्मी च साधनम्] ॥ ५२ ॥ इति ।

अपिशब्दो भिन्नप्रक्रमोऽसिद्धमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः—तत्र तस्मिन् विवक्षिते धर्मिणि **असिद्धमपि** न केवलं[2]सिद्धम् **अन्यत्र वा** अन्यस्मिन् दृष्टान्तधर्म्मिणि इव । वाशब्दस्य इवार्थत्वात् । तत्किम् ? **तत्** साधनं **गमकं** [3]तत पक्षधर्म्मत्वादेरतल्लक्षणत्वमव्यापकत्वादिति मन्यते। क ? **तत्र** साध्ये। कीदृश तत् तत्रेति तदिति चोच्यते कुतो वा तदगमकम् [4] अत्रोत्तरम्—**यद्विना** यदन्तरेण **यद्विहन्यते** यद्विघटते । एतदुक्तं भवति– यस्स्वयं निवर्त्तमान लिङ्ग निवर्त्तयति तत्तत्रेति, यच्च यन्निवृत्त्या नियमेन निवर्त्तते तत्तदिति, तन्निवृत्त्या निवृत्तिनियमश्च गमकत्वे निबन्धनमिति। ननु तदेव नास्ति यत्र पक्षधर्म्मत्वादिरहिते तन्निवृत्त्या निवृत्तिनियमः ततो गमकत्वञ्चेति चेत्, न, तस्य बहिरर्थादिसाधनस्य साधनदूषणप्रयोगादेः सविस्तरं निरूपितत्वात् । तस्यैवानुस्मरणार्थं मन्दानुग्रहबुद्धया पुनरस्य वचनात्। अथवा तत्रेति अत्रावधारणमपीति, एतच्चान्यत्रेत्यत्र द्रष्टव्यम् । अत्राप्ययमर्थः—तत्रैव धर्म्मिण्येव सिद्धं न दृष्टान्तधर्म्मिणि **यद्विना यद्विहन्यते तत्र तद्गमकम्** । किमिव ? **अन्यत्रापि वा** इति। अन्यत्र दृष्टान्ते धर्म्मिणि अपिशब्दात् साध्यधर्मिण्यपि **सिद्धमिव** वाशब्दस्य पूर्ववदिवार्थत्वात् । यथा पक्षसपक्षयोः सिद्धं सत्त्वकृतकत्त्वादि गमकमविनाभावनियमात् तथा पक्ष एव सिद्धं श्रावणत्वादिकञ्चेत्यर्थः । युक्तं कृतकत्वादेर्गमकत्वम् अन्वयबलादविनाभावपरिज्ञानात् , न श्रावणत्वस्य विपर्य्ययात् । नहि तस्य कश्चिदनित्यत्वेनान्येन वा शक्यमन्वयदर्शनं शब्द एव भावात्, तत्र च तयोर्विवादात् । तन्न तद्गमकत्वं संशयं तु कुर्वीत वस्तुसतस्तदुभयपरिहारेणानवस्थानात् । उभयोरन्यतरस्मिन्नप्यप्रतिपत्तेरिति चेत्; न, [5]सत्त्वस्याप्येवमगमकत्वप्रसङ्गात् । नहि तस्यापि कश्चित् क्षणिकत्वेनान्वय. । विद्युत्प्रदीपादावपि क्षणभङ्गं प्रति वावदूकाना विवादात्, अविवादास्पदस्यैव सपक्षत्वोपपत्तेः । पक्ष एव विपक्षे बाधकप्रत्ययबलादविनाभावप्रतिपत्तेस्तस्य गमकत्वमिति चेत्, अनुकूलमाचरसि, श्रावणत्वस्याप्येव गमकत्वावास[6]. । । श्रावणत्वं हि श्रवणज्ञानविषयत्वम्, तच्च तज्ज्ञानकारणस्यैव **"नाकारणं विषयः"** [ ] इति वचनात् । न च नित्यस्य कारणत्वम्; कार्य्यानुपरमप्रसङ्गादिति निरूपित **"कारणस्य"** इत्यादौ[7] । ततो निश्चितनित्यव्यावृत्तिकं तत् शब्दे धर्म्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं गमयत्येव न संशययति सत्त्ववत् । यदि पुनः श्रवणज्ञानकारणत्वात् श्रावणत्वम् [8]तर्हि 'कारणत्वात्' इत्येव हेतुरस्तु तावता साध्यप्रतिपत्ते. व्यर्थ तज्ज्ञानेन तद्विशेषणमिति चेत्, तावतापि कथं तत्प्रतिपत्तिः अन्वयाभावस्याविशेषात् ? क्षणभङ्गेनानन्वयेऽप्यनित्यत्वमात्रेणास्त्येव विद्युत्प्रदीपादौ

१ पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि । २ सिद्धमेव वासिद्धम् आ०, ब०, प० । ३ तदुक्तं तत्रेति आ०, ब०, प० । ४ तदागम– आ०, ब०, प० । ५ सत्त्वस्यावगम– आ०, ब०, प० । ६ –कत्वापत्तेः आ०, ब०, प० । ७ न्यायवि० श्लो० १०६ । ८ तत्तर्हि आ०, ब०, प० ।

तस्यान्वय इति चेत्, न, तत्र विवादाभावात् । मीमांसकस्य तत्रापि विवाद एव शब्दे क्षणिकत्वस्यापि तेनानभ्युपगमादिति चेत्; न ;

"तेनेयं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता ।" [मी० श्लो० शब्दनि० ४२९]

इति कौटस्थ्याभावमभ्युपजानतोऽपि तस्याभ्युपगमात् । तन्मात्रादन्यस्य तदभावस्याभावाद्विवादापन्नमपि कथं तव तत्साध्यम् अनभिप्रेतत्वात् ? अभिप्रेतमेव हि तदापन्नमपि साध्यं नापरमतिप्रसङ्गात् । न च भवतस्तदभिप्रेतं क्षणक्षयस्यैव तत्त्वात् । तदप्यभिप्रेतमेव साधितात्तत क्षणभङ्गसाधनादिति चेत् ; न, तत्राप्यन्वयाभावस्याविशेषात् । ततोऽप्यपरानित्यत्वसाधनेन तत्साधनपरिकल्पनायामनवस्थापत्तेः । तत्र कारणत्वस्याप्यन्वयबलाद्गमकत्वम् । व्यतिरेकनिर्णयात्तु तत्त्वं सविशेषणस्यापि न विरुद्धम् । निर्विशेषणस्यैव तत्त्वे किं विशेषणेन तद्वादिनो व्यर्थवादित्वेन निग्रहावाप्तेरिति चेत् ; अल्पमिदमुच्यते, कृतकत्वादिनापि किमिति वक्तव्य सत्त्वस्यापि तद्विशेषणरहितस्यैव गमकत्वात् । शिष्यव्युत्पत्तिवैचित्र्यार्थं सत्त्वमेव[1] शुद्धम्, अविशुद्धञ्च भिन्नविशेषणं कृतकादि, अभिन्नविशेषणञ्चोत्पत्तिमत्त्वादि गमकमुपदिश्यत इति चेत् ; अहो महानयमनुग्रहः शिष्येषु भवतो यतो निग्रहनिबन्धनेषु तेषां गमकत्वव्युत्पत्तिराकल्प्यते । वैयर्थ्येऽपि कृतकत्वादीनां[2] तन्निबन्धत्वे प्रतिज्ञादीनामपि स्यादविशेषात् । को वा विशेषः कृतकत्वादीना यतस्त एव सत्त्वविशेषाः शिष्यव्युत्पत्तयेऽवकल्पन्ते न कारणत्वविशेषः श्रावणत्वमिति प्रतिपत्तिः । यदुक्तम्-अन्यत्रापि सिद्धमिव धर्मिण्येव सिद्धमपि गमकमिति, तन्न युक्तम् ; वैषम्यात् । अन्यत्रापि सिद्धस्य तदंशव्याप्तिनिर्णयादितरस्य विपर्ययादिति चेत्; न; तदशव्याप्तेस्तत्रैव निर्णये वैफल्यात् तत्र साध्यस्य प्रमाणान्तरादेवावगमात् । तन्निर्णयादेवावगमे परस्पराश्रयात्—साध्यसिद्धया तन्निर्णयः तस्माच्च तत्सिद्धिरिति । तत्राप्यन्यत्र तन्निर्णयेऽनवस्थापत्तेः । साकल्येन तन्निर्णये तु पक्षेऽप्यवश्यम्भावी तदभावे सामस्त्येन तदनुपपत्तेः । ततोऽन्तर्व्याप्तेरवश्यम्भावादन्यत्र सिद्धस्यापि तथैव च गमकत्वोपपत्तेरुपपन्न तद्वदितरस्यापि गमकत्वोपवर्णनम् । अन्तरपि व्याप्तिनिर्णये तत एव साध्यस्याप्यवधारणाद् व्यर्थमनुमानमिति चेत्, इदमपि " द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् " [प्र०वार्तिकाल० १।१] इति ब्रुवाणस्यैव दूषण न स्याद्वादिनाम् ; तैः साध्यापरिज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धस्य लिङ्गस्वरूपत्वेन तन्मात्रग्रहणेऽपि तन्निर्णयोपगमात् । तदुक्तम्—

" लिङ्गात्मग्राहक मानमूहो मतिनिबन्धनः । " [ ] इति ।

प्रथमदर्शिनोऽपि किन्न तन्निर्णय इति चेद् ? सामर्थ्याभावात् क्षणक्षयादिनिर्णयवदिति ब्रूमः । ततो युक्तम्-अन्यथानुपपत्तिबलाच्छब्दानित्यत्वे श्रावणत्वस्य गमकत्वं तथा रूपाद्यनित्यत्वे चाक्षुषत्वादेरपि प्रतिपत्तव्यं तदविशेषात् । तद्बलेन गमकत्वमन्यस्यापि दर्शयति–' तेन साध्यधर्मी च साधनम् ' इति । तेन यद्विना यद्विघातेन साध्यश्चासौ अनित्यत्वविशिष्टतया साध्यमानत्वात् धर्मी च शब्दादिः साध्यधर्मी साधनं गमक शब्दानित्यत्वस्य । न केवलं स एवापि तु साध्यधर्मोऽपीति

१ "यत् सत् तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः । स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः । यत् कृतक तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ।" –न्यायवि० पृ०६५-६६ । २-नामतन्नि– ता० । ३ ततो न व्या– आ०, ब०, प० ।

चशब्दः। कीदृशं तदुभयमपीति चेत्? उत्तरम्–'तत्र' इत्यादि। तत्र सिद्धः साध्यधर्मी तदन्यत्र सिद्धः साध्यधर्मे इति सिद्धमित्यस्य लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः। कथं पुनः साध्यधर्मिणस्तदाधारत्वमाधेयत्वञ्च सत्येव भेदे तदुपपत्तेरिति चेत्? न, सामान्यविशेषरूपतया भेदस्यापि भावात्। 'अपि वा' इति निपातसमुदायेन पक्षधर्मत्वादावनादरं सूचयति। तत्सूचनञ्च सतोऽपि तस्यासाधनाङ्गत्वात्। तदयमत्र प्रयोगः–अनित्यः शब्दः शब्दत्वादिति।

यदि धर्मी साध्यः, कथं साधनम्? अप्रसिद्धस्य साध्यत्वात् प्रसिद्धस्य च साधनत्वात्, तयोश्चैकत्र विरोधादिति चेत्, न; समुदायान्तःपातिन एव तस्य तद्रूपतया साध्यत्वेनासिद्धत्वात् न केवलस्य, केवलस्य च साधनत्वं सिद्धत्वात्, अन्यथा धर्मित्वमपि न भवेत् प्रसिद्धस्यैव [1]तत्त्वोपपत्तेः। ततः समुदायतदेकदेशरूपेणासिद्धेतरविभागविषयेण ज्ञाप्यज्ञापकभावोपपत्तेर्न धर्मिण[2] स्वसाधने हेतुभाविनोऽप्यसिद्धत्वमिति दुर्भाषितमेतत्–

"ज्ञाप्यज्ञापकयोर्भेदाद्धर्मिणो हेतुभाविनः।
असिद्धेर्ज्ञापकत्वस्य धर्म्यसिद्धः स्वसाधने॥" [प्र० वा० ४।१८०] इति।

यदि धर्मी हेतुः, 'अनित्यः शब्दः' इत्येवास्तु न शब्दत्वादिति वैयर्थ्यात्। न वैयर्थ्यं हेत्वन्तराकाङ्क्षानिवर्त्तनार्थत्वात्, भवति हि 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते 'कुतः' इति तदाकाङ्क्षा प्रतिपत्तुः अतस्तन्निवृत्त्यर्थं धर्मितया निर्दिष्टस्यापि हेतुत्वेन निर्देशे न पौनरुक्त्यदोषः फलवत्त्वादिति चेत्; न; धर्मितया निर्दिष्टस्यैव साध्यप्रत्यायनसामर्थ्ये तदन्तराकाङ्क्षानुत्पत्तेरनर्थकत्वात्, अन्यथा हेतुभावेन निर्देशेऽपि तदुत्पत्तेः पुनरपि तद्भावेन निर्देशः तन्निवृत्तये कर्तव्यः, पुनरप्येवमिति न क्वचिदवस्थितिः स्यात्। अथ तथा निर्दिष्टस्य न तत्सामर्थ्यम्, हेतुतया निर्दिष्टस्यापि न स्यात्, तन्निर्देशेनाप्यसमर्थस्य सामर्थ्यानापादनात्। तदुक्तम्–

"यदि शब्दस्य सामर्थ्यं हेत्वन्तरमनर्थकम्।
अथासामर्थ्यमस्यास्ति पुनरुक्तेन तेन किम्॥" [प्र० वार्तिकाल० ४।१७९] इति।

सत्यमस्त्येव धर्मितया निर्दिष्टस्यापि हेतुत्वं तत्तु धर्मपरतया पञ्चम्या च निर्देशाभावे न प्रतीयत इति चेत्, न, धर्मिपरे प्रथमानिर्देशेऽपि तत्प्रतिपत्तेः वृक्षोऽयं शिंशपा यत इति, अनित्योऽयं कृतको यत इति च। ततः पुनर्वचने यद्विवक्षितं तदत्र नास्तीत्यसिद्धो[3] हेतुरिति चेत्, न सम्यगेतत्, एवं हि 'विषाणवानयं पिण्डो नाश्वो विषाणवत्त्वात्' इत्यपि न हेतुर्भवेत् प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनासिद्धत्वात्। पिण्डस्यैव तदेकदेशत्वं न तद्विशेषणस्य विषाणवत्त्वस्येति चेत्; न; तत्रापि तस्यावश्यम्भावात्, कथमन्यथा तद्विशिष्टस्य पिण्डस्यापि तदेकदेशत्वम्? वा मा भूत्तस्य तत्त्वम्, तथापि विशेषणतया निर्देशादेव हेतुभावस्यापि प्रतिपत्तेः विषाणवत्त्वादिति किं पुनर्वचनेन हेत्वन्तराकाङ्क्षायाः प्रकृतवदत्राप्यनवक्लृप्तेः तन्निवर्तकस्यापि पुनर्निर्देशफलस्याभावात्। ततोऽत्राप्येवं वक्तव्यम्–

१ धर्मित्वोपपत्तेः। २ धर्मितया। ३ "प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धः।" –ता० टि०। ४–शे फ– आ०, ब०, प०।

शक्तिर्विषाणिनश्चेत् स्याद्धेत्वन्तरमनर्थकम् ।
शक्तिर्यदि न तस्यास्ति पुनरुक्तेन तेन किम् ॥ १३९५ ॥ इति ।

ततोऽत्रापि पुनर्वचने विवक्षिताभावादसिद्ध एवायं हेतुः । नेह विशेषणस्यैव तत्पिण्डगतविशेषात्मनः पुनर्वचनम् ; अपि तु तदन्यस्यैव तदन्तर्गतस्य विषाणवत्त्वसामान्यस्य, तस्यैव च हेतुत्वं ततोऽयमदोष इति चेत्; कथं तर्हीदमलङ्कारवचनमविरुद्धम्–**"यदि नाम पक्षविशेषणं विषाणित्वं पिण्डान्तरव्यवच्छेदाय तथापि तस्य हेतुत्वं न विरुद्ध्यते ।"** [प्र० वार्तिकाल० ४।१८७] इति । अनेन तद्विशेषणस्यैव हेतुत्वप्रतिपादनात् । तन्नायमत्र परिहारः ।

स्यान्मतम्–यस्य विशेषणनिर्देशादेव तत्र हेतुभावप्रतिपत्तिः प्रज्ञातिशयसम्पत्तेस्तं प्रति मा भूत्तस्य पुनर्वचनं वैयर्थ्यात्, यस्य तु नास्ति कोमलप्रज्ञस्य तं प्रति फलवदेव तद्वचनं ततस्तस्य तद्भावप्रतिपत्तेः । न च पुनरुक्तत्वम्; अनवगतवचनात्[1], अवगतवचनत्वात्[2]तस्यावकाशादिति, तदेतदुपकारायैवास्माकं शब्दस्याप्येवं निर्दोषतया हेतुत्वेनावस्थितेः । ततो यथा साध्यविशेषणत्वेऽपि तेन साध्यप्रतिबन्धस्याप्रतिपादनाद्धेतुरेव विषाणवत्त्वं न 'प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धम्; धर्मितद्विशेषणभावेन प्रतिज्ञार्थादर्थान्तरत्वाद्, तथा शब्दत्वमपि,[3]धर्मित्वेऽपि तेन तत्साध्यप्रतिबन्धस्याप्रतिक्षेपात् समुदायकेवलात्मना तदर्थान्तरस्यापि भावात् । भवत्वसिद्धिरेव विषाणवत्त्वस्यापि, तत्कथं तदवष्टम्भेन शब्दत्वे तत्परिहार इति चेत् ? किं पुनरिदं धर्मकीर्तेर्बु[4]भुक्षाव्याकुलितस्य वचनम्—

"पक्षाङ्गत्वेऽप्यबाधत्वान्नासिद्धिर्भिन्नधर्मिणि ।
यथाऽश्वो न विषाणित्वादेव पिण्डो विषाणवान् ॥" [प्र०वा०४।१८७] इति ।

यत्पुनरत्र पक्षान्तरम्- न साध्यसमये विशेषणमस्ति साध्यमुपलक्ष्य तस्य प्रागेव निवृत्तेः निवृत्तस्य च तदेकदेशित्वायोगान्नासिद्धत्वमिति । तदुक्तम्—

"साध्यकाले गतो वा न निवृत्तेरुपलक्ष्यते (तत्) ।"
[प्र० वा० ४। १८८] इति,

तदपि न; शब्दत्वेऽप्येव तद्दोषानवक्लृप्तेः । शक्यं हि वक्तुं शब्दत्वमपि साधनमेव न साध्यम् अनित्यः शब्दत्वादिति अनित्यत्वस्यैव साध्यत्वात् ततो न तदपि तदेकदेशत्वेनासिद्धमिति क्वेदानीमनित्यत्वं साध्यं निराधारस्य धर्मस्यासम्भवादिति चेत्[5] ? अग्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र क्वाग्निमत्त्वम् ? सामर्थ्याद्धूम एव, तदन्यत्र तत्साधने हेतोरसामर्थ्यादिति चेत्, तत एवानित्यत्वमपि शब्द एवास्तु । कथमिदानीं न तस्य तदेकदेशत्वमिति चेत् ? न; हेतुव (चा)कात्पूर्वं तदभावात् । पश्चात्तु भवतोऽपि हेतोरदूषणात् । नहि तद्बलोपनीतमेव तद्दूषणाय भवत्यतिप्रसङ्गात्, स्वयं चाभावापत्तेः । तथा हि—

नहि दोषवतो हेतोस्तत्सिद्धिरवकल्पते ।
तत्सिद्धौ वा कथं नाम हेतुर्दोषी[6] भवेदयम् ॥ १३९६ ॥

---

१ –चनत्वाच– ता० । २ पुनरुक्तत्वस्य । ३ धर्मित्वेन त– आ०, ब०, प० । ४ –स्य शब्द श– आ०, ब०, प० । ५ चेत्तदग्निमान् आ०, ब०, प० । ६ –दोषो भ– आ०, ब०, प० ।

हेतोश्च दोषमन्विच्छन्नन्विच्छत्यपि तद्बलात् ।
साध्यसिद्धिमिति ह्येषा महती बोधदीधितिः ॥ १२९७ ॥

ततो हेतुरिव शब्दत्वं सिद्धत्वादन्यथानुपपत्तेश्च, तथा रूपाद्यनित्यत्वे रूपत्वादिकमप्यविशेषात्। धर्मिण इव किन्न साध्यधर्मस्यापि हेतुत्वमिति चेत् ? न, तस्य समुदायगतस्येव केवलस्याप्यसिद्धत्वात् । तदन्यगतः सिद्ध एवेति चेत्; इष्टमेवैतद् 'अनित्यः शब्दः तदन्यस्य सर्वस्यानित्यत्वात्' इति । चशब्देन तत्समुच्चयस्याभिधानात्। कथमत्रान्यथानुपपन्नत्वं शब्दनित्यत्वेन[1] तदन्यानित्यत्वस्य हि भिन्नाधिकरणत्वेन विरोधाभावात्, [2]विरोधोपायत्वाच्च तत्प्रतिपत्तेरिति चेत् ? न, शब्दस्य नित्यत्वे [3]तद्वत्त्वेनैव तदन्यस्यापि वस्तुनो व्याप्तेरेकाधिकरणतया विरोधोपपत्तेः । न च वस्तुनः कस्यचिन्नित्यत्वम् अन्यस्यानित्यत्वं व्यापकमित्युपपन्नम्; सत्त्वादेरपि व्यभिचारेणागमकत्वप्रसङ्गात् । तस्मादनित्यत्वमेव साकल्येन तस्य व्यापकम्, तच्च क्वचिद्भवदन्यत्रापि तद्विपर्ययं प्रतिक्षिपति तद्व्याप्तं शब्दत्वादिकमपि । इत्युपपन्नमभिहितम्–'तत्र' इत्यादि । यद्यनन्वयमपि श्रावणत्वादिकं गमकं किन्न प्राणादिमत्त्वमपीति चेत् ? क्व तस्य तत्त्वम् ? आत्मनि नित्यादिरूपे प्राणादेस्तत्कार्यत्वेन तत्राविनाभावादिति चेत्; न, नित्यत्वेन हेतुत्वस्य निषेधात् । अनिषेधेऽपि किन्न शरीरवदन्यत्रापि प्राणादिः, आत्मनस्तत्रापि भावात् ? [4]तद्धेतोर्विशेषस्य शरीर एव भावात् बहिश्च विपर्ययादिति चेत्; न; तस्य[5] तत्स्वभावत्वे बहिरपि प्रसङ्गात् व्यापिनस्तदपरस्वभावानुत्पत्तेः, अन्यथा तावानेवात्मा भवेत् आत्मप्रयोजनस्य तत्रैव भावान्न बहिर्भावी तद्भागो विपर्ययात् । अथाय[6] तत्स्वभावो न भवति, आत्ममनःसंयोगादित्वेन ततो भिन्नत्वादिति चेत्; ततो[7]ऽपि कुतस्तत्रैव प्राणादिः ? तदवच्छिन्न एवात्मप्रदेशे तस्य[8] भावादिति चेत्; न; आत्मनो निष्प्रदेशत्वात्, कल्पितस्तु प्रदेशो न तत्सहायोऽपि तद्धेतुः, अवस्तुत्वाद्वन्ध्यासुतादिवत् । कथं[9] वा तत्रैव[10] भवताऽदृष्टेन विप्रकृष्टात्[11] पश्चादा (पश्चाद्या) कृष्टिर्यतस्तदनुमानम् ? कथं वा [12]तस्यात्मकार्यस्य तत्रैव भावो न बहिरपि ? तद्धेतोरपि विशेषस्य तत्रैव भावादिति चेत्; तस्य पूर्ववदनर्थान्तरत्वे [13]ततोऽपि कुतस्तन्मनःसंयोगादिस्तत्रैव ? तस्यापि तदवच्छिन्न एव तत्र प्रदेशे भावादिति चेत्; न, 'आत्मनो निष्प्रदेशत्वात्' इत्यादेरावृत्तेरनवस्थापत्तेश्च । नायं दोषः, सहकारिणां हेतुफलभावेन क्रमभाविनामनवस्थितेरेव[14] रूपत्वादिति चेत्; एवमपि सहकारिणामिति कुतो न स्वतन्त्राणामिति ? तत्सहायादात्मन एव प्राणादेर्भावान्न तेभ्य[15] एवेति चेत्; कथं पुनस्तेषामेव[16] निवृत्त्या घटादेर्निवर्त्तमानः तेभ्य एव स[17] न भवेत् ? आत्मापि ततो निवृत्त एवेति चेत्, न, विभुत्वात् । सहकारिसहितो निवृत्तश्चेत्; न, तत्साहित्यस्य

---

१ विपक्षभूतेन सह । २ विपक्षविरोधकारणत्वात् । ३ नित्यत्वेनैव । तद्वत्तेनैव आ०, ब०, प० । ४ प्राणादिसद्भावकारणस्य विशेषस्य । ५ प्राणादिहेतोर्विशेषस्य आत्मस्वभावत्वे । ६ प्राणादिहेतुर्विशेषः बहिर्भावविभागस्वभावः । ७ आत्ममनःसंयोगादेः । ८ आत्ममनःसंयोगादेः । ९ कथं त– ता० । १० शरीरदेशे एव । ११ दूरदेशात् । विप्रकृष्टत्वात् आ०,ब०,प० । १२ आत्ममनःसंयोगादेः । १३ –त्वेपि ततः कु– आ०,ब०, प० । १४ सन्तानापेक्षया अनन्तत्वस्यैव । १५ सहकारिभ्य एव स्वतन्त्रेभ्यः । १६ आत्ममनःसंयोगादीनामेव । १७ प्राणादिः ।

तत्स्वभावत्वे तदनुपपत्तेः । अतत्स्वभावत्वे तु सहकारिण एव तदिति सिद्धा तन्निवृत्तित एव ततस्तद्व्यावृत्तिः । अतो नात्मनि प्राणादिमत्त्वस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिवैकल्यात् ।

अस्तु तर्हि [1]बुद्ध्यात्मन्येव तस्य गमकत्वमविनाभावादिति चेत्; कुतोऽविनाभावः ? तस्य स्वशरीरे तत्पूर्वकत्वेन प्रतिपत्तेरिति चेत्; कीदृशस्तदात्मा ? निश्चयविकल इति चेत्; कथं तदस्तित्वव्यवहारः ? निर्विकल्पादेव[2] स्ववेदनादिति चेत्; न; क्षणभङ्गादावपि तत एव तद्भावेनानुमानवैफल्यात्[3] । व्यवहारसमर्थे च तद्वेदने[4] विपरीतारोपणस्यानुपपत्तेः । तन्न तस्यान्वयमुखेनाविनाभावः ।

नापि व्यतिरेकबलेन अनिश्चितास्तित्वस्य कुतश्चिन्निवृत्तेरपरिज्ञानात् । भवतु नीलमिदं पीतमिदमित्युपजायमानो निश्चय एव स इति चेत्; स एव कुतः ? निर्हेतुकत्वे नित्यसत्त्वादिप्रसङ्गात् । पूर्वस्मान्निश्चयादेवेति चेत्; कुत इदमवगन्तव्यम् ? तयोरेवान्यतरस्मादिति चेत्, न, तेन परस्परस्याविषयीकरणात् । नाप्यन्यतः, तेनापि तदन्यतरकालेनेतरस्य तत्कालासम्भविनोऽपरिज्ञानात्, उभयकालव्यापिनश्च क्षणभङ्गभङ्गभयेनानभ्युपगमात् । 'तदुभयपृष्ठभाविनो विकल्पात्' इत्यपि नोत्तरम्, तुल्यचोद्यत्वात् 'कुतस्तस्य तत्पृष्ठभावित्वमवगम्यते' इति ? विकल्पान्तरकल्पनायामनवस्थानदौःस्थ्यभयापत्तेश्च । न चोभयापरिज्ञाने तद्धेतुफलभावप्रतिपत्तिः, "द्विष्ठसम्बन्ध" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादेर्विरोधात् । तन्न नैरात्म्यवादिनां निश्चयोऽपि तदात्मा यतः प्राणादयो भवेयुः ।

सत्यपि तस्मिन् कुतः सुषुप्तादौ तदुत्पत्तिः ? तदापि निश्चये तद्दशाविलोपात् । जाग्रतो निश्चयादिति चेत्, भवतु नामानन्तरः, परस्तु क्रमभावी कुतः ? प्राणादेरेव पूर्वपूर्वस्मादिति चेत्, कथमिदानीं तत परचैतन्यवित्तिर्व्यभिचारात् ? न व्यभिचारः-चैतन्यप्रभवात् प्राणादेस्तत्प्रभवस्य वैलक्षण्यात् अग्निप्रभवादिव धूमात् तत्प्रभवस्य धूमस्येति चेत्, न, तदनवधारणात् । कथमन्यथा सव्याजेयं सुषुप्तिरव्याजा वेति संशयः ? न हि हुतवहदाहादिविशेषविकलतयोपलभ्यमानाद्धूमाद्धूमध्वज सशयानाः परिदृश्यन्ते प्रतिपत्तारः । किञ्च, तदा[10] निश्चयवैकल्ये कुतः [11]प्रबोधः ? सोऽपि जाग्रत एव निश्चयादिति चेत्, कथं क्रमभाविप्राणादिः प्रबोधश्चाक्रमादेव तन्निश्चयात् ? "नाक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इत्यस्य व्यापत्तेः । कुतो वा मृतशरीरेऽपि तत एव न प्रबोधः ? सहकारिणोऽदृष्टस्याभावादिति चेत्, एतदपि कुतः ? [12]तत्र प्रबोधस्यानाविर्भावादिति चेत्, न, विषमूर्च्छितादौ पक्षमेकमनाविर्भावेऽपि तस्य पुनस्तत्रैव प्रयत्नबलादाविर्भावप्रतिपत्तेः । अत्रापि तदाशङ्काऽनिवर्चनात्[13] न निश्चितस्तदनाविर्भाव इति कथमदृष्टाभावः ? कथञ्च दाहादिसाहसमाचरितव्यः पातकित्वप्रसङ्गात् । ततो न मृतशरीरवत् सुषुप्तादावपि जाग्रज्ज्ञानात्तदुत्पत्तिरिति सन्निहित एव कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यः । स चात्मैव उपयोगपरिणामी

---

१ "सौगताङ्गीकृते चित्तसन्ततिरूपे ।"– ता० टि० । २ निर्विकल्पकादेव । ३ "दृष्टेऽपि क्षणभङ्गादौ विपरीतसमारोपसम्भवात्तद्व्यवच्छेदार्थस्यानुमानस्य साफल्यम् । तदुक्तम्–तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ॥ इति । इत्याशङ्कायामाह ।" –ता० टि० । ४ निर्विकल्पवेदने । ५ "...संवित्तिः नैकरूपप्रवेदनात् ।" –प्र० वार्तिकाल० । ६ प्राणादिः । ७ प्राणादे । ८ प्राणादिप्रभवस्य । ९ धूमप्रभवस्य । १० सुषुप्तादौ । ११ प्रबन्धः आ०, ब०, प० । १२ तत्र नो– आ०, ब० प० । १३ –शंकाविनि वर्तनात् आ०, ब०, प० ।

नापर इति, तत्रैव तस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिसम्भवात् । तस्यापि निर्णयात्मन[1] एव सन्निधाने कथं सुषुप्तिरिति चेत् ? न; तदा तस्यादृष्टवशान्निर्णयविकलस्यैव भावात्, प्रबुद्धस्यैव निर्णयरूपतया प्रतिपत्तेः । कथमेकस्य निर्णयश्चेतरश्च स्वरूपमिति चेत् ? तथैवाधिगमाद्विकल्पज्ञानवत् । एतदेवाह —

अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।
जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥ ५३ ॥ इति ।

न विद्यते प्रत्यक्षं निर्णयरूपं यस्य सः अप्रत्यक्षो जीवः' इति सम्बन्धः । क्व ? सुषुप्तः स्वप्नदर्शी निद्रावान् आदिर्यस्य मूर्च्छितादेस्तस्मिन्निति । सदा तर्हि सोऽप्रत्यक्ष एव कपिलादेरप्यात्मा परोक्ष एवेति केषाञ्चिदभ्युपगमादिति चेत्; न; बुद्धो निद्राप्रबन्धाद् व्युत्थितः । प्रत्यक्षलक्षणः प्रत्यक्षं निर्णयात्मकं स्वसंवेदनम्, "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [ ] इति वचनात्, तल्लक्षणं स्वरूपं यस्य तेन वा लक्ष्यत इति तल्लक्षण इति । अनेन तत्परोक्षत्ववादस्य प्रत्यक्षबाधनमुपदर्शितम् । भवतु बुद्धो जीवः प्रत्यक्षतोऽवगमात्, सुषुप्तादिस्तु कथमिति चेत् ? उत्तरम्–जीवतीति यतः इति । यतो लोकस्य सुषुप्तादिरपि जीवतीति प्रत्ययः ततः सोऽप्यस्त्येव अन्यथा तत्प्रत्ययायोगात् । कुतोऽयं प्रत्ययः ? मृते मृतप्रत्ययोपि कुतो यतो व्याहारादिस्तत्र कल्प्येत ? स्पर्शादिविशेषाल्लिङ्गादिति चेत्; न; [2]जीवनप्रत्ययस्यापि तत एव भावात् । [3]जीवनप्रतिबन्धस्यापि तद्विशेषस्य निरुच्छ्वासमूर्च्छितेऽपि लोकैरध्यवसायात् । सोऽपि जाग्रत एव जीवनान्न तादात्विकादिति चेत्; तदहर्जातस्य व्याहारादिरपि प्राच्यभवजीवनादेवेति कथं ततस्तच्चैतन्यप्रतिपत्तिर्यतोऽयं परिपोषणादिनाऽनुगृह्येत । ततो यथा तदानीन्तनादेव जीवनात्तद्व्याहारादिः, अन्यथा सन्तानान्तरव्यवहारविरहापत्तेः, तथा सुषुप्तादेः स्पर्शादिविशेषोऽपीत्यलमाग्रहवैशसेन । कथं पुनरेवमपि सुषुप्तादिना प्रबुद्धस्यैकत्वं यतः 'अप्रत्यक्ष.' इत्याद्युच्यत इति चेत् ? अत्रोत्तरम्–'सोऽयम्' इति । अत्रापि इति यत इति सम्बन्धनीयम् । तदयमर्थः– स. सुषुप्तादिः अयं प्रतीयमान इति एवं प्रत्यभिज्ञानं यतस्ततः स एव अप्रत्यक्षः पूर्वं पुनः प्रबुद्धश्च प्रत्यक्ष इति । ननु स इत्यतीतस्य निर्देशः, तस्य च कुतः प्रतिपत्तिः ? स्मरणादिति चेत्; तस्याप्यननुभूतवस्तुगोचरत्वे न तद्विषयत्वम् अतीतेऽनुभवाभावात् । नहि वस्तु किञ्चिदतीतत्वेनानुभवे परिस्फुरति । अतद्गोचरत्वे तु न स्मरणम्, अनुभवपृष्ठभाविन एव प्रत्ययस्य [4]तत्त्वोपगमात् । तदुक्तम्—

"अनुभूतार्थविषया स्मृतिश्चेत् नष्टता कथम् ?
नानुभूतार्थविषया यदि सा स्मृतिता कथम् ॥" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७] इति ।

अनुभूतमेवानुभवाद[5]पक्रान्तमतीतमिति चेत्; न, युगपत् विरोधेन तदसम्भवात् । पर्यायेण तत्सम्भवे तु तदपक्रान्तादन्यदेवानुभूतमिति कथं तदेवातीतमिति व्यपदेशः ? ततः केवलं वासनाबलादेव स्मरणमिति ततोऽवसीयमानमवस्त्वेवातीतं प्रधानादिवत् । तदप्युक्तम्—

---

१ –नः सन्निपातेपि क– आ०, ब०, प० । २ जीवप्रत्य– आ०, ब०, प० । ३ "जीवनेन सह प्रतिबन्धः सम्बन्धो यस्य स जीवनप्रतिबन्धस्तस्य ।" –ता० टि० । जीवनप्रबन्धस्यापि आ०, ब०, प० । ४ मरणत्वोपगमात् । ५ –दप्रतिक्रान्तमिति आ०, ब०, प० ।

"यदातीतं न तद्ग्राह्यं यदा ग्राह्यं न तत्तथा ।
स्मर्यमाणेन रूपेण तदतीतं न वस्तु[1] तत् ॥" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७] इति ।

तत्कथमवस्तुनैकत्वं वस्तुनः प्रत्यक्षविषयस्येति चेत् ? न; सचेतनादिरूपेणानुभवविषयस्यैव तेन ग्रहणात्; तस्य च वस्तुत्वात् । कथमिदानीमतद्विषयस्यातीतत्वस्य तेन ग्रहणमिति चेत् ? भवतु तावता तस्यास्मरणत्वम् अपूर्वार्थत्वात् । तदेव कथं स्मरणमस्मरणञ्चेति चेत् ? "तदेव स्वरूपे प्रमाणमितरत्राप्रमाणमितिवत्" [ ] इति ब्रूमः । तत प्रमाणमेव स्मरण[2] कथञ्चिदपूर्वार्थत्वादविसंवादाच्च । अस्ति हि[3] तत्राविसंवादः, ततोऽपि प्रवृत्तस्य विषयप्राप्तेः । कथमतीतस्य प्राप्तिः ? कथं वर्तमानस्य[4] ? प्राप्तिकाले तस्याप्यभावात् । प्राप्त इत्यभिप्रायादिति चेत्, न, इतरत्रापि तुल्यत्वात् । सांवृतमेवैवं स्मरणस्य प्रामाण्यमिति चेत्; प्रत्यक्षस्यापि स्यात् । तदपि तादृगमेव वस्तुत इति चेत्; नेदानीमतीतस्यैवावस्तुत्वं वर्तमानस्यापि तत्त्वात् । तत्कुतस्तत्रैव तन्निर्बन्धः । ततस्सदेवातीतमपि वर्तमानवदिति कथं न तदेकत्वं प्रत्यक्षविषयस्य ? तस्मादनालोचितवचनमेवेदम्–"स्मर्यमाणेन रूपेण तदतीतं न वस्तु तत्" [प्र० वार्तिकाल०] इति । असत्यपि वस्तुत्वे कथन्न तदेकत्वं तद्वत्तद्गतस्य तस्याप्यवस्तुत्वात् धर्मिरूपानुसारित्वाद्धर्मस्य । नैकान्तेनावस्तुत्व वस्तुभूतवर्तमानपर्य्यायगतत्वेन वस्तुत्वस्यापि भावादिति चेत्, न तर्हि तदेकमेकत्वं भवेत्, अपि त्वतीतगतमन्यद्वस्तुरूपम् अन्यच्च वर्तमानगतं वस्तुभूतमिति भिन्नस्यैवोपपत्तेः । तन्नातीतेतरयोरेकत्वं तस्यैवैकस्यासम्भवात् । तदुक्तम्–

"यदि धर्मवशेन[5] स्यात्तस्यासत्यतया स्थितिः ।
एकमेव तदातीतं वर्तमानतया मृषा ॥" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७] इति ।

इति चेत्; उच्यते–

अवस्तुत्वादतीतस्य तदैक्यं चेन्न वस्तुनः ।
तद्धेतुत्वं कथं तस्य वर्तमानस्य कल्प्यताम् ॥ १३९८ ॥
अवस्तुनोऽपि हेतुत्वे हेतुत्वं वस्तुलक्षणम् ।
अर्थक्रियासमर्थं यत्तत्सदित्युच्यते[6] कथम् ॥ १३९९ ॥
अतीत चेन्न तद्धेतुस्तदहर्जातचेतनात् ।
अतद्रूपादतत्कार्यात्प्रागभवानुमिति कथम् ॥ १४०० ॥
कुतो वा वस्तुनो जन्म भव्याच्चेद्वस्तु तत्कुत. ।
प्रत्यक्षगोचरत्वस्याभावात्तत्राप्यतीतवत् ॥ १४०१ ॥
पश्चात्तद्गोचरत्वाच्चेद्वस्तु तत्प्रतिवाञ्छितम् ।
तन्न तत्रापि यद्वक्तुमेवं शक्यं मनीषिणाम् ॥ १४०२ ॥

---

१ वस्तुतः आ०, ब०, प० । २ स्मरणेन । ३ अस्तिह आ०, ब०, प० । ४ "प्रत्यक्षविषयस्य" –ता० टि० । ५ धर्मिव– ता० । "यदि धर्मवशेनास्याः सत्यासत्यतया स्थिति । वर्तमानतया सत्याऽवर्तमानतया मृषा ॥" ६– प्र० वा २।३ । प्र० वार्तिकाल० ।

यदा भव्यं न तद्ग्राह्यं यदा ग्राह्यं न तत्तथा ।
अनुमागम्यरूपेण भव्यं तत्र च वस्तु तत् ॥ १४०३ ॥ इति ।
समकालात्तु तज्जन्म न त्वयैवोपगम्यते[1] ।
तस्मादहेतुकं वस्तु ततश्च ध्रुवमापतेत् ॥ १४०४ ॥
नित्यत्वमेवं तद्ध्वंसप्रयत्नादप्यवस्थितम् ।
प्रज्ञाकरपदं व्यर्थं त्वयि शाक्य प्रकल्पयेत् ॥ १४०५ ॥

न वस्तुतः किञ्चित् कस्यचित् कार्य्यं कारणं नित्यमनित्यमन्यद्वा, सकलविकल्पापक्रान्तस्याद्वैतस्यैव भावात् । तदभ्युपगमस्तु संवृत्यैवेति चेत्, नन्विवं लोकबुद्धिरेव,

"केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते ।" [प्र० वा०२।२१९] इति वचनात्, तथा च कथमतीतादेरवस्तुत्वम् वस्तुतयैव तत्र लोकबुद्धेर्भावात् । भवत्वेव तथापि कथं प्रत्यभिज्ञानात्तदेकत्वम् ? कथं च न स्यात् ? असत्यपि तस्मिंस्तस्य भावात् लूनपुनरुत्पन्ननखकेशादाविति चेत्, अक्षज्ञानादपि कथं क्वचित्पीतादिः[2] ? तदभावेऽपि शुक्लशङ्खादौ तस्य भावात् । निर्बाधादेव ततस्तद्भावो न सर्वस्मात्, बाधितश्च प्रकृतं पुनर्भाविना शुक्लप्रतिभासेनेति चेत्; न; प्रत्यभिज्ञानेऽपि समानत्वात् । लूनपुनरुत्पन्नकेशादौ किं तस्य बाधकम् ? मध्ये लूनतादर्शनमिति चेत् ; ननु लूनता नाम विच्छेदः[3], स च पूर्वस्योत्तरेणासङ्घटनम् । तच्च लूनवदन्यत्रापि समानं तत्कथं क्वचिदपि तस्य निर्बाधित्वम् ? तदुक्तम्—

"लूनता नाम विच्छेदः परासङ्घटनं स च ।
ततः पूर्वपरित्यागाद्भित्तिः सङ्घटिते कुतः ॥
असङ्घटितदृष्टिश्च समा दार्ष्टान्तिकेतरे ।" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७]

इति चेत्; न, असङ्घटितत्वस्य दार्ष्टान्तिके कथञ्चिदेवावगमान्न सर्वथा । न च तेन कथञ्चिदेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य बाधनम्; अविरोधात् । अथ कथञ्चिदिति न क्षम्यते तस्यानर्थपदत्वात्[4], न तर्हि प्रत्यभिज्ञानमपि तदाकारयोरपि स इत्ययमिति चासङ्घटितयोरेवावभासनादेकत्वस्यानुपपत्तेः[5], तद्रूपत्वाच्च प्रत्यभिज्ञानस्य । न हि स इति प्रत्यभिज्ञानं स्मरणत्वात् । नाप्ययमिति प्रत्यक्षत्वात् । तदपि मा भूदिति चेत्; कथं तर्हीदमुक्तम्—"एकार्थक्रियाकारितयैकत्वं प्रत्यभिज्ञानविषयो न तत्त्वतः ।" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७] इति ? सत्येव तस्मिंस्तद्विषयचिन्तनस्योपपत्तेः । तदपि कल्पनादेव न तत्त्वत इति चेत् , ननु तदपि प्रत्यभिज्ञानमेव योऽयं स इति स एवायमित्ययमाकार[6] इत्युपजननात्, तच्च कथञ्चिद्वादविद्वेषे नास्ति । तत्कथमसतैवासतः परिकल्पनम् ? तदपि परिकल्पनादेवेति चेत् , न; अनवस्थाप्रसङ्गात् । ततो दूरं गत्वापि तत्त्वत एव सङ्घटिताकारं तदङ्गीकर्तव्यम् ।

---

१ –पपद्यते आ०, ब०,प० । २ पीतादेस्त– आ०,ब०,प० । ३ –दतः स आ०, ब०, प० । ४ "कथञ्चिदित्यनर्थपदमेतत्"– हेतुबि० टी० पृ० ८४ । ५ –रमित्यु– आ०, ब०, प० । ६ –सत्येवास– आ०, ब०, प० ।

तथा च तद्वदेवातीतादेरपि सङ्घटनोपपत्तेरुपपन्नम्–'प्रत्यभिज्ञानात्कथञ्चिदसङ्घटनेऽपि तदेकत्वपरिज्ञानम् ।' ततः कथञ्चित्पदस्यान्धत्वाभिधानमन्धतमसानुबन्धादेव न परीक्षाबलादिति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः । ततः सूक्तम्–'**स एवायम्** ।' इति । यतस्ततः सुषुप्तादिरेव प्रबुद्ध इति ।

भवतु तादृशो जीवो न त्वात्मा तस्य नित्यशुद्धत्वेन सुषुप्तादिभावानुपपत्तेरिति चेत्, उत्तरम्– '**आत्मा**' इति । अत्र **सोऽयमि**ति योजयितव्यम् । तदयमर्थः–स प्रकृतो जीवोऽयं प्रत्यवमर्शेन व्यवस्थाप्यमान **आत्मा** नापरः । कुत एतत् ? **उपयोगवान्** यतः उपयोगो ज्ञानदर्शनरूपो व्यापारो विद्यते अस्येत्युपयोगवान् । नित्ययोगे तादात्म्यलक्षणे मतुः । एतदुक्तं भवति–आत्मनोऽप्युपयोगवत्त्वमेव लक्षणम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इति वचनात् । तस्य च जीव एव दर्शनात् स एवात्मेति तत्र दर्शनमपि परमात्माविवेकादेव न स्वतस्तत्त्वात्, "**तमेव भान्तमनु भाति सर्वम्** [कठो० ५।१८] इत्याम्नायादिति चेत्; न, तत्र दृष्टस्यान्यत्र कल्पनायामनवस्थापत्तेः, तदन्यत्रापि तदनिरावरणात् । आम्नायबाध[1]नान्नेति चेत्, प्रत्यक्षबाधनादाम्नायोक्तेऽपि न भवेत् । ततो जीव एवात्मा "**अनेन जीवेनात्मना**" [छान्दो० ६।३।२] इति जीवाभेदेन तस्याम्नायाच्च । आत्माभेदेन जीवस्यैवायमाम्नायो न तदभेदेनात्मन इति चेत्, तस्यैवाम्नाये को दोषः ? जीवादन्यो नात्मा स्यात्, अस्ति चासौ मुक्तरूपः, न च तस्य जीवत्वं प्राणधारणस्याभावात्, सत्येव तस्मिन् जीवत्वोपपत्तेरिति चेत्; न, त[2]स्यापि भूतपूर्वगत्या त[3]त्त्वात्, जीवितपूर्वो जीव इति व्युत्पत्तेः, विग्रहगतावपि[4] जीविष्यतीति जीव इति व्युत्पादनात् । कथं पुनरुपयोगवत्त्वे तस्य सुषुप्त्यादिः सत्यज्ञानस्वभावस्य तदसम्भवादिति चेत् ? न; कर्मवशात्तस्यापि तदुपपत्तेः । तत्राह–

कर्मणामपि कर्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः । इति ।

कर्मणां ज्ञानावरणादीनामयं जीवः **कर्ता** न केवलमुपयोगवानेवेत्यपिशब्दः । ततश्च तेषा यत्फलं तत्परिपाकोपनीतं सु[5]षुप्त्यादिलक्षणं तस्य **वेदक**स्तद्रूपतयापि वृत्तेरनुभविता । न केवल कदाचिदवेदक इत्यपिशब्दः । परमपि तत्फलं दर्शयति–

संसरेत् [परिणामात्तमुच्यते वा ततः पुनः] ॥ ५४ ॥ इति ।

तत्कर्तृत्वादेव परापरशरीरादिपरित्यागोपादानक्रमेण देवतिर्यगादिगतिषु परिभ्रमेदयं जीव इति । तत्कर्तृत्वे निबन्धनमाह–'**परिणामात्**' इति । परिणामो मिथ्यादर्शनादिर्विकारः तेनात्तः परिगृहीतः, ततस्तेषां कर्ता स एव उपयोगवत. कुत इति चेत् ? कर्मभ्य एव । न चैवं परस्पराश्रयः 'कर्मभ्यस्तद्दर्शनादिस्ततोऽपि कर्माणि' इति, अनादित्वात्तत्प्रबन्धस्य । तस्य च सयुक्तिकत्वेन तृतीये निरूपणात् । न तर्हि कर्मभ्यस्तत्करणस्वभावस्य मुक्तिः तत्स्वभावपरिहाण्या जीवस्यैव परिहाणिप्रसङ्गादिति चेत्; आह–'**मुच्यते वा ततः पुनः**' इति । **मुच्यते** अपवृज्यते **ततः** कर्मभ्यो जीवः स च न सर्वः किन्तु भव्य एवेति दर्शनार्थं **वे**ति विकल्पवचनम् । मुच्यमानोऽपि न सर्वदा

१ –धनादिति आ०, ब०, प० । २ मुक्तस्यापि । ३ जीवत्वात् । ४ नूतनशरीरधारणार्थं गति विग्रहगतिः । ५ सुषुप्तादि– ता०, ब० ।

किन्तु पुनः तदुपायानुष्ठानस्य पश्चात्, पूर्वं तु संसार एव, तदभावे मुक्तेरनुपपत्तेः तदपेक्षत्वात्।

मुक्तिः संसारतस्तस्मिन्न चासत्यवकल्पते ।
पाशबन्धाद्विनिर्मुक्तेस्तस्मिन् सत्येव दर्शनात् ॥ १४०६ ॥
अविद्याकल्पितास्त्येव संसृतिः प्रागपीति चेत् ।
तदा तस्माद्विनिर्मुक्तिर्जीवस्य कथमुच्यताम् ॥ १४०७ ॥
न हि संसारनिर्मुक्तो तमोदीपप्रभे इव ।
निष्पर्य्याय क्वचिज्जीवे युज्येते गृहगर्भवत् ॥ १४०८ ॥
सत्त्वेऽपि प्रागवस्तुत्वात्संसृतेर्मुक्तिरेव चेत् ।
अवस्तुन कुतो वित्तिर्यदि वस्तुदृशिः पुमान् ॥ १४०९ ॥
कल्पनापि कथं तस्य न चेद्वित्ति कुतश्चन ।
वित्तिरेव यतो भ्रान्ता कल्पनेति प्रकल्प्यते ॥ १४१० ॥
न च भ्रमोऽस्ति जीवस्य यतः स्यात्तत्र कल्पनम् ।
भ्रमे वा तत्र निर्मुक्तिरनादिः कल्प्यतां कथम् ॥ १४११ ॥
भ्रमोऽपि विभ्रमादेव प्राच्यात्प्राच्योऽपि तादृशात् ।
अनादिस्तत्प्रबन्धोऽयमिति चासन्मतं मतम् ॥ १४१२ ॥
चेतनादन्यतस्तस्य व्यवस्थाकारिणोऽत्ययात् ।
चेतनस्य च शुद्धस्य तद्धिताबप्रवर्तनात् ॥ १४१३ ॥
तस्मात्संसारमिच्छद्भिरशुद्धिस्तस्य तात्त्विकी ।
वक्तव्या प्रागनादिस्तन्निर्वाणं नोपपद्यते ॥ १४१४ ॥

वस्तुसत्त्वे ससारस्य न निवर्तनं जीवस्वरूपवदिति चेत्; अवस्तुसत्त्वेऽपि न भवेत् तस्यैवोक्तन्यायेनासम्भवात्। ततो निवर्तनं न कचिदिति प्राप्तम्। ततो वस्तुसत एव निवर्तनम्। अनर्थान्तरस्य कथमिति चेत्, नः तस्यापि तद्धेतुनिवर्तनेन निवृत्तिदर्शनात् कलधौतद्रवत्वादिवत्। तत सूक्तम्–'पुनर्मुच्यते' इति। पुनरपि कुतो मुच्यते? अत्राप्युत्तरम्– 'परिणामात्तः' इति। सम्यग्दर्शनादिपरिणामपरिगृहीतो यत इति। सति तत्परिपाके तद्विरोधिमिथ्यादर्शनादिनिवृत्तेस्तन्निबन्धनपरिक्षयादपवृज्यते इति यावत्।

नन्वात्मा कर्म तत्फलं ससारो मुक्तिरिति च सत्येव भेदे, न चायमस्ति तदवस्थापनोपायाभावात्। ततोऽद्वैतबोध एव परमार्थ., तस्य स्वत एवाधिगमात् 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः'' [प्र० वा० १।६] इति वचनादिति चेत्, अत्राह—

आत्मादिव्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां व्रजेत् । इति ।

अपर इत्यद्वैतबोध उच्यते तस्याविद्यमानत्वपरत्वात्। स क किंरूपोऽध्यक्षतां स्वसं-

वेदनविषयतां व्रजेत् प्राप्नुयात् ? न कश्चित् । सकलविकल्पातीतस्य [1]तद्व्रजनात् केन तदाक्षेप इति ? अत्रोत्तरम्–आत्मादि । आदिशब्देन कर्मादि, तस्मादिव[2] व्यतिरेको व्यावृत्तिरध्यक्षतायास्तेनेति । इवार्थगर्भोऽत्र पञ्चमीतत्पुरुषः । तदयमर्थः[3]—

भेदरूपाद्यथात्मादेरध्यक्ष विनिवर्त्तते ।
तथोक्तरूपादद्वैतात्तदसम्प्रतिपत्तितः ॥ १४१५ ॥
सर्वनैरात्म्यमायातं तस्मादद्वैतवादिनाम् ।
तच्च प्रमाणशून्यत्वात्प्रागेव प्रतिवारितम् ॥ १४१६ ॥

भवतु नीलधवलादिभिराकारैश्चित्रस्यैव तस्य तद्व्रजनमिति चेत्, सिद्धस्तर्हि जीवो युगपदिव क्रमेणापि बोधात्मनश्चित्रस्यानिषेधात्, तस्यैव परमार्थतो जीवत्वात् । तदाह–

नानार्थं क्रमशो वृत्तेः [न चेदत्राभिधास्यते] ॥ ५५ ॥ इति ।

अयं प्रतीयमानो बोधात्मा *नाना* कथञ्चिदवग्रहादिपर्यायैः शबलः । कुतः ? वृत्तेः प्रवृत्तेः । कीदृशैः ? *क्रमशः* क्रमसाकल्येन भवद्भिरिति । नास्त्येव तादृशो बोधः प्रत्यक्षतस्तस्याग्रहणात्, तत्र सन्निहितस्यैव सच्चेतनादेरवभासनात् न कालव्यापिनः तस्य मरणावधेर्ग्रहणप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

"यदि कालकलाव्यापि वस्तुग्रहणमक्षतः ।
सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः ॥" [प्र० वार्तिकाल० ४।१९७]

इति चेत्, अत्राह–**न चेत् अत्राभिधास्यते** । *न चेत्* न यदि क्रमशबलो बोधः, *अत्र* एतस्मिन् अक्रमशबले बोधात्मनि *अभिधा* तदस्तित्ववादः *अस्यते* निराक्रियते तत्रापि देशव्यापिनि प्रत्यक्षस्यावृत्तेः ।

यदि देशकलाव्यापि वस्तुग्रहणमक्षतः ।
सर्वदेशकलालम्बे ग्रहः स्यात्सागराऽवधेः ॥ १४१७ ॥

इति दोषात् । योग्यतया नियमस्येतरत्रापि सुकरत्वात् । प्रत्यक्षायोग्यस्य च तद्गतस्यानुमानात्प्रतिपत्तेरद्वैतभागवत् । न हि तत्रापि 'नानुमानम्-[4] चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिरशक्यविवेचनत्वात्' इति तस्य दर्शनात् । तेनापि विप्रतिपत्तिरेव निवार्यते न तद्भागस्य ग्रहणम् प्रत्यक्षत एव सर्वात्मना तस्य ग्रहणादिति चेत्, न; विप्रतिपत्तिविवेकस्याग्रहणात्, ग्रहणेऽनुमानस्य वैफल्यात्[5] । ततोऽनुमानादेव तस्य प्रतिपत्तिः तद्वदनाद्यनन्तत्वस्यापि । ततो युक्तं प्राणादिमत्त्वात् परिणामिन एवात्मनः साधनं न कूटस्थस्य नापि[6] विज्ञानसन्तानस्य तत्र तस्य विरुद्धत्वात् ।

परिणामिन्यपि विरुद्ध एवायं शरीरोपक्लृप्तादेव चैतन्यादुत्पत्तेरिति चार्वाकः । तदेवाह—

---

१ तत्परिज्ञा–आ०, ब०, प० । २ तस्मादेव प० । ३ –मत्रार्थः आ०, ब०, प० । ४ "चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः ।" प्र० वार्तिकाल० पृ० २९५ । ५ वैफल्यात्ततः आ०, ब०, प० । ६ नापि ज्ञान– आ०, ब०, प० ।

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।
कायश्चित्कारणं सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ॥ ५६ ॥ इति ।

कायः शरीरं **भूतानां** पृथिव्यादीनाम् एवकाराच्च परमाण्वादीनां कार्यत्वेन सम्बन्धी, तेषामपि न सर्वेषाम्; सर्वेषां कायमयत्वप्रसङ्गात्, अपि तु **केषाञ्चित्** । भूतत्वाविशेषे कथमिदमिति ? अत्रोत्तरम्–**परिणामविशेषतः** । तेषामेव समुदायलक्षणोऽवस्थाविशेषस्तस्मात्तत इति केषाञ्चिदेव तद्विशेषभावात्तेषामेव स इत्यभिप्रायः । भवति चात्र सूत्रम्–"तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः" [ ] इति[1] । भवतु नामैवं तथापि कः प्रकृतोपयोगः ? तत्रोत्तरम्–**चित्कारणं** चितश्चेतनस्य दर्शनस्मरणादेः कारणं काय इति सम्बन्धः "तेभ्यश्चैतन्यम्" [ ] इति वचनात् । प्रयोगश्चात्र–यस्मिन् सत्येव यद् भवति तत्तस्य कार्यं यथा किण्वादेर्मदशक्तिः, सत्येव च काये भवति चेतन इति । तदुक्तम्– "मदशक्तिवद्विज्ञानम्" [ ] इति[2] । भवतु तद्धेतुः काय एवात्मा 'चैतन्यविशिष्टः पुरुषः" [ ] इत्यभिधानात्, स एव च संसरति मुच्यते चेति चेत्, उत्तरम्–**सोऽपि** कायोऽपि न केवलं परः **कथं** नैव **संसारमुक्तिभाक्** ? तस्य जन्मनः पूर्वं मरणाच्चोर्ध्वमभावेन तदनुपपत्तेरिति भावः । तत्रोत्तरमाह–

शक्तिभेदे तथा सिद्धिः [संज्ञा केन निवार्यते] इति ।

तथा तेन कायश्चित्कारणमिति प्रकारेण **सिद्धिः** निर्णीतिः भवतीति शेषः । कदा ? **शक्तेः** सामर्थ्यस्य **भेदे** तदन्यासम्भविनि विशेषे सति । तात्पर्यमत्र–कायात्मनः पृथिव्यादेश्चैतन्यं प्रत्यभिव्यञ्जकत्वेन कारणत्वमिति मते तद्भेदस्तस्य वक्तव्योऽन्यथा तदयोगात् भूतान्तरवत् । किं तेन कायत्वादेव तदुपपत्तेरिति चेत् ? न, मृतेऽपि देहे तत्प्रसङ्गात् । विशेषादिति चेत्; स तर्हि तद्भेद एव नापर इति सिद्धः स एव तद्भेदाधिष्ठानं जीवः, तदपरस्तु भावः पुद्गलादिस्तत्र दर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानादेरात्मधर्मस्याभावात् तदधिष्ठाने च विपर्ययात् । ततः संज्ञयैव तस्य भूतत्वं नार्थतः । न च सा तत्र निवार्यते अनेकसंज्ञासमावेशस्यैकत्राविरोधात् । तदाह–'संज्ञा केन निवार्यते' इति । यदि तस्य तच्छरीरतयैव जीवत्वमविनष्टैव दृष्टिर्नास्तिकानामिष्टत्वात् । अपरशरीरत्वेनापीति चेत्, कथमत्यक्ततच्छरीरस्य तत्सम्भवेत् युगपदेकत्र तदनुपलम्भात् । त्यक्ततच्छरीरस्येति चेत्; न; तस्यापि भस्मभावेनात्रैवोपलभ्यमानस्य तद्वत्त्वाप्रतिपत्तेरिति चेत्, मा भून्नाम स्थूलस्य तद्वत्त्वं सूक्ष्मस्य तु न कथं तस्य शरीरान्तरवत्त्वमनुभवतोऽप्यप्रतिपत्तेरविरोधात् । नाविरोधादेव तदस्तित्वमतिप्रसङ्गात्, अपि तु प्रमाणादेव, तच्चेह नास्तीति चेत्, न; तस्यापि भावात् । तथाहि–विवादापन्नः पृथिव्यादिः तदन्तरवान् चैतन्याभिव्यञ्जकशक्तिभेदवत्त्वात् बालदेहपृथिव्यादिवत् । प्रसिद्धं हि बालदेहपृथिव्यादेस्तथाविधस्य तदन्तरवत्त्वं तत्रैव युवादिदेहभावस्य प्रतिपत्तेः । कथं पुनस्तद्देहस्य बालदेहाद् भेद इति चेत् ?

---

१ "पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि" तत्त्वोप० पृ० १ । न्या० कु० टि० पृ० ३४१ । २ तेभ्यश्चैतन्यमिति । तत्र केचिद् वृत्तिकारा व्याचक्षते–उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम् । अन्ये– अभिव्यज्यते इति ।" तत्त्व स० पं० पृ० ५२० । न्या० कु० टि० पृ० ३४२ ।
३ तत्त्वान्तरत्वेन भेदः ।

प्रतिभासभेदादेव पुरुषान्तरदेहवत्। सत्यपि तस्मिन्नात्यन्ताय तत्र भेद इति चेत्; न; अस्माभिरप्यत्यन्तभेदेन तदन्तरवत्त्वस्यासाधनात्। एवमपि कथं मरणतिरोहितचिद्रूपस्य पुनराविर्भूततद्रूपतया तदन्तरवत्त्वं स्थूलरूपस्यापि तस्य तत्प्रसङ्गादिति चेत्? कथं भवतोऽपि जन्मनः पूर्वमनभिव्यक्तचिद्रूपस्य तथा प्रकृतदेहवत्त्वं भूतमात्रस्यापि तत्प्रसङ्गेन सर्वस्य प्राणिमयत्वापत्तेः। नायं दोषस्तत्रैव तन्निबन्धनस्य शक्तिविशेषस्य भावान्न तन्मात्रे इति समानमन्यत्रापि समाधानम्। तदेवाह—

यथाभूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः।
तथा भूताविशेषेऽपि भवद्भूतादिसंस्थितिः॥ ५७॥ इति।

यथा येन शक्तिभेदभावाभावप्रकारेण शरीरभाविनोऽन्यस्य च पृथिव्यादेर्भूतत्वं भवप्रधानत्वान्निर्देशस्य, उपलक्षणञ्चेदं तेनानभिव्यक्तचेतनत्वमपि तस्याविशेषस्तस्मिन्नपि न केवलं तद्भावे, **प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः** इति अत्यन्तविस्मृतस्य पूर्वसंस्कारादभ्यूहनं प्रत्येकगृहीतानामन्योऽन्ययोजनेन वानुस्मरणं प्रज्ञा सादिर्यस्य मेधाशरीरभावादेः, मेधा गृहीताविस्मरणं पृथग्गृहीतानां तथानुस्मरणं वा, स एव **गुण**स्तस्य **संस्थितिः** सम्यक् शरीरभाविन्येव पृथिव्यादौ नान्यत्र स्थितिरतिव्याप्तिपरिहारेणावस्थानम्। न हि तत्रैवं शक्यं वक्तुम्—शरीरभाव्यपि पृथिव्यादिर्न तत्संस्थितिमान् भूतत्वादनुन्मीलितचेतनत्वाद्वा तदितरपृथिव्यादिवदिति, तत्त्वाविशेषेऽपि शक्तिभावेतराभ्यां तत्संस्थितिमत्त्वस्योपपत्तेः। **तथा** तेन प्रकारेण **भूताविशेषेऽपि** भूतत्वतदुपलक्षिततिरोहितचेतनत्वाभेदेऽपि स्थूलस्य[1] इतरस्य च पृथिव्यादेः **भवद्भूतादिसंस्थितिः** भवन् भाविशरीरप्रज्ञादिस्तस्य वर्तमानसमीपत्वेन तत्प्रत्ययविषयत्वात्, भूतश्च वर्तमानस्तत्रापि तच्छब्दस्य रूढेः अन्यथा भूतपूर्वशब्दवैयर्थ्याद् भूतपदादेव तदर्थप्रतिपत्तेः। तदयमर्थः—**भूतः** साम्प्रतिकः पृथिव्यादिः **आदिः** कारणमभिव्यञ्जकत्वेन यस्य स भूतादिः भवन्नेव भूतादिस्तस्य **संस्थितिः** सूक्ष्महेतुकतयैव न स्थूलभस्मादिनिमित्ततयावस्थानम्। ततो न तत्रापीदं वक्तव्यम्—विवक्षितोऽपि न पृथिव्यादिस्तद्धेतुः भूतत्वात्तिरोभूतचेतनत्वाद्वा स्थूलभस्मादिवदिति, तस्यापि सामर्थ्यभावेतराभ्यामेव परिहारात्। भवतु भाविरूपतया तस्यैव जीवत्वं न भूतरूपतयेति चेत्, न; तस्याप्यनुमानादवगमात्—साम्प्रतिकः शरीरादिरतीतकायपृथिव्यादिहेतुकः शरीरादित्वात् वृद्धशरीरादिवत्। तदाह—भवदित्यादि। व्याख्यानमत्र भवन् वर्तमानः स एव **भूतादि**रतीतकायपृथिव्यादिनिबन्धनत्वात्तस्य **संस्थितिः** पूर्ववत्। तदेवं कायकारणत्वेऽपि चैतन्यस्याप्रतिक्षेप एव जीवस्य, तस्य कालत्रयभावित्वेनावस्थापनात्, न तावता तस्य तत्त्वमनाद्यनन्तत्वेन तदुपगमात्, तस्य च नानुमानतस्या[2]नन्तरपूर्वादावेव[3] पर्यवसानात्, ततोऽपि नः (न) परस्य तस्यानुमितिरिति चेत्; न; एवमनवस्थाप्रसङ्गाद् विषयान्तरे चासञ्चारापत्तेः यावज्जीवं तत्रैवाभिनिवेशादिति चेत्; नन्वयं भवत एव पर्यनुयोगः पृथिव्यादेरनाद्यनन्तस्य प्रत्यक्षतोऽनवगमात्, तस्य सन्निहितार्थगोचरतयैव प्रतीतेः, अनुमानस्य

---

1 स्थूलेतरस्य च आ०, ब०, प०। २ -नन्तरं पूर्वादेव प- आ०, ब०, प०। ३ -"आदिपदेन अनन्तरोत्तरस्य ग्रहणम्"- ता० टि०।

चानिष्टेरिष्टस्याप्युक्तदोषानतिवृत्तेः । तदनेन सौगतस्याप्यनाद्यनन्तत्वपरिज्ञानाभावः प्रतिपत्तव्य. । स्याद्वादिनस्तु नाय दोषः कतिपयतदनुमानपर्यवसाने तद्बलादेव क्षयोपशमविशेषसापेक्षादित्थमनादिरनन्तश्चायं प्रबन्ध इति तर्काभिधानस्य प्रमाणस्योत्पत्तेः । ततो युक्तं कायकारणत्वेऽपि चैतन्यस्यानाद्यनन्तत्वावस्थितेः संसारमुक्ती तस्येति । कीदृशश्चायं चेतनो यस्य शरीरेणाभिव्यक्ति ? तदात्मेति चेत् ; न, तस्य तद्भिन्नलक्षणत्वात् । ज्ञानदर्शनलक्षणो हि चेतनो न शरीरं तस्य रूपादिलक्षणत्वात् । न हि तद्भिन्नलक्षणस्य तत्रान्तर्भावः पृथिव्यादौ जलादेरपि तत्प्रसङ्गात् । तन्निश्चयेऽनिश्चयाच्च । अस्ति हि निश्चितेऽपि शरीरे [1]तद्विकले संशयः किमयं मूर्खः किं वा पण्डित इति, अन्यथा तत्परीक्षावैयर्थ्यापत्तेः । व्यभिचारी हेतुः शब्दादिधर्मिनिश्चयेऽपि अनिश्चितस्याऽनित्यत्वादेस्तत्रान्तर्भावादिति चेत् ; न, तत्र कथञ्चिद्भेदस्यापि भावात् । चेतनेऽप्येवमिति चेत् ; न; जैनोक्तौ "परस्परविरुद्धयोरेकत्रासम्भवात्" [ ] इति सूत्रेण स्वयं तद्वादस्य निराकरणात् । तन्न तदात्मनस्तेनाभिव्यक्तिः । तद्गुणस्येति चेत् ; न, तदाश्रयत्वात्तद्गुणत्वे घटादौ प्रसङ्गात् , तस्य भूम्याश्रयत्वात् । सर्वदा तदभावान्नेति चेत् , अवयविनि प्रसङ्गः ; तस्य शश्वदवयवाश्रयत्वात् । क्रियावत्त्वादिना द्रव्यत्वान्नेति चेत् , न, उत्पन्नमात्रे क्रियावत्त्वादेरसम्भवात् । तत्कार्यत्वात्[3] , न हि कार्यकारणयोः समकालः प्रादुर्भावः सव्यापसव्यनालविलासिनीकुचचूचुकवत् परस्परमनुपकारात् । पश्चाद्भाविना च तेन[4] पूर्वं द्रव्यत्वम् , पूर्वभाविना द्रव्याश्रयत्वादिना पश्चादपि गुणत्वस्यैव प्रसङ्गात् । कथञ्चैवं गन्धादेरपि गुणत्वम् ? गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वस्यैवोपपत्ते । अस्ति हि तत्र तद्वत्त्वम्, द्वौ गन्धौ षड्रसा इति सङ्ख्याभेदप्रतिपत्ते । वक्ष्यति चैतत्–"गुणानाम्"[6] इत्यादिना । तन्न तद्गुणस्यापि तेनाभिव्यक्तिः । नापि तत्कार्यस्य, वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् । कथमेवं गुणनिषेधे "गुणवद्द्रव्यम्" इत्युपपन्नं भवतोऽपीति चेत् ? न, परकीयस्य तल्लक्षणस्यैवातिव्याप्त्यादिना प्रतिषेधान्न गुणस्य । कथं तर्हि तदुपपत्तिरिति चेत् ? आह—

तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद्ग्रहणे पुनः ॥ ५६ ॥
तद्रूपं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते । इति ।

तस्मादुक्तन्यायादनेकरूपस्य युगपज्ज्ञानदर्शनादिनानास्वभावस्य क्रमेण स्वापप्रबोधसुखदुःखादिभेदात्मनश्चेतनस्य कथञ्चित् केनचित् न सर्वात्मना प्रकारेण ग्रहणं प्रत्यक्षादिना परिच्छेदः । न हि तेन तस्य सर्वात्मना परिज्ञानं स्वापादौ प्रबोधादेस्तत्र च स्वापादेरप्रतिवेदनात् । न चैवं तस्यापि न प्रतिपत्तिः, तस्याः प्रत्यभिज्ञाबलेन व्यवस्थापितत्वात् । ततः कथञ्चिदेव ग्रहणम्, तस्मिन् सति, पुनः पश्चात् तद्रूपं गृहीतागृहीतरूपं भेदं नानात्वम् आरोप्य नयबुद्ध्याभिसन्धाय गुण इत्यपि शब्दाद् गुणीत्यपि कल्पनं युज्यते उपपद्यते । सति भेदे चेतनात् स्वापादीनां ते तस्य गुणास्तदाश्रय-

---

१ शरीरभिन्ने चैतन्ये इत्यर्थः । २ चेतनेऽप्येवमि– आ०, ब०, प० । ३ अवयविकार्यत्वाद्गुणस्य अतो न गुणत्वमवयविनः । ४ गुणेन । ५ यदि स्यात् इति सम्बन्धः । ६ न्यायवि० श्लो० २३० । ७ न्यायवि० श्लो० ११७ ।

त्वात् स च गुणी तदधिकरणत्वादिति प्रतीतिबलादुपपन्नो गुणतद्वद्भाव[1] इत्यर्थः। गुणतद्वतोरेकान्तत[2] एव भेदो न कथञ्चित् तद्वादस्य विरोधादिदोषादिति चेत्; अत्राह—

यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत्?॥ ६० ॥
अनवस्थानतोऽभेदे सकलग्रहणं भवेत्। इति।

अत्रायमभिप्रायो यथा गुणी गुणात् स च गुणिनो भिद्यते तथा यदि न स्वभावादपि; नानेकान्तवादान्निर्मुक्तिः अन्यतो भेदाय स्वतश्चाभेदस्य भावे तस्यावश्यम्भावात्। तथा गुणगुणिरूपतयैव वरं तदभ्युपगम प्रतीतिभावादिति। भिद्यते चेत्; उत्तरम्-**यदि** चेत् **स्वभावात्** स्वात्मनो**ऽयं भाव**-श्चेतनोऽन्यो वा **भिन्नो** व्यतिरिक्तः **भावः कथं** नैव **भवेत्** खरशृङ्गादिवत्। भिन्नस्यापि पुनः स्वभावान्तरेणावस्थितिरिति चेत्, न; ततोऽपि तद्भेदस्यावश्यम्भावात्, अन्यथा अनेकान्तवादादनिर्मुक्तेः। पुनस्तदन्तरेण तदवस्थाने चानवस्थानात्। तदेवोक्तम्-'**अनवस्थानत**' इति। भिन्नस्यापि स्वभावात् सत्तासम्बन्धेन सत्त्वम्, इत्यप्ययुक्तम्, अनवस्थानत एव स्वभावनिष्क्रान्ते सम्बन्धस्यैव निर्विषयत्वेनानवस्थितेः व्योमकुसुमादिवत्[3]। तन्न क्वचिदैकान्तिको भेदः प्रमाणबाधनात्। भवत्वभेद एवैकान्तिक इति चेत्, उत्तरम्- '**सकल**' इत्यादि। **सकल**स्य स्वरूपादेरिव पररूपादेरपि **ग्रहणं** तादात्म्येन भावस्य **भवेत्** कदा? **अभेदे,** क्वचिदपि भेदस्याभावे।

तदेवं सति चार्वाकः कथ भूतचतुष्टयम्।
कणादः षट्पदार्थान् वा कथं नामावकल्पयेत्॥ १४१८ ॥
प्रागेव ब्रह्मवादोऽपि प्रतिषिद्ध सविस्तरम्।
भेदाभेदात्मकं वस्तु तत्प्रतीत्योपगम्यते॥ १४१९ ॥
तच्चानेकात्मकं वस्तु गुणगुण्यादिरूपतः।
सशयाद्यनुपलीढं (पालीढं) भवतीत्याह शास्त्रकृत्॥ १४२० ॥

तदनेकात्मकं तत्त्वं [न हि ज्ञानात्मना क्वचित्] ॥ ६१ ॥ इति।

स्पष्टमेतत्[4]। अत्रायं भावः-स्याद्वादबलाविभूतचातुर्विध्यमभ्युपगम्य तद्वादिनं प्रति गौरेवायं केवलमस्य विषाणे न स्तः इत्युपहासमवकल्पयन् भूतवादी महाभूतेनैवाविष्टो न विशिष्टया प्रज्ञयाधिष्ठित इति। भवतु स एव वादः, तत्रैव चेतनो देहस्य गुण इति चेत्, अत्राह—

न हि ज्ञानात्मना क्वचित्॥
शरीरग्रहणं येन तद्गुणः[5] परिकल्प्यते[6]। इति।

न हि नैव **ज्ञानात्मना** शुक्लाद्यात्मना पटग्रहणवत् **क्वचि**दन्तर्बहिर्वा **शरीरग्रहण**मस्ति

---

१ गुणवद्भाव आ०, ब०, प० २। -कान्त एव आ०,ब०,प०। ३ -भवत् आ०,ब०,प०। ४-ष्टमेव तत् ता०। ५ त्वादी आ०, ब०,प०। ६ परिकल्पते आ०, ब०, प०।

येन तथा तद्ग्रहणेन तद्गुणः [1]परिकल्प्यते ज्ञानात्मेति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। गुणद्रव्ययोः कथञ्चिदप्यभेदे द्रव्यवद् गुणस्यापि गुणवत्त्वप्रसङ्गः तद्धर्मानुपाते सत्येव तदभेदोपपत्तेरिति चेत्; न; अभेदार्पणया तथेष्टत्वात्। न चैवम् "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [त० सू० ५।४०] इति सूत्रविरोधः; तस्य भेदाभिसन्धिनिबन्धनत्वात्। वैशेषिकादेस्तु "अगुणवान् गुणः" इति[2] ब्रुवाणस्य न गन्धादेर्गुणत्वं गुणवत्त्वात्। तदेवाह–

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्यया ग्रहात् ॥६२॥ इति।

सङ्ख्यायाश्च गुणत्वं गुणसूत्रे[3] [4]तत्त्वेन पाठादिति भावः। सत्यं सङ्ख्यावत्तस्य ग्रहः, सा तु गुण एव न भवति [5]भाक्तत्वेनावस्तुसत्त्वात्, वस्तुसत्त्व एव तस्या गुण[6]त्वोपपत्तेरिति चेत्; अत्राह–

तादात्म्यं केन वार्येत [नोपचारप्रकल्पनम्]। इति।

स गुण आत्मा स्वभावो यस्य तस्य भावः तादात्म्यं गुणात्मत्वं स[7]ङ्ख्याया इति षष्ठीपरिणामेन सम्बन्धः। केन न केनचित् वार्येत प्रतिक्षिप्येत। ननूक्तं भाक्तत्वेन तन्निवारणमिति चेत्; अत्राह–

नोपचारप्रकल्पनम्।

अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वात् [आधारस्यैकरूपतः] ॥६३॥ इति।

अत्र अस्यां गन्धादिसङ्ख्यायाम् उपचारस्य असदाकाराधारोपस्य कल्पनं समर्थनम्। कुत एतत्? अन्यत्रापि पृथिव्यादावपि तुल्यत्वात्तत्कल्पनस्य। तथा च न क्वचित् सङ्ख्याया गुणत्वमिति मन्यते। नायं दोषः, तत्र वस्तुत एव तस्या भावात् निर्बाधप्रतिपत्तिविषयत्वादिति चेत्; अत्राह–अन्यत्रापि गन्धादिसङ्ख्यायामपि तुल्यत्वात्तद्विषयत्वस्य[8] बाधकस्य कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः। वस्तुतो निर्गुण एव गन्धादिरद्रव्यत्वात् कर्मादिवत् इत्यनुमानं बाधकमिति चेत्; न, कर्मादावपि 'पञ्च कर्माणि द्विविधं सामान्यम्, एकः समवायो बहवो विशेषाः' इति[9] सङ्ख्यया गुणवत्त्वस्यैव प्रतीतेः, साध्यवैकल्याद्धेतोश्चासिद्धत्वात्, गुणवत्त्वे तस्यापि द्रव्यत्वात्। तदेवाद्रव्यत्वेनेति चेत्; न; 'अगुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम्, ततश्च तत्' इति परस्पराश्रयस्य स्पष्टत्वात्। ततः सूक्तम् 'अन्यत्रापि' इत्यादि।

क्व चेयं प्रसिद्धा सङ्ख्या यस्या गन्धादावुपचारः? तदाधार इति चेत्, न; पृथिव्यादेरेकत्वान्नेकसङ्ख्याया एव तत्र तदापत्तेः। तदाह–

आधारस्यैकरूपतः ॥

तत्रैकत्वं प्रसज्येत [संख्यामात्रं यदीष्यते]। इति।

आधारस्य पृथिव्यादेः एकरूपत एकत्वेन निरूपणात् तत्र गन्धादौ एकत्वं प्रसज्येत तथा च 'द्वौ गन्धौ' इत्यादि व्यपदेशाभाव इति मन्यते। भवत्वनाधारसङ्ख्यायास्तत्रोपचार इति चेत्, न; प्रत्यासत्तेस्तन्निबन्धनस्याभावात्। सङ्ख्यासामान्यस्याधारेतरगतस्योपचारस्तत्र तद्भावादिति

१ परिकल्पते आ०,ब०,प०।२ वैशे० सू० १।१।१६। ३ वैशे० सू० १।१।६। ४ संख्यात्वेन। ५ "औपचारिकत्वेन" –ता० टि०। ६ –वस्तो– आ०, ब०,प०। ७ संख्यया आ०, ब०, प०। ८ –यस्य आ०, ब०,प०। ९ एवं संख्यया गु– आ०, ब०, प०।

चेत्; तदेव तर्हि स्यात् कथं विशेषः ? सामान्येन तस्याक्षेपादिति चेत्; न; आधारेतरगतयोरेकत्व-नानात्वयोर्युगपदाक्षेपेण गन्धादौ तद्व्यपदेशस्यापि युगपत्प्राप्तेः, ततो यदि तत्कल्पनं सामान्यमेव न विशेषस्तदेवाह–'सङ्ख्यामात्रं यदीष्यते' इति । यदि चेत्; इष्यते तत्कल्पनं सङ्ख्यैव विशेष-रहिता तन्मात्रं स्यात् । न च तेन कल्पितेनापि प्रयोजनं स्यात्, [1]द्विव्यपदेशस्य तस्मादनुपपत्तेः । उप-चरितत्वे च गन्धादौ सङ्ख्यायास्तद्वदेव पृथक्त्वस्यापि स्यात्, सङ्ख्यावत्तस्यापि गुणत्वेन वस्तुत-स्तत्रासम्भवात् । ततः किमिति चेत् ? आह–

नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ॥६४॥ इति ।

नानात्मा नानास्वभावः पृथक्त्वमिति यावत्, तस्य विभ्रमः कल्पितत्वं तस्मात् । एवं गन्धादिसङ्ख्यावत् । न पृथग् न भिन्ना गुणिनः पृथिव्यादेर्गुणाः रूपादयः स्युः । उपलक्षणमिदम्, तेन कर्मसामान्यादयोऽपि तद्वतो न पृथगिति प्रतिपत्तव्यम्, वस्तुतः पृथक्त्वाभावे तदनुपपत्तेः । [2]तदभावेऽप्याकारभेदाच्चे ततः पृथगिति चेत्; एतदेवाह–

प्रसक्ता रूपभेदाच्चेत् [भेदो नानात्वमुच्यते] । इति ।

रूपभेदात् स्वाकारभेदाच्चे ततः पृथक् प्रसक्ताः प्रवृत्ताः चेत् यदि । तत्रोत्तर-माह – 'भेदो नानात्वमुच्यते' इति । भेद इत्यपि नानात्वं पृथक्त्वमेव न स्वरूपवैलक्षण्यम् उच्यते, अन्यथा पृथिव्यादिष्वपि पृथक्त्वकल्पनावैकल्यप्रसङ्गात् । ततो गुणादीनां तद्वतो भेदमि-च्छता पृथक्त्वं तत्र तात्त्विकमेवाङ्गीकर्तव्यम् इत्यव्यापकमेव "अगुणवान्" इति[3] गुणलक्षणम् । तदनेन "गुणवत्" इति [4]द्रव्यलक्षणस्यातिव्यापकत्वमुक्तं भवति गन्धादेरपि गुणवत्त्वेन तत्त्वापत्तेः, समवा-यस्य चैकत्वेन तस्यापि तद्वत्त्वात् । नास्त्येव [5]तत्रैकत्व केवलं भावसादृश्यात्तत्र तद्व्यवहारः । तदुक्तम्– "तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्" [वैशे० ७।२।२८] इति , तदेवाह–

एकता भावसाम्याच्चेत् [उपचारस्तथा भवेत्] ॥६५॥ इति ।

भावः सत्त्वं तेन साम्यं साधर्म्यं सत्सदितिवत् समवायः समवाय इत्यविशिष्टज्ञानविषयत्वं तस्मात्, एकता एकत्वं समवायस्येति शेषः । 'चेत्' इति पराकूतद्योतने । तत्रोत्तरमाह–'उपचारस्तथा भवेत्' इति । तथा तेन तत्साम्यप्रकारेणोपचार एकत्वस्य भवेत् सादृश्यगुणोपनीतत्वात् माणवके [6]सिंहत्ववत् । तथा च तत्र नानात्वमेव स्यात् । वस्तुत पृथक्त्वाभावे तस्यावश्यम्भावात् । यदि च, तत्र गुणवत्त्वमयात्र वास्तवमेकत्वं पृथक्त्वमपि न भवेत्, तदपि कुतश्चित् कार्यविशेषादेरुपचरितमेव स्यात् । तदेवाह–

भेदेऽपि [वस्तुरूपत्वात् न चेदन्यत्र तत्समम्] । इति ।

भेदः समवायस्य तदन्यत्वाच्चानात्वं तस्मिन्नपि न केवलं तदेकत्व एव, उपचारः तथा

---

१ तदा व्यपदे– आ०, ब०, प० । २ पृथक्त्वाभावेऽपि । ३ वैशे० सू० १।१।१६।४ "क्रिया-गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"–वैशे० सू० १।१।१५ । ५ समवाये । ६ सिंहवत्त्ववत् आ०, ब०, प० ।

भवेत्' इति सम्बन्धः। तथा च तस्य वस्तुतो भावादप्यभेदात् न युक्तमेतत्–'एकता भावसाम्यात्' इति, साम्यस्य भेदे सत्येवोपपत्तेः[1]। इतरः प्राह–'वस्तुरूपत्वान्न चेत्' इति। वस्तुनः समवायस्य रूपत्वात् स्वभावत्वाद्भेदस्य न चेत् न यदि तत्रोपचार इति; तत्राह–'अन्यत्र तत्समम्' इति। अन्यत्र तदेकत्वे तत् वस्तुरूपत्वं समं सदृशम् तस्यापि निरवद्यप्रत्ययवेद्यतया स्वयमभ्यनुज्ञानात्, तथा च सिद्धमेकत्वादिना तस्य गुणवत्त्वम्। [2]अर्थान्तरत्व एव स गुणो न वस्तुरूपत्वे इति चेत्; आह–'अन्यत्र' इत्यादि। अन्यत्र पृथिव्यादौ तत् वस्तुरूपत्वमेकत्वादेः समं तत्रापि तदपरस्य प्रमाणतोऽनवगमादिति न क्वचिदेकत्वादिर्गुणः[3] स्यात्। अथवा, 'न पृथग्गुणिनो गुणाः' इत्युक्तं[4] तदेवाभ्युपगमात् वदतः सद्ग्रहवादिनो मतम् 'एकता' इत्यादिना आशङ्क्य 'उपचारः' इत्यादिनोत्तरमाह। न हि भावसादृश्यात् सन्मात्राविशेषादेकता सर्वभावानामुपचार एव तथा भवेत् सन्मात्रस्यापि सर्वव्यक्तिष्वेकस्याभावात् उपचारत एव तदेकत्वस्यावस्थापितत्वादिति मन्यते। हेत्वन्तरमाह–'भेदेऽपि' इत्यादि। न हि भेदस्यापि वस्तुरूपत्वे वस्तुतस्तदेकत्वमुपपन्नम्, भेदो न वस्तुरूपः तत्त्वात् मरीचिकातोयवदिति चेत्; तदेवाह–'न चेत्' इति। न यदि भेदे वस्तुरूपत्वमिति। तत्रोत्तरम्–अन्यत्र अभेदे तत् वस्तुरूपत्वं नेति समम्–सोऽपि[5] न तद्रूपस्तत्त्वात् छत्रपुनरुत्पन्नकेशाद्यभेदवदिति अनुमितिभावात्। भवतु बाधितस्य तस्यातद्रूपत्वं नापरस्य। न हि [6]बाधवतो धर्मस्तदन्यत्र योजनमर्हत्यतिप्रसङ्गादिति चेत्; न, भेदेऽपि समानत्वात्। अत एवोक्तम्–'अन्यत्र तत् समम्' इति। तन्न गुणगुण्यादीनामपृथक्त्वम्।

भवतु पृथक्त्वमेव प्रतिभासादिभेदादिति चेत्; अत्राह–

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गता ॥६६॥ इति।

भिन्नविज्ञानग्रहणं भिन्नप्रतिभासावलम्बनम् आदिशब्दाद् भिन्नाभिधानकारणादि तस्य कथा गता न सम्भवति इत्यवगता। केन? एतेन अनन्तरन्यायेन। विज्ञानादावपि भेदस्य सत्येव पृथक्त्वे सम्भवात्, तस्य च निराकृतत्वात्। तत्रापि भिन्नविज्ञानग्रहणादिना भेदकल्पनायामनवस्थापत्तेः। तन्न गुणो नाम कश्चिन्निश्चितो यतश्चेतनोऽपि गुणः स्यात्।

मा भूद्धर्मस्तु तर्हि[7] तस्य[8] स्यात् तदवष्टम्भेनावस्थानाच्चित्रवत् कुड्यस्य, ततो यथा कुड्यापाये न चित्रं तत्र तिष्ठति नाप्यन्यत्र गच्छति नश्यत्येव पर तथा शरीरापाये चेतनोऽपीति मन्वानस्य मतमुपदर्शयन्नाह–

जीवच्छरीरधर्मोऽस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः।
यथाऽचैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥६७॥ इति।

जीवतः प्राणान् धारयत शरीरस्य धर्मोऽस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः 'सचैतन्यमिदं

---

१ –चेरिति ततः प्रा– आ०, ब०, प०। २ अनर्थान्त–आ०, ब०, प०। ३ –दिनिर्गु– आ०, ब०, प०। ४ –क्तेन तदैवाभ्युपगमाच्च ततः आ०, ब०, प०। ५ अभेदोऽपि। ६ बाधावतो आ०, ब०, प०। ७ तर्हि स्यात् आ०, ब०, प०। ८ "शरीरस्य" – ता० टि०।

जीवच्छरीरम्' इत्यभिधानतो यथा येन व्यपदेशप्रकारेण अचैतन्यं चित्रादि अन्यत्र कुड्यादौ धर्म इति एवम् अपर चार्वाकः प्रतिपन्नवान् । तत्रोत्तरमाह–

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।
प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रचक्षते ॥६८॥ इति ।

बहलतमःपटलपरिपिहितलोचनदशायाम् अप्रत्यक्षेऽपि विस्पष्टप्रतिभासाविषयेऽपि न केवल विपुलविलसदालोकपरिकलितप्रदेशदशायां प्रत्यक्षेऽपीत्यपिशब्दः । कस्मिन् ? देहे शरीरे अस्मिन् आत्मीये प्रतीयमाने प्रत्यक्षं स्पष्टावभासं ज्ञानम् । कुत एतत् ? स्वतन्त्रं यथा भवति तथा अवभासनात्[1] । तत् किम् ? तद्गुणः[2] तस्य देह [स्य] गुणस्तदाश्रयं[3] नेति सन्तः प्रचक्षते कथयन्ति । नहि तस्मिन्नप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षस्य तद्गुणत्वं रूपादेराकाशगुणत्वप्रसङ्गात् । शब्दस्य कथं तादृशस्याकाशगुणत्वमिति चेत् ? न, तस्य निषेधात् । स्पर्शस्य वायुगुणत्व कथमिति चेत् ? न; स्पर्शविशेषस्यैव वायुत्वात्, तस्य च प्रत्यक्षत्वात् । तस्य तदर्थान्तरत्वे गुणगुणिभावाभावस्य निवेदनात् । तन्न देहगुणत्व ज्ञानस्य । ततः किम् ? इत्याह–

तद्दृष्टहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना । इति ।

तत् तस्मात् तस्य गुणत्वाभावात् अन्येषां लौकायतिकानां दृष्टहानिः प्रत्यक्षवेद्यस्य स्वतन्त्रज्ञानस्य प्रतिक्षेपात्, अदृष्टपरिकल्पना परतन्त्रस्य तस्यादृष्टस्यैवोपगमात् । तदेवाह–

स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ॥६९॥ इति ।

दृश्यते हि स्वातन्त्र्यं ज्ञानस्य । नहि [4]देहभूताभूतसम्बन्धितया गुणभावः । ततो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना चान्येषामिति । भवतु [5]तस्य तदात्मत्वं तद्गुणत्वं तद्धर्मत्व वा, तथापि न संसारमोक्षयोरभाव इत्याह–

तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् । इति ।

तदित्यत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः । तदयमर्थः—तदपि तस्य तद्गुणत्वादिप्रकारेणापि 'जीवः संसारमुक्तिभाग्' इति दूरादाकृष्य सम्बन्धनीयम् । कथमेतत् ? देहपाते सह तेन तस्यापि प्रलयादिति चेत् ? तन्न; यतः कायापायेऽपि न केवलं तद्भावे कानिचित् न सर्वाणि शरीरान्तर-परिणामभाञ्जि भवन्ति पूर्वोक्तन्यायात् । कीदृशानि कानिचित्तानीति चेत् ? सारतरभूतानि तैश्चैतन्यस्य प्रागभिव्यक्तत्वात् तेभ्योऽपि साराणि पुनरप्यभिव्यञ्जकत्वात् भूतानि सूक्ष्मरूपाणि पृथिव्यादीनि, ततो निषिद्धमेतत्–"[6]'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" [ ] इत्यादि । ततस्तस्य तदात्मकत्वादिकल्पनं प्रयासमात्रमेव चार्वाकस्य संसारमोक्षयोस्तदर्थस्यानुष्ठानस्य च तथापि निषेधासावादिति मन्यते । तस्मादित्यादयश्च व्याख्यानश्लोकाः यथेत्यादिना व्यवस्थापितस्यैवात्मनः तैर्व्याख्यानात् ।

---

१ –सदे– आ०, ब०, प० । २ –तद्गि– आ०, ब०, प० । ३ –यात्रेति आ०, ब०, प० । ४ देहभूतसम्ब– आ०, ब०, प० । ५ ज्ञानस्य । ६ यावज्जीव सुखं आ०, ब०, प० । "यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः ॥"– ता० टि० ।

मतान्तरमुपदर्शयति दूषयितुम्—

कार्यकारणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ॥७०॥
कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन । इति ।

कारणं हि कायो बुद्धेर्बुद्धिस्तु तस्य कार्यं तद्भाव एव भावात्, धूमादेरपि तत एवाग्निकार्यत्वात् । न च तत्कार्यमन्यतोऽपि यतस्तदभावेऽपि स्यात् । स्यादेव शालूकवत् । शालूकं हि शालूकादिव गोमयादपि दृश्यते इति चेत्, न, तस्य तज्जन्मनः तदन्यतो वैलक्षण्यात् । बुद्धिरपि विलक्षणा तदन्यत स्यादिति चेत्; न, तस्या एवाप्रतिपत्ते. । शालूकवत् सम्भाव्यत इति चेत्; धूमोऽपि पर्वतगत किन्न तथा सम्भाव्येत ? दृष्टसदृशतयैव तस्य प्रतीतेरिति चेत्, न, बुद्धावपि समानत्वात् । तादृश्येव तदन्यतोऽपि किन्न भवतीति धूमोऽपि किन्न स्यात् ! तत्रैव तद्भावभावस्य नियमात्, अन्यत्राभावात्, भावे सोऽपि पावक एव स्यात तन्नियमाधिष्ठितस्यैव तत्त्वात् । तदुक्तम् —

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥" [प्र० वा० ३।३५] इति ।

अन्यतोऽपि तस्य भावे निर्हेतुकत्वमेव स्यात् तन्नियमादन्यस्य सहेतुकत्वनिबन्धनस्याभावात्, तस्य चातथात्वेनावस्थापनात् । तदप्युक्तम्—

"धूमः कार्यं हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
सम्भवस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥" [प्र० वा० ३।३३]

इति चेत्; न; बुद्धावपि तुल्यत्वात् । तथा हि—

कायस्वभावो यद्यन्यः काय एव तथा हि सः ।
अथाकायस्वभावोऽसौ बुद्धिस्तत्र कथं भवेत् ॥१४२१॥
बुद्धिः कार्यं हि कायस्य कायधर्मानुवृत्तित. ।
साऽसती तदभावेऽपि हेतुमत्ता विलङ्घयेत् ॥१४२२॥

तत कायस्यैव कार्यं बुद्धि । तथा च कार्यकारणयोर्बुद्धिकाययोः मध्ये तस्य कारणस्य निवृत्तितो विनिपातात् नास्ति संसारः कायान्तरसञ्चारः । कुतो नास्ति ? बुद्धेरवस्थानात् तस्या एव तदुपगमादिति चेत्; न; कार्यस्य बुद्धेः अभावगतेः अभावप्राप्तेरभावनिर्णयाद्वा । न हि कारणनिवृत्तौ कार्यस्यावस्थानमतत्कार्यत्वापत्तेः । इति एवं कश्चन चार्वाकविशेषोऽविद्धकर्णः । तत्रोत्तरमाह—

तस्यापि देहाद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गः [अन्योन्यसंश्रयात्] ॥७१॥ इति ।

तस्याप्यविद्धकर्णस्यापि न केवलं पुरन्दरादेः देहाद्यनुत्पत्तिः देहादनुत्पत्तिः पर्युदासेन तदन्यस्मादुत्पत्तिर्बुद्धेस्तस्याः प्रसङ्गः प्राप्तिः । तथा हि—यथा निवृत्तेऽपि पावके धूमो धूमादेवोत्प-

१ "अग्नेः सकाशादन्यत उत्पत्तिप्रकारेण"– ता० टि० । २ –सयैतस्य ता० । ३ अग्नेःस्व– आ०, ब०, प० ।

द्यते तथा कायपरिपाते बुद्धिरपि बुद्धेरुत्पद्येत किमवष्टम्भा तदुत्पत्तिः ? अनवष्टम्भे विरहापत्तेरिति चेत्; आकाशावष्टम्भेन धूमस्येव भूतविशेषावष्टम्भेनेति ब्रूमः । तथा च "विग्रहगतौ कर्मयोगः" [त० सू० २।२५] इति । तदवष्टम्भविनाशे तद्विनाश इ न; पुनरपि तदन्तरावष्टम्भेन तस्योत्पत्तेः । धूमवत् किन्न तस्य निर्मूला निवृत्तिरिति चेत्; न; तदसिद्धेः, अकिञ्चित्करत्वेन तत्सन्तानावस्तुत्वापत्तेः निरूपितत्वात् । अनिवृत्तः किन्नोपलभ्यत इति न; सूक्ष्मरूपसमापत्तेः । सैव कथं स्थूलस्य विरोधादिति चेत् ? न; तथाऽपरिणामात् अ ऽनग्निमत्त्ववत् । ततः स्थितं बुद्धेर्देहानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति । एतदेव स्पष्टयन्नाह—' संश्रयात्' इति । अन्यो मरणादूर्ध्वभावी संसारो बुद्धिविवर्तरूपः सोऽन्यसंश्रयादन्यः [1]एतत्संसारः तत्संश्रयात् कारणत्वेन तदाश्रयणात् । अथवा न भवत्युत्पत्तिर्यस्मात् असावनुत्पत्तिः देह सायनुत्पत्तिः देहानुत्पत्तिः तत्प्रसङ्गो बुद्धेर्देहोऽनुत्पादक इति यावत् । तथा हि– न देहो बु द्ध्युत्पादको देहत्वात् मृतदेहवत् । [2]तद्विशेष एव तस्या उत्पादकस्तत्रैव तद्भावभावनियमात् अग्निविशेषवद्धूमस्य । न च तस्य तद्व्यभिचारस्तदयमप्रसङ्ग इति चेत्; कः पुनरसौ तस्य विशेषः प्राणापानपरिग्रह इति चेत्; सोऽपि कुतः ? तत एवेति चेत्; न; मृतेऽपि प्रसङ्गात् । [illegible] चेत्; न; तस्य बोधप्रदेशपरिस्पन्दादपरस्याप्रतिपत्तेः । भवतु स एवेति चेत्; न; तत्परिग्रहे देहा यत्नोत्पत्तिस्ततश्च तत्परिग्रह इति परस्पराश्रयात् । तदेवाह–'अन्योऽन्यसंश्रयात्' इति । यदि वा देहस्यैवानुत्पत्तिस्तत्प्रसङ्गः कारणाभावात् । पृथिव्यादिः कारणमिति चेत्; न; सर्वस्य देहरूपत्वापत्तेः । परिणामविशेषवानेव स[3] तद्धेतुर्न सर्व इति चेत्; न; तद्विशेषस्यापि तत एव भावेऽतिप्रसङ्गस्यानिवृत्तेः । तत्रापि तदपरतद्विशेषप्रकल्पनायामनवस्थानात् । अथ स्वभाव एवायं तस्य यदविशिष्टोऽपि कश्चिदेव तद्धेतुर्न सर्व इति चेत्; कार्यस्यैवायं स्वभावो यदहेतुकमपि तत् क्वचित् कदाचिदेव भवतीति किन्न कल्प्यते ? तथा तदप्रतिपत्तेरिति चेत्; न; अविशिष्टमपि किञ्चिदेव कारणमित्यस्याप्यप्रतिपत्तेः । कथं वा पृथिव्यादिहेतुकत्वे तस्य बुद्धौ तद्भावनियमः, अन्यथा बुद्धेरप्यन्यहेतुकत्व एव काये तन्नियमः स्यात् । न चासौ तत्र नास्ति, [4]बुद्ध्यपगमे गर्भगतस्यापि कायस्य गलनात् । अस्तु [5]बुद्धेरेव तदुत्पाद इति चेत्; न; अन्योऽन्यसंश्रयात्–बुद्धिभावे ततः कायः कायाच्च तद्भाव इति । न सहभाविन्या एव बुद्धेः कायस्तस्य प्राग्भाविन्या एव भावात्, सापि कायवत्येव तत्त्वात्तदुत्तरबुद्धिवदिति चेत्; तर्हि तत्कायस्यापि तथाविधप्राच्यबुद्धितो भावः, तत्राप्येवमिति सिद्धोऽनादिः संसार, अनन्तश्च पूर्वभवान्त्यबुद्धेरैहिकाद्यकायस्य ऐहिकान्त्यबुद्धेरप्युत्तरभवाद्यकायस्य, तदन्त्यबुद्धेरपि तदुत्तरभवाद्यकायस्य प्रादुर्भावात् । एतदेवाह–

उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः । इति ।

सुबोधमेतत् । उपसंहरन्नाह—

अत एव विरुद्धत्वादलं [प्रायस्तथा भवात्] ॥७२॥ इति ।

---

१ एव तत्स– आ०, ब०, प० । २ देहविशेष एव । ३ पृथिव्यादिः । ४ बुद्ध्युपगमे आ०, ब०, प० । ५ बुद्धिरेव आ०, ब०, प० ।

अलं पर्याप्तं बुद्धेः कायकार्यत्वसाधनेन । कुतः ? विरुद्धत्वात्तत्साधनस्य । तद् कुतः ? अत एव संसारानाद्यनन्तत्वविधेरेव ।

संसाराभावविध्यर्थात् कायकार्यत्वसाधनात् ।
संसार एव सिद्धोऽयं तदलं तेन साम्प्रतम् ॥१४२३॥

भवतु संसारस्यानादित्वं कार्यस्य कारणाव्यभिचारनियमात्, नानन्तत्वं कारणस्य कार्यवत्त्वनियमाभावात् प्रदीपादेश्चरमभाविनस्तद्विकलस्याप्युपलब्धेरिति चेत्; अत्राह—'प्रायस्तथा भवात्' इति । तथा पूर्ववत् पश्चादप्युत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः । कुतः ? भवात् जननात् । अयमर्थो यद्यैहिकमरणचित्त न देहान्तरमनुसन्दधीत कारणस्य कार्यवत्त्वनियमाभावात् तदा पूर्वभवान्त्यचित्तमपि नैहिकभवाद्यकायमन्वियात् तस्यापि तत्कारणत्वात्, तथा तत्पूर्वभवान्त्यबुद्धावपि वक्तव्यमिति, भव एव न भवेत् । अस्ति च भवः ततः पूर्ववत् पश्चादपि तदनुसन्धान तस्या वक्तव्यं ततो दुर्भाषितमेतत्—"नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति" [प्र० वा० स्ववृ० १।६] इति[1] । स्वयं च—

"चित्तान्तरानुसन्धाने को विरोधोऽन्त्यचेतसः" [प्र० वा० १।४७]

इति मरणचित्तस्य चित्तान्तरानुसन्धानं ब्रुवन्नेव नावश्यमित्यादिकमप्यभिधत्त इति सत्यं भङ्गुरप्रज्ञो धर्मकीर्तिः । यद्येवं न कस्यचिन्निर्मुक्तिः, [2]बुद्धिमात्रस्य देहानुसन्धाननियमादिति चेत् ; न, प्रायस्तदभ्युपगमात् । नहि सर्वस्य बुद्धितत्त्वस्य तन्नियमः, क्लेशकर्मानुविद्धस्यैव तत्प्रतिपत्तेः । [3]तदनुव्याधवैकल्ये तु बुद्धिर्बुद्धिमेवानुसन्धत्ते न देहमिति कथं निर्मुक्त्यभावः ? किञ्च[4], कायः कारणमात्रम्, तद्विशेषो वा बुद्धेः ? तन्मात्रमिति चेत् , न तर्हि तन्निवर्तमानमपि कार्यस्य बुद्धेः सत्त्वं निवर्तयति, निवृत्तेऽपि सहकारिणि कार्यस्यावस्थितिप्रतिपत्तेः, यथा मृतेऽपि स्थपतौ प्रासादगोपुरादेः । इदमेवाह—

तन्न कारणमित्येव कार्यसत्तानिवर्तकम् ।
स्वनिवृत्तौ तथा तक्षो गोपुराट्टालकादिषु ॥७३॥ इति ।

[5]प्रतीतव्याख्यानमेतत् । भवतु परिणामित्वेन कारणविशेष एव स तस्या इति चेत् ; अत्राह—

युगपद्भिन्नरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।
न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥७४॥ इति ।

तयोर्बुद्धिकाययोः परिणामो विवर्तभावो बुद्धेः विवर्तिभावश्च कायस्य, स नास्ति । कुत ? युगपत् एककालं भिन्नरूपेण अमूर्तिज्ञानादिमत्त्वेन बुद्धेः वर्णादिमत्त्वेन कायस्य भासनात् । नहि

---

१ "नाकारणानि तद्वन्ति वैकल्यप्रतिबन्धसम्भवात्"—प्र० वा० स्ववृ० । "नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायात्"– प्र० वार्तिकाल० २।२ । २ बुद्धिमात्र– ब०, प० । ३ "तदनुविद्धतावैकल्ये ।"– ता० टि० । ४ "कार्यकारणयोर्बुद्धिकाययोरित्याद्युक्तं पूर्वं चार्वाकेण तत्र विकल्पद्वयपूर्वकं दूषणमाह"– ता० टि० । ५ "तन्निवृत्तितः कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति चार्वाकेण प्रागुक्तमयुक्तमित्यर्थः ।"– ता० टि० ।

परिणामे[1] तथा भासनमुपपन्नं मृच्छिवकयो परस्पराभेदेनैव प्रतिभासावलोकनात् । [2]पिण्डशिवकयोः क्रमेण रूपभेदेन प्रतिभासेऽपि परिणामसद्भावात् व्यभिचार इति चेत्; न; युगपद्ग्रहणेन तद्व्यवच्छेदात् बहिः शरीरमन्तर्बुद्धिरिति देशभेदेन प्रतिभासनाच्च न तयोः परिणामः । यथेत्यादिकमुभयत्रापि दृष्टान्तः । स्पष्टश्चायम् । अतश्च न तयोः परिणाम इत्याह—

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद्विकृतेरविकारिणि[3] ।
[4]निर्ह्रासातिशयाभावान्निर्ह्रासातिशये धियः ॥७५॥
बलीयस्यबलीयस्त्वाद्विपरीते विपर्ययात् ।
काये [तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः]॥७६॥ इति ।

प्रमितेऽपि परेण प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽपि काये अप्रमेयत्वात् अपरिच्छेद्यत्वात् धियो बुद्धेः नासौ तस्य विवर्तः । न हि विवर्तिनः प्रतिपत्तौ विवर्तस्याप्रतिपत्तिः स्वर्णप्रतिपत्तौ रुचकादेरवश्यंतया प्रतिपत्तेः । अविकारिणि विकारविकले काये विकृतेर्विकरणाच्च । न ह्युपादानविकारमन्तरेण तदुपादेयस्य विकार', सत्येव कुतश्चित्तन्तुविकारे पटविकारस्योपलम्भात् । न चैवमत्र, शास्त्रश्रवणादिना बुद्धिविकारस्य अविकृत एव शरीरे दर्शनात् । विकृतेऽपि तस्मिन् दृश्यत एव तद्विकारो मृष्टेतराहाराभ्यां देहस्यानुग्रहोपसद्भानयोः बुद्धावपि प्रीतिपरितापयोरुपलम्भादिति चेत्; न; सौमनस्यदौर्मनस्याभ्यामेव तद्भावात्, तदभावे सतोरपि तयोस्तदप्रतिपत्तेः । विपर्ययदर्शनाच्च, दृश्यते हि तदनुगृहीतदेहस्यापि इष्टानवाप्तौ परितापः, तद्विपरीतस्य चाभ्यस्तशास्त्रहृदयनिर्णयादपरिमिता प्रीति. । कथं तर्हि चक्षुरादिविकारे तद्विकारः ? दृश्यते हि काचकामलादिना विकृते चक्षुरादौ बुद्धेरपि मन्दप्रतिभासविभ्रमादिरूपो विकार इति चेत्; न; तस्यापि चित्तविकारादेव शक्तिवैगुण्यलक्षणादुत्पत्तेः, प्रगुणशक्तिकत्वे चित्तस्य सत्यपि तद्विकारे सत्यस्वप्नवदवितथस्पष्टावभाससवित्तेरप्रतिषेधात् । किमिदानीं विकृतेन चक्षुरादिनेति चेत् ? न, तस्य तत्र कारणमात्रत्वात् अविकृतवत् । न हि तस्य[5] तन्मात्रत्वं प्रतिषिद्ध्यते, शरीरवदुपादानत्वस्यैव प्रतिक्षेपात् । अनुपादानत्वे कथं तन्निवृत्त्या बुद्धिनिवृत्तिरिति चेत् ? न, तया गवाक्षनिवृत्तिवत् बुद्धे रूपाद्याभिमुख्यस्यैव विवर्तनात स्वरूपस्य, अन्यत्र वृत्तिदर्शनात् । अन्यैव सा बुद्धिरिति चेत्; कथमेवं प्रतिविषयं बुद्धिभेदे कर्कटीभक्षणादौ 'रूपादिकं युगपदहमेवानुभवामि' 'य एव रूपमुपलप्सि स एवाधुना स्पर्शादिकमुपलभे' इति च प्रतिसन्धानं सन्तानान्तरवद्भेदे तदनुपपत्तेः । तदपि विकल्पादेव कुतश्चिन्नेन्द्रियबुद्धीनामन्योऽन्यतादात्म्यात्, प्रतिभासभेदेन तदनुपपत्तेरिति चेत्; न, विकल्पकेऽपि तदविशेषात् परस्परविकल्पलक्षणरूपादिपरामर्शभेदाधिष्ठानत्वात् । तथापि तदेकत्वे तद्बुद्धीनामपि स्यादविशेषात् । ततो युक्तं विकृतेरविकारिणीति । तथा निर्ह्रासातिशये शरीरस्य व्याध्यादिरसायनादिना क्षयपरिपोषणप्रकर्षे धियस्तदतिशयाभावाच्च नासौ तस्य परिणामः । न हि शरीरस्य निर्ह्रासो बुद्धिमन्वेति पुष्टिर्वा, [6]कृशतरशरीराणामपि सातिश-

---

१ परिणामेन ब०, प० । २ खण्डशिव–ब०,प० । ३ तुलना—तत्त्वसं० का० १९३४ । तत्त्वसं०प० पृ० ५२७ । ४ तुलना–प्र० वा० २।७२ । अकलङ्क० टि०पृ० १६२ । ५ चक्षुरादेः । ६ कृशत– ब०, प०, ।

यमङ्गानां महाकायानामपि मतङ्गजादीनामल्पप्रज्ञानामवलोकनात्। बलीयसि च करिवराहादीनां काये तस्या अबलीयस्त्वात् विपरीते चाबलीयसि स्त्रीबालादीनां विपर्ययात् बलीयस्त्वात् स्थितिसारत्वात् न तस्यास्तद्विवर्तत्वम्। उपसंहरन्नाह–तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः इति। स्वपदव्याख्यातमेतत्। यत्रापि परिणामतद्भावो घटकपालादौ तत्रापि प्रमितेऽपीत्यादि विद्यते ततो व्यभिचार इति चेत्; आह–

एतदत्र घटादीनां न तु जातुचिदीक्ष्यते। इति।

एतत् प्रमितेऽपीत्यादि अत्र लोके घटादीनां परिणामतद्भावेन प्रसिद्धाना न तु नैव जातुचित् कदाचित् ईक्ष्यते दृश्यते। ततो न व्यभिचार इति भावः।

अथ गुणदूषणमत्राप्यतिदिशन्नाह–

तुल्यश्च गुणपक्षेण [तत्तथा परिणामतः] ॥७७॥ इति।

सदृशश्चायं गुणपक्षेण परिणामपक्षस्ततो यथा तत्रोक्तं 'न हि ज्ञानात्मना' इत्यादि तथा अत्रापि वक्तव्यम्–'न हि ज्ञानात्मना कश्चित् शरीरग्रहणं येन तद्विवर्तः प्रकल्प्यताम्।' इति। निगमयति–'तत्तथाऽपरिणामतः' इति। तत् तस्मात् अपरिणामतो धियः कायविवर्तत्वाभावात् सा तथा तेन 'संसरेत्' इत्यादिना प्रकारेण भवति। किञ्च, परलोकिनमात्मानमनिच्छतश्चार्वाकस्य कुत इदं संसारवैचित्र्यम्–कस्यचिद्विकृतमिन्द्रियं दुर्भगसंस्थानं संहननं दुःखप्रचुरं जीवनम् अन्यस्याविकलं चक्षुरादि मनोनयनाभिरामं शरीरसंस्थानमभिनन्दनीयञ्च जीवनम् अपरस्य तदुभयप्रकारशबलमिति? न चेदं दृष्टादेव कारणात्, सर्वत्र व्यभिचारात् इष्टाहारविहारसेवाकृप्यादौ समानेऽपि क्वचिदिन्द्रियविकारादेरन्यत्र तद्विपर्ययस्य च प्रतिपत्तेः। स्वभावत एव [1]सत्त्वज्ञेयत्वादेर्जलबुद्बुदवदिति चेत्, कस्यासौ स्वभावः? तद्वैचित्र्यस्येति चेत्; न, अनुत्पन्नस्य तदभावात्। उत्पन्नस्येति चेत्; न; उत्पत्तौ स्वभावस्ततश्चोत्पत्तिरिति परस्पराश्रयात्। तत्कारणस्य पृथिव्यादेरिति चेत्; न, ततोऽप्येकस्वभावादेकप्रकारस्यैव निकायस्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चैवम्, [2]वरिश्र(षा,लावणाशुद्धाद्प्यम्भस. परिवासितात्कस्यचिदारक्तशिरसोऽपरस्य पीतमस्तकस्यान्यस्याल्पवपुषोऽपरस्य विपुलविग्रहस्य जीवनिवहस्य प्रादुर्भावप्रतिपत्ते[3]। न ह्येकस्वभावात् पद्मादिबीजाद्विचित्रस्तत्प्रसवो दृष्टः। नापि तत्र स्वभावभेदः; प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तेः। तद्वैचित्र्यादेवानुमीयत इति चेत्, न; तस्यापि सम्भूय[4] इति कार्यमुपयोगे तदाकारवर्णसाङ्कर्यस्याबुद्धिगोचरस्य प्रसङ्गात्। कस्यचित्क्वचिद्व्यापारे नियामक वक्तव्य तदन्तरेण तदसम्भवात्। तद्गत एवान्यस्तद्भेदो नियामक इति चेत्; न, तत्राप्यन्यतस्तद्भेदान्नियमकल्पनायामनवस्थानदोषात्। नाय दोष., पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्य नियमादनादित्वात् तत्प्रबन्धस्येति चेत्ः आगतं तर्हि तद्विपर्यस्य जीवस्याप्यनादित्वं विपर्यिणस्तस्य तदभावेऽनुपपत्तेरिति सिद्धो नः सिद्धान्तः– जीवस्य परलोकिनोऽप्रतिक्षेपात्, तस्य च कर्मण एव तद्वैचित्र्यात्, तदनुबन्धिनः

---

१ सत्त्वज्ञेयत्वादेः' इति पदं सम्पातादायातमिति भाति। २ परिश्रवणाशु– आ०, ब०, प०। वर्षापतितात शुद्धाज्जलात्। ३ तुलना– "तथाहि रक्तशिरसः पीतकायादयः परे। जलादिप्राणिनो दृष्टाः स आकारः कुतो भवेत्॥" –प्र० वार्तिकाल० १।३७। ४ मिलित्वा कार्य प्रत्युपयोगे।

पृथिव्यादिस्वभावभेदप्रबन्धस्यैव कर्मत्वेनास्माभिरभिधानात् । एतदेवाह—

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।
अन्यथा नियमायोगात् [प्रतीतेरपलापतः] ॥७८॥ इति ।

अक्षाणामिन्द्रियाणाम् आदिशब्दः पाणिपादादीनां विकारो मन्दाविलकुणित्वादिः अयं प्रतीयमानः । उपलक्षितमिदं तेन लाभालाभसुखदुःखादिरपि आत्मनो यत् कर्म तस्य फलं कार्यं भवेत् । अन्यथा तत्फलत्वाभावप्रकारेण नियमस्य कस्यचिदेव कश्चित् तद्विकारादिः न सर्वस्येत्यवधारणस्य अयोगात् सर्वस्यापि तत्प्राप्तेः ।

अत्रैव हेत्वन्तरमाह– 'प्रतीतेरपलापतः' इति । प्रतीतिः कर्मविषया आनुमानिकी बुद्धिः तस्या अपलापतोऽपह्नवाच्च स तत्फलमिति सम्बन्धः । तथाहि[1] तदहर्जातस्य तद्विकारादिः जीवशरीरव्यतिरिक्तजीवसम्बन्ध(द्ध)द्रव्यान्तरपूर्वकः तत्त्वात् विषमाहाराद्युपयोगजनिततद्विकारवत् । न मन्त्रादिनिमित्तेन तेन व्यभिचार, तस्यापि द्रव्यान्तरसम्बन्धे सत्येवोपपत्तेः, अन्यथा न कचित्तद्व्यभिचारः स्यात् । न चैवं मन्त्रादेर्वैयर्थ्यम्, तस्य तत्सहकारित्वात्[2] कृप्यादिवत् । यच्च तद् द्रव्यान्तरं तत्कर्म शुभमशुभञ्चेति । कथमियमानुमानिकी तत्प्रतीतिः स्वाभाविकतद्विकारवादिभिर्नापलप्येत ? न च तदपलापे[3] क्षणमपि जीवनम्, पृथिव्यादेरप्यव्यवस्थितिप्रसङ्गात् । ननु यदि तस्य पृथिव्यादिहेतुत्वं तदोक्तनीत्या[4] कर्मफलत्वम् । तदेव तु मा भूदिति चेत्; किंनिमित्तं तर्हि तत् स्यात्, कार्यस्यानिमित्तस्याभावात् ? कार्यमपि तन्नेति चेत् ; कथं देशादिनियमः ? स्वभावादेव मयूरचित्रादिवदिति चेत्, न, तस्यापि मयूरादिहेतोरेव भावात्, तदन्वयव्यतिरेकनियमात् , तल्लक्षणत्वादन्यत्रापि हेतुफलभावस्य । कथं पुनश्चित्रकारादिनिमित्तं तत् अन्यत इति चेत् ? न, वैलक्षण्यात् । विलक्षणं हि चित्रकारादिनिमित्तात् ततो मयूरचित्रादि, तत् कथं तस्य तदन्यतो भावः ? स्वाभाविकत्वे वा चैतन्यस्यापि निषिद्धमेतत्–"तेभ्यश्चैतन्यम्" [ ] इति । तस्मात् स्वभावकल्पनायां सामर्थ्यस्य युक्तिरूपस्याभावात् कर्मफलमेव तद्वैचित्र्यम् । तदेवाह–

कल्पनायामसामर्थ्यात् इति ।

तदेवं तदहर्जातस्य परलोकित्वे कर्मसिद्ध्या[5] सिद्धे यत् सिद्धं तदाह–

ततस्तद्विकृते ऋते ।
पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥७९॥ इति ।

ततस्तस्माद्विज्ञानस्य रूपादिविषयस्य विक्रिया मन्दाविलत्वादिः, उपलक्षणमिदं तेन प्रीतिपरितापादिश्च नास्ति न भवति । कुतः ? तद्विकृतेः तस्यात्मनो विकृतेर्विकारात् दौर्मनस्यादिलक्षणात् ऋते विना । तस्यां तु भवति । तस्याः कर्मफलत्वात् कथं तद्विक्रियातो भाव इति चेत् ? उत्तरम्–पारम्पर्येण इति । तात्पर्यमत्र–कर्मापि तद्विकृतेरेव विज्ञानविक्रियादिनिबन्धनत्वात् उपयुक्त-

---

१ तथापि आ०, ब०, प० । २ –त् सकृष्या– आ०, ब०, प० । ३ अनुमानापलापे । ४ तयोक्त– प० । तथोक्त– ब०, आ० । ५ धर्मसि– ता० ।

मदिरादिवत् । प्रसिद्धं हि मदिरादेस्तदभिलाषादिपुरुषविकारोपनिबन्धनत्वमिति न वैकल्यं साध्यस्य नापि साधनस्य; ततो विज्ञानविकारादिप्रतिपत्तेः । ततः पारम्पर्येण तद्विकृतेरेव सा इति, ततः सिद्धा तदहर्जातस्य तस्य पौर्वभविकी विकृतिः इह तदप्रतिपत्तेरिति । न केवलं पारम्पर्यात् अपि तु साक्षाच्च अव्यवधानाच्च । तस्या ऋते न तद्विक्रिया । शोकविषादादेः साक्षादपि तस्याः प्रतिपत्तेः तदापि कर्मभावात् । ततः सा किन्नेति चेत् ? क एवमाह–नेति, शोकादेरपि कर्मसहकारिण एव भावात् । तन्न शरीरपरतन्त्रोऽपि जीवः तदुपरमेऽप्यवस्थानात् तदहर्जातवत् । कुतो वा तस्य तत्परतन्त्रत्वम् ? तद्धेतुत्वादिति चेत्; न; ततः केवलादुत्पत्तौ मृतेऽपि प्रसङ्गात् । इन्द्रियसहायादिति चेत्, इन्द्रियाणामपि समुदायेन तत्सहायत्वम्, प्रत्येकं वा ? प्रथमविकल्पं निराकुर्वन्नाह–

कारणं नाक्षसङ्घातस्तत्प्रत्येकं विना भवात् ।
विकल्पानां [विशेषाच्च तत्राक्षति विरोधतः] ॥८०॥ इति ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां सङ्घातः समुदायः शरीरसहकारित्वेन न कारणम् । केषाम् ? विकल्पानां मनोविज्ञानानाम् । तेषामेवान्वितक्रमाणां जीवत्वाज्जीवस्येति गम्यते । कुतो न कारणम् ? तत्प्रत्येकं तद् अक्ष प्रत्येकम् एकं विना अन्तरेण भवात् उत्पत्तेर्विकल्पानाम् । नहि सङ्घातकार्यं तदभावे युक्तम् । न च सङ्घातिनामन्यतमापाये सङ्घातः, तस्य तत्साकल्यरूपत्वात् । भवन्ति च प्रत्येकं तदभावेऽपि विकल्पाः, अन्यथा अन्धादीनां मरणापत्तेः । भवतु प्रत्येकमेव तत् तेषां तत्सहायतया कारणमिति चेत्, तदपि न नियतविषयतया, तदप्रतिपत्तेः । न हि नियतविषया विकल्पा प्रतीयन्ते, रूपादिपञ्चकपरामर्शात्मतयैव तेषां प्रतिपत्तेः । तादृशामेव तथा तत् कारणमिति चेत्; अत्राह–'विशेषाच्च' इति । अत्र 'तत्प्रत्येकम्' इति 'न कारणम्' इति चानुवर्तते । ततोऽयमर्थः–तदिन्द्रियं प्रत्येकं तेषां न कारणम् । कुतः ? विशेषात् । शेषस्याभावो विशेषम्, अर्थाभावेऽव्ययीभावः, तस्मात्, शेषेन्द्रियाभावप्रसङ्गादिति यावत् । तथाहि–

एकस्मादेव चेदक्षात् रूपादिविषया इमे ।
विकल्पा व्यर्थमेव स्यात् तदन्याक्षप्रकल्पनम् ॥१४२४॥
न चैव कश्चिदन्धादिर्जीवो भवितुमर्हति ।
चशब्देनैतदेवाह शास्त्रकारः परोत्तरम् ॥१४२५॥

स्यान्मतम्–अक्षान्तरं तेषां तत्तद्विषयाभिमुख्यार्थमतो व्यर्थमिति; तन्न; तस्यापि तदनर्थान्तरत्वेन प्रकृतादेवाक्षादुपपत्तेः, अन्यथा विवक्षिताभिमुख्यमपि ततो न भवेत् । भवतु मनोमात्रमेव तत इति चेत्; न, विषयाभिमुख्यविकल्पस्य तस्याप्रतिपत्तेः । तन्न कायकार्यत्वं तेषामिति न युक्तमेतत्–"मदशक्तिवद्विज्ञानम्" [　　　　] इति । मदशक्तौ गुडादिकार्यत्ववद्विज्ञाने शरीरकार्यत्वस्याभावात् । कथं पुनः कायेन सह अतत्परतन्त्र-

१ –रादावपि प्र– आ०, ब०, प० । २ पूर्वभाविक– आ०, ब०, प० । ३ भूतेन आ०, ब०, प० । ४ एव तन्न ता० । ५ जीवस्य । ६ जीवहेतुत्वात् शरीरस्य । ७ इन्द्रियाभावेऽपि । ८ इन्द्रियम् । ९ विकल्पानाम् । १० इन्द्रियम् । ११ तावदक्ष– आ०, ब०, प० । १२ तद्वि– प० ।

स्यावस्थानमिति चेत् ? न; उक्तोत्तरत्वात्–'आत्मकर्मफलं भवेत्' इति । न च पारतन्त्र्यादेव सहावस्थानम् पृथिव्यादिषु चक्षुरादीनां तदभावेऽपि तद्भावात् । उपसंहरति–'तद्वति विरोधतः' इति । तत् तस्मात् तद्वति अक्षवति शरीरे निमित्ते विरोधतो विकल्पोत्पत्तेर्विरोधात् '[1]तद्विकृतेः' इति सम्बन्धनीयम् । अथवा विकल्पानां विशेषाद् अभियोगोपनीतादतिशयात् । चेति भावनायाम् । तेषामक्षसङ्घातः तदक्ष प्रत्येकं वा न कारणम् । सोऽपि तद्विशेषादेवेति चेत्, आह–'तचद्वति' इति । 'विना भवात्' इत्येतदत्र द्रष्टव्यम् 'विशेषात्' इति च । तदयमर्थः–तच्चाक्षं तद्वच्च शरीरं तत्र विशेषात् विना भवात् तेषाम्, विशेषस्येति विभक्तिविकारेण सम्बन्धः । न हि तद्विशेषोत्पत्तौ अक्षे शरीरे वा विशेषनियमो प्रच्युतप्राच्याकारेऽपि तस्मिंस्तदुपलम्भात् । भवत्वेवं तथापि तस्य तदेव कारणमिति चेत्; न; विरोधतः । विरुद्धं हीदम्–अविशिष्टेऽपि कारणे कार्यं विशिष्यत इति, विशिष्टादेव तन्त्वादेः पटादिप्रतिपत्तेः । ततः सजातीयादेवाभियोगसंस्कृतात्तस्योत्पाद इति युक्तमेतत्–'तद्विकृतेः' इत्यादि ।

अत्रैव हेत्वन्तरमाह–

जातिस्मराणां संवादादपि [संस्कारसंस्थितेः] । इति ।

जातेः पूर्वभवस्य स्मर्तारो जातिस्मराः तेषां संवादः अविप्रतिसारः तस्मादपि, न केवलं पूर्वस्मादेव हेतोः तद्विकृतेरित्यादि (देः)। जातिस्मरत्वे कारणमाह–'संस्कारसंस्थितेः' इति । संस्कारस्य पौर्वभविकानुभवनिबन्धनस्य स्मरणहेतोः धारणाज्ञानस्येहापि जन्मनि सम्यगवैपरीत्येन स्थितेः । जातिस्मरा एव नोपलभ्यन्ते तत्कथं तेषां संवाद इति चेत् ? न; प्राग्भावीयस्य बन्धुमृत्यादेर्निक्षेपादेश्च कैश्चिदपि दर्शनात्, तदहर्जातस्य च जातिस्मरत्वाभावे स्तनादौ प्रवृत्तेरनुपपत्तेः ।

तदापि[2] तदभावकल्पनायां दूषणमाह–

अन्यथा कल्पयन् लोकमतिक्रामति केवलम् ॥८१॥ इति ।

अन्यथा अन्यथात्वं भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, तच्च जातिस्मराणामजातिस्मरत्वमेव तत्कल्पयन् प्रतीत्यपलापेन [3]संपादयन् चार्वाको लोकं जीवनिकायं भूतचतुष्टयं वा अतिक्रामति अपह्नुते केवलं नापरं करोति । नहि तदपलापः कचिदेव शक्यनियमो यतो जातिस्मरवत् लोकेऽपि स्यात्, ततस्तस्याप्यतिक्रमात् लोकायतत्वमस्य नश्यति, लोकबुद्ध्यनुगम [4]एवं तत्त्वोपपत्तेरिति मन्यते । ततो लोकवज्जातिस्मराणामपि प्रतीतिमात्रेणानतिक्रमात् सिद्धस्तत्संवादः । प्रतीतिश्च तेषामनुमानात्, तथाहि–तदहर्जातस्य स्तनादौ प्रवृत्तिः तदभिलाषात्, सापि स्तनादेरभिलषितार्थनियमितत्ववितर्कात्, स च तेनायं समान इति प्रत्यभिज्ञानात्, तदपि स्मरणात्, तदप्यनुभवात्, प्रवृत्त्यादित्वात् [5]अवलग्नप्रवृत्त्यादिवत् । न चेहजन्मनि तदहर्जातेन स्तनादिरपरस्तथाभूतो दृष्टोऽस्ति यतोऽनुस्मरणादिक्रमेण तत्सदृशे प्रवृत्ति । ततः पौर्वभविकस्यैव तस्य तेन स्मरणमिति कथन जातिस्मराणां सवादः ?

एतदेवाह–

१ तत्प्रकृते–आ०,ब०,प०। २ तथापि आ०,ब०,प० । ३संवादयन्चा– प०। ४ एवात– आ०,ब०,प०। ५ मध्यावस्थाकालीनप्रवृत्तिवत् । "मध्यमञ्चावलग्नञ्च मध्योऽस्त्री द्वौ परौ द्वयोः ।–इत्यमरः ।"–ता०टि० ।

नाऽस्मृतेरभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।
तद्धि जन्मान्तराच्च [अयं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते] ॥८२॥ इति ।

अस्मृतेः स्मरणाभावात् उपलक्षणमिदं तेनाप्रत्यभिज्ञानानूहाच्चेति द्रष्टव्यम् । ततो नाभिलाषोऽस्ति स्मृत्यादेरेवास्तीत्यर्थः । सापि स्मृतिर्न विना दर्शनात् दर्शनादेवास्ति । तद्धि तदपि दर्शनं जन्मान्तरात् न विना जन्मान्तरादेव पूर्वभवभाविनश्चक्षुरादेर्भवति । ततोऽभिलाषादेर्दर्शनपर्यन्तस्य तर्कादेरनुमितिरविनाभावनियमनिश्चयात् अवलग्नदशावदिति सिद्धो जातिस्मराणां सवाद इति मन्यते । तदहर्जातस्याभिलाष एव नास्ति तत्कुतस्तदनुमितिरिति चेत् ? अत्राह–'अयं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते' इति । जात एव जातमात्रः तस्मिन्नपि न केवलं चिरजीविते अयमभिलाषो लक्ष्यते प्रवृत्तेर्लिङ्गात्प्रतीयते,तस्याः तत्पूर्वकत्वेनात्मनि प्रतिपत्तेः ततोऽस्ति तदनुमानमिति भावः । सत्यं लक्ष्यते, स तु न पौर्वभविकादनुभवाद्[1] अपि तु गर्भभाविन एव । तदाह–

गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन । इति ।

'कश्चन' इत्येतद्वक्ष्यमाणात् 'प्रवर्तितः' इत्यतः परं द्रष्टव्यम्, तत्रैव च व्याख्येयम् । इतरद्व्याख्यायते–गर्भस्तदाधारत्वात् गर्भाशयस्तस्मिन् रसविशेषाणां माधुर्यादीनां ग्रहणाद् अनुभवान्न पूर्वभवे 'जातमात्रेऽयं[2] कश्चिल्लक्ष्यते' इति सम्बन्धः । तत्रापि तद्ग्रहणमभिलापादेव [3]स च प्राग्भवीयादनुभवादिति सिद्ध्यत्येव स[4] इति चेत् ; अत्राह–

तदादावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥८३॥ इति ।

तद् रसविशेषाणा ग्रहणम् आदौ गर्भगतस्य प्रथमसमये अभिलापेण काङ्क्षया विना 'जातु' इत्यवधारणेति[5] निपातत्वात् । कथं तर्हि तद्ग्रहणम् ? यदृच्छया काकतालीयेन मात्रा भुक्तानां तेषां प्रतिस्रोतः स्वत एव प्रवेशादिति यावत् । ततः परं कथमभिलाष इति चेत् ? आह–

तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद्भूयो भूयः प्रवर्तितः । इति ।

तस्य तद्ग्रहणस्य संस्कारस्तत्कृता धारणा स चान्वयोऽनुगमः स च संस्कारस्यैव अन्यस्याश्रुतेः, तस्मिन् सति ईक्षत्वमवेक्षितृत्वं तत्संस्कारान्वयेक्षत्वं तस्मात् भूयो भूयः पुनः पुनः प्रवर्तितोऽभिलाषः प्रवृत्तिमानिति यावत् । प्रवर्त[6]शब्दात् प्रवृत्तिवाचिनः "तारकादिभ्य इतः" [शाकटा० ३।३।१।४] इति प्रवर्तित इति रूपात् । एतदुक्तं भवति–गर्भगतस्य प्रथमं यदृच्छया तद्ग्रहण पुनस्तत्संस्कारात् भूयो भूयस्तत्राभिलाषो गर्भनिष्क्रान्तस्य तु तदन्वये सति विषयदर्शित्वादनुस्मरणादिक्रमेणेतीत्येवं[7] कश्चन चार्वाकः । तत्रोत्तरमाह–

कोशपानं विधेयं [न समं भूयस्तथा दृशः] ॥८४॥ इति ।

कोशस्तन्निर्लोलितं[8] जलं तस्य पानं विधेयं विधातव्यम्, अस्यार्थस्य प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्ते. ।

---

[1] -नुमानाद्–आ०, ब०, प० । [2] गर्भेऽपि । [3] अभिलाषः । [4] प्राग्भवः । [5] जात्ववधारणेति नि– आ०, ब०, प० । [6] प्रवर्तते आ०, ब०, प० । [7] इति प्रेतप्रवर्तित आ०, ब०, प० । [8] -तं तस्य आ०, ब०, प० ।

न हि गर्भगतः प्रत्यक्षादेवं प्रत्येति 'यदृच्छया मे रसादिग्रहणम्' इति कोशपानस्यैवात्रापि शरणत्वात् मात्रादेरेवमव्यवहारात्। न च प्रत्यक्षाभावेऽनुमानम्; तस्य तत्पूर्वकत्वात्। भवतोऽपि समानमिदं गर्भगतस्यापि पौर्वभविकादेवानुभवादेः स्मरणादिरित्यत्रापि प्रमाणाभावादिति चेत्; आह-'न समं भूयस्तथादृशः' इति। न समं न सदृशं कोशपानं विधेयमिति। कुतः? भूयः प्राचुर्येण तथा तेन 'दर्शनात् संस्कारस्ततः स्मृतिः' इत्यादिना प्रकारेण-दृशो दर्शनादवलग्नवेलायाम्। तदुक्तम्—

"अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन्।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते॥" [सिद्धिवि० परि० १] इति।

ततः प्रागपि तथैवासौ प्रतिपत्तव्यः, अन्यथा, हेतुफलभावस्य[1] क्वचिदपि निर्णयनियमाभावात् कथं जलादावपि पानार्थिनां प्रवृत्तिः? कथं वा शुभाशुभकर्माभावनिर्णयेन [2]निरारेकं वैरिवधाभिलाषिणां नास्तिकशास्त्रोपादानं यत इदं सूक्तं भवेत्—

"इदममरगुरुर्जगौ महात्मा सुरपतये किल वृत्रनाशनाय।" [ ] इति।

ततः स्थितं भूयोदर्शनबलाद्गर्भगतस्यापि स्मरणादिरनुभवादेरेवेति। ततो न युक्तं शालूकदृष्टान्तेन तस्यानुभवादेरन्यतोऽपि भाव इति, चैतन्यस्यापि कायादिवान्यतोऽपि भावप्रसङ्गात्। शालूकस्य च शालूकेतरजन्मनो वैलक्षण्यात् स्मरणादेश्च तदभावात्।

पुनरपि गर्भ इत्यादि निराकुर्वन्नाह—

रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम्। इति।

रूपं स्तनादिगतमादिर्यस्य तत्कार्यस्य क्षीरादेस्तस्य दर्शनं तदभावो गर्भे तस्मात्। तयो रूपतत्कार्ययोः सम्बन्धोऽविनाभावस्तस्य स्मृतिः स्मरणं गर्भनिष्क्रान्तस्य कथम्? न कथञ्चित्। न हि दृष्टेऽपि स्तनादौ प्रागदृष्टस्य तस्य स्मरणम्, नालिकेरद्वीपादागतस्य धूमे पावकसम्बन्धवत्। सापि माभूदिति चेत्; न; प्रवृत्तिदर्शनात्। गर्भेऽपि रूपादिदर्शनमस्तीति चेत्; न, तत्र स्तनादेरभावात्, नयनादिव्यापाराभावाच्च। तदेवाह—

नावश्यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः॥८५॥ इति।

चक्षुरादीनामादिपदात् जिह्वादीनाम् उन्मीलनादय आदिशब्दात् उद्वर्त्तनादयश्च नावश्यं न नियमेन। क्व? सर्वत्र सर्वस्मिन् जराय्वादिपरिपिहिते प्राणिनि तत्कथं गर्भे रूपादिदर्शनं यतः पश्चात्तत्सम्बन्धस्मरणम्? अस्ति च बालकस्य स्तनादिदर्शनात् तत्र रसविशेषार्थितया प्रवृत्तिः, अतोऽवगम्यते जन्मान्तरे तस्य तद्दर्शनमिति। पुनरपि तद्विकृतेरित्यादि समर्थयितुमाह—

तथा रागादयो दृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाभुवः। इति।

रागः शरीरेन्द्रियादावभिरतिरादिर्येषां द्वेषादीनां ते रागादयो दृष्टाः प्रवृत्तिविशेषतोऽवगताः 'जातमात्रेऽपि' इति सम्बन्धः। कीदृशाः? सङ्कल्पो ममेदमहमिदमिति चाभिनिवेश आदिर्यस्य

१-त्मस्य ता०। २ निराकारैकं आ०, ब०, प०। निश्शङ्कम्। ३ कन्दः।

रागाद्यभ्यासादेः, तेन विना न भवन्तीति सङ्कल्पाद्यविनाभुवः। ततो न युक्तमेतत्[1]–"कफप्रकृते रागः तन्मूलश्चानुनयादयः। पित्तप्रकृतेर्द्वेषः तदाश्रयाश्चासूयादयः,वातप्रकृतेर्मोहः तन्निमित्ताश्च चापल्यादयः।" [ ] इति, तेषां[3] सङ्कल्पादिनिबन्धनतयैवावलम्बनवेलायां प्रतिपत्तेः। व्यभिचाराच्च कफप्रकृतावपि द्वेषादीनामुपलम्भात्। अथ तत्प्रकृतेरन्यापि प्रकृतिरस्ति तासां साङ्कर्यादिति, तन्न, द्वेषादिवत् सर्वस्यापि प्रकृत्यन्तरकार्यस्य तत्प्रकृतौ प्रसङ्गात्। न चैवम्, कस्यचिदेव दर्शनात्। दृष्टस्यैव तदन्तरं कारणं नान्यस्येति चेत्, तर्हि सत्त्वान्तरेऽपि कुतस्तद्भवेत्? तत एवेति चेत्, प्रकृतेऽपि स्यात् अविशेषात्। अन्यत इति चेत्, सिद्धो व्यभिचारः–पित्तादेर्दृष्टस्यापि तस्यान्यतो भावात्। तन्न तत्साङ्कर्यात् तत्प्रकृतौ द्वेषादिः। अथ सोऽपि तत्प्रकृतेरेव कार्यम्; व्यर्थं तर्हि प्रकृत्यन्तरकल्पनं कार्याभावात्। तदन्तरस्यापि तदेव सर्वं कार्यमिति चेत्; एवमपि तन्निर्ह्रासातिशयसाम्ये तत्प्रकृतेः सर्वस्यापि समान एव रागादिः प्राप्नुयात्। न हि कारणस्याविशेषे विशेषः कार्यस्य, तस्यातद्धेतुकत्वापत्तेः। न चैवम्, सत्यपि तत्साम्ये क्वचिद्रागादेरुत्कर्षस्यान्यत्रापकर्षस्य च तारतम्येन प्रतीतेः। नायं दोषः, तत्साम्येऽपि स्वहेतुबलनिबद्धात् परिणतिविशेषात्तदुपपत्तेरिति चेत्; न; तस्यापि दृश्यस्य तद्व्यभिचारात्। न ह्यसौ रागादौ क्वचिदेव नियतो द्वेषादेरपि तत एवोपलम्भात्। ततो द्वेषादिवद्विलक्षणपरिणामजन्यस्यापि तत एवोपपत्तेः कथं[5] तस्मान्नैव तत्प्राप्तिर्भवेत्? [6]अथ अदृश्य एव तद्विशेषो रागादिवैषम्यहेतुः; स तर्हि सङ्कल्पादावेव कार्यविशेषादुन्नेतव्यः तस्यैव तद्धेतुतया दृष्टेन कफादौ विपर्ययात्, अन्यथा पर्वतादौ धूमहेतुरपि विशेषः क्वचिदन्यत्रैवावकल्प्येत इति न पावक इति न क्वचिन्नियतो हेतुफलभावः। तन्न तद्विशेषकल्पनमुपपन्नम्। तदभावे च न कफादे रागादिविशेषस्तदविशेषात्। अविशिष्टादपि कारणात् कार्यवैषम्यं दृश्यत एव यथा पृथिव्यादे[8] रूपसंस्थानादिभेदः शरीरस्येति चेत्, न, तत्रापि तथैव चोद्यात्–कथं तदविशेषे तद्भेद इति? तत कस्मान्न भवतीति चेत्? न, अदृष्टविशेषसहायात् [9]ततस्तदुपगमात्। अत एवोक्तम्[10]–

"अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत्।" इति।

धर्मकीर्तिनाप्युक्तम्–

"व्यभिचारान्न वातादिधर्मः प्रकृतिसङ्करात्।
अदोषश्चेत्तदन्येऽपि धर्मः किं तस्य नेष्यते[11]॥
न सर्वधर्मः सर्वेषां समरागप्रसङ्गतः।

---

१ "चार्वाकवचः" - ता० टि०। तुलना–"वातप्रकृतेर्मोहः, पित्तप्रकृतेर्द्वेषः, कफप्रकृते राग इति"– प्र० वार्तिकाल० १।१४। "केचिदाहुः–श्लेष्मणः सकाशाद्रागः पित्ताद् द्वेषो वातान्मोह इति"– तत्त्वसं० पं० पृ० ५३८। २ 'कफः प्रकृतिः स्वभावो यस्य गर्भादिमरणपर्यन्तस्यात्मनः"– ता० टि०। ३ "रागादीनाम्"– ता० टि०। ४ –तुवत्वाप– आ०, ब०, प०। ५ कथन्न साम्येव त– आ०,ब०, प०। ६ अन्यथा दृश्यत एव आ०, ब०, प०। ७ –वे न क– आ०,ब०, प०। ८ –व्यादिरू– आ०, ब०, प०। ९ पृथिव्यादेः। १० न्यायवि० श्लो० २४६। ११ नेष्यते आ०, ब०, प०।

रूपादिवददोषश्चेत् तुल्यं तत्रापि चोदनम् ॥
आधिपत्यं विशिष्टानां यदि तत्र न कर्मणाम् ।" [प्र०वा०१।१५०-५२]

इत्यलं निर्बन्धेन । तत सङ्कल्पादेरेव रागादयस्ते च तत्कृतप्रवृत्तिविशेषादवधृतसन्निधानाः तद्धेतुं सङ्कल्पादिकमवगमयन्ति प्राग्भवीयमेव इहभवे तस्य तदभावादित्युपपन्नमेतत्-तद्विकृतेरित्यादि । यदि पुनर्भवान्तरानुभूतस्य स्मरणं किन्न[1] सर्वस्य ? किं वा सामान्यवन्न विशेषस्यापीति चेत् ? भवत्येव[2] यदि तादृशसंस्कारः, केषाञ्चित् स्वजात्यभिजनादिविशेषेऽपि तत्प्रतिपत्तेः । सामान्यमात्रे तु संस्कारे तस्यैव स्मरणं न विशेषादेः । तत्रापि तदभावे न कस्यचित् । कथं तर्हि सामान्यस्मरणाद्विशेषे प्रवृत्तिरिति चेत् ? नः तस्य तस्मादव्यतिरेकात् दृष्टत्वाच्च । तदेवाह—

तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषयोः ॥८६॥
भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदेष्विह च दृश्यते । इति

तच्च तत्प्रागनुभूतमाहारादि, आदिशब्दात् स्तनादि च, तदेवेह सामान्य तस्य स्मृतिश्च संस्कारात्, तस्याः स्मृतेर्विप्रमोषश्चानुत्पादस्तदभावात् तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषौ तयोः सतोर्यथाक्रमं वृत्तीनां विषयोपसर्पणादीनां भावः स्मृतौ अभावश्च तद्विप्रमोषे स च न केवलं बालवेलायामपि त्विह च मध्यदशायामपि, तच्चोभयं भेदेषु विशेषेषु न केवल सामान्यमात्रे । कथमेतत् ? तेषामस्मरणादिति चेत्; न; दृश्यते यतः । न हि दृष्टे पर्यनुयोगोऽतिप्रसङ्गात् । दृश्यते हि बन्धुरयं भवति न जाने पितृवर्गिणो मातृवर्गिणो वेति बन्धुत्वसामान्यस्मरणादपि लोकस्य तद्विशेषे प्रवृत्तिः, तद्वद् बालकस्यापि आहारादिविशेष इति न कश्चिदुपालम्भः । नन्वत्र तत्स्मृतौ तत्र तद्भाव एव वक्तव्यस्तत्रैव चोद्यात्, न तद्विप्रमोषे तदभावो[3] विपर्ययादिति चेत्, नः; प्रवृत्तीना तदन्वयव्यतिरेकानुविधानप्रतिपादनेन कार्यत्वज्ञापनार्थत्वात् तद्वचनस्य । एवमपि 'भूयस्तथा[4]दृशः' इत्यत्रैवं वक्तव्यं स्मरणप्रस्तावात् न रागाद्यभिधानात् परत इति चेत्, न, स्मरणस्यापि रागादिव्यवधानेनैव तत्कारणत्वमिति निवेदनार्थत्वात्, तथा वचनस्य । न हि स्मरणमात्रात् क्वचिद् व्यवहारो रागाद्यभावे । तत एवोक्तम् 'स्मरणादभिलाषे व्यवहारः' इति । उपसंहरन्नाह—

तस्मात् संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ॥८७॥ इति ।

तस्मादात्मनोऽनादिनिधनस्याप्रतिक्षेपात् कर्मणश्च संसारहेतोरवकल्पनात् संसारस्य[5] वैचित्र्यं सकलविकलेन्द्रिययोर्विकलसकलेन्द्रियत्व तिर्यगादेर्मनुष्यादित्वं मनुष्यादेस्तिर्यगादित्वमित्यादिरूपवैश्वरूप्य न विहन्यते न विघात गच्छति । कुतः ? नियमात् प्रमाणतस्तद्विघातस्य निषेधात् । व्याहतमेव पिपीलिकाजीवस्य तच्छरीरपरित्यागेन ह[6]स्तिशरीरसञ्चरणम् अल्पीयसस्तस्य तद्व्याप्तित्वासम्भवात् तद्व्यापिनश्च जीवस्य[7] भवद्भिरभ्युपगमादिति चेत्; अत्राह—

१ किन्न सा- आ०,ब०, प० । २ भवतु आ०, ब०,प० । ३ चोद्याभावात् । ४ -था तादृश आ०, ब०, प० । ५ -सारवै- आ०, ब०, प० । ६ -स्य न शरीरवद्भिः आ०, ब०, प० ।
७ "जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो । -ता० टि० ।

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे । इति ।

पूर्वस्माद्देहादन्यो देहस्तदन्तरं तस्य परिग्रहे न च नैव कश्चिदनिर्दिष्टनामा विरोधोऽस्ति विद्यते । तथाहि–न तत्र प्रमाणबाधो विरोधः, प्रमाणेन तस्यावस्थापनात् । नोप्यल्पेन[1] महतो व्याप्त्याऽनुपपत्ति, महतो महत्त्वेनैव व्यापनात् । तदेवाल्पस्य सतः कुत इति चेत् ? प्रदेशविसर्पणादिति ब्रूमः । न चेदं वाङ्मात्रम्, इहापि दर्शनात् । दृश्यते हीदम् इहापि बालजीवस्य युवादिदेहव्यापित्वं तद्विसर्पणात्, तद्वत् पिपीलिकाजीवस्यापि हस्त्यादिशरीरव्यापित्वम्, एवं महतस्तस्याल्पशरीरमात्रावस्थानं तदुपसंहारादिति प्रतिपत्तव्यम्, उपसंहरणविसर्पणधर्मत्वाज्जीवस्य[2] । न चैवं तदुपसंहारविसर्पणयोरक्रमः; [3]तत्सचिवस्य कर्मणः सूक्ष्मबादरस्वभावस्य क्रमात् क्रमस्यैवोपपत्तेः प्रदीपवत् । दृश्यते हि प्रदीपे तत्क्रमात् तयोरपि क्रमः । तदुक्तम्–"प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।" [त०सू० ५।१६] इति । तदेवम् 'इह च दृश्यते' इत्यनेन तत्परिग्रहमुपपाद्य तदन्तरेणाप्युपपादयन्नाह–

तदभावे हि तद्भावप्रतिषेधो न युक्तिमान् ॥ ८८ ॥ इति ।

तस्य देहान्तरपरिग्रहस्याभावे हि यस्मात्तद्भावस्य तत्परिग्रहभावस्य प्रतिषेधो न युक्तिमान् । अतस्तत्र न कश्चिद्विरोध इति । तथाहि–तस्य प्रतिषेद्धा न तावदचेतनः[4], चेतनोऽपि न क्षणक्षयी; तस्यापि लोकान्तरवदप्रतिपत्तेः । अक्षणिक एव गर्भमरणावधिरिति चेत्; न; बालादिशरीरत्यागेन कुमारादिशरीरान्तरपरिग्रहाभावे तस्यासम्भवात् । भवत्वयम् [6]इदम्भविनो दृष्टत्वात् न भवान्तरिण, तस्यैवासिद्धेरिति चेत्, इदम्भविनोऽपि कुतः सिद्धिः ? प्रत्यक्षादेव स्वसंवेदनलक्षणादिति चेत्; न, तेनापि मरणावधेरप्रतिपत्तेः[5], अन्यथा जीवितव्यप्रमाणे न कस्यचिदपि सन्देहः[7] स्यात्–'कियान् मम जीवितव्यकालः' इति । नापि तत्कालभाविषु सेवाकृष्यादितद्व्यापारेषु[8], इति व्यर्थं तत्परिज्ञानाय ज्योतिर्विदाद्युपासनम् । तत्र बालकस्य प्रत्यक्षतो भाविदशाप्रतिपत्तिः यतः तात्कालिकापरापरशरीरोपादानं तद्दृष्टितयाभीष्येत । नापि वृद्धस्य ततः प्राच्यदशापरिज्ञानम्, तात्कालिकीनां तच्चेष्टानामवधारणापत्तेः । माभूत् ततस्तद्ग्रहणं प्रत्यभिज्ञानात्तु भवत्येव 'स एवाहं वृद्धो यो बालादिरभूवम्' इति तस्योत्पत्तेरिति चेत्; न, तस्यापि प्रत्यक्षत्वे पूर्ववद्दोषात्, प्रमाणान्तरत्वस्य चानभ्युपगमात् इति । अपि चैवं सिद्धो भवान्तरी[9], तस्यापि तत एवाधिगमस्याभिहितत्वात् । तथापि तस्याभावे नेदम्भव्यपि कश्चिच्चेतन इति कुतस्तत्परिग्रह[10]प्रतिषेधः तस्य प्रतिषेद्धुरभावेऽनुपपत्तेः । ततः [11]प्रतिषेधादपि सिद्धः प्रतिषेद्धुरिव[12] तस्यापि तत्परिग्रहः । तत्सिद्धौ कथं प्रतिषेधो यतस्तत्साधन विरोधादिति चेत् ? न, तदभिनिवेशस्य तत्त्वेनाभिधानात् तथ च तत्राविरोधात् । ततः स्थितम्–'तदभावे हि' इत्यादि । जातीत्यादयश्च व्याख्यानश्लोकाः, 'कारणं

---

१ नाप्यकल्पेन आ०, ब०, प० । २ तज्जीवस्य आ०, ब०, प० । ३ सहकारिक्रमात् संहारविसर्पयोरपि । ४–नो नापि क्षण– ता० । ५–वधेरि– आ०, ब०, प० । ६ इहभवभाविनः । ७ सन्देह इत्यन्वयः । ८–ष्टानामनवधार–आ०, ब०, प० । ९ भवान्तरे त–आ०, ब०, प० । १० जन्मान्तरपरिग्रह । ११ प्रतिषेद्धापि सि– आ०, ब०, प० । १२–द्धुरेव त–आ०, ब०, प० ।

नाक्षसङ्घातः' इत्यादेरर्थस्य तैर्व्याख्यानात् । तस्माद्बुद्धिरियं पुरुषस्यैव स्वभावो न पृथिव्यादेः ।

चार्वाकस्तत्स्वभावत्वे दूषणमाह—

बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया ।
[न भवेत्परिणामित्वाद्विनाशानुपलक्षणात्] ॥ ८९ ॥ इति ।

बुद्धेरवग्रहादिज्ञानस्य, पुरुष आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्यास्तस्या भावः पुरुषतन्त्रत्वम् । "गुणस्त्वते" [शाकटा० २।२।४५] इति पुम्भावः, यस्य वा इत्यन्यपदार्थसामान्येन व्युत्पाद्य पुनर्भावप्रत्ययान्तस्य बुद्धेरित्यनेन सम्बन्धः, तस्मिन् पुरुषतन्त्रत्वे बोद्धा पुरुष इति तद्विशेषणत्वे सति तदनुक्रिया तेषां बुद्धिकार्याणाम् अनु क्रमेण क्रिया करणं न भवेत् एकदैव स्यात् । कुतः ? नित्यत्वात् । बुद्धेरिति सम्बन्धः । एवं मन्यते बुद्धेरात्मस्वभावत्वमभ्युपगन्तव्यम् तत्तन्त्रत्वात्[1], भेदे तदनुपपत्तेः । समवायाद्भेदेऽपि तदुपपत्तिरिति चेत्; न; सत्यपि तस्मिन् 'तत्र बुद्धिः' इत्येव स्यात् तस्य इहेदम्प्रत्ययहेतुत्वात्, न तु 'स बोद्धा' इत्यविष्वग्भावस्यावगमः । सोऽपि तत[2] एव नाविष्वग्भावादिति चेत्, बुद्धिस्वरूपेऽपि तर्हि तत एव तदवगम इति नैका[3] बुद्धिर्भवेदित्यनुपपन्नमिदम्—"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायसू० १।१।१६] इति युगपदेव तदुत्पत्तेरेवं सम्भवात् ? बाधकाभावान्न तत्रायं प्रसङ्ग इति चेत्; न, इतरत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पुरुषबुद्ध्योरप्यविष्वग्भावे बाधकमुत्पश्यामः । पुरुषस्य बुद्धिरिति भेदप्रत्ययो बाधक इति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षरूपस्याभावात्, कल्पनारूपस्य चावस्तुविषयत्वात्, बुद्धेर्व्यापार इत्यपि तद्भावात् । तन्न भेदे तस्यास्तन्त्रत्वमित्यभेद एवाभ्युपगन्तव्यः । तत्र च पुरुषवत् बुद्धेरपि नित्यत्वात् न तत्कार्याणां क्रमः तत्करणस्वभावायास्तस्या अक्रमात् । ततो भिन्न एव परापरस्तत्करणस्वभाव इति चेत्, कथमसौ तस्याः ? तत्र समवायाच्चेत्; न, तन्निषेधात् । तत्कार्यत्वाच्चेत्; न, तस्य अक्रमायास्ततोऽनुत्पत्तेः[5] । तस्याप्यपरतस्तत्स्वभावात्[6] उत्पत्तिकल्पनायामनवस्थादोषात् । तत एव कार्योत्पत्तौ[7] अव्यवस्थान्न बुद्धिः प्राप्नुयात् । ततो बुद्धेरेव तदुत्पत्तिरिति परापरतत्कार्याणां युगपदेव प्रादुर्भावेण भवितव्य तथा च कथं तस्याः संसारः ? परापरदेहेन्द्रियादिसञ्चारे सत्येव तदुपपत्तेरिति[8] । युगपच्च कार्योत्पत्तौ अवस्तुत्वं च तस्याः पश्चादाप्नोति निर्व्यापारत्वात् व्योमकुसुमादिवत् । तदेवाह—तदनु तदनुत्पत्त्यनन्तरं क्रिया व्यापारो न बुद्धेरिति । एतच्च समानश्रुतिकत्वादेकोच्चारणगम्यमन्यदेव वाक्यम् । तथा च यतः सर्वकार्याणां युगपदुत्पादः ततस्तदनन्तर क्रिया नेति पूर्वोत्तरयोस्तदर्थयोर्हेतुहेतुमद्भावः प्रतिपन्नो भवति । एव चार्वाकोक्तमिति चेत् इत्याशङ्क्य समाधानमाह—'परिणामित्वात्' इति । अत्र नेत्यनुवृत्तम् । तदयमर्थः—यदुक्त नित्यत्वादिति, तन्न, कुतः ? परिणामित्वात् पूर्वाकारपरित्यागाजहद्वृत्तोत्तराकार-

---

१—दभेदे चतदनु—आ०, ब०, प० । २ समवायादेव । ३ बुद्धिस्वरूपस्य बुद्धेरविष्वग्भावावगमार्थम् इहेदम्प्रत्ययमूलकसमवायबुद्धिरन्वेष्या इत्यनेकत्व बुद्धेः । ४ बुद्धिस्वरूपे । ५— नुपपत्तेः आ०, ब०, प० । ६— परतत्स्व— आ०, ब०, प० । ७ —त्तौ व्यवस्था च आ०, ब०, प० । ८ तदुपपत्तेरिति आ०, ब०, प० ।

गमनवत्त्वाद् बुद्धेरिति । न हि बुद्धेरन्यस्य वा तदभावे वस्तुत्वम् । अर्थक्रियया हि[1] वस्तुत्वम् । न नित्ये तत्क्रिया; युगपत्तद्भावे पश्चादवस्तुत्वस्योक्तत्वात् । अक्रमाच्च तत[2] क्रमतस्तदयोगात् । युज्यत एव ततोऽपि तत्क्रमः सहकारिक्रमादिति चेत्; कथं पुनस्तत्[3]क्रमाद्भवन् ततोऽपीति । न ह्यन्यतो भवंस्तदन्यस्मादपि[4]; अतिप्रसङ्गात् । तत्[5]क्रमस्यापि नित्यसहितस्यैव तत्र व्यापारादिति चेत्; तर्हि तद[6]क्रमादक्रमः सहकारिक्रमाच्च क्रम इत्यागतं तत्क्रियाया काचपच्यम् । सहकारिक्रमानुकूल्येनैव नित्यस्य तत्र व्यापारो न स्वकीयक्रमानुकूल्येन ततोऽयमदोष इति चेत्; नेदानीं त[7]स्य तत्कारणत्वं स्वभावानुकूल्येन प्रवृत्तावेव तदुपपत्तेः, अन्यथातिप्रसङ्गात् । किञ्च, तस्य तदानुकूल्यं यदि तत्क्रमात्, प्रागपि कुतो न कार्यम् ? तत्क्रमस्याऽभावादिति चेत्; व्याहतमेतत्—स च नास्ति तदानुकूल्यं च तस्यास्तीति, आनुकूल्यस्य आनुकूलयितव्ये सत्येवोपपत्तेः । तत्क्रमकाल एव तदपीति चेत्; कथं नित्यस्य नित्यत्वम् ? तत्स्वभावकादाचित्कत्वे त[8]दनुपपत्तेः । स्वभावोऽपि त[9]त्तस्य न भवति भिन्नत्वादिति चेत्, कथं तेन नित्यमेव तत्क्रममनुकूलयति न सहकारी तदक्रमम् । नित्य एव तस्य सम्बन्धादिति चेत्; न; अनुत्पन्नस्य तदयोगात् । उत्पत्तिश्च यदि नित्यादेव; कथं तस्यापि क्रमः ? सहकारिक्रमादिति चेत्; न, तत्रापि अपरानुकूल्यकल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः । अन्यतस्तु उत्पत्तौ न हि तन्नित्यस्य । समवायस्यापि तदुत्पन्नस्यैव तत्रोपपत्तेः । तत्र तदानुकूल्येन तस्य प्रवृत्तिरिति न निवृत्तिः काचपच्यात् ।

एतेन सामग्री कारणमिति प्रत्युक्तम्; तस्या अपि नित्यतत्सहकारिकारणव्यतिरेकेणाभावात् । भावे वा तत एव तदुत्पत्ते कथं नित्यस्य तत्सचिवस्य वा वस्तुत्वम् ? तस्या अपि त[10]त्सहिताया एव तत्र व्यापारादिति चेत्; अनिवृत्तकाचपच्यैव पुनरपि तदुत्पत्तिर्भवेत् । अपि च, सामग्र्या अपि न नित्यत्वम्, तस्याः स्वतः परापेक्षतया च हेतुत्वे पूर्ववत् प्रसङ्गात् । सामग्रीतत्सचिवेष्वपि सामग्र्यन्तरपरिकल्पनायाम् अव्यवस्थितेश्च । अनित्यैव सा, नित्याच्च सहायवत् उत्पद्यते इति चेत्; न ततः सामग्र्यन्तरव्यवहितात्; अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदव्यवहिताच्चेत्; व्यर्थैव सामग्री ततस्तद्वदर्थक्रियाया एवोत्पत्तेः । तत्र नित्यत्वे तत्क्रम । परिणामित्वे तु भवति परापरस्य तत्स्वभावस्य तद्धेतोस्तत्र भावात्, सहकारिप्रतीक्षायाश्च तत्कृतोपकारस्वीकारित्वेनाविरोधात् । नित्यत्वे तु न तथा तत्प्रतीक्षणं तद्व्याघातात् । इत्युपपन्नमुक्तम् 'परिणामित्वात्' इति ।

नित्यत्ववत् परिणामित्वमपि न सम्भवति भावेषु, तस्य संशयादिदोषप्रसङ्गनिगलितसकलाङ्गत्वात्, तत एकान्तभङ्गुरत्वमेव तत्राङ्गीकर्तव्यमिति चेत्; अत्राह— 'विनाशानुपलक्षणात्' इति । विनाशो बुद्धेर्निरन्वयो विच्छेदः तस्योपलक्षणं निर्णयः तदभावात् परिणामित्वम्, [11]ततश्च नित्यत्वमित्यनुगमः । न खलु तदस्ति प्रमाणं यतस्तस्योपलक्षणम् ।

---

१ हि तत्र च आ०, ब०, प० । २ नित्यात् । ततस्तदयो- आ०, ब०, प० । ३ सहकारिक्रमाद्भवन् । ४- स्मादतिप्र- आ०, प० । ५ सहकारिक्रमस्यापि । ६ नित्यवस्तुनोऽक्रमात् । ७ नित्यस्य । ८ नित्यत्वानुपपत्तेः । ९ तद्गतस्तस्य आ०, ब०, प० । १० नित्यसहितायाः । ११ ततश्च न नि- ता० ।

अपि इति परामर्शाभिमुख्ये । परस्य सौगतस्य सम्बन्धिना व्यवहाराणां पानभोजनादीनामविरोधो विरोधाभाव. । कुतः ? फलञ्च हेतुश्च फलहेतू, हेतुशब्दस्य घ्यन्त्यत्वेऽपि न पूर्वनिपातः, स्वकल्पे "लक्षणहेत्वोः" [पाणिनि० ३।२।१२६] इति प्रयोगदर्शनात् । तयोर्व्यपोहः तदहेतुफलव्यावृत्तिपरिकल्पितः सन्तानस्तत्कल्पिते तद्व्यपदेशात्ततः तमाश्रित्य प्रवृत्तेः पानादिहेतुषु लोकस्य प्रवर्तनात् । यावत्ततः तावत्तात्त्विकादिव हेतुफलतादात्म्यात् किन्न प्रवृत्तिरिति चेत् ? अत्रापि इदमेव कृतानुवृत्तिकमुत्तरम्—'फलहेतु' इत्यादि । अयमर्थः—फलहेत्वोर्व्यपोहः परस्परात्मन्यभावस्ततः प्रवृत्तेः अन्यथा तदयोगात् । तथा हि—यदि हेतौ च फलम् ; न प्रवृत्तिः, तद्वत्तस्यापि दर्शनात्, प्रवृत्तेश्च तदर्थत्वात्, दृष्टेऽपि प्रवृत्तौ अनवस्थानात् । फलेऽपि यदि हेतुः, कथं प्रवृत्तिः ? फलवत्तस्याप्यनुपलम्भात्, तदुपलब्धावेव तदुपपत्तेः, आकाशचर्वणस्य प्राकृतेष्वप्यप्रतिवेदनात् । ततः प्रवृत्तेर्हेतुफलयोरन्योऽन्यात्मन्यभाव एव । तथापि कथमन्यदर्शनादन्यार्थितया प्रवृत्तिरिति चेत् ? न; सन्तानादिति दत्तोत्तरत्वात् । ततोऽपि कथ भेदाविशेषादिति चेत् ? न, दृष्टत्वात् । दृष्टा हि लोकस्याभेदकल्पनायां प्रवृत्तिरिति । 'चेत्' इत्याशङ्क्य परिहरन्नाह—'अविनाशेऽपि सम्भवात्' इति । अत्र सिंहावलोकितेन वक्ष्यमाणस्य नञः सम्बन्ध. । ततो यत् 'परस्य' इत्यादि, तन्न; कुतः ? एकान्तविनाशात् अन्यत्वात् कथञ्चिद्विनाशे अविनाशः तस्मिन्नपि न केवलं तदपोहे सम्भवात् प्रवृत्तेः तदपोहे तदभ्युपगम. परस्य चित्तमरणायैव न वस्तुतः तस्यैवाभावात् । अविनाशस्य च निरूपितत्वात् निरूपयिष्यमाणत्वाच्च । इदमेव श्लोकैः व्याचिख्यासुः 'फलहेतुव्यपोहतः' इत्यस्य द्वितीयमर्थं दर्शयन्नाह—

यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः ।
तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥ ९१ ॥ इति ।

यथा येन दृश्यानुपलब्धिप्रकारेण न सन्ति न विद्यन्ते कलशादयः । क्व ? अजनकजन्येषु अतद्धेतुफलेषु कुलिशकरणादिषु तथा तेन प्रकारेण जनकजन्येषु तद्धेतुफलेषु पिण्डकपालादिषु न सन्ति कलशादयः इति सम्बन्ध. । प्रयोगश्च—यद्यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा अतद्धेतुफलेषु कलशादय, उपलब्धिलक्षणप्राप्ताश्च ते नोपलभ्यन्ते तद्धेतुफलेष्वपीति । ततस्तस्मात् निरन्वयम् अन्वयान्निष्क्रान्तं तत्त्वं स्वरूपम्, कलशादीनामिति विभक्तिव्यत्ययेन सम्बन्धः । सत्येवं यत्सिद्धं तदाह—

तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे । इति ।

तत्र तेषु जनकजन्येषु नाश आदिर्येषां प्रागभावादीनां तेषां शब्दाः समिताः सङ्गताः भवन्तीति शेषः । न केवलं प्रवृत्त्यादिरेवेति चशब्द. । सत्येव हि तदभावे प्रागभावोपादानादिशब्दा

१ –कल्पत– ता० । २ कृतानिवृत्ति– आ०, ब०, प० । ३– तस्याप्यनु– आ०, ब०, प० । ४ "विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः ।"– ता० टि० । प्रकृते– आ०, ब०, प० । ५ करिणादि– ता० । वज्रशरीरेन्द्रियादिषु । ६ ततस्तत्त्व नि– ता० ।

जनकेषु, जन्येषु च नाशोपादेयादिव्यपदेशाः लोकसङ्केतप्रसिद्धाः संगच्छन्ते नान्यथेति परस्य भावः। कस्मिन् सति ? समनन्तरे समानि सदृशानि अनन्तराणि अव्यवहितानि जनकजन्यानि यस्मिन् सन्ताने तस्मिन्निति। पररूपत्वमत्र शकन्धूवत्[1] प्रतिपत्तव्यम् उपसर्गस्य[2] सदृशार्थत्वम्। अनेन 'फलहेतुव्यपोहतः' इत्यस्य प्रथमोऽर्थो दर्शितः।

तदेवं परमतमुपदर्श्य अल्पवक्तव्यत्वात् तत्रेत्यादि निराकुर्वन् विनाशं पृच्छति–

अन्यस्यान्यो विनाशः किं [किन्न स्यादचलात्मकः] ॥९२॥ इति।

अन्यस्य कलशादेः अन्यः कपालादिर्विनाशः। उपलक्षणमिदं तेन प्रागभावोऽप्यन्यो मृत्पिण्डादि। किम् इति प्रश्नयित्वा दूषणमाह–'किन्न स्यादचलात्मकः' इति। किं न स्यात् ? स्यादेव, अचलात्मकः अचलस्वभावः कलशादिः। नहि तदन्यप्रादुर्भावे तस्य[3] विनाशः; [4]त्रैलोक्यस्यापि तत्प्रसङ्गात् तदविशेषात्। नापि तदन्यभावः तत्प्रागभावः; जगतोऽपि तदेकप्रागभावत्वापत्तेः। तथा च तदुपमर्दनादेव तस्योत्पत्तेः तदेकसन्तानत्वमिति नावकाशः तन्नानात्वकल्पनस्य। ततः प्रागभावादिवैकल्ये सति विद्यमानत्वाद् अवश्यंभाविनी तस्य कूटस्थता। इत्युपपन्नमेतत्– 'किन्न स्यादचलात्मकः' इति। पर इदं परिहरन्नाह–

तद्विवेकेन भावाच्चेत् [कथन्नातिप्रसज्यते]। इति।

तस्य कलशादेर्विवेकेन पूर्वापरविच्छेदेन भावो भावनमवधारणम्, ण्यन्तादच्प्रत्ययः तस्मात् 'न स्यादचलात्मकः' इति सम्बन्धः। न हि विविक्ततया भाव्यमानस्याचलात्मकत्वं पूर्वापराविवेके सत्येव तदुपपत्तेः। अत्र 'चेत्' इत्याशङ्क्योत्तरमाह–

कथं नातिप्रसज्यते।

सदापि [सर्वभावानां परस्परविवेकतः] ॥ ९३ ॥ इति।

सदापि सर्वकालमपि पूर्वापरकालवत् मध्यकालेऽपि कथं तद्विवेके नातिप्रसज्यते अतिप्रसज्येत[5] एव। एवं मन्यते–न तावत्तस्य तद्विवेक पूर्वापरक्षणलक्षणः, तस्य प्रतिक्षिप्तत्वात्। अतः स एव तस्य प्रागभावः प्रध्वंसश्चेति, स्वतोऽपि तस्य विवेकान्न क्षणभङ्गवादः शून्यवादमतिशेते इति। परमप्यतिप्रसङ्गं दर्शयति–'सर्व[6]भावानाम्' अत्रापि सदापीति सम्बध्यते मध्येकरणात्। तदयमर्थः– आप्तिर्व्याप्तिः पूर्वापरानुगमः आपः स विद्यतेऽस्येति आपि तदन्वयिरूपं सत् विद्यमानं न कल्पितं कथं नातिप्रसज्यते ? केषाम् ? सर्वभावानां चेतनेतरात्मनामर्थानाम्। अत्र हेतुमाह– 'परस्परविवेकतः' इति। परस्परमन्योऽन्यं जैनसौगताभ्यां विवेकतो विनिश्चयात् 'सदापिनः' इति विभक्तिविक्रियया सम्बन्धः। अस्ति जैनवत् सौगतस्यापि तद्विनिश्चयः, अन्यथा क्षणविवेके निर्विवादात् अनुमानकल्पनावैफल्यापत्तेः। सतोऽपि तस्य लूनपुनरुत्पन्नकेशादिवद् भ्रान्तत्वान्न

---

१ "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्"– कात्या० वा० १।१।६४। २ 'सम्' इत्युपसर्गस्य। ३ अस्य आ०, ब०, प०। ४ त्रैविध्यस्या– आ०, ब०, प०। ५ –त एवं आ०, ब०, प०। ६ अन्वयस्य।

तद्विषयस्य सत्त्वमिति चेत्, विवेकस्यापि न स्यात्, तन्निश्चयस्याप्यसत्येव तस्मिन् द्विचन्द्रादौ दर्शनात्। बाध्यमानत्वात्तत्रैव तस्य भ्रान्तत्वं नान्यत्रेति चेत्, न, अनुगमेऽपि तुल्यत्वात्—तन्निश्चयस्यापि तत्केशाद्यनुगम एव बाधोपलम्भात् न पूर्वापरानुगम इति। तत्र तत्र विवेकभावनादचलात्मकत्वपरिहारः शून्यवादप्रसङ्गाद्विपर्ययसिद्धेश्च।

साम्प्रतं विवेकमभ्युपगम्य 'जनकजन्येषु' इत्येतन्निराकुर्वन्नाह—

न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक्। इति।

न च नैव अनन्तरम् अव्यवधानम् इत्येव हेतोः भावः पिण्डकपालादिः तद्व्यपदेशं कलशाद्यपेक्षया जनकजन्यव्यपदेशं भजत इति तद्भाक्, सर्वस्यापि तत्पूर्वापरकोटिगतस्य जगत्क्षणस्य तद्भाक्त्वापत्तेः आनन्तर्याविशेषादिति भाव।

परो विशेषं दर्शयति—.

तत्प्रतीत्य समुत्पादात् [भावश्चेत् स कुतो मतः] ॥९४॥ इति।

तत् पिण्डादिकं प्रतीत्य समनन्तरप्रत्ययं कृत्वा कलशादेः, तच्च प्रतीत्य कपालादेः समुत्पादाद्भावः तद्व्यपदेशभाक् न च सर्वं प्रतीत्य तस्योत्पादो यतस्तद्भाक्त्वस्यातिप्रसङ्ग इति मन्यते। तमेवेति 'चेत्' इत्याशङ्क्य प्रश्नयन्नाह—'स कुतो मतः' इति। स प्रतीत्यसमुत्पादः कुतः कस्मान्निमित्तात् नियतविषयो मत इति।

परस्तदाह—

सादृश्यात् [प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम्]। इति।

सादृश्यं पिण्डकपालादीनां सारूप्य तस्मात् स मत इति। तत्रोत्तरमाह—'प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम्' इति। न हि सादृश्य प्रत्यभिज्ञानादन्यत शक्यमवगन्तुं प्रत्यक्षस्यासाधारणविषयत्वेन तत्राप्रवृत्तेः, अनुमानस्य च तत्पूर्वकत्वात्, न च तत्परस्य सम्भवति। कुतः? सभागनिबन्धनं सहभागयोः तदिदमिति चाशयोर्निबन्धनेन एकत्वरूपेण वर्तमान निबन्धन यत इति। तथापि कथं तत्र परस्येति चेत्? न; अनेकान्तविद्वेषात् स्वय च तद्भागभेदवत् तस्यापि भेदकल्पनया निराकरणात्। चित्रज्ञानवादिन सम्भवत्येव तदिति चेत्, अत्राह—

विशेषकल्पनायां स्यात् परस्याव्यभिचारिता ॥९५॥ इति।

विशेषस्याकारभेदस्य प्रत्यभिज्ञाने कल्पनायां परस्य अक्रमानेकान्तादन्यस्य क्रमानेकान्तस्य स्यात् भवेत् अव्यभिचारिता सर्वभावेष्वविचलितत्व युगपदिव क्रमेणाप्यनेकान्तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। कथमशक्यत्वं यावता नित्यानित्ययोरेकत्वे तदुपपत्ति, नित्यानित्ययोरिति चोपलभ्यानुपलभ्ययोरित्यर्थः, तयोश्चैकत्वमसम्बद्धम्। तदुक्तम्—

---

१ –तितद्वि-प०। २ भ्रान्तत्वान्नान्य–आ०, ब०, प०। ३–द्भावकस्यापि प्रसङ्गत इति आ०, ब०, प०। ४ तत्प्रतीतेः प०। ५–ल्पनाया नि– आ०, ब०, प०।

"यदि नित्यमनित्यं चैकमेव तदा प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं चैकमिति प्रसक्तं तथा च असम्बद्धं प्रतीयमानमेकत्वेनान्यथा[1] न शक्यं प्रतिपत्तुं नाप्रतीतमेव प्रतीतम् ।" [प्र० वार्तिकाल० १।२०५] इति चेत्; तदसङ्गतम्, यस्मात् न[2] ह्युपलभ्यत्वं नित्यत्वम्, अनित्यत्वं वा तद्विपर्ययः; स्वलक्षणस्यापि नित्यत्वापत्तेः, अनित्यत्वे वाऽनुपलभ्यत्वानुषङ्गात्, अपि त्वनुगमान्नित्यत्वं व्यावृत्तेश्चानित्यत्वम् अनुगमव्यावृत्ती च सुवर्णरुचकाद्यपेक्षया नैकत्रापि विरुद्धे । न च रुचकादेर्व्यावृत्तिमतः प्रतीतस्येतरस्य च परस्परमेकत्वं जैनस्य सम्मतम्, प्रत्यभिज्ञानाकारयोरिव भेदस्यैव भावात् । ततः 'प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं चैकम्' इति परमतानभिज्ञानादेव प्रतिपादितम् । रुचकादेः परस्परमिव सुवर्णादपि भेदे नैकं नित्यानित्यम्, अभेदे परस्परमप्यभेद एव अभिन्नादभिन्नस्य गत्यन्तराभावात्, तथा च नित्यमेव तत् नानित्यमपीति चेत्; न; प्रत्यभिज्ञानस्यापि एवमव्यवस्थितिप्रसङ्गात्–तदाकारस्यापि स इत्यादेः परस्परमिव ततोऽपि भेदे नैकं चित्रं सन्तानान्तरवत्, अभेदेऽपि स एव दोषस्तदन्यतमाकारवदिति अनवधारितस्यैव भेदेतरभावस्याभ्युपगमाददोष इति परिहारस्तु क्रमचित्रत्वमपि भावेषु परिपुष्णाति । सत्यमिदं यदि तथा प्रतिपत्तिः, न चैवम् । तदुक्तम्—

"केनचित्तस्य रूपेण नोपलब्धिः परान्यथा ।
अविचित्तिर्येन रूपेण तदस्येति कथं मतम् ? ॥
पूर्वं तेनास्य वित्तिश्चेत् पूर्वमेव तथा भवेत्[4] ।
इदानीं नैव, तद्रूपमस्येति कथमेकता ? ॥
एक पूर्वपराभ्यां चेद्रूपाभ्यामवियोगतः ।
वियोगे दृश्यमानेऽपि वियोगो न कथं मतः ॥
क्रमेणास्यावियोगश्चेद्वियोगोऽपि तथा भवेत् ।
अत एवोभयात्मत्वमवियोगवियोगतः ॥
यथैवास्याक्रमं सत्त्वं दृष्टिरस्य तथा भवेत् ।
अक्रमस्य च सत्त्वस्य न योगः क्रमभाविकः ॥" [प्र०वार्तिकाल० १।२०५]

इति चेत् ; नेदानीं प्रत्यभिज्ञानमपि । तत्राप्यस्य तुल्यत्वात् । तथा हि—

स इत्येव प्रतीतस्य ज्ञानस्यैवायमित्यपि ।
अप्रतीतः कथं नाम त्वयाकारः[3] प्रकल्प्यताम् ॥ १४३५ ॥

तस्याप्यन्यत्र वित्तिश्चेदन्यत्रैव भवेदसौ ।
स इत्यत्र तु नास्तीति कथं तस्य तदेकता ॥ १४३६ ॥

तदतद्देशकाभ्यां[5] तदेकं चेदवियोगतः ।
वियोगे दृश्यमानेऽपि वियोगो न कथं मतः ? ॥ १४३७ ॥

---

१ -था वा श- ता० । २ ननुपलभ्यत्वं नित्यमनित्यं वा आ०, ब०, प० । ३ -त्वाकार- आ०, ब०, प० । ४ पूर्वत्वेनाप्यवित्ति- आ०, ब०, प० । "पूर्वत्वेनास्य वित्तिः" वार्तिकाल० । ५ तदतद्देशकालाभ्या वैकं आ०, ब०, प० ।

देशक्रमादवीयोगे[1] वियोगस्तत्क्रमान्न किम् ।
अत एवोभयात्मत्वमवियोगवियोगतः ॥ १४३८ ॥
यथा तदक्रमं सत्त्वं दृष्टिरस्य तथा भवेत् ।
अक्रमस्य च सत्त्वस्यावियोगस्तत्क्रमात् कथम् ॥ १४३९ ॥ इति ।

ततो यथा प्रत्यभिज्ञानमितरेतरदेशपरिहारप्रतिपन्नैस्तदाकारैरेकं तथा सुवर्णादिकम् अन्योऽन्यकालपरिहारगतैरिति प्रतिपत्तव्यम् । कुतः पुनः रुचकादीनां पूर्वापरीभावस्य प्रतीतिः ? पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामिति चेत्; तद्भेदस्य कुतः ? स्वसंवेदनादिति चेत्; कथं ततो द्वित्वप्रतिपत्तिः अन्यगतस्यान्यत्राप्रवृत्तेः ? एकस्य च पूर्वपरीभूतस्याभावात् । एकमेव तत्तथाविधमिति चेत्; न, एकत्वे साक्षात्करणविषयतया पौर्वापर्यानुपपत्तेः । तदुक्तम्—

"यदि पूर्वापरीभावः केन तस्य प्रतीयताम् ।
प्राक्परप्रत्ययाभ्यां चेत्तयोर्भेदगतिः कुतः ॥
स्वसंवेदनभावाच्चेन्न स्याद् द्वित्वगतिस्ततः ।
न चाप्यविद्यमानस्य परपूर्वस्य तद्गतिः ॥
एकं संवेदनं तच्चेत् परपूर्वतयेष्यते ।
एकत्वे परपूर्वत्वं साक्षात्कृततया कथम् ? ॥" [प्र० वार्ति ।स्व० १।२०५]

इति चेत्, न; प्रत्यभिज्ञानेऽप्येवं प्रसङ्गात् । तथा हि—

सोऽयमित्यनयोर्देशभेदो गम्यः कुतस्त्वया ।
ताभ्यामेवेति चेद्द्वित्वं तयोर्विज्ञायता कुतः ॥ १४४० ॥
स्वसंवेदनभावाच्चेन्न स्याद्द्वित्वगतिस्ततः ।
नचाप्यविद्यमानस्य भिन्नदेशस्य तद्गतिः ॥ १४४१ ॥
एकं संवेदनं तच्चेद्भिन्नदेशतयेष्यते ।
एकत्वे भिन्नदेशत्वं साक्षात्कृततया कथम् ? ॥ १४४२ ॥ इति ।

ततो यथा प्रत्यभिज्ञानं स्वाकारे कंचिदाभिमुख्यमजहदेव तदन्तरं प्रत्येति युगपत्, तथा क्रमेणापि रुचकादिपर्यायपरिग्रहाभिमुख्यमपरित्यजदेव तदन्वयज्ञानमपरापरानपि स्वस्तिकादिपर्यायान् परिच्छिनत्तीति सुभाषितमेतत्—

विशेषकल्पनायां स्यात् परस्याव्यभिचारिता । इति ।

माभूत्प्रत्यभिज्ञानम्, युगपदपि चित्रैकस्यानभ्युपगमादिति चेत्; अत्राह—

तस्मात् सभागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ॥ ९६ ॥
न चेत् [स परिवर्तेन हेतुरेव फलात्मना] । इति ।

१–दवियोगे आ०, ब०, प० । "धमि उपसर्गस्य चेति सूत्रेण विकारस्य दैर्घ्यं च यथा अतिचारः अतीचार इत्यादिवत् ।"–ता० टि० ।

प्रत्यभिज्ञानमित्यनुवर्तते । **न चेत्** न यदि प्रत्यभिज्ञानम्, **तस्मात्** प्रत्यभिज्ञान **सभागानां** सदृशापरापरक्षणानां **सन्तानस्य कल्पनापि** अपि शब्दाद् व्यवहारश्च **न युज्यते** एवं मन्यते सति हि प्रत्यभिज्ञाने तदवगतसादृश्यायत्तोत्तप्रतीत्यसमुत्पादात् हेतुफलभावनियमः ततश्च तत्सन्तानकल्पना न चासतीति । संवृत्यैव तत्कल्पना न प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्; न; संवृतेरपि तद्रूपत्वात् । सा हि 'स एवाहं जलं पिबामि यः पूर्वं तदद्राक्षम्' इति मतिरेव । कथन्न प्रत्यभिज्ञा-क्षणानां पौर्वापर्य्यकल्पनं संवृतिरिति चेत् ? न; तत्रापि अस्मादिदं पूर्वमतश्चेदं परमिति प्रतिपत्तेः प्रत्यवमर्शत्वात् किं पौर्वापर्यस्य कल्पनेन ? तत्त्वत एव भावात्, अन्यथैकक्षणमेव जगत्प्राप्तम् । तथा चेत्; न कारणं कार्यं वा कस्यचिदिति कथं वस्तुत्वं यतो व्योमकुसुमादिकमतिशयीत ? कथं वा सुगतक्षणानां पौर्वापर्यं यत इदं शोभेत—

"तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ।" [प्र० वा १।२०१] इति ।

कल्पितमेव तत्रापि तदिति चेत्; न; स्वयं तस्याकल्पत्वात् । तस्माद्वासनोपप्लवाधिष्ठितो लोक एव तदपि कल्पयति । अत एवोक्तम्—

"न च पश्यति सन्तानं नापि कश्चित्प्रवर्तते ।
न तिष्ठति प्रमाभावात् केवलं भवतो भ्रमः ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१९६] । इति ।

इति चेत्; तात्त्विकमेव तत्र अन्यद्धन्यात् तत्कस्मान्न भवति ? तत्र प्रमाणस्य 'यदि पूर्वापरीभावः' इत्यादिना प्रतिक्षेपादिति चेत्; ननु सोऽपि प्रश्नस्तदुत्तरभावप्रवृत्तापरापरज्ञानरूप एव कथं क्वचित् तद्भावं प्रतिक्षिपेत् ? स्वयं तत्त्वतस्तद्रूपात्तदयोगात् । तस्यापि ताद्रूप्यमारोपादेव, वस्तु-तस्तत्रापि तस्य यदि इत्यादिनैव प्रतिक्षेपादिति चेत्; न; अनवस्थोपनिपातात् । ततो दूरं गत्वापि तात्त्विकमेव तत्र पौर्वापर्यमिति सिद्धस्तदात्मा परमार्थत एव सन्तानः । तस्य च न प्रत्यभिज्ञानादन्यतः प्रतिपत्तिः । तथा च सिद्धं तद्वदेव क्रमतोऽपि वस्तुषु वैचित्र्यम् । तदेवाह—'स परिवर्तेत हेतुरेव फलात्मना' इति । स कलशाऽवग्रहादिरेव हेतुरेव कारणमेव परिवर्तेत परिणमेत फलात्मना कपालेहादिफलरूपेण, न हेतोरन्य एव फलात्मेत्येवकारः । एतेन 'अविनाशेऽपि' इति व्याख्यातम् ।

कथ पुनर्हेतो फलात्मना परिवर्तनं प्रत्यक्षबाधनात्, तेन निरन्वयस्यैव विनाशस्य प्रति-पत्तेरिति चेत् ? अत्राह—

तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावः [तद्ग्रहः] ॥ ९७ ॥इति ।

तस्मात् पूर्वोक्तात्तुच्छविनाशाभावात् । उक्तं हि पूर्वम्—'न तुच्छो विनाशस्तस्य स्वप्रति-पत्तावप्यसामर्थ्यादसम्बन्धाच्च । न हि वस्तुना संयोगः सम्बन्धः; अद्रव्यत्वात् । नापि समवायः; तदधिकरणतया तस्याप्रतिपत्तेः । न च विशेषणभावः; 'तत्प्रतिपत्तौ तदनुरक्तस्य वस्तुनोऽपि नीलानु-

१ –तात्प्रती– ता० । २ प्रत्यवमर्शात् प० । ३ तत्त्व एवं ता० । ४–व तथान्यत्र वा तत्त्वा–आ०, ब०,प० । ५ ततस्तस्यापि तत्र य– आ०, ब०, प० । ६ कलशः कपालरूपेण अवग्रहश्च ईहारूपेण । ७ न्यायवि० श्लो० २।९० । ८ –नास्य तयो– आ०, ब०, प० ।

रक्तोत्पलवत् प्रतीतिप्रसङ्गात्' इति। नित्यश्चासौ भवेदकार्यत्वात् आकाशादिवत्। कार्यमेवासौ मुद्गरादेरुत्पत्तेरिति चेत्; कुतस्तत्प्रागभावस्य विनाश.? तदभावे तदुत्पत्तेरयोगात्। तत एव मुद्गरादेरिति चेत्; न; पुनस्तत्प्रागभावविनाशस्यापि तत एव भावे युगपदनेकविनाशप्रतीतिप्रसङ्गात्। न चैकहेतुका युगपदनेककार्योत्पत्ति.; सामग्रीभेदादेव तदुपदर्शनात्। घटादिरेव तस्य प्रागभावस्ततस्तद्विनाश एव तस्यापि नाश इति चेत्; नन्वेवं विनाशोऽपि भावरूप एव स्याद् अभावत्वात् प्रागभाववत्। ततः कलशादिरेवायं न तुच्छः। तस्मात् भावस्य घटादेर्विनाशोऽयम् उभयसम्मतः फलीभावः अफलस्य सतः फलतया भवनम्। कुत. पुनः च्विग्रहणं न 'फलभाव.' इत्येवोच्येत, फलस्यैव हेतुविविक्तस्य तद्विनाशत्वादिति चेत्? न; दत्तोत्तरत्वात्—'अन्यस्यान्यो विनाशः किम्' इत्यादिना[3]। फलभावप्राप्तिरेव विनाश इति ज्ञापनार्थमुपपन्नं तद्ग्रहणम्। अथवा तस्मादिति समागसन्तानकल्पनादिति प्रतिपत्तव्यम्। न हि तत्कल्पनं हेतोः फलभावपरिवर्तनामन्तरेण सम्भवति। सम्भवत्येव हेतुफलविविक्तस्य भावादिति चेत्, न; सुगतेतरज्ञानयोरपि तत्प्रसङ्गात्। अनुपादानोपादेयत्वान्नेति चेत्; तदेव कुतः? सादृश्याभावादिति चेत्; न, सुगतज्ञानेनेतरस्याप्रवेदनोपनिपातात्[4]। सादृश्यविशेषाभावादिति चेत्; कस्तर्हि तद्विशेषोऽन्यत्र कथञ्चिदभेदादिति युक्तं तत्कल्पनादपि तस्य तदात्मना परिवर्तनोपादानम्, प्रत्यक्षप्रतिपत्तेरपि तत्र समर्थनात्। ततः किम्? इत्याह—

तद्ग्रहः।

तद्ग्रहः [प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निबन्धनः]। इति।

तस्य भावस्याग्रहोऽप्रतिपत्तिः तद्ग्रहः फलीभावस्य ग्रहो[5] न ग्रहनिवृत्तिमात्रम्। नाप्यन्यग्रह इति यावत्। एवमपि भवतु तत्र फलीभावव्यवहारः, विनाशव्यवहारस्तु कथम्? तद्भावस्याविनाशरूपत्वात्। अत्राह-'प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निबन्धनः' इति। प्रतिषेधः तद्व्यवहार. अस्य भावस्य केवलं नान्यनिमित्तोऽपि तु तन्निबन्धनः फलीभावग्रहनिमित्तकः तत एव लोकैस्तद्व्यवहारस्य प्रवर्तनादिति भावः।

साम्प्रतं हेतुफलयो पराभिप्रेतमन्यत्वव्यवस्थापनं दर्शयति—

अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ॥ ९८ ॥
अन्य एवेति किन्नेष्टमिति केचित्प्रचक्षते।

अन्यथात्वम् अन्यप्रकारत्वं यदि चेत् इष्येत हेतोः विवक्षितफलजनकस्य अतज्जनकादिति सामर्थ्याद् गम्यते। किमिति तदिष्यते इति चेत्? अन्यथा हेतुत्वासम्भवात्। न हि शालि-

१ ततश्च त- आ०, ब०, प०। २ फलीभाव इत्यत्र च्विप्रत्ययग्रहणम्। स एव ग्रह- प०। ३ न्यायवि० श्लो० २।९० । ४ तदाकारत्वाभावादिति शेषः। ५ ग्रहो नाग्रह इति आ०, ब०, प०। ६ एतदपि भ- आ०, ब०, प०।

बीजस्यातद्बीजादन्यथात्वमन्तरेण तदङ्कुरहेतुत्वं तद्वदेव तद्धेतुत्वप्रसङ्गात्। तथा च न हेतुभाव इत्यभिमतसिद्धये यत् किञ्चिदुपादातव्यं भवेत्। इष्यत एव तर्हि तस्य ततोऽन्य प्रतिभासप्रयोजनव्यपदेशादिभेदादिति चेत्; अत्रोत्तरम्–'अपि फलात्मनः' इति। फलमेव फलात्मा बुबुद्बुदात्मवत्, ततोऽपि न केवलमतद्धेतोरेव 'हेतोरन्यथात्वमिष्येत' इति सम्बन्धः, प्रतिभासादि-भेदस्य तत्रापि भावात्। ततः किमिति चेत्? उत्तरम्–अन्य एव फलात्मनो भिन्न एव हेतुरिति प्रथमा-परिणामेन सम्बन्धः। इति एवं किन्नेष्टम् इष्टमेव भवति जैनस्यापि प्रमाणोपपत्ते। तथाहि–यद् यस्मा-दन्यथाभूतं तत्ततोऽन्यदेव यथा शालिबीजमतद्बीजात्, अन्यथाभूतं च तत्फलादपि तत्। तथापि तस्य तस्मादनन्यत्वं चेत्; अतद्बीजादपि स्यादिति तदपि तस्यैव विवर्तः स्यात्। एवं च–

> शालिबीजविवर्त्तत्वं देशकालादिभेदिनः।
> जगतः सम्प्रसज्येत स्याद्वादमुपजीवताम्॥ १४४३॥
> तन्मा भूदिति मन्वानैरतद्बीजादिव स्फुटम्।
> तत्फलादपि तद्बीजस्यान्यत्वमुपगम्यताम्॥ १४४४॥
> तन्न हेतुफलैकत्वं कथमप्युपपत्तिमत्।
> इत्येवं केचिदज्ञानमलदिग्धाः प्रचक्षते॥ १४४५॥

तत्रोत्तरमाह–

अन्यथात्वं न चेत्तस्य भवेद् ध्रौव्यम् [अलक्षणात्]। इति।

तस्य भावस्य ध्रौव्यं कौटस्थ्यम्। कदा? न चेत् न यदि अन्यथात्वं फलरूपतया परिवर्तनम्, तस्येत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्। कुतः? इत्यत्राह–

अलक्षणात्।

अभावस्यापि [अभावोऽपि किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते]॥ ९९॥ इति।

अलक्षणात् अप्रतीते अभावस्य तद्विनाशस्य न केवलमन्यथात्वस्येत्यपिशब्दः। कथं पुनस्तस्यालक्षणं कार्यस्य प्रत्यक्षत एव प्रतिपत्तेः, तद्रूपत्वाच्च विनाशस्येति चेत्? कस्यासौ विनाशः? कारणस्येति चेत्, न, तस्य कार्येण समकालत्वे विनाशतद्वतोर्यौगपद्यप्रसङ्गात्। तत्पूर्वकालत्वे तु कुतस्तस्य ग्रहणम्? अग्रहणे तस्येत्ययोगात्। प्रत्यक्षत इति चेत्, न; तेनापि तत्कालेन वर्तमानतयैव प्रतिपत्तेः। कार्यकालादिति चेत्, न, तस्य पूर्वत्राप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वा तदपि तद्विषयत्वात् कथं वर्तमानं कार्यवत्? स्वकालापेक्षयैव वर्तमानत्वं न कार्यकालापेक्षयेति चेत्? कथं तर्हि प्रत्यक्षतस्त-ज्जन्मनः स्मरणाच्च पूर्वभावस्याग्रहणमुक्तं यत इदं शोभेत–

> **"संवेदनं न पूर्वं तत्पूर्वत्वग्रहणे क्षमम्।**
> **न परं तेन पूर्वत्वं स्मरणान्नैव साध्यते॥"** [प्र० वार्तिकाल० १।२०५] इति।

---

१ –स्यातद्– ता०। २ अन्यथात्वं यदि न स्यात् तदा यवबीजवत् यवाङ्कुरहेतुत्वं स्यादिति भावः। ३– भासनादि– ता०। ४ चैतद्बीजा– आ०, ब०, प०। ५–न च कि– आ०, ब०, प०। ६ इत्याह प०।

कथं वा द्रव्यरूपस्याप्रतिपत्तिः ? पूर्वापरयोरिव प्रत्यक्षत एव तदनुगमस्यापि तद्रूपत्वात् । तदेवाह–'अभावोऽपि किन्न' इति । अः आत्मा [illegible] भावः अदिशब्दात् पृथिव्याद्यन्वयरूपपुद्गलादिभावोऽपि किं कस्मान्न ? स्यादेव, स्वाभावायोगात् । तथा चान्यथात्वमेव विनाशः कारणस्य, नैकान्ततस्तद्विविक्तं [illegible] यदि वा, यदुक्तम्–"कार्यवज्जगदपि सर्वस्याकारणस्य परिवर्त्तः [illegible] [ ] इति, तत्राह–'अभावोऽपि किन्न' इति । अभावोऽपि न केवलं तत्तस्य कार्यवत् किन्न स्यात् ? स्यादेव, अन्यत्वाविशेषात् । तथा च–

जगतः समकालस्य नाशो सति परस्परम् ।
कार्यकालत्वदेवास्य स्यादभावः तदापि वः ॥ १४४६ ॥
ततश्च भावनैरात्म्यमनिषेध्यं प्रसज्यते ।
कार्यस्यैव विनाशत्वं तथैव यदि बुद्धितः ।
विवर्तत्वं च तस्यैव स्यादित्यपि च वक्ष्यते ॥ १४४७ ॥

प्रकृतस्योपसंहारमाह–'इत्यन्ये प्रचक्षते' इति । इति एवम् अन्ये जैनाः[5] [illegible] प्रमाणोपपन्नं प्रतिपादयन्ति ।

साम्प्रतं व्यवहारस्यातिप्रसङ्गमपरत्र तदभावप्रसङ्गमिव परिहरन्नाह–

स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।
नष्टो वा नान्यथाभूतः [ततो नातिप्रसज्यते] ॥ १०० ॥ इति ।

भावो दध्यादिः अन्यथा स्वप्रकारादन्यप्रकारेण न भूतो न जातः । एतच्च न तत्कार्य-तक्रादिप्रादुर्भावेऽपि तु भावान्तरस्य तदन्यस्योष्ट्रादेः समुद्भवे प्रादुर्भावे सति, तस्मिन् तद्रूपेण न परिवृत्त इति यावत् । स्वः असाधारण उष्ट्राद्यसम्भवी स्वभावस्तेन स्थितो यत इति । भावान्तरसमुद्भवे इत्यत्रापि योज्यम् । तदयमर्थः–यस्मादुष्ट्रादिप्रादुर्भावेऽपि स्वभावस्थित एवायं प्रतीयते तस्मान्न तद्रूपापत्त्या अन्यथाभूत इति । प्रतीतिश्चात्र स्वभावस्थितत्वस्य हेतुत्वाभिधानादेव लभ्यते, अन्यथा तदनुपपत्तेः । अत्रैव 'नष्टो वा' इति दृष्टान्तः । 'न' इत्यत्रापि सम्बध्यते मध्येकरणात् । वाशब्दश्चे-वार्थः । तदयमर्थः–यथा भावान्तरसमुद्भवे भावो न नष्टः तदापि[7] स्वस्वभावस्थितस्यैव तस्य प्रतीतेः, नाशे तदनुपपत्तेः, तथा तत एव न तद्रूपापत्त्याऽन्यथाभूत इति । ततो यथा तत्रायं प्रसङ्गः–

अन्यस्य हि विनाशित्वे सर्वदा दध्यसम्भवात् ।
चोदितो दधि खादेति कथं तत्रापि वर्तताम् ॥ १४४८ ॥
को वा प्रवर्ततां तत्र प्रवृत्तिरपि का भवेत् ।
न किञ्चित्ते न तत्त्वं स्यादन्यनाशप्रवादिनाम् ॥ १४४९ ॥ इति ।

---

१ तदुपगम– आ०, ब०, प० । २ य आ– आ०, ब०, प० । ३ भुतावपि– आ०, ब०, प० । ४ तथापि आ०, ब०, प० । ५ जनाः प्र– आ०, ब०, प० । ६ एव तच आ०, ब०, प० । ७ –पि स्वभा– आ०, ब०, प० ।

कार्यान्यस्यान्यत्वाविशेषेऽपि तद्विनाशित्वाभावात्, तथाऽयमपि न प्रसङ्गः–

"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥" [प्र० वा० ३।१४२ इति

विशेषनिराकृतेरभावात् । दध्यादेर्हि तत्कार्यापेक्षयैवोभयरूपत्वप्रतिपत्तेर्नोष्ट्राद्यपेक्षया । तदेवाह– 'ततो नातिप्रसज्यते' इति । ततस्तस्मात्प्रतीतिसिद्धात् विशेषात् नातिप्रसज्यते दधिवदुष्ट्रादौ, दधिकामस्य प्रवृत्तिर्न[1] भवतीत्यर्थः ।

तदेव प्रपञ्चतः साध्यमुपदिश्य साधनस्वरूपं दर्शयन्नाह–

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं [ततोऽपरे] ॥ १०१ ॥ इति ।

साध्यतेऽनेनेति साधनं लिङ्गम् । तत् प्रकृतं शक्यत्वादिलक्षणं तस्याभावे अनुपपन्नम् असम्भवि । 'निश्चितम्' इत्यपि द्रष्टव्यं वृत्तौ अन्यत्र[2] च तद्वचनात् । कथमेवमन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतुलक्षणं निश्चयस्यापि तदन्यस्य भावात् ? न, तस्य साधारणत्वात् । साधारण खलु निश्चयः तस्य हेतुवदन्यत्रापि भावात् । असाधारणेन च लक्षणेन भवितव्यम्, तच्चान्यथानुपपन्नत्वमेव हेतावेव तस्य नियमात् । तदपि साधारणमेव अहेतावपि प्रत्यक्षादौ स्वार्थापेक्षया भावात्, भवति हि प्रत्यक्षादि स्वार्थापेक्षयाऽन्यथानुपपन्नम्, न च हेतुः । कस्मात् ? साध्याभावात् । न हि तद्विषयस्य साध्यत्वं प्रसिद्धत्वात् । अप्रसिद्धत्वे प्रत्यक्षादेरपि न प्रसिद्धिः विषयप्रसिद्ध्यैव तस्यापि प्रसिद्धेः । ततो यदि तस्य प्रसिद्धिः; प्रसिद्धिरेव विषयस्यापीति न तस्य हेतुत्वम् । कथमिदानीम् 'अस्ति आत्मोपलब्धेः' 'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः' इति च प्रत्यक्षस्यैव हेतुत्वप्रतिपत्तिरिति चेत् ? न; विषयापेक्षया तदभावात् । विषयो हि तस्यात्मास्तित्वं घटाभावश्च, न तत्रैव हेतुत्वं प्रसिद्धत्वात्, अपि तु तद्व्यवहारे, तत्र च न प्रत्यक्षत्वमुपलम्भादेरविषयत्वात् । कथं पुनस्तत्रापि हेतुत्वम् असति तदनुपपत्तेः । सतो हि लिङ्गं ज्ञापकं भवति नासत खरशृङ्गवत् । सत्त्वेऽपि न किञ्चिल्लिङ्गेन, विनापि तेन तत्प्रसिद्धेः, निश्चयाभिधानात्मा हि व्यवहारः, तस्य प्रत्यक्षत एव स्वसंवेदनादेरवगमात्, किं तेन ? कृतस्य करणायोगात् । असन्नेव तेनायमुत्पाद्यते[3] विषयोपदर्शनेनेति चेत्, न; साध्यं प्रति[4] तस्य कारणत्वाभावात् । भवतु तर्हि व्यवहारयोग्यत्वे तस्य लिङ्गत्वमिति चेत्, कस्य तद्योग्यत्वम् ? तद्विषयस्यैवेति चेत्, सिद्धं तर्हि तस्य तत्रैव कथञ्चिद्धेतुत्वमिति कथमतिव्यापकत्वं लक्षणस्य ? नन्वेवमनवस्थिति प्रत्यक्षवदनुमानस्यापि तदुत्थापितस्य पुनस्तदुत्थापितस्य लिङ्गत्वप्राप्तेः । यत्राविप्रतिपत्तिस्तस्य व्यवस्थैव साध्याभावादिति चेत्, तत्र तर्हि सिद्धमन्यथानुपपन्नत्वमहेतुत्वेऽपि इति कथन्नातिव्याप्तिरिति चेत् ? न, तन्मात्रस्यालक्षणत्वात् । प्रकृतापेक्षं हि तत्तल्लक्षणम्, तच्च नाविप्रतिपत्तौ सम्भवति, प्रकृतस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वात् । यत्र तु सम्भवति तल्लिङ्गमेव प्रत्यक्षादिकमपि । कथं पुनः सति तस्मिन् विप्रतिपत्तिर्यतः प्रकृतसम्भव

---

[1] प्रतीतिर्न भ– प० । [2] "स व्याप्यसम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः ।"–प्रमाणसं० पृ० १० २ । [3] हेतुना । [4] प्रतीतस्य कारकाभा– प० । प्रतीतस्य कारकत्वाभा– आ०, ब० ।

इति चेत् ? न; दत्तोत्तरत्वात्[1]–'भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्' इति। ततो युक्तम्–'अस्त्यात्मा' इत्यादि। न चैवं क्षणक्षये तथावभासनस्यापि हेतुत्वं साध्यवत् तस्यापि असिद्धेः। असिद्धैवानात्मवादिनं प्रति इति चेत्, न; सोऽहमिति बुद्धेस्तेनाप्यभ्युपगमात्, अन्यथा भावदनुपायसिद्धा मुक्तिरिति व्यर्थ एव [2]तदर्थः प्रयासः स्यात्। [3]तद्बुद्धिरेव चात्मोपलब्धिः, भासिनः संवेदनान्वयस्यैवात्मत्वात्। न चैवं क्षणक्षयावभासनमाबोधिमार्गावतारात् कस्यचि विपश्चितो निश्चय[4]कुटीरकोटरमुपढौकितमस्ति यस्य लिङ्गत्वमात्मोपलब्धिवत् प्रतिपद्येमहि। युक्तम्–'प्रकृत' इत्यादि।

अत्र प्रकृतस्यैव, अभाव एव, अनुपपन्नमेवेति चावधारयितव्यं सावधारणत्वात् वाक्यानाम्। तत्र प्रथमेनावधारणेन [5]विरुद्धस्य व्युदासः, नह्यसौ[6] प्रकृतस्यैवाभावेऽनुपपन्नः, अपि तु तद्विपरीतस्यैव। द्वितीयेनासिद्धस्य। नह्ययमपि प्रकृताभाव एवानुपपन्नः, तद्भावेऽपि [7]तथात्वात्। न तर्हि धूम-प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिरपि हेतुः, साध्यस्य मुर्मुरदहन-वनकुसुमानित्यत्वादेर्भावेऽपि तस्याभावादिति चेत्; न; तस्यासाध्यत्वात्। साध्यं हि शक्यत्वादिविशेषणं पर्वताग्न्यादिकमेव तत्रैवाभिमेतत्वादेर्भावात् न [8]मुर्मुराग्न्यादौ विपर्ययात्, अतस्तत्र साध्याभावादेव तस्याभावः। कथं तर्हि महानसाग्न्यादावपि तस्य भावः तस्याभिप्रेतत्वाद्यभावेनासाध्यत्वात्। [9]भावे वा कथन्न व्यभिचारः ? तत्सदृशस्यैव तत्र भावादिति चेत्, न, सर्वत्र एवमेव व्यभिचारात् अन्यथा तदप्रतिपत्तेः। न हि 'प्रयत्नानन्तरीयको ध्वनिः अनित्यत्वात्' इत्यत्रापि ध्वनिगतस्यैव अनित्यत्वस्य विद्युदादौ भावाद् व्यभिचारः, अपि तु तत्सदृशस्यैव, सामान्यस्यैकस्य प्रतिक्षेपादिति चेत्, न, अन्तर्व्याप्तिनिर्णयाभावादेव [10]तदुपपत्तेः, न साध्याभावे तत्तुल्यभावात्। कुत एतदिति चेत् ? सति तन्निर्णये [11]तथापि गमकत्वप्रतीतेः। प्रतीयते हि धूमादि-विशेषस्य तन्निर्णये पावकादिविशेषं प्रति गमकत्वम्, तत्तुल्यस्य चान्यत्राग्न्यादिमात्रे भावः। तद्विशेष-वैकल्ये कथं तस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत् ? धूमादित्वमात्रेण न तद्विशेषेणापि, अन्यथैकत्वमेव स्यात् सर्वाकारसाम्यादन्यस्य [12]तस्याभावात्। कथमेवं प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि शब्दस्यानित्यत्वविशेषात् नावगम्यत इति चेत्, क एवमाह–'नावगम्यते' इति तद्विशेषावसाये तदप्रतिक्षेपात्, तदभाव एव व्यभिचारावकल्पनात्–किमनित्यत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो घटवत्, आहोस्वित् अन्यथा वन-कुसुमादिवदिति। तन्न साध्याभावे तत्सदृशस्याभावेऽपि व्यभिचारः तस्याभावात्। ततो युक्तं प्रकृताभाव एवेति।

---

१ न्यायवि० श्लो० १०४। २ तदर्थप्र–आ०, ब०, प०। ३ तद्बुद्धेरेव आ०, ब०, प०। ४ "ह्रस्वा कुटी कुटीरः। कुटी शुण्डाभ्यां इति सूत्रेण ह्रस्वार्थे रप्रत्ययविधानात्।"–ता० टि०। ५ विरुद्धः। ६ "व्युदासः"– ता० टि०। ७ अनुपपन्नत्वात्।–ता० टि०। ८ –राग्न्यादि वि– आ०, ब०, प०। ९ "महानसाग्न्यादौ धूमादिभावे"–ता० टि०। १० व्यभिचारोपपत्तेः। ११ "साध्याभावे तत्तुल्यभाव-प्रकारेण"– ता० टि०। १२ एकत्वस्य।

एवमनुपपन्नमेवेत्यपि, तेनानैकान्तिकस्य व्यवच्छेदात् । न हि तस्य तदभावेऽनुपपत्तिरेव उपपत्तेरपि भावात्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वेऽनित्यवत् ।

साम्प्रतं तानवधारणव्यवच्छिन्नान् हेत्वाभासानुपदर्शयति–

ततोऽपरे ।

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः । इति ।

अत्रापरे इत्येतद्विरुद्धेत्यादेः परतोऽपि द्रष्टव्यम् । तदयमर्थः–विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अपरे हेत्वाभासा एव न केवलं त एवापि तु अकिञ्चित्करविस्तराश्च । अत्रैवोपपत्तिः–ततः तस्मादुक्तलक्षणात् साधनादपरे तल्लक्षणविकलतया विभिन्ना यत इति । तत्र विरुद्धस्य तदाभासत्वं साध्यस्याभाव एव भावात् । असिद्धस्य सत्यपि तस्मिन् अभावात्, सतोऽप्यनिश्चयात् । सन्नपि अनिश्चितोऽसिद्ध एव सिद्धकार्याकरणात् अतस्तदाभासः । निश्चयाभावोऽपि अव्युत्पत्त्यादिना, वादिप्रतिवादिनोरन्यतरस्योभयस्य वा तत्राव्युत्पन्नस्याज्ञातासिद्धः, संशयानस्य सन्दिग्धासिद्धः विपर्यस्तस्य विपरीतासिद्ध इत्यनेकधा स भिद्यते । सन्दिग्धो व्यभिचारी किमित्थमन्यथा वेति ततः साध्यसंशयात्तस्य तदाभासत्वं तत्रैव नियमाभावात् । अकिञ्चित्करः पुनः सिद्धोपस्थायी यथा शब्दानित्यत्वे कृतकत्वेन निश्चिते तत्रैवापरः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिः । कुतस्तस्याकिञ्चित्करत्वम् ? ततस्तन्निर्णयस्यानुपपत्तेरिति चेत्; सापि कुतः ? कृतकत्वादेव तस्य भावादिति चेत्; न; तत्कार्यस्यान्यतोऽनुपपत्तेः । तादृशस्योत्पत्तिरिति चेत्; अस्तु; न तावता शक्तस्य स्वव्यापारादुपरतिः, पावकान्तरवद्धूमान्तरकृतेः । शक्तिरेव न तस्येति चेत्; तदपि यदि हेतुलक्षणवैकल्यात्, तदा विरुद्धादावेवान्तर्भावः, प्रतिपादितावधारणविपर्ययादेव तद्वैकल्यसम्भवात्, तद्विपर्ययस्य च विरुद्धादावेव नियमात् । विषयाभावान्न ततस्तन्निर्णय इति चेत्; न; लक्षणपरिपुष्टौ तदनुपपत्तेः । कथं वा तदभावः ? शब्दानित्यत्वस्य भावात् । प्रागेव निर्णीतमिति चेत्; नः तत्राप्यनुपहतस्वरूपत्वेन तदन्तरस्यापि प्रवेशात् प्रकाशिते प्रकाशान्तरवत् । न चैवं छिदेरपि छिन्ने प्रवेशः, छेद्याभावात् । किं तत्प्रवेशेन व्यवहारस्य पौरस्त्यादेव भावादिति चेत्, न समर्थात् ततोऽपि तस्यावश्यम्भावात् । व्यवहारिणस्तदभिलाषस्याभावाच्चेति चेत्; नेदानीमाद्यस्यापि लिङ्गत्वं ततोऽपि तन्निर्णये झटित्यन्यत्रगतचित्तस्य तद्व्यवहारासम्भवात् । भवतु तदा तस्याप्यकिञ्चित्करत्वमिति चेत्; न; "सिद्धेऽकिञ्चित्करो हेतुः" [प्रमाणसं० श्लो० ४४] इति तल्लक्षणात् आद्यस्य चासिद्ध एव भावात् । निर्णयमात्रेण तु तस्य हेतुत्वे द्वितीयस्यापि स्यात् । तस्मात्तदभावादेव तस्याकिञ्चित्करत्वम्, तच्च साधनलक्षणवैकल्यादेव । ततो विरुद्धादय एवाकिञ्चित्करविस्तरा इति केचित् । अन्ये पुनः 'तत्रैवाप्रवृत्तहेत्वन्तरे त एव सम्यक्हेतव इति नातीव विरुद्धादित्वमनुभवन्ति, अतोऽन्य एव ते तेभ्यः तदाभासाः' इति प्रतिपन्नाः । यदि साधनं प्रकृते सत्येव न तदा सपक्षेऽपि स्यात् तत्र प्रकृताभावात्, ततश्च न तस्य तदविनाभावपरिज्ञानं सपक्ष एव तत्सम्भवात्, न पक्षे तत्र अद्यापि प्रकृतस्यानिश्चयादिति चेत्; अत्राह–

१ "साध्यसद्भावप्रकारेण ।" –ता०टि० । २ "साध्याभावप्रकारेण"–ता० टि० । ३ "साध्य एव" –ता० टि० । ४ आद्यस्य । ५ –प्रवृत्तेहेत्व– आ०, ब०,प० ।

तथार्थेऽसत्यसम्भूष्णुर्धर्मो न बहिरङ्गतः ॥ १०२ ॥
सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंस्थितेः । इति ॥

बहिर्भावाभावौ साध्यसाधनयोः बहिः तादवस्थ्यात् तद्व्यपदेशोपपत्तेः[1] तस्य अङ्गनम् अङ्गः अवगमः[2] तस्मात्तः 'न भवति' इति शेषः । कः कीदृशो न भवति ? धर्मः पराश्रयः प्रमेयत्वादिः अर्थेऽर्थक्रियासमर्थे असति अविद्यमाने असम्भूष्णुः साधुसम्भवविकलः । कुत एतत् ? तथा तेन बहिरङ्गतस्तस्य तथात्वप्रकारेण साध्यसाधनयोस्तद्भावस्य भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य, समन्तादतिव्याप्त्या स्थितेः[3] । तथा हि–विवादापन्नः पुरुषः किञ्चिज्ज्ञो रागादिमान् वा पुरुषत्ववक्तृत्वादेः रथ्यापुरुषवदित्यस्यापि गमकत्वप्रसङ्गः सत्येव रथ्यापुरुषे किञ्चिज्ज्ञत्वादौ तस्योपलम्भात् असति च पाषाणादौ अनुपलम्भात् अविनाभावप्रतिपत्तेरुपनिपातात् । न बहिर्दर्शनमात्रात् तस्याविनाभावोऽपि तु तादात्म्येन तदुत्पत्त्या वा प्रतिबन्धात्, न चायमिहास्ति प्रमाणाभावात् । न हि किञ्चिज्ज्ञत्वादेः स्वभावः कार्यं वा पुरुषत्वादिकमिति प्रमाणमस्ति, सर्वज्ञत्वादौ तद्विपक्षेऽपि तस्याविरोधादिति चेत्; किमिदानीं[4] शिंशपात्वधूमादावपि प्रमाणं यतः प्रतिबन्धसिद्ध्या गमकत्वम् ? तदेव भूयःप्रवृत्तं बहिः प्रत्यक्षं–तद्व्यावृत्तिद्वितयमिति चेत्; न, प्रकृतेऽपि तस्य भावात् । विपक्षे तद्बाधकप्रवृत्तिरिति चेत् ? तस्या अपि तद्रूपत्वे न किञ्चित् परिहृतम् । अतद्रूपत्वे कुतस्तदुत्पत्तिः ? तत एवेति चेत्; अनिवृत्तः प्रसङ्गः । तदन्यत इति चेत्; न तर्हि क्वचिदपि बहिरुपलम्भतद्व्यावृत्त्योरुपयोग इत्यसङ्गतमेतत्–"बाधस्य कार्यहेतोः स्वभावविशेषस्य च क्वचिदाधारे प्राक्प्रवृत्तगृहीतविस्मृतप्रतिबन्धसाधकप्रमाणस्मृतये अन्यत्र प्रवृत्तिरपेक्षणीया ।" [ ] इति । ततो दर्शनतन्निवृत्तिलक्षणमेव विपक्षे तत्सत्ताबाधनद्वारेण धूमशिंशपात्वादावपि तादात्म्यादिप्रतिबन्धसाधकं प्रमाणमित्यङ्गीकर्तव्यम् । तच्च प्रकृतेऽप्यस्तीति कथमत्रातिव्याप्तिः ?

'सर्वथा' इत्याद्यत्रैवाव्याप्तिप्रदर्शनपरमुपपत्त्यन्तरम्–सर्वथा सर्वप्रकारेण नित्यमेव अनित्यमेव स्थूलमेव सूक्ष्ममेव परस्परभिन्नं तद्द्वितयमेवेत्यादयः एकान्ताः सर्वथैकान्ताः तेषां विश्लेषो यस्मिन्नसौ सर्वथैकान्तविश्लेषोऽनेकान्तः तस्मिन् साध्ये साध्यसाधनसंस्थितेस्तद्भावस्य सम्यगवस्थानात 'अर्थे सति' इत्यादिना सम्बन्धः । तथाहि–सर्वमनेकात्मकं प्रमेयत्वादित्यत्र न बहिरुपलम्भ-तद्व्यवच्छेदौ सपक्षविपक्षयोरेव, सर्वस्य पक्षीकरणेन असम्भवात् । न चेहाविनाभावो नास्ति, विपक्षे बाधकसामर्थ्यात् तदवगतेः । बाधकमप्यूहज्ञानं बहिर्दर्शनादर्शनाभ्यामेव, अन्यत्र तथैवाभिधानात् तत्कथमिह तदभावे तत्सम्भव इति चेत् ? न; नियमाभावात् । न ह्ययं

१ तान्छद्वोपप– आ०, ब०, प० । २ तस्या गमनं गोऽवगमः आ०, ब०, प० । ३ समन्तादिति व्याप्त्यासिद्धेः प०, समन्तादिति व्याप्त्या आ०, ब०, । ४ –च त– प० । ५ प्रत्यक्षतद्व्यावृत्तिद्वितयरूपत्वे । ६ –तच्चास्यकार्य– आ०, ब०, प० । ७ "सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।" –प्रमाण सं० का० १२। "ग्रन्थान्तरे अकलङ्कदेवैस्तथाभिधानात्, तदनुसारिभिर्माणिक्यनन्दिभिरुक्तं यथा उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।" –ता० टि० ।

नियमस्ताभ्यामेव तदिति, तदभावेऽपि क्षयोपशमविशेषोपनिपातात् कुतश्चिदतिशयात् तदुत्पत्तेः, तद्भावेऽपि तदतिशयस्य अवश्यापेक्षणीयत्वात् अन्यथा तद्विषयमात्रपर्यवसायित्वेन तस्यान[1] प्रसङ्गात्। क तर्हि तस्य ताभ्यामुत्पत्तिरिति चेत्? धूमादावेव, सपक्षविपक्षयोस्तत्र सम्भवात्। क तत्रापि सपक्षत्वं महानसादेः[2] साध्यस्य तत्राभावात्? सत्येव तस्मिन् तदुपपत्तेरिति चेत्; न तद्भाव सपक्षत्वम्, अपि तु पर्वतादिवदग्न्यादिभावात्, पर्वतादेरपि तत एव पक्षत्वात्। एवमप्यग्न्याद्यविनाभावस्यैव ततः प्रतिपत्तिर्न साध्याविनाभावस्य, प्रमाणीकृतं च तत्र तदूहज्ञानं शास्त्रकारेण, तस्मात् प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मा तत्रोहः प्रमाणयितव्य इति चेत्; न; अग्न्याद्यविनाभावग्रहणे साध्याविनाभावस्यापि ग्रहणात्, अग्न्यादेरेव शक्यत्वादिविशिष्टस्य साध्यत्वात्। यश्च यादृक् चाग्न्यादिर्न तेन विना धूमादिरिति तद्व्यापारात्। ततः सम्भवापेक्षं तस्य तज्जन्यत्वमुक्तं न नियमत इति वयं प्रतिपन्नाः। अथवा,

देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः।
विद्वान्न चेत् स गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः ॥१४५०॥

कथमत्र विपक्षे बाधनमिति चेत्? उच्यते–विपक्षो नित्याद्येकान्तः, तत्र नित्यस्य प्रमेयत्वं यदि तज्जन्मना प्रमित्या नित्यं तत्प्रसङ्गः प्रमितेरनुपरमात्। अन्यजन्मना चेत्; तत्रापि प्रमितिसन्निधौ यदि न प्राग्रूपस्य परित्यागः कथं प्रमेयत्वं प्रागिव? परित्यागे वा कथं नित्यत्वम् अतादवस्थ्यात्। प्रमितिप्रागभावस्यैव तदा परित्यागो न नित्यरूपस्य, न चैवमप्रमेयत्व प्रमितिभावदिति चेत्, न, सर्वस्यापि तनस्तत्त्वप्रसङ्गात्। अप्रतिभासनान्नेति चेत्; सिद्धस्यापि किं प्रतिभासनम्? तदन्तर्भाव एवेति चेत्; अनिवृत्तः प्रसङ्गः। विषयभावापत्तिरिति चेत्; कथं प्राग्रूपस्यापरित्यागः? इति न किञ्चिदेतत्।

भवतु अनित्यमेव तत्त्वमिति चेत्; तदपि अयोग्यमप्रमेयमेव व्योमकुसुमवत्। योग्यञ्चेत्; कुतो न सर्वस्यापि प्रमेयम्? नियतं प्रत्येव योग्यत्वादिति चेत्; स यदि संसारी न सर्वज्ञस्य प्रमेयम्। सर्वज्ञश्चेत्; न संसारिण। उभयोरपीति चेत्; संसारिणः सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञयोग्यवस्तुप्रमितौ तेन सर्वज्ञस्य तत्र प्रमिण्वता तद्विषयस्यापि सर्वस्य प्रमितेः, अन्यथा तस्य तद्योग्यस्य च वस्तुनः प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। नासौ वस्तुनस्तद्योग्यत्वं प्रत्येतीति चेत्; किं पुनः स्वयोग्यत्वादन्यदेव तत्? तथा चेत्; वस्त्वपि तर्हि तद्भेदाद्भिन्नमेवेति कथं सर्वज्ञवेद्ये तदुपदेशादपि संसारिणः प्रतिपत्तिः जात्यन्धस्येव रूपे चक्षुष्मदुपदेशात्? तयोरपि कथञ्चिदेव भेद इति चेत्; सिद्धं तर्हि प्रतीतम-

---

१ ऊहस्य। २ "शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमिति विशेषविशिष्टस्याग्नेः" –ता० टि०। ३ द्रष्टव्यम्–पृ० ..टि० ..। ४ "सर्वमनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वादित्यत्र" ।–ता० टि०। ५ "अनवरतम्। नित्यानवरताजस्रमित्यमरः।" –ता० टि०। ६ 'प्रमेयत्व' –ता० टि०। ७ –ति स चेत् आ०, ब०,। तदन्तर्भावादेवेति इति स चेत् प०। ८ गगनकु– आ०, ब०, प०। ९ "वनस्य" –ता० टि०। १० "जनम्" –ता० टि०।

प्रतीतश्चैकं परस्यापीति यदुक्तमनेकान्तवादिनं प्रति–"अप्रतीतं प्रतीतं चेत्तदेतदतिसाहसम्" [प्र० वार्तिकाल० १।२०५] इत्यादि, तत्प्रज्ञाकरस्य स्वगृहं प्रति प्रत्यावृत्तम्। ततो यथाभिमतं निरंशमेव तत्त्वम्, तत्र च—

सर्वात्मना दृशौ तस्य सर्वविद्वेद्यता दृशोः।
सिद्धः सर्वोऽपि सर्वज्ञो वृथा ते बुद्धकल्पनम् ॥१४५१॥
ज्ञानवान् मृग्यते कश्चिदित्यादि[1] भवदुक्ततः।
धर्मकीर्तिः स्ववाचोऽपि तात्पर्यं तन्न बुद्ध्यते ॥१४५२॥
तद्वेद्यत्वमदृश्यं[2] चेददृश्यं सर्वथैव तत्।
खण्डशो न हि दृश्यत्वं निरंशस्योपपत्तिमत् ॥१४५३॥
तन्नैकान्तादनित्यस्य प्रमेयत्वं प्रतीतिमत्।
नापि स्थूलस्य वस्तुत्वं यन्न तस्य स्वयं मतम् ॥१४५४॥
निष्कलाणुस्वभावं यत्तत्त्वं बौद्धोकल्पितम्।
काकदन्तोपमं तत्प्रमेयत्वञ्च तादृशम् ॥१४५५॥
एकान्तभिन्नयोर्नापि स्थूलसूक्ष्मस्वभावयोः।
प्रमाणप्रतिवेद्यत्वं तदभेदप्रवेदनात् ॥१४५६॥
ते तन्तवः पटो यन्न तेभ्योऽन्य इति यज्जन.।
प्रत्येति वक्ति सर्वोऽपि विवादपरिवर्जितम् ॥१४५७॥
पटस्तन्तुष्विहेत्यादि[3] शब्दा एव परं तथा।
न प्रत्ययो यतस्तेनाभेदप्रत्ययबाधनम् ॥१४५८॥
शब्दादृष्टिकृतेनापि[4] तेन तस्य विबाधने।
सर्वैकत्वधिया बाधः सर्वभेदधियो भवेत् ॥१४५९॥
ततो द्रव्यादिभावानां तात्त्विकानामभावतः।
अवैशेषिकमेवेदं जगत् सर्वमुपस्थितम् ॥१४६०॥

तन्न सर्वथैकान्तस्य प्रमेयत्वमिति। विपक्षे बाधकसामर्थ्यादेव ततस्तद्विश्लेषस्य[5] साधनात्, उपपन्नमेतत्–'सर्वथैकान्तविश्लेष' इत्यादि।

ननु प्रमेयत्वं यतः प्रमाणात् तस्य तदेकान्तविषयत्वे नातस्तद्विश्लेषस्य साधनम्, तत्पक्षस्य प्रमाणतः प्रतिक्षेपात्। तद्विश्लेषविषयत्वे तु व्यर्थमनुमानं तत एव तत्सिद्धेः, अन्यथा त्[6]प्रमितेऽपि तदपरकल्पनयाऽनवस्थापत्तेः। तदपि प्रमाणमनुमानमेवेति चेत्; न; परस्पराश्रयापत्ते–अनुमानात्प्रमेयत्वमतश्चानुमानमिति – इति चेत्; न; प्रमाणमात्रादेव अविवक्षितविषयभेदात् तदुप-

---

१ प्र० वा० १।३२। २ चेत्तदृश्यं आ०, ब०, प०। ३ प्र० वा० २।१४९। ४ स्वादृष्टिकृतेनापि आ०, ब०,प०। ५ "सर्वथैकान्तविश्लेषस्य"–ता० टि०। ६ अनुमानप्रमितेऽपि।

गमात्, वादीतरयोस्तत्राविप्रतिपत्तेः, अन्यथेष्टसिद्धेरसम्भवादिति । निरूपितं चैतत्[1]–'प्रमाणानि इष्टसाधनात्' इति । तत्र व्यर्थमनुमानमनवस्थितिर्वा, अनुमानादेव विप्रतिपन्न प्र तद्विश्लेषस्य साधनात् तत्र चापरस्यानपेक्षणात् । कथमेव प्रत्यक्षा[2]दपि तत्साधन "न पश्यामः क्वचित् किञ्चित्" [सिद्धिवि० परि० २] इत्यादिना ? न हीदमविप्रतिपन्नविषयम्, तत्र विवादाभावात् । विप्रतिपन्नविषयत्वे तु सति प्रत्यक्षे किमनुमानेनेति चेत्; न, प्रतिपादनप्रकारस्य वैचित्र्यात्, कदाचित् प्रत्यक्षादेव प्रमाणात् कदाचिदनुमानत इति । किं पुनस्तत् प्रमाणं यतः सर्वस्य प्रमेयत्वमिति चेत् ? व्याप्तिज्ञानमेव, तस्य परैरप्यङ्गीकारात्, अन्यथाऽनुमानाऽनवक्लृप्तेः । कथ पुनरनेकान्तस्य प्रमेयत्वम् तस्यैकान्तनिवृत्तिरूपत्वेनावस्तुत्वात् ? तत्र च प्रमाणस्याव्यापारादिति चेत्, न, तन्निवृत्तिविशिष्टस्य जात्यन्तरस्यैव तत्त्वात् । न च तादृशं किमपि दृष्टमस्ति यतः संवि[3]स्रम्भं चेतः स्यादिति चेत्[4], आह—

एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टैर्नष्टं न चापरैः ॥१०३॥
आवृतैरावृतं भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते । इति ।

एकं शरीराद्यवयवि चलैः भागैः पाणितलादिभिः चलं परिस्पन्दात्मकम्, नान्यैरचलैः पादादिभिः । तदेव कथं चलमचलं च युगपदिति चेत् ? उत्तरम्–विलोक्यत इति । दृश्यते हि चलैरचलैश्चावयवैः तदेव चलमचलं च । न च दृष्टमनुपपन्नं सर्वत्र प्रसङ्गात् । भ्रान्तं तद्दर्शनम् अवयवचलनस्यावयविन्यारोपादिति चेत्; न; अदृष्टे तदयोगात् व्योमकुसुमवत् । दर्शनं च तस्य न परं चलनदर्शनात् । [5]अप्रतिपत्तेः अस्तु तदेवेति[6] चेत्; न; तद्विषयत्वे चलनवत्[7] अवयविनोऽप्यवस्तुत्वापत्तेः । अभ्रान्तमेवावयविनि तदिति चेत्; कथमेकमेवाभ्रान्तं तदूर्ध्वं[8] च विरोधात् ? अविरोधे वा किमेकमेवावयवि चलमचलं च न भवेत्, अस्यापि प्रतीतेः ? भ्रान्तं च तद्दर्शनं तदा भवति यदि चलेष्वेव भागेषु कदाचिदवयविरूपमचलमुपलभ्येत, न चैवम् तच्चलने नियमतस्तस्यापि चलत एव प्रतिपत्तेः । तथापि विभ्रमे चलनावयवेऽपि स्यात् । ततो न कचित् क्रिया नाम तात्त्विकीति निर्विषयं तल्लक्षणप्रणयनम् । ततो भागवद्भागिनोऽपि चलनमितरच्च तात्त्विकमेव दृष्टत्वात् ।

तथा हि तदेवैकं नष्टैः छेदभेदादिप्रध्वस्तैरङ्गुल्यादिभिर्नष्टं न च नैव अपरैः अनष्टैः पाणिपादादिभिः । कुत एतत् ? विलोक्यते प्रतीयते यत इति । नष्टमेव तत् कारणविनाशे कार्यस्यापि विनाशात् । कारणं हि अवयविद्रव्यस्यावयवसंयोगः. "संयोगानां द्रव्यम्" [वैशे० सू० १।१।२७] इति सूत्रात् । तस्य च कर्मजात् तद्विरोधिनोऽवयविभागात् विनाशे कथं न तत्कार्यस्य विनाश इति चेत् ? किमेक एव तस्य तत्संयोगो हेतुः ? तथा चेत्; न; "संयोगानां द्रव्यम्" इत्यस्य विरोधात् । अन्येऽपीति चेत्; तेषामप्येकतत्संयोगेन सह विनाशे कथमिदमुक्तम्–"एकात्र-

---

१ न्यायवि० श्लो० २ । २ -क्षादावपि तत्सा–आ०, ब०, प० । ३ "समविश्वासम्, समौ विस्रम्भविश्वासौ इत्यमरः ।"–ता० टि० । ४ स्यादित्याह प० । ५ अविप्रतिपत्तेरस्तु आ०, ब०, प० । ६ भ्रान्तमेव । ७ "अवयविनि दृश्यमानस्य चलनस्य भ्रान्तदर्शनविषयत्वेनावस्तुत्वं यथा ।"–ता० टि० । ८ भ्रान्तश्च ।

यवसंयोगविनाशात् पूर्वद्रव्यविनाशे अवस्थितसंयोगेभ्यः अवयवेभ्यः द्रव्यान्तरमुत्पद्यते ।" [ ] इति ? कुतश्च तेषां विनाशः ? विभागादेव कर्मजादिति चेत्; न; निष्क्रियेषु तस्याभावात् । सक्रियेषु सम्भवतोऽपि तत्संयोगस्यैव नाशात्, तत एव तदन्तराणामपि विनाशे परमाणुपर्यन्तस्तत्प्रसङ्ग इति न घटविनाशे कपालान्यप्युपलभ्येरन् । अविनाशे कथं कार्यविनाशः सति हेतौ तदनुपपत्तेः ? एकस्य तस्य विनाशादिति चेत्; आश्चर्यमेतदेकस्य विनाशात् तस्य विनाशो न बहूनाम् अवस्थानादवस्थितिरिति ? अवस्थितौ कथं विनाश इति चेत् ? विनाशेऽवस्थितिरपि कथम् ? मा भूदिति चेत्; विनाश एव मा भूत् । दृश्यत इति चेत्; अवस्थितिरपि दृश्यत एव 'स[1] एवायं देवदत्तश्छिन्नाङ्गुलिरपि' इति लोकस्य प्रतीतेः । पूर्वद्रव्यविनाशे द्रव्यान्तरस्याशु प्रादुर्भावेन भेदानवधारणात् भ्रान्तैवेयमेकत्वप्रतिपत्तिरिति चेत्; स्थूलघटादिप्रतिपत्तिरपि तथा किन्न भवति ? परमाणुष्वेव कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः तदुत्पत्तिरिति कैश्चित्[2] परिकल्पनात् । बाधकाभावान्नेति चेत्; न; इतरत्रापि तुल्यत्वात् । कुतः पुनः कार्यद्रव्यस्याविनाशे सति तदीयस्यावयवस्याकाशादेर्विभागः ? छेदभेदादेः कर्मण एवेति चेत्; न तर्हि तस्यावयवान्तरविभागहेतुत्वम् आकाशादिविभागहेतुत्वात् नर्तकावयवकर्मवत्, अस्ति तस्य तदन्तरविभागहेतुत्वं [3]छेदादौ सत्यङ्गुल्यादेर्विभागप्रतिपत्तेः । ततो न तस्मात्तद्विभाग । तज्जन्मनो विभागादिति चेत्; न; तस्यापि स्वतन्त्रावयवगतस्यैव तद्धेतुत्वोपपत्तेर्न द्रव्यसम्बन्धा(द्धा)वयवगतस्य । कुत एतत् ? तदाकाशादिविभागस्य द्रव्यविनाशसहचरितस्यैव दर्शनात् । न हि तस्य द्रव्यावयववृत्तिः स हेतुः, तस्यापि सद्द्रव्यस्यैव दर्शनापत्तेः । ततोऽस्ति द्रव्यविनाशो विभागस्य विभागान्तरकारिणः तदपेक्षत्वात् । ततः पुनरुत्पन्नं द्रव्यान्तरमेवेति भ्रान्तैव तत्रैकत्वप्रतिपत्तिर्बाधकाभावादिति चेत्; नैवमपि भ्रान्तिः अन्तरा भेदनिर्णये तत्प्रतिपत्तेरेवासम्भवात् । दर्शनमेव भेदस्य निर्णय इति चेत्; न, तस्यापि निर्णयस्यैव भवद्भिरभ्युपगमात् न सौगतवन्निर्विकल्पस्य । निर्णयस्यापि द्रव्यान्तरप्रादुर्भावाशुभावेनाभिभवात् एकत्वप्रतिपत्तिरिति चेत् व्याहतमेतत् 'निर्णयश्च अभिभवश्च' इति, निर्णयस्याभिभवविरोधित्वात् । अभिभूतं वा कथं तत्सिद्धम् यत एकत्वप्रतिपत्तेर्भावः, अतिप्रसङ्गात् । तथा हि–

सर्वस्यापि भवेदेवं वादिनः स्वेष्टदर्शनम् ।
ततो लोक-सिद्धानां बुद्धीनामपि बाधनम् ॥१४४१॥
मा भूदेकत्वबुद्धिश्चेत्, काणादत्वं तदा कथम् ।
अन्तरा भेदमुत्पश्यन् कलत्रादौ प्रवर्तसे ॥१४६२॥
कलत्रादि न तवास्य न भेदः कण्टकादिना ।
न भेदोऽप्यस्ति तादृग् यो द्रव्यनाशोत्तरो न ते ॥१४६३॥
यत्वाशुजं कलत्रादि तत्र भेदेन वेदिनः ।
अस्वकीयप्रवृत्तौ च कथं दोषैर्न लिप्यसे ॥१४६४॥

---

1 स चैवा– आ०, ब०, प० । 2 बौद्धैः । 3 चेदादौ आ०, ब०, प० । 4 –नाशात्ततो न आ०, ब०, प० ।

एकत्वज्ञानमेष्टव्यं व्यवहार तदिच्छया ।
भेददृष्टिस्तदा नास्ति तत्कथं तस्य विभ्रमः ॥१४६५॥

यदप्युक्तम्–'न तर्हि इत्यादि; तत्र कस्मात् नृत्यतः हस्तकर्मादिरवयवविभागो न भवति तस्याप्रतीतेरिति चेत्; किं पुनरेकावयवनाशे सर्वात्मनाऽवयविनो नाशः प्रतीयते ? तथा चेत्; तत स्तद्विभागोऽपि प्रतीयताम् । कथमेवं 'स एवायं नर्त्तक.' इति प्रत्यय· तद्विभागात् संयोगस्य तद्धेतुकस्य शरीरस्यापि नाशादिति चेत् ? न; तस्याप्येकावयवविनाशवत् अवस्थितसंयोगावयवात् द्रव्यान्तर एव भावात् । ततो न युक्तमेतत्–'छेदभेदादिकर्म न स्वाश्रयस्याकाशादेर्विभागमारभते द्रव्यारम्भकसंयोग-विरोधिविभागजनकत्वात्, यत्ततस्तस्य तमारभते न तत्तज्जनकं यथा नृत्यतोऽवयवकर्म, तज्जनकञ्चेदं तस्मान्न ततस्तस्य तमारभते' इति ; साध्याव्यावृत्तत्वेन नृत्यतोऽवयवकर्मणो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वानुपपत्तेः । ततो यथा निरवद्यप्रत्यभिज्ञानगोचरत्वान्न तदवयविनो न विनाशः तथा नष्टच्छिन्नावयवस्यापि । कथं पुनरविनष्टस्य नष्टैरपि तैर्नाशो विरोधादिति चेत् ? उक्तमत्र 'कथमेकस्य प्रत्ययस्याभ्रान्तस्यैव भ्रान्तत्वम्' इति । प्रतीतेर्विरोधाभावस्येतरत्रापि तुल्यत्वात् । ततः सूक्तमेतत् 'नष्टैर्नष्टं न चापरैः ।' इति ।

तथेदमपि, 'आवृतैरावृतं भागैः' इति । अत्रापि 'नापरैः' इति 'विलोक्यते' इति च योजयितव्यम् । कथं पुनरवयवस्यावारकमवयविनमावृणुयात् अल्पत्वात् कर्पटखण्ड इव गण्डशैलमिति चेत् ? किं पुनस्तस्य तेन सयोगो नास्ति ? तथा चेत्; न, "कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" [प्रश० भा० पृ० ६४] इत्यस्य विरोधात् । अस्ति चेत्; कथं नावृणोति अवयवस्यापि तत एव तेनावरणात् । ततोऽपि व्यापकादेव तस्यावरणं नाव्यापकात्, अव्यापकश्च तस्यावयवावारकेण संयोग इति चेत्, न, यावति संयोगस्तावतः स्वल्पेनापि तदुपपत्तेः । यावत्तावदिति च भेदापेक्षम्, तत्कथं निर्भेदेऽवयविनीति चेत् ? कथं तत्र संयोगस्य कस्यचिदव्यापकत्वम् ? स्वतस्तस्य स्वल्पत्वादिति चेत्, न; स्वल्पत्वस्य गुणत्वेन संयोगेऽनवक्लृप्तेः; अवक्लृप्तावपि कथं तदधिष्ठितस्य तदव्याप्यत्वम् ? अवयविनः तदतिरेकेणापि प्रतीतेरिति चेत्; कथं तदतिरिक्तस्य तस्मादभेदो यत् सभाग एवाय न भवेत् ? कल्पितात् तर्हि तद्भेदात्तस्य तदव्यापकत्वमिति चेत्; न; तस्य द्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्, कल्पितद्रव्यवादे मतान्तरानुप्रवेशापत्तेः । अवयव्येव तस्याश्रय., अभेदस्तु तस्याव्यापकत्वमात्रमवकल्पयतीति चेत्, न; व्योमकुसुमादिवं कल्पितात् ततस्तदनुपपत्ते· । ततो वस्तुभूतादेव भेदात् तस्य तदव्यापकत्वमित्युपपन्नं तदेवावृतमनावृतं चैकमिति, तथाविलोकित-स्यान्यथाकरणायोगात् । एव तदेवैकं रक्तं रक्तैर्भागैर्नापरैः तथाविलोकनादेव प्रतिपत्तव्यम् ।

अथ मतं चलादेस्ततोऽर्थान्तरत्वात् अचलादिकमेव तत्त्वतस्तत्, ततो न चलाचलादि-रूपवत्तया जात्यन्तरस्यावलोकनमिति । तत्राह—

अन्यथा तदनिर्देश्यम् [नियमस्याप्यसम्भवात्] ॥१०४॥ इति ।

---

१ –स्याविना– ता० । २ "साधनाव्यावृत्तत्वेनेति पाठः ।"–ता० टि० । - ३ किन्तु विनाश एवेति भावः । ४ बौद्धमतप्रवेशापत्तिः । ५ –दिवत्कल्पि– आ०, ब०, प० ।

अन्यथा चलदेर्न ताद्रूप्यमपि तु व्यतिरेक इति प्रकारेण तत् द्रव्यम् अनिर्देश्यं पादे चेलं पाणावारक्तं विनष्टं चाङ्गुष्ठ इति व्यपदेश्यं न भवेत्, अर्थान्तरेण तदसम्भवात्, अन्यथा-आकाशादावपि तदापत्तेः। तदेवाह–'नियमस्याप्यसम्भवात्' इति। 'शरीरादिकमेव चेलादि नाकाशादिकम्' इति नियमस्य अपिशब्दात् तदभेदप्रतिभासस्य च असम्भवात्। सम्भव एव समवायादिति चेत्; तस्य निषेधात्। अभ्युपगम्याप्याह—

वृत्तावपि [न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते] इति।

वृत्तौ समवायसंज्ञायां सत्यामपि 'नियमस्याप्यसम्भवात्' इति सम्बन्धः तस्याः शरीरादिवदाकाशादावपि भावात्, तथा तदर्थान्तरभावस्याप्रतिक्षेपाच्चेति मन्यते। तत्रैवोपचयमाह– 'न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते' इति। तस्यैकस्येदं प्रस्तुतं विश्वरूपं द्रव्यं क्रियादि-समवाय इत्येकान्तभिन्नानेकान्तरूपत्वं न विभाव्यते कथञ्चित्तस्य तदभेदेनैव विभावनादिति मन्यते।

तदनभ्युपगमे दोषमाह—

सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः ॥१०५॥
प्रत्यक्षं यदि बाध्येत लक्षणं प्रतिरुद्ध्यते इति।

सम्यक् निरुपप्लवं ज्ञानं व्यवस्थाया इत्थम्भावेन वस्तुव्यवस्थितेः हेतुर्निमित्तम्। विनापि तेन तद्व्यवस्थायां न कश्चिदपि समीहितसिद्धविकलः स्यात्। ततो न विभ्रमवादाविक-मुपपन्न तत्र तस्याभावात्। भावे वा नं द्वाद्वादनु (दानु) पपत्तिरिति मन्यते। तच्च सर्वत्र बालाबलादिप्रसिद्धनीलपीतादावपि तद्धेतुर्न केवलमनेकान्तात्मनि, तथा च सिद्धा तद्वदेव तस्यापि व्यवस्था सम्यग्ज्ञानमुख्यस्य प्रत्यक्षस्यापि तत्रैव भावात्। भवदपि तदत्र बाध्यत इति चेत्; उच्यते–तत्पुनः सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनेकान्तविषयं यदि चेत् तद्विपर्ययकल्पनया बाध्येत तल्ल-क्षणनीलादेरपि सँतस्तस्मात् विषयीकरणं प्रतिरुद्धयते तत्रापि तस्य कैश्चित् स्वप्नादित प्रति-भासवत् बाधपरिकल्पनात्। कल्पनमेव तत्केवलं न कदाचिदपि निराकारस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिरिति चेत्; इतरत्रापि समानमेतत्–एकान्तव्यतिभिन्नस्य द्रव्यादेरपि अप्रतिवेदनात्। कथं पुनरनेकान्त-स्तात्त्विकः ? कथं च न स्यात् ? तस्य संशयादिदोषेणोपघातादिति चेत्, अत्राह–'सम्यग्ज्ञानम्' इत्यादि। व्यवस्थायाः संशयादिदोषपरिकल्पनायाः सम्यग्ज्ञानमेव हेतुः। वाङ्मात्रात्तद्व्यव-स्थायामतिप्रसङ्गात्। तथापि किमिति चेत् ? उच्यते-तत्पुनः अनेकान्तरूपं सर्वत्र बहिरिव संशयादिविकल्पेष्वपि प्रत्यक्षं स्वसंवेदनवेद्यं तँस्यैव तत्र सम्यग्ज्ञानत्वात्। तथा हि–संशयस्तावत् व्यभिचारीतरतत्प्रतिभासद्वयात्मकत्वात् अनेकान्तात्मकः अभिलप्येतराकारत्वाच्च, तथा विरोधादिवि-कल्पा अपि। तदात्मकत्वञ्च तत्र सर्वत्र स्वसंवेद्यं "सर्वचित्तचैत्तानाम्" [न्यायवि० पृ० १९] इत्यादि वचनात्। तत्रापि तद् यदि बाध्येत लक्षणम् अनेकान्ते दोषदर्शनं प्रतिरुद्धयते तथा सति

---

१ चलितं पा– आ०,ब०,प०। २ चलनादि आ०,ब०,प०। ३ व्यवस्थाहेतुसम्यग्ज्ञानस्य। ४ तद्बाधानुप–ता०। ५ सतस्तेन तद्विष– आ०,ब०,प०। ६ नीलप्रतिभासवत्। ७ "स्वसंवेदनस्यैव"–ता०टि०।

संशयादेरेव असम्भवात्। कुतश्च तत्रापि तद् बाध्येत ? तदन्यतः संशयादेरिति चेत्; न; तदन्यतः तद्बाधने अनवस्थापत्तेः। न बाध्यत एव तत्र तत्। संशयाद्यनुपक्रान्तस्यैव तस्य निर्णयादिति चेत्; अनुकूलमाचरसि, परत्रापि तादृशस्यैव प्रतिपत्तेः। पुनरपि तद दूषणमाह—

साङ्कर्यं व्यवहाराणां सन्निवेशविशेषतः ॥१०६॥

नानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते। इति।

न व्यवहाराणां प्रवृत्त्यादिरूपाणां साङ्कर्यम् इष्टे प्रवृत्त्यादिवत् इतरस्य अनिष्टेऽपि[1] निवृत्त्यादिवत् तद्विपर्ययस्य 'भावः स्यात्' इत्युपस्कारः[2]। कदा ? नानैकपरिणामोऽयं प्रतीयमानो यदि न व्यवतिष्ठते तद्व्यवस्थितौ न स्यादिति भावः। तथा हि—तदनवस्थितौ कस्य[3] प्रवृत्तिः ? चित्तक्षणस्येति चेत्; न; पूर्वापरीभावप्रसङ्गात् प्रवृत्तेस्तद्रूपत्वात्। तत्सन्तानस्येति चेत्; न; वस्तुतस्तस्यासत्त्वात्। कल्पनया सन्नेव स इति चेत्; न; तस्यापि वन्ध्यासुतवत् तदसम्भवात्। सापि कल्पनयैवेति चेत्; अप्रवृत्तिरपि तथैव स्यात्। प्रवृत्तिमेव कल्पयति लोक इति चेत्; तदनुसरणेन[4] नानैकपरिणामस्यैव सिद्धिः स्यात् "भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा निवर्तते।" [ ] इति तन्मतप्रसिद्धे.।

किञ्च, कल्पनं सन्तानस्य हेतुफलभावादेव सादृश्योपाधिकात्। तत्र[5] चोक्तं सुगतेतरज्ञानयोरपि तत्कल्पनमिति। सुगतवत् इतरस्याप्रवृत्तिरितरवच्च सुगतस्य प्रवृत्तिरिति सुव्यक्तं तत्साङ्कर्यम्। क्व वा प्रवृत्तिः ? द्रव्यादाविति चेत्; न; तस्य निरंशाणुरूपस्याप्रतिपत्तेः। तदणुव्यूहरूप इति चेत्; न; तस्य वस्तुवृत्तेनासत्त्वात्। कल्पनया सत्त्वमिति चेत्; न; तत इष्टसिद्धेरसम्भवात्। सम्भवे सद्व्य ह्यान्तरादपि करभाभिधानात् तत्प्रसङ्गः। तथा च—

कल्पनासत इष्टं चेत् तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ?॥१४६५॥
विशेषः कल्पनातश्चेदविशेषस्ततो न किम् ?
प्रवृत्तीतरसाङ्कर्यं यतो न स्याद् द्वयोरपि[6] ॥१४६६॥
विशेष एव तत्रास्ति यदि लोकधिया तदा।
नानैकरूपं तत्त्वं स्यात्तन्मत्येति निवेदितम् ॥१४६७॥

तथा, यौगादेरपि तत्साङ्कर्यं दधनि दधित्ववत् करभत्वस्य करभेऽपि करभत्ववत् दधित्वस्य तद्धेतोः समवायेन भावात्। नहि नियामकस्याविशेषे नियमः, नियाम्यस्य तस्यातन्निबन्धनत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम्—'साङ्कर्यं व्यवहाराणाम्' इति। नानैकपरिणामेऽपि कुतो न साङ्कर्यं दध्नः स्वपर्यायैरिव

१ 'अनेकान्तरूपम्' –ता० टि०। २ "अध्याहारः, सम्पर्युपात् कृञः सङ्भूषसमवाये, [शाकटा० ४।२।२११] उपाद्विकारप्रतियत्नवाक्याध्याहारे [४।२।२१२] सट्" –ता० टि०। ३ तस्य आ०, ब०, प०। ४ तदनुसारणेन आ०, ब०, प०। तदनुसारेणैव। ५ पृ०. टि०..। ६ "दध्युष्ट्रयोः" –ता० टि०।

तेषां च त[1]द्द्रव्येणेव करभादिपर्यायद्रव्यैरपि तत्परिणामस्यानिवारणादिति चेत्; न; स्वद्रव्यपर्यायापेक्षयैव वस्तुषु तस्य प्रतीतेः, तत एव तत्र त[2]स्य निवारणात् । निरूपितं चैतदसकृत् । अत एवोक्तम्- 'सन्निवेशविशेषतः' इति । अयमर्थः–सन्निवेशो नानैकरूपयोः कथञ्चिदविष्वग्भावस्तस्य विशेषः प्रतीतिप्राप्तं साङ्कर्यादिवैकल्यं ततः तत्परिणाम इति । कुतश्चाय निरंशवादे वस्तुषु स्थूलप्रतिभासः ? न चायं नास्ति; प्रसिद्धत्वात् । ए[3]कार्थकारित्वादिति चेत्; न; अर्थस्याप्यणुरूपस्याप्रतिवेदनात् । स्थूल[4]प्रतिभासरूप एव सोऽपीति चेत्; न; तस्याप्यन्यतस्तत्का[5]रित्वात् प्रतिभासकल्पनायामनवस्थानात् । तन्न तत्कारित्वम्, सत्यपि तस्मिन् न ततस्तत्प्रतिभासो व्यभिचारात् । अस्ति हि तत्कारित्वमिन्द्रियालोकादीनाम्, न च तत्र स्थूलैकप्रतिभासः, विषये चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात् । एतदेव दर्शयन्नाह–

सत्यप्येकार्थकारित्वेऽसंश्लेषपरिणामतः ॥१०७॥
इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा विरुद्ध्यते । इति ।

वाशब्दोऽयमिवार्थः, इन्द्रियादिष्वित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तदयामर्थः–सत्यपि विद्यमानेऽपि एकार्थकारित्वे एकप्रत्यवमर्शाद्येकप्रयोजननिष्पादकत्वे दध्यादिव्यपदेशविषयेषु नैकत्वं नैकप्रत्ययविषयत्वम् । कस्मात् ? असंश्लेषपरिणामतः ऐकान्तिकात् नानात्वपरिणामात् 'इन्द्रियादिषु वा' इत्यत्र दृष्टान्तः । तथा हि–न प्रकृताः परमाणवः एकप्रत्ययविषया एकान्ततो विश्लिष्टत्वात् इन्द्रियादिवत्' इत्यत्र परस्य पर्यनुयोगः 'यदि किम्' इति । यदि नैकत्वं किम् ? न किञ्चिद्दूषणमिति । अत्रोत्तरम्–विरुद्ध्यते इति । व्यवहार इति 'व्यवहाराणाम्' इत्यस्य विभक्तिवचनपरिणामेन सम्बन्ध । तथा हि–यदि विश्लेषेऽपि विवक्षितेष्वणुषु प्रवृत्तिः किन्न व्यूहान्तरगतेषु ? तैरेव तदभिमतस्य करणादिति चेत्; उक्तमत्र–दध्नि चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात् तदविशेषादिति । ततो वस्तुषु व्यवहारनियममिच्छता तात्त्विकमेव तेष्वेकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । त[6]दपि न संयोगसाहाय्यात्; यतः संयोगस्य का[7]र्त्स्न्यैकदेशाभ्यामयोगात् तदयोगः प्रकल्प्येत अपि तु तथैव परिणामात् । न हि तत्र तत्साहाय्येन किञ्चित्, अन्यथा तत्परिणामेऽपि तदपरपरिणामोपकल्पनायामनवस्थापत्तिः । न चैवं "भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः" [त० सू० ५।२८] इति सूत्रविरोधः; सङ्घातशब्देनापि तत्परिणामसमर्थव्यवधानविकलस्य वस्तुस्वरूपस्यैवाभिधानात्, नैकदेशादि[9]ना परस्परानु[8]प्रवेशो स्वतः सांशत्वमणूनां पिण्डस्य वाऽणुमात्रत्वम् । वक्ष्यति चैतत्-"नैरन्तर्यं निरंशानाम्" इत्यादिना[10] । ततः सति सङ्घाते [11]तस्मादसति तु स्कन्धादेव स्कन्धस्योत्पत्तिः, अत एव भेदग्रहणम् । न हि भेदात्तदुत्पत्तौ सङ्घातः, घटस्कन्धादेव भेदिनोऽनेकस्य कपालस्कन्धस्योत्पत्तिदर्शनात् । [12]अभिन्नात्तर्हि कथमभिन्नस्योत्पत्तिः सूत्रेण तदनुक्तेरिति

---

१ दधिद्रव्येणैव । २ साङ्कर्यस्य । ३ "एकप्रत्यवमर्शाद्येकप्रयोजन-निष्पादकत्वात्" ता० टि० । ४ –प्रतिरूप आ०, ब०, प० । ५ –तत्कार्यत्वात् आ०, ब०, प० । ६ एकत्वमपि । ७ "सर्वात्मना" –ता० टि० । ८ –प्रवेश्य स्वतः आ०, ब० । प्रवेश्यस्ततः प० । ९ "एकदेशेन सम्बन्धे परमाणोः षडंशता । सर्वात्मना तु सम्बन्धे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ।" –ता० टि० । १० न्यायवि० श्लो० २८३ । ११ तथापरिणामरूपात् संघातात् । १२ "अभिन्नात् मृत्पिण्डादेः अभिन्नस्य शिवकादेः' –ता० टि० ।

चेत् ? न; सङ्घातशब्देन अभेदस्याप्यभिधानात्। [1]द्विविधो हि सङ्घातो नैरन्तर्यभेदविकल्पात्। नाऽयुक्तम् अणोरण्वन्तरस्येव स्कन्धादपि स्कन्धस्योपजननम्। ततो न स्वलक्षणैकान्तवादसम्भवः कथं पुनः स्कन्धादपि स्कन्धस्योत्पत्तिः ? कथं च न स्यात् ? 'विवादापन्नः स्कन्धस्तदवयवसंश्लेषपूर्वकः स्कन्धत्वात् पटवत्' इत्यनुमानेन तत्प्रतिक्षेपादिति चेत्; न; शिवकस्य [2]पिण्डादेवोत्पत्तिदर्शनात् ? तदेव तेन प्रतिक्षेपादप्रमाणमिति चेत्; तन्तुपटभेददर्शनमपि[3] स्यात् सर्वभेदस्यापि [4]कैश्चिदनुमानात्। तथा च कथन्न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः स्यात् ? अपरिस्खलद्रूपतया [5]लोकैः परिगृहीतत्वात्, [6]तद्भेददर्शनमेव तस्य प्रतिक्षेपकं न तत्तस्येति चेत्; समानमितरत्रापि।

किञ्च, शिवकस्य तदवयवाः सहजन्मानः, पूर्वजन्मानो वा हेतवः स्युः ? पूर्वजन्मान इति चेत्; कुतस्तथा नोपलब्धिः तन्तुवत् ? अस्त्येवेयं केवलमाशुभाविन्या शिवकोपलब्ध्या तिरोधानान्नोपलक्ष्यत इति चेत्; अनुपलक्षिता कथमस्ति ? भवति चैवमतिप्रसङ्गः–'शिवकोऽपि प्रागेवास्ति, तदुपलब्धिरपि केवलं कुतश्चित्तिरोभावान्नोपलक्ष्यते' इति वदतोऽपि दुर्निवारत्वात्। तर्हि मा भूदुपलब्धिरेव तेषाम् [7]अयोग्यत्वादिति चेत्; आरब्धशिवकानामपि न भवेत् तदापि तद्रूपापरित्यागात्। तत्परित्यागे वा कथन्न परिणामवादः–तत्परित्यागेन तद्योग्यस्वभावोपादानात् ? [8]तयोस्ततो भेदान्नेति चेत्; कथमेवं तौ तस्य ? तत्र समवायादिति चेत्; सोऽपि यदि युगपत्; तदुपलब्ध्यनुपलब्ध्योरपि यौगपद्यप्रसङ्गः। क्रमादिति चेत्; कुतः क्रमः ? स्वकारणादिति चेत्; ननु अवयवा एव तत्र समवायिकारणम्, तत्रश्चाक्रमात् कथं तत्क्रमः तदक्रमस्यैवोपपत्तेः, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्, वक्तव्य एव कारणस्यापि क्रम इति कथन्न तद्वादः ? तत्क्रमस्यापि क्रमान्तरसम्बन्धादेवाभ्युपगमे अनवस्थापत्तेः। ततः पश्चादपि तस्यापरित्याग एवेति कथं शिवकस्याप्युपलब्धिः अवयवोपलम्भविकलस्य तस्याप्रतिपत्तेः क्षणिकस्वलक्षणवत्। तन्न पूर्वजन्मनां तेषां तद्धेतुत्वम्। नापि सहजन्मनाम्; अनिष्पन्नानां तदयोगात्। निष्पन्नानाञ्च सहनिष्पन्नं प्रत्यनुपयोगात्। तत्र तस्य तदवयवसंश्लेषपूर्वकत्वसाधनमुपपन्नं प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्य स्कन्धपूर्वकत्वस्यैवोपपत्तेः। कथं तर्हि तत्र अवयवावयविव्यपदेशो जन्यजनकभावाभावे तदयोगादिति चेत् ? न; तदभावेऽपि तथापरिणामादेव तद्व्यवस्थितेः। ततः सूक्तम्–'साङ्कर्यं व्यवहाराणाम्' इत्यादि। अस्यैव तात्पर्यं विस्तरतो व्याख्यातुकाम आह–

तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः ॥१०८॥
स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः। इति।

तत् तस्मादनन्तरन्यायात् अनेकोऽवयवो[9]ऽर्थोऽवयवी तयोः संश्लेषश्च सङ्घातः विश्लेषश्च भेदः परिणामश्चाकारान्तरागमनं तेभ्यस्ततः स्कन्धः। तु शब्दोऽवधारणे तत एवायं न

१ विविधो आ०, ब०, प०। २ शिवकस्य पिण्डोत्पत्तिदर्शनमेव। ३ "अप्रमाणं स्यादिति सम्बन्धः" –ता० टि०। ४ वेदान्तिभिः। ५ लोके परि– आ०, ब०, प०। ६ ततो भेद–आ०,ब०,प०। ७ "उपलब्ध्ययोग्यत्वतद्योग्यत्वस्वभावयोः" – ता० टि०। ८ 'तस्येति जात्येकवचनम्, शिवकावयवानामित्यर्थः।" –ता० टि०। ९ –यवार्थोऽव– आ०, ब०, प०।

प्रकारान्तरादिति । तत्र संश्लेषोऽनेकस्य विश्लेषपरिणामावर्थस्येति प्रतिपत्तव्यम् । दृश्यते हि तद्विश्लेषादपि स्कन्धो घटभेदजन्मनः कपालस्कन्धस्य प्रतीतेः । घटकालेऽपि तत्स्कन्धो विद्यत एवेति चेत्; सत्यम्; तदा तदात्मनो भावो न केवलस्य, तस्य तु तत एवोत्पत्तिः तथा दर्शनात्, अन्यथा न कस्यचिदपि कुतश्चिदुत्पत्तिः । एवमपि किं विश्लेषग्रहणेन परिणामत इत्येव गतत्वात्, कपालस्कन्धस्यापि प्राक्तनतदवयव्यभिन्नाकारपरिहारेण तद्भिन्नाकारस्योत्पत्तेरिति चेत्; न; विश्लेषस्यापि तद्विशेषत्वात्, किमर्थं तर्हि पृथग्वचनमिति चेत्? मुद्गरादिसन्निपातात् केवलं नाश एव घटस्य कपालस्कन्धस्तु प्रागपि विद्यते इति मतस्युदासार्थम् । तत्परिणामाच्चु तदुत्पत्तिरभिहितैव । अनेकसंश्लेषेत्तु तद्वचनं दृष्टान्तार्थम्, परस्यापि प्रसिद्धत्वात् । तत्रायं प्रयोगः–यद् यतो दृश्यते तत्तत एवोत्पत्तिमत्, यथा अनेकसंश्लेषाद् दृश्यमानस्तत एव स्कन्धः, दृश्यते चार्थविश्लेषपरिणामाभ्यामपि कपालशिवकादिस्कन्ध इति ।

स च स्कन्धः सप्रदेशः स्वतः कथञ्चिदभिन्नावयवः सहशब्दस्याभेदवाचित्वात्, अत एव अंशी न भिन्नावयवसमवयात्, तस्य निराकरणात् । न चात्र विप्रतिपत्तिः प्रामाणिकस्य साक्षादेव निरीक्षणात् । अत एवोक्तम्– 'बहिः साक्षात्कृतो जनैः' इति ।

इदानीं तत्साक्षात्करणेनैव विपक्षाभ्युपगमं प्रतिक्षिपन्नाह–

नानाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत् ॥१०९॥
तादात्म्येन [पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ।] । इति ।

आकारो भागः ततो भागाद् भिन्नम् अनाकारमेकमवयविद्रव्यं तस्य विज्ञानं स्वबुद्धया कल्पनम् । क तत्? स्वाधारे अवयवकलापे । किंवत्? बदरादेरिव तद्वत् । यथा बदरादेः स्वाधारे विज्ञानं कुण्डे बदरादिरिति तथा अवयविनोऽपि कपालेषु घट इति बद्विज्ञानं परस्य तद् न । केन? तादात्म्येन । तादात्म्यमवयवतद्वतोः कथञ्चिदभेदः तज्ज्ञानमिह तादात्म्यं विषयशब्देन विषयिणोऽभिधानात् । तेन नहि तत्राभेददर्शने भेदकल्पनमुपपन्नम्, सर्वत्र दृष्टविपर्ययकल्पनापत्तेः । भेदे दूषणान्तरमप्याह–'पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते' इति । अवयवतद्वतोरेकान्ततः पृथग्भावे हि वृत्तिभागिषु तद्वतः सम्बन्धो विकल्प्यते– 'किमेकदेशेन सर्वात्मना वा' इति । तत्र च दोषो भवति अनवस्थानादिति मन्यते । नास्ति तत्र तद्विकल्पः तस्य भेदनिष्ठत्वात् अवयविनश्च निर्भेदत्वात् ततो न देशतो नापि कार्त्स्न्यतस्तस्य तत्र वृत्तिरपि तु स्वरूपेणैव तथा दर्शनादिति चेत्; भवेदेवेदं यदि तथादर्शनं लभ्येत । न चैवम्, कथञ्चित्तदभेदस्यैवोपलम्भात् । तदेवाह–

दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः ॥११०॥ इति ।

सप्रदेशो जैनस्यावयवी यौगस्य अप्रदेशः तयोर्यथाक्रमं दर्शनमदर्शनं च स्याताम् ।

---

१ "घटात्मनः" –ता० टि० । २ –त्पत्तिरिति आ०, ब०, प० । ३ चंश्ले– आ०, ब०, प० । ४ घासद– आ०, ब०, प० । ५ "स्वतः कथञ्चिदभिन्नावयवः" –ता० टि० । ६ "प्रदेशेभ्योऽवयवेभ्यो भिन्नः अप्रदेशः" –ता० टि० ।

विधिपदं तदस्तित्वज्ञापनार्थं विधेरज्ञातज्ञापनार्थत्वात्, ततो न स्वरूपेणापि वर्तनं तस्येत्यभाव मन्यते। अथवा दर्शनमवयविनोऽवयवेषु वृत्तिरिति मतम्। अदर्शनं तद्विपर्ययस्ते स्याताम्। कयोः सप्रदेशाप्रदेशयोः भावप्रधानोऽयं निर्देशः। ततः सप्रदेशत्वे दर्शनमप्रदेशत्वे च अदर्शनमित्यर्थः. नहि प्रदेशनिष्क्रान्तस्य केवलस्य तत्र वृत्तिर्नाम। असिद्धस्तन्निष्क्रम इति चेत्; न; पाणेर[1]ऽपि देहस्य तदविभागेन तत्प्रसिद्धेः। न हि पाणेस्तद्विभाग एव देहस्यापि तद्विभागः तस्य[2] तत्का[3]र्यत्वात्। "पाण्याकाशविभागात् तत्संयोगविनाशसव्यपेक्षात् देहाकाशविभागः।" [ ] इति स्वयमभ्युपगमात्। ततो विभक्तेऽपि तस्मिन् स्वयमविभक्तस्य न तत्र वृत्तिः द्रव्यान्तरवत्। विभज्यत एव सोपि तस्मादिति चेत्; न; पाणिविभागावस्थायां तदभावात्। न चैकस्यैव निष्पर्यायं तत्र वृत्तिरवृत्तिश्चोपपन्ना विरोधात् वृत्तिरेव नावृत्तिः। समदेशवृत्तेरेव तस्यापि वृत्तित्वात्, इतरत्रावृत्तिरेव तस्याप्यवृत्ति किन्न स्यात्? वृत्तेरेव तत्र दर्शनादिति चेत्; न; इतरत्रापि विपर्ययस्यैवोपलम्भात्। तयोस्तत्राविरोधे वा अवयवभेदाभेदात्मकत्वस्याप्यविरोधाद्व्यर्थं तदेकान्तभेदकल्पनमिति मन्यते। भवतु तर्हि भवत्परिकल्पितस्यापि स्कन्धस्याभावो भेदाभेदयोरेकत्र विरोधादिति चेत्; अत्राह—

विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुद्ध्यते । इति ।

स्कन्धोऽवयवी विरुद्ध्यते विघट्यते किल 'नेति'[5] इत्यर्थः। किलशब्दस्यारुचिसूचकस्य तात्पर्यतो नञर्थत्वोपपत्तेः। केन न विरुद्ध्यते? विरोधस्य सहानवस्थानादेरनुपलम्भोऽदर्शनं तेनेति। तथा हि—न तयोः सहानवस्थानम्; सहैव प्रतिपत्तेः। नापि परस्परपरिहारः, कथञ्चित्तदपरिहारस्यापि प्रतीतेः, कथञ्चित् परिहारस्य च तत्सिद्ध्यनुकूलत्वात्। कथं पुनस्तादृशस्यापि दर्शनम्? कथं च न स्यात्? अर्वाग्भागदृष्ट्या परभागादेरपि दर्शने तदनुमानाभावप्रसङ्गात्। अदर्शने तदभेदात् अर्वाग्भागस्याप्यदर्शनमित्यनुपलम्भादभावस्यैव प्राप्तेरिति चेत्; अत्राह—

सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः ॥१११॥
इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीक्ष्यते । इति ।

योग्यपेक्षया केवलं न सम्भवत्यपि तु छद्मस्थापेक्षया सम्भवत्यपि दर्शनादर्शनयोरुपलम्भानुपलम्भयोः स्थितिरविचलनम्। कासाम्? मात्राणां स्कन्धभागानाम्। कुत एतत्? इदं पुरोवर्ति स्तम्भादि चित्रं नानारूपमेकं च यत् यस्मात् ईक्ष्यते दृश्यते इति। तात्पर्यमत्र यद्येकान्तेन मात्राणामभेदस्तदा भवति दर्शनमेवान्यदेव वा इत्येकान्ते, न चैवम्, कथञ्चित्तासां भेदस्यापि प्रतिपत्तेः। ततो नाऽयुक्त तासामर्वाचीनानां दर्शनम्, अदर्शने च पराचीनानामितीक्ष्यते इति। अनेनापि-

"चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः" [प्र० वा० २।२००] इति प्रतिक्षिप्तम्; [6]ईक्षिते अनुपपत्तेरसम्भवात्। तदपि युक्त्यसङ्गतमनुपपन्नमेवेति चेत्; न; ईक्षणस्यापि युक्तित्वात्,

---

१ देहाकाशविभागस्य। २ पाण्याकाशविभागकार्यत्वात्। ३ –ति कि– आ०, ब०, प०। ४ नार्थ– प०। ५ "सौगतवैशेषिकप्रश्नयोः' –ता० टि०। ६ दृष्टे वस्तुनि। ईक्षितेरनुप– आ०,ब०,प०।

अन्यथाऽनुमानस्यापि न तत्त्वं तदुपाश्रयादेव तस्याप्यवस्थितेः, ततो दुर्भाषितमिदम्[1] ।

"युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे ।" [ ] इति ।

दृष्टावश्रद्धायां युक्तेरेवानुमितिरूपाया असम्भवात्, तया गगनकमलिन्येव कस्यचिद्घटनाघटनयोरनुपपत्तेः । तत्सम्भवे वा कथं दृष्टावश्रद्धानम् ? यतः, दृष्ट्वापीत्यादि शोभेत । किञ्च,

युक्तिरप्यन्यया युक्त्या श्रद्धेया घटनाद्यदि ।
तदान्यैव साप्यन्येत्यनवस्था प्रसज्यते ॥१४६८॥
स्वत एव यदि श्रद्धा युक्तौ दृष्टा न किं तथा ।
व्यभिचारावलोकाच्चेद्युक्तौ[2] किन्नैष विद्यते ॥१४६९॥
हेत्वाभासोपजातायां तस्यां भूयस्तदीक्षणात् ।
युक्तिरेव न सा तस्या युक्त्या भामत्वतो यदि ॥१४७०॥
दृष्ट्याभासैव सापि स्याद्यत्रास्ति व्यभिचारिता ।
तथा च सति दृष्टेति जाघटीति न ते वचः ॥१४७१॥
दृष्ट्याभासाववुद्धस्य दृष्टत्वानवकल्पनात् ।
लोकरूढ्या तथोक्तिश्चेत् साक्षाद्दृष्टं न दुर्घटम् ॥१४७२॥

निदर्शनमत्र[3] 'विज्ञानमन्यद्वा' इति । प्रत्यक्षविषये किं तेन. अन्यथा तत्रापि तदन्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत् ? सत्यम्; तथापि प्रत्यक्षव्यापारमतिक्रम्य वैयात्याद् वोधमुद्बोधयतो निवारणार्थं तद्वचनम् । न चैवमनवस्थानम् ; अविप्रतिपत्तिस्थाने तदन्तरस्याऽनवकल्पनात् । तादृशं च परस्य[4] विकल्पेतरविभ्रमेतराद्यात्मकं चित्रविज्ञानम् । तथा वैशेषिकस्य विज्ञानाद् अन्यत् पटचित्ररूपम् । न हि तदेकमेव; चित्रावभासनात् । नाप्यनेकम्; "युगपदेकत्र बहूनि कर्माणि न वर्तन्ते सजातीयत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे एकद्रव्यत्वे च सत्यविशुद्धव्यवृत्तित्वात् रूपवत्" [ ] इत्यत्र निदर्शनस्य साध्यवैकल्यापत्तेः । ततः शबलैकस्वभावमेव तत् । निरूपितं चैतत् स्वयमेव–"गुणाश्च गुणान्तरम्" [वैशे० सू० १।१।१०] इत्यत्र सूत्रे । चाशब्दोऽयमिवार्थः ततो यथा तद्विज्ञानं तच्च रूपं चित्रैकस्वभावमपि संशयादिना नोपपीड्यते, तस्यैव[5] [illegible] इनात्, तथा स्तम्भादिकमपि तथाविधमिति तात्पर्यम् । भवतु चित्रमेकवस्तु तथापि कुतः [illegible] सति मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिरिति चेत् ? अत्राह—

अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे ॥११२॥ इति ।

सकलविषयसाक्षात्कारिज्ञानसम्पन्नात् आत्मनोऽन्ये आत्मानो [illegible] संसारिणः तेषां भेदाः शक्तिरूपा विशेषाः तेषामानन्त्यात्[7] अन्तो विषयस्य परमाणादिः

---

१ उद्धृतमिदम्– अष्टश० अष्टसह० पृ० २३४ । २ –युक्तं कि– आ०, ब० ३ "इद चित्रमेकं यदीष्यते इत्यत्र" –ता० टि० । ४ "सौगतस्य" –ता० टि० । ५ चित्रं,वि– प० । ६ संशयादेरेव । ७ अन्त्यो आ०, ब०, प० ।

विद्यते विषयत्वेन येषां तेषां भावात् आनन्त्यात् सन्मात्रवस्तुधर्मे तेषामप्रवृत्तेः । सति तासां तत्स्थितिरिति । कथमेवमपि दृष्टस्यैवादृष्टोऽपि भाग इति प्रतिपत्तिः ? न तद्दर्शनादेव; तस्य तत्राप्रवृत्तेः । नापि तद्विषयात् दर्शनान्तरात्; तस्य दृष्टे प्रवृत्त्यभावात् । अत एव नोभाभ्यामपि । न च तदेकं तद्विषयमस्ति । सकृत्तस्य भावे दृष्टेतरविभागानुपपत्तेः । क्रमेण भावे परापरतत्कारणवैफल्यम् आदितद्व्यापारादेव तस्योत्पत्तेरिति चेत्; अत्राह—

नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥११३॥ इति ।

नाना यत् कारणं परापरचक्षुरादिव्यापारलक्षणं तस्य सामर्थ्यात् ज्ञानं रूपादिप्रत्यक्षं भेदेन तदुत्पन्ननानातिशयक्रमरूपेण भासते । भासत इत्यनुभवप्रसिद्धमिदं न स्वरुचिविरचितमिति दर्शयति । तत्क्रमस्य तस्मादभेदे तदवस्थं तद्वैफल्यमुत्पत्तिभेदाभावात् । भेदे वा स कुतस्तस्य ? ततोऽपि तत्क्रमस्यापरस्य भावात्; न; अनवस्थापत्तेरिति चेत्; अत्राह—

भेदसामर्थ्यमारोप्य [प्रत्यासत्तिनिबन्धनम्] इति ।

भेदश्च तत्क्रमात् तस्यार्थान्तरत्वम् सामर्थ्यं चैकत्वम्, सकृत्तस्यैकस्यार्थस्य भावः सामर्थ्यमिति व्युत्पत्तेः । तदुभयमारोप्य आत्मन्यवस्थाप्य ज्ञानं भासत इति सम्बन्धः । तात्पर्यमत्र—नैकान्ततस्तस्य तस्मादभेदो भेदो वा यतः प्रागुक्तदूषणम् अपि तु कथञ्चिदेव । ततः सत्यप्यभेदे नोत्पत्तिभेदाभावः; भेदापेक्षया तदुपपत्तेः । तथा न भेदेऽपि तस्येतरेतरविषयासङ्क्रमः; तस्याप्यभेदापेक्षया सुलभत्वात् । ततो युक्तं तद्बलेन दृष्टस्यैव अदृष्टमपीति । ज्ञानमिति यथा प्रत्यासत्त्या तत्क्रमस्तद्विज्ञानरूपमेव एकमाकारमात्मसात्करोति नापरं साङ्कर्यापत्तेः; तथा तत्फलमेव कुर्वीतेति पर्याप्तं तज्ज्ञानेन प्रयोजनाभावात् पारम्पर्यदोषाच्च । इत्येतदेवाह परः—

प्रत्यासत्तिनिबन्धनम् ।

चोद्यं महति [नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति] ॥११४॥ इति ।

महाविषयत्वात् प्रकृतं विज्ञानं महत् तत्र चोद्यम् उक्तरूपं प्रत्यासत्तिप्रयुक्तं भासते इति सम्बन्धः । तत्रोत्तरमाह—'नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति' इति । तच्चोद्यं नीलधवलादौ विषयाकारे च विज्ञाने सदृशम् । तथा हि—यथा प्रत्यासत्त्या वस्तुरूपं विज्ञानं च नियतमेव नीलाद्याकारं विषयाकारं च आत्मसात्करोति नापरं साङ्कर्यस्य सर्वग्रहणस्य च प्रसङ्गात्, तथैव स्वयमतदाकारमपि तत्फलमेव कुर्वीतेति विजयेरन् निराकारतद्विज्ञानवादिनः । तथाविधं वस्तु विज्ञानं वा दृश्यत इति चेत्; न; अतत्क्रमेऽपि तुल्यत्वात् । न हि तस्यापि कथञ्चिदेकत्वरहितस्य प्रतिपत्तिः । निवेदितं चैतत्—'भेदज्ञानात्' इत्यादिना । सति चैवमनुपप्लवदर्शनविषयत्वे स्कन्धस्य यज्जातं तदाह—

सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः ।
अन्यथा नाप्रदेशादीत्यपरैर्दत्तमुत्तरम् ॥११५॥ इति ।

---

१ न दर्श– आ०, ब०, प० । २ ज्ञानात् । ३ –त्तिभावा– ता० । ४ –वादनवस्था– ता० । ५ "स्वस्मिन्" –ता० टि० । ६ न्यायवि० श्लो० ११४ ।

स्कन्धस्यावयविनो न सम्भवः। कस्मिन् सति ? श्लेषविश्लेषे सङ्घातविघटने। केषाम् ? अणूनाम्। न हि तेषां तद्विश्लेषे स्कन्धोऽतिप्रसङ्गात्। तदविश्लेषे तत्सम्भव इति चेत्; उच्यते–अन्यथा तदविश्लेषप्रकारेण प्रदेशरहितत्वम् अप्रदेशो भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य, तदादिर्यस्य पिण्डाणुमात्रत्वादेः तद् अप्रदेशादि न स्यात्। सप्रदेशाद्येव स्यात्। कथम् ? सर्वथा सर्वप्रकारेण। तथा हि–यद्येकदेशेन तेषां संश्लेषः; सांशत्वम्। कार्त्स्न्येन चेत्; पिण्डस्याणुमात्रत्वम्। अर्थान्तरसंश्लेषसम्बन्धात् तेषु तत्सम्भव इति चेत्; सर्वेषु तत्प्रसङ्गस्तदविशेषात्, तथा च जगदेकस्कन्धं प्राप्नुयात्। इति एवम् अपरैः सौगतैः दत्तं दूषणमिति शेषः। तत् किम् ? 'उत्तरम्' इति। स्कन्धवादमित्युत्तरम्। नेति सम्बन्धः। तथा हि–इदमपि दूषणं शब्दात्मकं तदुत्पाद्यज्ञानात्मकं वा यदि स्कन्धरूपम्; कथं तद्वादमतिक्रमेत् ? तद्वदेव स्कन्धान्तरस्यापि कथञ्चिदवस्थितेः। ने ह्यात्मानं तद्रूपमनतिक्रमदेव तादृशमपरमतिक्रमितुमर्हति। निरंशैकाणुरूपं चेत्; न; शब्दस्य तादृशस्य अवाचकत्वात्, अशक्यसमयत्वात्। वाच्यत्ववत् तदेव कल्पितस्कन्धरूपतया वाचकमिति चेत्; न; कल्पितस्य नित्यादिवत् अर्थक्रियानुपयोगात्, ज्ञानं च तदुत्पन्नं कथन्नाम अणूनां षडंशत्वादिकं प्रतिपद्येत ? निरंशैकस्वभावस्यानेकाकारगोचरत्वासम्भवात्। कल्पनया सांशस्य तत्सम्भव इति चेत्; न; कल्पितदूषणेन वस्तुप्रतिक्षेपायोगात्। ततः तात्त्विकमेव शब्दस्य तज्जनितज्ञानस्य च स्कन्धात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यमिति कुतः स्कन्धवादस्योत्तरणम् ? कथं तर्हि स्कन्धस्तेषां श्लेषाभावे अतिप्रसङ्गादिति चेत्; न; तद्दर्शनादेव श्लेषस्यापि तदनुगुणस्यावकल्पनात्। स च नैरन्तर्यमेव संसर्गविकल्पादेः तत्रानवतारात्। अन्यथा अणुवादेऽपि न ततो निर्मुक्तिरणूनां येन केनचिन्निरन्तराणामेव सम्भवात्। ततो निर्दोषत्वात् स एव तदनुगुणः श्लेष इति कथं तदभावः ? इदमेवाह–

नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम्। इति।

निरंशानामणूनां तेष्वेव "नाणोः" [त० सू० ५।११] इति प्रदेशप्रतिषेधात् नैरन्तर्यं व्यवधानवैकल्यम्। तत्किम् अतिरेचयति षडंशत्वाद्यापादने नाधिकं करोति पिण्डाणुत्वापादनेन वा। अतीव रेचयति इत्यतिरेचनं स्वभावस्य नातिरेचनं स्वभावानतिरेचनम्। अतः स एव तेषां तदनुगुणः श्लेष इति भावः। ननु यदि स्कन्धात्तदवयवानां तेभ्यो वा स्कन्धस्याभेद एकान्ततः, एक एव नानैव वा स इति कथमेकानेकात्मकत्वमस्य ? इत्यत्राह–

चित्रश्चैत्तविचित्राभदृष्टभङ्गप्रसङ्गतः ॥११६॥

स नैकः सर्वथा श्लेषात् नानैको भेदरूपतः। इति।

सः स्कन्धः नैको नाप्यनेकः। कथम् ? सर्वथा। कुतः ? श्लेषात्, ततो भागानां तेभ्यश्च तस्य श्लेषस्याभेदस्य भावात्। सर्वथेति योज्यमत्रापि। अश्लेषोऽपि भेदरूपतः कथञ्चिदवयवतद्वतां भेदस्य भावात्। अनवस्थादिना एवंविधोऽप्ययं दुष्यतीति चेत्; न; तस्य बहुकृत्वः प्रतिक्षेपात्।

१ न स्वात्मान आ०, ब०, प०। २ वाच्यवत् आ०, ब०, प०।

अन्यथा स्वयमभिमतस्य निर्णयेतरादिरूपतया चित्रस्य चैत्तस्य विकल्पस्य रूपरसादिविषयत विचित्राभस्य च दृष्टस्य कर्कटीभक्षणकालभाविनो दर्शनस्य भङ्गप्रसङ्गतः, तद्दोषस्य तत्रापि प्रवेशात् । ततः किम् ? इत्याह–

स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते । इति ।

स्कन्धोऽवधार्यते निश्चीयते । केनात्मना ? मात्रानुरोधेन मात्राणां तद्भागानामनुरोधः कथञ्चित्परस्पराविष्वग्भावः तेन[1] न तत्समवेतेन रूपान्तरेण, ततो निश्चयनिराकृतं तत्कल्पनमिति भावः । किन्निमित्तं तदवधारणम् ? व्यवहारे । व्यवहारनिमित्तम् । ततोऽन्यत्र तत्कल्पनमपि प्रतिक्षिप्तमिति मन्यते । कुतः पुनरन्योऽन्यात्मगमनेनैव तस्यावधारणं न रूपान्तरेणेति चेत् ? अत्राह–

सङ्ख्यादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ॥११५॥ इति ।

सङ्ख्यानं सङ्ख्या तच्च गोचरविषयं न स्वरूपगोचरं तत्र भेदस्य[2] भावात् । आदि-शब्दाद्रूपादिकम् , तस्य समभावो भागेभ्यस्तत्त्वतो भेदः तस्मिन् सत्यपि तत्स्वभावस्य स्कन्ध-स्वरूपस्य विवेकतो विनिश्चयात् तेनैव सोऽवधार्यत इति । रूपान्तरेण तदवधारणे तत्साम्यानुपपत्तेः । निरूपित चैतत्—"तुलितद्रव्यसंयोगे" इत्यादिना[3] ।

तथापि तमनभ्युपगच्छतो दूषणमाह–

अतादात्म्यस्वभावे वा स्यानर्थक्यादलं परैः । इति ।

अतादात्म्यम् अमात्ररूपत्वं सर्वथा तद्व्यतिरेकात् स्वभावो यस्य तस्मिन् वा स्कन्धे परैस्तद्भागैरलं पर्याप्तम् । कस्मात् ? आनर्थक्यात् आफल्यात्, एतच्च जलाहरणव्रीहिधारणादेः फलस्य स्कन्धादेव भावात् । ततोऽपि तत्सहायादेव तत् न केवलादिति चेत्; न; केवलस्यैव सामर्थ्ये तदनपेक्षणात् । असामर्थ्ये न तत्सहायादपि व्योमकुसुमादेरपि तत्प्रसङ्गात् । तत एव सामर्थ्यं तस्येति चेत्; न; व्यतिरेके तस्येत्ययोगात् । अव्यतिरेके तत इत्यनुपपत्तेः । कथञ्चिद्व्यतिरेके वा स्कन्धः परिणामी स्यात्- असमर्थरूपपरित्यागेन समर्थरूपोपादानात् । तथा च क्रमवद्युगपदपि नानात्मकत्वोपपत्तेः नैकान्तमवयवव्यतिरेकः[4] तस्य । स्वतः समर्थस्य सहायापेक्षणं बहुकृत्वोऽपि प्रतिक्षिप्तम् । न[5] च पक्षान्तरेऽप्ययं दोषः; सहकारीतरकारणकलापस्य परस्पराऽपादितातिशयस्यैव कार्ये व्यापारात् । वक्ष्यति चैतत्–"अर्थस्यानेकरूपस्य" इत्यादिना[6] । तत्र जलाद्याहरणं तेषां फलम् । तदाधारतया स्कन्धस्य स्थापनमिति चेत्, ननु स्थितिकरण स्थापनम्, स्थितिस्वभावस्य च किं तत्करणेन स्वयमेव स्थितेः ? अतत्स्वभावस्याप्यवश्यम्भाविनिपातत्वात् । तत्स्वभावतया तत्करणमिति चेत्; न, तदन्यस्वभावा-परित्यागेन तदयोगात् । तत्परित्यागे परिणामवादप्रसङ्गात् । यदि च तस्य तैः स्थापनं कथं विनाशः ? तद्धेतोरिति चेत् ; कुत एतत् ? तत्र तस्य सामर्थ्यात्, स्थापकसामर्थ्यात् स्थितिरपि

---

१ तेन तत्स–आ०, ब०, प० । २ भेदस्वभा–आ०,ब०,प० । ३ न्यायवि० श्लो० ११०९ । ४ अवयवाद्भिन्नत्वम् । ५ न पक्षा–ता० । ६ न्यायवि० श्लो० २९९ ।

स्यात् । स्थापकस्यैव ततो नाश इति चेत्, न; पटविनाशेऽपि तन्तूनां प्रतीतेः । तत्सामर्थ्यस्य नाश इति चेत्; न; तस्य तदव्यतिरेकात् । व्यतिरेके वा कथं तेषामेव न सर्वस्यापि ? तत्रैव स्थितेरिति चेत्; न तर्हि तस्य विनाशः[1] तैरवस्थापनात् । तत्स्थापनसामर्थ्यमपि तेषां नाश्यत इति चेत्, न; तस्य तदव्यतिरेकादित्यादेरनुषङ्गात् अव्यवस्थापत्तेश्च । तत्र तत्रैव स्थिते(ति)स्तेषाम् । तत्सहायत्वादिति चेत्; न, स्वतः सामर्थ्येतरयोस्तदपाकरणात् । सहायस्यापि तदवस्थापकसहायविनाशद्वारेण विनाशकल्पनायामपरावस्थानप्रसङ्गाच्च । तन्न स्थापकसामर्थ्यनाशनेन स्थाप्यनाशनमुपपन्नम् । ततो न भागानां भागवदवस्थापनं प्रयोजनम्; सत्सु तेषु तदविनाशापत्तेः । नापि तदुपलम्भनम्, अनुपलब्धानां परभागादिवत्तदसम्भवात्, इन्द्रियसन्निकर्षस्यापि तत्रै[2] दुरवबोधत्वात् । नाप्युपलब्धानाम्; अद्य(णु)कादेः तदवयवोपलम्भाभावेनानुपलब्ध्या परापरतदवयविनामुपलम्भस्यैवासम्भवात् । ततो न युक्तमेतत्–"महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशे० सू० ४।१।६] इति । ततः सूक्तम्–'आनर्थक्यात्' इत्यादि ।

अथवा[3], अतादात्म्यमन्योऽन्यभेदः स एव स्वभावः तस्मिन् वेति पूर्वत्रात्र च पक्षान्तर[4]द्योतने । हीति स्फुटार्थे । परैः परमाणुभिरलम् आनर्थक्यात् । तथाहि–तेषां यद्यातपावारणादिकं फलम्; अविशेषेण स्यात् । संसर्गिणामेवेति चेत्; न, संसर्गस्यैव संहतित्वात् । अन्यैव ततः संहतिः

"विनापि परमाणूनां संसर्गात् संहतिः परा ।
आघातेऽपि पृथग्भावे यस्या नैव समस्ति सा ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।९१]

इत्यलङ्कारवचनादिति चेत्; सा तर्हि का परा स्यात् अन्यत्र कथञ्चित्तेषामभेदात्, तत्रैव घनैकाकारप्रत्ययोपलब्धेः । तदभावेऽपि तत्प्रत्ययो दृश्यते विरलकेशेषु, ततस्तदभेदात् अन्यैव संहतिस्तत्रैव[5] परमाणुष्वपीति चेत्, मा नाम भूत्तत्र तदभेदो बाधकसद्भावात्, न[6] परत्र विपर्ययात्[7], अस्मदादिप्रत्यक्षस्य स्वयमेव तत्प्रत्ययत्वेन तद्बाधकत्वात्, तस्यापि योगिप्रत्यक्षं बाधकम् "अत्राप्यतीन्द्रियदर्शियोगिप्रत्ययो भवति बाधकः" [प्र० वार्तिकाल० १।९१] इत्यलङ्कारवाक्यादिति चेत्; यदि योगी न स्यात् का गतिः ? अबाध एव तस्येति चेत्, सिद्धो नः सिद्धान्तः । सन्देह इति चेत्; न तर्हि परमाणुष्वपि निर्णय इति सुस्थितं तत्र संहतिवशात् आतपावारणादिपरिकल्पनम् । विद्यत एव योगीति चेत्; न, "यदि योगी भवेत्" [प्र० वार्तिकाल० १।९१] इति स्वयमेव तत्र सन्देहवचनात् । सत्यपि योगिनि कथं तत्प्रत्ययेन तस्य बाधः ? तेन संहतिविकलानामेव तेषां दर्शनादिति चेत्, कथं तस्य[8] शरीरं तत्संहतेरेव तत्त्वात्, अशरीरस्य च नोपदेश इति व्यर्थं तदन्वेषणम् । तन्न तेन तस्य बाधनम् । 'विवादापन्ना संहतिर्मिथ्या तत्त्वात् दूरकेशवत्' इत्यनुमानेन बाध इति चेत्; न; 'विवादाकलितं नीलादि मिथ्या तत्त्वात्तैमरिकनीलादिवत्' इत्यनेन

---

१ नाशेन आ०,ब०,प० । २ अवयवेषु । ३ "अथ सौगतमतदूषणपरत्वेन कारिकां योजयति ।" –ता० टि० । ४ "स्याद्वादिपक्षादन्यः पक्षः पक्षान्तरम्, तस्य द्योतने ।"–ता० टि० । ५ तत्रैव आ०, ब०, प० । ६ नापरत्र आ०, ब०, प० । ७ "बाधकाभावात्"–ता० टि० । ८ योगिनः ।

नीलादेरपि तदापत्तेः, ततः परमाणवोऽपि न स्युः। नीलादिव्यतिरेकेण तदभावादिति कथं तदेकान्ते निर्बन्धः ? तन्नानुमानादपि तद्बाधनं[1] यतस्तदन्यैव संहतिः। अन्यापि यदि तेषां साधारणी; स्कन्धविलोपः। प्रत्यणु भिन्नायास्तु न संहतिव्यपदेश इति न तद्वशादणूनां व्रीहिधारणादावुपयोगः। स्वशक्तित इति चेत्; न; प्रत्येकं तत्प्रसङ्गात्, "संहतौ हेतुता तेषाम्" [प्र० वार्तिकाल०] इत्यस्य विरोधाच्च। तस्मादुपपन्नमुक्तम्–'अलं परैः' इति। ततोऽवश्यवक्तव्यः स्कन्धः तस्यैव तदुपयोगात्। स च रूपादीनामन्योऽन्याभेद एव नापर इत्याह–

स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वान्न न रूपं स्पर्शनग्रहात् ॥ ११६ ॥ इति।

च शब्दो वक्ष्यमाणः स्पर्श इत्यादाववधारणार्थो द्रष्टव्यः[2]। अयमुपलभ्यमानो मातुलुङ्गादिस्कन्धः स्पर्श एव न। कस्मात् ? चाक्षुषत्वात्। न हि तन्मात्रत्वे चक्षुर्वेद्यत्वम्। नापि रूपमेव। कुतः ? स्पर्शनग्रहात् स्पर्शनेनापि प्रतिपत्तेः। न च तन्मात्रस्य तेन ग्रहः सम्भवति। अस्ति च तस्य नयनस्पर्शनाभ्यां प्रतिपत्तिः। अतो रूपस्पर्शस्वभावस्यैव प्रत्यक्षविषयत्वमिति भावः। रूपादेर्भिन्न एव कस्मान्न भवतीति चेत् ? अत्राह–

रूपादीनि निरस्यान्यं न चाभ्युपलभेमहि। इति।

स्वपदव्याख्यातमेतत्। एतदेव कस्मादिति चेत् ? अत्राह–

सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः ॥ ११७ ॥
प्रायेणैकस्य ताद्रूप्यं [पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः] ॥ इति।

एकस्य रूपाद्यन्वयिनः स्कन्धस्य। कथमेकस्य ? प्रायेण कथञ्चित् ताद्रूप्यं रूपाद्यात्मकत्वम् 'उपलभेमहि' इत्याकृष्य सम्बन्धः। ततो 'रूपादीनि' इत्युपपन्नम्। कीदृशस्य तस्य ताद्रूप्यम् ? सामग्रीविहितज्ञानं चक्षुरादिव्यापारोपजनितं प्रत्यक्षं तद्दर्शिना रूपादय आकारास्तद्भेदिनः प्रायेणेत्यत्रापि योज्यम्। पृथगेव कस्मान्नेति चेत् ? आह–पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः इति। पृथक्सिद्धौ निष्पत्तौ तस्य प्रसङ्गतः प्रागुक्तदोषस्येति।

नन्वेवमेकस्मिन्नपि इन्द्रिये तस्य तथैव प्रतिभासात् इन्द्रियान्तरमनर्थकमिति चेत् ? अत्राह–

अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धभेदोपलम्भवत् ॥ ११८ ॥ इति।

अल्पश्च भूयांश्च तौ च तौ वातायनादिरूपौ प्रदेशौ च ताभ्याम् एकस्कन्धस्य पर्वतादेः भेदेनाल्पत्वबहुत्वादिना उपलम्भः तद्वत् स्कन्धस्य ताद्रूप्यम्, उपलभेमहीत्यनुगमनीयम्। एतदुक्तं भवति–यथा सुधागृहमध्यवर्ती पुरुषः पर्वतादिकमल्पेन वातायनादिनाऽल्पमेव पश्यति भूयसा च भूयांसम्, एवमयमपि शरीरागारमध्यमध्यासीनो जीवश्चक्षुरादिनैकैकेन रूपाद्यन्यतमात्मकमल्पमेव तमवलोकयति भूयसा च तत्समुदायेन भूयांसं रूपस्पर्शाद्यात्मकमिति न वैफल्यं तदन्तरस्येति। निदर्शनान्तरमपि परप्रसिद्धमाह—

---

१ तद्बाधन आ०, ब०, प०। २ इत्यवधारणा–आ०, ब०, प०।

अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते । इति ।

अन्यथा अन्येन अनुमानेन गम्यात् प्रकारात् प्रकारेण[1] स्वात्मनि दानादिचित्तस्वरूपे ज्ञानं प्रत्यक्षम्, न हि तेन स्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्ग्रहणं तदनुमानवैफल्यापत्ते[2], खण्डशः समारोपस्य तद्व्यवच्छेदस्य च प्रतिक्षेपात्, अन्यथा च तच्छक्त्यादिप्रकारेण च अनुमीयते स्वात्मेति विभक्ति-वैपरीत्येन सम्बन्धः । ततो यथा दर्शनेनाल्पतया अनुमानसहायेन भूयस्तया तदात्मनो ग्रहणं न तदन्यतरस्यानर्थक्यम्, एवं स्कन्धप्रतिपत्तौ इन्द्रियान्तरस्येति । एवमेते व्याख्यानश्लोकाः । ततो[3] युक्तं सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वं विचारप्रसिद्धेः अनुमानप्रसिद्धेश्च । तच्चेदमनुमानम्–सत् सर्वमनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वादिति । सतः प्रमेयत्वे तस्य च सति नियमे स्यादिदमनुमानम् नान्यथा हेतुदोषसम्भवा-दिति मन्यमानस्य मतमादर्शयति–

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ॥ ११९ ॥ इति ।

सत्प्रमेयत्वयोर्नियमः सत्प्रमेयमेव नाप्रमेयं प्रमेयत्वं च सत्येव नासतीति निर्धारणं स नास्ति । कथम्भूतः ? सर्वथा सर्वेण सन्निहितेनेव इतरेणापि देशादिप्रकारेण । न हि सन्निहित-देशादिकमिव तदपरमपि प्रमेयं प्रमातुः सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तेः, अविरोधाच्च । वस्त्वपि स्यान्न प्रमित्यवलम्बनमपीति ततो भागासिद्धो हेतुः । योगिनः प्रमेयमेव सर्वमिति चेत्, न, तत्रापि चतुरार्यसत्यमात्रवेदिनस्तदभावात्, सर्वसर्ववेदिनि सौगतस्य विप्रतिपत्तेरिति तदवस्थं तदसिद्धत्वम् । न च सदेव प्रमेयम् । असतोऽपि[4] प्रागभावादेस्तत्त्वात् । न च तस्यानेकान्तात्मकत्वम्; तस्य[5] भाव-धर्मत्वेन तत्रासम्भवात्, अन्यथा तस्यापि भावत्वेनाभावव्यवहारविलोपात् । अतोऽनैकान्तिकश्चाय हेतुरिति नातः साध्यसिद्धिरिति भावः परस्य । 'यदि' इति तदवद्योतने । तत्रोत्तरमाह–

अप्रवृत्तेः फलाभावात्तत्र वृत्तेर्निषेधतः । इति ।

नास्तीत्यनुवर्तते । ततोऽयमर्थः–यदुक्तं तयोर्नियमो नास्तीति, तन्नास्ति; कस्मात् । अप्रवृत्तेः । प्रमेयमेव सदित्यनियमे संज्ञानशब्दादिप्रवृत्तेरसम्भवात् । असम्भवत्प्रवृत्तिकमेव तत्सदिति चेत्, कुतो न व्योमकुसुमादिकम् ? तदर्थक्रियाविरहादिति चेत्, स एव कस्मात् ? कस्यचिदपि तत्र तदप्रतीतेरिति चेत्; इतरत्र तर्हि कस्यचित्तत्प्रतिपत्तिर्वक्तव्या अन्यथा तद्विरहापत्तेः, तथा च कथमप्रमे-यत्वम् अर्थक्रियावत्त्वेन प्रतीतस्य तदयोगात् ? एवमपि नियतप्रतिपत्त्रपेक्षमेव तस्य प्रमेयत्वं न सर्वापेक्षमिति चेत्; भवतु, प्रमेयत्वमात्रस्यापि हेतुत्वात् । यदप्युक्तम्–सर्वसर्वज्ञे विप्रतिपत्तेस्तदपेक्षं प्रमेयत्वमपि विप्रतिपन्नमेवेति, तदपि नास्ति; तद्विप्रतिपत्तेः तत्साधनेन[6] प्रत्याख्यानात् । तन्न भागासिद्धत्वम्[7] सन्दिग्धादिसिद्धत्वं वा साधनस्य, सतः सर्वस्य प्रमेयत्वनियमात् । नापि व्यभिचारित्वम्;

---

१ अन्येन प्रकारेण इत्यन्वयः । २ "ननु प्रत्यक्षेण स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरग्रहणेऽपि न तदनु-मानवैफल्यम् समारोपव्यवच्छेदार्थत्वात् । तदुक्तम्–'तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्ते-र्निणीर्यते नेति साधनं सम्प्रवर्तते' इति वदन्तं सौगतं प्रत्याह–"–ता० टि० । ३ तस्यातो आ०, ब०, प० । ४–पि च प्रा–आ०, ब०, प० । ५ अनेकान्तात्मकत्वस्य । ६ सर्वसर्वज्ञसाधनेन । ७ भागादिसि–आ०, ब०, प० ।

सत्येव प्रमेयत्वस्य नियमान्नासति। कस्मात्? तत्र तस्मिन्नीरूपाभावे वृत्तेः प्रमाणव्यापारनिषेधतो निवारणात्। सोऽपि कस्मात्? फलाभावात् सकलशक्तिविरहिणि तस्मिन् कस्यचिद् फलस्याभावात्। मा भूत् फलं तथापि कुतो न तत्र तत्प्रवृत्तिः? न हि प्रमाणस्यैवं प्रेक्षावत्त्वमस्ति फलवत्येव मया प्रवर्तितव्यं नापरत्रेति। पुरुषस्यास्तीति चेत्; न; तस्य तत्प्रवृत्तिनिषेधार्थत्वात्। सापि तदधीनैवेति चेत्; न, तस्याः स्वहेत्वधीनत्वात्। अन्यथा भावेऽपि अभिमते तदभावप्रसङ्गादिति चेत्; कस्तर्हि तत्र तत्प्रवृत्तेर्हेतुः? शक्तिर्विषयस्येति चेत्; न; अभावस्य तदभावात्। इदमेव तर्हि वक्तव्यम्, किं 'फलाभावात्' इति? न; तेनाप्यस्यैवोपलक्षणत्वात्। पुरुषप्रवृत्तिनिषेधार्थत्वाच्च, सफलेऽपि प्रवृत्तेस्तदभावादेवं तदुपपत्तेः प्रमाणस्यैवेति चेत्; न; वक्ष्यमाणोत्तरत्वात्। ततः स्थितम्–अप्रवृत्तेरित्यादि। किं वा प्रमाणं यत. प्रमेयत्वमभावस्य? प्रत्यक्षमिति चेत्; अत्राह–

प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ॥ १२० ॥
केवलं ध्यान्ध्यमेवैतत् [किन्न सन्तं समीक्षते]। इति।

अर्थेन विषयेण सम्बन्धात् तज्जन्मादेः प्रमाणं प्रत्यक्षमिति गम्यते, अनुमानस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ननु तदप्यविसंवादादेव प्रमाणमिति चेत्; न; तस्यापि सम्बन्धादेव भावात्, "अविसंवादः तस्मादात्मलाभात्" [ ] इति वचनात्। तस्य च प्रत्यक्षस्य प्रमेयम् असदपि अविद्यमानमपि प्रागभावादि³ न केवलं विद्यमानमेव, अपिशब्दस्य भिन्नप्रक्रमत्वेनासदित्यत्र दर्शनम्। इति एवम् ध्यान्ध्यमेव चेतोविह्वलतैव केवलं न तत्त्वचिन्तनम्। एतत्परमतम्। तथा हि–यदि सम्बन्धात्प्रमाणं कथमसति तद्भवेत्? न हि तस्य तस्मादुत्पत्तिः, अशक्तेः, अन्यथा वस्तुत्वापत्तिः वस्तुनस्तल्लक्षणत्वात्। नापि तादात्म्यम्, प्रमाणस्यापि तद्वन्नीरूपत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि परतन्त्रस्वभावात् प्रतिपत्तावनवस्थितेः। न तादात्म्यादेस्तस्य तद्विषयत्वमपि तु योग्यत्वादिति चेत्; न; तस्य तदभावात्। प्रमाणस्येति चेत्; अत्राह–'किं न सन्तं समीक्षते' इति। सन्तं वर्तमानविषयं किं कस्मात् न समीक्षते समीक्षत एव प्रत्यक्षं योग्यत्वस्य तत्राप्यविशेषात्, अतिप्रसङ्गस्येतरत्रेव तत्रापि तन्नियमादेव निवृत्तेः। ततो नयुक्तम्–"भिन्नकालम्" [प्र० वा० २।२४७] इत्यादिना अतीतस्य तद्धेतोर्विषयत्ववर्णनमिति भावः। अथवा नेति नन्वित्यर्थे न्यासे बहुल तथा दर्शनात्। ततोऽयमर्थः–किं नैव न ननु सन्तं समीक्षते प्रमाणमिति। तथा हि–कथं नाम प्रमाणमभावगोचरं भावे स्यात्? भावगोचरं भावान्तरे कथमिति चेत्? तस्य सम्भवात्। तत्रापि तस्य योग्यत्वात्, नैवमत्र, अभावे सति भावस्यैवासम्भवात्। तदुपमर्दने सम्भव इति चेत्; न; उपमर्दनस्य सत्येव दर्शनात् पिण्डादौ नासति व्योमकुसुमादिवत्। तथा प्रच्छादनस्यापि। किं च, तस्य प्रच्छादनं यदि कार्यस्य स्वरूपमेव; तत्कथमसत्प्रच्छादनं भवेत्? सदेव तत् प्रच्छादनादिति चेत्; न परस्पराश्रयात्-सत्प्रच्छादनात् सत् ततश्च तत्प्रच्छादनमिति। कुतो वा तत्तस्य प्रच्छादनम्? तत्परिहारात्मकत्वादिति चेत्; न; सति

१ "प्रमाणप्रवृत्तिः"–ता० टि०। २ फलाभावादेव निषेधोपपत्तेः। ३–दिति न आ०, ब०, प०। ४ भान्ध्य–ता०। ५– नः सङ्ग–प०। ६ "ताद्रूप्यम्"–ता० टि०।

तस्मिन् भवतस्तदसम्भवात्, अन्यथा तत्तस्य अभाव एव स्यान्न प्रच्छादनम्, तच्च न भावस्य भावात्मत्वे निःस्वभावाभावकल्पनावैफल्योपनिपातात्। तत्समये तस्याप्युपलब्धिप्रसङ्गात्। न हि तदा तस्य तत्प्रतिबन्धः; पश्चादेव तेन तस्य तथा च कथमुपलभ्यमाने तदभावे तदभावस्तदुपलब्धिर्वेति सूक्तमेतत्–'किन्न' इत्यादि। प्रमेयत्वमभावस्य। नाप्यनुमानात्; तस्यापि प्रतिबन्धसव्यपेक्षस्यैव प्रामाण्यात्, अभावे च स्यासम्भवात्। तदेवाह–

सत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् ॥१२१॥
हेत्वात्मनोः परं हेतुः तज्ज्ञानव्यवहारयोः। इति।

अनुमानं हि साधनात् साध्यविज्ञानम्। साधनं च परोक्षेऽर्थे एव नाऽनर्थे भावे। कुतः? यतः सत्प्रत्यक्षं सति विद्यमाने प्रत्यक्ष तत्प्रतिपन्नम्। इदमुक्तं भवति निदर्शने सत्येव साध्ये तत्प्रतिपन्नं नासति नीरूपे, ततो धर्मिण्यपि तत्रैव तत्, प्रतिषेधाच्च न तत्र तत्। तथाहि–त्रिविधं तत्, तत्र च द्वयं कार्यस्वभावलक्षणं कारणस्वभावयोः कार्यं हेतोः स्वभावश्चात्मनः तद्व्यतिरिक्तस्य साधनम्। न चाभावः कस्य अशक्तेः, अन्यथा भावत्वप्रसङ्गः। नाप्यात्मा, तस्यापि तद्रूपत्वापत्तेः। न च स्यामपरः प्रतिबन्धो यतस्तत्रापि किञ्चित्साधनं भवेत्। परं चानुपलब्धिलक्षणं साधनं हेतुः। कयोः तज्ज्ञानव्यवहारयोः तत्रैवार्थे यौ ज्ञानव्यवहारौ सदसज्ज्ञानशब्दलक्षणौ तयोः, नाभावे।

कुत एतत्? इत्यत्राह–

परसत्त्वमसत्ताऽस्यादर्शनं परदर्शनम् ॥१२२॥ इति।

यद्यभावोऽपि भावात्मैव न भवेत् भवेदपि तत्रैव ज्ञानादिरनुपलम्भात्, न चैवम्, यतः परसत्त्वमेवासत्ताऽस्य केवलभूतलस्यैव घटाद्यभावतया प्रत्यक्षतोऽवगमात् नापरस्यानुपलम्भात्। तस्यैवावगम इति चेत्; क तस्य तेन सम्बन्धग्रहणम्? तदन्यत्रेति चेत्; न; तत्रापि प्रत्यक्षतस्तस्याप्रतिपत्तेः। अनुपलम्भादेवेति चेत्; न, तत्रापि पुनरन्यत्र तद्ग्रहणकल्पनायामनवस्थापत्तेः। तन्न परसत्त्वादन्यदसत्त्वं निषेध्यस्य। नापि तद्दर्शनादन्यददर्शनम् अनुपलम्भः। दर्शननिवृत्तिमात्रमेव किन्न तदिति चेत्? न; तस्य कचित् साधनत्वानुपपत्तेः, व्योमकुसुमवदप्रतिपत्तेश्च। तस्यापि तन्निवृत्तेरन्यतः प्रतिपत्तौ अनवस्थोपनिपातात्, असम्बन्धाच्च। न हि तस्य साध्येन भावात्मनेतरेण वा कथञ्चिदपि सम्बन्धः, तस्य वस्तुनियततयैवाध्यवसायात्। असम्बद्धाच्च ततस्तत्प्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरमेव स्यान्नानुमानं तल्लक्षणातिपातात्।

एवमेतत्, अभावप्रमाणतया तस्योपगमादिति कश्चिद्विपश्चिन्मन्यः; सोऽपि प्रष्टव्यः–

१– स्य भा–आ०, ब०, प०। २ प्रतिपद्य–आ०, ब०, प०। ३ तदव्यतिरेकस्य–आ०, ब०, प०। ४ "अनुपलब्धिलक्षणात् साधनात्"– ता० टि०। ५ "निषेध्यस्य"–ता० टि०। ६ सम्बन्धस्य। ७ मीमांसकः।

किं तस्य प्रयोजनमिति ? असाङ्कर्यपरिज्ञानं भावानाम् । अत एवोक्तम्–

"वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २] इति ।

इति चेत्; किं पुनः प्रमाणान्तरेण स्वविषयस्यान्यसङ्कीर्णस्यैव परिज्ञानम् ? तथा चेत्; कथं वेदाद्धर्मे[1] प्रवृत्तिः अधर्मसङ्कीर्णस्यैव ततस्तस्य प्रतिपत्तेः ? निवृत्तिर्वा कथमधर्मात् ? इतरसङ्कीर्णस्यैव तस्यापि ततोऽध्यवसायात् । अभावप्रमाणसहायादन्योऽन्यासङ्करेणैव तयोस्ततोऽवगम इति चेत्; कथं स्वतः प्रामाण्यं स्वविषयपरिच्छित्तौ प्रमाणान्तरसव्यपेक्षस्य तदयोगात् ? तन्निरपेक्षादेव ततो विषयासङ्करपरिज्ञाने प्रत्यक्षादेरपि स्यादिति व्यर्थमेव तदर्थं[2] तत्कल्पनम् । यदि चायं निर्बन्धः तत[3] एव तत्परिज्ञानमिति; तस्य तर्हि कुतो भावप्रमाणाऽसङ्करः ? तदप्रतिपत्तौ तस्यैवाव्यवस्थितेः । तदन्यस्मादिति चेत् ; न; तत्रापि तदन्यतरस्तत्कल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । न तत्र तदन्तरापेक्षणं विषयवत् स्वरूपेऽपि तत एवान्यविवेकस्याध्यवसायादिति चेत्; न, ततः[3] प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपान्नीरूपात् तदयोगाद्व्योमकुसुमादिवत् । आत्मनस्तत्सङ्करज्ञानपरिणतिविकल्पादिति चेत्[4], तत्स्वसंवेदनस्य भावविषयस्य कथमभावांशे प्रवृत्तिः ? ततस्तस्याप्यव्यतिरेकादिति[5] चेत्; किमेवमन्यत्राप्यभावेन तत्रापि प्रत्यक्षादिनैव तदव्यतिरेकिणस्तदन्यविवेकस्य प्रतिपत्तेः ।

यदपि मतम्–'अन्यवस्तुनि विज्ञानं तत्प्रमाणम्' इति; तदपि न विज्ञानमिन्द्रियजम्; "न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८] इत्यस्य विरोधात् । मानसमिति चेत् ; कुतस्तदुत्पत्तिः ? [6]वस्तुग्रहणनिषेध्यस्मरणाभ्या[7]मिति चेत्; कथं वस्तुग्रहणम् ? निषेध्यसङ्करेणेति चेत्; न तर्हि तन्निषेधः, गृहीते तदयोगात्, वस्तुन्यपि प्रसङ्गात् । न तत्सङ्करेण नाप्यन्यथा अपि तु वस्तुत्वमात्रेणेति चेत्; तथापि न निषेधो वस्तुत्वमात्रस्य सर्वत्र भावात् । तद्विशेषस्य निषेध इति चेत्; न, तस्यास्मरणात् । न हि वस्तुग्रहणवत्क्वाविस्मरणं तद्विशेषमवगाहितुमर्हति, निरवशेषविशेषावगाहप्रसङ्गात् । भवतु असङ्करेणैव तद्ग्रहणमिति चेत्, न; इन्द्रियज्ञानेन तदसम्भवस्योक्तत्वात् । मानसज्ञानेनैवेति चेत्; न; तत एव तस्यानुत्पत्तेः । तथा हि–यदि सत्; किमुत्पत्त्या सति तद्वैयर्थ्यात् । असत् चेत्, कथं[8] हेतुर्यत उत्पत्तिः ? अन्यदेव तन्मानसमिति चेत्; न, तत्रापि कुतस्तदुत्पत्तिरित्यादेरनवस्थोपनिपातप्रसङ्गस्योपनिपातात् । सति वा तस्मिन् किमन्येन मानसेन तत एव निषेधसिद्धेः ? निषेध्यान्तरनिषेधार्थं तदिति चेत्; न; तस्यापि तदसङ्करग्राहिणस्तत एव सिद्धेः । पुनस्तदन्तरनिषेधार्थं तत्कल्पनमनवस्थानमुपनयतीति न सुव्यवस्थितमेतत्–

---

१ वेदात् । "सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥" –ता० टि० । २ अभावप्रमाणादेव असाङ्कर्यपरिज्ञानम् । ३ अभावात् । 'प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । आत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥ [मी० श्लो०] इत्येतत्कारिकोक्तमभावप्रमाणस्वरूपत्रयं मनसिकृत्याह'–ता० टि० । ४ चेत्स्व–आ० । ५ ततस्तस्याव्यतिरेकादिवस्तुग्रहणनिषेध्यस्मरणाभ्यामिति आ०, ब०, प० । ६ "अभावप्रमाणेन"–ता० टि० । ७ नाभ्या–आ०, ब०, प० । ८ कथं हि हे–आ०, ब०, प० ।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥" [मी०श्लो०अभाव०श्लो०२७] इति।

तत्र अन्यवस्तुनि विज्ञानमभावप्रमाणं सम्भवति। सम्भवतोऽपि न भावनिष्कृष्टतया तस्मादभावस्य प्रतिपत्तिः तदप्रतिवेदनात्। तदनिष्कृष्टतया तु [4]वित्तौ सिद्धं भावस्यैवाभावत्वमिति न तत्प्रमाणादपि तस्य[1] सिद्धिः। तथाऽनुमानादपीति न युक्तमेतत्–"अन्यत्सामान्यं सोऽनुमानस्य विषयः।" [न्यायबि० पृ० २४-२५] इति। नीरूपस्य सामान्यसम्बन्धाभावेन तद्विषयत्वायोगात्। न नीरूप्यं तत्[2]। वस्तुमात्रस्यैवान्यव्यावृत्तिविशिष्टस्य तत्त्वादिति चेत्; किमत्र मात्रपदस्य व्यवच्छेद्यम्? सजातीयविवेक इति चेत्; कथं तदवेदने वस्तुप्रवेदनम्? "तस्माद्दृष्टस्य भावस्य" [प्र० वा० ३।४४] इत्यादि विरोधात्। ततो दुर्व्याहृतमिदम्–

"[3]अतद्रूपसंवृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात्।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाऽप्रतिष्ठितेः ॥" [ ] इति

कथं वा वस्तुरूपत्वे तस्योक्तम्–

"अर्थानां यच्च सामान्यमन्यव्यावृत्तिलक्षणम्।
यन्निष्ठास्त इमे शब्दा रूपं तस्य न किञ्चन" [प्र० वा० २।३०] इति।

शब्दविषयस्यैव तस्य[4] नीरूपत्वमुक्तं नानुमानविषयस्येति चेत्; किं पुनस्तद्विषये न सन्ति शब्दाः? तथा चेत्; कथं तत्प्रतिपादनं यतः परार्थानुमानमिति दुष्परिहारमेवेदं परिस्खलितं परस्येति पर्याप्तमनुषङ्गेण। ततो न व्यभिचारी हेतुः, अभावस्यापि भावान्तरस्वरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वात्।

यदि भावान्तरमेवाभावस्तत्र कथमसज्ज्ञानादिप्रवृत्तिरिति चेत्? अत्राह–

सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्निबन्धनाः। इति।

सद्भूतकम् असन् घट इति य एते बुद्धयः शब्दाश्च तेषामपि तदेव भावान्तरं निमित्तं तथैव प्रमाणप्रवृत्तेर्न[5] व्यतिभिन्नौ भावाभावौ [6]विपर्ययात्। भावस्यैवाभावात्मकत्वे प्रसिद्धमुदाहरणमाह–

अग्निः स्वपररूपाभ्यां भावाभावात्मको यथा ॥ १२३ ॥ इति।

अग्निर्दहनात्मा पदार्थो भावाभावात्मको यथा येन प्रतीतिप्रकारेण तथान्योऽपीति। स च तदात्मकः स्वपररूपाभ्यां रूपग्रहणमुपलक्षणं क्षेत्रादेरपि। ततः स्वरूपादिना भावात्मकः पररूपादिना अभावात्मक इति प्रतिपत्तव्यः। भावस्यैवाभावत्वे स्वरूपादिनेव इतरेणापि तदात्मकत्वमेवेति भावैकान्तवादः। अभावस्यैवं वा भावत्वेऽपि शून्यैकान्तवादः पररूपादिनेवेतरेणापि तदात्मकत्वस्यैव भावात् [7]नोभयात्मकत्वमिति चेत्; अत्राह–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां [शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते।] इति।

१ अभावस्य। २ सामान्यम्। ३ आह चात्र–अतद्रूप…"–प्र० वार्तिकाल० ११२। ४ सामान्यस्य। ५ "तथा प्रमाणाप्रवृत्तेः।"–ता० टि०। ६–ना च भा–आ०, ब०, प०। ७–व भा– आ०, ब०, प०।

अन्वयो 'भावाभावयोः परस्परमेकत्वं व्यतिरेको भेदस्ताभ्याम् अनिस्तदुभयात्मक इति प्रकृतो दोषः, एकान्ताभेद एव तस्य भावात्। अन्वयग्रहणेनापि "तयोर्व्यतिरेके द्वे वस्तुनी नोभयात्मकत्वमेकस्य" [ ] इति प्रतिक्षिप्तम्; एवमपि भावाभावयोरितरेतरनिष्कर्षणासम्भवात् कथं स्वरूपादेर्भावोऽभावश्च तद्विपर्ययादिति तथा व्यपदेश इति चेत् ? अत्राह–'शब्दबुद्ध्याऽवधार्यते' इति। शब्दबुद्धिः नयबुद्धिः तथा स्वविषये शब्दस्य समर्पणात्तथाऽवधार्यते सत्त्वं स्वरूपादेरसत्त्वमन्यत इति पृथक्कारेण निर्णीयते। निरूपितं चैतत् प्रथमप्रस्तावे।

यदप्यत्र चोद्यम्–"यदि भावान्तरमेवाभावस्तदा पर्युदासात् प्रसज्यप्रतिषेधस्याविशेषः" [ ] इति, तदप्येतेन प्रतिविहितम्; नयबुद्धिवशादभावौदासीन्येन भावस्य तदौदासीन्येन चाभावस्य प्राधान्यसमर्पणे पर्युदासप्रसज्ययोर्विशेषस्यावकल्पनात्। तन्नाभावेन व्यभिचारः तस्य प्रमाणतोऽनवगमात्। नयतोऽवगमेऽप्यप्रमेयत्वात्, अन्यथा प्रमाणनययोरविशेषापत्तेः। प्रमेयत्वेऽपि भावरूपत्वात्। कुत एतत् ? ननु निरूपितमिदं यदि न तावता परितोषः पुनरपि ब्रवामः। इत्याह–

अप्रमेयं प्रमेयं चेदसत्किन्न सदात्मकम्॥ १२४॥ इति।

यथैव हि अभावो भावमपेक्षते तत्प्रच्युतिरूपत्वात् तथा तत एव प्रमेयमपि अप्रमेयम्। तत्र यत्तदप्रमेयं तच्चेत् यदि प्रमेयं प्रमाणवेद्यम् असत् अविद्यमानं किं कस्मान्न सदात्मकम् ? सदात्मकमेव प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतप्रतिपत्तेः। प्रयोगश्चात्र–यद्यत्प्रत्यनीकं तत्तद्वर्गीयं यथा अप्रमेयं प्रमेयवर्गीयम्, सत्प्रत्यनीकं च असदिति नात्यन्तायासतो भिन्नवर्गत्वं तस्य। अथ तत्प्रमेयं न भवति कथं तद्व्यवहारः, सर्वप्रमाणव्यापारातिक्रान्ते तदयोगात् परिगणनातिक्रान्तपदार्थवत्। ततः प्रकृतप्रमाणापरामर्शेऽपि प्रमाणान्तरपरामृष्टमेव तदभ्युपगन्तव्यम्। ततः प्रमेयमेवाप्रमेयं तथा सदेवासदपि। तस्यापि प्रकृतरूपेणासत्त्वेऽपि रूपान्तरेण सत एवोपपत्तेः। अथ सदेवासदिति व्यवहारो नास्ति, तदेवाह–

अथ न व्यवहारोऽयम् इति।

अत्रोत्तरमाह–

अन्यत्रापि निरङ्कुशः। इति।

अन्यत्र परपक्षेऽपि प्रमेयमेवाप्रमेयमिति व्यवहारो नेति प्रसङ्गो निरङ्कुशो निवारकरहित इत्यर्थः। लोकस्तत्राङ्कुश इति चेत्; न, अन्यत्रापि तुल्यत्वात्। ततः स्थितमव्यभिचारित्वं प्रमेयत्वस्य।

सम्प्रति सर्वत्र प्रमेयत्वस्य सद्भावमुपसंहृत्य तस्य गमकत्वे निमित्तं दर्शयन्नाह–

सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतिस्तत्रैकलक्षणम्॥ १२५॥
साध्येऽसति विरोधः [अयमतस्तर्केण साध्यते।] इति।

प्रकृतं प्रमेयत्वं सत् अस्ति सर्वत्रेति शेषः। किं रूपम् ? प्रत्यक्षं तत्परिच्छेदयोग्य-रूपम्। तथा परोक्षा अस्पष्टा अर्थगतिः स्मरणादिः, अत्रापि तद्योग्यमेव रूपं तद्विषयत्वादुच्यते। ततः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणव्यापारयोग्यत्वं प्रमेयत्वम्, अर्हार्थत्वात् कृत्यस्य। तत्र तस्मिन् प्रमेयत्वे एक-लक्षणं प्रधानं हेतुरूपं सदिति सम्बन्धः। तच्च साध्येऽनेकान्तात्मकत्वे असति अविद्यमाने विरोधो विघटनं प्रमेयत्वस्य, नापरं[3] ततस्तस्य गमकत्वमिति मन्यते।

स्यान्मतम्–तद्विरोधस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव प्रतिपत्तिर्महानसादौ तदुपलम्भस्मरणाभावे पर्वतादौ प्रतिपन्नेऽपि[4] धूमे तदभावात्, ततोऽन्यत्र[5] तदुपलम्भाय दृष्टान्तो वक्तव्य इति; तन्न; दृष्टान्तेऽपि विप्रतिपत्तावत एव साध्यस्य व्यवस्थापनात्। तत्रापि तदन्तरबलात् तत्प्रतिपत्तौ अनवस्था-प्रसङ्गात्। अस्ति च तत्रापि चित्रज्ञानादौ विप्रतिपत्तिः–"किं स्यात् सा चित्रतैकस्याम्" [प्र० वा० २।२१०] इत्यादि वचनात्। कथं तर्हि तत्प्रतिपत्तिरिति चेत् ? विपक्षे बाधक-बलादेव। तच्च प्रतिपादितमेव पूर्वमिति नेह प्रतन्यते। निदर्शनबलात्तत्प्रतिपत्तावतिप्रसङ्गश्च–'विवादा-पन्नः पुरुषो न सर्वज्ञो वचनादेः रथ्यापुरुषवत्' इत्यादावपि तदुपनिपातात्, वचनादेः किञ्चिज्ज्ञ एव दृष्टस्यापि विरोधाभावात् साध्यविपक्षेऽपि सम्भावनायां धूमादेरपि किन्न स्यात् ? तस्य पावकादावेव तत्कार्यत्वेन नियमात्। न चैवं वचनादिरसर्वज्ञस्यैव कार्यं सर्वज्ञेऽप्यनुपलब्धिलक्षण-प्राप्तत्वेनाशक्याभावनिश्चये तदाशङ्काऽनिवृत्तेः। ज्ञानकार्यं हि वचनं तच्च यथाऽल्प तद्धेतुस्तथा प्रकर्षवदपि। न हि कारणप्रकर्षः कार्यविरोधी। ततो न तस्य[10] तत्र[11] नियम इति चेत्, न; प्रकर्षवतोऽपि किञ्चिज्ज्ञस्यैव तत्कारणत्वप्रतिपत्तेः, [12]तद्रूपपरित्यागे ज्ञानमेव तन्न भवेत्। [13]अन्यथा उष्णस्पर्शादि-विशेषपरित्यागेऽपि दहनादेरदहनादित्वाभावात्, ततोऽपि धूमादिसम्भवे कथं तदनुमानेऽपि दाहाद्यर्थिनस्तत्र प्रवृत्तिः स्यात् ? न तादृशो दहनादिरनुपलम्भादिति चेत्, न, तादृशे ज्ञानेऽपि तुल्यत्वात्। तथापि तस्य[14] भावे पावकादेरपि स्यादविशेषात्। हन्तैवं तत्कार्यं धूमादिरपि विलक्षणमेव स्यात् हेतुवैलक्षण्ये तद्वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्। न च तस्य प्रसिद्धपावकादिव्यभिचारे [15]तज्जन्मनो व्यभिचार इति चेत्; न; काष्ठादिविलक्षणादपि [16]मण्यादेरविलक्षणस्यैव पावकादेरुत्पत्तेः। तत्राप्यस्त्येव वैलक्षण्यं प्रतिपत्तुरशक्त्या तु तदपरिज्ञानमिति चेत्, परिज्ञाने का वार्ता ? ततो विलक्षणस्यैव हेतोरनु-मानम् "तज्जन्यविशेषग्रहणेऽभिमतत्वात्" [हेतुबि० पृ० १५२] इति हेतुबिन्दुवचना-दिति चेत्; न, तस्य बहिरभावेनान्वयापरिज्ञानात्। पक्ष एव तत्परिज्ञानं विपक्षे बाधकबलादिति चेत्;

१ "कृत्प्रत्ययस्य, प्रत्ययस्य त्य इति संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे।"–ता० टि०। २ सत्यपि वि–आ०, ब०, प०। ३ "पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वादिकम्"–ता० टि०। ४–पि अग्नौ आत्मे तद्–आ०, ब०, प०। ५ "पर्वतादि पक्षादन्यत्र"–ता० टि०। ६ दृष्टार्थे व–आ०, ब०, प०। ७ दृष्टान्तान्तर। ८ एव आ०, ब०, प०। ९ ज्ञानम्। १० वचनस्य। ११ असर्वज्ञे। १२ वचनकारणत्वपरित्यागे। १३ अन्यदोषस्य–आ०, ब०, प०। १४ "विलक्षणकार्यस्य"–ता० टि०। १५ प्रसिद्धपावकोत्पन्नधूमस्य। १६ मण्यादेरपि विल–आ०, ब०, प०।

इदं तर्हि हेतुबिन्दु व्याचक्षाणेनाप्यर्चटेन किमिति नावधारितम् ? अवधारितमेव "अगरुधूमग्रहणेन भवत्येव तदग्नेरनुमानम्" [हेतुबि० टी० पृ० १५२] इति तेनाप्यभिधानादिति चेत्; तर्हि इद तस्य शिथिलीभवति-"कार्यहेतोस्तु पक्षीकृते धर्मिणि कस्यचिच्च स्वभावहेतोः प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रतिबन्धः कथं परोक्षे साध्यधर्मे गृह्यते" [हेतुबि० टी० पृ० १६] इति । यदि च, कार्येऽपि क्वचित् पक्ष एव तत्परिज्ञानम् अन्यथा देशनाविशेषात् सुगतप्रामाण्या-परिज्ञानापत्तेः; तर्हि व्यर्थं तदर्थं प्रमेयत्वादावपि तदपेक्षणं विपक्षे तदारोपपरिहारपरायणात् तर्कज्ञानादेरेव तदुपपत्तेः । एतदेवाह-'अयमतस्तर्केण साध्यते' इति । अत एतस्मात् प्रत्यक्षादेर्भवता तर्केण साध्यते निर्णीयते अयं साध्याभावे विरोधः साधनस्य न बहिर्दर्शनादर्शनाभ्यां व्यभिचारात् । नापि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम्; तयोस्तद्विरोधादेव सिद्धेश्च, न पुनस्ताभ्यां तस्य तदभावेऽपि भावात् । वक्ष्यति चैतत्-"तुलोन्नामरसादीनाम्" [illegible] इत्यादिना । [illegible] बहिरन्वयादिना [illegible] तत्र [illegible] तेन तैतम्तन्निर्णयात् [illegible] न [illegible] तत्सम्भवो यतः तस्मादेव स [illegible] । इत्याह-

सर्व[illegible] त्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वादिः [अन्यथा] ॥ १२६ ॥ इति ।

न हि चेतनेतरसकलवस्तुगोचरतया परिणामादीनामन्यतमे साध्ये क्वचित् सत्त्वकृतकत्वादेरन्वय[illegible]ः सर्वस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वेन निदर्शनत्वानुपपत्तेः । न चैवमसौ अहेतुरेव; अन्तर्व्याप्तिनिश्चय[illegible]त् । किमर्थमादिग्रहणम् ? न हि शास्त्रकारस्य क्षणभङ्गादिसाधनमिष्टमिति चेत्; न; दृष्टान्त[illegible]र्थत्वात्-अन्यथा क्षणभङ्गादौ स निरन्वयोऽपि हेतुः, तथा परिणामेऽपीति । नैतदस्ति प्रदीपादौ तस्य तदन्वयग्रहणादिति चेत्; न प्रत्यक्षतस्तद्ग्रहणम्, पक्षेऽपि स्यादिति कोऽर्थस्तत्रापि [illegible] हेतुना ? समारोपव्यवच्छेद इति चेत्; न; समारोपस्य प्रदीपादावपि भावात् । सत्यम्, स[illegible]अप्यसौ तत्र 'यदि प्रदीपादिः प्रथमतैलादिव्यापारादेवोत्पन्नः परापरस्तद्व्यापारो व्यर्थः' इत्या[illegible]दिना विचारेण व्यवच्छिद्यत इति चेत्; न; अप्रमाणात्तद्व्यवच्छित्तौ प्रमाणकल्पनवैयर्थ्यात् । प्र[illegible]माण्यमपि न प्रत्यक्षत्वेन अविचारकत्वापत्तेः । अनुमानत्वे तु तत्रापि निदर्शनान्तरमन्वयार्थमर्थयितव्यम्, पुनस्तत्समारोपस्यापि विचारान्तरादनुमानाद् व्यवच्छित्तौ पुनस्तदन्तर तदर्थमर्थयितव्यमिति कथमनवस्थितवस्तुवादिनस्तथाऽनवस्थादौस्थ्यान्निर्मुक्तिः ? विचारस्याप्यन्वयस्यापि गमकत्वे सत्त्वादेरपि स्यादविशेषात् ।

भवतु निरन्वयविनाश एव स हेतुर्न परिणाम इति चेत्; न; तस्य निरपेक्षस्य नित्यत्वापत्त्या कार्यद्रव्यादेर्वा तयापि अव्यवस्थितेः । सापेक्ष एवासौ मुद्गरादिव्यापारादुत्पत्तेरिति चेत्, न; नीरूपस्य तदयोगात् । न हि नीरूपं किञ्चित् कुतश्चिदुत्पत्तिमन्नाम, प्रागिव तद्व्यापारेऽपि तदविशेषात् । न च तेन भावो नष्टो नाम सर्वदा प्रसङ्गात् । यदैवासौ तदैव नष्ट इत्यपि न युक्तम्; नीरूपे

१ अत एव कस्मात् आ०, ब०, प० । २ साध्याभावे विरोधादेव । ३ विपक्षे विरोधस्य । ४ न्यायवि० श्लो० ३३८ । ५ तर्कात् । ६ सत्त्वस्य । ७ प्रदीपे । ८-यत्नतृ-आ०, ब०, प० । ९ तदविशेषान्न च स्यादविशेषात्-आ०, ब०, प० । १० सत्त्वादिः । ११ विनाशस्य । १२ विनाश. । १३ नीरूपत्वाविशेषात् ।

समुच्चये। कथं सिद्धम्? अवश्यं नियमेन। केषाम्? प्रमाणामवगच्छताम् एतदुक्तं भवति–तथाविधं वस्तु निराकुर्वतां प्रमाणमेव शरणं विना तेन विधिवत् [illegible] नवकल्पनात्। ततोऽपि यदि बहिस्तन्निराकरणं बहिर्मुखत्वं तस्य वक्तव्यम्। न च त्वमन्तरेण, "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य" [ ] इत्यादेर्व्यापत्तेः। तथा च बहिरन्तर्मुखस्वभावद्वयाविभ्राड्भूतमेकम् अनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम्। अन्तरेव ततस्त बहिः, बहिर्भावस्यैवाभावादिति चेत्; कुत एतत्? तत एवेति चेत्; वक्तव्यं [illegible] मुखत्वम्, अन्यथा ततस्तस्यानुपपत्तेः। अन्तर्मुखत्वादेवोपपत्तौ चार्वाकस्यापि [illegible] प्रत्यक्षादेव परलोकादिप्रतिषेधोपपत्तेः, "प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च [illegible] [ ] इति प्लवेत। अन्तरपि कीदृशं वस्तु यत्र तन्निराकरणम्? निराकार [illegible] न; तस्य स्वयमेवानभ्युपगमात् [illegible] न; तस्याप्यचितः [illegible] चेत् [illegible]। नीलाद्याकारम [illegible] रूपतया तदेव सम्भवात्। [illegible] इति च सिद्धं पुनरपि नीलादि-चैतन्यद्वयैः न; वस्तु। संवेदनमेव तत्र वस्तुसत् न नीलादि तस्य भ्रान्तत्वादिति चेत् [illegible] विभ्रमेतरात्मतया द्वैरूप्यस्यानतिक्रमात्। विविक्तमेव तत् नीलादेरिति चेत्; न; [illegible] विभ्रमाभावापत्तेः। अनवभासे चैतन्येऽपि तदुपनिपातात्, अन्यथा सङ्गृहीतेतररूपतया त्वस्यानिवारणात्। भवतु अन्तस्तत्परिणामव्यवस्था "चित्रप्रतिभासाऽप्येकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० २।२१९] इति वचनात्, न बहिः तत्र परमाणूनामेव प्रतिक्षणक्षीणानां क्षणानाञ्च भावादिति कश्चित्। अवयवावयव्यादीनामेवेत्यपरः। तत्राह–

परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठितः॥ १२९॥
परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते। इति।

परमाणुः सौगतकल्पितो न बुद्ध्यते नोपलभ्यते। क्व? बहिः। कीदृशः? परापरदेशकालगतौ तयोर्विवेको विश्लेषः स एवैकोऽसहायः स्वभावस्तेन परिनिष्ठितः समाप्त। कथञ्चिद्भेदस्थूलप्रतिभासादिति मन्यते। प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प एवायमारोपिताकारो न दर्शनम्, दर्शनं तु क्षणिकपरमाणुविषयमेवेति चेत्, न, पृथक् तस्याप्रतिवेदनात्। अप्रतिविदितमपि विचारादवगम्यत इति चेत्, न, विचारस्यानुमानादन्यस्याभावात् प्रमाणसङ्ख्याव्यापत्तेः, अनुमानस्य च दर्शनाभावेऽसम्भवात्। दर्शनाल्लिङ्गतत्साध्यसम्बन्धप्रतिपत्तावेव तदुत्पत्तेः। अनुमानान्तरात् तत्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्। अप्रमाणाच्च विचारात्तदवगतौ प्रमाणान्तरान्वेषणप्रयासवैफल्यात्, अतिप्रसङ्गाच्च। ततः स्थितम्–'परमाणुर्न बुध्यते' इति। न केवलं स एव बहिर्न बुद्ध्यते अपि तु अतः परमाणोः अन्योऽवयव्यादिरपि वा। शब्दस्य अपि शब्दार्थत्वात्। न हि तस्यापि परस्परमेकान्तविवेकेन

---

१ प्रमाणतोऽपि। २ बहिर्विषयत्वम्। ३ "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।" इति पूर्वार्धम्–ता० टि०। ४ बौद्धः। ५ नैयायिकः। अनुमानात् पृथक् विचारस्य प्रमाणत्वे। ६ लिङ्गसाध्यसम्बन्धप्रतिपत्तौ।

अन्योऽपि कथञ्चिदविंकस्याप्यवगमात् तस्याप्यारोपितविषयत्वकल्पनायां पूर्ववद्दोषात् । ततो युक्तम् 'अन्योऽपीति' इति । 'अन्तः' इति दृष्टान्तार्थम्–अन्तरिव बहिरपि स तथाविधो न बुद्ध्यत इति तत्र विपक्षे क्वचिदपि सत्त्वादिः परिणामिन्येव भावात् । तस्यापि स्वतोऽर्थक्रियासामर्थ्ये किं सहकारि प्रतीक्षयेति चेत् ? अत्राह–

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित् कस्यचित् क्वचित् ॥ १३० ॥
शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥ इति ।

कस्यचित् चेतने (नस्य) तरस्य वा अनेकरूपस्य उक्तनीत्या[2] नानास्वभावस्य अर्थस्य न कल्पितस्य शक्तौ अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, स्वत एवार्थक्रियासामर्थ्ये सत्यपि तद्विशेषरूपस्य अतिशयाधानमपेक्षातः सहकारिणां प्रकल्प्यते प्रकर्षेण निष्पाद्यते । तच्च क्वचित् विसदृशपरिणामे कर्तव्ये, कदाचित् न सर्वदा, तत्परिणामस्य कदाचिदेव भावात् । यदि अर्थस्य स्वभावोऽतिशयः; तर्हि तद्धेतोरेव सिद्धेरपेक्षया न किञ्चित् । असिद्धौ तु न तत्स्वभावत्वं सिद्धासिद्धयोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्यैवापत्तेरिति चेत्; अत्राह–

स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ॥ १३१ ॥
तत्र सिद्धमसिद्धं वा [तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥] इति ।

स्वभावातिशय एवाधानम् आधीयमानत्वात्, तत् न परीक्ष्यते । कथम् ? तत्र अर्थे सिद्धमसिद्धं वा इति । कुतः ? विरोधात् परीक्षाया एवेति भावः । तथा हि–परीक्षेयमर्थस्यानेकातिशयनिराकरणार्था सती यदि स्वयमेकस्वभावैव, कथम् 'सिद्धमसिद्धं वा' इति 'भिन्नमेव न स्वभावः' इति च नानाकारपरामर्शिन्यवकल्प्येत ? अन्याकार तद्भेदे वा यदि दृष्टं तदनपेक्षमिति कथं सङ्कलनम् ? सत्येवानेकपरामर्शे तत्सम्भवात् । ततो युक्तं तन्निराकरणाय परीक्षायां तस्या एव विरोधात् न तदाधानं परीक्ष्यते इति । न चैवं परीक्षायां कुतश्चित् कस्यचिदुत्पत्तिरपि । तथा हि–यदि तत्सिद्धम्, किं हेत्वपेक्षया सिद्धस्य निराशंसत्वात् ? असिद्धं चेत्, तथापि कथं तदपेक्षणम् तस्य वस्तुधर्मत्वात् ? इदमेव तदपेक्षणं यत्तत उत्पत्तिरिति चेत्; न; तद्रूपेण तदभावात्, तस्य प्रागपि भावात् । रूपान्तरेण तूत्पत्तिस्तस्यैव स्यान्नासतः । न तस्यापि, सिद्धवदसिद्धस्याप्यपेक्षाऽयोगात् । तत्रापि 'इदमेव वा' इत्यादिवचने परिनिष्ठापरिच्युतेः । एतदेवाह–'तस्माज्जातिर्न हेतुतः' इति । तस्मात् परीक्षणात् जातिः जननं न हेतुतो न कारणात् कार्यस्येति शेषः । सापि मा भूदिति चेत्, किमर्थं तर्हि परीक्षणम् ? तदाधानदूषणार्थमिति चेत्; व्याहतमेतत्–'ततो न तज्जातिस्तदर्थं च तत्' इति । कल्पनयैव तादर्थ्यं[6] तस्य न परमार्थत इति चेत्, वस्तुतस्तर्हि दूषणाभासमेतदिति[7] कथन्न तद्वादिनो निग्रहस्थानम् ? भवतु तत्त्वत एतद् दूषणम्, भवति तस्य हेतुत्वमिति चेत्; कुत एतत् ?

---

१ परिणामिनोप्यर्थस्य । २ उक्तरीत्या प० । ३–याधान आ०, ब०, प० । ४ आधीय– आ०, ब०, प० । ५ अनेकरूपस्य । ६ तद्भावा–प० । ७ दूषणमाह भासमेव तदिति–आ०, ब०, प० । ८ एवतदानन्त–आ०, ब०, प० ।

आनन्तरीयरूपात् सन्निधानादिति चेत्; न; अहेतावपि तदविशेषात् । तदुत्पत्तौ परीक्षणस्येव सकलजगत्क्षणस्यापि तद्भावात्, अन्यथा तदवसरे परीक्षणमात्रमेव जगन्न बहिरन्तर्वा परमिति निर्विषयमेव तद्भवेत् । ततो भवत्येव सर्वोऽपि तद्धेतुर्न देशतः । असन्निधानादिति चेत्; परीक्षणमपि न भवेत्, वस्तुतस्तत्रापि देशस्याभावात् । कल्पनया भावस्य सर्वत्राविशेषात् । इदमेवाह–

सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ॥ १३२ ॥ इति ।

सन्निधानं देशकालनैरन्तर्यं तत् परप्रसिद्धं समं सदृशं हेतुवत् अव्यापारेऽपि अहेतावपि, कार्यव्यापारविकलस्याव्यापारत्वात् । किं कचित् ? न; सर्वस्मिन् निरवशेषे हि यस्मात् 'तस्माज्जातिर्न हेतुतः' इति । किं सर्वथा ततो न जातिः ? नेत्याह–

न चेत् स परिवर्तेत भाव एव फलात्मना । इति ।

न चेत् न यदि स परीक्षणात्मा भाव एव फलात्मना दूषणज्ञानरूपेण परिवर्तेत । तदात्मना परिवृत्तौ तु भवत्येव ततो जातिः, तथा विरुद्धैव परीक्षा, स्वयं फलरूपपरिवर्तिन्या तथा तदाधानस्यैव व्यवस्थापनात् न तदभावस्येति मन्यते ।

सम्प्रति यदुक्तम्–'विनाशनियतो भावस्तत्रानपेक्षणात्' इति, तस्य विरुद्धत्वं दर्शयन्नाह–

परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ॥ १३३ ॥ इति ।

स्पष्टमिदम् । न चैवम् 'अपेक्षातः प्रकल्प्यते' इत्यस्य व्यापत्तिः, तद्विशेषण (ष) स्यैव तदभिधानान्न तन्मात्रं प्रति । कुतः पुनर्निरन्वयविनाशस्यैव ततो न सिद्धिरिति ? अत्राह–

अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् । इति ।

अयं भावोऽर्थक्रियाहेतुः कार्यकारी । कथम् ? अन्तरेण विना निरन्वयं निरन्वयविनाश तदभावतः । [1]अतः 'परिणाम' इत्यादिसम्बन्धः । तात्पर्यमत्र-निरन्वयविनाशे अर्थक्रियाविरहाद्भाव एव न किञ्चिदिति क्व [2]तत्साध्यं क्व वा हेतुरिति ? परिणामे भावसाङ्कर्यं कस्यचित् स्वपर्यायैरिव परपर्यायैरप्यविशेषात् तदापत्तेरिति चेत्; अत्राह–

भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदाव्यवस्थितिः ॥ १३४ ॥
लोकतो वानुगन्तव्या [सभागविसभागवत्] । इति ।

भेदाभेदात्मनः परिणामस्वभावस्य अर्थस्य याविमौ परात्मपर्यायापेक्षया यथाक्रमं भेदाभेदौ नानात्वैकत्वे तयोर्व्यवस्थितिरसङ्करेणावस्थानमनुगन्तव्यम् । कुतः ? लोकतो वा लोकादिव । लोकश्चात्र प्रत्यक्षादिप्रमाणपर्यायपरिणत आत्मैव तत्त्वावस्यैव (तत्स्वभावस्यैव) तत्त्वावलोकनात् । निदर्शनमाह–'सभागविसभागवत्' इति । सभागः सदृशक्षणप्रबन्धसन्तानो विसभागस्तदन्यस्तयोर्यथा व्यवस्था लोकतस्तथा प्रकृतापि अनुगन्तव्येति । तात्पर्यमत्रापि लोकस्तावदुक्तरूपः परेणापि

१ परीक्षणम् । २ स्वतः प० । ३ तत्साध्य साधनं क्व प० । तत्साधनं क्व ब०, मू० ता० ।

वक्तव्य, अन्यथा सभागेतरसन्तानयोस्तद्व्यवस्थायाश्चासम्भवादिति पूर्वं निरूपणात्। ततस्तेन व्यवस्थापि तदै[थै]वानुभवात्। ततस्तत्साङ्कर्यपरिकल्पनमनात्मज्ञत्वं परस्य निवेदयतीति। 'सिद्धम्' इत्यादयो विवरणश्लोकाः। तदेवं भावधर्मविशेषव्यापिनः प्रमेयत्वादेः परिणामहेतुत्वमभिधाय साम्प्रतं तद्विशेषाणामपि तद्धेतुत्वं तद्व्यापकस्य वचनादवगतमपि विनेयानुग्रहणा[हा]र्थं दर्शयन्नाह–

सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ॥१२५॥ इति।

सामान्यभेदरूपस्य सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य शब्दादेः साधनस्तद्गुणस्तस्य भावस्य गुणस्तदाश्रयी कृतकत्वादिः। किं कश्चिदेव? न, अखिलो निरवशेषः। कुतस्तत्साधन एवायं न क्षणिकत्वादिसाधनोऽपीति चेत्? अत्राह–

अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र सम्भवात्। इति।

सुगममिदम्। न हि क्षणिकत्वादौ हेतोस्तत्सम्भवात्त (वस्त) थाहि– क्व तत्साधनम्? शब्दादाविति चेत्; कुतस्तत्प्रतिपत्तिः? प्रत्यक्षादिति चेत्; न, ततो व्यतिरिक्तस्यानवगमात्। अव्यतिरिक्तस्य चाधर्मित्वं पर प्रत्यसिद्धेः। नापि तत्प्रत्यक्षगतस्यापि; वादिनं प्रत्यसिद्धेः। तथा चान्यतरं प्रति आश्रयासिद्धस्य तद्गुणस्य कथमन्यथाऽनुपपन्नत्वम्? ["अन्यथानुपपन्नत्वम्] असिद्धस्य न सिध्यति।" [सिद्धिवि० द्वि० परि०] इति न्यायात्। न तदाकारस्य धर्मित्वमपि तु तद्रूप (पं) कस्य बाह्यस्यैव, तस्य तदाकारादेव लिङ्गादवगमादिति चेत्, न; उभयसाधारणस्य तदाकारस्याभावात्। प्रत्यात्मनियताच्च नोभयास्तत्परिज्ञानम्; इतरस्येतर प्रत्यसिद्धे। यथास्वं प्रसिद्धात्तत्परिज्ञानेऽपि कथं तदर्पकत्वस्यैकत्वं कार्यभेदे भेदस्यैव कारणेऽप्युपपत्तेः? अन्यथा सर्वस्याप्येकहेतुकत्वापत्तेः। दूरेतरदेशयोश्च धूमयोरेकत्रैव पावके लिङ्गत्वशङ्कायां न जानीम' क्व पावकार्थिना प्रवर्तितव्यमिति पावकदेशापरिज्ञानं निराकारज्ञानवादे। भवत्येव तत्र तत्साधनमुभाभ्यामपि तस्य प्रत्यक्षतोऽवधारणादिति चेत्; न; तत्राप्यकारणस्याग्रहणात्। कारणमेव स तत्प्रत्यक्षयोरिति चेत्; कथमेकस्वभावात् ततः कार्यभेदः? तथा स्वहेतोरेव तस्योत्पत्तेः, अन्यथा नानास्वभावस्याप्यपरेण तेन स्वीकारेऽनवस्थापत्तेः। स्वकारणादेव तत्स्वभावतयोत्पत्तौ नानाकार्यतथापि स्यादविशेषादिति व्यर्थमदृष्टस्य तन्नानात्वस्य कल्पनम्। तथोक्तमलङ्कारे–

"यथैव कारणादेव नानाशक्तिर्भवत्यसौ।
नानाकार्योऽपि किन्नेष्टः किमदृष्टं प्रकल्प्यते॥
कार्यनानात्वदृष्टेश्च नानाशक्तिप्रकल्पना।
यदि तान्येव सन्त्वत्र स्वभावनियमोऽस्य सः॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१६२] इति।

'यद्ये (द्ये) कैव शक्तिर्भावस्य मन्त्रादिना तत्प्रतिषेधे पावकात् क्वचिदपि दाहो न भवेत्, न चैवम्, अङ्गुल्यादावदाहेऽपि काष्ठादौ तद्दर्शनात्। ततस्तत्र भिन्ना एव शक्तयः, 'तद्वदन्यत्रापि' इत्यत्रापि न पर्यनुयोगः, तथापि तस्य स्वहेतोरेवोत्पत्तेः। स्वकारणादेव स खलु भाव एकस्त-

१ अन्यथानुपपन्नत्वनियमसम्भवः। २ प्रतिवादिप्रत्यक्ष। ३ अन्तर्बाह्योभय। ४ 'यथैककारणादेव' –प्र०वार्तिकाल०।

थोत्पन्नो यदेकशक्तिक एव मन्त्रादिरहितः सर्वत्र दाहं करोति तत्सहितस्तु विभागेनेति । तदप्युक्तं तत्रैव–

"जातः स्वकरणादीदृग्येन मन्त्रादिसंयुतः ।
विभागात्कार्यकरणे समर्थः शक्तयो वृथा ॥
पावकस्सर्वदहने विना मन्त्रेण कारणात् ।
स एव कस्यचिद्दाहसमर्थो मन्त्रसंयुतः ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१६२]

इति चेत्, न; नित्यस्याप्येक (व) मेकस्वभावस्यैवानेककार्यप्रसङ्गात् । तत् सर्वमेककालमेव किन्न भवतीति चेत् ? क्षणिकादपि एकदेशं किन्न भवति ? तथा तस्य स्वभावो यदेकदेशमनेकदेशं च करोतीति चेत्; इतरस्यापि तथैव स्वभावो यदेककालमनेककालं च तत्करोति । ततो न कार्यभेदात् प्रतिक्षणं तद्भेदकल्पनमुपपन्नम् । तदुक्तम्–

"यद्यदा कार्यमुत्पित्सुस्तत्तदोत्पादनात्मकम् ।
कारणं कार्यभेदेऽपि न भिन्नं क्षणिकं यथा ॥" [सिद्धिवि० तृ० परि०] इति ।

वार्तिकविरुद्धं चेद् शक्त्येकत्वकल्पनं भावानाम् । तत्र साधारणेतरभावेन शक्तिभेदस्यापि–

"रूपादिशक्तिभेदानामनाक्षेपेण वर्तते ।
तत्समानफलाहेतुव्यवच्छेदे घटश्रुतिः ॥" [प्र० वा० १।१०२] इत्यभिधानात्, "रूपादीनां प्रतिनियतशक्तिभेदमनाक्षिप्य तेषु समानोदकधारणशक्त्याक्षेपेण घटश्रुतिः प्रवर्तते ।" [प्र० वार्तिकाल० १।१०२] इति स्वयं च तस्य प्रज्ञाकरेण विवरणात् । न च तदेव व्याचक्षाणस्य स्वकीयमपि विवरणपदं विस्मृत्य तद्विरुद्धं वस्तुपरिकल्पनमुपपन्नम्; प्रेक्षावत्त्वव्यापत्तेः । ततो नानाशक्तिरेव भावतो भावः । तथा च सिद्धं प्रस्तुतार्थसाधनमन्यथाऽनुपपन्नत्वं तद्गुणस्य । स्वशक्त्यभेदेन च भावस्य सामान्यभेदरूपत्वात्, युगपदिव क्रमेणापि भावस्य ताद्रूप्याप्रतिक्षेपात् । तन्न क्षणिकस्य साधनं ततः ।

नापि नित्यस्य; तस्यैवापरिज्ञानात् । कालत्रयानुपाती स इति चेत्; न सकृत्तदनुपातस्तत्त्रयस्य युगपदभावात् । क्रमेणेति चेत्; सोऽपि न कालभेदः, तदनुपातादन्यस्य तस्यैवाभावात् । भावे तदनुपातोऽप्यपरेण तद्भेदेनेत्यनवस्थानप्रसङ्गात् । स्वभावभेद इति चेत्; न; कौटस्थ्येन तदसम्भवात् । परिणाम इति चेत्; प्रकृतमनुपालितं (तत्) । ततः स्थितम्–'सामान्यभेद' इत्यादि ।

कीदृशो वा शब्दादिर्यत्र क्षणभङ्गसाधनम् ? निष्कलपरमाणुरूप इति चेत्, न; तस्याप्रतिवेदनात् । प्रत्येकदशायामेव तस्य तन्न सञ्चयदशायामिति चेत्, न; विशेषाभावात् । सञ्चय एव विशेष इति चेत्; न, तेनापि सौक्ष्म्यस्यानपाकरणात् । दशान्तरेऽपि तत एव तदप्रतिपत्तेः । सञ्चयाभावादेव तदापि [न] तत्प्रतिपत्तिर्न सौक्ष्म्यादिति चेत्; सञ्चये तर्हि सौक्ष्म्येणैव तेषां प्रतिपत्तिः स्यात् तत्स्वभावत्वात्, तथा च कथमेकघटादिव्यवहारः ? विकल्पारोपितादेव स्थौल्यात् क्षणभेदव्यवहारवदिति चेत्; एतदेव दर्शयति–

१ कालत्रयस्य । २ कालात् । ३ अप्रतिवेदनम् । ४ सौक्ष्म्यादेव ।

प्रत्यक्षेऽपि समानान्यनिर्णयः प्रतिरुध्यते ॥१३६॥

यथा क्षणक्षयेऽणूनाम् [इत्यात्माप्तौ विडम्बयेत्] इति ।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ज्ञानं तस्मिन् सत्यपि । केषाम् ? अणूनां प्रतिरुध्यते बाध्यते । केन कः ? समानान्यनिर्णयः समानस्य सञ्चयगतसाधारणस्य स्थूलाकारस्य अन्यः तद्ग्राहको विकल्पः प्रत्यक्षापेक्षया तस्यैवान्यत्वात् तेन निर्णयः । स केषाम् ? अणूनाम् एतदपेक्षस्यापि निर्णयपदस्य गमकत्वाद (द्वा) वृत्तिः । 'यथा' इत्यादि निदर्शनम् । अणूनां क्षणक्षयेऽपि निर्णयस्य तदेकत्वविकल्पेन प्रतिरोधात् । अत्रोत्तरमाह– 'इत्यात्माप्तौ विडम्बयेत्' इति । इति एव ब्रुवाणो धर्मकीर्तिः आत्मानमाप्तं च सुगतं[2] विडम्बयेत् दूषणवन्तं प्रकटयेत् । तथाहि– यदि तद्विकल्पेन सर्वथा तन्निर्णयः प्रतिरुद्ध्यते; तदा सौक्ष्म्येणे (णे) व नीलादिनापि तदभावात् निरवकाशमेवैतत्–"वस्तुस्वभावोऽयं यदनुभवः पटीयान् क्वचिदेव स्मृतिबीजमाधत्ते ।" [ ] इति ; नीलादिव्यतिरेकेण तदाधानविषयस्याभावात् । ततः सिद्धमात्मविडम्बनं निर्विषयवचनवात्[?]त् । अथ सौक्ष्म्येणैव तत्प्रतिरोधो [न] नीलादिना तदा निश्चितेतरस्वभावाविरोधे स्थूलमपि रूपं सौक्ष्म्यस्याविरुद्धमिति तदालम्बना एव पञ्चापि विज्ञानकायाः स्युः । तथा चेत्, आप्तवचनमपि निर्विषयमेव "सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः"[1] [ ] इति सिद्धमाप्तविडम्बनमपि । तन्नायमारोपितः स्थूलाकारः तत्प्रत्ययव्यतिरेकेण प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात्, एकत्वाध्यवसायाच्च तत्कल्पनस्य प्रतिक्षेपात् । एतदेवाह–

अपृथग्वेद्यनियमादभिन्नाः परमाणवः ॥१३७॥ इति ।

अपृथग् अभेदेन प्रत्यक्षादिभिर्वेद्यं वेद्यत्वं भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, तस्य नियमाद् अवश्यम्भावाद् अभिन्नाः परस्पर कथञ्चिदव्यतिरेकिण· परमाणव इति ।

> दृष्टमप्यपृथक्त्वं चेद्[3]आरोपितमतात्त्विकम् ।
> नीलाद्यपि तथैवेति शून्यवादो विजृम्भताम् ॥१४७५॥

अथवा यदुक्तम्–'यथा क्षणक्षये' इत्यादि; तदपनुदन्नाह–'अपृथग्' इत्यादि । अणवः सञ्चयगताः क्रमभाविनोऽभिन्नाः परस्परमव्यतिरेकिणः । कस्माद् ? अपृथक् अपृथक्त्वेन वेद्यं वेदितव्यं येन तद् अपृथग्वेद्यं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानं तस्य नियमः तदभेदादन्यत्राभावस्तस्मादिति । नायं[4] नियमः, कार्यकारणभावादपि तस्य भावादिति चेत्, न, सत्यपि तस्मिन् मुद्गरकपालयोरभावात् । सादृश्यादिति चेत्; न; यमलकयोरदर्शनात् । कार्यकारणभावोपाधिकादिति चेत्, न, पितापुत्रयोरप्रतिपत्तेः । ततः कथञ्चिदेकत्वपरिणामादेव तत्, काष्ठभस्मादौ तावत्वैव[5] सादृश्याभावेऽपि भावात् । वासनामात्रादेव भावान्न तन्निबन्धनत्वमपीति[6] चेत्, न; अस्खलद्रूपत्वात् । न हि तादृशस्य[7]

१ "सञ्चितः समुदायः सः सामान्यं तत्र नाप्यधीः । सामान्यबुद्धिश्चावश्यं विकल्पेनानुबध्यते ॥" प्र० वा० २।१९४ । २ सुगत च वि–प० । ३ भेदारोपित– आ०, व०, प० । ४ प्रत्यभिज्ञाननियमः । ५ तावत्येव–आ०, व०, प० । ६ एकत्वपरिणामनिबन्धनत्वमपि । ७ तादृश्यं न वा–आ०, व०, प० ।

वासनाहेतुकत्वं नीलादिज्ञानवत् । तदपि स्खलत्येव भेदज्ञानेन बाधनादिति चेत्; नीलादिज्ञानमपि किन्न स्खलति निराकारवस्तुज्ञानेन बाधनात् ? तदेव नास्ति, साकारस्यैव वस्तुनो दर्शनादिति चेत्; इतरदपि न भवेत्, सान्वयस्यैव दर्शनात् । व्यतिरेकोऽपि पिण्डशिवकादिरूपेण प्रतीयत इति चेत्; निराकारमपि प्रतीयत एव, सन्नीलं सत्पीतमिति । न हि नीलेतरयोरन्यतरदेव सत्, इतरत्र [1]तज्ज्ञानाभावप्रसङ्गात् । न नीलादेरन्यत् सत्त्वमिति चेत्; सत्त्वादन्यन्न नीलाद्यपि । कथं तत्प्रत्यय इति चेत् ? इतरप्रत्ययः कथम् ? नीलादावेव स इति चेत्; तत्प्रत्ययोऽपि सत्त्व एवेति किन्न स्यात् ? अतद्रूपे तदनुपपत्तेरिति चेत्; कथमभेदप्रत्ययः ? तत्रैव तदारोपादिति चेत्; नीलादिप्रययोऽपि सत्त्व एव, तत्रैव तदारोपादिति किन्न स्यात् ? न कदाचिदपि नीलादिविकलं सत्त्वमुपलभ्यत इति चेत्; क्व पुनरभेदविकलस्य भेदस्योपलब्धिः ? विकल्पसंहारदशायामिति चेत्; तत्रैव सत्त्वस्यापि । "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" [छान्दो० ६।२।१] इत्यादि[2] श्रुतेः । वाङ्मात्रमेवेदं नैवं कदाचिदप्यनुभव इति समानमेकान्तभेदेऽपि । ततो यथा नीलादिज्ञानस्य निराकारज्ञानेनाबाधनं केवलस्य तद्विषयस्याप्रतीतेः, एवं भेदज्ञानेनापि इतरज्ञानस्य, इत्युपपन्नमुक्तम्–'अपृथग्' इत्यादि । किं पुनरेवमभेद एव न भेदोऽपि तज्ज्ञानस्यापि भावात् ? कथमेवं तयोरेकत्र भावः ? कालविकल्पेनेति चेत्; न; वस्तुनि तदभावात् । न ह्येकमेव कदाचिन्नीलमन्यदान्यदिति[3] चेत्; मा भूद्विकल्पः समुच्चयस्तु स्यात् । स एव कथमेकत्र विरुद्धयोरिति चेत् ? कथं विभ्रमेतरयोः ? न चेदमसिद्धम्–"नौयानादिषु" इत्यादिना निरूपितत्वात्[4] । कथं वा विकल्पेतरयोः[5] ? अन्यथा विकल्पाभावेन सर्वव्यवहारोच्छेदादिति निरूपणात् । ततो यथा विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनामेकत्र समुच्चयस्तथा वस्तुस्वाभाव्यादेव सूक्ष्मेतराभेदेतराणामपि[6] । एतदेवाह–

देशकालान्तरव्याप्तिः स्वभावः क्षणभङ्गिनाम् । इति ।

'अणूनाम्' इत्यनुवृत्तम् । ततस्तेषां देशान्तरव्याप्तिः भिन्नदेशकलापाविष्वग्भावः स्वभावः ततो देशदैर्घ्यम्, क्षणभङ्गिनां कालान्तरव्याप्तिर्भिन्नकालपर्यायाभेदः स्वभावस्ततश्च कालदैर्घ्यमिति भावः । देशदैर्घ्यस्य निरूपितस्याप्युपादानं तद्वत् कालदैर्घ्यस्याप्यविरोधदर्शनार्थम् । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह–

सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ॥१३८॥ इति ।

सम्यक् प्रत्यस्तमिताः प्रलीना अशेषनियमाः स्थूलमेव सूक्ष्ममेव नित्यमेवानित्यमेव वेत्यादय एकान्ता यासु तास्तथोक्ताः । काः पुनस्ताः ? प्रतीतयः प्रत्यक्षादिबुद्धयो हि यस्मात्, तस्माद् 'देश' इत्यादि । तथा हि–

नैकान्तनियता काचित् प्रतीतिरनुभूयते ।
अनेकान्ततिरस्कारं यद्बलाद्विदधीमहि ॥१४७६॥

---

१ सज्ज्ञाना–आ०, ब०, प० । २ स्वत एव–आ०, ब, प० । ३ इति 'श्रु–आ० ब०, प० । ४ –दा तदन्यदि–आ०, ब०,प० । ५ न्यायवि० श्लो० १४८ । ६ समुच्चय इति शेषः ।

प्रतीतं प्रविलुम्पेम यद्यन्यस्य प्रकल्पनात् ।
लभेमहि कथं तत्त्वं किमप्येवं तदर्थिनः ॥१४७७॥
ततः प्रतीतिसामर्थ्याद्देशकालान्तरान्वयी ।
स्वभावो भावतो भावो भावज्ञैरभ्युपेयताम् ॥१४७८॥

न चेदमत्र चोद्यम्–"तथाविधस्य भावस्य सर्वात्मना प्रत्यक्षत एव प्रतिपत्तेर्न तत्र प्रमाणान्तरं शब्दान्तरं वा प्रवृत्तिमत् ।" [ ] इति; कस्मात् ? अर्वाग्दर्शिभिरसकलपर्यायस्यैव ततस्तस्य प्रतिपत्तेः । एवं सति स एव गृहीतश्चागृहीतश्च भवेदिति चेत्, नाय दोषः, तथाप्यनेकान्तस्यानुपद्रवात् । एकान्तवादस्य तु भवत्येव समुपद्रवः । तत्र सर्वात्मना ग्रहणमेव नेतरदिति चेत्, न; भाववच्छक्तावपि तत्प्रसङ्गादव्यतिरेकात् । तथा च किं तत्रोपदेशाद्यपेक्षया ? निर्णय इति चेत्; न, प्रत्यक्षस्यैव निर्णयरूपस्योपगमात् । व्यतिरिक्तैव ततः शक्तिः तस्याः सामग्रीरूपत्वादिति चेत्, व्यतिरिक्ता कथं तस्य ? तत्कार्ये व्यापारादिति चेत्, न; अशक्तस्य कार्याभावात् । शक्त एवासौ सामग्र्येति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–'सामग्र्या शक्तस्य कार्यम्, तद्व्यापाराच्च सा तस्य शक्तिः' इति । तन्न तत्र व्यापारात् तस्यास्तच्छक्तित्वम् । तदुपकारादिति चेत्; न; अशक्तेस्तदसम्भवात् व्योमकुसुमवत् । स्वतोऽपि शक्त एव भाव इति चेत्; तस्य तर्हि प्रत्यक्षत एव निर्णयात् कथं [4]शृङ्गवेरदर्शने संशयः शृङ्गवेरं विषमेवेति विपर्ययो वा ? तस्मादगृहीतैव शक्तिर्भावग्रहेऽपीति कथमेकान्तवादस्यानुपद्रवः ? तस्मादक्रमवत् क्रमेणापि अनेकान्तात्मक एव भावः, तथा प्रत्यभिज्ञानात् । ननु च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षविषय एव प्रवृत्तिमन्नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षस्य परापरपर्यायेषु प्रवृत्तिर्यतस्तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपत्त्या तस्यानेकान्तविषयत्वात् प्रत्यभिज्ञानं तत्र स्यादिति चेत्; अत्राह–

अग्रहः क्षणभङ्गोऽपि [ग्रहणे किमनिश्चयः] । इति ।

न केवलमक्षणिकत्वमपि तु क्षणिकत्वमप्यविद्यमानग्रहणमेव । न हि परापरा[5]विज्ञाने तस्यापि ग्रहणं तदपेक्षत्वात् । स्वभाव एव भावस्य क्षणभङ्गः ततः किं तद्ग्रहणे[6] पूर्वापरग्रहणेनेति चेत् ? सिद्धं तर्हि तद्वदभेदस्यापि ग्रहणं तस्यापि कथञ्चित्[7] तत्स्वभावत्वाविशेषात् । किमिदानीं प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यक्षादेव तस्य प्रतीतेरिति चेत्; न; तस्यैव परापरपर्यायविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञानेनाधिगमात् । अपि च, भवतोऽपि किमनुमानेन प्रत्यक्षादेव क्षणभङ्गस्यापि ग्रहणात् । निश्चय इति चेत्, न; निश्चयस्यापि नीलादिवत् प्रत्यक्षादेव भावात् । एदेवाह–'ग्रहणे किमनिश्चयः' इति । ग्रहणे क्षणभङ्गस्य कस्मादनिश्चयो निश्चय एव स्यात् । न प्रत्यक्षमित्येव निर्णयहेतुर्बुद्धिपाटवादौ सत्येव तस्य तत्त्वात्, क्षणभङ्गे च तदभावादिति चेत्; नीलादेरपि न निर्णयः स्यात्, निरंशे खण्डशः पाटवादेरसम्भवात् । एवं च कथमनुमानधर्मिहेत्वादीनामसिद्धेः । ततो विशिष्टनिर्णयार्थत्वमेवोत्तरम् । तच्च प्रत्यभिज्ञानेऽपि समानम् । नेदमत्रोत्तरम्, समारोपनिरासार्थत्वस्य तत्त्वादिति चेत्; अत्राह–

१ प्रत्यक्षात् । २ ततोऽपि आ०, ब०, प० । ३ एव ततो नि–आ०, ब०, प० । ४ आर्द्रकं शुण्ठीति यावत् । ५ –परापरिज्ञा–आ०, ब०, प० । ६ क्षणिकत्वग्रहणे । ७ –ञ्चित्स्वभा–आ०, ब०, प० ।

आकृतिभ्रमवद्यद्वद्विषमज्ञैर्विलोकितम् ॥१३९॥ इति ।

आकृतिर्विपरीताकारः तत्रैव भ्रमोपपत्तेः तस्य भ्रम आरोपः स विद्यतेऽस्मिन्निति तद्वत् ग्रहणं निरंशक्षणिकवेदनं 'ग्रहणे' इत्यस्य विभक्तिपरिणामेन योजनात्, किं नैव 'किम्' इत्यस्यानुवृत्तेः । न हि सर्वात्मना तस्य स्वविषयनिश्चयनिबन्धनत्वे तद्वत्त्वमुपपन्न विरोधात् । ततो न आरोपस्याभावात् तन्निरासार्थत्वमनुमानस्येति मन्यते । यद्वदित्यादि तद्वत्त्वे निदर्शनम् । तस्याप्युपन्यासः परं प्रत्यभावज्ञापनार्थः । न ह्यज्ञैः तन्निश्चयविकलैरवलोकितं विषमपि तद्विपर्ययभ्रमवदुपपन्नं यतो निदर्शनं स्यात्, तदवलोकनस्यापि तन्निर्णयजननस्वभावत्वेन तद्वत्त्वानुपपत्तेः । ततः प्रागुक्तमेवोत्तरम्[1], प्रत्यभिज्ञानवत् । अपि च, सत्यपि दर्शने यदि निश्चयाद् व्यवहारः, स एव प्रमाणमस्तु किं दर्शनेन ? स एव तदभावे कुत इति चेत् ? तदपि कुतः ? विषयविषयिसन्निपातादिति चेत्; तत एव सोऽप्यस्तु । तदेवाह–

न चर्तेऽर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलो व्यवसीयते । इति ।

किमित्यनुवृत्तम्, अर्थः पुरोवर्तिनीलादिः किं कस्मात् न च नैव व्यवसीयते व्यवसीयत एव । कथम् ? अर्थविदो निर्विकल्पदृष्टेः ऋते विना । कुतो व्यवसीयते ? अर्थात् विषयिसन्निहितात् स्वलक्षणात् । निश्चयो नामाभिलापवान् प्रत्ययः, तद्वत्त्वं च तस्य न विषयगतेनाभिलापेन तत्र तदभावात्, अन्यथा सङ्केतवैफल्यम्–स्वत एव वाचकानुविद्धस्य सर्वस्यापि वस्तुनः प्रतिपत्तेः । स्मरणोपनीतेन तु तद्वत्त्वे भवितव्यमेवार्थविदा पूर्वम्, अन्यथा स्मरणासम्भवादिति । अत्रोत्तरम्–'केवलः' इति । तात्पर्यमत्र–यद्यभिलापसम्बन्धेनैवार्थो व्यवसीयते युक्तं तयो भवितव्यमिति, न चैवम्, तत्सम्बन्धविकलस्य केवलस्यैव तस्य व्यवसायात् । तद्वैकल्ये व्यवसायः कथमिति चेत् ? अभिलापानुस्मरणस्य कथम् ? तत्सम्बन्धादेव तदपीति चेत्; तत्रापि तदभिलापस्मरणान्तरमङ्गीकर्तव्यम्, तदुपनीतेनैवाभिलापेन तस्यापि तद्वत्त्वात्, पुनस्तत्राप्यपर तदिति कथं नानवस्थानम् ? भवतु [6]तन्निर्विकल्पकमेव तत्सम्बन्धाभावादिति चेत्; न तर्हि तद्विषयस्यान्यत्र योजनं स्वलक्षणस्यावा[7]चकत्वादशक्यत्वाच्चेति विकल्पविकलं जगत्प्राप्तम्, अशब्दयोजनस्य तस्यानभ्युपगमात् । तदुक्तम्–

> "सदृशार्थाभिलापादिस्मृतिर्नाप्यभिलापिनी ।
> तावतैवाविकल्पत्वे स्वल्पा धीः स्याद्विकल्पिका ॥" [सिद्धिवि० प्र०परि०] इति ।

ततस्तत्सम्बन्धाभावेऽपि व्यवसायात्मकमेव तद्वक्तव्यम् । अस्तु, तद्योग्यतया तदुपगमादिति चेत्, किमेवं नेन्द्रियज्ञानम् ? तस्य असाधारणविषयत्वेनातद्योग्यत्वादिति चेत्; कुतस्तद्विषयत्वम् ? [8]अतद्योग्यत्वात् । तदपि कुतः ? तद्विषयत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयस्य सिद्धेः । स्वतस्तद्विषयत्वेनावभासनात्, अत एवोक्तम्–"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।" [प्र० वा० २।१२३]

---

१ –त्तर प्रत्यभिज्ञानेऽपि समानं नेदमत्रोत्तरम्– समारोपनिरासार्थत्वस्य प्रत्यभिज्ञानान्यवदपि च आ०, ब०, प० । २ केवल व्य–आ०, ब०, प० । ३ "विकल्पो नामसंश्रयः" इति वचनात् । स्वाभिधानविशेषापेक्षा एव निश्चयैर्निश्चीयन्ते इति वचनाच्च ।"–ता० टि० । ४ अर्थविदा । ५ अभिलापानुस्मरणम् । ६ विकल्पस्य । ७ विकल्पकमिष्टमिति शेषः । ८ शब्दसम्बन्धायोग्यत्वात् ।

इति चेत्; न, "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं [illegible] नः" [illegible] वचनात्, स्वतश्च तथैवावभासनात्। सौगतस्यापि [illegible], अन्यथा "नयोनिकं व्यवस्यति" [प्र० वा० २।१३३] [illegible] विरोधात्। कथं पुनः [illegible] निर्विकल्प- तदनुपपत्तेरिति चेत्? तद्विशेऽपि कथं तदविशेषात्। [illegible] तद्विकल्पहेतुत्वमिति चेत्; अर्थस्यापि तथैव तदस्तु। [illegible] न चाप्रत; अर्थस्यापि तद्धेतुत्वात्। कथं [illegible] प्राग् [illegible] उपयोगाविशेषात्? ततोऽर्थाभावेऽप्यज्ञानेन भवितव्यम्, अन्योन्यसंश्रयात्। तदुक्तम्–

"यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः॥" [ ] इति। [illegible]

कथमेवं तद्विदो व्यवसायहेतुत्वमपि। तत्र हि वक्तव्यम्–

या प्रागजनिका दृष्टिर्व्यवसायस्य सा कथम्।
पश्चादप्यविशेषात् स्यात् तदपायेऽपि तत्कृतिः॥ १४०॥ इति।

वासनाबोधस्य तु पश्चात्तद्विशेषत्वमपि [illegible]। [illegible] चेत्? दर्शनहेतुत्वं कथम्? तदपि दृष्टमेवेति चेत्; न, अपूर्वदर्शनाभावप्रसङ्गात्। [illegible] तदभावेऽपि। तत्र व्यवसायार्थमपि दर्शनस्यानुपपत्तम्।

ननु व्यवसायमेव तद्, [illegible] दर्शनादेव [illegible] प्रवृत्तेरिति चेत्; अत्राह–

भावान्तरसमारोपेऽभाविनाकारगोचराः॥ १४०॥
समक्षसंविदोऽर्थानां सचिपि नातिशेरते॥ इति।

विषयेषु सम्मुखमक्षमिन्द्रियं समक्षं तस्य संविदः [illegible] अर्थानां [illegible] मासिधिम् [illegible] नातिशेरते न [illegible], [illegible] इति चेत्? [illegible]। [illegible]–'अभाविनाकारगोचरा' [illegible] [illegible]। अत एव तस्य नातिशेरत इति। [illegible] [illegible] न [illegible] इति चेत्? [illegible] भावान्तरस्य [illegible] समारोपस्य [illegible] इति। न हि [illegible] न [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

यतस्तन्नियमो लोकतः प्रसिद्धोऽवकल्प्येत ? नीलादिर्नीलादेरप्यत्यन्तविलक्षण एव ततो न तदारोपस्तत्रेति चेत्; क्षणे क्षणान्तरस्यापि[1] स न स्यात्तदविशेषात् ? तथा च नित्यनिर्मुक्तं जगद्भवेत् संसारबीजस्य आरोपा[2]त्मनः सत्त्वदृष्टेरभावात् । एवञ्च निर्विषयमिदम्–"उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ।" [प्र० वा० १।२५९] इति । क्षणक्षयासम्भवी दर्शनस्य नीलादावस्ति विशेषस्ततो न तत्र तदारोपमुपरचयतीति चेत्, स तर्हि कोऽपरः स्यादन्यत्र व्यवसायादिति तदात्मिकैव दृष्टिः । अन्यथा तस्यास्तद्विषयस्य चानवकल्पनात्, इत्यावेदयन्नाह–

अणवः क्षणिकात्मानः किल स्पष्टावभासिनः ॥ १४१ ॥ इति ।

भेदपर्यन्तप्राप्ता नीलादय[3] एव अणवः त एव प्रतिसमयं निरन्वयविनश्वराः क्षणिकात्मानः स्पष्टावभासिनो निर्विकल्पकदर्शनवेद्याः 'किल' इत्यत्रारुचिद्योतनं च[4] । तच्च तथाविधस्य दर्शनस्य तत्प्रतिभासिनां [च] तेषामप्यप्रतिवेदनात् । न ह्यनुपक्रान्तसंवेदनव्यापारं तत्त्वम् इत्यम्भावेन कथ्यमानमपि तथ्यं भवति मिथ्यावादविरहापत्तेः । परमरुचिविषयं दर्शयति–

अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः । इति ।

न विद्यते तद्विवक्षितं जलाहरणादिफलं येषां ते अतत्फलाः पटादयस्तेभ्यः परावृत्तार्थाः घटादिव्यपदेशभाजः परमाणवः तेषाम् । आकारः कल्पितस्थूलनीलादिः तस्य स्मृतिर्घटोऽयं घटोऽयमित्यादिनिर्णयः परप्रसिद्ध्या तस्य स्मृतित्वात्, तस्याः हेतवो यथोक्ताः परमाणव । 'किल' इत्यत्रापि योजनादश्रद्धेयत्व बोद्धव्यम् । न हि विशेषरूपस्यानुभवगोचरस्यापि सामान्याकारस्मरणहेतुत्वमुपपन्नम्; अनीलस्यापि नीलनिर्णयकारणत्वप्रसङ्गात् । नीलवासनाप्रबोधस्यापि अनीलादेवोपपत्तेः विशेषात् सामान्यवासनाप्रबोधवत् । तथा च यथा न वस्तुनि सामान्याकारस्तन्निर्णयात् तथा नीलाकारोऽपि मा भूत् । 'ततस्तदाकारो[6] दर्शनादेव तस्य भावात्' इत्यपि नोत्तरम्; उक्तोत्तरत्वात्, निरंशस्य तस्यासंवेदनादिति । ततो निराकारमेव तत्त्वं प्राप्तमिति मन्यते । ततो यथा तन्निर्णयात् तत् तथा साधारणरूपमपीति तस्यैव प्रत्यक्षवेद्यत्वम् । एतदेवाह–

स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ॥१४२॥ इति ।

स्थूलाश्च ते क्रमाक्रमाभ्यां नानावयवसाधारणत्वात् स्पष्टाश्च विशदप्रतिभासत्वात् स्थूलस्पष्टास्ते च ते विकल्पार्थाश्च घटादयः परप्रसिद्ध्या तेषां विकल्पज्ञानविषयत्वात् । ते किम् ? इन्द्रियं तज्ज्ञानं तस्य गोचरा विषया न विरुध्यन्ते 'न विरुध्यते' इति वक्ष्यमाणस्य वचनपरिणामेनान्वाकृष्य सम्बन्धात् । कथं ते तद्गोचराः ? स्वयम् आत्मनैव न दर्शनैकत्वाध्यवसायेन, प्रथमतस्तद्विषयस्यैव ज्ञानस्यानुभवात् । न च तस्यारोपितगोचरत्वम्, स्पष्टत्वात्, वस्तुसन्निधावेव भावात्, प्रतिविकल्पानिवर्त्यत्वाच्च । अभावादेव [7]प्रतिविकल्पस्य तदनिवर्त्यत्वं न तु स्वयं वस्तुविषयत्वादिति

१ –पि न आ०, ब०, प० । २ –रोपात्मकस–प० । ३–यः कुत एव आ०,ब०, प० । ४ 'च' इति सम्पातादायातम् । ५ –काराद–आ०, ब०, प० । ६ तदाकारस्तथा आ०, ब०, प० । ७ "निरंशक्षणिकविकल्प"–ता० टि० ।

चेत्; कुतस्तद्भावः? कारणाभावादिति चेत्; न; दर्शनस्यैव स्वलक्षणविषयस्य तत्त्वात्। अभ्यासप टुत्वादेर्नीलादिवत् क्षणभङ्गादावप्यविशेषात्। न च सादृश्यातिशयेन तस्य प्रतिरोधः; सत्यपि तस्मिन् मृगतृष्णिकादौ तन्निर्णयस्य तेन जलाद्यारोपनिवर्तनस्य च दर्शनात्। तत्र तस्य मानसत्वम्, ऐन्द्रियत्वस्यैवोपपत्तेः। तथा च यत्सिद्धं तदाह—

समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः। इति।

समानपरिणामात्मनः सदृशपरिणामरूपस्य शब्दस्य सङ्केतो वाचकत्वेन निवेशनं तस्य हेतवः प्रतिपादिता एवार्थाः न क्षणक्षीणाः परमाणवः। एतदुक्तं भवति—न शब्दार्थयोरसाधारणयोर्वाच्यवाचकभावः सङ्केतासम्भवात्, अपि तु समानपरिणामस्वभावयोः। तयोरपि नाप्रतिपन्नयोः सङ्केतः[1]; अतिप्रसङ्गात्? न च असाधारणदृष्ट्या तत्प्रतिपत्तिः, नापि तज्जन्मना विकल्पेन, ततस्तदुत्पत्तेर्निषेधात्। तत इन्द्रियबुद्धिरेव तद्विषया वक्तव्या शाब्दव्यवहारस्यान्यथानुपपत्तेः। सैव तद्व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न ततोऽन्येति।

साम्प्रतं तस्यास्ततोऽन्यत्वेऽपि तत्स्वसंवेदनवदिन्द्रियप्रत्यक्षस्यापि व्यवसायात्मकत्वं दर्शयन्नाह—

स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ॥१४३॥
नाशस्यैकार्थरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्ध्यते। इति।

नाशस्य क्षणभङ्गस्य प्रतीतिर्निर्णयात्मेन्द्रियबुद्धिः इतरत्र परस्याविवादात् न विरुद्ध्यते न प्रमाणेन बाध्यते। कीदृशस्य? एकार्थरूपस्य एको भागसहायविकलोऽर्थो नीलादिस्तद्रूपस्य तत्स्वभावस्य। विशेषणमप्येतत्साधनं द्रष्टव्यं तद्रूपत्वात्। तदयमत्र प्रयोगः—प्रत्यक्षनिर्णयो नाशो नीलादेरव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत्। न हि निर्णये तदव्यतिरिक्तस्यानिर्णयः, तद्वेदने अवेदनस्यापि प्रसङ्गात्। ततो यथेदमुच्यते—

> "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्।
> कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥" [प्र०वा० ३।४२] इति।

तथेदमपि वक्तव्यम्—

> एकस्यार्थस्वभावस्य निर्णीतस्य सतः स्वयम्।
> कोऽन्योऽनिर्णीतभागो यन्निश्चयः क्रियतां परैः ॥१४८०॥ इति।

नीलादेरपि न प्रत्यक्षान्निर्णयः तज्जन्मनो निश्चयान्तरादेव तद्भावात्, ततः साध्यविकलमुदाहरणमिति चेत्; निश्चयस्य तर्हि कुतो निश्चयः तदनिश्चये नीलादेरनिश्चयात् तदविज्ञावविज्ञप्तिवत्? निश्चयान्तरात् तस्यापि निश्चयेऽनवस्थोपनिपातान्न नामापि निश्चयस्य सिध्येत्। विदितत्वादेव तस्य[1] निश्चयो न निश्चितत्वादिति चेत्; अस्तु नामैवम्, तदेव तु वेदनं कुतः? स्वसंवेदनादेव प्रत्यक्षादिति चेत्; न; तस्यानिश्चयरूपस्य निश्चयात्मनि विरोधात्, अनेकान्तस्य चानभ्युपगमात्। निश्चयात्मैव तदपीति चेत्; सिद्धं तर्हि तद्वदेव नीलादिप्रत्यक्षमपि तदात्मकमिति[2] न तत्स्वरूपवदिति निदर्शनस्य साध्यवैकल्यम्। तदेवोक्तम्—'निश्चयानाम्' इत्यादिना। निश्चयानां

---

१ निश्चयस्य। २ निश्चयात्मकमिति।

नीलादिविकल्पानां स्वतो न निश्चयान्तरापेक्षया गतेः निर्णीतिः । तां दृष्टान्तत्वेनाश्रित्य नाशस्यैकार्थ[1]-रूपस्य प्रतीतिर्न विरुध्यते इति । कदा पुनस्तेषां गतिर्निर्णीतिरिति चेत् ? उत्तरम्–'स्वभाव' इत्यादि । स्वभावाः संचे(सचे)तनादयो विकल्पधर्मास्ते च ते व्यवसायाश्च नाव्यवसायास्तेषां तेषु विरोधात्, स्वभावव्यवसायास्तेषु सत्सु । न हि सकलतत्स्वभावानां व्यवसायात्मकत्व[2]नियमे निर्णीतिरन्या स्वतस्तेषां गतिः सम्भवति । ततो न बहिरन्तर्वा प्रमाणान्तरकल्पनमर्थवत्, प्रत्यक्षादेव समीहितसिद्धेरिति मन्यते । भवतोऽपि स्वपरनिर्णयात्मनो ज्ञानस्य स्वत एव सचेतनादिवत् प्रतिक्षणपरिणामादेरपि निर्णयात् किं तत्र प्रमाणान्तरेणेति चेत् ? अत्राह–

व्यामोहशबलाकारवेदनानां विचित्रता ॥१४४॥ इति ।

व्यामोहयति विकलयति चित्तमिति व्यामोहः आवरणात्मको विशेषस्तेन शबलो मेचक आकारः स्वभावो येषां तानि च तानि वेदनानि च ज्ञानानि तेषां विचित्रता [3]विविधां चितं प्रतिभासमात्मनि त्रायमाणानां भावः, विविधप्रतिभासत्वं भवति इति शेषः । एतदुक्तं भवति–भवत्येव सूक्ष्माणामपि ज्ञानाकाराणां निर्णयो यदि कर्मसामर्थ्यात् असकलनिर्णयपरिणामो न भवेत् । अस्ति चायमिति । एतदेवाह–

साकल्येन प्रकाशस्य विरोधः सम्प्रतीयते । इति ।

साकल्येन स्वभावसामस्त्येन प्रकाशो ज्ञानाकाराणां तस्य विरोधः कर्मसामर्थ्येन प्रतिरोधः तद्व्यवस्थापकात् प्रमाणात् वक्ष्यमाणात् सम्प्रतीयते इति । ततो नास्माकं तत्र प्रमाणान्तरस्यावृत्तिः, अप्रतिविदितस्यापि तस्य विषयस्य भावात् । न चैवमेकान्तवादे, तत्र प्रतिपन्नस्य तत्सामस्त्येनैव प्रतिपत्तेः, अन्यथा तद्वादविरोधात् । नन्वेवमगृहीताकारसम्भवे कुतस्तदस्तित्वमित्यत्राह–

सम्भावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ॥१४५॥
प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः । इति ।

सम्भावितं सम्भवज्ञानावलम्बनम् अन्यत् प्रतीतादर्थान्तरं रूपं येषां तेषां समानपरिणामिनां सदृशपर्यायवतां ज्ञानानामर्थानां च तेष्वपि [4]तत्सम्भवनाभावात्, तेषां परोक्षात्मा अप्रत्यक्षविषयः स्वभावः सूक्ष्मपरिणामादिः प्रमाणान्तरस्यानुमानादेर्गोचरः ततोऽस्तीति भावः । कीदृशानां तेषां स तद्गोचरः ? प्रत्यक्षाणां सच्चेतनादिना स्थूलनीलादिना च स्पष्टज्ञानविषयाणाम् । कुतः पुनरिदमवगन्तव्यं प्रमाणान्तरगोचर आत्मा प्रत्यक्षाणामिति ? प्रत्यक्षस्य तत्र तद्विषये च प्रमाणान्तरस्यावृत्तेः, उभयविषयस्य च कस्यचिदभावादिति चेत्; अत्राह–

प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ॥१४६॥
सत्यं परिस्फुटं येन तत्र प्रामाण्यमश्नुते । इति ।

---

१ स्पष्टा चेतना–वा० । २ –नियमनिर्णी–आ०, ब०, प० । ३ विविधं चित्र प्र–आ०, ब०, प० । ४ तत्संभवाचेषां आ०, ब०, प० ।

प्रत्ययः आत्मा 'प्रतिगतः परापरपर्यायान् अयो बोध. प्रत्ययः' इति व्युत्पत्तेः, तादृशस्य बोधस्यैवात्मत्वात् । स तत्र तस्मिन् 'प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा' इत्यत्र प्रामाण्यमविसंवादकत्वम् अश्नुते प्राप्नोति । एतदुक्तं भवति–बोधात्मैव कश्चित् प्रत्यक्षरूपेण परिणतः तद्विषयाभिमुख्यं परित्यजन्नेव पुनः प्रमाणान्तररूपेण परिणम्य परोक्षाकारस्य प्रत्यक्षविषयाविप्लम्भावमनुभवतीति । कथं पुनरेकस्य प्रत्यक्षेतरपरिणाम इति चेत् ? स्वपरवेदनपरिणामोऽपि कथम् ? नास्त्येव, [1]स्ववेदनस्यैव एकस्यानुभवादिति चेत्; न; परवेदनस्याप्यनुभवात् । न चायं विभ्रम एव, स्वरूपेऽपि प्रसङ्गात् । तद्विभ्रमे बाह्यविभ्रमो न सिद्ध्यतीति चेत्; एवमपि कथमविभ्रमस्य विभ्रमाकारो विरोधाविशेषात् ? अन्य एव स तस्मादिति चेत्; तस्य तर्हि तेन यथावस्थितस्य ग्रहणे सिद्धं परवेदनमपि । सत्यमेव, तद्ग्रहणस्यापि विभ्रमत्वे स एव प्रसङ्गः–'कथमविभ्रमस्य' इत्यादिरनवस्थापत्तिश्च । ततो गत्वापि दूरमविभ्रममपि परवेदनमभ्युपगन्तव्यम् । 'अस्तु [2]तदेव न स्ववेदनम्' इत्यपि न युक्तम्; [3]तदभावे तस्याप्यसम्भवादिति निवेदितत्वात् । ततः सिद्धः स्वपरवेदनपरिणामः तथा प्रत्यक्षेतरपरिणामोऽपि । तदेव 'परम्' इत्यादिना दर्शयति । परं बाह्यम्, आत्मानं स्वरूपम् 'अपि च' इति समुच्चये प्रतिभासयेत् प्रकाशयेत्, प्रत्ययः । कीदृशम् ? सत्यमवितथम्, अन्यथा विभ्रमैकान्तस्य प्रसिद्धेः । परिस्फुटं विशदम्, अनेन तत्परिणामिनः प्रत्यक्षव्यपदेशविषयत्वं दर्शयति, स एवैकः प्रत्यय आत्मनः परिस्फुटस्य प्रतिभासनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्, परस्येन्द्रियप्रत्यक्षमिति । 'येन' इति तस्य तत्प्रतिभासनेन तथानुभवसमुत्पत्तिं दर्शयति । तद्वचनाच्च तेनेति लभ्यते यत्तदोः सम्बन्धात् । तेन तथानुभवेन स तत्र प्रामाण्यमश्नुते इति । अस्ति ह्यनुभवो देशव्यापिन इव कालव्यापिनोऽपि प्रत्ययस्य । तत्र स्वपरवेदनभावस्येव प्रत्यक्षपरोक्षभावस्यापि प्रतिभासभेदनिबन्धनस्य तद्भेदस्य सामग्रीवैचित्र्यात् उपपत्तेः । ततः सूक्तम्–'तत्र'–इत्यादि ।

'परम्' इत्याद्ययुक्तम्, एकस्य स्वपरप्रतिभासिन. स्वभावद्वयस्यासम्भवात् । अत आत्मानमेव प्रत्यय. प्रतिभासयतीति चेत्; अत्राह–

आसादितविशेषाणामणूनामतिवृत्तितः ॥१४७॥ इति ।

न तावदसावेकपरमाणुरूप एव सकलजगत्सव्यवहारेण तन्मात्रस्याऽशक्यावस्थापनत्वात् । सञ्चयगतानेकपरमाणुरूपत्वे च आसादितः प्राप्तः अतिशयश्चैतन्यलक्षणो बाह्यासम्भवी विशेषो यैस्तेषाम् अणूनाम् अतिवृत्तितः स्वरूपातिक्रमेणान्यत्रापि प्रवृत्तिः तत एव तद्बहुत्वस्यापि परिज्ञानात् तस्यास्ततः । 'परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत्' इति सम्बन्धः । स्वत एव तेषां यथास्वमवगमात् किमतिवृत्त्येति चेत् ? ननूक्तम्–'एकस्य तद्विषयस्याभावे न तद्बहुत्वावगम.' इति । एतदेव दर्शयति–

एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः । इति ।

एकोऽनेकविषय आकारः प्रत्ययात्मा तस्य विवेकोऽभावस्तेन कृत्वा एकैका. [4]परस्परामिश्राः प्रतिपत्तयो न सम्भवन्तीति शेषः । भवति हि प्रत्ययनिष्ठत्वात् [5]प्रत्येयव्यवस्थायाः (स्था)। तदभावे

---

[1] स्वयंवेद–आ०, ब०, प० । [2] परवेदनम् । [3] स्ववेदनाभावे । [4] परस्परमि–आ०,ब०,प० । [5] प्रत्ययव्य–आ०, ब०, प० ।

तदभावः, अन्यथा अतिप्रसङ्गात् । ततस्तद्बहुत्वं व्यवस्थापयता तद्विषयमेकमभ्युपगन्तव्यमिति सिद्धं स्वपरावभासित्वं तस्य । तद्वदन्येषामपीति नाणुस्वभावं किमपि संवेदनम् । भवत्वेव युगपच्चित्रमेव, न तत्क्रमेण क्षणिकत्वादिति चेत्; न; चित्रस्यापि क्षणक्षीणशरीरस्याप्रतिवेदनात् । एतदेवाह–

कालापकर्षपर्यन्तविवर्तातिशया गतिः ॥१४८॥ इति ।

कालस्यापकर्षपर्यन्तो हानिपर्यवसानम् अत्यन्तसूक्ष्मः कालस्तत्र विवर्तस्य वस्तुजन्मनोऽतिशयस्तत्रैव भावः तस्याऽगतिः अप्रतिपत्तिः । अत्रोपपत्तिं दर्शयन्नाह–

अशक्तेरणुवत् [सेयमनेकान्तानुरोधिनी] । इति ।

यथा ज्ञानस्यान्यस्य वा अणोरगतिः तद्गतौ शक्त्यभावात् तथोक्तस्यापि तदतिशयस्य । का पुनरियमशक्तिर्नाम यतस्तदगतिः ? इत्यत्राह– 'सेयमनेकान्तानुरोधिनी' इति । सा परमाणुतदतिशयपरिच्छेदाशक्तिः इयमेव, पर्युदासवृत्त्या न परा । इयमर्थमावेदयति–'अनेकान्तानुरोधिनी' इति । अनेकान्तः क्रमाक्रमाभ्यामनेकधर्माधिष्ठायी भावः तस्यानुरोधो बुद्ध्या स्वीकार स विद्यते यस्यां सा तदनुरोधिनी तद्ग्राहिका शक्तिरिति यावत् । सा च तत्प्रतिपत्तेरेव लोकप्रसिद्धाया प्रसिद्ध्यतीति मन्यते ।

ननु यद्यपि नामास्मदादीनां न परमाणुक्षणिकप्रतिपत्तिः अल्पप्रज्ञत्वेनासामर्थ्यात्, महामतीनां तु भवत्येव । अत एवोक्तम् – "व्यवस्यन्तीक्षणादेव सर्वाकारं महाधियः ।" [प्र० वा० २।१०७] इति चेत्; कुतस्तेषां महामतित्वम् ? न स्वभावादेव; अनभ्युपगमात् । "नित्यं प्रमाणं नैवास्ति ।" [प्र० वा० १।१०] इत्यभिधानात् । अनुमानाभ्यासादिति चेत्; अत्राह–

अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशेरते ॥१४९॥ इति ।

मन्दाः पूर्वमल्पप्रज्ञाः सन्तः पश्चात् किं नैव अतिशेरते प्रेक्षाधिक्यप्राप्त्यतिशयन्तो भवन्तः कस्मान्न भवन्ति ? अंशस्य वस्तुधर्मस्य क्षणक्षयादेर्ग्रहः प्रतिवेदनं तस्माद्विवेको व्यावृत्तिर्यस्य तदनुमानस्य तस्य भावादिति । तात्पर्यमत्र–महामतित्वं हि तेषां क्षणभङ्गादिविषय तद्विषयस्यैव अनुमानस्याभ्यासादुपपन्नं नातद्विषयस्य, अन्यथा नित्यादिविषयस्यापि तत एव तस्य प्रसङ्गात् । न चानुमानस्य तद्विषयत्वम्; विकल्पत्वेन अवस्तुसंस्पर्शित्वात् । तथापि क्षणक्षयादावेव तस्य प्रतिबन्धात् तत्रैव तदभ्यासतो महामतित्वं न नित्यादाविति चेत्; ननु प्रतिबन्धोऽपि महाधियामेव विषयो नान्येषाम्, ते च तत्रैव तं प्रतियन्ति नान्यत्रेति कुतः ? तत्रैव निर्णयात् । एतदपि कस्मात् ? प्रतिबन्धस्य तत्रैवावगमादिति चेत्; न; परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । सत्यपि तदभ्यासाद् बहिस्तेषां सर्वाकारनिर्णये नान्तः तत्सम्भव इत्याह–

निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः । इति ।

---

१ –ध्यानभावः आ०, ब०, प० । २ प्रज्ञादित्यप्राप्त्यतिशयवन्तो न भ–आ०, ब०, प० । ३ तत्रैव प्रतिबन्धस्यावगमे तत्रैव निर्णयः, सति च तस्मिन् तत्रैव प्रतिबन्धावगमः । ४ नातः आ०, ब०, प० ।

च शब्द. अपिशब्दार्थो भिन्नप्रक्रमश्च 'निर्णये' इत्यत्र द्रष्टव्यः। निर्णयेऽपि न के-तद्भावे। क? बहिः नीलधवलादौ अनिर्णयात् निर्णयाभावात्। क? अन्तः निर्णयस्वरूपे। न तत्र तेषामपि निर्णयः परतः; अनवस्थानात्, स्वतश्च निर्विकल्पत्वात्। ततश्च मोहः प्रज्ञामान्द्य-लक्षणः तादृशः तदभ्यासेऽपि यादृशः पूर्वम्। स्वरूपानिर्णये[1] परनिर्णयस्याप्यभावादिति मन्यते। भवन्मतेऽपि कथं महामतित्वम्? श्रुतज्ञानपरिशीलनादेव तद्भावात्, तज्ज्ञानस्य चावस्तुविषय-त्वादिति चेत्? न; तस्यापि वस्तुगोचरत्वेन व्यवस्थापनात्, सकलस्यापि शास्त्रप्रयासस्य तदर्थत्वात्। न च तदभ्यासान्महामतित्वम्, जीवस्य स्वशक्तित एव तद्भावात्। प्राणिमात्रस्यापि कुतो न भवतीति चेत्? भवत्येव; कथमन्यथा 'सत् सर्वमनेकान्तात्मकम्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानम्? प्रतिक्षणपरिणामादि-सकलसूक्ष्मविशेषेष्वपि किन्नेति चेत्? स्यादेव यद्यसौ अनावृतः स्यात्। एतदेव दर्शयति—

जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नावृतः ॥१५०॥
सकलग्रहसामर्थ्यात्तथात्मानं प्रकाशयेत्। इति।

जीवो व्याख्यातस्तथा तेन सकलप्रकारेण आत्मानं स्वरूपम्, उपलक्षणमिद तेन परमपि। प्रकाशयेत् स्पष्टप्रतिभासं विदध्यात्। कुतः? 'सकलग्रहसामर्थ्यात्' इति। स्पष्टमिदम्। इदञ्च व्याप्तिज्ञानबलादेवावगम्यते। कदा प्रकाशयेत्? यदि नावृतः कर्मविशेषेण प्रच्छादितो यदि न भवेत्। तत्प्रच्छादितश्चाय स्वविषयेऽप्यप्रवृत्तिमत्त्वात् कामलिवत्। कामली हि स्वविषयेऽपि चन्द्रैकत्वादौ कामलावरणवत्त्वादेव अप्रवृत्तिमान् प्रसिद्ध इत्युपपन्नो दृष्टान्तः। तस्य तद्विषयत्व चावरणात् पूर्वं पश्चाच्च तेनाधिगतेः। प्रतिक्षणपरिणामादेरपि विशेषस्य जीवविषयत्वम्, सामान्येन व्याप्तिज्ञाने प्रतिभासनात् चन्द्रैकत्वादिवदेव। तद्धि कामलिज्ञाने चन्द्रत्वादिना सामान्येन प्रति-भासमानं योग्यतया तद्विषय एव, अन्यथा तदावरणापायेऽप्यविषयत्वप्रसङ्गादिति निरवद्यमुदाहरणम्। सत्यप्यावरणे जीवस्य नित्यत्वेन सकलग्रहणशक्तेरपरिक्षयात् कथं स्वविषयेऽप्यवृत्तिरिति चेत्? न; एकान्तेन नित्यत्वाभावात्। प्रतिक्षणपरिणामिनश्च तद्वशात् तत्परिक्षयस्योपपत्तेः। सकलग्रहणसामर्थ्यमपि तस्य अर्थान्तरज्ञानसमवायादेव न स्वत इति कश्चित्[2]; तन्न; स्वतश्चेतनस्य तद्वैयर्थ्यात्। चेतनत्वमपि तत[3] एवेति चेत्; न, आकाशादावपि तत्प्रसङ्गात् तदविशेषात्। अथास्ति कश्चिद्विशेषो यतो जीवस्यैव ततस्तत्त्वं[4] नाकाशादेः; स तर्हि जीवस्वभावो भवंश्चेतनत्वान्नापर इति व्यर्थमेव तत्समवायस्य कल्पनमिति एतत् चेतनपदेन दर्शितम्। तदेवं जीवस्यावरणवशादसकलज्ञत्वम्, तदपगमे तु स्वत एव सकलज्ञत्वेन महामतित्वं न श्रुतज्ञानपरिशीलनात्। तच्च[5] तदावरणस्यैव तदास्रवनिरोध-द्वारेण परिक्षयार्थमिति सर्वं समञ्जसम्। प्रतिक्षणपरिणामे जीवस्य क्षणिकत्वमेव न नित्यत्वमिति चेत्; न; तस्यापि प्रत्यभिज्ञानबलेन तत्र व्यवस्थापितत्वात्, तदपि[6] सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनादेव न तात्त्विकादेकत्वादिति चेत्; अत्राह—

---

१ –निर्णयैरपर–आ, ब०, प०। २ वैशेषिकः। ३ समवायादेव। ४ समवायाच्चेतनत्वम्। ५ श्रुतज्ञानपरिशीलनम्। ६"प्रत्यभिज्ञानं।"—ता०टि०।

तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ॥१५१॥
अवस्थान्तर्विशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते । इति ।

तादात्म्यात् परापरक्षणेषु कथञ्चिज्जीवस्य अभेदात् प्रत्यभिज्ञा स मर्शो न नैव सदृशश्चासावपरश्च अपरापर उपादानोपादेयप्रबन्धः ... हेतुस्तस्मादिति । 'अवस्था' इत्यादिरत्रैवोपपत्तिः । अवस्थानां ... अन्तर्गतः सन्तानान्तरासम्भावितया तत्रैव नियतो विशेषो हेतुफलभावः सोऽपि न के... माणो लक्ष्यते निश्चीयते । क्व ? बहिरन्तश्च अर्थे ज्ञाने च । एतदुक्तं भवति– ... परिज्ञाने तेषु तद्विशेषलक्षणं तत्परिज्ञानञ्च जीवादेव, न क्षणनियतादृर्शनात्, तस्य ... चेश्च पूर्वत्राभावात् । नापि तदुभयदर्शनजन्मनः तदिदमित्याकारात्प्रत्यभिज्ञानात्; ... भावे वा नाभेदप्रत्यभिज्ञानं तत्र; विरोधादिति कुतः सन्तानकल्पनं यतः सं... तत्कारण कल्प्येत ? जीवादपि कथं तल्लक्षणं तत्रापि भेदस्यानवभासनादिति चेत् ? न ; कथञ्चित्तस्यापि न चैवं प्रत्यभिज्ञाने भेदवत् अभेदस्यापि प्रतिभासः तस्यापि तात्त्विकत्वेनेष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । तात्त्विकत्वे प्रत्यभिज्ञानमेव न भवेत् भिन्नभेतरयोरेकत्र विरोधात् । अविरोधे भेदेतरात्मापि ...त्त्विक एव स्यात् । इत्युपपन्नं जीवादेव तल्लक्षणम् । तदभावे प्रत्यभिज्ञानस्याप्यव्यवस्थितेः । 'तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञानम्' इत्यत्रोपपत्तिमाह–

सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ॥१५२॥
वितथेतरविज्ञाने प्रमाणेतरतां गते । इति ।

सूक्ष्माश्च स्थूलतराश्च, स्थूला एव स्थूलतराः स्वार्थिकत्वात्तरप्रत्ययस्य अल्पाचूतरवत् सूक्ष्मस्थूलतरा भावा बदरसहकारनालिकेरपनसफलादयः । तथा स्पष्टाश्चास्पष्टाश्च ते च ते भासिनश्च स्पष्टास्पष्टावभासिनो भावाः समीपदूरदेशवर्तिनो वनस्पत्यादयः । अत्र लक्ष्य... इति वचनपरिणामेन सम्बन्धनीयम् । तथा वितथं च द्विचन्द्रादिविषयम् इतरच्च एकचन्द्रादिगोचरं ते च ते विज्ञाने च तथोक्ते, अत्र लक्ष्येते इति द्विवचनपरिणामेन । कीदृशे ते लक्ष्येते ? प्रमाणेतरतां गते प्रमाणतां गतमवितथम्, इतरतामप्रमाणतां गतं तु वितथमिति । तल्लक्षणं[2] चात्र बदरादिभ्यः सहकारादयः स्थूलास्तेभ्यश्च बदरादयः सूक्ष्माः इति दूरपर्वतादिभ्यः समीपाः नीपकूपादयः[3] स्पष्टावभासिनः तेभ्यस्तत्पर्वतादयोऽस्पष्टावभासिन इति । वितथादितरत् प्रमाणम्, इतरस्माच्च वितथमप्रमाणम् इति च परामर्श एव । न चायं तादात्म्याभावे सम्भवति; दर्शनस्योभयविषयस्याभावात्, भावेऽप्यपरामर्शरूपत्वात् । मा भूत् स्वयं परामर्शरूपं दर्शनम्, परामर्शस्य कारणं तु भवति संस्कारप्रबोधसहायमिति चेत्; अत्राह–

यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ॥१५३॥
भेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचितोऽयं शिलाप्लवः । इति ।

---

१ तत इद–ता० । २ लक्षण–ता० । ३ वापीकूपा–प० ।

यस्मिन् दर्शने असति अविद्यमाने, कार्यकाले सतः कारणत्वानभ्युपगमात्, यज्ञा परामर्शज्ञाने कार्यकारणता तयोः कार्यता तज्ज्ञानस्य कारणता दर्शनस्य इति एवं रचितो निर्मितः [1]सौगतेनायमपूर्वः शिलाप्लवः तत्कार्यकारणभाव एवाश्रद्धेयतया शिलाप्लवतुल्यत्वात् तच्छब्देनोक्तः । नापि तद्भावस्य श्रद्धेयत्वम्; असतो नीरूपत्वेन कारणत्वायोगात् । कार्य एव तस्य नीरूपत्व न पूर्वमिति चेत्, ननु पूर्वमित्यपि तस्य प्रध्वंस एवोच्यते नापर कालोऽनभ्युपगमात् । तत्र च कथमस्तित्वं विरोधात् ? दृष्टत्वमेव तस्य पूर्वत्वं न नाशः "दृष्टताऽतीतकालत्वं दृश्यता वर्तमानता ।" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति वचनादिति चेत्; किं पुनरिदं दृष्टत्वं नाम ? अतीतं दर्शनमेवेति चेत्; तस्यापि किमिदमतीतत्वम् ? अपरं दृष्टत्वमिति चेत्; तत्रापि किं पुनरित्यादि[2] प्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च । तस्योपरतिरेव अतीतत्वमिति चेत्; भावस्यापि सैव तदिति किं दृष्टत्वेन ? अतीतं नष्टमिति च लोकव्यवहारात् । किञ्च, एवमतीत कारणमिति दृष्ट कारणमिति भवेत्, तथा च कथं खलविलान्तर्गतबीजादेः तत्त्वमदृष्टत्वात् । दृष्टमेव तदपि योगिनेति चेत्, न तर्हि तस्यातीतत्वम् । "दृश्यमानतया वर्तमानमेव" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति वचनात् । अन्यैरदृश्यत्वात् अतीतमपीति चेत्, नादृश्यत्वादतीतत्वम्, अपि तु दृष्टत्वात्, तच्च त[3]स्यात्मापेक्षया नास्त्येव । अदृश्यत्वादप्यतीतत्वमिष्टमेव "तस्मादतीतादि योगी पश्यतीति कोऽर्थः ? अन्येनादृश्यमानं पश्यति ।" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इत्यलङ्कारवचनादिति चेत्; न; तत्राप्यतीतस्यैव तद्दर्शनस्य वर्तमानतन्निषेधेनाभिधानात्, अन्यथा "दृष्टताऽतीतकालत्वम्" [प्र० वार्तिकाल०] इत्यस्य व्याघातात् । किञ्च,

अन्यादृष्टेरतीतत्वात् वर्तमानत्वतोऽपि च ।
योगिदृष्ट्या स एव स्याद्धेतुरन्योऽपि चाक्रमात् ॥१४८१॥

अन्यैरदृश्यमानत्वेन तस्यातीतत्वात् कारणत्वमकारणत्वं निष्पर्यायं प्राप्य योगिना वर्तमानतया दर्शनादिति सङ्कटप्रवेशः–तत्कार्यस्य युगपदेवोत्पादानुत्पादयोरुपनिपातात् । अथ योगिनोऽपि [4]समाधानकाल एव तद्वर्तमानं न तस्मादुत्थितस्य, अत एवोक्तम्–"योगिना च समाधानादुत्थितेनातीततया व्यवहारात् ।" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति चेत्; न; तथापि त[5]त्प्रवेशस्यानिवृत्तेः योग्यन्तरं प्रवृत्तसमाधानं प्रति तस्यैव वर्तमानत्वात्, योगिनाञ्च बहुत्वात् । न चायमपि नियमस्तेषां समकालमेव समाधानं तस्मादुत्थानं चेति, अन्यथापि तदविरोधात् । अपि च, योगिदर्शनस्यापि कारणमेव तद्विषयः, कारणत्व च दृष्टत्वात्, तदपि यदि तद्दर्शनापेक्षं परस्पराश्रयः–दृष्टाद्दर्शनं ततो दृष्टमिति । दर्शनान्तरापेक्षमिति चेत्; तदपि यदि तस्यैव योगिनः, स एव प्रसङ्गस्तस्यापि तद्दृष्टादेवोत्पत्तेः, पुनर्द[6]र्शनान्तरदृष्टात् तदुत्पत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् । दर्शनान्तरं परस्यैव योगिन इति चेत्, किं तत्काले प्रकृतस्य तस्य त[7]द्दर्शनं नास्ति ? तथा चेत्, कथं सर्ववेदनम् ? तदपि समाधानादुत्थितस्य नास्त्येवेति चेत्; न; तदुत्थानस्य तदप्रतिबन्धित्वात्, अन्यथा दोष एव स इति

१ सुगते– आ०, ब०, प० । २ त्यादिप्र– आ०, ब०, प० । ३ तस्मादात्मा– आ०, ब०, प० । ४ ध्यानकाले । ५ सङ्कटप्रवेश । ६ –स्यानप्र– आ०, ब०, प० । ७– स्य दर्श– आ०, ब०, प० ।

न 'सुगतः' इत्यत्र अपुनरावृत्तिरुपसर्गार्थः[1][2] स्यात्, दोषस्यैव पुनरावृत्तित्वात् । तस्मादस्त्येव तदापि तस्य तदिति । कथं वा तदन्यदर्शनैदृष्टादपि[3] तद्दर्शनस्योत्पत्तिः समकालात्तदनुपपत्तेः ? "नातोऽर्थ स्त्रधिया सह" [प्र० वा० २।२४६] इत्यस्य व्याघातात् । तद्व्याघातात्पूर्वं तद्दृष्टात् तदुत्पत्तिरिति चेत्; न; तदापि तस्य भावात् । पुनस्तत्पूर्वेत्यादि वचने अनवस्थानोपनिपातात् । तन्न दृष्टमतीतम्, अपि तु नष्टमेव । तस्य च न कारणत्वं नीरूपत्वात् । एतेन भाविनोऽपि तत्त्वं[4] निषिद्धम्; तस्याप्यनुत्पन्नस्य नीरूपत्वात् । नाऽनुत्पादाद्भावित्वमपि तु द्रक्ष्यमाणत्वात्; ननु तदपि भाव्येव दर्शनम्[5], तस्यापि भावित्वं यद्यन्यतो द्रक्ष्यमाणत्वात्; तदेवानवस्थानम् । अनुत्पादादिति चेत्; विषयस्यापि तत एव तदिति किं द्रक्ष्यमाणत्वेन ? अन्यथा प्रागपि तदभावप्रसङ्गात् । एवमन्यदपि प्रकृतमत्र वक्तव्यम् । तन्न द्रक्ष्यमाणत्वं भावित्वमिति दुर्भाषितमेतत्—

"भाविता द्रक्ष्यमाणत्वमिति कालव्यवस्थितिः ।"

[प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति ।

ततो नासतः कारणत्वमतीतादेः, नापि तत्कार्यत्वं प्रत्यभिज्ञानादेरिति तत्र तत्कल्पनमश्रद्ध[6]-यतया शिलाप्लव एवेति स्थितम् । कः पुनरेवमाह—असत्कारणमिति, सौगतैः सतएव तत्त्वोपगमात्[7], कार्यत्वमेव तु असतः तत्काले[8] तैरुपगम्यते, सत्त्वे कारणवैफल्यादिति चेत्; असत्यपि किं तद्व्या[9]-पारेण ? तद्रूपस्य तन्निरपेक्षत्वात्, अन्यथा सहेतुकत्वमभावस्य भावस्य तु स्वरसभावित्वमिति कथमिष्टविपर्ययो न भवेत् ? अथासत इति ' पश्चात् सतः' इत्यर्थो न नीरूपस्येति, तदयमदोषः, तन्न, यस्मात्—

पश्चात्सत्त्वानुवादेन कार्यत्वं[10] तत्र चेद् भवेत् ।
भवतापि हि किं तेन सति तद्व्यर्थतास्थितेः ? ॥१४८२॥
कार्यत्वादेव तत्सत्त्वं ततो न व्यर्थतेति चेत् ।
कार्यत्वात्[11] सत्ततः कार्यमित्यन्योऽन्याश्रयो न किम् ? ॥१४८३॥

सत्यपि कार्यत्वे यदि तद्व्यापारस्तद्रूपं स्पृशति; न क्षणभङ्गः । न स्पृशति चेत्, कथं ततस्तदिति ? तदनन्तरनियमादिति[12] चेत्; न; तस्य सकलजगत् क्षणापेक्षयापि भावात् । एवमहेतुकत्वे तस्य नित्यं सत्त्वादि किन्नेति चेत् ? सहेतुकत्वेऽपि कस्मान्न सर्वहेतुकत्वम् ? अथाय तस्य स्वभावो यतस्तन्नियमाविशेषेऽपि कुतश्चिदेव भवतीति, यद्येवम्, अयमपि तस्यैव स्वभावो यन्निर्हेतुकमपि नित्यं न भवतीति । तन्न पश्चात्सतोऽप्यसतः कार्यत्वम्, तदभावान्न सतोऽपि कारणत्वमिति तत्र तत्कल्पनं शिलाप्लव एव । तदेवाह—'यस्मिन्' इत्यादि । यस्मिन् पश्चाद्भावि-

१ "सुष्ठु अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः"–ता० टि० । २ "अपुनरावृत्त्यर्थं सुनष्टज्वरवत् ।"– प्र० वार्तिकाल० पृ० १। 'सुगतः' इत्यत्र सूपसर्गस्य अर्थः । ३ –दर्शनद–आ०, ब०, प० । ४ कारणत्वम् । ५ दर्शनस्यापि । ६ –त्वमपिदु–आ०, ब०, प० । ७ कारणत्वोपगमात् । ८ कारणकाले । ९ कारणव्यापारेण । १० कुत्रचिद्द–आ०,ब०, प० । ११ सततः आ०, ब० । सततं प० । १२ तदनन्तरनियम ।

न्यसति तद्व्यपदेशविषये यज्जातं ततः प्राक् स्वलक्षणं कार्यकारणता तयोः कार्यत्वमसत कारणत्वं जातस्येति । शेषं पूर्ववत् । न चायमस्मन्मते दोषः, न हि तत्र पिण्डादिर्घटादौ सर वा व्याप्रियते यदयं प्रसङ्गः स्यात्, अपि तु स्वयं तद्रूपो भवति । स एव खलु भावस्तत्र प्रतिक्षण-परिणामो नाम । तस्य यद्यन्यत्र सत्यसति च व्यापारनिषेधात् कारणत्वप्रतिक्षेपः, प्रतिक्षिप्यताम्। न काचित् क्षतिः, तावतैव तत्र वस्तुत्वस्यावस्थानात् । अथ परिणाम एव ततस्तस्य प्रतिक्षिप्यते; तन्न; तस्य तदनायत्तत्वात् । स्वभावतो हि तस्य परिणामो नान्यत्र व्यापारात् । अत एवोक्तम्[1]–"परिणाम-स्वभावः स्याद् भावः" इति "अयमर्थक्रिया हेतुः" इत्यपि[2] तद्रूप्यापेक्षयैवोक्तं नान्यत्र व्यापारात् । कथमेव घटादौ चक्रचीवरादेः कारणत्वम् ? अतत्परिणामत्वादिति चेत् ? तत्रापि सन्निधिमात्रेणोप-कारात् तद्व्यवहारो न मुख्यतः । मुख्यतस्तु पिण्डादेरेव तत्त्वं तत्परिणामत्वादिति न किञ्चिदसमञ्ज-समुत्पश्यामः ।

'भेदिनाम्' इत्यादिना परमपि परस्य शिलाप्लवं दर्शयति–भेदिनाम् अन्योऽन्यविल-क्षणानां प्रत्यभिज्ञा[3] तदेकत्वपरामर्श इति । अथवा, भिद्यन्ते सजातीयादन्यतश्चेति भेदाः निरंशा भावास्ते सन्त्येषामिति भेदिनस्तद्वादिनः तेषां प्रत्यभिज्ञा इति अयं रचितः । शिलाप्लव एव । पूर्वत्र सुगतेतरज्ञानयोरपि तत्प्रसङ्गादुत्तरत्रासम्भवात् । न हि निरंशवादिनां सांश वस्तु सम्भवति तद्वा-दित्वव्यापत्तेः । सांशा च प्रत्यभिज्ञा[4] नानापरामर्शरूपत्वात् । तदपि कल्पनयैव[5] तस्येति चेत्; यतस्त-त्कल्पनं तस्य तर्हि कथम् ? अतद्रूपेण तत्कल्पनानुपपत्तेः । तस्यापि कल्पनयैवेति चेत्; न; अनवस्था-प्रसङ्गादिति पर्याप्त प्रबन्धेन ।

तदेव पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्व तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्य नेदं स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तु परागमसिद्धमित्युपदर्शयितुकामो भगवत्सीमन्धरस्वामि-तीर्थकरदेवसमवसरणात् गणधरदेवप्रसादा[7]दासादित देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्त्तिकं तदाह–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१५४॥

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । इति ।

अन्यथा अन्येन साध्याभावप्रकारेण अनुपपन्नत्वम् असम्भवनियमो यत्र हेतौ तत्र त्रयेण पक्षधर्मत्वादित्रितयेन किं न किञ्चित् फल विनापि तेन गमकत्वात् । तत्र पक्षधर्मत्वेन विना गमको यथा अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, अस्त्यात्मा उपलब्धेरित्यादिः । सपक्ष-सत्त्वादिना[8] शब्दानित्यत्वादौ श्रावणत्वादिः । न ह्यस्य सत्यपि सपक्षे सत्त्व घटादेरश्रावणत्वात् । नापि व्यतिरेकः, तदुपदर्शनविषयस्य कस्यचिदपि दृष्टान्तस्याभावात् । तत्त्रितयेनापि विना; यथा सन्ति प्रमाणानि इष्टसाधनात्, सन्ति बहिरर्थाः साधनदूषणप्रयोगादित्यादि । समर्थितं चैतेषामन्यथा-

---

१ न्यायवि० श्लो० २।१३३। २ न्यायवि० श्लो० २।१३४ । ३ –ज्ञानं त– आ०,ब०, प० । ४ –नानाप–आ०, ब०, प० । ५ कल्पनवैवेति आ०,ब०,प० । ६ –चायमेदं आ०,ब०,प० । ७ –दादा-पादित आ०, ब०, प० । ८ 'विना गमकः' इत्यन्वयः ।

नुपपन्नत्वं गमकत्वनिबन्धनमत्रान्यत्र च। ततो युक्तं तत्रेत्यादि। ननु यत्र सम्भवस्तत्र तदपि[1] लक्षणमेव, तत्सहितस्यैवान्यथानुपपन्नत्वस्यापि गमकत्वादिति चेत्; न, सम्भवमात्रेण तल्लक्षणत्वे धूमादौ पाण्डिमादेरपि तत्प्रसङ्गात्। तस्याऽहेतावपि भावान्नेति चेत्; समान पक्षधर्मत्वादावपि, हेत्वाभासेषु तस्यापि भावात्। समुदितमेव तत्तस्य लक्षण तच्च नान्यत्रेति चेत्, न, असर्वज्ञसाधने वचनादौ तस्यापि भावात्। निश्चितान्वयव्यतिरेकौ न तत्रेति चेत्, न; कृतकत्वादावपि तदभावस्य निवेदनात्। तन्न सम्भवमात्रेण तस्य तल्लक्षणत्वम्। अथवा, 'त्रयेण' इत्यत्र इतिशब्दो द्रष्टव्य', त्रयेणेति किं कस्मात्? 'चतुष्टयादिरूपेण हेतु.' इति वक्तव्यं रूपान्तरस्यापि भावादिति भावः। तत्तावत् प्रथममन्यथानुपपन्नत्वम्। न च तत्त्रैरूप्यमेव; तदभावेऽप्युक्तेषु[2] हेतुषु भावात् तद्भावेऽपि वचनादावभावात्। तथा ज्ञातत्वमपि। नह्यज्ञातस्य गमकत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। ज्ञातत्व नाम ज्ञानमेव ज्ञातव्यव्यवहारस्य तन्निबन्धनत्वात् तत्कथं हेतो रूपम् अर्थान्तरत्वादिति चेत्? न; ज्ञान मति कर्मभावस्य तत्त्वात्[3]। तदपि कथं रूपान्तरं त्रैरूप्यादव्यतिरेकादिति चेत् ; न, अज्ञातव्यावृत्तिरूपतया तदन्यव्यावृत्तिरूपात्[4] ततस्तस्य[5] व्यतिरेकात्। यदि च ततस्तस्याव्यतिरेकात् न रूपान्तरत्वम्; अन्वयव्यतिरेकयोरपि परस्परतो न भवेत् तदविशेषात्। व्यतिरेक· एव तयोः[6], भावाभावरूपत्वात्– सपक्षे भावो ह्यन्वयो विपक्षे चाभावो व्यतिरेक इति चेत्; कथमेवमितरवचनादितरस्यापि प्रतिपत्तिः? नियमवतस्तद्वचनस्य तथा सामर्थ्यात्, नियमवत् खलु तद्वचनं सपक्ष एवास्ति विपक्षे च नास्त्येवेति, तस्य तादृशी शक्तिर्यदेकमप्युभयं गमयतीति चेत्; कथं पुनर्वस्तुन्यसतो नियमस्य तेनाभिधानम्? तथा स्वरूपस्याप्यसत एव तत्प्रसङ्गात्। तथा च न तस्यापि लिङ्गरूपत्वम्, असतस्तदनुपपत्तेरित्येकं पक्षधर्मत्वमेव तद्रूपमवशिष्येत। ततः स्वरूपवत् सत एव तस्याप्यभिधानमिति कथन्न परस्परं तयोरव्यतिरेकः? नियमवतोऽन्वयस्यैव व्यतिरेकत्वाद् व्यतिरेकस्यैव चान्वयत्वात्। भवतु नियमवत इतरस्याव्यतिरेकादरूपान्तरत्वं न केवलादिति चेत्; न, केवलस्येतरस्य चालिङ्गलक्षणत्वात्। व्यतिरेकोऽपि तद्वत इतरस्यास्त्येव विधिनिषेधरूपतयेति चेत्; [7]युक्तमत्र ज्ञातत्वस्यापि त्रैरूप्याद् व्यतिरेकः तद्विलक्षणव्यावृत्तिरूपत्वात्। तथापि तद्वचनादेव तदवगम्यते ज्ञातस्यैव तस्य तल्लक्षणत्वात्; अज्ञातस्य गमकाङ्गत्वायोगात्। अतो [ऽ] रूपान्तरं तदित्यपि न सङ्गतम्, अन्वयादेरपि पक्षधर्मत्वादित्रयस्य वा[8] परस्पर तस्यापि सत्त्वापत्तेः। अन्यतरवचनाभिधेयत्वस्य स्वयमेवोपगमात्। अत एवोक्तम्– कृतमनित्यं प्रयत्नान्तरीयमनित्यमिति हेतुवचनादेवाधिगतेः, हेतोर्विना तेनासम्भवात्। "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।" [प्र० वा० ३। २६] इति। अशक्तितः तद्वचनात्; तदनवगच्छतां पृथगेव तस्याभिधानाद्रूपान्तरमेव [9]ततस्तदिति चेत्; न, ज्ञातत्वेऽप्येवं तत्त्वोपपत्तेः। अतो रूपान्तरमेव तद्वक्तव्यम्।

एवमबाधितविषयत्वमपि, तदन्यस्यागमकत्वात्। नन्वबाधितत्वं नाम बाधकस्य

---

१ पक्षधर्मत्वादिकमपि। २ –षु भा– आ०,ब०,प०। ३ ज्ञातत्वात्। ४ "अत्र त्रैरूप्यव्यावृत्तिरूपात्" –ता०टि०। ५ त्रैरूप्यात्। ६ अन्वयव्यतिरेकयोः। ७ उत्तरमत्र आ०,ब०, प०। ८ –णतद्व्या –आ०, ब०, प०। ९ अरूपान्तरत्वम्।

निवृत्तिः, अनुपलब्धिर्वा भवेत् ? निवृत्त्यापि साध्याभावस्य निवर्तने व्यर्थो हेतुः, तावता साध्यसिद्धेः, अभावनिवर्तनस्य भावविधानरूपत्वात् । अनिवर्तने तु न तन्निवृत्तिः तल्लक्षणं तदनिवर्तनात् तत्प्रवृत्तिवत् । तन्न तस्य निवृत्तिरबाधितत्वम् । अनुपलब्धिस्तदिति चेत्; ततोऽपि यदि बाधकस्य निवृत्तिप्रसङ्गः पूर्ववत् । संशयश्चेत्; सिद्धः सत्यपि बाधके हेतुप्रयोगः, संशये पाक्षिकस्य तस्य भावात्, अन्यथा तदसम्भवात् । तन्न तदनुपलब्धिरप्यबाधितत्वं तद्रूपम् । तदुपलब्ध्यभावप्येवं तत्प्रयोगस्यानिवारणात् बाधोपगमस्येतरत्राप्यविशेषादिति चेत्, कथमेवमविनाभावोऽपि हेतुलक्षणम् ? कथं च न स्यात् ? उच्यते-स हि तावन्न साध्याननुपातिनो निश्चयस्य विषयः; तदपेक्षत्वात् । तदनुपातित्वे तु निश्चयस्य व्यर्थो हेतुस्तत एव साध्यसिद्धेः । स्यादयं प्रसङ्गो यदि धर्मिण्येव तन्निश्चयो न चैवं दृष्टान्ते तदुपगमादिति चेत्; धर्मिण्येव कुतो न तन्निश्चयः ? तत्र साध्याभावेऽपि हेतुसम्भवात्; न तर्हि तत्र ततः साध्यसिद्धिः, [1]सत्यपि साध्ये शक्त्यभावादिति चेत्; कथं तर्हीदमर्चटेनोक्तम्[2]-"तस्मात् स्वसाध्यप्रतिबन्धाद्धेतुस्तेन व्याप्तः सिद्धयति, स च विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या साध्यधर्मिण्यपि सिद्धयतीति न किञ्चिदन्यत्रानुवृत्त्यपेक्षया ।" [हेतुबि० टी० पृ०२५] इति ? सत्यामपि तत्र तन्निश्चयेन साध्यसिद्धौ न भवत्येव हेतोः प्रयोगः । समारोपव्यवच्छेदार्थं इति चेत्; न, निश्चिते समारोपाभावात्; अन्यथा बाधाविरहनिर्णयादपि तत्सिद्धौ तदर्थं एव तत्प्रयोगः स्यादिति न युक्तमेतत् हेतुबिन्दावुक्तम्-"तत्किमिदानीं हेतोः सामर्थ्यमबाधयैव साध्यसिद्धेः ।" [हेतुबि० पृ०२०८] इति । तस्मादबाधितविषयत्वमपि रूपमेव हेतोरविनाभाववत् । तदभावे को दोषो येन तदपि तस्य रूपं परिकल्प्येत ? बाधितविषयस्यापि हेतुत्वं प्रसज्येतेति चेत्; न; सत्यविनाभावे तद्विषयत्वस्यैवासम्भवात् । सम्भवे तेन साध्यस्य निषेधोऽपि विधिश्चाविनाभावेनेति दुस्तरमेव दौस्थ्यं तस्यापद्येतेति चेत्; उच्यते-पक्षधर्मत्वादेरप्यभावे किं भवेत् यतस्तस्य तद्रूपत्वकल्पनम् ? अपक्षधर्मत्वादेरपि हेतुत्वं प्राप्नोतीति चेत्; न; असत्यविनाभावे तदसम्भवात् । सत्येवेति चेत्; तथापि कथं तस्याहेतुत्वम् ? त्रैरूप्याभावादिति चेत्; तदेव दौस्थ्यं तत्राप्यापतितं तदभावादहेतुत्वम् अविनाभावाच्च विपर्यय इति । अविनाभावोऽपि तदभावे नास्त्येव तस्य तत्रैव नियमादिति चेत्; न; तस्य निषेधात् । ततो न त्रैरूप्यस्यापि कल्पनमर्थवत् व्यवच्छेद्याभावात् । सम्भवमात्रेण तु कल्पनम्[3] अबाधि[त] विषयत्वेऽपि, सर्वत्र सम्भवेन ततस्तस्य विशेषाच्च ।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वमपि रूपान्तरम् । किं पुनरिदमसत्प्रतिपक्षत्वम् ? असम्भवत्प्रतिहेतुत्वमिति चेत्; कुतस्तन्निश्चयः ? प्रतिहेतोरदर्शनात्; न; दर्शनेन भावस्याव्याप्तौ अदर्शनादभावनिश्चयस्यानुपपत्तेः । न च दृष्टप्रतिहेतुसदृशे ततस्तन्निश्चयः, संशयस्यैव सम्भवात्-तत्रेवात्रापि किं भवति प्रतिहेतुः किं वा न वेति । तद्विलक्षण इति चेत्; तदेव तर्हि वैलक्षण्यं स्वलक्षणमस्तु हेतोः, तत

१ तस्यापि आ०,ब०,प० । २ -मर्चतेनो- आ०,ब०,प० । ३ -मबाधवि- आ०,ब०,प० ।

एव तस्यासाध्यव्यावृत्त्या साध्यनिश्चयकारित्वात् व्यर्थमसत्प्रतिपक्षत्वम् । 'अप्रदर्शितप्रतिहेतुत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वम्' इत्यपि न युक्तम्; प्रज्ञावता पुरुषेण कदाचित् तत्प्रदर्शनस्यापि सम्भवात्। यावत्तदप्रदर्शनं तावत् गमकत्वमेवेति चेत्; स तर्हि हेतुः वस्तूनि स्वसाध्यप्रकृतीनि कृत्वा तत्प्रमाणकान् पुरुषानभ्युदयनिःश्रेयसाभ्यां संयोजयति, पुनश्च प्रतिभावता पुरुषेण प्रतिहेतूपदर्शनेनोत्कीलितसाधनसामर्थ्यः तानि वस्तूनि तांश्च पुरुषान् तद्भावसम्पदः स्वसाध्यप्रकृतित्वसम्पदोऽभ्युदयनिःश्रेयससम्पदश्च प्रच्याव्य भ्रष्टराज्य इव राजा तपोवन गच्छेत् । कथ वा स्वयमतत्साध्यनियतस्तदुपदर्शनात् प्रागपि तत्र हेतु ? तत्साध्ये नियते च कथं प्रतिहेतोः सम्भवः प्रदर्शन वा विरोधात् ? अतो नासत्प्रतिपक्षत्वं हेतुरूपमुपपन्नमिति चेत्; कुत पुनरेवं ब्रुवतस्तथापि हेतोर्गमकत्वम् ? प्रतिबन्धादेव तादात्म्यादेरिति चेत्, न; तन्निश्चयस्याप्यशक्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ततो न कश्चिदपि हेतुः, तस्यापि सन्दिग्धस्यातल्लक्षणत्वात् । यदप्युक्तम्—तत्साध्यनियते नेत्यादि; तदपि न सङ्गतम्; विनाशनियतेऽपि तद्भावं प्रत्यनपेक्षणे परिणामसाधनतया तस्यैव प्रतिहेतो सम्भवात् । प्रतिपादितं चैतत् "परिणामस्वभावः स्यात्" इत्यादिना । अभिप्रेतं च विनाशनियतत्वं तस्य स्वयं ततस्तत्साधनात् । ततो नातन्निश्चयमात्रादेव प्रतिहेत्वभावाभाव इति पृथगेवासौ तल्लक्षणतया वक्तव्यः इत्युपपन्नम् अन्यथानुपपन्नत्वादिभिश्चतुर्भिः पक्षधर्मत्वादिभिश्च सप्तलक्षणो हेतुरिति त्रयेणेति किम् इति ।

अथवा त्रयेण कार्यस्वभावानुपलम्भरूपेणेति व्याख्येयम् । न हि तेनापि किञ्चित्, रूपान्तरेणापि हेतोर्भावात । कार्यादिरूपादेवाविनाभावः ।

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।

अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात् ॥" [प्र० वा० ३।३०] इति वचनात्, तदभावे कथमविनाभावो यतो रूपान्तरेणापि हेतुत्वमिति चेत ? कुतः पुनरिदं तत एव न तद्भाव (तदभाव) इति ? न तावत्तद्रूपत्वात्; रसादिकृत्तिकोदयादेः रूपादिशकटोदयादिसाधनस्य तदभावेऽपि तद्भावात् । न हि तादृशस्य ताद्रूप्यम्; अतिप्रसङ्गात् । वक्ष्यते चैतत्—"तुलोन्नाम" इत्यादिना । नापि तज्ज्ञाप्यत्वात्, तत्र तदभावेऽपि तज्ज्ञप्तेर्भावात । अपि च,

प्रत्यक्षत्वेन तत्तस्य ज्ञापकं नोपपत्तिमत् ।
अज्ञात्वात् पञ्चमस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रसङ्गतः ॥१४८४॥
लिङ्गत्वाच्चेत् परस्तत्राविनाभावः प्रकल्प्यताम् ।
तस्यापि ज्ञप्तिरन्यस्मात् कार्यत्वादेस्ततो भवेत् ॥१४८५॥
एवं सत्यनवस्थानात् क्व तज्ज्ञप्तिः प्रकल्प्यताम् ।
लभ्यतेऽनुमितिर्यस्याः क्षणभङ्गादिसाधनी ॥१४८६॥
प्रमाणान्तरभावेन ततस्तज्ज्ञप्तिकल्पनम् ।
तच्च पथ्यं न चेत्येवं भवतैवावधार्यताम् ॥१४८७॥

१ वस्तुनि आ०,ब०,प० । २ हेतुरस्यापि आ०,ब०,प० । ३ न्यायवि० श्लो० २।१३३। ४ न तन्नि— आ०, ब०, प० । ५ —स्वभाव इति आ०, ब०, प० । ६ न्यायवि० श्लो० ३३८ ।

अप्रमाणात् ततस्तस्य ज्ञप्तिं कल्पयता त्वया ।
प्रमाणचिन्तावैयर्थ्यं सर्वत्र स्यात् समर्थितम् ॥१४८८॥
कुतो वा तस्य संवित्तिः कार्यादेस्ततो भवेत् ।
अविनाभावसंवित्तिरज्ञातात्तदसम्भवात् ॥१४८९॥
अविनाभावतश्चेत् स्यात्तस्यापि प्रतिवेदनम् ।
प्रत्यक्षादिविकल्पोक्तो दोषः सर्वोऽनुषज्यते ॥१४९०॥
कार्यादेरविनाभाववित्तिस्तस्याश्च तद्गतिः ।
इत्यन्योऽन्याश्रयो दोषो दुस्तरः प्रसजत्ययम् ॥१४९१॥
प्रत्यक्षात्तस्य संवित्तौ वक्ष्यामो वयमुत्तरम् ।
लिङ्गात्तु तत्परिज्ञानमनवस्थानमुद्वहेत् ॥१४९२॥
लिङ्गं तदविनाभावात् कार्यत्वादेश्च तद्गतिः ।
तस्यापि लिङ्गतोऽन्यस्मादविनाभाविनो गतिः ॥१४९३॥ इति ।

तत्र तज्ज्ञाप्यत्वात्तत एव स इति युक्तम्, ज्ञाप्यस्य ज्ञापकनियमाभावाच्च । ततो युक्तमन्यथापि हेतुभावात् कार्यादित्रयेण किमिति । एवं पूर्ववदादिना[1] संयोग्यादिना[2] वीतादिना[3] च त्रयेण किमिति व्याख्येयम् ? वक्ष्यते चैतत्–'एतेन' इत्यादिना[4] ।

भवतु नाम यत्रान्यथानुपपन्नत्वं तत्र त्रयेण किमिति, तेनैव पर्याप्तत्वात्, अन्यथापि हेतुभावाद्यत्र नास्ति न तत्र, तत्र त्रैरूप्यस्यैव गमकत्वात् । हेतोश्च त्रिविधस्यैव भावादिति चेत्, न; अन्यथानुपपत्त्यभावे गमकत्वस्यासम्भवात् अतिप्रसङ्गात् । अगमकधर्मणश्च अहेतुत्वात् । एतदेव 'नान्यथा' इत्यादिना दर्शितम् । स्वपरप्रसिद्धं चैतत्, अत्र चोदाहरणं सकलमपि क्षणभङ्गाद्येकान्तसाधनं प्रतिपत्तव्यम् । तस्यान्यथानुपपत्तिवैकल्यञ्च यथाप्रतिभासमनेकान्तस्यैव तत सिद्धेर्विरुद्धत्वात् यथाकल्पनमसिद्धेः इष्टवदितरत्रापि भावेन व्यभिचाराच्च[5] । तदुक्तम्—

"असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधनः[6] ॥" [सिद्धिवि० परि० ६] इति ।

तस्मादन्यथानुपपन्नत्वादेव हेतुः । सत्यसति च तस्मिन् त्रिरूपत्रैविध्ययोर्वैयर्थ्यात् । कुतस्तर्हि तत्प्रतिपत्तव्यमिति चेत् ? ननु नोक्तमेव चैतत्–"साध्ये सति" इत्यादिना[7] । यद्येतावता न परितोषः, वक्ष्यामः । भवतस्तु स्वभावादिरूपस्य हेतोः कुतः प्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादेवेति चेत्; नः ततः साकल्येन तदसम्भवात् । न हि तत् 'सर्वत्र सर्वदा शिंशपादिः वृक्षादिस्वभाव एव, धूमादिरग्न्या-

१ "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।" –न्या० सू० १।१।५। २ "संयोगिसमवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ।" –वै० सू० ३।१।९। ३ "तत्र प्रथमं तावद्द्विविधम्–वीतमवीतं च ।" –सा० त० कौ० का० ५। ४ न्यायवि० श्लो० ३४२ । ५ अनैकान्तिकः । ६ "समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि ।" –प्रमाणसं० पृ० ११४। "...विरुद्धो मल्लवादिनः । ..."–जैनतर्कवा० १४२ । स्या० र० पृ० १०३२ । ७ न्यायवि० श्लो० २।१२६ ।

दिजन्मैव' इतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्; देशकालव्याप्त्या स्वयमप्रवृत्तेः, प्राणिमात्रस्यापि सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । अन्यत्र वृत्तं तत्र करोत्येव तानिति चेत्; न; तत्राप्यपरामर्शरूपत्वात् । किंवा तत्र तत्करणेन ? तत एव साध्यस्यापि सिद्धेरनुमानवैयर्थ्यात् । उक्तश्चैतत्–"सम्बन्धो यत्र" इत्यादिना । ततः सामस्त्येनैव तत्करणमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च ततो न सम्भवति । तदेवाह–

प्रत्येति न प्रमा हेतुं [प्रत्येति पुनरप्रमा] ॥१५५॥ इति ।

प्रमा प्रत्यक्षरूपा तदन्यरूपाया वक्ष्यमाणत्वात्, न प्रत्येति न परिच्छिनत्ति हेतुम् उक्तरूपमुक्तादेव न्यायात् । मा सा तं प्रतिगात्, तज्जन्मा तु विकल्पः प्रत्येति तद्व्यावृत्तेः परामर्शरूपत्वादिति चेत्; न; तस्यागृहीतग्रहाविसंवादाभ्यां प्रत्यक्षानुमानयोरतल्लक्षणत्वेनानन्तर्भाविनः प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गात् । अप्रमाणत्वे वा कुतस्ततो हेतुप्रतिपत्तिः ? एतदेवाह–'प्रत्येति पुनरप्रमा' इति । नेति हेतुमिति चानुवृत्तम् । पुनरिति । पुनर्भावी विकल्पः पुनः प्रत्येति हेतुम् । कस्माद् अप्रमा प्रमाणं यत इति । मा भूत् प्रमाणात् तस्य प्रतिपत्तिरप्रमाणादेव भवत्विति चेत्, अत्राह–

प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः । इति ।

प्रमा च हेतुश्च तयोराभासौ च प्रमाहेतुतदाभासाः प्रमातदाभासौ हेतुतदाभासौ चेत्यर्थः । तेषां भेदो नानात्वम् अयं प्रतीयमानः सुव्यवस्थितः 'न व्यवस्थितः' इत्यर्थः । उपहसनपरत्वाद्वचनस्य । तथा हि–

यदि प्रमाणतो हेतुः कुतश्चिन्नावगम्यते ।
नानुमानं तदा तस्य हेतोरेव समुद्भवात् ॥१४९४॥
तदभावे कथन्नाम तदाभासव्यवस्थितिः ।
सौगतैरवकल्प्येत प्रत्यक्षात्तदसम्भवात् ॥१४९५॥
अन्यथा तद्व्यवस्थायाः कथं मानान्तरास्तिता ।
प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरित्यादिनोच्यताम् ॥१४९६॥
अप्रमाणाद् गतौ हेतोस्तदात्म्यादिसमन्वयी ।
हेतुरन्यस्तदाभासः संयोग्यादिरशेषतः ॥१४९७॥
इति हेतुतदाभासभेदस्यावस्थितिः कथम् ।
प्रमाणादेव तद्युक्तेरन्यथा नियमक्षतेः ॥१४९८॥

भवतु तर्हि प्रमाणादेवानुमानाद्धेतुप्रतिपत्तिरिति चेत्, अत्राह–

नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ॥१५६॥
अन्यथाऽसम्भवेऽज्ञाने [ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः] । इति ।

चतुरस्रधीरनुमानबुद्धिः सकलव्यवहारनिबन्धनत्वेन तस्या एव चतुरस्रतोपपत्तेः न गृह्णाति न

---

१ तानीति आ०,ब०,प० । व्यापारान् । २ न्यायवि०श्लो० २।२३। ३ प्रत्यक्षप्रमा । ४ हेतुम् ।

प्रत्येति 'हेतुम्' इति गतेन सम्बन्धः । ग्रहणं किंविशिष्टम् ? निःशङ्कं शङ्कया निष्क्रान्तम् । उपलक्षणमिदं [1]तेन निर्विपर्ययमपि । कदा न गृह्णाति ? अन्यथासम्भवे साध्याविनाभावे हेतोरज्ञाने अविद्यमानपरिच्छेदे सति । केन कारणेन तदापि सा न तं गृह्णातीति चेत् ? नियमेन नियमः तदा सैव नास्तीति योगः तेन[2] । न तत्परिज्ञानजन्मा तद्धीस्तदभावे भवति,[3] अभवन्ती च कथं गृह्णीयात्, सत्येव धर्मिणि तद्धर्मोपपत्तेः ? सत्येव तस्मिन् तज्ज्ञाने सा न गृह्णातीति चेत्; अत्राह–'नियमेन' इत्यादि । चतुरस्रधी न हेतुं निःशङ्कं गृह्णाति । कदा ? अन्यथासम्भवे यज्ज्ञानं तस्मिन् सति । केन ? नियमेन । यम उपरमस्तस्याभावो नियमं निशितवत्, तेन । चतुरस्रधिय इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तात्पर्यमत्र-यतस्ते तज्ज्ञानात्तद्धीः, तद्यदि तत एव परस्पराश्रयः–सत्या तस्यां तज्ज्ञान तस्मिंश्च तद्धीरिति । अन्यतस्तद्धिय इति चेत्, आगतस्तर्हि तदनुपरमः तन्निमित्तस्यापि ज्ञानस्यान्यतस्तद्धियो भावात्, पुनस्तन्निमित्तस्यापि तज्ज्ञानस्येत्येव क्वचिदप्यवस्थानात् । तन्नानुमानमपि हेतुं प्रत्येति ।

मा भूत् प्रमाणतदाभासादिभेदः स्वयमप्यलङ्कारकृता तन्निरासस्येष्टत्वात्, अविचारितरम्यया कल्पनयैव तदुपगमात्, तत्त्वतस्तु संविदद्वैतमेव तस्य तत्त्वम्, तस्य च प्रमाणेतरविकल्पातिपातिनः स्वसंवेदनादेव प्रतिपत्तिरिति चेत्; अत्राह–'ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः' इति । हि स्फुटम् अर्थश्च न केवलं तदेव ज्ञानम् आत्मना स्वभावेन न कल्पनया व्यवस्थितः तत्कथमद्वैतम् ? अर्थव्यवस्थितौ द्वैतस्यैवोपपत्तेरिति भावः । कुतस्तद्व्यवस्थितिरिति चेत् ? ज्ञानवत्प्रतीतेरेव, इयांस्तु विशेषः स्वतो ज्ञानस्यार्थस्य तु ततः इति । तत इत्यपि कुत इति चेत् ? स्वत इत्यपि कुतः ? तथानुभवात् समानमन्यत्र । तथापि न तद्व्यवस्थितिस्तत्प्रतीतेर्भ्रान्तत्वात् स्वप्नतत्प्रतीतिवदिति चेत्, ज्ञानस्यापि न व्यवस्थितिः, तत्प्रतीतेरपि बाह्यप्रतीतिवद् भ्रान्तत्वात् । प्रतीतित्वेऽपि बाह्यस्यैव प्रतीतिर्भ्रान्ता न ज्ञानस्येति चेत्; अनुकूलमाचरसि–बाह्यप्रतीतिरपि स्वप्नगतैव भ्रान्ता न परेत्यभिमतसिद्धेः । कथं चेदमनुमानमद्वैतवादे ? कथं च न स्यात् ? हेतुजन्मना तेन[4] हेतुफलभावस्य तद्वादमत्यनीकस्यान्वाकर्षणात् । नायं दोषः परिकल्पितत्वात्तद्भावस्येति चेत्; तर्हि तन्निबन्धमनुमानमपि काल्पनमेवेति कथं ततः क्वचिद्विभ्रमस्य विधिरविभ्रमवत् ? कथं वा क्षणक्षयादेरेव ततः प्रतीतिर्न नित्यादेरपि यतः संवृत्यापि स एव सन्न नित्यादिरिति व्यवस्था शोभामनुभवतीति ? तन्न कल्पितस्तद्भाव उपपन्नः । तत्राह–

प्रतिव्यूढस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ॥१५७॥
प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः । इति ।

प्रतिव्यूढः प्रतिक्षिप्तः तुरिति वितर्के । कः ? प्रभवः कार्यकारणभावः । कयोः ? अनलधूमयोः उपलक्षणमिदमन्येषामपि लिङ्गलिङ्गिज्ञानादीनाम् । कीदृशः ? प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पित इति । सुबोधमेतत् । न चेदमसम्मतमेव परस्य–"निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना । सम्बध्यते कल्पनया ।" [प्र० वा० २।२६] इत्यभिधानात् । केन प्रतिव्यूढः ? तेनैव प्रागुक्तेनानुमानतदाभासभेदानवस्थितिन्यायेनैव नापरेण । तथा हि–

---

१ तेन विप– आ०, ब०, प० । २ तेन तर्हि प० । तेन नास्ति– आ०, ब० । ३ –ति न भ– आ०, ब०, प० । ४ अनुमानेन ।

कल्पितप्रभवाधीनं क्षणिकाद्यनुमानवत् ।
नित्यत्वाद्यनुमानं च तदाभासि भवेत् कथम् ॥१४९९॥
तद्बुद्धा पूर्वकस्यापि तदाभासत्वसम्भवात् ।
अनुमानतदाभासभेदोऽयं सुलभः कथम् ॥१५००॥

न केवलं तयोरेव प्रतिव्यूढोऽपि तु प्रत्यक्षे स्पष्टवेदने अर्थे तद्विषये च, अर्थतत्प्रत्यक्षयोरपीत्यर्थः । अत्र 'तेनैव' इति निर्विकल्पेतरभेदानवस्थानेनेति व्याख्येयम् । तथा हि–

प्रत्यक्षं निर्विकल्पं चेत् कल्पितादर्थजन्मनः ।
सविकल्पकमप्येवं तत एव कथन्न तत् ॥१५०१॥
नास्त्यर्थः सविकल्पश्चेन्निर्विकल्पोऽस्त्यसौ कथम् ?
प्रत्यक्षात्तत्प्रतीतेश्चेद्विकल्पमलवर्जितात् ॥१५०२॥
नाविकल्पात्ततः सिद्धात् सिद्ध्यत्यर्थोऽविकल्पकः ।
तस्माच्च सिद्धात्तत्सिद्धिरित्यन्योऽन्यसमाश्रयात् ॥१५०३॥
अध्यक्षादन्यतोऽर्थश्चेदविकल्पः प्रसिद्धिमान् ।
अन्यस्याप्यविकल्पत्वे कथं नाध्यक्षमेव तत् ॥१५०४॥
विकल्पत्वे कथं तस्मादविकल्पार्थवेदनम् ।
विकल्पोऽवस्तुनिर्भासी यतो वः स मतोऽखिलः ॥१४०५॥
कल्पनातः सतोऽप्यर्थात् प्रत्यक्षं यद्यकल्पकम् ।
सविकल्पकमेवातस्तत्र कस्मान्निगद्यते ॥१५०६॥
लोकस्य यत्तदेवेष्टं प्रत्यक्षमविगानतः ।
न लोकातिक्रमी युक्तस्तत्कल्पो लोकमिच्छताम् ॥१५०७॥
ततोऽर्थजन्मनः क्लृप्तात् प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् ।
विकल्पकमुतेत्येवं भेदोऽयं दुर्विनिश्चयः ॥१५०८॥

तस्मात्तद्भेदनिश्चयमभ्युपगच्छता तत्त्वत एवार्थज्ञानयोरनलधूमादेश्च प्रभवोऽयमभ्युपगन्तव्यः । एवमेव तत् प्रमाणतः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तेः । एतदेव दर्शयति–

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ॥१५८॥ इति ।

तत्त्वमनलधूमयोर्हेतुफलभावः प्रतीयते प्रत्यक्षादेव अनुपलम्भसहायात् अनुपलम्भाद्वा प्रत्यक्षसहायात्, ततस्तात्त्विक एवायम् । दृश्यते हि प्रागनलाभावेऽनुपलब्धो धूमः, तद्भावे दृष्टोऽपि तद्भावे पुनर्न दृश्यते च तदभावे, तस्मात् स तस्यैव कार्यम् अकार्यस्य ततः सकृदप्यसम्भवादिति भावः । परस्य तत्रोत्तरमाह–

१ एवमेतत् आ०, ब०, प० । २ तदभावे आ०, ब०, प० । 'तद्भावे' इति पद व्यर्थम् ।
३ अकारणस्य आ०, ब०, प० ।

अन्यथाऽनुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते । इति ।

अत एतस्मात् प्रत्यक्षादनुपलम्भाच्च अन्यथाऽनुपपन्नत्वं साध्याविनाभावित्वं हेतोः किन्न प्रतीयते ? प्रतीयत एव । तात्पर्यमत्र न तावत्प्रत्यक्षं धूमस्यान्यतो भावमव्यवच्छिन्दद् अनलात्तदुत्पत्तिमवगन्तुमर्हति । परतोऽपि तदाशङ्कायां तत एवेति नियमायोगात् । ततो दृश्यमानः कथमन्यतोऽप्याशङ्क्यतेति चेत् ? अस्ति तर्हि ततोऽन्यथाऽनुपपत्तिपरिज्ञानं, तद्व्यवच्छेदपरिज्ञानस्यैव तत्परिज्ञानत्वात् । तथा च तावतैवानुमाननिष्पत्तेर्व्यर्थं तदर्थं तत्रानलप्रभवत्वपरिज्ञानम् । एतेन शिंशपादौ साध्यतादात्म्यपरिज्ञानमपि चिन्तितम् । तत्राप्यतत्तादात्म्यव्यवच्छेदप्रतिपत्तित एव अनुमानोपपत्तेः । मा भूद् व्यवच्छेदज्ञानादन्यत्रानुमानम्, तत्र तु तत्कथं यावन्न तत्प्रतिबन्धज्ञानमिति चेत् ? न; तज्ज्ञानस्यैव प्रतिबन्धज्ञानत्वात्, न तदुत्पत्त्यादिज्ञानस्य, तस्य सतोऽपि व्यवच्छेदप्रधानतयैवानुमापकत्वात्, अन्यथा व्यभिचारशङ्काऽनिवृत्तेः, व्यवच्छेदज्ञानस्य तु विनापि तेनेति निवेदयिष्यते इति । अपि च, प्रतिबन्धो यद्यसाधारणः, न तस्मादनुमानम् । यत्र तत्सिद्धिः प्रत्यक्षात् साध्यस्यापि तत्र तत एव सिद्धेः, अन्यत्र चाविद्यमानत्वात् । साधारणश्चेत्; न तर्हि स विषयः प्रत्यक्षस्य स्यात्, तस्य स्वलक्षण एव नियमात् । अतः प्रमाणान्तरस्यैव विषयो वक्तव्यः । तदेवाह–

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ॥१५९॥
व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते । इति ।

व्याप्यव्यापकभावः साध्यसाधनयोरविनाभावः अयं विचार्यमाणो विभाव्यते निश्चीयते । कस्मिन् ? एकत्र एकस्मिन् महानसादौ, न केवलं सर्वत्रेत्यपिशब्दः । एकत्रापि कीदृशः स विभाव्यते ? प्रमाणान्तरस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्यस्य तर्काभिधानस्य प्रमाणस्य गोचरो विषयः । कुतस्तद्गोचर एव स विभाव्यते नापर इति चेत् ? न; प्रमाणसाधनोपायत्वात् । इदं हि तस्य अनुमानप्रमाणनिष्पत्त्युपायत्वम् । तच्च तद्गोचरस्यैव नातद्गोचरस्य । अपरिज्ञातस्य तदुपायत्वे अतिप्रसङ्गात्–नालिकेरद्वीपादागतस्यापि धूमादेः पावकादिप्रतिपत्त्यापत्तेः । नाप्यन्यगोचरस्य; तत्त्वस्यैवाभावात् । प्रतिविहितं हि तस्यानुमानगोचरत्वम् अनवस्थापरस्पराश्रयाभ्याम्, प्रत्यक्षविषयत्वञ्च साधारणत्वात् । न कश्चित्तात्त्विकः साधरणाकारः सम्भवति प्रत्यक्षेऽपि तत्प्रतिभासप्रसङ्गात्, अन्यथाऽन्यत्रापि तदनुपपत्तेः, तस्य तद्बलभावित्वात् । ततो विशेषस्यैव साधारणत्वं तस्यैव प्रत्यक्षविषयस्य विकल्पज्ञाने व्यक्त्यन्तरसाधारणतया प्रत्यवभासनात् । ततो गृहीतग्रहणात्तद्विषयस्य तर्कविकल्पस्य प्रामाण्यमेव दुरुपपादं तत्कथं तदन्तरत्वं[२] यतस्तद्गोचर इत्युच्यत इति चेत् ? न, एवं तस्य प्रमाणसाधनोपायत्वव्यापत्तेः । न हि तस्य विशेषणरूपेणैव प्रत्यक्षावभासिना तदुपायत्वम्; तस्य पर्वतधूमादौ अभावात् । नापि विकल्पितेन; तस्य तत्र भावेऽपि ततः प्रमाणस्यानुत्पत्तेः । तथा हि–

> कल्पितात्प्रतिबन्धाच्चेत् क्षणभङ्गानुमोदयः ।
> तत एव भवेत् किन्न नित्यत्वाद्यनुमोदयः ? ॥१६०॥

---

१ अग्नेः । २ प्रमाणान्तरत्वम् ।

कल्पितोऽपि क्षणक्षीणे वस्तुन्येव स सम्भवी ।
तस्य प्रत्यक्षतः सिद्धेर्न नित्यादौ विपर्ययात् ॥१५१०॥
इत्यप्ययुक्तं प्रत्यक्षात्तस्याप्यप्रतिपत्तितः ।
जात्यन्तरगतत्वेन तस्य पूर्वं निवेदनात् ॥१५११॥
ततः साधारणात्मापि प्रतिबन्धोऽस्तु तात्त्विकः ।
प्रमाणमनुमानं हि नान्यथा स्यात्तदुद्भवम् ॥१५१२॥

तस्य च तर्कादिनाधिगतिर्न प्रत्यक्षात् । तस्याऽतद्विषयत्वे वा कस्यायं व्यापारः स्यात् ?

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ? ॥
धूमहेतुस्वभावो हि वह्निस्तच्छक्तिभेदवान् ।
अधूमहेतोर्धूमस्य भावे स स्यादहेतुकः ॥" [प्र० वा० ३।३५-३६] इत्यादि ।

प्रत्यक्षस्यैवेति चेत्; न; तस्याविकल्पस्यास्यैवं परामर्शासम्भवात् । तज्जन्मनो विकल्पस्येति चेत्; तथापि किमर्थं तन्निरूपणम् ? प्रतिबन्धस्यैव निर्णयार्थम्, प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्यापि तस्यानिर्णीतस्य पुरुषार्थं प्रत्यनुपयोगादिति चेत्; विकल्पस्यापि तर्हि कथं तन्निर्णयं प्रत्युपयोगः । न हि तस्यापि स्वतः परतो वा निर्णय इति । अभिहितञ्चैतत्–'अनिर्णीतोऽपि स तत्रोपयुज्यते दृष्टत्वात्, एवं न प्रतिबन्धः' इति । किं कृतमेतत् ? समारोपभावाभावकृतमिति चेत्; तर्हि प्रतिबन्धे प्रतिबन्धसमारोपनिवारणार्थं तन्निरूपणमिति कथं तद्व्यापारवान् विकल्पो न प्रमाणम् ? अप्रमाणात्तन्निवारणायोगादनुमानवत् ।

एतदेवाह–

सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ॥१६०॥
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते । इति ।

अन्वयः प्रतिबन्धस्तस्य विज्ञानं प्रत्यक्षं तस्यैव परैरिष्टेस्तस्मिन् । कथम्भूते ? साकल्येन देशकालान्तरवर्तिसाध्यसाधनव्यक्तिसामस्त्येन अन्यथा सतोऽपि तस्यानुपयोगात् । सत्यपि विद्यमानेऽपि अपिशब्दः सम्भावनायां तत्त्वतः तदभावात्, अन्यथा प्राणिमात्रस्यापि सुगताविशेषेणानुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । स प्रसिद्धः स वा पात्रकेसरिस्वामिना निरूपितः अविनाभाव एव सम्बन्धो हेतुसाध्ययोर्न तादात्म्यादिस्तस्याव्यापकत्वात् । अवधार्यते निश्चीयते । कीदृशः ? तर्केण परितो नारोपयता निष्ठितो लब्धप्रतिष्ठः तर्कपरिनिष्ठितः इति । साकल्येनेत्यत्रापि वक्तव्य तथा च '[1]किमन्वयविज्ञानेन सत्यपि तस्मिन् तर्कप्रामाण्यस्याशक्यप्रतिक्षेपत्वात् अन्यथा समारोपस्याव्यवच्छेदात् । ततः स एव प्रतिबन्धे प्रमाणयितव्यः परस्यापि "अग्निस्वभावः" [प्र० वा० ३।३५] इत्यादि ब्रुवाणस्य प्रसिद्धत्वान्न तद्विज्ञाने विप्रतिपत्तिरिति मन्यते । पुनरपि तर्कस्यैव प्रामाण्यं द्रढयन्नाह–

१ किमन्वयिवि– प० ।

सहदृष्टैश्च धर्मैस्तं न विना तस्य सम्भवः ॥१६१॥ इति ।

तस्य अविनाभावस्य सम्भवः । कैः ? सहयुगपद्दृष्टैर्धर्मैः साध्यस्वभावैः रूपादि रसादीनां चशब्दात् क्रमदृष्टैरपि शकटोदयादिभिः कृत्तिकोदयादीनाम् । स किम् ? तं न विन तर्कमन्तरेण न अवधार्यते इति गतेन सम्बन्धः । सहक्रमदर्शनस्य तदभावेऽपि सम्भवात् न ततस्तदवधारणमिति भाव. । तर्कस्य यदि न स्वविषये प्रतिबन्धः कथं प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षस्यापि तत एव तद्भावात् । प्रतिबन्धे वा सोऽप्यनुमानमेव तन्निर्णयादुत्पत्तेः प्रसिद्धानुमानवत् तत्कथं तस्य प्रमाणान्तरत्वमिति चेत् ? अत्राह–

इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् । इति ।

इत्येव तर्कमेव एवकारस्यात्र सम्बन्धात् नापरं तस्य प्रतिबन्धाविषयत्वाद् अपेक्षेत किम् ? लैङ्गिकम् अनुमानं लिङ्गादागतत्वात् कथमपेक्षेत ? नियमेन अवश्यम्भावेन । तदनपेक्षत्वे तदनुत्पत्तेः । ततो न स लैङ्गिक तत्कारणत्वात् । कार्याच्च कारणस्यार्थान्तरत्वात् । अनर्थान्तरमेव ततस्तल्लैङ्गिकमिति चेत्; न; तस्यापि प्रतिबन्धनिर्णयकृतस्तर्कादिवोत्पत्तेः, अन्यतस्तन्निर्णयस्यासम्भवात् । सोऽपि ततोऽपरं लैङ्गिकमेवेति चेत्; न; अनवस्थाप्रसङ्गेन लैङ्गिकवार्तायाः अपि विलोपनात् । ततो न तस्य लैङ्गिकत्वम् । प्रतिबन्धे कथमतत्त्वमिति चेत् ? प्रत्यक्षेऽपि कथम् ? निर्णयनिरपेक्षत्वादिति चेत्. समानमिदं तर्केऽपि । कस्तर्हि तस्य स्वविषये प्रतिबन्ध इति चेत् ? योग्यतयैव प्रत्यक्षवत् । प्रत्यक्षेऽपि प्रतिबन्धान्तरस्य तदुत्पत्त्यादेर्निषेधात् । ततो योग्यतयैव प्रमाणं तर्कः । तदेवाह–

तस्माद्वस्तुबलादेव प्रमाणं [मतिपूर्वकम्] ॥१६२॥ इति ।

तस्मात्तदभावे लैङ्गिकस्यासम्भवात् प्रमाणं तर्क इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । स्वतो वस्त्वेव न कल्पितं यद्बलं योग्यतालक्षणं तस्मादेव न तदुत्पत्त्यादेः ।

यद्येव भवतोऽपि तत्तृतीयं प्रमाण प्राप्तं प्रत्यक्षवत् परोक्षेऽप्यनन्तर्भावादिति चेत्; आह–

मतिपूर्वकम् ॥

यद्भेदं श्रुतं साक्षात् पारम्पर्येण चेष्यते ।

श्रुतमित्यस्पष्टज्ञानमुच्यते "श्रुतमस्पष्टतर्कणम्" [त० श्लो० १।२०] इति वचनात् । अस्पष्ट परोक्षमेव । ततः श्रुतमिष्यते तर्क इत्यर्थ. । मतिपूर्वकमित्यस्पष्टज्ञानस्य श्रुतव्यपदेशे निमित्तमुक्तम् 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इति, स्मृत्यादौ अस्पष्टज्ञान एव तद्व्यपदेशस्य [३]सूत्रे कृतत्वात् । मतिश्चेयमवग्रहादिधारणापर्यन्तज्ञानमुच्यते "तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम्" [लघी०श्लो० ६] इति वचनात् । सा पूर्वं कारणं यस्य तत्तथोक्तं श्रुतमिति । तथापि न तर्कस्य श्रुतत्वम् । मतेः स्मृत्यादिना तस्य व्यवधानादिति चेत्; न;साक्षादिव परम्परयापि तत्पूर्वस्य तदुपगमात् । अत एवोक्तम्–'साक्षात् पारम्प-

१ –देशनि– आ०, ब०, प० । २ –ज्ञानमेव आ०, ब०, प० । ३ "श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्" –त० सू० १।२० इत्यत्र । ४ मतिश्चेहावग्र– ता० । ५ –न्तं ज्ञान– आ०, ब०, प० । ६ श्रुतत्वोपगमात् ।

र्येण च' इति। तच्च सूत्रे पूर्वग्रहणादवगतम्, तस्य व्यवहितत्वेऽपि प्रवृत्तिदर्शनेन तत्परिग्रहार्थत्वात्, अन्यथा 'मतिनिमित्तम्' इत्येव सूत्रे वार्तिके च कृत भवेत्। बहुविधत्वं च तर्कश्रुतस्य क्वचिदेकत्रैव साधनधर्मे तत्सामान्यस्य साध्यसामान्येन पुनः क्षयोपशमवशात्तद्विशेषग्रहणे तस्य साध्यविशेषेण पुनस्ततोऽपि सूक्ष्मस्य तद्विशेषस्यावधारणे तस्यापि तादृशेन तद्विशेषेण अविनाभावनिर्णयात्। यदपेक्ष्येदं बौद्धेनोक्तम्– "सर्वाकारानुमानं यत् प्रत्यक्षात् तन्न भिद्यते ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१२८] इति। तथा देशादिव्यवहितस्य शब्दकृतकत्वादिधर्मिहेतुकलापस्यापि तत एव प्रतिपत्तेः ऊहापोहरूपत्वाच्च प्रतिपत्तव्यम्। ततो न तस्य प्रमाणान्तरत्वं परोक्ष एवान्तर्भावात्। बहुभेदत्वमेव तस्य दर्शयितुं तद्व्यापारानाह–

अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्तनम् ॥१६३॥
स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं [तदनक्षवत्]। इति।

अर्थस्य नीलादेः मात्रा निरंशक्षणिकाद्यवस्था तस्या अवबोधः निर्विकल्पदर्शनम्, तस्मिन्नपि न केवलं तदभावे स प्रसिद्धो निश्चयो नीलादिव्यवसायो युक्तः उपपन्न.। किम्? प्रमाणम्। कथम्? मुख्यं नौपचारिकम्। कुत एतत्? यतो यस्मान्निश्चयात् ऋते न प्रवर्तनं जलादौ तदर्थिन इति। एतदुक्तं भवति–प्रवर्तकमेव प्रमाणं परस्याप्यभिमतम्, "धीप्रमाणता, प्रवृत्तेस्तत्प्रधानत्वात्।" [प्र० वा० १।५] इति वचनात्। प्रवृत्तिश्च निश्चयादेव न तदवबोधनात् क्षणक्षयादिवत्। अतः स एव मुख्यं प्रमाणम्। तथा च "कल्पनापोढम्" [प्र० समु० श्लो० ३] इति प्रत्यक्षलक्षणमसम्भवदोषं निश्चये तदभावात्, निर्विकल्पस्य मुख्यतः प्रामाण्याभावात्। एतदेवाह–'तदनक्षवत्' इति। तदिति निपातः स इत्यत्रार्थे। सोऽर्थमात्रावबोधः अक्षादन्यत्वात् सन्निकर्षादिरनक्षं तद्वदिति। एतदुक्तं भवति-यथा सन्निकर्षादेः मुख्यप्रामाण्याभावाद् न तत्र तल्लक्षण तथा तदवबोधेऽपीति। कदा पुनर्निश्चयात् प्रवर्तनम्? अभ्यास इति चेत्; न, तदा दर्शनादेव तद्भावान्न निश्चयात्, तस्यैवाभावात्। नानभ्यासे, तदाप्यनुमानादेव तद्भावादिति चेत्, कथं तर्हि "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतम्" [प्र० वा० १।५] इत्यनेन तस्याप्रामाण्यमुक्तम्? क्वचिदप्यसतस्तदयोगात्। तदयं तमेव नेच्छति तस्याप्रामाण्यं च वक्तीति कथमनुन्मत्तः? भवतु तर्हि तस्य गृहीतग्रहणादेवाप्रामाण्यमिति चेत्, किं पुन. सामान्यं दर्शनविषयो येनैवं स्यात्? सत्यम्, दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायादिति चेत्; वस्तुतस्तर्हि अपूर्वार्थ एव स इति कथन्न प्रमाणम्? तद्विषयस्य सामान्यस्यावस्तुत्वादिति चेत्, एवं तर्हि वक्तव्यम्-'अवस्तुविषयत्वं न प्रमाणम्' इति, न पुनरेवं 'गृहीतग्रहणात्' इति हेतोरसिद्धिदोषात्। एकत्वाध्यवसायान्नासिद्धिरिति चेत्, न; एकत्वादवस्तुभूताद्वस्तुतो गृहीतग्राहित्वासम्भवात्। तदपि तादृशमेवेति चेत्; वस्तुतस्तर्हि नासिद्धिदोषः परिहृत इति न किञ्चिदेतत्। अस्तु तस्यावस्तुविषयत्वादेवाप्रामाण्यमिति चेत्; न, अनुमानेऽपि तत्प्रसङ्गः। समारोपव्यवच्छेदादेः प्रयोजनविशेषस्य ततो भावादिति चेत्;

१ अत एवं आ०, ब०, प०। २ तथा आ०, ब०, प०। ३ नाप्यन- आ०, ब०, प०। ४ परिगृहीत आ०, ब०, प०। ५ अनुमानतः।

तदेवं निश्चयेऽपि समानमिति तद्व्यापारान्तरोपन्यासेन दर्शयति–

लिङ्गसांवृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि ॥१६४॥
व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्तृप्रवृत्तयः । इति ।

लिङ्गं क्षणभङ्गाद्यनुमानं लिङ्गोऽर्थत्वात्, सांवृतं निश्चयज्ञानं तयोः 'प्रामाण्यम्' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । 'तुल्यम्' इति वचनपरिणामेन । कुतस्तुल्यमिति ? तयोर्यत तुल्याः समानाः । काः ? व्यवच्छेदश्च समारोपस्य अविसंवादश्चाविप्रतिसारं व्यवहर्तृप्रवृत्तिश्च व्यवहारिप्रवर्तनं ता । कुतोऽपि तास्तुल्याः [1]तद्वा तुल्यं तयो. गृहीतग्रहणादपि अपिशब्दात् अवस्तुविषयत्वात् । अत्रापि तुल्यत्वादिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धनीयम् । अयमर्थो यदि गृहीतग्रहणमाश्रित्यापि अनुमानस्य प्रामाण्य व्यवच्छेदादे· प्रयोजनात्, तत् निश्चयेऽपि तुल्य तदाश्रयणस्य तत्प्रयोजनस्य च तत्रापि तुल्यत्वादिति । अविसंवादव्यवहारयोर्निश्चये[2] परस्यापि प्रसिद्धत्वात् । तत्र व्यवच्छेदं दर्शयन्नाह–

शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ॥१६५॥ इति ।

शब्द आदिर्यस्य घटादेस्तस्य अयोगः स्वरूपेणाघटनम् अभेदवादिपरिकल्पितस्तस्य विच्छेदो निश्चयात् । न हि निश्चितस्यायुक्तिरभेदेऽपि तत्प्रसङ्गादिति तस्मिन् तत्प्रामाण्यं निश्चयप्रामाण्य न किम् ? भवत्येव । पुनरिति वितर्के । तद्विच्छेदस्याप्यनुमानादेव भावात् किं निश्चयेनेति चेत् ? अत्राह–

अनुमानं तु हेतोः स्यात् [अविनाभावनिश्चयात्] ।इति ।

तात्पर्यमत्र–हेतोः अनुमानं स च भेदरूपत्वेन परं प्रत्युक्त एवेति कथं ततोऽनुमानम् अन्यतरासिद्धे । तद्युक्तेरप्यनुमानान्तराद् व्यवच्छेदे तदेवोत्तरम्–'अनुमानं तु हेतोः स्यात्' इति । पुनस्तदयुक्तेरपि तदन्तराद्व्यवच्छेदेऽनवस्थाप्रसक्तिरिति । ततो निश्चयादेव तद्व्यवच्छेद इत्युपपन्नमिदं 'तत्प्रामाण्यं न किं पुनः' इति । ननु निश्चयस्यापि भेदरूपस्यायुक्तिर्यदि निश्चयान्तराद् व्यवच्छिन्ना अनवस्थानमिति चेत्, न, अभेदनिश्चयवत् स्वत एव तस्य युक्ततया[3] अवस्थानात् । हेतुरूपप्रतिपादनव्याजेन पुनरपि तद्व्यापारं दर्शयन्नाह–'अविनाभावनिश्चयात्' इति । स्पष्टमिदम् । अत्र-हेतुरिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्ध. । स्यान्मतम्–[4]तन्निश्चयस्यापि तदुत्पत्त्यादिनिश्चयादेव भावात् तत एव हेतुरिति वक्तव्यमिति, तन्न, एवमतिप्रसङ्गात् । यथैव हि धूमादेर्विशेषधर्मै. कण्ठाक्षिविकारकारिभिर्गमकत्वं तथा सामान्यधर्मैरपि मूर्तत्वादिभिर्भवेत् तैरपि तस्याग्न्यादिकार्यत्वात्, तथा च किं तद्विशेषावधारणार्थेन प्रयत्नेन ? यत इद सूक्तम्–"इष्टं विरुद्धकार्येऽपि देशकालाद्यपेक्षणम् ।" [प्र०वा० ३।५] इति । विशेषरूपैरेव गमकत्व तत्रैवाव्यभिचारनियमादतो न व्यर्थस्तदवधारणार्थो यत्न इति चेत्, न, तन्नियमस्यापि कार्यत्वादेव भावात् तस्य च रूपान्तरेष्वप्य-

---

१ तद्वत्तुल्य प० । २ -येपि प- आ०, ब०, प० । ३ -तया व्यव- आ०, प० । ४ तदनि- आ०, ब०,प० ।

विशेषात् । अन्यथा तेषामहेतुकत्वेन नित्यत्वप्रसङ्गात् । अग्नि प्रत्येव तेषामहेतुकत्वं न हेत्वन्तरमपीति चेत्; न तर्हि तेषां धूमरूपत्वं सामग्र्यन्तरादुत्पत्तेः पदार्थान्तरवत् । हेत्वन्तरमप्यनलादिसामग्र्यन्तर्गतमेवेति चेत्; सिद्धमनलं प्रत्यपि तेषां कार्यत्वमिति कथन्न ततस्तत्र तन्नियमः ? [1] तथाप्यभावे न तन्निर्णयात्तन्निर्णयः सत्यपि तस्मिन् तदभावात् । विशिष्टस्यैव तस्य निर्णयान्निर्णयतस्तन्नियमस्य न तन्मात्रस्येति चेत्; ननु विशेषोऽपि तस्य तन्नियम एव नोपरस्तस्येतरत्रापि सम्भवात् । तथा च निर्णयेऽपि[2] तन्नियमस्य तद्विशिष्टतया कार्यनिर्णयस्ततोऽपि तन्नियमस्येति परस्पराश्रयणं नाम प्रतिषेधमनुपतति । अन्यतस्तन्निर्णये[3] वा तावता गमकत्वाद् व्यर्थं तदर्थं कार्यत्वकल्पनम्, तथा तत्स्वाभाव्यकल्पनम् । ततो हि गमकत्वे प्रयत्नजन्यत्वं प्रत्यनित्यत्वस्यापि तद्भवेत्, तन्मात्रानुबन्धिनस्तस्य घटादौ प्रतिपत्तेः, तदनु[4]बन्धिन्येव साध्यधर्मे कृतकत्वादेरपि हेतुत्वस्य परैरिष्टत्वात् । तस्य तदनुबन्धित्वमेव नास्ति विद्युदादौ सत्यपि तस्मिन्नभावादिति चेत्; तदा अनित्यत्वमपि क्वचित् कृतकत्वादौ सत्यपि तथा न भवेत् । भवत्येव तथा दर्शनादित्यपि न युक्तम्; घटादिभाविनस्तस्य प्रयत्नजन्यत्वेन व्यभिचारात्, सर्वत्र भाविनश्च तस्यार्वाग्दर्शिष्वभावात् । तथापि कथमदृष्टस्तद्भावः क्वचित् कल्प्यत इति चेत्; न कल्प्यते किन्तु संशय्यते तज्जातीये प्रयत्नजन्यत्वे[5] दर्शनात् । अथ तादृशस्तस्य नियमोऽस्ति यत् सति तस्मिन् भवत्येवेति ततो न संशयस्तत्रेति चेत्, सोऽपि कुतः तदनुबन्धादिति चेत्; ? न; अन्योऽन्यसंश्रयात्–ततो नियमो नियमाच्च स इति । अन्यतो नियमनिर्णये वा 'तावता' इत्यादेर्दोषात् । तन्न तदुत्पत्त्यादिनिर्णयात् हेतुः पृथगविनाभावनिश्चयादेव तदुपपत्तेः । तदेवं कार्यादावन्यथानुपपन्नत्वादेव हेतुत्वमवस्थाप्य अनुपलम्भेऽपि तत एव तदवस्थापयन्नाह–

यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाशङ्क्यसम्भवः ॥१६६॥
हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् । इति ।

कार्यं धूमादिः स्वभावः कृतकत्वादिः 'वा' इति समुच्चये । यथा येनोक्तन्यायप्रकारेण अन्यथाशङ्क्यसम्भवः साध्याभावेनाशङ्कनीयात्मलाभो हेतुर्न तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धात् तथैवानुपलम्भोऽपि चशब्दस्य अपिशब्दार्थस्यात्र सम्बन्धात् । अयं प्रसिद्धो हेतुरित्यनुगम्यताम् अन्यथाशङ्क्यसम्भव एवेति । तथा च दृश्यविशेषणस्येवेतरस्यापि तादृशस्य गमकत्वमिति मन्यते । युक्तं चैतत्, कथमन्यथा क्वचिद्विज्ञानादिनिरोधलक्षणस्य मरणस्य ततः प्रतिपत्तिः ? न हि विज्ञानादेर्दृश्यत्वम्; दर्शनप्रत्यय[6]साकल्येऽपि स्वभावविशेषस्याभावात्, तदुभयरूपत्वाच्च दृश्यत्वस्य । अस्त्येव स्वशरीरे तत्तस्येति चेत्; किं पुनः शरीरान्तरे तन्निषेधो मरणम् ? तथा चेत्, न; सर्वदा तत्प्रसङ्गात् । तज्जातीयत्वात्तदं[7]न्तरगतमपि दृश्यमेवेति चेत्, किमिदानीमदृश्यं नाम यत्रानुपलम्भात् संशयः स्यात् ?

१ अपरस्येतर– ता० । २ –ये हि त– आ०,ब,प० । ३ –येन ता– आ०,ब०,प० । ४ तदनुबन्धिन्येव आ०, ब० प० । ५ –यत्वे तु आ०, ब०, प० । ६–यः सा –ता० । ७ –त्तदनन्तरगतम– आ०, ब०, प० । शरीरान्तरगतमपि ।

पिशाचादेरपि तथा दृश्यत्वोपपत्तेः । ततो न स्वभावानुपलम्भात्तन्निषेध. । नापि कार्यानुपलम्भात्, ततो तदुपलम्भनिषेधादेव तन्निषेधात् । "अनिषिद्धोपलम्भस्याभावासिद्धेः" [　　] इत्यभिधानात् । न चादृश्यस्य तन्निषेधेऽपि निषेधः संशयोपगमात् । भवन्नपि व्याहारादिकार्यानुपलम्भात्तस्य निषेध अप्रतिबद्धशक्तिकस्यैव स्यान्नापरस्य, तत्कथं तद्विवेकानिश्चयाद्दाहादिसाहसकरणं पातकप्रसङ्गात् । अथ व्याहारादौ तत् प्रतिबन्धविकलमेव ततो भवत्येव तदनुपलम्भात्तस्य निषेध., सति तस्मिन् तस्या-सम्भवादिति चेत्; आगतोऽसि पन्थानम्, अदृश्यविशेषणस्यापि तस्यान्यथानुपपत्त्या गमकत्वो-पगमात् । इदमेव केवलमपरीक्षितमुक्तवानसि "नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति" [हेतुवि० टी०पृ० २०१] इति । अवश्य तद्वतोऽपि विज्ञानादे भावात्, अन्यथा तत्प्रभवादनुपलम्भात्तन्निषेधा-नुपपत्ते. । तच्चावश्यम्भावितद्वत्त्वं तत्कादिव[1] शक्यनिर्णयमुपायान्तराभावात् । तदेवमदृश्यानुपलम्भस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिबलेनोपपाद्य दृश्यानुपलम्भस्यापि तत एव तत्, न तदन्तरेणेति दर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ॥१६७॥
अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते । इति ।

उपलभ्यत इति उपलभ्यतेऽनेनेति वा उपलम्भः तदन्य· अनुपलम्भः भावान्तरमुपलम्भयोग्यं तज्ज्ञानं वा । प्रत्यक्षस्य दृश्यस्य स च सोऽपि न केवलं कार्यादिरेव अहेतुरिव अगमक इव लक्ष्यते । कथम् ? इह अन्यथानुपपत्तौ सम्बन्धं साकल्यमन्तरेण विनेति । क स तथा लक्ष्यते ? विधानप्रतिषेधयोः विधान प्रदेशादेः प्रतिषेधो घटादेस्तयोरिति । तथा हि–न तावत् प्रतिषेधः कस्यचित्तुच्छोऽनभ्युपगमात् । प्रदेशादिभावान्तरस्वभावत्वेऽपि न तत्र अनुपलम्भस्याऽप्रतिपन्नस्य हेतुत्वम्, असिद्धस्यान्यथानुपपत्तिवैकल्यात् । प्रतिपत्तिरपि तस्य यदि प्रतिषेधरूपत्वेनान्यतोऽनुप-लम्भात्; अनवस्थापत्तिः । स्वतोऽपि यद्यनिश्चयरूपा[3]; तदेवाहेतुत्वम् । निश्चयात्मिकायां तु व्यर्थं तस्य तत्र हेतुत्वम्, तन्निश्चयादेव प्रतिषेध्याभावस्यापि निश्चयात्, तद्विषयतयैव तत्र तदुत्पत्तेः । न तन्निश्चयार्थं तस्य तत्त्वमपि तु तत्रासदिति ज्ञानार्थम्; इत्यपि न युक्तम्, अनुपलम्भस्यैव [4]तदसज्ज्ञान-त्वात् । ततोऽपि तदन्तरकल्पनायामनवस्थादोषात् । तदभिधानार्थमित्यपि नोत्तरम्. उत्पत्तावेव निश्चयरूपस्य तस्य साभिधानत्वात् । अनभिधानत्वेऽपि कुतस्तस्य तादर्थ्यम् ? तस्य करणात्, ज्ञापनाद्वा ? करणादिति चेत्; न, ज्ञापकस्याकारकत्वात् । ज्ञापनादिति चेत्, तथापि कथं तज्ज्ञाप-कस्य प्रतिषेधज्ञापकत्वम् ? तस्यापि तद्विषयस्यैव ज्ञापनादिति स चेत्; यद्यस्ति, किं ततस्तज्ज्ञापनेन ? प्रत्यक्षादेव ज्ञप्तेः । अथ नास्ति, नास्ति ज्ञापनमसतस्तदयोगात् । प्रतिषेधस्य तद्योग्यत्वज्ञापनमेव तज्ज्ञापन-मिति चेत्; न; असति तस्मिन् योग्यत्वस्यापि तदपेक्षस्यासम्भवात् । सम्भवेऽपि किमर्थं तज्ज्ञापनम् ? अभिधानादिव्यवहारार्थमिति चेत्; स किमनुपलम्भविषयादेव ततो न भवति येन ततस्तज्ज्ञापनं ततश्च स इति पारम्पर्यं परिकल्प्यते ? तथा चेत्, अनुपलम्भेऽपि तदन्यज्ञापितादेव स

---

१ तत्कार्यादिव आ०, ब०, प० । २ गमकत्वम् । ३ यद्यपि निश्चयरूपास्तदे– आ०, ब०, प० ।
४ तद्वत्त– आ०, ब०, प० । ५ –पर्कंत– आ०, ब०, प० ।

ततो भवति तदन्यत्राप्येवमिति कथमनवस्थातो निर्मुक्तिः? तत्र स्वतःसिद्धादेव ततस्तद्भावे दृश्याभावेऽपि तत्सिद्धादेव स भवतीति व्यर्थं ततस्तज्ज्ञापनम्। कथं च तज्ज्ञापनमेव व्यवहारस्य ज्ञापनम्? अविनाभावादिति चेत्; सर्वत्र हेतुज्ञापनमेव साध्यज्ञापनमित्यनुमानमुद्रा दोद्रूयेत। कथं वा तदविनाभावित्वं तस्य स्वयं तत्कारणत्वेनातत्कार्यत्वात्? अत एव अतत्स्वभावत्वाच्च। स्वहेतोस्तथैवोत्पत्तेरिति चेत्, कुत इदमवगन्तव्यम्? तदुत्पत्त्यादेरवगमोपायस्याभावात्। विचारादेव कुतश्चिदिति चेत्; सिद्धं तर्हि तद्विपर्यादेकलक्षणबलादेवानुपलम्भस्य हेतुत्वं न तदन्तरेणेति। ततः सूक्तम्–'अन्तरेण' इत्यादि। विधानेऽपि तस्य तत एव हेतुत्वोपपत्तेः। कस्य पुनर्विधानं यत्र तस्य हेतुत्वम्? निषेध्यस्यैवेति चेत्; न; असति तस्मिन् तस्यैव विरोधात्। भूतलादेरिति चेत्; न, तस्याविप्रतिपत्तित्वेनासाध्यत्वात्। न हि साङ्ख्यस्यापि तत्र विप्रतिपत्तिः "सर्वं सर्वत्र विद्यते" [ ] इत्यागमारोपितसंस्कारस्य दृश्यनिषेध एव तस्य स तद्भावात्, अतः स एव तेन साध्यते–यद्यत्र दर्शनलक्षणप्राप्तं न दृश्यते तत्तत्र नास्ति यथा चेतनात्मनि प्रधानरूपत्वम्, न दृश्यते च तादृशो घटादिः प्रदेशादिविशेषे इति, ततस्तत्रैव हेतुत्वं तस्य न तद्विधान इति चेत्; न, तथा कार्यस्वभावयोरपि 'नेहाग्निः धूमात्, नेह नित्यत्वं कृतकत्वात्' इत्यनग्न्यादिप्रतिषेध एव तद्विप्रतिपत्तिविषये हेतुत्वप्रसङ्गात् नाग्न्यादिविधौ अविप्रतिपत्तेः। एवं च कथमिदं सङ्गतम्–"तत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" [न्यायबि० पृ०३९] इति। तदारोपितानग्न्यादिविविक्ते अग्न्यादौ वस्तुन्येव तस्य हेतुत्वादिति चेत्; निषेध्यविविक्ते प्रदेशे वस्तुन्यनुपलम्भस्यापि किन्न तथा हेतुत्वं यत इदं सूक्तं भवेत्–"एकः प्रतिषेधहेतुः" [न्यायबि०पृ०३९] इति। ततो युक्तं विधावप्येकलक्षणबलात्तस्य हेतुत्वम्।

इदानीं तत्प्रपञ्चं दर्शयति–

प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नापक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः ॥१६८॥
प्रमाणं सम्भवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात्। इति।

अनुपलब्धेः प्रपञ्चः स्वभावानुपलब्ध्यादिरूपो भेदः **प्रमाणं** भवतु प्रतिषेधविपक्षे विधौ तद्विरुद्धस्योपलम्भस्य प्रत्यक्षापरव्यपदेशस्य प्रवृत्तित इति चेत्; न, **अपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः** किन्तु सम्भवाभावात्तत्रानुपलम्भस्य। सोऽपि तत्र तद्वृत्तिरेव ततस्तत एव प्रमाणमिति चेत्; न, प्रतिषेधनियमस्यैव तत्त्वात्। तन्नियमोऽपि तद्वृत्तित एवावगम्यते इति चेत्; न; निरूपितरूपात् विचारादेव तदवगमात्। अत एवाह–'विचारस्याप्यपेक्षणात्' इति। अपिः अवधारणे विचारस्यैव तदवगमं प्रत्यपेक्षणात्। तत एव सप्रमाण न तत्र तद्वृत्तित इति। तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा 'न भावेषु क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः' इति। असिद्धानुपलब्धिः प्रत्यक्षतः सर्वत्र तस्यैवोप-

१ –भावादितीति आ०, ब०, प०। २ 'यो वा साङ्ख्योऽत्यन्तविमूढः सर्वं सर्वत्र विद्यते इत्याग्रहवान्।" –प्र० वार्तिकालं० ४।२६३। ३ प्रदेशवस्तु–आ०, ब०, प०। ४ विधानस्याप्ये– आ०, ब०, प०। ५ –भविषयस्यैव आ०, ब०, प०।

लब्धेरिति चेत्, किमिदानीं तत्रानुमानेन[1] ? आरोपव्यवच्छेद[2] इति चेत्; तेनापि किम् ? सत्यप्यारोपे प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य प्रत्यक्षादेव तत्समर्थादुपपत्तेः । त[3]दसमर्थेऽपि तस्मिन् न किञ्चित् तदृव्यवच्छेदेन, सत्यपि तस्मिन् व्यवहारस्यासम्भवात् । अथ स[4] एव त[5]स्य तत्सामर्थ्यं तदयमदोषः; कथमर्थान्तरं स तस्य सामर्थ्यमतिप्रसङ्गात् ? सम्बन्धादिति चेत्, न; भेदे सत्युपकारादन्यस्य त[6]स्यासम्भवात् । न च तस्योपकार्यत्वं नित्यवत् क्षणिकस्यापि निरंशस्य तदयोगात् । भवत्वनुमानादेव त[7]स्योपलब्धिरिति चेत्; न; तस्याप्यनिर्णयरूपस्याप्रामाण्यात् तत्क्षणक्षयसंवेदनवत् । निर्णयरूपमेव तदिति, कुतस्तस्य परिज्ञानम् ? स्वत इति चेत्; [8]तत्तस्यानिश्चयरूपमेव [9]प्रत्यक्षत्वात् नीलादिप्रत्यक्षवत् । स्वाभिमुखमेव रूपं तस्यानिर्णयस्वभावं न बाह्याभिमुखमिति चेत्; तस्य तर्हि कुतः परिज्ञानम् ? स्वाभिमुखात्तदयोगात् । स्वत एवेति चेत्; तदप्यनिश्चयमेव पूर्ववत् प्रत्यक्षत्वादिति न निश्चयरूपं तस्योत्पश्यामः । [10]पुनस्तदन्तरकल्पनायामनवस्थाकल्पनात् । निश्चयान्तरात् तत्परिज्ञानमेतेन प्रतिव्यूढम् । तन्न ततोऽपि तस्योपलब्धिरिति कथमसिद्धिरनुपलब्धेः ?

तथा न क्षणक्षयैकान्ते कार्यं कारणानुपलम्भात् । न हि तत्र कारणत्वं कस्यचित्; तत्समये [11]कार्यानुपगमात्, [12]सन्तानाभावप्रसङ्गाच्च । नापि भिन्नसमये; स्वयं तदानीमसत्त्वात् । तथा हि— यत्कार्यकाले नास्ति न तत्तत्कारणं यथा अनुत्पन्नम्, नास्ति च तत्काले प्रध्वस्तमिति ।

अपि च, असतोऽपि कारणत्वे यथा ततोऽनन्तरं कार्यं तथा ततः पुनस्ततोऽपि पुनः[13] किन्न स्यात् ? असतः तदापि तस्याविशेषात् । एवं च कथं [14]तस्यानित्यत्वमनुपरमात् ? कारणस्यानुपरतिहेतोरेव[15] भावात् । अथ तदपहस्य स्वयमेवोपरतिः; एवं सति उपरतिवत् उत्पत्तिरपि तस्य स्वाधीनैव स्यात् । तादृगुत्पत्तिर्नित्यैव भवेदिति चेत्, उपरतिरपि स्यात् ।

तथा च हेतुसामर्थ्यादुत्पत्त्या तस्य भूयताम् ।
स्वतः किं नोपरत्येति दुस्तरं दौस्थ्यमापतेत् ॥१५१३॥
क्षणादेवोर्ध्वमस्थान तस्य चेत् स्यात् स्वशक्तितः ।
क्षण एव ततः स्थानं तस्य कस्मान्न कल्प्यते ॥१५१४॥
उत्पन्नस्य स्वतः शक्तिः शक्तादुत्पत्तिरित्यतः ।
अन्योऽन्याश्रयदोषाच्चेन्नैष [16]पक्षोऽवकल्पते ॥१५१५॥

---

१ "सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादिना"– ता० टि० । २ "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुण । भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ।" इति वचनात् । ३ व्यवहारासमर्थेऽपि । ४ "आरोपव्यवच्छेद एव ।" –ता० टि० । ५ प्रत्यक्षस्य । ६ सम्बन्धस्य । ७ क्षणिकत्वस्य । ८ तस्यानि–आ०, ब०, प० । ९ "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनात् ।"–ता० टि० । १० पुनस्तस्त–आ०, ब०, प० । ११ कार्येऽनुपग– ता० । १२ यदि कारणकाले कार्यं स्यात्तदा सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणस्य आद्यक्षणवृत्तित्वप्रसङ्गः, अनन्तरं च नाशात् सन्तानाभावः स्यादिति भावः । १३ उत्तरोत्तरक्षणेषु । १४ तस्यान्तिकत्वमनु–आ०, ब०, प० । १५ यतः कारणादनुपरति तस्य कारणस्य सद्भावात् । १६ पक्षोऽत्र क– प० ।

नित्यं सत्त्वमहेतोरित्येवं तर्हि वृथा वचः[1] ।
अहेतूत्पत्तिसद्भावे सत्येवैवं वचः स्थितेः ॥१५१६॥

अनुत्पन्नमपि पूर्वस्य कारणमेव ततः साध्यविकलं निदर्शनमिति चेत्; न, तस्य तत्कार्यत्वात् । न हि कार्यदेव कारणम्; अन्योऽन्याश्रयदोषात् । अन्योऽन्यमविनाभावादेव हेतुफलव्यपदेशो नान्योऽन्यस्मादुत्पत्तेस्तदयमप्रसङ्ग इति चेत्, उत्पत्तिस्तर्हि कुतः ? न कुतश्चित्; कथं सत्त्वम् ? उपलम्भादेव, "उपलम्भः सत्ता" [प्र० वार्तिकाल० २।५४] इति वचनात् । नित्यं तत्किन्नेति चेत्; नित्योपलम्भाभावादेव । ततो न तस्य कार्यत्ववत् कारणत्वमपि व्याहतमिति चेत्; न; एवमपि भवतो व्याघातस्य प्रसङ्गात् । तथा हि—

कार्यत्वादाद्यचित्ते स्यादविनाभावनिश्चयः ।
व्यभिचारविशङ्कापि हेतुत्वेन प्रसज्यते ॥१५१७॥
तच्छङ्कया ततो न स्यादनुमा पूर्वजन्मनि ।
तन्निर्णये भवेच्चापि सैषा[2] ते दुस्त्यजा रुजा ॥१५१८॥
कार्यत्वादनुमासिद्धौ तच्छङ्का क्रियते न चेत् ।
न हेतुबलभाविन्याः स्वेच्छया वारणात्ययात् ॥१५१९॥

तस्मात् प्राग्जन्मचित्तस्य तत् कार्यमेव न कारणम्, उत्तरस्य च कारणमेवं[3] पूर्वत्वात् प्रकृतचित्तवत्, तदपि तदुत्तरस्य तावदेवं यावदन्त्यं[4] चित्तम्, तदपि भाविभवाद्यचित्तस्य । कथं पुनः कारणात्ततस्तदनुमानमिति चेत् ? [5]कार्यादिवाविनाभावनिर्णयादिति ब्रूमः । चतुर्थं तल्लिङ्गं स्यादिति चेत्; यद्येतन्न्यायादापतति किमत्र कुर्मः ? तत्र प्राग्भाविनो हेतुत्वमिति भवत्येव असतस्तदभावे स दृष्टान्तः । ततः—

अन्योऽन्याश्रयणादौ चेदुक्तं गजनिमीलनात् ।
कारण भावि वक्तव्या तथा तस्य क्षणस्थितिः ॥१५२०॥
कुतो वा तस्य सा शक्तिर्यतः प्रध्वंसते स्वतः ।
स्वहेतोश्चेदवस्थानप्रध्वंसौ युगपन्न किम् ॥१५२१॥
तादृशी यदि शक्तिः सा स्वतस्तौ[6] क्रमभाविनौ ।
'नाक्रमात्क्रमिणो भावाः' इत्येतद्दुर्घटं[7] भवेत् ॥१५२२॥
तत्रानुपरतौ हेतौ तस्योपरतिरात्मनः ।
इत्यनित्यत्ववार्ता ते तत्र दूरं पलायते ॥१५२३॥
इदमेवोदितं पूर्वैः स्याद्वादन्यायवेदिभिः ।
देवोऽपि कुरुते येषु विनयालङ्कृतं वचः ॥१५२४॥

---

१ "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।" –प्र०वा० ३।३४ । २ सैषा ते आ०, ब०, प० ।
३ –वमपू– आ०, ब०, प० । ४ चित्तं भावि–आ०, ब०, प० । ५ कार्यादिवावि– आ०, ब०, प० ।
६ स्वतस्तौ आ०, ब०, प० । ७ प्र० वा० १।४५ ।

"प्रध्वस्तस्य न हेतुत्वं यथैव प्रागभाविनः ।
असतश्चेह भावेऽथ पश्चात्किन्न भविष्यति ॥" [ ] इति ।

अप्राग्भाविनोऽपि इष्टमेव हेतुत्वं भाविजन्मादयचित्तादाधुनिकस्य मरणचित्तस्योत्पत्तेः, अन्यथा ततस्तदनुमानासम्भवात्, कथमसौ असतो हेतुत्वे दृष्टान्त इति चेत् ? नन्वेवं मरणचित्तं कस्य हेतुः ? अहेतोः अवस्तुत्वप्रसङ्गात् । तत्पूर्वस्येति चेत्; तदपि तर्हि तत्पूर्वस्य तदप्येवं यावदाद्यचित्तमिति । ततः कथं प्राग्भवचित्तस्यानुमितिः कारणलिङ्गस्यानुपगमात् ? अन्यथा मरणचित्तस्यापि तल्लिङ्गत्वादेव गमकत्वात् कार्यत्वकल्पनं वृथैव स्यात् । अथ तत् उत्तरचित्तस्येव प्राग्भवचित्तस्यापि कार्यमेव तदयमदोषः; तर्हि न कस्यचिदपि कारणमिति न वस्तु भवेत् । अथ तदपि तयोरन्यतरस्य हेतुरेव न तर्हि ततस्तस्यानुमानम् । ततो नासतः कारणत्वमिति सिद्धा कारणानुपलब्धिः ।

तथा कार्यानुपलब्धिरपि । तद्यथा, न [1]तदेकान्ते कारणं कार्यानुपलम्भात् । नहि तस्य [2]सत्कार्यम्, निरपेक्षत्वात् । नाप्यसत्, विनापि तेनाभावात् । रूपान्तरेण [3]तत्तस्य कार्यमिति चेत्; तदपि सत्; कथं [4]तस्य ? असच्चेत्; स एव प्रसङ्गो 'विनापि' इत्यादिरनवस्था च । यदि चासत् सद्रूपमापद्यमानं तस्य कार्यम्, न क्षणभङ्ग, तस्य पूर्वापरीभूतस्यैकस्योपगमात् । न [5]पक्षान्तरेऽपि अयं प्रसङ्गः; क्रमेण चित्रवस्तुन्येव तत्र हेतुफलव्यवहारात् । तस्य च चित्रैकज्ञानवत् प्रतीत्युपारूढत्वात्, न तथा [6]तदेकान्तस्य । ततः कार्यानुपलब्धिरपि गमिकैव । व्यभिचारशङ्कया तदगमकत्वकल्पनायां नित्यादेरनिषेधापत्तेः ।

तथा विरुद्धोपलब्धिरपि । तद्यथा– न नित्यो जीवः परिणामादिति । नित्यत्वविरुद्धस्य परिणामस्य जीवे दर्शनात् तत्र नित्यत्वप्रतिषेधोपपत्तेः [7]क्वचिदुष्णत्वोपलब्ध्या शीतप्रतिषेधवत् ।

तथा विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरपि । तद्यथा, नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । नैरात्म्यविरुद्धेन सात्मकत्वेन व्याप्तस्य प्राणादिमत्त्वस्य जीवच्छरीरे दर्शनात् तत्र नैरात्म्यप्रतिषेधोपपत्तेः, क्वचिच्छू[8]रत्वस्य वनस्पतित्वविरुद्धवृक्षत्वव्याप्तस्य दर्शनात् वनस्पतित्वप्रतिषेधवत् ।

एवं विरुद्धकार्योपलब्धिरपि । तद्यथा कल्पनापोढमभ्रान्तमपि ज्ञानं न प्रमाणं विसंवादादिति । प्रामाण्यस्योक्तविशेषणे ज्ञाने तद्विरुद्धाऽप्रामाण्यकार्यस्य विसंवादस्योपलम्भेन निषेधोपपत्तेः, क्वचिद्रोमहर्षादिविशेषस्य शीतकार्यस्योपलम्भेन तद्विरुद्धपावकप्रतिषेधवत् । न चासिद्धा विसंवादो[9]पलब्धिः, तत्र निरंशादिरूपेण [10]दृष्टस्यापि विषयस्य स्थूलादिरूपेण प्राप्तेः, अयथादर्शनप्राप्तेश्च विसंवादार्थत्वात् । एवमन्या अप्यनुपलब्धयो वृत्तिप्रतिपादिता गमिकाः प्रतिपत्तव्याः ।

स्यान्मतम्–यदि क्षणक्षयैकान्तादेर्न प्रतिपत्तिः कथं स क्वचिन्नास्तीति तदनुवादी निषेधः ? 'नास्तीह घटः' इति प्रतीतस्यैव [11]तस्य [12]तद्दर्शनात् । प्रतिपत्तौ तु कथमनेकान्तनियमो भावेष्विति ?

---

१ क्षणिकैकान्ते । २ असद्रूपत्वात् । ३ असत् । ४ असत । ५ "स्याद्वादिपक्षे" –ता० टि० । ६ क्षणिकैकान्तस्य । ७ कश्चिदुष्ण– आ०, ब०, प० । क्वचिदुपल– ता० । ८ शालत्वस्य । शूरः शालवृक्षविशेषः । ९ –वादस्योप– आ० ,ब०, प० । १० दृष्टस्यादृष्टस्यापि प०, ता० । ११ घटस्य । १२ निषेधदर्शनात् ।

तन्न सारम्; एवं नित्येऽर्थक्रियानिषेधेऽपि चोद्यात् । न ह्यप्रतिपन्ने त[१]त्र तन्निषेधः, प्रतिपन्न एव प्रदेशे मशकादिनिषेधोपलम्भात् । न च तस्य प्रतिपत्तिः प्रमाणात्, क्षणभङ्गवादव्याघातात् । कल्पनातश्चेत्, निषेध्यत्वमपि तद्विषयस्यैव स्यात्, अर्थक्रियाया अपि तादृश्या एव तत्त्वात् । प्रत्यक्षत एव त[२]स्याः क्षणभङ्गे प्रतिपत्तिरिति चेत्; नैवम्; अनिश्चयात् । निश्चये वा किं नित्ये तन्निषेधेन ? स हि ततस्तद्भङ्गसाधनाय, निश्चिते च किं तत्साधनेन ? समारोपस्यापि तत्रानुपपत्तेस्तद्व्यवच्छेदस्याप्यसम्भवात् । अनिश्चयेऽपि यदि प्रतिपत्तिः, तथापि किमर्थं तत्साधनम् ? व्यवहारार्थमिति चेत्; न; तस्यापि तत एव भावात्, कथमन्यथा ततो नित्ये तन्निषेधव्यवहारः । तन्न प्रत्यक्षतस्तत्र त[३]स्याः प्रतिपत्तिः, इत्यारोपिताया एव निषेधस्तथा तद्भङ्गादेरपीति सूक्तम्–'**नापक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः**' इति ।

यत्पुनरेतत्-वैशेषिकादेः[४] 'सामान्यसमवायादिकं निराकुर्वन्[५] यदि न प्रतिपद्यते तन्निषेधहेतोराश्रयासिद्धत्वम् । प्रतिपद्यते चेत्; कथं निषेधः ? तत्प्रतिपत्त्या बाधनात्' इति; तदप्यनेन प्रतिविहितम्, प्रमाणतः प्रतिपत्ता[६]वेव तदनुपपत्तेर्न कल्पनातः । तत्प्रतिपन्नस्य च तस्य परै[७][८]र्निषेधः कल्प्यते । अभ्युपगन्तव्यं चैतत्; कथमन्यथा स्व[९]यमपि क्षणभङ्गादेर्निराकरणम् । न हि तस्यापि सौगतादिकल्पितस्य क्वचित् प्रमाणतः प्रतिपत्तिः बुद्ध्यादावपि षट्क्षणस्थायित्वादेरेव स्वयमवगमात् । अथ न तस्य निषेधः, कथं तद्वादी पराजीयताम् ? अप्रतिक्षिप्तपक्षस्य तदनुपपत्तेः । तद्विपर्ययस्य नित्यादेर्विधानादेवेति चेत्; न; अप्रतिपन्ने तस्मिन् तद्विपर्ययत्वस्यैव क्वचिदनधिगमात् । ततः कल्पनयैव तस्यापि प्रतिपत्तिरित्यलमनुबन्धेन ।

साम्प्रतम् उन्नामादेस्तदुत्पत्त्याद्यभावेऽपि गमकत्वोपदर्शनेन हेतुत्रैविध्यमपि विध्वंसयन्नाह–

तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ॥१६९॥
नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता । इति ।

तुलाया उन्नामश्चोर्ध्वगमनं **रस**श्च तावादी येषामर्वाग्भागसास्नादीनां तेषां **न हि** स्फुटम् । किम् ? **नाम**श्चाधोगमनं **रूपं** चा**दि**र्येषां परभागविषाणादीनां त एव **हेत**वो येषां तेषां भावस्तत्त्वम् । कया युक्त्या तत्तेषां न ? **तुल्यकालतया** समसमयत्वेति । न हि समसमयत्वे युक्तो हेतुफलभावः परस्परमनुपयोगात्, सव्येतरनारीकुचचूचुकवदनभ्युपगमात् । **न** चैवमहेतुत्वम्;[१०] **व्यभिचारा**त् । न हि नामादेरुन्नामादिव्यभिचारो निर्व्यभिचाराया एव ततस्तत्प्रतिपत्तेरुपलम्भात् । न ततस्तस्य प्रतिपत्तिरपि तु गौरवादेः तस्य तत्कारणत्वात्, ततस्तु नामादिसहभाविनि उन्नामादेरिति चेत्; तथापि व्याघात एव त्रैविध्यस्य कारणस्यापि [११]लिङ्गत्वोपगमात्, तथा रसादे रूपाद्यधिगमाच्च । ततोऽपि न तस्याधिगमः अपि तु तत्कारणस्यैव पूर्वरसादिस्तबकस्येति चेत्; न; रूपादेरेव समसमयस्य तद्दर्शनात् । तत्कारण-

---

१ नित्ये । २ अर्थक्रियायाः । ३ अर्थक्रियायाः । ४ "अथ यदि परेण प्रमाणात्प्रतिपन्न तेनैव बाध्यमानत्वादनुत्थानं विपरीतानुमानस्य ।..."– प्रश० व्यो० पृ० ४६ । ५ "जैनादि"– ता० टि० । ६– तावेदनुप– आ०,ब०,प० । ७ "जैनैः" ता०टि० । ८ "वैशेषिकादिना"–ता०टि० । ९–विशेषणा– आ०, ब०, प० । १० –तुरव्यभि– आ०, ब०, प० । ११ लिङ्गस्योप– आ०, ब०,प० ।

प्रतिपत्तिरेव (त्तेरेव) तत्प्रतिपत्तिस्तस्य रूपादिजननधर्मतया ततः प्रतीतेः । अत एवोक्तम्—

"एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [प्र० वा० ३।८]

इति चेत्; कथं पुनस्तद्धर्मणः प्रतीतेरेव तत्प्रतीतिः ? अव्यभिचारादिति चेत्; उक्तमत्र–'हेतुप्रतिपत्तिरेव साध्यस्यापि प्रतिपत्तिरित्यनुमानमुत्सीदेत्' इति । न च प्रतिपन्नात्ततस्तत्प्रतिपत्तिः; [1]कारणलिङ्गप्रसङ्गात् । नन्वेवं पारम्पर्यप्रतिपत्तिः–रसादेस्तत्कारणस्य ततोऽपि रूपादेरवगम इति, रूपादेरेव झटिति ततस्तद्दर्शनात् । सत्यम्, स तु न [2]स्वतोऽविनाभावात्,अपि तु तदुत्पत्तिप्रयुक्तादेव । तदुक्तमर्चटेन—"रूपादिनापि रसादेरव्यभिचारो न स्वतः किन्तु स्वकारणाव्यभिचारद्वारकः ।" [हेतुबि० टी० पृ०८] इति चेत्; किं पुनरेवं नियमः 'स्वकारणमव्यभिचरतस्तत्कार्येणाव्यभिचारः' इति ? तथा चेत्; न; असता तदयोगात् । सतैवेति चेत्; कुतः सत्त्वम् ? कारणभावादिति चेत्, न; नियमाभावात् "नावश्यम्[3]" [हेतुबि० टी० पृ० २१०] इत्यादिवचनात् । नियम एव रसादेस्तस्यानुमानात्, अन्यथा तदयोगादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–सति तत्सत्त्वनियमे तत्र रसादेस्तदव्यभिचारद्वारकोऽविनाभावः, ततश्च तदनुमानात्तन्नियम इति । तन्नियमस्यान्यतः प्रतिपत्तौ तु व्यर्थमेव रसादिलिङ्गं भवेत् । तस्मात् स्वत एव तस्य तत्र अविनाभावो न [4]तस्मात्, नापि तत्कारणादुत्पत्तेः ।

यत्पुनरत्रोक्तं तेनैव– "आकस्मिकस्तर्हि सर्ववस्तूनां स्वभाव इति न कस्यचित् स्यात् । नह्यहेतोर्देशकालद्रव्यनियमो युक्तः ।" [हेतुबि० टी० पृ० ९] इति; तन्न; स्वहेतुप्रकृतेरेव नियतविषयतया तस्योत्पत्तेः, तत एव तत्प्रकृतेरप्यवगमात् । नियतविषया हि तदुत्पत्तिः कुतश्चिदवगम्यमाना तत्प्रकृतिमवगमयत्येव, उत्पत्तिनियमस्य तदन्यत्रापि तदधीनत्वात् । अत इदमपि [5]तस्यायुक्तमेव–"तच्चाव्यभिचारकारणं यथोक्तादन्यन्न युज्यते ।" [हेतुबि० टी० पृ०९] इति; तदुत्पत्त्यादेरुक्तादन्यस्यापि [6]तत्प्रकृतेर्भावात् ।

किञ्चेदं तस्य तत्कारणत्वम् ? उत्पादकत्वमिति चेत्, न तर्हि तस्मिन् सत्यप्यव्यभिचारः कारणे कार्यभावस्यानियमात् । ततो यथेदमुच्यते–

"संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः ।
न ते हेतव इत्युक्तं व्यभिचारस्य सम्भवात् ॥" [प्र० वा० ४।२०३] इति ।

तथेदमपि वक्तव्यम्–

धूमादावपि यत्रास्ति प्रतिबन्धः स तादृशः ।
न सोऽपि हेतुर्वक्तव्यो व्यभिचारस्य सम्भवात् ॥१५२५॥ इति

---

१ कारण लि– आ०,ब०,प० । २ स्वतोपि भावात् आ०,ब०,प० । ३ "नावश्य कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति सौगतवचनम्"–ता० टि० । ४ "उत्पत्तेरित्यस्य शब्दोऽत्रापि सम्बन्धनीयः ।" –ता० टि० । ५ अर्चटस्य । ६ तत्प्रकृतेभा– आ०, ब०, प० ।

तन्नोत्पादकत्वं कारणत्वम्। अस्तु तन्नियामकत्वम्, तन्निवृत्तौ नियमेन तस्यापि निवृत्तेः; इत्यपि न युक्तम्, कारणत्वाद्यभावे तस्याप्ययोगात्।

"तस्मात् तन्मात्रसम्बन्धः स्वभावो भावमेव वा।
निवर्तयेत्कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः॥" [प्र० वा० ३।२२] इति वचनात्।

भवतु कारणत्वस्योक्तसमाधित्वात् स्वभावत्वादेव तस्य तन्नियामकत्वमिति चेत्; न, तन्मात्रसम्बन्धाभावात्। न ह्यव्यभिचारमात्रस्य तेन व्याप्तिः; असत्यपि तस्मिन् रूपादौ तद्भावात्। ततो यदुक्तम्– **"यस्य येन सह तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्तो न स तदविनाभावी यथा प्रमेयत्वादि (दे) र्नित्यत्वादिना, न स्तश्च केनचित्तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्यव्यतिरेकिणामर्थानामिति व्यापकानुपलब्धिः।"** [हेतुबि० टी० पृ०९] इति; तत्प्रतिविहितम्; तदभावेऽपि रसादे रूपाद्यविनाभावव्यवस्थापनेनानुपलब्धेर्व्यभिचारात्। तन्न नियामकत्वमपि कारणत्वम्। ज्ञापकत्वं तु प्रागेव प्रतिविहितम्। ततो न किञ्चिदपि कारणार्थमुत्पश्यामः। ततः स्थितं रसादेरकार्यस्यापि हेतुत्वान्न त्रैविध्यमिति।

तथा अर्वाग्भागसास्नादेरपि। न हि तस्यापि परभागविषाणादिकार्यत्वं तुल्यकालत्वाविशेषात्। तथापि कार्यमेव सत्येव तस्मिन् भावादिति चेत्; न किञ्चिदिदानीमकार्यलिङ्गं सर्वस्य साध्ये सत्येव भावात्। अभेदे स्वभावहेतुरपीति चेत्; न; तदा हेत्वधिगमेनैव साध्यस्याप्यधिगमात्, अन्यथा भेदापत्तेः। न कृतकत्वादेस्तदव्यतिरिक्तमनित्यत्वं साध्यम्, अपि तु तद्व्यवहारस्तदन्यव्यवच्छेदो वेति चेत्; सिद्धं तर्हि तस्य तत्कार्यत्वं व्यतिरेके सत्यविनाभावादिति न स्वभावहेतुर्नाम कश्चित्। [1]किम्वेवं कार्यत्वकल्पनेन? अविनाभावनिर्णयादेव गमकत्वोपपत्तेः। ततो न तुलोन्नामादीनां तदुत्पत्त्या गमकत्वम्। नापि तादात्म्येन; तदभावात्। कथं पुनस्तदभावो यावता तुलादिद्रव्याद्व्यतिरेकादस्त्येव कथञ्चित् तेषामन्योऽन्यमपि तादात्म्यमिति चेत्; अत्राह–

तादात्म्यं तु कथञ्चित् स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ॥१७०॥ इति।

तुलान्तयोरुन्नामावनामवतोस्तुलाग्रयोः **तादात्म्य**मभेदो **न तु** नैव [2]तोरवधारणार्थत्वात्। कुत एतत्? **ततः** तस्मात् तुल्यकालत्वात् **हि** स्फुटम्। न हि तादात्म्ये तुल्यकालत्वं तस्य [3]भेदित्वनिष्ठत्वात्। सर्वथा भेद एव तद्विरुद्धं न कथञ्चिदिति चेत्; न; तथा स्वमतव्यापत्ते, एकान्तनिरंशक्षणक्षीणस्वलक्षणवादविलोपस्यावश्यम्भावात्। ततः 'कथञ्चित्' इत्यत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः, ततः **कथञ्चि**दपि न केवलं [4]सर्वथा **स्यात्** भवेत् तादात्म्यं तुलान्तयोः। नत्विति सम्बन्धः। न केवलं तुल्यकालत्वात् कथञ्चिद्वादे चानिष्टापत्तेस्तुलान्तयोरेव न तादात्म्यमपितु अन्येषामपीत्याह–

[5]सास्नाविषाणयोरेवं चन्द्रार्वाक्परभागयोः। इति।

प्रसिद्धार्थमेतत्। तदेवमुन्नामादेरकार्यस्वभावस्यापि लिङ्गत्वोपपादनेन त्रैविध्यनियमं प्रतिषिध्य पात्रकेसरिस्वामिनापि तन्नियमः प्रतिषिद्ध इति दर्शयंस्तद्वचनमाह–

१ किं चैवं आ०, ब०, प०। २ तुशब्दस्य। ३ भेदित्वबदनिष्ठ– आ०, ब०, प०। भेदनिष्ठत्वात्। ४ सर्वदा स्या– आ०, ब०, प०। ५ सास्नादीनां च– आ०, ब०, प०।

उपलब्धेश्च हेतुत्वादन्तर्भावात् स्वभावतः ॥१७१॥
तयोरनुपलम्भेषु नियमो न व्यवस्थितः । इति ।

उपलब्धेः उपलम्भस्य न केवलं कार्यादिरेवेति । अपिशब्दार्थः चशब्दः । हेतुत्वात् गमकत्वात् नियमः कार्यादिभेदेन त्रिविधमेव लिङ्गमित्यवधारणं न व्यवस्थितः । न हि कार्यदेरन्यस्यापि हेतुत्वे तन्नियमोपपत्तिः । अस्ति च तस्या हेतुत्वम् 'अस्त्यात्मोपलब्धेः' इत्यात्मसद्भावस्य ततः प्रतीतेः । आत्मनो यद्यन्यतः प्रतिपत्तिरस्ति किमुपलब्ध्या कर्तव्यं सिद्धोपस्थायित्वात् ? अथ नास्ति न तस्या हेतुत्वमाश्रयासिद्धेरिति चेत्; भवेदेवं यद्याश्रयबलेन गमकत्वम् । न चैवम्, अन्यथानुपपत्तित एव तद्भावात् । निवेदितं चैतत्–'असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽपि' इत्यादिना[1] । कथं पुनस्तदपरिज्ञाने कुतश्चित्तदन्यथानुपपत्तेरप्यवगमः ? इत्यपि न चोद्यम्; कार्यादावपि तत्प्रसङ्गात् । अप्रतिपन्नेऽपि साध्ये तस्य तत्स्वभावत्वात् भवत्येव परिज्ञानम्' इत्यपि समाधानम् उपलम्भेऽपि न विमुखभावमाविर्भावयति । कथं पुनरुपलब्धेर्गमकत्वं व्यभिचारस्यापि दर्शनात् ? न ह्युपलब्धिरित्येव भावास्तथा भवन्ति विभ्रमाभावापत्तेरिति चेत्; न; तन्मात्रस्य[2] हेतुत्वानभ्युपगमात्, अन्यथानुपपत्तिसवलितशरीराया एव तस्यास्तदभ्यनुज्ञानात् । न च तस्या व्यभिचारोऽनुपलब्धिवत् । क्व पुनरियमुपलब्धिर्यतस्तदस्तित्वं साध्यत इति चेत् ? इयमेव येयं तत्र तत्र बुद्धिविवर्तेष्वन्वितरूपतया अहमिति प्रतिभाति । न तत्र कश्चिदात्मा नाम तद्व्यतिरिक्तः प्रतिभातीति चेत्; सत्यम्, तस्या एवात्मत्वोपगमात् । न चैवमुपलब्धेर्वैयर्थ्यम्; व्यवहारसाधनार्थत्वादनुपलब्धिवत् । एवमप्युपलब्धेस्तद्विषयाविप्लवभावेन स्वभाव[3] एवान्तर्भावात् कथं तया नियमाव्यवस्थितिरिति[4] चेत्; अनुपलब्धिवत् साध्यभेदेनेति[5] ब्रूमः । ततो भवत्येव तया तदव्यवस्थितिः अन्यथाऽनुपलब्धेरपि तत्रैवानुप्रवेशात् द्वैविध्यमेव स्यात् । तथा तयोः कार्यस्वभावयोः स्वभावतः स्वरसतोऽन्तर्भावादनुप्रवेशात् । क ? अनुपलम्भेषु त्रैविध्यनियमो न व्यवस्थितः सर्वस्यानुपलम्भत्वेन ऐकविध्यस्यैवोपपत्तेः । तथा हि–परस्याय स्वभावहेतुः अनित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरीयकत्वादिति । तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वं यदि प्रयत्नानन्तरं निष्पत्तिः, इयं विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरेव नित्यत्वविरुद्धेन अनित्यत्वेनास्य व्याप्तत्वात् । अथ तज्ज्ञानम्; तथापि विरुद्धकार्योपलब्धिरेव तस्य नित्यविरुद्धानित्यकार्यत्वात् । ततः कथमनुपलम्भेषु तयोरन्तर्भावो विरुद्धविधेरनुपलम्भभेदत्वेन स्वयमभ्युपगमात् । बहुवचनं कार्यादिबहुत्वेन तद्रूपानुपलम्भानामपि बहुत्वात् ।

स्यान्मतम्–यदा निषेधपरः प्रयोगो न नित्य इति तदा भवतु तत्रान्तर्भावः, यदा तु विधिपर एव अनित्य इति तदा स्वभावादित्वेन तयोर्हेतुत्वान्न तन्नियमाव्यवस्थितिरिति, तन्न; सर्वदा लिङ्गस्य सामान्यविषयतया तन्निषेधपरतयैवावस्थानात्, अन्यथा तद्विषयत्वायोगात् । न हि सामान्यं नाम अन्यव्यवच्छेदादपरं परस्य सम्भवति । तथा चोक्तम्[6]–"अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात् ।" [ ] इत्यादि । विधिपरत्वे वा कथन्न वस्तुविषयत्वम् ? इष्टमेव[7] लेशतस्त-

१ न्यायवि०श्लो० २।६। २ उपलब्धिमात्रस्य । ३ "स्वभावहेतौ"– ता०टि० । ४ "त्रैविध्यनियमाव्यवस्थिति" –ता०टि० । ५ साध्याभेदेनेति आ०,ब०,प०। ६ "यदुक्तं धर्मकीर्तिना–अतद्रूपपरावृत्त..." –अष्टसह० पृ०२८ । "आह चात्र–अतद्रूप"–प्र० वार्तिकाल० १।२। ७ –व ततस्तदपीति आ०,ब०, प०।

दपीति चेत्; न; निरंशे वस्तुनि लेशाभावात् । तत एवोक्तम्–"एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्र० वा० ३।४२] इति । यद्येवमिदं कथमुक्तम्–"वस्तुलेशस्य चाश्रयः" [ ] इति ? पर एवेदं प्रष्टव्यो य एवमन्योऽन्यव्याहतमभिव्याहरति । ततः प्रतिषेधपर एव प्रयोगो युक्तः । कार्यहेतोरपि सामान्यविषयस्यातत्परतयैव स्वयं प्रतिज्ञानात् । ततो न सङ्गतमिदम्–"तत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" [न्यायबि० पृ० ३९] इति । न न सङ्गतम्; तद्विषयस्य सामान्यस्य वस्त्वेकत्वाध्यवसायादिति चेत्; न; अनुपलम्भस्यापि तत्साधनत्वापत्तेः । अभावस्यापि भावाव्यतिरेकिण एव लौकिकैर्व्यवसायात् । तत इदं व्याहतम्–"एकः प्रतिषेधहेतुः" [न्यायबि० पृ० ३९] इति । ततोऽनुपलम्भत्वेन सर्वस्यापि प्रतिषेधहेतुत्वादसङ्गतमेव तत्रेत्यादि ।

पुनरपि [1]नियममेव विघुरयितुं लिङ्गान्तरमुपदर्शयन्नाह–

अभविष्यत्यसम्भाव्यो धर्मो धर्मान्तरे क्वचित् ॥१७२॥
शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः । इति ।

धर्मः कृत्तिकोदयादिः क्वचित् कस्मिंश्चित् धर्मान्तरे शकटोदयादौ साध्ये हेतुः । कीदृश ? अभविष्यति अजनिष्यमाणे धर्मान्तरे तस्मिन् असम्भाव्योऽसम्भवितया[2] कल्पनीयः तदविनाभावितया निश्चित इति यावत् । कथं हेतुः ? शेषवत् शेषं परोक्तात् कार्यत्वादन्यदकार्यत्वादि तद्वद्यथा भवति । कार्यमेव कृत्तिकोदयः शकटोदयस्येति चेत्, कुत एतत् ? तत उत्पत्तेरिति चेत्, न; ततः प्रागेव निष्पत्तेः । निष्पन्ने च किं तेन कर्तव्यम् ? अकिञ्चित्करस्य कारणत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तदविनाभावात् तत्कार्यमिति चेत्; नन्वेवमपि तस्य स्वभाव एव स्यात्, साध्यस्य तस्मिन्नर्थान्तरनिरपेक्षत्वेन भावात् अन्त्यक्षणप्राप्तकारणवत् । अन्यथा तत्कारणस्यापि कार्यत्वादेव लिङ्गत्वोपपत्तेः किमिति स्वभावत्वेन तदुपपादितं यत इदमर्थवत्–

"हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥" [प्र०वा० ३।६] इति ।

[3]कीर्तिनैव तथा तदुपपादितं न प्रज्ञाकरेण भाविकारणवादिनेति चेत्; किं पुनः[4] कीर्तिस्तद्वादी न भवति ? तथा चेत्; कथं तद्ग्रन्थ एव "सत्त्वोपकारिणी" [प्र०वा० १।५१] इत्यादिस्तद्वा[5]दपरतया अलङ्कारकृता व्याख्यातः[6] ? तदपि तस्यानभिप्रेतार्थमेव व्याख्यानमिति चेत्; नेदानीं तत्कारणत्वं शास्त्रार्थः शास्त्रकारानभिप्रेतत्वादिति कथं तद्बलेन तदुदयस्य लिङ्गान्तरत्वप्रतिक्षेपान्नियमविघाते तदव्यवस्थानम् ? कथं वा तन्मतमुपपादयितुं प्रवृत्तेन तदनभिप्रेतस्य कश्चिदुपपादनं नित्यादेरपि प्रयोजनवशात् कश्चित् तत्प्रसङ्गात् । भवत्येव कीर्तिरपि तद्वादी, तथापि नान्यकारणस्य स्वभावत्वकल्पनं व्याहत तत्र उभयधर्मसद्भावादिति चेत्; तथापि कथं तन्नियमः ? केवलात् कार्यात् स्वभावाच्च तदुभयात्मनस्तस्य

१ नियमेन आ०,ब०,प० । २ –भावक– आ०,ब०, प० । ३ धर्मकीर्तिना । ४– न स की– आ०, ब०, प० । ५ भाविकारणवाद । ६ "तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्, यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनं व्यवहितस्यापि कारणत्वात् ।" –प्र० वार्तिकाल० १।५१ ।

हेत्वन्तरत्वात् । भवतु स्वभाव एव कृत्तिकोदयादिरपीति चेत्; न; धूमादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात्, भावस्य तद्व्यवस्थाहेतोः तत्रापि भावात् । भेदप्रतिभासत्वेति चेत्; तदुभयादेरपि न भवेदविशेषादि सूक्तम्–'शेषवत्' इति । तद्वद् अन्योऽपि कृत्तिकोदयादेरपरोऽपि [1]पक्ष्यादिरपि गमकः प्रत्यायक साध्यस्य । कीदृशः ? सुपरीक्षितः सुष्ठु साध्यनिष्ठानियमवत्त्वेन परीक्षितः तर्केण विचारित इति । अस्ति ह्याकाशे पक्षिदर्शनात् अध छायामण्डलस्य, तद्दर्शनाच्चोपरि पक्षिणः प्रतिपत्तिः । न ह्यत्र कार्यत्वम्; तुल्यकालत्वात् । न स्वभावत्वम्; भिन्नदेशत्वात् । परीक्षया तु अविनाभावाद् गमकत्वमतो न [2]तन्नियमः । सत्यप्यत्र कार्यादित्वे न तद्व्यवस्थितिः, पक्षधर्मत्ववैकल्येन तद्वतोऽस्य भेदात्, न ह्यत्र पक्षिणः पक्षधर्मत्वम्; भूप्रदेशे तस्यासम्भवात् । तस्य[3] हि पक्षत्वं छायावत्त्वेन साधनात् । नापि तन्मण्डलस्य; आकाशे तस्याभावात् । न च भूप्रदेशाकाशसमुदायस्य[4] पक्षत्वम्; तत्रै हि अत्रेति निर्देशः स्यात् साध्यस्य न पुनर्यत्र लिङ्गं तत ऊर्ध्वमधस्ताद्वेति । तथैव च तत्प्रतिपत्तिर्दृश्यत इति ।

साम्प्रतं नैयायिकादिकल्पितमपि तन्नियममतिदेशेन विधुरयन्नाह–

एतेन पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ कथा गता ॥१७३॥ इति ।

पूर्ववद्वीतसंयोगिशब्दानामादिशब्देन बहुव्रीहिः । तस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धात् पूर्ववदादिः वीतादिः संयोग्यादिरिति[6] भवति । [7]तत्राद्येन शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोः, द्वितीयेन अवीतवीता-वीतयोः, तृतीयेन समवाय्येकार्थसमवाय्य (यि) विरोधिनामवरोधः, तस्मिन् पूर्ववद्वीतसंयोग्यादौ या कथा हेतुत्वनियमान्वाख्यानं सापि एतेन पूर्वोक्तेन न्यायेन गता निवृत्ता । नह्येवं नियमः– 'पूर्ववदादिरूपेण त्रिविधमेवानुमानम्' इति; अधिकस्यापि कस्यचिद्भावात् । तथा हि–पूर्ववदिति कारणात् कार्यस्यानुमानम् , पूर्वं कारणमस्यास्तीति व्युत्पत्तेः । शेषवदिति कार्यात् कारणस्य, कार्यस्यैवोपयुक्तकारणादन्यतया शेष[10]शब्देनाभिधानात् । सामान्यतोदृष्टमिति चाकार्यकारणादकार्यकारणस्य । न च 'अस्त्यात्मा उपलब्धेः' इत्यादि सत्तासाधनम् एतेषामन्यतममपि; सामान्यतोदृष्टेऽपि तस्यापक्षधर्मत्वादित्वेनानन्तर्भावात् । तद्गमकत्वस्य च समर्थितत्वात् ।

किञ्च, पूर्ववदादेर्गमकत्वं त्रैरूप्यात्, पाञ्चरूप्याद्वा, तदन्यतरत्रैवाविनाभावपर्यवसानादिति स्वयमभ्युपगमात् ? तथा च यदेतत् पूर्ववतो भाष्यकारेणोदाहरणमुक्तम्–"मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिः" [न्यायभा० १।१।५] इति, तत्कथं गमकम् अपक्षधर्मत्वात् ? नह्यत्र वृष्टेः पक्षत्वम् असिद्धेः, सिद्धौ चानुमानवैफल्यात् । मेघस्य च सिद्धत्वेऽपि न पक्षत्वम्, असाध्याधिकरणत्वात् । न हि वृष्टेस्तदधिकरणत्वं भावित्वात् । यत् पुनरत्र विश्वरूपेण समाधानमुक्तम्–"कारणस्यैव मेघादेः सिद्धत्वात् धर्मित्वं तद्वृष्ट्युत्पादकत्वं साध्यो धर्मः उन्नतत्वादिना तद्धर्मेणैवानुमीयते ।" [ ] इति; तन्न सम्यक् ; न ह्येवमपि कारणे पक्षधर्मत्वस्यावस्थापनमपि तु तद्धर्मे एवोन्नतत्वादौ ।

१ पक्षादिरपि आ०, ब०, प० । २ त्रैविध्यनियम । ३ तस्य प्रत्यक्षं छा– आ०, ब०, प० । भूप्रदेशस्य । ४ –स्य सप– आ०, ब०, प० । ५ न हि तर्हीन प० । ६ –ति प्रभ– प० । ७ –समवायवि– प० । ८ –मित्यादिकस्या– आ०, ब०, प० । ९ द्रष्टव्यम्– न्यायभा०, न्यायवा०, न्यायवा० ता० १।१।५। १० शेषवत्त्वेनाभि– आ०, ब०, प० ।

तदपि न कार्ये साध्ये किन्तु कारणधर्म एव तदुत्पादकत्वे । तथा चान्यत्र प्रश्ने अन्यत्रोत्तरं ब्रुवतः पश्यत विश्वरूपस्य[1] न्यायकौशलम् । भाष्यविरोधस्त्वेवम्–तत्र कारणेन कार्यस्यैवानुमानवचनान्न कारणधर्मेण तद्धर्मान्तरस्य । तेन तदन्तरानुमानमेव कार्यानुमानं भाष्यस्याप्येवमभिप्रायत्वादिति चेत्, कथं पुनः तदुत्पादकत्वस्यानुमानं वृष्टेः ? न तावदभेदात्, कार्यस्य कारणधर्मादवश्यन्तया भेदात् । अविनाभावादिति चेत्; व्यर्थमिदानीं तदुत्पादकत्वस्याप्यनुमानम् उन्नतत्वादितल्लिङ्गज्ञानस्यैव तज्ज्ञानत्वोपपत्तेरविनाभावाविशेषात् ।

लिङ्गज्ञानस्य तत्साध्यज्ञानत्वे प्रलयं व्रजेत् ।
सिद्धयत्यत्रैवानुमानं त्रैविध्यं यत्र कथ्यते ॥१५२६॥

तदुत्पादकत्वात् वृष्ट्यनुमानोपपत्ते तदनुमानमेव वृष्ट्यनुमानमुच्यत इति चेत्, ततोऽपि कथं व्यधिकरणात् तदनुमानम् ? उन्नतत्वादिवत्ततोऽपि कारणधर्मस्यैवापरस्यानुमानेन तदनुमानकल्पनायां चानवस्थापत्तेः । तत्राविनाभावात्तदनुमानमेव वृष्ट्यनुमानम् । तद्विशिष्टत्वादिति चेत्; स्यादेतत् वृष्ट्युत्पादकत्वं वृष्टिविशिष्टम् अतः तज्ज्ञानमेव वृष्टेरपि ज्ञानमिति, तन्न; ततोऽपि भेदस्यानपाकरणात् । नहि तद्विशिष्टमित्येवं तस्य ततोऽनर्थान्तरत्वम्; तद्विशिष्टत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् । तदनपाकरणे तु कथं तज्ज्ञानं तदर्थान्तरस्य विशिष्टस्य विशेषणापेक्षणादिति चेत्; एवमपि भवति तज्ज्ञानाद्विशेषणस्यानुमानं न तु तदेव तस्येति अन्यथा कारणस्यापि कार्यापेक्षत्वात् तज्ज्ञानमेव कार्यस्यापि ज्ञानमिति व्यर्थं पूर्ववल्लिङ्गकल्पनं भवेत् । अनुमानं तु ततस्तस्यानवस्थयैव दत्तोत्तरम् । तन्न तदुत्पादकत्वानुमानमेव वृष्टिपरिज्ञानम् । ततो दुर्भाषितमिदं परस्य–"भविष्यद्वृष्ट्युत्पादकत्वं धर्मो यदानुमितं तदा वृष्टेरनुमानं कथ्यते ।" [ ] इति ।

यदपीदं शेषवत उदाहरणं भाष्ये प्रदर्शितम्–"पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च स्रोतसो [2]दृष्ट्वाऽनुमीयते भूता वृष्टिः [न्यायभा० १।१।५] इति । अत्रापि विश्वरूपेण तात्पर्यमुक्तम् –"नदीशब्दवाच्यो गर्तविशेषो धर्मी तस्य उपरि वृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वं साध्यो धर्मो धर्मिगतेन पूर्णत्वादिना धर्मेणानुमीयते ।"[ ] इति । तत्रापि तदेव वक्तव्यम्–कथं पुनः कार्यधर्मस्यैवानुमानं तदर्थान्तरस्य भूताया वृष्टेरपीति ? अविनाभावादिति चेत्, उक्तमत्र लिङ्गज्ञानस्येत्यादि । ततः पुनस्तदनुमानेऽप्यभिहितमेवानवस्थानं विशिष्टस्य तद्धर्मस्य तद्वृष्टिविशेषणापेक्षत्वादित्यपि प्रतिविहितम् 'एवमपि' इत्यादिना । तन्न उपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वपरिज्ञानमेव भूतवृष्टिपरिज्ञानमप्युपपन्नम् ।

यदपि सामान्यतोदृष्टस्य भाष्ये प्रतिपादितम्–आदित्यव्रज्यानुमानमुदाहरणप्रतिनियतत्वेनावस्थाप्य [4]स्वयमुदाहरणमुक्त रूपेण स्पर्शानुमानमिति; तत्रापि पक्षधर्मत्वादिकमपेक्षितव्यम्, अन्यथाऽविनाभावाभावेन गमकत्वायोगात् । सत्यम्, अपेक्ष्यत एव, रूपमिदं स्पर्शाविनाभाविरूपत्वात् प्रतिपन्नरूपवदिति तदर्थान्तरप्रवृत्तेरिति चेत; तर्हि तदेवात्रापि वक्तव्यम्–कथन्नाम रूपस्य स्पर्शाविनाभावित्वस्य परिज्ञानं तदर्थान्तरप्रवृत्तेरिति

१ –ष्टस्यै– आ०, ब०, प० । २ कारणज्ञानमेव । ३ दृष्ट्वावनुमी– आ०, ब०, प० ।
४ विश्वरूपेण ।

न्तरस्य स्पर्शस्येति ? अविनाभावादेः पूर्ववदेव प्रत्यवस्थानम् । भवतोऽपि कथं धूमोऽयमग्निमान् धूमत्वादित्यग्निमत्त्वज्ञानमेवाग्निज्ञानमिति चेत् ? अग्नितद्धर्मविषयतया लिङ्गादेव तस्योत्पत्तेः । न चैवं भवन्मते सम्भवति, लिङ्गस्य अन्यपेक्षया व्यधिकरणत्वेनापक्षधर्मत्वात् । स्याद्वादिमते तु अपक्षधर्मस्यापि गमकत्वात् । न चाविनाभावस्य पक्षधर्मत्वादावेव पर्यवसायः; 'सन्ति प्रमाणानि इष्टसाधनात्, उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादौ तदभावेऽपि भावात् । तन्न कारणादिभेदेन लिङ्गत्रैविध्यस्य सम्भव इति ।

वार्तिककारेण तु 'पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टम्' इत्येतदेवं[2] त्रिसूत्रीकृत्य तद्विषयतया अन्वय्यादिभेदेन त्रैविध्यं लिङ्गस्योक्तम्[3] । तत्र पूर्ववच्छेषवदित्येकं सूत्रम् । पूर्वशब्दः पक्षवाची पक्षस्यैव [4]कथात्रयेऽपि पूर्वमभिधीयमानत्वेन पूर्वत्वात्, स[5] व्याप्त्या विद्यतेऽस्येति पूर्ववत् पक्षे विद्यमानमित्यर्थः । शेषः सपक्षः तस्यैव लिङ्गाङ्गत्वेन प्रस्तुतयोः पक्षसपक्षयोः पक्षस्योपयोगे सत्युद्धरितत्वेन[6] शेषत्वोपपत्तेः स विद्यतेऽस्येति शेषवत्, सपक्षे देशतः कार्त्स्न्यतो वा विद्यमानमिति यावत् । अनेनान्वयी हेतुरुक्तः । पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टमिति द्वितीयम् । पूर्ववदिति व्याख्यातम् । विपक्षे सामस्त्येनान्यथा वा यन्न दृष्टं तत् सामान्यतोऽदृष्टम् अनेन व्यतिरेकिसाधनमभिहितम् । पूर्वव-च्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्टमिति तृतीयम्, अनेन चान्वयव्यतिरेकीति । तत्र सपक्षैकदेशवृत्तेरन्वयिन उदाहरणम्–परमाण्वादयः कस्यचित् प्रत्यक्षाः सत्तासम्बन्धित्वात् घटादिवत् । [7]तद्वृत्तित्वं चास्य घटादावेव सपक्षे भावात्, सपक्षेऽपि सामान्यादौ विपर्ययात् । न चेदमत्राशङ्कनीयम्–'[8]त्रैरूप्यादेरत्रास-मग्रत्वादहेतुत्वमन्वयिन इति; 'तत्समग्रताया अन्वयव्यतिरेकिण्येवाभ्युपगमात्, इतरयोस्तु यथास-म्भवं तदुपगमात् । अत एव चित्रभानोर्वचनम्–"[9]अन्वयादीनि रूपाणि साकल्येन अन्य-तमवैकल्येन वा यत्र सन्ति तदनुमानम्" [ ] इति । तत्रोच्यते–यद्यन्वयिनोऽ-विनाभावो नास्ति कथं गमकत्वं व्यभिचारसम्भवात् ? अथास्ति; क्व तस्य प्रतिपत्तिः ? पक्षधर्म एव तस्या-बाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वाभ्यां प्रतीयमानस्याविनाभावितयैव प्रतिपत्तेरिति चेत्; न किञ्चिदिदानीं सपक्षे सत्त्वेन ? अविनाभावाधिगमादेव हेतोर्गमकत्वात् । तस्य च विनैव तेन भावात् । भवतु [10]सपक्षे सति तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, न तत्राप्यन्वयस्यैव सति सत्त्वलक्षणस्य प्रतीतेर्नाविनाभावस्य । न चान्वय एवाविनाभावः असत्यसत्त्वस्य [11]तत्त्वात्, अभावस्य च भावभेदिन एवाभ्युपगमात् । अथाबाधितविष-यत्वादिकमेव अविनाभावित्वम्, तच्चान्वयिनः स्वरूपमेव, ततः सपक्षे तत्प्रतिपत्तिरेवाविनाभावित्वस्यापि प्रतिपत्तिरिति; तत्रोच्यते–किं तद्विषयत्वादिना तस्याक्षेपात्तदेव तदित्युच्यते, किं वा ततोऽर्थान्तरं तत्रेति ? प्रथमविकल्पे [12]कथमाक्षिप्ताविनाभावस्यैवान्वयस्य प्रतीते अन्वयव्यतिरेक्येवायं हेतुर्न भवेत् ? अविनाभा-

१ मतेनास्वनह्न– आ०, ब०, प० । २–व सू– आ०, ब०, प० । ३ "त्रिविधमिति अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति"–न्यायवा० पृ० ४० । तुलना–"तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यान-मनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन "–त० श्लो० पृ० २०६ । प्रमेयक० पृ० ३६२ । ४ वादजल्पवितण्डा-लक्षणकथात्रयेऽपि । तयाऽत्र योपि आ०, ब०, प० । ५ सत्वन्या– आ०, ब०, प० । ६ अवशिष्टत्वेन । ७ सपक्षैकदेशवृत्तित्वम् । ८ तत्र सम– आ०, ब०, प० । ९ अन्वय्यादी– ता० । १०–क्षे तत्प्र– आ०, ब०, प० । ११ अविनाभावत्वात् । १२ कथमाक्षिप्तौ वि– आ०, ब०, प० ।

वस्य व्यतिरेकित्वात् । अन्वयिनि तदाक्षेपरहिते निदर्शनान्तरे तदप्रतिपत्तेरिति[1] चेत्; अन्वय्यपि न भवेत् घटादौ अनाक्षिप्तव्यतिरेके अन्वयस्याप्यप्रतिवेदनात् । अन्वयस्य प्राधान्यात् अन्वय्येवायमिति चेत्; न; साध्यप्रतिपत्तावविनाभावस्यैव प्राधान्यात्, सत्येव तस्मिन् व्यभिचारनिवृत्तेर्निर्णयात् । तदाक्षेपकत्वेन दृढमन्वयस्यैव प्राधान्यमिति [2]चेत्, अस्तु तर्हि पक्षधर्मस्यैव प्राधान्यम्, असति तस्मिन् अन्वयस्याकिञ्चित्करत्वात् । ततो न तदाक्षेपात् तदेव तदित्युपपन्नम् । नापि ततोऽर्थान्तरं तन्नेति; व्यतिरेक्यादौ अर्थान्तरस्यैव तस्य भावात् । विपक्षव्यावृत्तिरूपं खल्वविनाभावित्वमेव तत्र व्यतिरेकः । तच्चाबाधितविषयत्वादेः अर्थान्तरमेव, अन्यथा रूपभेदेन लिङ्गलक्षणत्वानुपपत्तेः । तत्राप्यबाधितविषयत्वादिकमेवाविनाभावित्वं विपक्षव्यतिरेकस्तु तन्निर्णयार्थ एवेति चेत्; कुतस्ततस्तस्य निर्णयः ? सति तस्मिन् तस्यावश्यम्भावात्; तर्हि साध्यस्यैव स्यात् तदविशेषात्, तत्किमन्तर्गडुनाऽबाधितविषयत्वादिना साध्यसद्भावनियमाभावे तस्यापि दुर्लभत्वात् । ततस्तस्मादर्थान्तरमेवाविनाभावित्वम्, तस्य चान्वयिन्याक्षेपे अन्वयव्यतिरेकित्वमेव तस्य नान्वयित्वम् ।

असिद्धत्वाच्च[3] । तच्च अर्थान्तरस्य सत्तायास्तत्सम्बन्धस्य च प्रतिक्षिप्तत्वात् । सिद्धस्यापि न गमकत्वं व्यभिचारात् । स[4] च तेनैव प्रत्यक्षेण, यद्विषयत्वं साध्यं परमाण्वादीनाम्, सत्यपि तस्य[5] तत्सम्बन्धित्वे प्रत्यक्षत्वाभावात् । प्रत्यक्षमेव तदप्यन्येन प्रत्यक्षेणेति चेत्; तेन तर्हि व्यभिचारः स्यात् । तस्यापि तदन्तरेण प्रत्यक्षत्वे तदेव वक्तव्यमनवस्थानं च । तेन सर्वस्य[6] प्रत्यक्षत्वम्, तस्य त्वन्येन तन्नानवस्थानमिति चेत्; न; तेन स्वविषयस्य प्रत्यक्षत्वे स्वरूपवेदनप्रसङ्गात् । [7]न हि स्वरूपमप्रतिपद्यमानं तद्विषयतया परं प्रत्यक्षयितुमर्हति । भवतु तर्हि स्वत एव तस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेत्; न; स्वसंवेदनस्यासन्निकर्षजत्वेनाप्रत्यक्षत्वे ततः कस्यचित् प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । परप्रसिद्ध्या प्रत्यक्षमेव स्वसंवेदनं स्पष्टावभासित्वादतो न व्यभिचार इति चेत्; [8]स्वप्रसिद्ध्या तर्हि तदभावाद्व्यभिचारश्चेति दुस्तरं व्यसनमापतितम् । तन्नेदमुदाहरणमुपपन्नम् ।

यदप्यन्वयिनः [9]सपक्षव्यापिनस्तदुपदर्शितम्—परमाण्वादयः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् कुम्भादिवदिति; तदपि न युक्तम्; व्यभिचारस्य तत्राप्यविशेषात् । अपि च, यदि [10]प्रमितिरेव प्रमेयत्वम्; न पक्षधर्मत्वम्, तस्याः प्रमातृनिष्ठत्वेन परमाण्वादिष्वभावात् । तत्सम्बन्धः तदिति चेत्; तस्य यदि प्रत्यक्षत्वेऽपि न प्रमेयत्वं न सपक्षव्यापित्वं प्रमेयत्वे[11] तत्राप्यपरस्तत्सम्बन्धः तस्यापि प्रमेयत्वे[12] पुनरपरस्तत्सम्बन्धः इत्यपर्यवसायी तत्सम्बन्धः प्राप्नुयात् । न चैवं प्रतीतिः प्रमेयत्वस्यानवस्थितेः । अथ स एव न स्वप्रमितिसम्बन्धं तेषां प्रतिपद्यते यतोऽयं प्रसङ्गः, अपि तु पर एव, तेनापि स्वतत्सम्बन्धस्य न प्रतिपत्तिः, ततोऽपि परेणैव प्रतिपत्तेरिति; तन्न; स्वयमप्रमितस्याज्ञातासिद्धत्वप्रसङ्गात्[13] । अस्त्येव वादिना परमाण्वादिषु तस्य प्रतिपत्तिस्तत्सम्बन्ध एव तस्य तेनाप्रतिपत्तिरिति चेत्;

१– त्तिरि–आ०, ब०, प० । २ चेत्तर्हि आ०, ब०, प० । ३– च्च तदर्था– आ०, ब०, प० । ४ व्यभिचार. । ५ कस्यचित् प्रत्यक्षत्व । ६ वस्तुनः । ७ तर्हि आ०, ब०, प० । ८ परप्र– आ०, ब०, प० । ९ स्वप–आ०, ब०, प० । १० प्रमितेरेव प० । ११–यत्वात् आ०, ब०, प० । १२– त्वेन पु– आ०, ब०, प० । १३ –द्धस्यासिद्धत्वप्र– आ०, ब०, प० ।

न; पक्षीकृते[1] तत्रापि तदप्रतिपत्तौ तदवस्थत्वात् भागतस्तदसिद्धत्वस्य। तदपक्षीकरणे तु नात्र कस्यचिदिति सर्वदर्शी निर्दिष्टः स्यात्। भवतु कस्यचित् सातिशयज्ञानस्य योगिन एव तथानिर्देश इति चेत्; न; अत्रापि व्यभिचारसम्भावनस्यानिवृत्तेः। शक्यं हि वक्तुं यथा तस्य विद्यमानोऽपि तत्सम्बन्धो न प्रत्यक्षस्तथा परमाण्वादयः प्रमेया अपि [2]विरोधाभावात्, कुम्भादौ विद्यमानस्यापि साध्यान्वय[3]स्याप्रतिपत्तेरविशेषात्। ततो योगिनोऽपि स प्रत्यक्ष एव वक्तव्यः इति तस्याप्रमेयत्वे न सपक्षव्यापित्वम्। प्रमेयत्वेऽपि तस्य स्वयमप्रमितौ भागासिद्धत्वम्। प्रमितौ पुनः तत्सम्बन्धस्यापि स्वयमेव प्रमितिः पुनरपि तत्सम्बन्धस्येति कथन्न तस्यापर्यवसायिन एव प्राप्तिः ? पर्यवसाने वा तद्वर्तिनस्तस्याप्रमेयत्वमेव प्रत्यक्षत्वेऽपीति न सपक्षव्यापित्वमस्य।

यदपि व्यतिरेकिण उदाहरणमुपपादितम्[4]—नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्, यत्तु निरात्मकं न तत्प्राणादिमत् यथा लोष्ठादि, प्राणादिमच्च जीवच्छरीरम्, अतो निरात्मकं नेति; तत्र [5]यद्यात्मा न प्रतिपन्नः कथं 'यत्र नैरात्म्यं न तत्र प्राणादि' इति तन्निवृत्त्या प्राणादिनिवृत्त्युपदर्शनम् ? अप्रतिपन्नस्य निवृत्त्युदर्शनायोगात्। प्रतिपन्नश्चेदन्यतः, व्यर्थमिदम्, अतोऽपि तत्प्रतिपत्तेरेव साध्यत्वात्। उपायवैचित्र्यान्न दोष इति चेत्; भवेदेव यदि तदनपेक्षयैवायमुपायः स्यात्, न चैवं तदपेक्षयैवात्राप्यात्मनिवृत्त्युपदर्शनात्। अत एव तु तत्प्रतिपत्तौ भवति परस्पराश्रयः—सत्यामतस्तत्प्रतिपत्तौ व्यतिरेकनिर्णीतिः, ततश्च तत्प्रतिपत्तेः। अथ मा भूत् तत्प्रतिपत्तिः, तथापि भवितव्यं तेन विशेषेण यो लोष्ठादौ स्वनिवृत्त्या प्राणादीन्निवर्तयति। स्वरसतस्तन्निवृत्तौ जीवच्छरीरेऽपि प्रसङ्गात्। तस्यैव चेह साध्यत्वम्, आत्मव्यपदेशस्यापि तत्रैव करणादिति, तदपि न युक्तम्; चार्वाकदृष्ट्या भूतपरिणामस्य सौगतकल्पनया चित्तसन्तानस्य च तद्विशेषस्य सम्भवात्। तस्य निषेधात्तदन्य एव स विशेष इति चेत्; तन्निषेधोऽपि यदन्यत्वमात्रे पर्यवसितः, तस्यैव तन्निवर्तकत्वं नाभिमतस्य। अतत्पर्यवसायित्वे तु सिद्धस्तत एवात्मेति तदवस्थमस्य वैयर्थ्यम्। नन्वतःप्रतीतस्यैव तन्निषेधादपि विशेषावधारण तत्कथमस्य वैयर्थ्यमिति ? तन्न; तथापि साक्षादस्य तत्प्रतिपत्तावनुपायत्वात्। अथ अत एव तन्निषेधसहितात्ततस्तत्प्रतिपत्तिः; न तर्हि पूर्वं विशेषमात्रस्य परिज्ञानमिति कथं निषेधावतारः ? तस्य तत्परिज्ञाने पुनस्तद्विशेषप्रतीक्षायामेवोपपत्तेः। कथं वा तत्सहायादपि अतस्तत्प्रतिपत्तिः ? कथं च न स्यात् ? स्वनिवृत्त्या लोष्ठादौ प्राणादिनिवर्तकस्यैव तदुपपत्तेः। न च भवदनुमतस्य तत्रापि निवृत्तिः सर्वगतत्वात्। स्वरूपतस्तदभावेऽपि सम्बन्धविशेषतोऽस्त्येव सेति चेत्; तस्यैव तर्हि साध्यत्वं निवर्तकत्वात्, नात्मनः। सत्यमिदम्, तस्यैवात्मशरीरसंयोगभेदात्मनो जीवच्छरीरे साधनादिति चेत्; कथमात्मनि विप्रतिपत्तौ तमसाधित्वा[7] तद्विशेषस्य साधनम्, आम्रान् पृष्टस्य [8]कोविदाराख्यानवदुपपन्नम् ? अप्रस्तुताभिधानेन निग्रहावाप्तेश्च। विप्रतिपत्तिरपि तत्रैवेति चेत्; न, तथाप्यात्मन्यसाधिते तत्साधनस्यायोगात्। आत्मगतो हि धर्मस्तत्सिद्धावेव शक्यसाधनो नान्यथा।

---

१ पक्षेकृते आ०, ब०, प०। २ विरोधात् आ०, ब०, प०। ३– न्वयप्र– आ०, ब०, प०। ४ "नेद निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्"। न्यायवा० पृ० ४६। ५ यद्यात्मनाप्र– आ०, ब०, प०। ६ निवृत्तिः। ७ तमसावहितत्वात्त– आ०,ब०,प०। ८ 'कचनार' इति भाषायाम्।

प्रमाणान्तरावगतत्वादात्मनो नायुक्तं तत्साधनमिति चेत्; न; तथाप्यतिप्रसङ्गात् । तथा हि–यथा प्राणादेर्घटादिव्यावृत्तस्य दर्शनाज्जीवच्छरीरे तद्विशेषस्य साधन तथा बालशरीरादिव्यावृत्तस्य विशेषतारतम्याधिष्ठानस्य[1] तस्य युवादिशरीरे दर्शनात् पूर्वपूर्वविलक्षणैः सम्बन्धविशेषस्तत्र साधयितव्यः प्राप्नुयात् । प्राप्नोतु न कश्चिद्दोष इति चेत्; शास्त्रं तर्हि न्यूनं प्राप्तं तथा तस्यानिरूपणात् । न प्राप्त[2] प्रकृतविशेषनिरूपणादेव तस्यापि तज्जातीयत्वेनाभ्यूहोपपत्तेरिति चेत्; आत्मनिरूपणादेव तर्हि प्रकृतस्यापि तद्धर्मत्वेनाभ्यूहात्तन्निरूपणमपि न भवेत् । तदपि न क्रियत एव प्रज्ञाशालिनं प्रति मन्दानुग्रहायैव तत्करणादिति चेत्; तदर्थं तर्हि परापरस्यापि तत्साधनस्य निरूपणं कर्तव्यमिति कथं शास्त्रमतत्करणात् न्यूनमेव न भवेत् ? कुतश्चासौ तद्विशेषो जीवच्छरीरे एव न लोष्टादावपि तत्कारणस्यात्मनस्तत्रापि भावात् ? न ह्यविकले कारणे कार्यानुत्पत्तिः, नित्यस्य सहकारिप्रतीक्षायाश्च प्रतिक्षेपात् । तन्नेदं व्यतिरेकिलिङ्गमुपपन्नम् ।

यदप्यन्वयव्यतिरेकिणः सपक्षैकदेशवृत्तेरुदाहरणम्[3]–अनित्यः शब्दः [सामान्यवत्त्वे सति] अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् कुम्भवदिति; तत्र कः पुनरसौ अस्मदादिः ? आत्मैव संसारीति चेत्; किं तस्य बाह्यकरणेन कर्तव्यं यतस्तेन [4]विशिष्येत ? विषयोपलब्धिरिति चेत्; सापि[5] तस्येति कुतः सम्बन्धात् ? समवायादिति चेत्; तस्य यदि सम्बन्धत्वमेव रूपम्; समवायादिति निर्विषया श्रुतिरर्थाभावात् । सम्बन्धत्वस्यैव तादर्थ्ये पौनरुक्त्यम् । यदि पुनः समवायशब्दावाच्यमन्यदेव तस्य रूपम्; तदपि न युक्तम्; सम्बन्धश्रुतौ पूर्ववद्दोषात् । कुतश्चैवं तस्य प्रतिपत्तिः ? इहेदंप्रत्ययत्वात् [6]लिङ्गादिति चेत्; क तस्य तेन व्याप्तिः ? इह कुण्डे दधीति प्रत्यय इति चेत्, न; तस्य संयोगादेव भावात्, तस्य च समवायविलक्षणत्वात् । अविलक्षणत्वमपि सम्बन्धत्वेनेति चेत्; अस्ति तर्हि तत्र सम्बन्धत्वं साधारणं च समवायशब्दवाच्यं रूपम् । तयोश्च कस्तत्र सम्बन्धः ? समवाय एवेति चेत्; न; तस्यैकस्यैवोपगमात् । अनेकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । संयोग इति चेत्, न; तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, समवायतद्रूपयोश्चाद्रव्यत्वात् । तद्विशेषणत्वमिति चेत्; न; तस्य सम्बन्धायत्तत्वेन स्वयमसम्बन्धत्वात् दण्डादिवत् । सम्बन्धत्वेऽपि तस्य समवायतद्रूपाभ्यामन्यत्वे कुतस्तयोरिति व्यपदेशः ? पुनरप्यन्यतः तद्विशेषणत्वादिति चेत्; कथमनवस्थातो निर्मुक्तिः ? भवत्वभेद एव तत्र तयोः सम्बन्ध इति चेत्; न; तस्याप्येकान्तेन भावे स एवेहेति दोषात्, अनेकान्तस्य च भवद्भिरनभ्यनुज्ञानात् । व्यर्थं तर्हि तत्र समवायो नाम सम्बन्धो येनास्मदादेस्तदुपलब्धिः । [7]तत्कार्यत्वात् सा तस्येति चेत्; सापि द्वयोरेव स्यात् न बाह्यकरणम्, अस्मदादेरेव तद्भावात् । ततोऽपि [8]तत्सहायादेव न केवलादिति चेत्; केवलस्य । एवञ्च–

१– स्य यु– आ०, ब०, प० । २–प्ताःस– आ०, ब०, प० । ३ "अनित्यः शब्द सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् ।" –न्यायसा० पृ० ६ । ४ विशेष्येत आ०, ब०, प० । ५– पि क्व त– आ०, ब०, प० । ६ "इह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययः सम्बन्धपूर्वकः इहेदंप्रत्ययत्वात् इह कुण्डे दधीति प्रत्ययवत्" –ता० टि० । ७ अस्मदादिकार्यत्वात् उपलब्धिः अस्मदादेः । ८ बाह्यकरणसहायादेव ।

द्वयोरेवोपलब्धृत्वं न प्रत्येकं तथा सति ।
जीव एवोपलब्धेति व्यवहारः कथं भवेत् ? ॥१५२७॥
तत्रैव समवायाच्चेदुपलब्धेर्न तत्कृतेः ।
कारणत्वाविशेषात् स करणे[2]ऽपि कुतो न वः ? ॥१५२८॥
केवलस्यैव हेतुत्वं [3]तस्मात्तस्योपवर्ण्यताम् ।
उपलब्धौ ततः प्राप्तं वृथैव करणं बहिः ॥१५२९॥
हेतुत्वादपि तस्योपलब्धिस्तन्न व्यवस्थिता ।
तत्कथं तत्कृते तस्य करणं[4] बाह्यमुच्यताम् ? ॥१५३०॥

तस्मादस्मदादिसम्बन्धविशिष्टस्य बाह्यकरणस्यासम्भवात् असिद्धमेव तत्प्रत्यक्षविषयत्वं लिङ्गमिति कथमस्यान्वयव्यतिरेकित्वम् ? सिद्धस्यैव तदुपपत्ते ।

यदपि सपक्षव्यापिनस्तस्योदाहरणम्--अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटादिवदिति । तद्व्यापित्वे चास्य सर्वत्रानित्ये भावात् । पूर्वकस्य तु तदेकदेशवृत्तित्वं चानित्यत्वेऽपि बुद्ध्यादावविद्यमानत्वादिति प्रतिपत्तव्यमिति । अत्रोच्यते--नास्य सपक्षव्यापित्वम्; अनित्येऽपि प्रागभावे भावात् । नित्य एव स इति चेत्; कुतः कार्यकालेऽपि नोपलब्धि ? तस्याः कार्येण प्रतिबन्धादिति चेत्; न; विषयस्य तज्जननशक्तौ तदयोगात् । कार्यमपि प्रतिबन्धे शक्तमेवेति चेत्; उभयं तर्हि युगपत्प्रासमुपलब्धिस्तत्प्रतिबन्धश्चेति । न चैतन्न्याय्यं व्याघातात् । शक्तिरेव तेन तस्य प्रतिबध्यते इति चेत्; सिद्धं तर्हि तस्यानित्यत्वं शक्तिप्रतिबन्धस्यैव तत्प्रतिबन्धत्वात् तस्यास्तदव्यतिरेकात् । व्यतिरेके शक्तिशक्तिमद्भावस्य प्रतिषेधादिति कथन्न सपक्षैकदेशवृत्तित्वमस्यापि । न चास्य गमकत्व प्रध्वंसेन व्यभिचारात्, त कृतकत्वेऽप्यनित्याभावात् । किं पुनरस्य कृतकत्वमिति चेत् ? प्रागसतः कुतश्चिदात्मलाभ घटादिवत् । प्रागसतः सत्तासम्बन्ध एव कृतकत्वं नात्मलाभ इति चेत्; नः अनात्मलाभे तत्सम्ब स्यायोगात् तस्य द्विष्ठत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेः । [5]सत्यात्मलाभे किं तेन भावव्यवहारस्य तावता सिद्धे चेत्; यद्येवं जानासि निर्मुच्यतां तत्र निर्बन्धः । कथमर्थान्तरसत्तासम्बन्धाभावे सन्ति द्रव्याद विशिष्टप्रत्ययो दण्डीत्यादेरर्थान्तरदण्डसम्बन्धनिबन्धनस्यैव तस्य दर्शनादिति चेत्; न; तत्रापि तन्नि त्वस्य प्रतिक्षिप्तत्वात् । कथं वा [6]तत्सम्बन्धे सत्प्रत्ययः ? तत्र [7]तदन्यस्याभावात् अनवस्थापत्तेः । चायम्--अस्ति सत्तासम्बन्ध इति भवतां व्यवहारात् । उपचारादयं तत्रेति चेत्; किं पुन[8] नास्त्येव ? तथा चेत्; कथं विशेषणम् ? स्वरूपतो विद्यमानत्वादिति चेत्; ननु स्वरूपतो इत्यपि विशिष्टप्रत्यय एव, अर्थान्तरव्यवच्छेदेन तद्विद्यमानत्वस्य स्वरूपेण विशेषणात् । त द्रव्यादिष्वपि विशिष्टप्रत्ययादर्थान्तरसत्तासिद्धिः ? अनेन व्यभिचारात् । तत्र सत्तासम्बन्धः आत्मलाभस्यैव तत्त्वात् । तथा च कृतक एव प्रध्वंसः कारणादात्मलाभात् । भवत्वनित्य

---

१ उपलब्धा ज्ञाता ज्ञायकः इति यावत् । २ कारणे--आ०, ब०, प० । ३ . ब०, प० । ४ कारणं आ०, ब०, प० । ५ तस्यात्म-- आ०, ब०, प० । ६ सत्तासम्बन्धे सत्तासम्बन्धस्य । ८ प्रध्वंसः ।

चेत्; न तर्हि मुक्तेर्नित्यत्वं तस्या अपि सकलवैशेषिकगुणविच्छित्तिरूपायाः प्रध्वंसत्वात्। तथा च कथं तदर्थितया प्रेक्षावतां तत्त्वज्ञानाधिगमाय प्रवृत्तिर्यतः शास्त्रप्रणयनं फलवद्भवेत्? अस्त्वेव निर्वाणस्याप्यनित्यत्वं तथापि न संसारस्योन्मज्जनं तदनित्यत्वस्यापि तद्विरोधादिति चेत्; न, तद्विरोधिविरोधिनः तद्विरोधित्वानुपपत्तेः। तस्य हि संसारस्य विरोधि निर्वाणं तद्विरोधि चानित्यत्वं कथन्नाम संसारस्य विरोधि स्यात्? अन्यथा नैरात्म्यविरोधिनस्तत्प्रतिषेधस्य आत्मविरोधित्वमपि स्यादिति कथमात्मसिद्धिः? मा भूच्च भवतां व्यतिरेकलिङ्गोपक्रमेण तत्साधनप्रवृत्तिः, साधितेऽपि तस्मिन् आत्मसिद्धेः तस्य तद्विरोधित्वेनाभावात्। तथा च कथं चित्रमता उक्तम्–"शरीरादौ च तद्विरहप्रतिषेधात् स एव प्रसिद्ध्यति प्रतिषेधस्य प्रतिषेधाद्विधिस्वभावैः सत्त्वात् (स्यात्)" [ ] इति? ततो यथा तत्प्रतिषेधस्य नात्मना विरोधः तद्विरोधित्वात् तथा निःश्रेयसस्यानित्यत्वस्यापि संसारेणेति भवितव्यमेव तदा तदुन्मज्जनेन। तदनिच्छता च न प्रध्वंसस्यानित्यत्वमभ्युपगन्तव्यमिति स्यादेव तेन व्यभिचारात् अस्यागमकत्वम्। तन्न अन्वय्यादयोऽपि हेतवः।

नापि तथा त्रैविध्यनियमः, उन्नामादीनामपूर्वत्वेन तत्रानन्तर्भावात्। पूर्ववतामेव स्वयमन्वय्यादीनां व्याख्यानात्।

भवतु तर्हि वीतादिभेदेन तन्नियमः। वीतं [3] हि नाम विधिमुखेन साध्यसाधनम्, अवीतं प्रतिषेधपरम्, उभयपरं च वीतावीतमिति, न चान्ययोन्नामादीनामपि तत्साधनं सम्भवतीति चेत्; तन्न; वीतेन विपक्षस्याप्रतिषेधे पक्षस्याप्यसिद्धेः, निराकृतप्रतिपक्षतया सिद्धस्यैव पक्षस्य सिद्धत्वोपपत्तेः, अन्यथा कुतश्चिज्ज्वलादेः सिद्धावपि तद्विपक्षसद्भावाशङ्कया तदर्थिनामपि तत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, प्रतिवादिनश्च पराजयाभावापत्तेः। प्रतिषिद्धप्रतिपक्षत्वं तस्य अवीतादवगम्यत इति चेत्; न तर्हि वीतस्य हेतुत्वम्, अवीतादेव विशिष्टस्य साध्यस्य सिद्धेः। न चैवं तस्याप्यवीतत्वम्, प्रतिषेधाधिष्ठानतया विधिमुपस्थापयतो वीतत्वस्यैवोपपत्तेः। किं वा वीतत्वादिभेदकथनेन कर्तव्यं गमकत्वस्यान्यथानुपपन्नत्वादेवोपपत्तेः। सत्यम्, न तदर्थं तत्कथनम्, अपि तु व्यापारभेदेन लिङ्गभेदप्रतिपादनार्थमिति चेत्; न, तथापि त्रैविध्यस्यानवस्थानात्। त्रिविधस्य सतः कालभेदापेक्षया नवविधत्वस्य, नवविधस्यापि पुनरव्युत्पन्नसन्दिग्धविपर्यस्तरूपप्रतिपाद्यापेक्षया सप्तविंशतिविधत्वस्यापि सम्भवात्। तन्निबन्धनं भेदमनपेक्ष्य व्यापारमात्रकृतेन भेदेन त्रैविध्यमुच्यत इति चेत्; तमप्यनपेक्ष्य अन्यथानुपपत्तिनिबन्धनमेकविधत्वमेव तर्हि वक्तव्यम्। विस्तरेण शिष्यव्युत्पादनस्य नवविधत्वसप्तविंशतिविधत्वाभ्यामपि सम्भवात्। तन्न वीतादिभेदकल्पनमप्युपपन्नम्।

तथा संयोग्यादिभेदकल्पनमपि, तत्रापि प्रागुक्तहेतूनामनन्तर्भावात्। न हि कृत्तिकोदयः शकटोदयस्य संयोगी; कालव्यवधानेन परस्परमप्राप्तेः। यदपि संयोगिन उदाहरणं [4] वह्नेर्धूम इति,

१ तद्विरोधिनः आ०, ब०, प०। २– त्वादिति ता०। ३ "अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्"– सां० त० कौ० का० १-५। ४ "तथा धूमोऽग्नेः संयोगी"– प्रश० व्यो० पृ० ५७२।

तदपि न युक्तम्; विभिन्नान्तरालादपि तस्मादविनाभावनिर्णये पर्वतशिरसि पावकस्य प्रतिपत्तेः[1]। [2]तद्व्यवधानादेव नासौ[3] तस्य[4] समवायी। यत्पुनरत्रोदाहरणम्–समवायी गोर्विषाणमिति[5]; तन्न युक्तम्, विषाणे गोसमवायस्य निषिद्धत्वात्। अनिषेधेऽपि गवयादावपि तद्भावेन व्यभिचारात्। नायं दोषोऽवधारितविशेषस्यैव गमकत्वादिति चेत्; न; समवायित्वादेव तदवधारणासम्भवात्। अन्यतस्तत्सम्भवे च तत एव गमकत्वात् किं समवायित्वेन? यदप्युदाहरणान्तरं समवायी शब्द आकाशस्येति; तदपि न युक्तम्; शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वेनाकाशसमवायस्य प्रतिषेधात्। कथं वा तत्र तत्समवाये[6] तद्विकल्पमप्याकाशम्? व्याप्त्या तत्र तस्यासमवायादिति चेत्; कथमव्याप्तिः? तदवष्टब्धादन्यस्याकाशरूपस्याभावात्। तदवष्टम्भोऽपि[7] तत्प्रदेशस्यैवेति चेत्; न; प्रदेशवत्त्वे तस्य कार्यत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात् घटादिवत्। न चैतदिष्टम्, "द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना[8] व्याख्याते।" [वैशे० २। १। २८] इत्यस्य व्याघातात्। न व्याघातः कल्पनयैव प्रदेशोपगमादिति चेत्; प्रदेशस्यैव तर्हि तदवष्टब्धस्य लिङ्गं[9] शब्द इति न युक्तमिदं सूत्रम्–"शब्दो लिङ्गमाकाशस्य" [वैशे० २। १। २७] इति, प्रदेशस्यानाकाशत्वात्।

यदप्येकार्थसमवायिलिङ्गस्योदाहरणमुक्तम्–रूपं स्पर्शस्य एकार्थसमवायिलिङ्गम्। एकत्र कारणे तेजस्पर्शे तत्कार्ययोः साधनसाध्ययोः रूपस्पर्शयोः समवायात्, पाण्यादिकं वा पादादेर्लिङ्गम्, एकस्य तत्कार्यस्यार्थस्य शरीरस्य तयोः समवायादिति; तदपि न युक्तम्; रूपात्तेजसि स्पर्शवत् गन्धादेरप्यनुमानापत्तेः, तेनापि तस्यैकार्थसमवायित्वस्य पृथिव्यादावुपलम्भात्। तस्य तत्रासम्भवदनुभवत्वान्नेति चेत्; न; तादृशस्यापि उष्णस्पर्शस्य सुवर्णादावनुमितेः। तज्जातीये सम्भवदनुभव एव स इति चेत्; समानं गन्धादावपि, पृथिव्यादौ तस्यापि तथाविधत्वात्। कुतः पुनः पृथिव्यादेस्तज्जातीयत्वमिति चेत्? तेजसोऽपि हेमजातीयत्वं कुतः? भासुराद्रूपादिति चेत्; रूपमात्रादितरस्यापि स्यात्। नन्वेवं वाय्वादावपि स्पर्शादिव गन्धादेरप्यनुमानोपपत्तेः कथं पृथिव्यादिभेदेन भूतानां चातुर्विध्यमिति चेत्? न; उद्भवापेक्षया तदुपपत्तेः। यत्र हि स्पर्शस्यैवोद्भवः स वायुः, यत्र तु सरूपस्य तत्तेजः, सरूपरसस्य ता आपः, यत्र सरूपरसगन्धस्य सा पृथिवीति। ततो न युक्तमिदम्–"रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च तेजो रूपस्पर्शवत् स्पर्शवान्।" [वैशे० २।१।१-४] इति, रूपादीनां सर्वेषामपि सर्वत्र भावात्।

यदपि पाण्यादिकं पादादावेकार्थसमवायिलिङ्गमुक्तम्; तदप्यनुपपन्नम्; व्यभिचाराभावेऽपि पाण्यादेः सम्भवात्। यदेव निश्चिताव्यभिचारं तदेव लिङ्गम्; अत एव न रूपाद् गन्धादेरनुमानं स्पर्शाव्यभिचारस्यैव तत्रापि निश्चयादिति चेत्; न, एकार्थसमवायात्तन्निश्चये[11]परित्यागात्। अन्यतस्तन्निश्चये तत्समवायकल्पनवैफल्यात्। न तन्निश्चयार्थं संयोग्यादित्व-

1 प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। 2 कालव्यवधानादेव। 3 कृत्तिकोदयः। 4 शकटोदयस्य। 5 म विशिष्ट विषाणम्। 6 शब्दसमवाये। 7 शब्दावष्टम्भोऽपि। 8 चामुना वा०। 9 "परिशेषा[illegible] –वैशे० सू०। 10–घायानिश्चये आ०,ब०,प०। 11 प्रकृतस्य एकार्थसमवायिलिङ्गव्यभिचारस्य

लिङ्गभेदप्रदर्शनार्थत्वादिति; अत्राप्युक्तम्–नवविधत्वेन सप्तविंशतिविधत्वेन च तद्दर्शनं कर्त्तव्यमिति। कथं चैवं कृत्तिकोदयादेः गमकत्वम्, संयोगिसमवायिनोरिव एकार्थसमवायिन्यपि तस्यानन्तर्भावात्? न हि तदुदयादितत्साध्ययोः क्वचिदेकत्र समवायः, नापि तयोः कस्यचित् तत्कार्यस्येति। तन्न संयोग्यादिभेदेनापि त्रैविध्यवर्णनमुपपन्नम्। ततः स्थितम्–'एतेन' इत्यादि। न केवलं तेषां भेद एवैवं प्रत्याख्यातव्योऽपि तु लक्षणमपीत्याह–

तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्यो दिशाऽनया। इति।

तेषां पूर्ववदादीनां लक्षणमसाधारणं रूपं तस्य प्रपञ्चः पक्षव्यापित्वे सत्यन्वयव्यतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेतिरूपः सोऽप्यनया सौगतहेतुलक्षणं निराकरणरूपया दिशा निषेद्धव्यः इति। तथाहि–

अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाञ्चरूप्येण किं फलम्?
विनापि तेन तन्मात्रात् हेतुभावावकल्पनात् ॥१५२१॥
नान्यथानुपपत्तिश्चेत् पाञ्चरूप्येण किं फलम्?
सताऽपि व्यभिचारस्य तेनाशक्यनिराकृतेः ॥१५२२॥
अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाञ्चरूप्येऽपि कल्प्यते।
षाड्रूप्यात् पञ्चरूपत्वनियमो नावतिष्ठते ॥१५२३॥
पाञ्चरूप्यात्मिकैवेयं नान्यथानुपपन्नता।
पक्षधर्माद्यभावेऽपि चास्याः सत्त्वोपपादनात् ॥१५२४॥

ततः तल्लक्षण इत्याद्यपि स्थितम्। सम्प्रति हेत्वाभासं दर्शयन्नाह–

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ॥१७४॥
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते। इति।

परैः एकान्तवादिभिः ये न हेतवः अपि तु हेतुत्वेन विडम्बिताः कल्पिताः तेषां हेत्वाभासत्वं हेतुवदाभासमानत्वम् ईक्ष्यते। कुत एतत्? अन्यथानुपपन्नत्वरहिता यत इति। अथ अन्यथानुपपत्तिवैकल्येऽपि हेतुत्वम्; तदाभासत्वमेव न क्वचिद्भवेत्, कल्पनया सर्वत्र हेतुत्वस्यैवोपपत्तेः। कथं पुनस्तद्विडम्बितानां तद्रहितत्वमिति चेत्? उक्तमेतत्–'असिद्धत्वादिदोषस्य तेषु सर्वेषु सम्भवात्' इति। इदमत्रोदाहरणं यथा क्षणिकः शब्दः सत्त्वादिति। न हि क्षणिकं सन्नाम अर्थक्रियायास्तत्रासम्भवात्। निरूपितं चैतत्–'यस्मिन्नसति यज्जातम्' इत्यादौ। तत्कथं तस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वम्? 'अन्यथाऽनुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति' [सिद्धिवि० परि० २] इति न्यायात्। तथापि कथमन्यथाऽसिद्धमेव तत्रापि तत् संवृत्येति चेत्; न; नित्येऽपि तथा तद्भावात्। तथापि कथमन्यथाऽनुपपन्नत्वम्? व्यभिचाराद्विरुद्धत्वाच्च, वस्तुतः सत्त्वस्य परिणाम एव भावात्। निवेदयिष्यते

१ –दप्रतिद– आ०, ब०, प०। २ ताद्रूप्यात् ब०। ३ ये हेतव ता०। ४ य इति अय– आ०, ब०, प०। ५ –षु भावादिति ता०। ६ न्यायवि० श्लो० १५३। ७ संवृत्या।

चैतत्–'सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे' इत्यादिना । तदनेन कृतकत्वादयोऽपि तदाभासतया प्रतिवक्तव्याः तेषां सत्त्वविशेषत्वात् । यद्यन्यथानुपपत्तिवैकल्यमेकान्ततः सत्त्वादीनाम्, क्षणभङ्गादिवत् परिणामेऽपि न तेषां हेतुत्वं स्यादिति चेत्; न; एकान्ततः तदभावात् । एतदेवाह–

विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥१७५॥
कृतकः क्षणिको न स्यात् नैकलक्षणहानितः ॥

अपेक्षितपरव्यापारो भाव कृतकः[1] । उपलक्षणमिदं तेन सन् अयत्नजन्यश्च शब्दादिः । किम् ? क्षणिको न स्यात् क्षणमात्रवृत्तिर्न भवेत् । कुत एतत् ? अन्वयाभावात् । न हि क्षणिकत्वेन तस्य क्वचिदन्वयः, प्रदीपादावपि तस्यानिश्चयात् । कथमन्यथा परापरतैलादिव्यापारवैफल्यप्रकल्पनेन तत्र तदुपपादनम्, अविप्रतिपत्तिविषये तदनुपपत्ते ? भवतु तेनैव तत्र तदुपपादनमिति चेत्; न, तस्य क्वचित्तेनानन्वयात्, तन्निदर्शनेऽपि तस्यासिद्धे । पुनस्तत्रापि परापरतत्कारणव्यापारवैफल्येन तदुपपादने अनवस्थापत्तेः । तदुपपादनमननुमानमेव तदयमदोष इति चेत्; न तर्हि प्रमाणं परामर्शात्मकत्वेन प्रत्यक्षत्वस्याप्यभावात् । प्रमाणान्तरत्वे च प्रमाणद्वयसङ्ख्यानियमव्यापत्तेः । अप्रमाणाच्च तत्प्रतिपत्तावन्यत्रापि प्रमाणकल्पनावैफल्यात् । मा भूदन्वयो व्यतिरेकादेव गमकत्वोपपत्तेरिति चेत्, न; अन्वयाभावे तस्यैवासिद्धे । न हि क्वचित् क्षणभङ्गेनान्वयस्याप्रतिपत्तौ तन्निवृत्त्या क्वचिद्धेतुव्यावृत्तेः शक्योऽवगमः, [2]बुद्धिसंस्पर्शविरहिणस्तस्यैव निवृत्तेरनवगमात् । कथं पुनरन्वयव्यतिरेकयोरभावेऽपि कृतकत्वादेरहेतुत्वं ताभ्यां हेतुत्वस्य अव्याप्तेरिति चेत्; सत्यमिदं[3] वस्तुवृत्त्या, परेण तु तयोस्तद्व्याप्तेरभिधानादेवमुक्तम् । वस्तुतस्तर्हि तस्य कुत. क्षणिकत्व प्रत्यगमकत्वम् ? अन्यथाऽनुपपत्तिवैकल्यादिति [4]चेत्; तत तर्हि तस्यैकान्तिकमिति कथ परिणामेऽपि तस्य हेतुत्वमिति चेत् ? अस्य समाधानम्–'नैकलक्षणहानितः' इति । एकस्य लक्षणस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वस्य येयमेकान्ततो हानिः ततः कृतकः क्षणिको न स्यादित्येतत् न अपि तु क्षणक्षयाद्यपेक्षयैव कथञ्चिन्नाविन्य इति यावत् । अत्रैवोपपत्तिः 'विरोधात्' इति । तात्पर्यमत्र–यतः क्षणक्षयादिव्यावृत्त्या तद्विरुद्धस्य परिणामस्य ततः साधनं ततो नैकान्ततः तत्र तद्धानिरिति । कथं पुनरप्रतिपन्ने क्षणभङ्गे तदन्वयव्यतिरेकयोरिव क्वचित्तद्विरोधस्यापि प्रतिपत्तिः ? तथापि तद्भावे किमन्वयव्यतिरेकाभ्यामपराद्धं यतस्तावपि न प्रतीयेते इति चेत् ? न, प्रतिपत्तेरपि तल्लक्षणानुगमेन तत्र भावात्, केवलं प्रमाणतस्तदनवगमादेव तदन्वयव्यतिरेकयोर्निषेधात् नित्यान्वयव्यतिरेकवत् । विरोधमेव दर्शयन्नाह–

सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः ॥१७६॥
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये । इति ।

एवकारो भिन्नप्रक्रमः परिणाम इत्यत्र दर्शनात् । ततः सत्ता सत्त्वं सम्यक् प्रतिबद्धा । क ? परिणाम एव न क्षणभङ्गादौ । ततस्तत्रैव सा हेतुरित्यर्थ. । एतदेव कुतः ? क्रियास्थितेः, परिणामे

---

१ "अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।" –न्यायबि० पृ० ६७ ।
२ बुद्धस–आ०,ब०,प० । ३–मिदमव–आ०,ब०,प० । ४–रजमि–आ०,ब०,प० । ५ चेत्तर्हि आ०,ब०,प० ।

एव क्रियायाः कार्यकारणस्य स्थितेः अवस्थानात् । एतदपि कस्मात् ? निर्व्यापारो व्यापारान्निष्क्रान्तो हि यस्मात् भावः चेतनादिः स्यात् भवेत् । कस्मिन् सति ? निरन्वये क्षणभङ्गे । केव ? नित्यत्वे वा नित्यत्व इव, वाशब्दस्य इवार्थत्वात् । निरन्वय इव वा नित्यत्वे इति । कुतः पुनर्निरन्वये निर्व्यापारत्वं भावस्योच्यते ? तस्य यद्युत्पत्तेरूर्ध्वं व्यापारः कथं निरन्वयत्वं स्वयमपि तदा तस्य भावात् । व्यापार एव तदा न भाव इति चेत्; व्याहतमिदम्—स नास्ति तद्व्यापारोऽस्तीति । कथं वा स तस्य व्यापारः ? तत्कार्यत्वादिति चेत्; तत्रापि तर्हि कार्यवद् व्यापारान्तरं मृगयितव्यम् । तस्यापि पश्चाद्भाविनः कथं तद्व्यापारत्वम् ? तत्कार्यत्वादेवेति[1] चेत्; न; 'तत्रापि'इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थितेश्च दोषात्, व्यापारस्याव्यापारादेव भावाद्भावे व्यर्थं व्यापारकल्पनं कार्यस्यापि तत एव भावात् । अथोत्पत्तिसमय एव व्यापारः उत्पत्तेरेव [2]तत्त्वात्, तर्हि तदैव कार्यतद्व्यापारौ पुनः तत्कार्यतद्व्यापारावपीत्येकक्षणमेव जगत्प्राप्नुवत् सन्तानस्य तन्निबन्धनस्य प्रवृत्त्यादिव्यापारस्य चाभावमाविर्भावयेत् । अथायं कार्यस्य स्वभावो यत्सत्यपि तद्व्यापारे पश्चादेव भवतीति तदयमप्रसङ्ग इति, कथं पुनः उपरतव्यापारे तस्मिन् भवतस्तस्य तत्कार्यत्वम् ? यदि स्यात्; नित्यकार्यत्वमपि स्यात् । अतत्कार्यस्य कथं देशादिनियम इति चेत् ? तत्कार्यस्यापि कथं तत्कालादिक्रमः ? तथास्वाभाव्यादिति चेत्; अत एव तन्नियमोऽपि स्यात् । असति च कारणे भवत्कार्यं पश्चादिव प्रागपि किन्न स्यात् अभावाविशेषात् ? भवत्येव, भाविनो राज्यादेः प्रागेव तत्कार्यस्य हस्तरेखादेर्दर्शनादिति चेत्; तर्हि सुगतत्वमपि तदुपायाभियोगात् प्रागपि भवेदिति पूर्वं सुगतः पश्चात् संसारीति प्राप्तम्, संसारिण इव तदभियोगसम्भवात् । किं वा पुनस्तदभियोगस्य फलं निष्पन्ने ओदने पाकवत् ? तन्न निरन्वयस्य सव्यापारत्वम् । नापि नित्यस्य ।

"भवतु निर्व्यापारत्वं तस्य, न हि तस्य व्यापारबलेन कार्यकारित्वं सहकारिसहितान्निर्व्यापारादेव तदुपपत्तेः । तथा हि व्यापारो नाम शक्तिरतीन्द्रिया, क्रिया वा भवेत् ? तयोश्च किं पदार्थेन सहोत्पन्नयोर्यावत्पदार्थभावित्वम्, आहोस्वित् सामान्यवत्तयोस्तेन सहानुत्पन्नयोस्तत्र सद्भावः ? पक्षद्वयेऽपि कार्यस्य सततोदयप्रसङ्गः । न हि शक्तेर्व्यापाराविष्टे च कारणे कार्यस्य क्षेपः । अथैतन्मा भूदिति तयोस्तत्र कादाचित्कत्वं कार्यवत्तत्रापि वक्तव्यम् । कादाचित्कत्वे तयोः कारणपूर्वकत्वमवश्यम्भावि । तत्र सति विकल्पद्वयम्—किं स्वाश्रयपदार्थकारणमात्रभावित्वं तयोः, उतस्वित् सहकारिकारणापेक्षत्वम् ? पूर्वस्मिन् पक्षे पुनरपि सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । सहकारिकारणापेक्षत्वे कार्यमेव कारणद्वयात् सम्मिलितादस्तु किं शक्तिव्यापाराभ्याम्" [ ] इति विश्वरूपः; तन्न युक्तम्; अशक्तस्य कारणत्वे व्योमकुसुमादौ प्रसङ्गात् । तस्य नीरूपत्वान्नेति चेत्; न; अशक्तित एव तस्यापि तत्त्वात्, तस्याश्च नित्येऽप्यविशेषात् । शक्तमेव नित्यम्, केवलमतीन्द्रियशक्तिप्रतिषेधादेवाशक्तं तदुच्यत इति चेत्; ऐन्द्रियी तर्हि तच्छक्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानाविनाभावात् । तथा च

1–त्वादिति आ०, ब०, प० । 2 व्यापारत्वात् ।

कथं तत्राव्युत्पत्त्यादि. प्रत्यक्षादेव तन्निर्णये तदनुपपत्तेः । अस्ति चासौ वस्तुदर्शनेऽपि कस्यचित् तत्रानिश्चयात् अपरस्य संशयात् अन्यस्य विपर्ययाच्च । कथमन्यथा तत्परिज्ञानाय तद्विदुपासनम् ? सामग्रीसन्निपाते नास्त्येव तत्राव्युत्पत्त्यादिः[1] तदैव ततस्तन्निर्णयात् । अतएव तेनोक्तम्–"सामग्री तु यदा कार्यं जनयति तदा तस्याः कारणत्वं निश्चीयते, द्वयोरपि कार्योत्पादकाले सामग्रीकार्ययोर्निश्चयात् ।" [ ] इति[2] चेत्; अन्यदा तर्हि भावस्याप्यनिश्चयः तदनिश्चयात् । कथमन्यथा स्वरूपमेव शक्तिः निश्चितादनिश्चितायाः अर्थान्तरत्वस्यैवोपपत्तेः । अथास्त्येव तदापि तन्निश्चयः केवलं कार्यतयैव शक्तेर्भेददर्शनात्, तत् तदाभिमुख्यमेव तस्या न निश्चीयते, अत एवाऽव्युत्पत्त्यादेरपि तत्रैव भाव इति; तदपि न समीचीनम्; कस्मात् ?

तत्तत्कार्याभिमुख्यं चेच्छक्ते रूपं स्वभावतः ।
अनिश्चये कथं तस्य निश्चिता शक्तिरुच्यताम् ॥१५३५॥
आभिमुख्यं स्वरूपं च विना तेन च निश्चयः ।
शक्तेरिति[4] क आहैव विश्वरूपात् परो बुधः ॥१५३६॥
आभिमुख्यं ततो यस्मिन् यस्मिन् कार्ये यथा यथा ।
सामग्र्या सर्वथा तस्याः सर्वदा स्याद्विनिश्चयः ॥१५३७॥
तथा च वैद्यशास्त्रादौ व्यर्थ एव परिश्रमः ।
विनापि वस्तुशक्तीनां तेन निश्चयसम्भवात् ॥१५३८॥
सर्वदर्शित्वमप्येवं सर्वस्य प्राणिनो भवेत् ।
जगद्व्यपेक्षयैकत्र शक्त्यशक्त्योर्विनिश्चयात् ॥१५३९॥

तथा हि–यद्येकं वस्तु कतिचिदेव देशकालावस्थाभेदिनः कार्यग्रामानपेक्ष्य तत्सामग्रीश्च शक्तम्, तदपरापेक्षया तर्हि तदशक्तम्, तच्च तथा कुतश्चिन्निश्चीयमानमपेक्ष्य निश्चयमन्वाकर्षति विना तेन स्वयमनिश्चयात् । तथापि तन्निश्चये कारणनिश्चयमन्तरेणापि क्वचित्तत्कार्यत्वनिश्चयः स्यादिति न युक्तमिदं तस्य वचनम्–"न च सम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्तरेण कार्यकारणयोः सम्बन्धग्रहः।" [ ] इति । तस्मादतीन्द्रियैव शक्तिः । यदप्यत्र तेनोक्तम्–"कारणस्य शक्तस्य व्यापारवतश्च कार्यकर्तृत्वाभ्युपगमे तयोरपि कार्यत्वात् परव्यापारशक्त्यन्तरकल्पना तत्राप्यन्या तत्राप्यन्येत्यनवस्था ।" [ ] इति; तदपि नित्यैकान्तमभ्युपगम्य तद्वादिनामेव दूषणं न स्याद्वादिनाम्, तन्मतेन पूर्वपूर्वस्मादेव शक्तिव्यापारपरिणामात् उत्तरोत्तरस्य तस्योत्पत्तेः । न चावस्थानमत्र[6] दूषणम्; अनादित्वेनानवस्थानस्यैव तत्प्रबन्धस्वभावत्वात् । कुतः पुनरतीन्द्रियायाः शक्तेः प्रतिपत्तिः ? कार्यादेव लिङ्गादिति चेत्; क तया सह तस्याविनाभावप्रतिपत्तिः ? तदन्यत्रेति चेत्;

१ तत्त्वान्वेषणम् । २–दित्वन्नि–आ०, ब०, प० । ३ चेत्तर्हि आ०, ब०, प० । ४ यतस्मात् आ०, ब०, प० । ५ 'कः आह इति पदच्छेदः' – ता० टि० । कथा होवं आ० ब० प० । ६ "मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम् । वस्त्वानन्त्येप्यशक्तौ च नानवस्था विचार्यते ॥"–ता० टि० ।

न; तत्रापि प्रत्यक्षतस्तद्ग्रहात्। कार्यादेव तु ग्रहणेऽनवस्थापत्तेरिति चेत्; इदमपि न दूषणं पक्ष एवास्माभिः सम्बन्धग्रहणस्याभ्युपगमात्, सम्बन्धस्य कार्यस्वरूपत्वेन अप्रतिपन्नायामपि शक्तौ शक्यावसायत्वात्। प्रमाणस्य च तत्र तर्काभिधानस्य निवेदितत्वात्। तन्न शक्तेः प्रतिषेधो न्याय्यः।

नापि व्यापारस्य, तथा हि–यदि नित्यस्य सामग्रीसन्निपातेऽपि प्राच्यस्वभावापरित्यागः कथं कारणत्वं पूर्ववत्। तत्परित्यागे वा कथमव्यापारत्वं तत्परित्यागस्यैव व्यापारत्वात्। नास्त्येव तस्य तत्परित्यागो नित्यत्वहानेः कारणत्वं तु[1]तदा तस्य तत्सन्निधानादिति चेत्, तत्किं पूर्वं नास्ति? तथा चेत्, कथं नित्यत्वम्? अस्ति चेत्; कुतो न कार्यम्? सहकार्यभावादिति[2] चेत्; कुतस्तदभावे तदभावः? तस्य तत्कारणत्वादिति चेत्; यथा तर्हि सहकारी तत्कारणत्वात् स्वनिवृत्त्या कार्यं निवर्तयति तथा तत एव[3]नित्यमपि स्वप्रवृत्त्या तत्प्रवर्तयेत्। न चेत्; तदपि न निवर्तयेदिति वक्तव्यम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां निर्मुक्तस्य कीदृशी तदा कार्यस्य गतिरिति? न नित्यस्य केवलस्य कारणत्वं यदेवं स्याद्, अपि तु सहकारिसहितस्यैव। न च तत्सहितं[4]तत्प्रागस्ति यतः कार्यं स्यादिति चेत्; तथापि कथं नित्यत्व तत्सहितस्य तत्स्वभावस्यैव पूर्वमभावात्। सहकार्यभाव एव तत्सहिताभावो न तत्स्वभावाभाव इति चेत्; तत्सद्भाव एव तत्सहितसद्भावोऽपि स्यात्, तथा च तत्सहितं नित्यं कारणमिति सहकार्येव कारणमित्युक्त स्यात्। न नित्यं सहकारि वा केवलं कारणम् अपि तु तत्समुदाय इति चेत्, एकैव तर्हि तद्रूपा शक्तिरिति कथं तद्भेदकल्पनं सहकारिशक्तिः स्वरूपशक्तिरिति च। तद्भेदे वा कथं प्रत्येकमेव न कारणत्वं (णं) शक्तित एव तत्त्वात्। समुदायस्यैव कारणत्वे च न नित्यस्य सहकारिणो वा वस्तुत्वम् अकारणत्वात्। समुदायकारणत्वमेव तयोरपि कारणत्वं तद्व्यतिरेकेण तदभावादिति चेत्, तथापि समुदायतयैव वस्तुत्वं न पृथगिति कथन्न (कथं) नित्यं वस्तु पृथगेव स्यात्? ततः प्रत्येकं भावानां वस्तुत्वमुररीकुर्वता समुदायदशायां प्राच्यरूपपरित्यागात्मा व्यापारस्तेषां कारणत्वोपपादी वक्तव्य एव। स च नित्यत्वे तेषामनुपपन्न एव, सति तस्मिन् तत्प्रच्युतेः। ननु यदि शक्तिः किं व्यापारेण? तस्मिन् वा किं शक्त्या? तदन्यतरत[5] एव कार्यनिष्पत्तेरिति चेत्; न, शक्तेरेव कार्यं प्रत्युन्मीलनस्य व्यापारत्वात्। तदुन्मीलने च शक्तेरेव कार्यनिष्पत्तिः न व्यापारादिति चेत्; न, शक्तेरेव सत्युन्मीलने व्यापारत्वात्। ततो युक्तं निरन्वयविनाशनित्यत्वयोर्भावस्य निर्व्यापारत्वात् परिणाम एव क्रियाया अवस्थितिरिति। कः पुनरयमन्वयो नाम यतो निरन्वयो निर्व्यापारत्वमुच्यते इति चेत्? अत्राह–

अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ॥१७७॥
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्पते। इति।

अवस्थादयः प्रसिद्धाः, तेषां भेद नाम पक्व इति परमाणोऽर्वाग्भाग इति नवः पुराण इति च नानात्वं तस्मिन् सति या दृष्टा प्रतिपन्ना अभेदस्य कथञ्चित्तादात्म्यस्य व्यवस्थितिः साङ्कर्यादिपरिहारेणावस्थानं लोके लोकग्रहणेन तद्दृष्टेर्लोकप्रसिद्धतया अशक्याऽपह्नवत्वं दर्शयति। स तद्व्यवस्थितिरन्वयः कल्पते। किमर्थोऽसौ? व्यवहाराय तन्निमित्तमिति। ततो[6]यत्परमतम्–नामपक्व-

१ तथा तस्य आ०, ब०, प०। २ सहकार्यभावे कार्याभावः। ३ नित्योऽपि प०। ४ नित्यम्। ५– तर एव आ०, ब०, प०। ६ वैशेषिकमतम् (प्रश० व्यो० पृ० ४४८)।

योर्घटयोरेकत्वमिति; तत्प्रतिविहितम्; एकत्वप्रत्ययेन तस्य व्यवस्थितेः। नैतदस्ति बाधवत्त्वात्[1]। अस्ति ह्यत्र बाधः। तथा हि–आमादर्थान्तरं पक्वो घटस्तदारम्भकसंयोगविलक्षणसंयोगारब्धत्वात् पाषाणवत्। आमस्य हि घटस्यारम्भकोऽवयवसंयोगः प्रशिथिलरूपो निबिडश्च पक्वस्य कठिनतयैव तस्य प्रतीतेः। अतो न तत्राभेदव्यवस्थितिस्तात्त्विकीति चेत्, उच्यते–यदि न प्रतिपत्ति पक्वस्य तस्य हेतोराश्रयासिद्धिः। प्रतिपत्तिश्चेत्; न तस्य आमादर्थान्तरत्वं शक्यसाधन तत्प्रतिपत्त्यैव बाधनात्। प्रतिपत्तिर्हि तस्य कुतश्चिदामादनर्थान्तरस्यैव नात्यन्ताय विभिन्नस्य, अन्यथा तत एव साध्यसिद्धेर्व्यर्थमिदमनुमानं भवेत्। विप्रतिपत्तेश्चाभावात्, भावे तद्घटेऽपि तदापत्तेः नाश्रयासिद्धेः प्रतिक्षेपः स्यात्। न तत्र तदापत्तिर्निश्चयादिति चेत्, न; साध्येऽपि तुल्यत्वात्। अन्यथैकैव प्रतिपत्तिः निश्चयेतरात्मा भवेत्। तथा च कथमामपक्वात्माऽप्येके भावो न भवेत्? आमस्तदारम्भकसंयोगनिवृत्त्या निवृत्त एव कथं तस्य कथञ्चिदप्यवस्थानमिति चेत्; न, तत्संयोगनिवृत्तेरप्युत्तरनिबिडसंयोगादर्थान्तरस्याप्रतिपत्तेः। तद्रूपत्वे च कथं निवृत्तिर्यतस्तदारब्धस्य आमस्यापि निवृत्तिः? कथञ्चित्तु या तन्निवृत्ति तयाऽस्त्येव तस्यापि निवर्तनम्? अभेदवत् आमपक्वयोर्भेदस्यापि प्रतिपत्तेः। एतेन तण्डुलान्निबिडावयवसंयोगात् ओदनस्य शिथिलावयवसंयोगत्वेन यदत्यन्ताय भेदकल्पनम्, तदपि प्रतिक्षेप्तव्यम्, तुल्यत्वान्न्यायस्य।

यदपीद पैठरस्य[3] मतम्–सत्यम्, आम एव पच्यते घटः केवलं तस्य रूपादय एवाग्निसंयोगात् नश्यन्ति तद्विलक्षणानामेव तेषां पश्चात् प्रादुर्भावादिति, तन्न बुद्ध्यामहे। तथा हि–घटो नाम तत्परिणतिविशेष एव नापरः, तस्याऽप्रतीतेः प्रतिक्षेपाच्च, ततः कथं तेषां विनाशस्तस्यैव तत्प्रसङ्गात्? तदात्माऽपि स तिष्ठति ते च नश्यन्तीति विरोधात्। ततो युक्तम्–आमस्यैव घटस्याग्निसम्पर्कात् अन्यथाभावेनावस्थानम्, अवस्थाभेदिनो लोकप्रसिद्धेः सोऽन्वय इति, एवं देशभेदेऽपि प्रतिपत्तव्यम्। तत्राप्यवस्थितिः स एवायमर्वाग्भागेऽपि घटो यः परभाग इति प्रतीतेः। तत्र समवेतस्यैव तस्य तथा प्रतीतिर्न तदात्मन इति चेत्; न, तस्य निषेधात्। एवं स एवाय घटः पुराणो जातो यो मया नवो दृष्टः इति प्रतिपत्ते कालभेदिनोऽप्यवस्थानं प्रतिपत्तव्यम्। उक्तमर्थं श्लोकाभ्यां सगृह्णन्नाह–

सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ॥१७८॥
अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुद्ध्यते ।

सति क्षणिके नित्ये च यदा हेतौ फलोदयस्तदा सर्वस्य कार्यस्य यः सन्तानः क्रमवान् प्रबन्धः तस्य विच्छेदो विरहः तत्कार्यत्वात् कार्यकार्यस्यापि परापरस्य, यदि वा परापरस्यापि कार्यस्य सकृदेव भावात्, कारणस्याक्रमे कार्यक्रमस्यायोगात्। अन्यथेति यदसति हेतौ फलोदयो यदि वा नित्ये तदविच्छेदः तदा यदेतदानन्तर्यं कारणानन्तरभावित्वं कार्यस्य यच्चाय नित्यस्य प्रत्यासन्नत्व तत्सन्तानस्य तद्विरुद्ध्यते

१ बाधकवत्त्वा–आ०, ब० । २ "प्रमाणविशेषात्"–ता० टि० । ३ अवयविपाकवादिनो नैयायिकस्य । ४–द्वेः सो–आ०, ब० । ५ प्रतिपत्तिर्न आ०, ब०, प० ।

कस्मात् ? नियमाभावात्– असतो हेतोरनन्तरमेव कार्यं न पूर्वं नापि पश्चादित्यवधारणस्याभावात् तदसत्त्वस्य तदाप्यविशेषात् । ततश्चिरव्यवधानेन प्रागपि च तद्भवेदिति मन्यते । यदि वा, हेत्वायत्तमेव कार्यमित्यस्य नियमस्य अभावात् । न हि समर्थे नित्यहेतावनुत्पन्नस्य पुनः स्वेच्छया यथाकालं भवतस्तदायत्तत्वमुपपन्नमतिप्रसङ्गात् इत्याशेते । ततः क्षणिकादेरर्थक्रियाव्यावृत्तिनिर्णयात् तदात्मकं सत्त्वं कृतकत्वादयस्तु तद्विशेषास्तत्साधनाय प्रयुक्ता विरुद्धा एव; परिणामस्यैव साधनादित्यावेदयति–

सत्त्वमर्थक्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ॥१७९॥
हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः परिणामप्रसाधनाः । इति ।

सत्त्वमित्यस्यैव अर्थक्रियेति व्याख्यानम् अर्थक्रियात एव सत्तासम्बन्धस्यापि सम्भवात् नान्यथा व्योमकुसुमादिवत् । अतोऽर्थक्रियैव सत्त्वम् अन्ये वा कृतकत्वादयश्च, वेति समुच्चयात् ते हेत्वाभासा विरुद्धाख्याः क्षणक्षये । उपलक्षणमिदं तेन नित्येऽपि । कुतस्ते तथा ? परिणामप्रसाधना यत इति ।

सम्प्रत्यनैकान्तिकान् तदाभासानाह–

सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ॥१८०॥ इति ।

वचनमादिर्येषां पुरुषत्वादीनां ते सन्दिग्धाः अन्यथानुपपत्त्येति शेषः । ततोऽनैकान्तिका एव निश्चितान्यथानुपपत्तीनामेवैकान्तिकत्वोपपत्तेः । क्व पुनस्ते तथा ? सर्वज्ञस्य यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञानसम्बन्धिनः पुरुषस्य, उपलक्षणमिदं तेन परिक्षीणदोषस्य च प्रतिषेधे साध्ये इति । निवेदयिष्यते च तेषां तत्र सन्दिग्धत्वम् । येषां तु त्रैरूप्याद् गमकत्वं तन्मत्या हेतव एवेत्याह–

रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् । इति ।

रागादेरादिशब्दादसर्वज्ञत्वस्य साधना वचनादयः । केषाम् ? एकलक्षणविद्विषां सौगतादीनां सन्दिग्धाः, तेषामपि कथं ते तथेति चेत् ? न; स्पष्टाः पक्षधर्मत्वादौ सन्देहविकला यत इति । तथा हि–'सुगतो रागादिमान् सर्वज्ञो वा न भवति, वक्तृत्वादेः रथ्यापुरुषवत्' इति । अत्र तावत् स्पष्टमेव पक्षधर्मत्वम्, सुगते पुरुषत्वादिवत् वक्तृत्वस्यापि भावात् । कुड्यादावेव तन्न सुगत इति चेत्; न; "ज्ञानवान् मृग्यते" [प्र० वा० १।३२] इत्यादिना सुगत एव तस्योक्तेर्न कुड्यादौ तस्याचेतनत्वात् । कुड्यादिगतमेव तत्तत्रोच्यते उपचारान्न तत्त्वत इति चेत्; तत्त्वत तत्र तत् कस्मान्न भवति ? रागादेस्तद्धेतोरभावादिति चेत्; कुड्यादावपि न भवेत् । तत्र तदभावेऽपि भवति न सुगत इति निर्निबन्धनैव कल्पना । तन्न पक्षधर्मत्वमप्रसिद्धम् । नापि सपक्षे सत्त्वम्; रथ्यापुरुषे रागादिमत्यसर्वज्ञे च दर्शनात् । नापि विपक्षाद्व्यावृत्तिः; पाषाणादौ तस्याप्रतिपत्तेरित्युपपन्नमेव तत्र तेषां गमकत्वम् । परकीयं तत्रोत्तरं दर्शयति–

१ सुगतसन्निधानात् कुड्यादिभ्यः देशना निस्सरन्तीति मनसिकृत्य सौगत आह । २ "ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥"–ता० टि० । ३ वक्तृत्वम् । ४ कुड्यादौ । ५ रागाद्यभावेऽपि ।

धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ॥१८१॥
असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे । इति ।

भवतु नाम पाषाणादौ वक्तृत्वाद्यभावो रागादिनिवृत्तेः, न तावता व्यतिरेकनिश्चयः क्वचित् सत्यामपि तस्यां [2]तद्भावस्याविरोधात् ।

निवृत्तरागः सर्वज्ञो वक्त्रादिर्नोपलभ्यते ।

इति चेत्; मा नामोपलम्भि न तावता तस्याभावः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भात् अभावासिद्धेः । ततो धर्मिधर्मस्य सुगतलक्षणे धर्मिणि विद्यमानस्य वक्तृत्वादेर्योऽसौ ततो विपक्षाद्व्यतिरेके सन्देहः तस्मिन् सति भवेदसिद्धिः अनिश्चयः प्रतिबन्धस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिरूपस्याविनाभावस्य । न हि सन्दिग्धव्यतिरेके तत्सिद्धिः, निश्चित एव तस्मिन् तदुपपत्तेः । तदसिद्धौ च न रागादिसाधनत्वं वचनादीनाम् इति एव मन्यमानाः अपरे सौगताः प्रतिपेदिरे प्रतिपन्ना इति । अत्रोत्तरमाह–

वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञबाधनी ॥१८२॥
शिरःपाण्यादिमत्त्वाद्या विरुद्धव्याप्तसिद्धयः । इति ।

इदमेवासिद्धं यद्वाचो विरुद्धकार्यत्वं शिरःपाण्यादिमत्त्वादेर्वा विरुद्धव्याप्तत्वम्; सर्वज्ञलक्षणे विपक्षे तद्व्यावृत्तेः सन्देहेन तदसिद्धेर्निरूपितत्वात् । अथ अत एव विपक्षाभावस्य निश्चये तत्सन्देहस्य निवृत्तिः; तदयुक्तम्; परस्पराश्रयात्–सिद्धावतो विपक्षनिषेधस्य तद्द्वारेण तन्निवृत्तिः, ततोऽपि तत्सिद्धिरिति चेत्; न; तद्व्यावृत्तेः सपक्षदर्शनादेव निश्चयाद् धूमादिवत् । न हि धूमादेरप्यन्यदेव विपक्षव्यावृत्तिनिश्चये निमित्तम् अन्यत्र सपक्षदर्शनात् । तच्च वचनादावपि; रागादिमत्यसर्वज्ञ एव रथ्यापुरुषादौ तस्य दर्शनात् । तथापि तस्यान्यत्र भावे धूमादेरपि स्यादिति कथं निश्चिता ततोऽपि पावकादिप्रतिपत्तिः ? ततो यथा न धूमादिः शिंशपात्वादिर्वा[3] पावकादेर्वृक्षादेर्वाऽन्यत्र भवति भूयस्तन्निष्ठतयैवोपलब्धेरेवं न वचनादिशिरःपाण्यादिमत्त्वादिकं वा किञ्चिज्ज्ञादेरन्यत्र, भूयोऽपि तन्निष्ठतयैव तस्यापि दर्शनात् । अथ सर्वज्ञादिरपि किञ्चिज्ज्ञादेरन्यो न भवति चेतनत्वादिना तुल्यजातीयत्वात् तत्कथं तत्र तदभाव इति ? तर्हि द्रव्यान्तरमपि न पाकादेर्वृक्षादेर्वा अन्यदेव मूर्तत्वादिना समानजातीयत्वादिति तत्रापि धूमादिना शिंशपात्वादिनापि भवितव्यम् । अवान्तरभेदापेक्षया तस्य तद्विजातीयत्वं प्रकृतेऽपि समानम् । ततो युक्तं विरुद्धकार्यत्वं वाचः, सर्वज्ञविरुद्धात् किञ्चिज्ज्ञादेव तस्या उत्पत्तेः । ततस्तस्याः सिद्धिर्भवत्येव सर्वज्ञस्य बाधनी[4] तथा तद्विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वमुपानयन्त्या तस्य प्रतिक्षेपात् यथा धूमसिद्धिः शीतस्पर्शस्य । एवं शिरःपाण्यादिमत्त्वमाद्यम् आदौ भवं

---

१ रागादिनिवृत्तौ । २ वक्तृत्वस्य । ३–मादिर्वा आ०, ब०, प० । ४ बाधनीयतया आ०, ब०, प० ।

यासां पुरुषत्वादीनां[1] सिद्धीनां ता अपि सर्वज्ञस्य बाधन्य इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः। कुतस्तास्तद्बाधन्य इति चेत्; विरुद्धेन निषेध्यप्रत्यनीकेन किञ्चिज्ज्ञत्वेन व्याप्तास्ता एव सिद्धय इति उपलब्धयो यत इति। तत्रोदाहरणं यथा न वेदाः प्रमाणं दृष्टेष्टविरोधादिति। प्रामाण्यविरुद्धं खल्वप्रामाण्यं तद्व्याप्तश्च दृष्टेष्टविरोध इति। प्रसिद्धं चेदं बौद्धस्येति न निवृत्य कथ्यते। तदेवं विरुद्धकार्योपलब्धिं विरुद्धव्याप्तोपलब्धिं च प्रतिपाद्य व्यापकविरुद्धोपलब्ध्यादिनाऽपि तद्बाधनं दर्शयन्नाह–

सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ॥१८३॥
स्वभावकारणासिद्धिरेकलक्षणविद्विषाम्। इति।

सद्भिर्विद्यमानैरर्थैः अक्षाणां यः समीचीनप्रयोगः तस्माज्जातं तस्य भावः सत्सम्प्रयोगजत्वं तेन प्रत्यक्षज्ञानधर्मेण विरुद्धः सकलस्य देशादिविप्रकृष्टस्य ग्रहः सकलवेदित्वम्। तस्य हि व्यापकमसत्सम्प्रयोगजत्वं तद्विरुद्धश्चेदं सत्सम्प्रयोगजत्वं ताथागतेऽपि प्रत्यक्षे प्रतीयमानं स्वप्रत्यनीकाऽसम्प्रयोगजत्वव्यावर्तनद्वारेण तद्व्याप्यं सकलग्रहं व्यावर्तयतीति युक्ता व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। यथा नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति। वह्नेर्हि शीतस्पर्शविरुद्धस्योपलब्ध्या तद्व्याप्यस्य तुषारस्पर्शस्यात्र प्रतिक्षेप इति प्रसिद्धमेवात्र तद्विरुद्धोपलब्धित्वम्। अथ ताथागते ज्ञाने सत्सम्प्रयोगजत्वमसिद्धम्; भावनाप्रकर्षपर्यन्तादेव तस्योत्पत्तेरिति; तन्न; तस्यापि प्रत्यक्षत्वादेव साधनात्। ताथागतमपि प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं प्रत्यक्षत्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षवदिति। एतदपि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण व्यभिचारीति चेत्; न, निरंशवस्तुवादिनः स्वसंवेदनमर्थवेदनं चेति स्वभावद्वयस्यैकत्रासम्भवात्।

तथा, स्वभावकारणासिद्धिरपि बाधनी तत्र[2] भवेत्। नन्वेवं स्वभावासिद्धिः स्वभावानुपलब्धिः; यथा नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेरिति। कथं पुनरदृश्यानुपलब्धेर्गमकत्वं सत्यपि वस्तुनि सम्भवात् परचेतोवृत्तिविशेषवदिति चेत्; किं पुनः सर्वज्ञस्य अदृश्यत्वम्[3] तथा चेत्; न; स्वयमपि तत्प्रसङ्गात्। परापेक्षतयैवादृश्यत्वमिति चेत्; न; निरंशैकान्ते स एव दृश्यश्चादृश्यश्चेति स्वभावद्वयानुपपत्तेः, ततो दृश्य एवासाविति कथं तदनुपलब्धिरदृश्यानुपलब्धिर्यतो न गमिका भवेत्? नन्वेवं न काचित् दृश्यानुपलब्धिः; सर्वस्य केनचिद्दृश्यस्य सर्वैरपि दर्शनादिति चेत्; अयमपि भवत एव निष्कलवस्तुवादिनो दोषः।

तथा कारणसिद्धिः कारणानुपलब्धिः। यथा नातीतादिविषयं योगिप्रत्यक्षं तदभावात् इति, अतीतादिकं हि तत्प्रत्यक्षस्य कारणं "नाकारणं विषयः" [ ] इत्यभिधानात्। न चातीतादेर्भावः; प्रध्वस्तत्वेनातीतस्य अनागतस्य चानुत्पन्नत्वेनाभावग्रस्तत्वादिति। एवमेते वचनादयः कार्यस्वभावानुपलम्भरूपतया त्रैविध्यमपरित्यजन्तोप्यन्यथाऽनुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः। तदेव दर्शयति–

कथन्न सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो ॥१८४॥
यावत् प्रकृष्यते रूपं तावत् कार्यं विरुध्यते। इति।

१–दीनां ता आ०, ब०, प०। २–न कृत स–आ०, ब०, प०। ३ तत्र स्वभा– आ०, ब०, प०। ४ परचेतोनिष्–आ०, ब०, प०। ५ –त्वमदृश्या– आ०, ब०, प०।

वचनस्य विज्ञानमेव कारणम्, असति तस्मिन्निच्छायामपि तदभावादिति निवेदनात्। तच्च तस्य यावत् यत्प्रमाणं प्रकृष्यते रूपं तावत् तत्प्रमाण कार्यं वचनं तेन नो विरुद्ध्यते अपि तु तदपि प्रकृष्यत एव। सति विशिष्टे वह्निप्रकर्षे धूमेऽपि तत्कार्ये प्रकर्षस्यैव दर्शनात्। ततः प्रकर्षपर्यन्तगतेऽपि ज्ञाने वचनस्याविरोधात् कथञ्च सम्भवो वक्ता सर्वज्ञः ? किन्तु सम्भव्येव सकलवेद्यपि वक्ता। तन्नान्यथाऽनुपपत्तिरत्र। स्यादेवं यदि विज्ञानाद्वचनम्, न चैवं विवक्षायास्तत्कारणत्वात्। सा च रागविशेषत्वेन दोषात्मा सती विधूताशेषदोषतो निःशेषतत्त्वज्ञानान्निवर्तमाना वचनमपि निवर्तयत्येव, तत्कथं नान्यथाऽनुपपत्तिर्यतस्तत्सुगतादौ अनिवर्तितप्रसरतया प्रवर्तमानं विवक्षादोषोपस्थापनेन निःशेषवेदित्वं न व्यापादयेदिति चेत्? अत्राह–

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ॥१८५॥
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः। इति।

न सर्वदा वक्तुकामतयैव वचनप्रवृत्तिर्विनापि तया गोत्रस्खलनादौ तदुपलब्धेः, तत्रापि प्रमादनिबन्धनत्वात् तस्या न विज्ञानहेतुकत्वम्। ततो यदि विवक्षातः प्रमादाद्वा तत्प्रवृत्तिरुभयथापि दोषजातेरनतिवर्तनात् भवत्येव ततः क्वचिद्दोषोपस्थापनद्वारेण सकलज्ञत्वप्रतिक्षेप इति चेत्; इदमप्ययुक्तम्, तदुभयाभावेऽपि तत्प्रवृत्तेर्दर्शनात्। यथा तीव्राभियोगवतो निरन्तरा संस्कृतप्रवृत्तिः। नहि तत्र प्रमादः; लक्षणस्य क्रियाकारकान्वयस्य चापरिभ्रंशात्। नापि इच्छाऽनुगमः; अतः परमिदमुच्चारयामीत्यभिनिवेशाभावात्। ततो विज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वं निर्ह्रासातिशयानुविधानात्। अनुविधत्ते हि तत्प्रवृत्तिर्विज्ञानस्य निर्ह्रासातिशयञ्च, मन्दे तस्मिन् मन्दायाः पटीयसि च पटीयस्याः तस्या अपि प्रतिपत्तेः। अपि च, यदि वाञ्छाया तद्धेतुत्वं मन्दमतयोऽपि शास्त्राणां व्याख्यातारो भवेयुः। न चैवम्, वाञ्छतामपि तेषां तदप्रतिपत्तेः। अतो विज्ञानहेतुकैव तत्प्रवृत्तिः एतदेव दर्शयन्नाह–

प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ॥१८६॥
विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते। इति।

येषु बुद्धयः पटीयस्यो भवन्ति पुरुषेषु प्रायः सामस्त्येन वचनहेतवः कदाचिदपि तदभावे तदप्रवृत्तेः ते प्रचक्षते कथयन्ति। किम्? पुरुषार्थं धर्मस्तत्प्रयोजनादिकम्। कीदृशाः? विवक्षानिरपेक्षास्ते वक्तुकामतानिर्व्यपेक्षाः। तत एवोक्तम्–

"आसिसिषादिविरहितैः स्वासनगमनप्रभाषणस्थानाद्यैः।
निरवद्यचित्ररचितैः प्रवरगुण त्वमसि चित्रचरितो नाम्ना॥" [ ] इति।

भवतु वा विवक्षा तथापि न दोष इत्याह–

अप्रमत्ता विवक्षेयमन्यथा नियमात्ययात् ॥१८७॥ इति।

इयं सकलवेदिभि परैः परिकल्प्यमाना विवक्षा वक्तुमिच्छा अप्रमत्ता प्रमादरहिता कस्मात् ? अन्यथा अन्येन प्रमत्तप्रकारेण योऽसौ नियमस्तत्कृतस्य वचनप्रबन्धस्य स्थानत्रयेऽपि[1] अविसंवादावधारणं तस्या अत्ययोऽभावस्तस्मात्। नहि प्रमादवद्धेतुनिबन्धनस्य तन्नियमः सम्भवति, अस्ति चायं प्रत्यक्षविषये प्रथमेन अनुमानवेद्ये द्वितीयेन अत्यन्तपरोक्षे च तृतीयेन प्रस्तावेन तन्नियमस्य प्रसाधनात्। ततः सा प्रमादरहितैव ततो न दोषवतीत्याह–

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम्। इति।

इष्टं श्रेयोऽर्थिभिरभिलषितं संसारतत्कारणादिकं सत्यं न सौगतादिवत् कल्पितम्। अत एव हितं पुरुषार्थभूत वक्तुमिच्छा कथयितुकामता कथं दोषवती न कथञ्चिदिति ? कुतः पुनः कस्यचित् सकलज्ञानं यतः कथमित्याद्युच्यत इति चेत् ? अत्राह–

प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः ॥१८८॥ इति।

प्रज्ञायाः सकलश्रुतार्थबुद्धेर्योऽसौ प्रकर्षो भाव्यमानाया अतिशयगमनस्य (न तस्य) यः पर्यन्तभावः परिस्फुटव्यापारात्मा स सर्वार्थगोचरः सर्वदेशकालादिव्यवहितोऽर्थो जीवादिर्गोचरो यस्य स तथोक्त इति। एतदुक्तं भवति–सकलश्रुतार्थभावनायां तत्पर्यन्ते सा परिस्फुटसकलवस्तुप्रभाववती भवति कामिन्यादिभावनावत्। तद्वांश्च सर्वज्ञ इति। भवतु वक्ता सर्वज्ञः तद्वचनस्य तु कथं यथार्थत्वं यतस्तत्त्वज्ञानार्थिनामयमन्वेषणीयः स्यात् ? स्वरसत एव शब्दानामयथार्थबुद्धिहेतुत्वेन तदुक्तानामपि वस्तुगोचरत्वानुपपत्तेरिति चेत्; अत्राह–

तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभावः सर्वहिताभिधा। इति।

तस्य तत्पर्यन्तभावस्य कार्यं वचनं तस्योत्कर्षः एकान्तप्रवादापेक्षोऽतिशयोऽविमति-सारलक्षणः[2] तस्य पर्यन्तभावः स्वविषये सर्वत्र सत्त्वम्, सर्वेभ्यो हितस्य श्रेयसः तन्मार्गस्य च अभिधा प्रकाशनमिति। तात्पर्यमत्र–

वाचां हि तत्प्रयुक्तानामविसंवादभावतः।
प्रतीयते यथार्थत्वं कथं तेनायथार्थता ॥१५४०॥
अयथार्थं वचः सर्वमिदं चेदर्थवद्वचः।
अयथार्थं वचः सर्वमिति सन्धा विलिप्यते ॥१५४१॥
इदमप्ययथार्थं चेद्यथार्थं स्याद्वचः परम्।
अयथार्थायथार्थत्वे यथार्थत्वव्यवस्थितेः ॥१५४२॥
यथार्थत्वे स्वतः सर्वं वचः किन्न तथेति चेत्।
चक्षुरादि तथा किन्न सर्वमर्थवदुच्यताम् ॥१५४३॥
अर्थवद्गुणवत्तच्चेन्मिथ्यार्थमितरन्मतम्।

---

१ "स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञान हि वक्ष्यते।" –त० श्लो० पृ० १३। प्रत्यक्षानुमेय-अत्यन्तातीन्द्रियलक्षणे स्थानत्रये। २–यमुन्मेषश्री– आ०, ब०, प०।

वचस्यपि विभागोऽयं प्रशस्यः कल्प्यतां त्वया ॥१५४४॥
सर्वज्ञश्चेन्न वक्तव्यः कल्पितः किं त्वयाऽप्यसौ ।
प्रयोजनं विना यस्मान्न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥१५४५॥
तत्सन्निधानतस्तत्त्वज्ञानं स्यादिति चेत् कुतः ।
तज्ज्ञानं येन तत्सन्निधानादित्यभिजल्पसि ॥१५४६॥
तत्त्वज्ञानोदयाच्चेत् स क पुनस्तत्कुतो[1] गतः ।
निरन्वयस्य यद्धेतोर्गमकत्वं न वाञ्छसि ॥१५४७॥
कुतो वा सन्निधिस्तस्य नियतेष्वेव सम्भवी ।
अदृष्टनियमाच्चेत् स्यात् तत्त्वज्ञानं ततो न किम् ? ॥१५४८॥
तन्न तत्सन्निधानेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ।
विनाप्येवं यतस्तेन तज्ज्ञानमुपपत्तिमत् ॥१५४९॥ इति ।

ततो न युक्तमिदं राहुलकीर्ते:–"चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते विश्वरूपोऽप्यरूपः ।" [ ] इति । तदुपमानत्वस्यैव सन्निधिबलात् तत्त्वज्ञाननिबन्धनरूपस्यानवगमात् । [2]ततो नोपमानादेव तत्त्वपर्यवसायिनस्तस्य परिज्ञानमिति कथन्न वक्तृत्वं तस्य कथं चायथार्थत्वं वचसाम् ? इत्युपमक्षमुक्तम्–'तत्कार्यं' इत्यादि । तदेवं वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेनाविरोधमुपपाद्य पुरुषत्वादेरप्युपपादयन्नाह–

यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोः ॥१८९॥
अविरोधेन [3]वाग्वृत्तेराद्रेकस्तन्निषेधने ।
तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद्बुद्धिविस्तरे ॥१९०॥

तथैव हि[4] वा [ग्] वृत्तेः हेतोस्तस्य सर्वज्ञस्य निषेधेन केवलम् आद्रेकः शब्दोत्साह एवार्थरहितः । मीमांसकस्य [5]स एवेति । केनेति चेत् ? वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोरविरोधेन वचनस्य सर्वज्ञस्य च योऽयमुक्तन्यायेन कार्यकारणभूतयोरविरोधस्तेनेति । तथैव पुरुषत्वादेरादिशब्दात् शिरःपाण्यादिमत्त्वादेरपि तन्निषेधने आद्रेक इति सम्बन्धः । एतदेव कुत इति चेत् ? तस्यैव पुरुषत्वादेर्बुद्धिविस्तरे प्रज्ञाप्रकर्षे सत्यपि अक्षयादिति । यदि हि तस्य तेन विरोधः सति बुद्धिप्रकर्षतारतम्ये[6] तदप्यपकृष्यमाणमुपलभ्येत उष्णातिशयतारतम्ये शीतवत् । न चैवम्, अतो न तस्य तेन विरोध इति । केवलं [7]ततोऽपि तन्निषेधनमाद्रेक एव । स्यान्मतम्– नियतविषया एव निसर्गतो बुद्धयः तत्कथं तासां भावनाबलादपि सकलं तद्विषयं (सकलतद्विषयत्वम् ?) न

---

१ तत्कुतो आ० व०, प० । २ ततोऽनुपमा– आ०,व०,प० । ३ वा वृ– ता० । ४ हिम-वान् आ०, व०, प० । ५ आद्रेक एव । ६– तम्येनैव त– आ०, व०, प० । ७ पुरुषत्वादेरपि ।

हि तोयस्य पावकत्वेन परिभावितस्यापि पावकमयत्वमिति; तन्न, स्वशक्तित एव तासामशेषविषयत्वात्, अन्यथा व्याप्तिज्ञानानुपपत्तेरिति निवेदितत्वात्। किमिदानीं तद्बलेनेति चेत्? न; तेन तद्गतस्यैव स्पष्टासाधारणाकारप्रतिभासप्रत्यर्थिनः कर्ममलस्यैव प्रत्याख्यानात्, चैतन्योन्मीलनप्रत्यर्थिनो विषोपलेपस्येवामृतध्यानबलेन[1]। अत एवामनन्ति-"तपसा निर्जरा च" [त० सू०९।३] इति। तदेव दर्शयति-

सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसंक्षयात्। इति।

ज्ञानमाव्रियते येन तज्ज्ञानावरणं कर्म वक्ष्यमाणसद्भावं तस्य संक्षयः समन्तात् परिक्षयः श्रुतविषयभावनात्। ततः सर्वस्य यः प्रकाशः स्पष्टासाधारणाकारप्रतिभासरूपः तत्र सामर्थ्यं बुद्धीनामिति शेषः। एतदेव स्पष्टयन्नाह-

अक्षयात् पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य संक्षयात्॥१९१॥
सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते। इति।

ज्योतिर्ज्ञानमेव प्रभास्वरत्वात् अक्ष आत्मा प्रकृतः प्रकर्षेण निश्चितो यस्मिन्नित्यक्षमयम् आत्मस्वरूपं स्वरूपादन्यत्र तन्निश्चयानुपपत्तेः। तत् सर्वार्थैः ग्राहकत्वेन सम्प्रयुज्यते। किमेकस्मिन्नेव मुखे? न; सर्वतः सर्वात्मना ऊर्ध्वमधस्तादग्रतः पृष्ठतः सर्वतश्च। कुतस्तथा? प्रतिपक्षस्य ज्ञानावरणस्य संक्षयात् निःशेषापगमात्। तथा च प्रवचनम्-

"निरावरणवाभासद्दिव्यबोधमहोमयी।
प्रख्यायोर्ध्वमधस्तिर्यक् प्रतिव्यक्ति प्रकाशते॥" [ ] इति।

प्रतिपक्षपरिक्षये तदाहितविशेषस्य ज्ञानस्यापि परिक्षयात्। कथं तस्य[2] पुनः सर्वार्थैः सम्प्रयोग इति चेत्? न; तदापि[3] तद्विशेषस्यैवास्पष्टप्रतिभासविभ्रमरूपस्य व्यावृत्तेः न ज्ञानमात्रस्यापि, निरन्वयायां वस्तुनिवृत्तौ प्रमाणाभावात्। अत एवेदम्-'अक्षयात् पुरुषत्वादेः' इति। पुरुषत्वमन्वितं जीवरूपम् आदिशब्दाच्चेतनत्वादीति तस्यैवेति चेत्; [4]ननु चेतनत्वमेव पुरुषत्वं तत्कथं तदन्यत् यत आदिपदेन सङ्ग्रह इति चेत्? न; तदापि तद्विशेषस्यैवास्पष्टप्रतिभासविभ्रम [रूप] पुरुषत्वस्य[5] साधारणेतरस्वभावस्य अन्वितरूपतन्मात्रत्वात्, चेतनत्वस्य चोपयोगव्यपदेशस्य असाधारणरूपत्वात्। अत एवोक्तम्-"उपयोगस्वात्मान्यो वस्तुत्वादिस्तदुभयभावो जीवः" [ ] इति। यदि प्रतिपक्षपरिक्षयाज्ज्योतिः छद्मस्थानां तदभावात् कथं रूपादिवेदनमिति चेत्? अत्राह-

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात् कर्मपटलाच्छता॥१९२॥
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः। इति।

---

१ भवनाबलेन। २ पुनस्तस्य आ०, ब०,प०। ३ तथापि आ० ब० प०। ४ न चेत- आ०,ब०,प०। ५ -त्वस्य ता०।

भवेदयं प्रसङ्गोऽपि यदि संसारिणां तु छद्मस्थानामपि जीवानां स्वप्रदेशेषु कथञ्चित् कर्मपटलस्य ज्ञानावरणापरव्यपदेशस्य अच्छता रूपादिवेदनप्रतिबन्धिशक्तिवैकल्यलक्षणपरिणतिविशेषो न स्यात्। अस्ति चेयम्, अतोऽयं न प्रसङ्ग इति। यद्येवं तदच्छताया एव स्वरूपादिग्रहणोपपत्तेः किं चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरिति चेत्, अत्रोत्तरम्–यत्र येषु तत्प्रदेशेषु कर्मपटलाच्छतेति सम्बन्धः। ते चक्षुरादय आदिशब्दाद्रसनादयश्च नापर इति। न हि गोलकादेरिन्द्रियत्वमन्यत्रोपचारात्। मुख्यतः क्षयोपशमविशेषस्यैव तत्त्वात्। अत एव गवाक्षसमत्वं तेषां तत्त्वविदः प्रतिपद्यन्ते[1]। यदि तेषां न मुख्यत इन्द्रियत्वं किन्न तदभावेऽपि तद्वेदनमिति चेत्? भवत्येव तदच्छतायाम्। कथमन्यथा पिहितगोल(पिहितगोल)कादिव्यापारस्यापि स्वप्नादौ सत्यरूपादिवेदनम्? निरूपित चैतत् प्रथमप्रस्तावे।

'सर्वार्थैः' इत्युक्तम्। सर्वे चार्था वर्तमानवदतीतानागताश्च। न च तेषां ग्रहणं ज्ञानकाले अविद्यमानत्वात्, कथमिदं तैः सम्प्रयुज्यत इति चेत्? अत्राह–

साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ॥१९३॥

सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति। इति।

तात्पर्यमत्र–यदि ज्ञानेन तत्कालासन्निहितस्याग्रहणं तर्हि तद्देशतद्देशयोरप्यसन्निहितस्याग्रहणात् न स्वरूपादन्यत्प्रमेयं नाम भवेत्। यदि न तत्सन्निधानात्[2] प्रयोजनमावरणापाये[3] ताभ्यामसन्निहितस्यापि परिज्ञानादिति, तर्हि कालसन्निधानस्यापि न किञ्चित् फलम्, अतीतादेरपि तदपायादेव प्रतिपत्तेरित्यावेद्यते। यथा[4] येन अनादित्वेनानन्तत्वेन च प्रकारेण अभूत् भूतं भविष्यति भावि च वेति समुच्चयार्थत्वात्, तथा तेन प्रकारेण सत्यमविप्रलब्धं यथा भवति सर्वं साक्षात्कर्तुं को विरोधो न कश्चित्। कदा? सर्वथावरणात्यये इति।

कालेनाऽसन्निकृष्टस्य न चेत् सर्वविदा ग्रहः।
वेदेनापि तदर्थस्य भाविनः स्यात् कथं ग्रहः ॥१५५०॥
आनन्त्यात् भाविनोऽर्थस्य वेदार्थस्यापि तत्समम्।
सर्वज्ञेनेव तज्ज्ञानं तद्वेदेनापि दुष्करम् ॥१५५१॥
तदर्थानन्त्यवित्तिश्चेन्नास्ति वेदादितीष्यते।
[5]सतस्तस्य ततो वित्तौ कुतस्ते तत्प्रवेदनम् ॥१५५२॥
नास्त्येव तच्चेद्वेदोऽपि स्यादनन्तः कथं तव?
तथापि तस्यानन्त्ये स्यात् अर्थशून्या व्यवस्थितिः ॥१५५३॥
ततो यथा स्वकालस्थमपि वेदोऽर्थवेदनम्।
वेदार्थानन्त्यवित्तद्वत्सर्वज्ञोऽपीति गम्यताम् ॥१५५४॥

---

१ "अनेकगवाक्षान्तर्गतप्रेक्षकवत्"– प्रश० भा० पृ० ३३। २ अथ न आ०, ब०, प०। ३ तदात्मतद्देशाभ्याम्। ४–थानादि– ता०। ५ समतस्य–आ०, ब०, प०।

यदि परदुःखादिकं सर्वज्ञो न जानाति कथं तज्ज्ञत्वम् ? जानाति चेत्; कथन्न दुःखादिमान् ? नहि परस्यापि तत्साक्षात्करणादपरं दुःखादिमत्त्वमिति चेत् ; अत्राह–

[1]परदुःखपरिज्ञानाद्दुःखितः स कथं भवेत् ॥१९४॥
स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः । इति ।

परेषां छद्मस्थानां दुःखं तस्य, उपलक्षणमिदं तेन रागादेश्च परिज्ञानात् दुःखितः सः सर्वज्ञः कथं नैव भवेत् ? न हि दुःखपरिज्ञानादेव दुःखितत्वम् अपि तु स्वतस्तथा परिणामात् । न चायमस्ति योगिनः अपि तु दुःखितस्य संसारिण एव । ततः स एव दुःखी न तज्ज्ञानमात्रेण योग्यपि । न हि पितुरपि पुत्रदुःखपरिज्ञानादेव दुःखित्वं किन्तु स्वतस्तथापरिणामादेव, अन्यथा दुश्चरितपुत्रपरिक्लेशपरिज्ञानादपि तस्य दुःखितत्वं प्राप्नुयात् ।

किं पुनर्भावनापाटवात् कुतश्चिद् बुद्धिप्रकर्षो दृष्टोऽस्ति यतः सकलवेदनमपि ततो भवेदिति चेत् ? बाढमस्तीत्याह–

भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं [मलक्षयः] ॥१९५॥ इति

वैद्यकादिशास्त्रार्थस्य चेतसि भूयः परिमलनं भावना तस्याः पाटवं शक्तिविशेषस्ततो बुद्धेः साध्यासाध्यरोगविभागतन्निदानादिप्रतिपत्तेः प्रकर्षोऽतिशयपर्यन्तप्राप्तिः अयं प्रसिद्धो लोके, तथा सर्वोऽपि जीवादिपदार्थनिवहः प्रवचनोपनीतया प्रज्ञयोपसंगृह्य परिभाव्यमानः तत्प्रकर्षकाष्ठामधितिष्ठतीति भावो देवस्य[2] । तथा हि–विवादापन्ना बुद्धिः स्वविषये प्रकर्षमधितिष्ठति, भाव्यमानत्वात्, वैद्यकादिबुद्धिवत् । प्रकर्षस्वरूपमाह–'मलक्षय' इति । 'अयम्' इत्यत्रापि योज्यम्; अयमुच्यमानः प्रकर्षो मलस्य प्रकाशावरणादेः पर्यन्ते क्षयो नापरम्, स्वरसासंभवि[3]रूपापादनं भावनाशतेनापि तस्याशक्यत्वात् । कुतः पुनस्तत्क्षय एव स इति चेत् ? उच्यते–विवक्षितो बुद्धिप्रकर्षो मलक्षयरूपस्तत्त्वात् काचकामलाद्युपशमरूपपा[4]दपादिबुद्धिप्रकर्षवत् । तत्क्षयः किम् ? इत्याह–

कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते । इति ।

कारणस्य सकलज्ञेयप्रतिपत्तिनिमित्तस्य असम्भवाक्षेपः स्वीकारस्तस्य विपक्षो विरोधी सम्प्रतीयते निश्चीयते । तथाहि–यस्य यत्र मलक्षयः स तं साक्षात् करोति यथा कश्चिदपगतलोचनमलो लोचनमलो नीलधवलादि, मलक्षयश्च कस्यचि[5]द् जीवादिनिखिलागमार्थविषय इति । किं पुनस्तद्बुद्धेः मल यत्परिक्षयो हेतुः ? न तावदयं रागादिः; सत्यपि तस्मिन् बुद्धेर्भावात् । नापि शरीरादि; सकलवेदिन्यपि तदभ्युपगमात् । अत एव न दूरदेशादिरपीति चेत्; न; शरीरेन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्य आत्मसमवायिपुद्गलपरिणतिविशेषस्य तत्त्वात् । कुतस्तदस्तीति चेत् ? उच्यते– 'यत स्वविषये ज्ञानमस्पष्टं तत्तादृशमलनिमित्तं यथा मदिरोपयोगिनः सन्निहितेऽपि घटादौ अस्पष्टवेदनम्, अस्पष्टं च सर्वत्रापि स्वविषये प्रवचनज्ञानम् ।'

---

१ तुलना–"संवेदनाद्रागिता चेत् क्षीमान् स्यात्तन्निरूपणात् । सम्बन्धाद्रागिता तस्य न तु रागादिवेदनात् ।" –प्र० वार्तिकाल० १।२३३। २ अकलङ्कदेवस्य । ३–सम्भवी रूपादा– आ०, ब०,प० । ४–पपाटवादि– ता० । ५–चिदपिजी– आ०,प० ।

इति मलसद्भावादुपपन्नं तत्परिक्षयस्य सकलज्ञेयप्रतिपत्तौ कारणत्वमिति सूक्तम्– 'कारण' इत्यादि । तदेवमनैकान्तिकस्य वक्तृत्वादीनामभिधाय साम्प्रतमसिद्धमपि हेत्वाभासं दर्शयन्नाह–

असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ॥१९६॥ इति ।

शब्दस्य यत् अनित्यत्वं तस्य साधने कर्तव्ये चाक्षुषत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वमादिर्यस्य रासनत्वादेरसौ असिद्धः, असिद्धिः शब्दे धर्मिण्यसम्भवात् । 'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः' इति तु प्रवादमात्रमिदं न वस्तुबलप्रवृत्तम्, अन्यथा पिहितलोचनानां पन्नगानां न शब्दश्रवणं भवेत् । अस्ति च तत्तेषाम्, रूपमपश्यतामपि शब्दश्रवणेन पलायनोपलम्भात् । भवतु शब्दे तस्यासम्भवः तथापि सिद्ध एव घटादौ भावात्, अन्यथा व्यर्थैव चक्षुरादिकल्पना भवेदिति चेत्, न; तत्र सतोऽपि शब्दानित्यत्व प्रत्यगमकत्वात् । घटाद्यनित्यत्वस्य हि तन्नान्तरीयकत्वेन ततः प्रतिपत्तिर्न शब्दानित्यत्वस्य, तदभावात् ।

ननु तदभावोऽपि नापक्षधर्मत्वात्, सत्यपि तस्मिन् कृत्तिकोदयादौ तदभावात् । 'न भुदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यत्र पक्षधर्मत्वम्, शकटे तदुदयवत् कृत्तिकोदयस्याभावात् । कृत्तिकासु वा तदुदयवत् इतरोदयस्यासम्भवात् । कालादेश्च धर्मिणः सौगतकल्पितस्य शास्त्रकारेणैव प्रतिक्षेपात् । तन्न अपक्षधर्मत्वेन तदभावः । शब्दानित्यत्वाभावेऽपि तत्र भवतो बाधकाभावादेव तर्हि तस्य भवतु तदभाव इति चेत्, नेदानीं तस्यासिद्धत्वम्, सिद्धस्यैव एवमगमकत्वप्रतिपादनादिति चेत्; सत्यम्; घटादिगतस्य तस्यैवमगमकत्वं शब्दगतस्य तु नैवम्, असिद्धत्वादेव तस्यागमकत्वात्, अन्यथाऽनुपपत्तिवैकल्यस्य तत्र तन्मूलत्वात् । कः पुनः शब्दगतत्वेनैव चाक्षुषत्वादिकं हेतुमभिदध्यात् अनभिहितस्यासिद्धितोद्भावनाऽनुपपत्तेरिति चेत्; 'सर्वं सर्वत्र' इति ब्रुवन् साङ्ख्य एवेति ब्रूमः । न च तस्य शब्दानित्यत्वमनभिप्रेतम्; आविर्भावादिरूपेण तदभ्युपगमात् । असिद्धत्वञ्चैतस्य तत्राप्रतिपत्तेः । नह्यप्रतिपन्नं सिद्धं नाम अतिप्रसङ्गात् । ततः स्थितम्–'असिद्ध' इत्यादि । हेत्वाभासत्वमन्यथानुपपत्तिवैकल्यात् । तस्य चैकविधत्वात् तदाभासानामप्येकविधत्वमेव प्राप्नोति, बहुविधत्वञ्चेष्यते तत्कथमिति चेत्; अत्राह–

अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः । इति ।

अन्यथासम्भवाभावः अन्यथाऽनुपपन्नत्वस्याभावः तस्य भेदो नानात्वं तस्मात् स हेत्वाभासो बहुधा बहुप्रकारः स्मृतो मत इति । कैः कृत्वा स बहुधेत्याह–

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः ॥१९७॥ इति ।

१– श्रवणसु– आ०, ब०, प०। २ अविनाभावाभावः। ३ नान्तरीयकत्वे। ४ पक्षधर्मत्वाभावात् । ५ 'यदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ?"–प्र० वा० स्ववृ० पृ० ११ । ६ "कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग "–प्र० सं० पृ० १०४ । 'यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्य उदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्य कृत्तिकोदय साधनं पक्षधर्म एवेति मतम्; तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्व साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु, तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् ।" –प्रमाणपरी० पृ० ७१ । अक० टि० पृ० १७५ । ७ शब्दादिनि –ता० ।

व्याख्यातं प्रागेवेदम् । तत्र विरुद्धो नाम साध्यासम्भव एव भावी । स च द्वेधा विपक्षव्यापी तदेकदेशवृत्तिश्चेति । तत्र तद्व्यापी निरन्वयविनाशसाधनः सत्त्वकृतकत्वादि, तेन परिणामस्यैव तद्विपक्षस्य साधनात्, सर्वत्र च परिणामिनि भावात् । तदेकदेशवृत्तिः प्रयत्नानन्तरीयकत्वश्रावणत्वादि, तस्य [1]तत्साधनस्यापि विद्युदादौ परिणामिन्यप्यभावात् । तथा साध्ये सत्यसति च यस्यासिद्धिरसौ असिद्धो नाम । [2]स तु अनेकधा चायम्–अज्ञातसन्दिग्धस्वरूपाश्रयप्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धविकल्पात् । तत्राज्ञातसिद्धः सर्वोऽप्येकान्तवादिपरिकल्पितो हेतुनिवहः, तत्परिज्ञानस्य "परोक्ष [ज्ञान] विषय" इत्यादिना[3] "विमुखज्ञानसंवेदः" इत्यादिना[4] च प्रतिक्षेपात् । सन्दिग्धासिद्धो यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति । तत्र हि यदा स्वरूप एव सन्देहः किमयं मयूरस्यैव स्वरः आहोस्वित् मनुष्यस्येति ? तदाश्रये वा किमस्मान्निकुञ्जात् केकायितापात आहोस्विदन्यत इति तदा भवत्येव सन्दिग्धासिद्धत्वमस्य ।

स्वरूपासिद्धो यथा–"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" [ ] इत्यत्र[5] यदि युगपदुपलम्भनियमो हेत्वर्थः; सोऽसिद्ध एव विषयदर्शनेऽपि सन्तानान्तरगतस्य तज्ज्ञानस्य कुतश्चित्तत्प्रतिपत्तावपि तद्विषयविशेषस्य अनवगतेरिति प्रथमप्रस्तावे निरूपितत्वात् । अथैकोपलम्भनियमः; सोऽपि तादृश एव । न ह्येकस्य ज्ञानस्यैवोपलम्भो बहिरर्थस्यापि तद्भावात् । कः पुनरयं बहिरर्थो नाम यस्योपलम्भात् एकोपलम्भस्यासिद्धिः ? नीलधवलादिरिति चेत्; न तन्मात्रेण तत्त्वमपि तु ज्ञानादर्थान्तरत्वे तद्वेद्यत्वे च, तन्मात्रस्य ज्ञानत्वेऽप्यविरोधात् । न च नीलादेरन्यज्ज्ञानं पश्यामो यतोऽर्थान्तरत्वं तद्वेद्यत्वं वा तस्य भवेत् । अव्यतिरेके तु न तस्य बहिरर्थत्वं सुखादिवत् ज्ञानत्वस्यैवोपपत्तेः । अथ नीलमहं पश्यामीति प्रतीतेः कथमर्थान्तरस्य ज्ञानस्याभावः अहंबुद्धिवेद्यस्य [10]तत्त्वादिति ? तदपि न युक्तम्, कर्तृकर्मक्रियारूपतयापि विभागस्याविभागरूपे नीलादावेव कल्पितरूपत्वात्, शिलापुत्रस्य शरीरमित्यादिवत् अतात्त्विकत्वात् । न हि तत्त्वतोऽहम्प्रत्ययस्य तत्र व्यापारः । व्यापारे वा तत्रापि तद्वेद्ये व्यापारान्तरेण भवितव्यं तत्राप्यपरेणेत्यनवस्थानं भवेत् । व्यापारमव्यापार [11]एव स प्रत्येति चेत्, नीलादि किन्न तथा प्रत्येति ? प्रत्येतु को दोष इति चेत्; सर्वं तर्हि प्रतीयात् अविशेषात् । न चाहमित्यपि शरीरादन्यः, स्थूलोऽहमिति तत्सामानाधिकरण्येन प्रतीतेरन्यथाऽसम्भवात् । शरीरस्य च ग्राहकत्वे ग्राह्यमपि तदेवेति सिद्धं नीलादितज्ज्ञानयोरनर्थान्तरत्वमिति कथं तस्य बहिरर्थत्वमिति चेत् ? उच्यते–तदेव तदर्थान्तरं ज्ञानं यस्यायं भवद्विचारो व्यापारः । सोऽपि नीलादीनामन्यतमस्यैवेति चेत्, न, तस्य स्वरूपादन्यत्राऽप्रवृत्तेः । न हि तत् नीलादिकमशेषमविषयीकुर्वत् तद्व्यतिरिक्तज्ञानाभावप्रतिपत्तौ

---

१ अनित्यत्वसाधनस्यापि । २ 'स तु' एते पदे व्यर्थे । त्वनेक– ता० । ३ न्यायवि० श्लो० १।११ । ४ न्यायवि० श्लो० १।१९ । ५ "यस्मांत्र नीलाकारतद्धियौ तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः यथोक्तः सहोपलम्भो हेतुः । ईदृश एवं आचार्यीये प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः ।" –तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७ । प्र० वा० ३।३८७ । ६ –यसन्द– प० । ७ एतस्योप– आ०,ब०,प० । ८ –यत्तज्ज्ञा– आ०, ब०, प० । ९ –यत्वस्य आ०,ब०,प० । १० ज्ञानत्वादिति । ११ एव प्र– आ०, ब०, प० ।

समर्थम्, व्यतिरिक्तभावप्रतिपत्तेर्व्यतिरेचयितव्यवस्तुप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्। अथ तदेव नीलादिकं यथास्वमात्मनि ज्ञानान्तराभावमवैति तत्किं तदर्थेन व्यतिरिक्तज्ञानेनेति चेत्? न, विना तेन तदेवेत्यादेरपि दुरवबोधत्वात्। न ह्येकेन तस्य सर्वस्याऽनवगमे युक्तमिदं तदेवेत्यादिकम्, एकज्ञानव्यापारतयैवास्य प्रतीतेः। ततोऽस्त्येव ज्ञानमर्थान्तरं नीलादेः। कथं पुनस्तेनाप्यव्यापारेण तस्य ग्रहणम्? सव्यापारत्वेऽनवस्थानस्य प्रतिपादनादिति चेत्; न; स्वत एव तस्य व्यापारत्वेन व्यापारान्तरकल्पनावैफल्यात्। स्वतोऽपि सर्वग्रहणव्यापारमेव तत् कस्मान्न भवतीति चेत्? नीलमपि स्वतो नित्यं व्यापि च कस्मान्न भवति? स्वहेतोरेव नियतकालदेशतयोत्पत्तेरिति चेत्; न; अन्यस्यापि तत एव नियततद्व्यापारत्वेनोत्पत्तेरविशेषात्। यत्पुनरुक्तं मस्तकस्फोटविज्ञानप्रकरणे–

"अदृष्टं पश्यतीत्येतत् सुतरामतिदुर्घटम्।
दृष्टं च पश्यतीत्येतत् व्यर्थकत्वात् सुदुर्घटम्॥" [ ] इति।

तदपि न युक्तम्, अदृष्टस्यैव पावकादेरनुमितस्य पुनर्दर्शनात्। तदपि दृष्टमेव दृष्टतयैव तत्रानुमानस्यापि प्रवृत्तेरिति चेत्; न, दर्शनाभावे दृष्टत्वस्यासम्भवात्। दर्शनभावे व्यर्थतैव अनुमानस्य सन्निहिततद्रूपवदिति निवेदितमेव तत्पूर्वं सविस्तरमिति नातीव निर्बध्यते। कुतश्च दृष्टत्व नीलादेर्यतः परेण तद्दर्शनं व्यर्थमुच्यते? स्वत एवेति चेत्; न; परस्य तद्विषयस्य दर्शितत्वात्। सतोऽपि परस्य कथं तद्विषयत्वं तत्र व्यापाराभावात्? न हि समसमयस्य तत्प्रतिभासस्य तदायत्तत्वमुपपन्नम्, अन्यथा दीपप्रतिभासोऽपि तुल्यकालतदन्तरायत्तः प्राप्नुयात्। तन्नेदं समञ्जसमुपकल्पितम्। अभिहितं चेदं तत्रैव प्रकरणे–

"समानकालयोरेव कार्यकारणता यदि।
भवेदेवं यदि भवेद्व्यापार इह कस्यचित्॥
प्रदीपयोरपि भवेत् ग्राह्यग्राहकता तथा।
घटयोरपि तेनेदमसमञ्जसवृत्तिकम्॥" [ ]

इति चेत्; अहो भवान् अश्वारूढोऽपि अश्वं न पश्यति, यतोऽनेन विचारेण नीलतज्ज्ञानद्वयं पश्यन्नपि परतस्तत्प्रतिपत्तिं प्रतिषेधति। न हि विचारस्यातद्विषयत्वे तेन तत्र ग्राहकभावस्यान्यस्य वा निराकरणमुपपन्नम् अप्रतिपन्ने भूतले कलशनिषेधवत्। ततो यथा स्वहेतुतस्तथोत्पत्तेर्विचारस्य तद्विषयत्वं तद्भावनिषेधविषयत्वं वा समसमयस्यापि तथा दर्शनस्यापि नीलादिगोचरत्वमुररीकर्तव्यं तथाप्रतीतेः। न प्रदीपादिभिरतिप्रसङ्गापादनं तत्र तत्प्रतीतेरभावात्। ततोऽस्ति बोधस्याप्युपलम्भ इत्यसिद्धिरेवैकोपलम्भस्य हेत्वर्थस्य।

तथा पृथगनुपलम्भस्यापि। न हि तत्र किञ्चित्प्रमाणम् अप्रतिबन्धात्। न हि तत्र तस्य तादात्म्यम्; तद्व्रीरूपत्वापत्तेः। तस्यापि पुनःप्रमाणान्तरेण तदात्मना ग्रहणेऽनवस्थापत्तेः। नापि तस्मात्

---

१ निर्बध्यते आ०, ब०, प०। २ –यदर्शनात् प०।

उत्पत्तिः; अवस्तुन्येव तस्याहेतुत्वात्। न च प्रतिबन्धान्तरम्। अप्रतिबद्धस्य च न तद्विषयत्वमतिप्रसङ्गादिति।

आश्रयासिद्धो यथा भावमात्रानुषङ्गी विनाशो भावानां निर्हेतुकत्वादिति। निरन्वयो ह्यत्र भावप्रध्वंसो धर्मी निर्दिष्टः स चासिद्ध एव। अन्यथा किमनेन हेतुना तस्यैवातोऽपि साधनात्? तत्कथमसिद्धावस्य सिद्धिः सिद्ध एव धर्मिणि तद्धर्मसिद्धेरुपपत्तेः। असिद्धिश्चास्य सान्वयस्यैव विनाशस्य प्रतीतेः, यथा बाल्यादेर्यौवनादौ। न हि तत्रान्वयो नास्ति, 'स एवायम्'[1] इत्यपरिस्खलितात् प्रत्ययात्। हेतुफलभावादेवायं नान्वयादिति चेत्; न; तन्निमित्तत्वेऽतिप्रसङ्गस्याभिहितत्वात्। भवतु तर्हि सान्वयनिरन्वयविशेषविवक्षारहितं तदुभयसाधारणं विनाशमात्रं धर्मी सिद्धत्वादिति चेत्; न; विशेषद्वयस्य असम्भवात्। न हि निरन्वयोऽपि विनाशः कश्चिदवगतिपथप्रस्थायी सान्वयस्यैव प्रतीतेः, तत्कथं तयोः किञ्चित् सामान्यं नाम यस्य हेतुं प्रत्याश्रयत्वमुपकल्प्येत? तदेवाह—

सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविनाशयोः।

यो हेतोराश्रयः [अनिष्टेरिष्टः स्वात्मा विशेषतः]॥१९८॥ इति।

व्यक्तमेतत्। भवतु तर्हि परिणामात्मैव विनाशो धर्मीति चेत्; आह—अनिष्टेरिति। न हि परिणामः सौगतस्येष्टो यतस्तस्य भावमात्रानुषङ्गित्वं साध्यते। न च तत्साधनमुपपन्नं जैनं प्रति विवादाभावात्। कस्तर्हि सौगतस्येष्टः? इत्याह—'इष्टः स्वात्मा विशेषतः' इति। विशेषेण हि निरनुगमलक्षणेन सौगतस्येष्टो वस्तुस्वभावो न परिणामेन। स च प्रमाणाभावादसिद्ध इति कथमस्याश्रयासिद्धत्वं न भवतीति मन्यते? निरंशवस्तुवादिनः सत्त्वादिः सर्वोऽपि प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धः। तद्यथा अनित्यः शब्द सत्त्वात् कृतकत्वात् उत्पत्तिमत्त्वाच्चेति। प्रतिज्ञार्थो हि[2] अत्र धर्मिसाध्यधर्मसमुदायः। तदेकदेशः पुनः शब्दोऽनित्यत्वं च, तत्र यथा अनित्यत्वस्य न हेतुत्वं साध्यत्वेनासिद्धत्वात् तथा शब्दस्यापि। अत एव शब्दत्वादेस्तत्स्वभावस्य परैस्तत्त्वमनभिप्रेतं तद्वत्सत्त्वादेरपि भवेत्, शब्दस्वभावस्य सत्त्वादिनानाधर्मस्याभावात्, अन्यथा निष्कलनिखिलवस्तुप्रतिज्ञाव्यापत्तेः। वस्तुरूप एव तत्र न विद्यत एव नानाधर्मो व्यावृत्तिरूपस्तु विद्यत एव व्यावर्त्यभेदेन तद्भेदस्य प्रतिष्ठितेः, "यावन्ति पररूपाणि तावत्यस्तन्निवृत्तयः।" इति [ ][3] वचनादिति चेत्; न; तद्भेदस्याप्येकस्वभावनिबन्धनस्य कार्यभेदवदसम्भवात् अनेकस्वभावस्य च शब्दे वस्तुन्यभावात्। भाव एव व्यावृत्तिरूपस्येति चेत्; न, तन्निबन्धनस्यापि पुनस्तद्रूपानेकस्वभावस्य कल्पनायामनवस्थापत्तेः। सत्यमेतत्, केवलं विकल्पा एवाविचारितरम्या व्यावृत्तिभेदेन तद्भेदमुपकल्पयन्तीति चेत्; न तर्हि ततः कस्यचित् सिद्धिरवस्तुसंस्पर्शित्वात्, अन्यथा ततः साध्यस्यैव सिद्धेरनर्थकं लिङ्गसमर्थनम्। तत्र कल्पनासिद्धस्य सिद्धत्वमित्यसिद्ध एव सत्त्वादिः। एतदेवाह—

साध्यसाधनभावो न शब्दे नाशित्वसत्त्वयोः। इति।

---

१ स एवायमिति प्रत्यय। २ अर्थध– आ०, ब०, प०। ३ "तस्मादेकस्य भावस्ययावन्ति पररूपाणि तावत्यस्तदपेक्षया व्यावृत्तयः।" –प्र० वा० स्ववृ० पृ० ११९।

न हि शब्दे धर्मिणि नाशित्वस्य साध्यभावः साधनभावो वा सत्त्वस्य उपलक्षणमिदं तेन कृतकत्वादेश्च,तस्य वस्तुतः कल्पनया चावस्तुत्वात् । अत्रैव प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तमाचष्टे–

अनलः पावकोऽग्नित्वात् [इत्यनेकान्तविद्विषाम्] ॥१९९॥ इति ।

यथैव हि अनले धर्मिणि पावकत्वाग्नित्वयोर्न साध्यसाधनभावः शब्दभेदेऽपि वस्तुभेदाभावात् तथा प्रकृतयोरपि । न हि तत्रापि वस्तुभेदो विकल्पभेदस्यैव भावात् । केषां पुनस्तत्र तयोर्न तद्भावः ? इत्याह–'इत्यनेकान्तविद्विषाम्' इति । विकल्पबुद्धौ अनेकान्तं ये विद्विषन्ति तेषामिति । न हि अत्राभिलाप्येतराकारस्यानेकान्तस्याभावे विकल्पो नाम, यतः विकल्पितादपि हेतुसिद्धिर्भवेत् । भवतु कल्पितस्तत्र अनेकान्त इति चेत्, न; अनवस्थादोषस्योद्घोषितत्वात् । भवतः कथं तत्र तयोस्तद्भाव इति चेत् ? आह–

सर्वान्यसदृशः शब्दः सत्त्वादिपरिणामतः ।
सर्वान्यार्थासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ॥२००॥ इति ।

साधारणेतरस्वभावो हि शब्दः स्याद्वादिनां प्रतीतिबलात् । प्रतीयते हि तत्र साधारणस्वभावत्वं सत्त्वज्ञेयत्वादिना परिणामेन, तद्रूपेण तस्य सर्वापरपदार्थसादृश्यात्, असाधारणरूपत्वं च शब्दत्वश्रावणत्वादिना, तस्य तदन्यत्र सर्वत्राभावात् । अतः शब्दानित्यत्वसाधनेन तेषां सत्त्वादेः प्रतिज्ञाऽर्थैकदेशासिद्धत्वम् । शब्दादसाधारणपरिणामात्मनस्तस्य तद्विपरीतत्वेन न निरंशवादिनामिति भावः । शब्दस्य परिणामत्वे परिणामिना भवितव्यं तस्य तद्धर्मत्वात् । न चासौ कश्चिदपि अस्तीति चेत्; न, पुद्गलपरमाणूनां भावात् । एतदेवाह–

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानयः ।
शब्दोत्पत्तिविनाशाः [तत्साध्यसाधनसंस्थितिः] ॥२०१॥ इति ।

शब्दस्य हि उत्पत्तिर्नाम पुद्गलपरमाणूनां ताल्वादिभिः श्रवणज्ञानविषयभावयोग्यस्कन्धरूपातिशयोपादानमेव, विनाशोऽपि कुतश्चिदतिशयपरिहाणिरेव, नासतः सर्वथा प्रादुर्भावो नापि नीरूपप्रध्वंसः प्रमाणाभावात् । ततो युक्तं परिणामत्वं शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वात् । न चेदमसिद्धमवबोद्धव्यं तृतीये निरूपयिष्यमाणत्वात् । बहुवचनं तु उभयत्रापि व्यक्तिबहुत्वापेक्षं प्रतिपत्तव्यम् । ततः किम् ? इत्याह–तत्साध्यसाधनसंस्थितिः । तत् तस्मात् साधारणेतरस्वभावसद्भावात् साध्यसाधनानामनित्यत्वसत्त्वादीनां संस्थितिरस्तीति शेषः । एवमन्येऽप्यसिद्धा हेत्वाभासा अभ्यूहितव्याः ।

सम्प्रत्यनैकान्तिकस्तदाभास उच्यते । कथं पुनर्विरुद्धेत्यादौ कारिकायामनुक्तस्तदाभासः कथ्यते तदुक्तस्यैव विवरणीयत्वादिति चेत् ? न, सन्दिग्धशब्देन तस्यैव अभिधानात् । सन्दिग्धसाध्यविपक्षत्वेन तत्र तच्छब्दोपपत्तेः । स च यथा तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकम् अचेतनोपादानत्वात् सन्निवेशविशिष्टत्वाच्च घटादिवदिति ।

स्यान्मतम्–सत एव साध्ये तद्विपक्षे च भावादनैकान्तिकत्वम् । न च तन्वादौ तादृगम-

१ न्यायवि० श्लो० २।१९७ ।

चेतनोपादानत्वादिकमस्ति यस्य घटादौ साध्यानुगमः प्रतिपन्नः । यदि स्यात् जीर्णप्रासादादिवत् तत्रापि प्रतिपत्तुः स्वयमेव कृतबुद्धिः स्यादिति व्यर्थैवेयमनुमानकॢप्तिर्भवेत् । ततोऽसिद्ध एव तत्रायं हेतुवर्ग इति कथमनैकान्तिकत्वम् ? तदुक्तम्–

"सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् ।
सन्निवेशादि तद्युक्तं तस्माद्यदनुमीयते ॥" [प्र० वा० १।१२] इति;

तदयुक्तम्; प्रत्यवमर्शेन तत्रापि तत्सिद्धेः । अस्ति हि घटादाविव तन्वादावपि प्रत्यवमर्शः– 'अयमचेतनोपादानः, अयमचेतनोपादानः' इत्यादिः, तत्कथं जीवति तस्मिंस्तत्र तदसिद्धत्वकल्पनम् ? व्यपदेश एवायं केवलं न प्रत्यवमर्श इति चेत्; न; कृतकत्वादावपि एव प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं घटः कृतकः शब्दोऽपि कृतक इति व्यपदेशमात्रमेवेदं नात्रापि सामान्यप्रत्यवमर्शः कश्चित् । तथा चात्रासावपि असिद्ध एवेति न कश्चिदपि हेतुः सिद्धः स्यात् । ततो यथा कृतकत्वादौ प्रत्यवमर्श एव सामान्यविषयः, तद्वदचेतनोपादानत्वादावपि इति सिद्ध एवायम्, केवलं साध्याभावेऽपि भावात् अनैकान्तिकः । तथा हि–बुद्धिमतो हेतोर्यच्छरीरं तद्यदि तेनैव बुद्धिमता बुद्धिमद्धेतुकं तन्निर्माणेऽपि तस्य शरीरान्तरं पुनस्तन्निर्माणेऽपीति न क्वचिदवस्थितिस्तच्छरीराणाम् । अन्येन बुद्धिमता तद्धेतुकं तदित्यपि न युक्तम्; तच्छरीरस्यापि तदन्येन तद्धेतुकत्वकल्पनायामनवस्थापत्तेः । अथाशरीरबुद्धिमद्धेतुकमेव तच्छरीरं तदयमप्रसङ्गः; तन्न; तन्वादावपि तद्धेतुकत्वस्यैव प्रसङ्गात् । अस्तु तर्हि तत् अतद्धेतुकमेवेति चेत्; सिद्धं तर्हि तेन व्यभिचारित्वम् अचेतनोपादानत्वादेः असिद्धे बुद्धिमति तच्छरीरस्याप्यसिद्धत्वात् कथं तेन व्यभिचारकल्पनम् ? सिद्धे सिद्धमेव तदिति चेत्; तथापि किं तत्कल्पनेन सिद्धस्य तेन प्रत्याख्यानानुपपत्तेरिति चेत्, सत्यं यदि प्रमाणसिद्धेन तेन तत्कल्पनम्, न चैवं पराङ्गीकारमात्रसिद्धेनैव तदुपपादनात्, तदङ्गीकारस्य अप्रमाणत्वात् कथं तद्विषयेण व्यभिचार इति चेत् ? कथं तादृशेनैव क्षणक्षयादिनाऽनुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं यतो 'नास्ति क्षणक्षयादिरनुपलम्भात् व्योमकुसुमादिवत्' इत्यनुमानमुज्जृम्भेत ? तदभावो न भावेषु साध्यते किन्तु तद्विरुद्धमनि (द्धं नि) त्यत्वमात्रं कौटस्थ्यमेवेति चेत्; अप्रतिपन्ने तस्मिन् कथं तत्र तद्विरुद्धत्वप्रतिपत्तिः ? पराङ्गीकारादप्रतिपन्नव्यभिचारबुद्धेरिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । तस्य नास्त्येव शरीरमिति केचित् । तैरपि तत्र निदर्शनं वक्तव्यं यतोऽशरीरस्यैव तस्य तन्वादिकर्तृत्व प्रतीयेत इति । उच्यत एव गाढसुप्तः तेन अशरीरेणापि स्वशरीरविक्षेपादेः करणादिति चेत्, अबुद्धिमताऽपि तर्हि तेन तत्करणाद् बुद्धिमत्त्वमपि तस्य न स्यात् । कुविन्दादेः बुद्धिमत एव दर्शनात् तस्यापि बुद्धिमत्त्वे सशरीरत्वमपि स्यादविशेषात् । किमर्थं वा बुद्धिमतोऽपि तस्य तन्वादिकरणम् ? क्रीडार्थमिति चेत्, न, क्षीणक्लेशस्य क्रीडाऽसम्भवात् । क्लेशोऽपि विद्यत एव तस्य रागादिरिति चेत्;

१– णेऽपि तस्य शरीरान्तरं पुनस्तन्निर्माणेऽपीति प० । २ शरीरम् । ३ व्यभिचारकल्पनेन । ४ शरीरेण । ५ पराङ्गीकारमात्रसिद्धेनैव । ६ क्षणिकत्वाभाव । ७ क्षणिकत्वे । ८ –दविप्रतिपक्षे व्य– आ०, ब०, प० ।

कथं तर्हि तस्य[1] दुस्तरासारसंसारघोरासातसागरोदरनिपातनिमित्तत्वं प्रतिपद्यमान एव तत्प्रयुक्तः क्रीडाया प्रवर्तेत ? बालप्रज्ञामलीमसमानसस्यैव तदुपपत्तेः। प्राकृतस्यैव[2] सोऽपि तन्निमित्तं न विश्वलोकातिशयिशक्त्यधिष्ठानस्य महेश्वरस्य, न हि यथा पन्नगविषं मानुषाय[3]प्रतपत्येवं मयूरायापीति चेत्, न; तल्लेशेऽपि क्लेशत्वस्याविशेषात्। तथापि प्राकृतक्लेशस्यैव तन्निमित्तत्वं न तस्येति कल्पनायाम् अचेतनोपादानत्वाद्यविशेषेऽपि कलशमुशलादिकमेव बुद्धिमद्धेतुकं न तन्वादीति किन्न विभागकल्पन यतो व्यभिचारदोषो दुष्परिहारो न प्राप्नुयात् ? किञ्च,

मुक्तानामपि तन्वादि कुर्वन् क्रीडति किन्न सः।
प्रभाव[4] स्यात् परं चैवमशक्यार्थोपकल्पनात् ॥१५५५॥
कर्मणा तन्निमित्तानामभावान्नेति चेदसत्।
तेषामपि तदायत्तप्रादुर्भावतया स्थितेः ॥१५५६॥
अचिन्त्यां बिभ्रतः शक्तिं किं वा तेषामपेक्षया।
सहायापेक्षिणी शक्तिरचिन्त्या वा कथं भवेत् ? ॥१५५७॥
तन्न क्रीडापरत्वेन युक्ता तन्वादिनिर्मितिः।
प्राणिनामुपभोगाय तत्कृतिर्यदि कल्प्यते ॥१५५८॥
उपभोगोऽपि कर्तव्यः प्रीतिरेव तनूभृताम्।
यद्यनुग्रहबुद्ध्याऽसौ तत्क्रियाया प्रवर्तते ॥१५५९॥
तथा च दुःखजन्मैषां न तत्कार्यतया स्थितम्।
व्यभिचारेण तद्धेतून् योजयत्यपसव्यर्थम् ॥१५६०॥
अस्ति निग्रहबोधोऽपि यदि तस्य मनीषिणः।
द्रोहः कस्तैः कृतो येन स तत्र परिकल्प्यताम् ॥१५६१॥
द्रुह्यते सोऽपि चेदन्यैः सत्त्वैरत्यल्पशक्तिभिः।
तत्प्रभावमवादाय त्वं प्रयच्छ जलाञ्जलिम् ॥१५६२॥
अद्रोहकृत्सु तन्नाथ निग्रहस्तेषु युज्यते।
कर्तुं बुद्धिमता देवैरिदमन्यत्र भाषितम् ॥१५६३॥

"तन्वादिकरणात् सत्त्वान् भवक्लेशेन योजयेत्।
बुद्धिमानीश्वरः कस्मात् स्वयं द्रोहमकुर्वतः ॥" [सिद्धिवि० परि०७] इति।

निग्रहोऽपि तेषामुपकारायैव, फलोपभोगेन कर्मपरिक्षये निर्वाणपुरप्राप्तेर्भावादिति चेत्, अपरिपक्वानामेव तर्हि तेषां[6] परिक्षयः कर्तव्यः स्यात्। एवं हि तेन जगदनुगृहीतं[7] भवति, प्रभुर्य-

१ तस्य स दु– आ०, ब०, प०। २ साधारणजनस्यैव। ३ प्रभवत्येवं आ०, ब०, प०। ४–शयः आ०, ब०, प०। ५–प्रभावाय आ०, ब०, प०। ६–षां क्षयः क परि– आ०, ब०, प०। ७ जनानुगृहीतं आ०, ब० प०।

देवेच्छति तत्करोतीति चानुसृतं भवति । यदि वा, कृत्वा परिशोधनात् कर्मणामकरणमेवोपपन्नम् "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" [ ] इति न्यायात् । तत्कर्मणामविद्यामलीमसाः प्राणिन एव कर्तारो न महेश्वरः स तु तेषां फलमेवोचितं परिकल्पयतीति चेत्; तन्वादीनामपि त एव किन्न कर्तारो यतस्तेषामीश्वरकर्तृत्वमुच्यते । प्राणिनामज्ञत्वादिति चेत्, न; कर्मस्वपि समानत्वात् । तथा हि–यथा ते तन्वाद्युपादानादिकं न जानन्ति तथा कर्मवैचित्र्यनिमित्तमपि, अन्यथा दुष्कर्मकरणासम्भवात् । मा भूवंस्तेऽपि तेषां कर्तार इति चेत्; आगतस्तर्हि तैरपि हेतूनां व्यभिचारदोषोऽप्रतिविधानः । तन्नोपकारायापि निग्रहकरणमुपपन्नम् ।

प्रयोजननिरपेक्षमेव तस्य जगत्करणं स्वाभाव्यादिति चेत्; कथं तर्हि तत्कस्यचिदनुग्रहाय अपरस्योपघाताय च ? महेश्वरस्यैवं नाभिसन्धिर्जगत्स्वभावादेव तद्विभाग इति चेत्, अनुबद्धस्तर्हि तेन व्यभिचारदोष इत्युपपन्नमनैकान्तिकत्वमचेतनोपादानत्वादीनाम् ।

तथा तत्पुत्रत्वादीनामपि । 'स श्यामः तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत् । पक्का[1] एते तण्डुलाः एकस्थाल्यन्तर्गतत्वात् उपभुक्ततण्डुलवत्' इत्यादयोऽपि तद्विपक्षे बाधकवैधुर्येण अन्यथाऽनुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकत्वपदवीमासादयन्ति न पुनस्त्रैरूप्यवैकल्यात् । अस्ति ह्यत्र पक्षधर्मत्वं देशान्तरगते देवदत्तादौ तत्पुत्रत्वस्य भावात् । सपक्षे सत्त्वञ्च, पार्श्ववर्तिनि पुरुषे श्यामे तदुपलम्भात् । विपक्षव्यतिरेकश्च तत्पुत्रत्वस्य अश्यामस्याप्रतिपत्तेः, अश्यामपुत्रस्य चातत्पुत्रत्वात् । नन्वत्र साध्यप्रतिबन्धो नास्ति–न[2] तत्पुत्रत्वं श्यामत्वस्य कार्यम्; ततः प्रागेव भावात्, विशिष्टाहारवेशादिबलेन पश्चादेव हि ततः श्यामत्वं भवति तत्कथं तद्धेतुकत्वं तत्पुत्रत्वस्य ? कथं वा तत्स्वभावत्वमिति प्रतिबन्धवैकल्यादेव अगमकत्वमत्र नान्यथाऽनुपपत्तिविरहादिति चेत्; कथं पुनस्त्रैरूप्ये सति तद्वैकल्यं कृतकत्वादावपि अविश्वासप्रसङ्गात् ? तदेवात्र नास्ति विपक्षव्यावृत्तेरभावात् अश्यामेऽपि बाल्यावस्थायां तत्पुत्रत्वस्योपलम्भादिति चेत्, शिंशपात्वेऽपि तन्न स्यात्, अङ्कुरदशायामवृक्षत्वेऽपि तद्भावेन विपक्षव्यावृत्तेरभावात् । वृक्षपरिणामयोग्यतयाङ्कुरस्यापि वृक्षत्वे श्यामपरिणामशक्तितया बालकस्यापि किन्न श्यामत्वं यतो विपक्षव्यतिरेको न भवेत् ? ततस्तन्मात्रानुबन्धित्वात् साध्यधर्मस्योपपन्नमस्य स्वभावहेतुत्वं शिंशपात्वादिवदिति न प्रतिबन्धवैकल्यादगमकत्वम्, अन्यथाऽनुपपत्तिविरहादेव तदुपपत्तेः ।

सम्प्रति चिरन्तनाचार्यानुस्मरणेन पुण्यातिशयावाप्तिमभिसन्दधानः श्रीमत्पात्रकेसरिवचनेन हेत्वाभासानामुपसंहारं दर्शयन्नाह–

अन्यथाऽनुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ।
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं सङ्गिरामहे ॥२०२॥ इति ।

अन्यथाऽनुपपत्तिविरहादेव हि तत्पुत्रत्वादयोऽन्येऽपि हेत्वाभासाः साध्यप्रत्यायनवैकल्यात् अकिञ्चित्करा न त्रैरूप्यविरहात् । तदविरहस्योक्तरीत्या समर्थनादिति वयं स्याद्वादन्यायवेदिनः प्रतिपादयामहे ।

१ पक्वा– आ०, ब०, प० । २ नहि त– आ०, ब०, प० ।

तदेवमुपदर्श्य हेतुतदाभासान् सम्प्रति दूषणाभासं दर्शयन्नाह–

तत्र मिथ्योत्तरं जातिः [यथाऽनेकान्तविद्विषाम्] । इति ।

प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन् मिथ्योत्तरं भूतदोषस्योद्भावयितुमशक्यत्वेनासद्दूषणोद्भावनं सा जातिरिति । तत्केषामित्याह–'यथाऽनेकान्तविद्विषाम्' इति । यथेत्युदाहरणप्रदर्शने । अनेकान्तविद्विषः सौगतादयस्तेषामिति । कीदृशं तत् ? इत्याह–

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ॥२०३॥ इति ।

दधि चोष्ट्रश्चादिर्यस्य करभगुडादेस्तस्य एकचोदनमेकशब्दाभिधेयत्वम् । कुत एतत् ? अभेदत्वस्य दध्युष्ट्रादेरेकत्वस्य प्रसङ्गात् । प्रसज्यते हि अनेकान्तवादिनो यथा क्षीरविकारस्य दधित्वं तथा करभत्वमपि, अन्यथा 'सर्वो भावस्तदतत्स्वभावः' इति [1]सिद्धान्तव्यापत्तेः । तथा च दधिशब्देनैव क्षीरविकारस्येवोष्ट्रस्यापि तदेकतामापन्नस्याभिधानात् दधि खादेति चोदितेन करभेऽपि तद्भक्षणाय प्रवर्तितव्यम् । तदुक्तम्–"सर्वस्योभयरूपत्वे" [प्र० वा० ३। १८१] इत्यादि । विद्यत एव दधनि कश्चिद्विशेषो यतो न करभस्त तस्येति चेत्; तर्हि स एव दधीति वक्तव्यं तत एव तत्फलस्य तृप्त्यादेर्भावात्, स च न करभादौ अस्तीति कथं तदतत्स्वभावत्वं भावानां यत एकान्तवाद एव प्रशस्तो न भवेत् ? इदमप्यभिहितम्–

"अथास्त्यतिशयः कश्चित् येन भेदेन वर्तते ।
स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं वरम् ।।" [प्र० वा० ३। १८२] इति ।

कथं पुनरस्यासदुत्तरत्वं यतो जातित्वमिति चेत्? प्रमाणबलावलम्बिन्यनेकान्ते प्रवृत्तेः। प्रतिपादितं हि तदवलम्बितत्वमनेकान्तस्य प्रत्यक्षतः,सत्त्वादिसाधनसमुद्भवादाभिनिबोधिकादपि तस्यैव प्रतिपत्तेः सविस्तरं समर्थितत्वात् । न च प्रमाणपरिशोधिते वस्तुनि दूषणसम्भवः । तथा हि–तदपि [2]तदतदात्मके वस्तुनि दूषणमुद्घुष्यमाणं न तावत् सामान्यविशेषात्मके भवितुमर्हति; दध्याद्यन्वयिनः सामान्यस्यैकस्याभावात् । सदृशपरिणामो हि सामान्यम्, तच्च दध्यादिपर्यवसितमेव न किञ्चिदपि सत्त्वमन्यद्वा समन्वितमस्ति नीलतज्ज्ञानयोः सारूप्यवत् । तत्कथं दध्युष्ट्रयोरेकत्वं यत एकचोदनायामन्यत्रापि प्रवृत्तिः । नापि द्रव्यपर्यायात्मके; दधिद्रव्यस्य स्तब्ध-स्तब्धतरादिभिः स्वपर्यायैरेव अभेदात् नोष्ट्रपर्यायैः । एवमेव निर्बाधायास्तत्प्रतीतेरनुभवात्, अन्यथा विकल्पज्ञानस्यापि स्वगतेनेव तदन्तरगतेनाप्यभिलाप्याकारेणाभेदापत्तेः न भार्याविकल्पो मातृविकल्पाद्भिद्येत, तथा च तद्विकल्पप्रयुक्तस्य भार्यायामिव मातर्यपि प्रवृत्तिर्भवेत्। ततः स्याद्वादिमतमनवबुद्ध्य तत्रेदमुच्यमानं धर्मकीर्तेर्विदूषकत्वमावेदयति–"पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ।" [ ] इति प्रसिद्धेः । भवतु वा दधिकरभयोः सामान्यपरायामेव चोदनायां दधिवत् करभेऽपि प्रवृत्तिः,न च दधिचोदनायास्तत्परत्वं क्षीरविकारविषयतया विशेषपरतायाः एव तत्रोपलम्भात्, तद्विकाराच्च करभरूपस्य विशेषस्यार्थान्तरत्वात् । एतदेव परप्रसिद्धेन निदर्शनेन दर्शयन्नाह–

---

[1] "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासात् "–आप्तमी० श्लो० १५ ।

[2] तदात्म–आ०, ब०, प०। [3] विम्ब्यान्तर।

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथाऽपि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥२०४॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥२०५॥ इति ।

सुगतोऽपि न केवलमन्यो जातः पूर्वस्मिन् भवे मृगः मृगोऽपि न केवलं मनुष्य एव सुगतः स्मृतोऽनुमतः तदुत्तरभवे शाक्यैः । ततः किम् ? तथाऽपि मृगसुगतभवयो. उपादानोपादेयतयैकसन्तानत्वेऽपि सुगतो वन्द्यो न मृगो मृगस्तु खाद्यो न सुगत इति यथा येन अवस्थाभेदप्रकारेण इष्यते सौगतैः, तथा वस्तुबलादेव वस्तुशक्तित एव भेदाभेदयोरसाङ्कर्येण व्यवस्थिते चोदितो दधि खादेति कस्मात् उष्ट्रमभिधावति सत्येव तत्साङ्कर्ये तदुपपत्तेः ।

सम्प्रति जात्यन्तरं दर्शयन्नाह–

अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेका [अनवस्थितेः] । इति ।

अत्रैव भेदाभेदव्यवस्थितावेव उभयपक्षः नित्यैकान्तपक्षः क्षणिकैकान्तपक्षश्च तत्र य उक्तः स्याद्वादिना दोषः "अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः" [लघी० श्लो० ८] इत्यादिः तस्य आरेका संशीतिजातिरिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कुत इत्याह–अनवस्थितेः तदारेकायाः प्रमाणबाधितत्वेन स्थित्यभावात् । अन्यथा सर्वस्यापि प्रमाणस्य निर्विषयतापत्तेः । पुनरपि तदन्तरमाह–

अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वा [अनया दिशा] इति ॥२०६॥

वा इति समुच्चये अनन्वयः सर्वानेकान्तसाधने सपक्षवैकल्यम् आदिशब्दात् अपक्षधर्मत्वं सत्त्वादिसाधने हेतुसाध्ये व्यावृत्त्यभावश्च स एव दोषस्तदुक्तेः प्रपञ्चः प्रबन्धो जातिरिति पूर्ववत्सम्बन्ध । कथमुपपत्त्येत्याह–'अनया दिशा' इति । अनया पूर्वप्रतिपादितया दिशा अन्वयाद्यभावेऽपि गमकत्वोपपत्तिवर्त्मनेति ।

ननु यथाऽन्यापि साधर्म्यादिसमा जातिर्नैयायिकादिना कथ्यते तथा त्वया किन्नेति चेत् ? अत्राह–

मिथ्योत्तराणामानन्त्याच्छास्त्रे वा विस्तरोक्तितः ।
साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥२०७॥ इति ।

न पुनरिह शास्त्रे साधर्म्यवैधर्म्यादिसमा तथाऽपि जातिर्विस्तरेण निरूप्यते । कस्मादिति चेत् ? मिथ्योत्तराणां पुरुषाभिप्रायनिबन्धनत्वेनेयत्तापरिच्छेदाभावात् त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्रीपात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनादित्यलमभिनिवेशेन ।

तदेवमनुमानतदाभासभेदे निरूपिते यथा जयेतरव्यवस्था तथा दर्शयन्नाह–

प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः ।
विब्रुवाणोऽब्रुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥२०८॥ इति ।

---

१ –त्वासत्तासा– आ०, ब०, प० । २ –साध्याभ्यावृत्तभा– आ०, ब०, प० । –साध्याव्यावृत्त्या भा– ता० । ३ न्यायसू० ५।१।१–३७ ।

प्रकृतो विधिमुखेन निषेधमुखेन वा साधयितव्यतया प्रक्रान्तो यः अशेषः समग्रः साध्यसाधनरूपः, तत्त्वार्थो न सौगतवत् कल्पितस्वभावस्तस्य प्रकाशः सभ्यचेतसि समर्पणं तत्र पटुवादिनः सकाशात् यो विपरीत तत्प्रकाशापाटवविकलः स निगृह्यते पराजयं प्राप्नोति । तथाहि–यदा जैनो वादी सम्यक्हेतुप्रयोगेण स्वपक्षं प्रकाशयति–परिणामी भावोऽर्थक्रियाकारित्वात् । न हि नित्यैकान्ते तत्कारित्वं क्रमयौगपद्यविरोधात्, क्षणिकैकान्ते सदसत्समयविकल्पायोगाच्च । न च तदुभयविकल्पानाघ्रातं प्रकारान्तरं सम्भवति यतस्तदेकान्ते तत्कारित्वावस्थितिस्तस्य बहिरन्तश्चाप्रतिपत्तेरिति तदा सौगतादिः प्रतिवादी पराजीयते । यदा वा जैन एव प्रतिवादी प्रकृतमेव हेतुं परप्रयुक्त विरुद्धमुद्भाव्य ततः स्वपक्षमवद्योतयति तदापि परस्यैव पराजयावाप्तिस्तद्विपरीतत्वेनेति प्रतिपत्तव्यम् । अथ यदा सौगतादिरेव वादी प्रतिवादी वा स्वपक्षे परपक्षे च साधनं वा किञ्चित् समीचीनमनवलोकयन् छलादिना प्रत्यवतिष्ठते सभाभीरुतया तूष्णीं वा तिष्ठति तदा तदनुद्भावने जैनस्यैव निग्रह इति चेत्; न; प्रकृतार्थप्रत्यायने सति तदनुद्भावनस्यादोषत्वात् । यदि च तत्प्रत्यवस्थानादिना जयः परस्य पराजयश्च तदनुद्भावनेन जैनस्य किमर्थास्तर्हि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहादयो विनापि तैस्तत्सम्भवात् । तदुक्तम्–

"वादिनो गुणदोषाभ्यां स्यातां जयपराजयौ ।
यदि साध्याप्रसिद्धौ च व्यपार्थाः साधनादयः ॥" [ ] इति ।

किञ्च, अनुद्भावितं[2]मेवास्य तदनुद्भावनं यदि ।
निग्रहाय छलाद्येवं किन्न स्यात् प्रतिवादिनः । ॥१५६४॥
उद्भावितं चेत् केनास्य कल्प्यमुद्भावनं त्वया ।
सभ्यैश्चेत् किन्न ते कुर्युश्छलाद्युद्भावनं तथा ॥१५६५॥
तद्वादिनैव चेत् सोऽयं स्वकौपीनप्रकाशनम् ।
कुर्वन् कथं जयी नाम न परस्यास्ति सम्भवः ॥१५६६॥
तदुद्भावनतस्तस्य गुणतश्चेज्जयस्तदा ।
पक्षविक्षेपणाद्दोषादजयोऽपि सकृद्भवेत् ॥१५६७॥
न च तौ युगपद्युक्तौ जन्ममृत्यू [3]इव क्वचित् ।
यथा वा तमआलोकौ यथा वा स्थितिविभ्रमौ ॥१५६८॥

ततो न परिक्षीणपक्षस्य तदुद्भावनं गुण इति पराजय एव तस्योपपन्न इति सूक्तमिदं विब्रुवाणो विसदृशं दूषणमभिदधानः अब्रुवाणो वा तूष्णीमासीनो वा विपरीत एव निगृह्यत इति । तदनेनासिद्धानैकान्तिकहेत्वाभासोद्भावनमपि न पक्षसिद्धिविकलस्य गुण इति प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्, अङ्गीकृतनिर्वहणस्यैव सर्वथा गुणत्वोपपत्तेः, तद्भावाभावाभ्यामेव जयपराजययोः सम्भवात् ।

किमर्थं तर्हि तदाभासोद्भावनमिति चेत्? परस्यानुपायपक्षतां प्रतिपाद्य पुनः स्वपक्षव्यवस्थापनार्थम् । अत एवोक्तम्–

१ यथा आ०, ब०, प० । २–वितत्मेवा– आ०, ब०, प० । ३ इह आ०, ब०, प० ।

"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः ।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते" ॥ [ ] इति ।

तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण । तदेवाह–

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥२०९॥ इति ।

सिद्धिः सिषाधयिषितवस्तुनिर्णीतिः साधनं तस्याङ्गं निर्वर्तकं प्रत्यक्षं लिङ्गं वा तस्यावचनमनुच्चारणं वादिनो निग्रहस्थानं वादमभ्युपगम्य तूष्णीम्भवतो गत्यन्तराभावादिति । एतत् न युक्तम् । कस्मात् ? अर्थस्य वादप्रयोजनस्य साध्यनिर्णयलक्षणस्य अपरिसमाप्तितः तदा हि तस्य निग्रहस्थानमुपपन्नं यदा प्रतिवादिनः पक्षनिर्णयफलपरिसमाप्तिः, तदा तस्य जयाद्वादिनः पराजयोपपत्तेः, पराजयस्य जयसव्यपेक्षत्वात् । न च विना तत्परिसमाप्तेस्तस्य जयः तदर्थत्वात्तद्व्यापारस्य । न च वादिनस्तूष्णीम्भावादेव तस्य तत्परिसमाप्तिः, प्रमाणकल्पनवैफल्यात् । न तत्परिसमाप्तेः तस्य जयः किन्तु वादिदोषस्योद्भावनादिति चेत्; उक्तमत्र पक्षपरिग्रहादेर्वैफल्यमिति । कथं वादिनस्तूष्णीम्भावो दोषः, तावता तत्पक्षस्यापरिक्षयात् । शक्तिपरिक्षयादिति चेत्; न, शक्तस्यापि कुतश्चिज्जिह्वाकीलनादेस्तत्सम्भवात् । तस्मात् स्वपक्षं व्यवस्थाप्य जयेवाञ्छया प्रवृत्तो यदि तन्न व्यवस्थापयति मा भूज्जय एव तस्य, कस्मात् पुनः पराजयः ? स्वपक्षासाधनादिति चेत्; न, साधनस्य जयनिमित्तत्वेन जयस्यैव तदभावे भावात् । तदभावे एव पराजय इति चेत्; न; तस्य प्रतिवादिन्यपि पक्षसिद्धिविकलत्वेन भावात् । न च द्वयोः पराजयः कस्यचिज्जयाभावे तदनुपपत्तेः ।

यदप्यत्र व्याख्यानम्–"प्रत्यक्षाविषयस्यार्थस्य सिद्धेरङ्गं त्रिविधं लिङ्गं तस्य वचनं समर्थनम्, तच्च यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिकमिति साध्यसाधनयोः साकल्येन विपक्षे बाधकसामर्थ्यात् व्याप्त्युपदर्शनम्, अप्रदर्शितव्याप्तिकस्यानुक्तकल्पत्वेनागमकत्वात् । पक्षधर्मप्रदर्शनं वा, कृतकश्च शब्द इति, तदनुपदर्शनेऽपि गमकत्वासम्भवात् चाक्षुषत्वादिवत् । तस्यावचनमसाधनाङ्गवचनम् । तदुद्भाव्यमानं वादिनो निग्रहस्थानम् ।" [ ] इति; तदपि न समीचीनम्; तदुद्भावनमात्रेण स्वपरपक्षसिद्धिप्रतिक्षेपयोरभावात्, तन्निबन्धनत्वाच्च जयेतरव्यवस्थायाः । यदि च, व्याप्तेरवचनमसाधनाङ्गवचनम्; कथं तदपरिज्ञात (त) त्प्रतिबन्धं प्रति तदवचनं न दोषायेत्यभ्युपगमः ? यत इदं शोभेत–

---

१ "अकलङ्कोप्यभ्यधात्–विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य "–रत्नाकरा० पृ० ११४१ । उद्धृतोऽयम्–त० श्लो० पृ० २८० । सन्मति० टी० पृ० ७५९ । प्रमाणमी० पृ० ६५ । २ जयाभाव । ३ "साधनाङ्गस्यासमर्थनाद्वा । त्रिविधमेव हि लिङ्गमप्रत्यक्षस्य सिद्धेरङ्गम्–स्वभावः कार्यमनुपलम्भश्च । तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम् । यथा यत्सत्कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादि, सन्कृतको वा शब्द इति.. तस्यासमर्थनं साधनाङ्गावचनं तद्वादिनः पराजयस्थानमारब्धार्थाप्रसाधनात् । (पृ० १३) साधनं त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः तस्याङ्गं पक्षधर्मादिवचनम्..."–वादन्या० पृ० ६१ । ४–ज्ञानम् आ०, ब० ।

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥" [प्र०वा०२।२६] इति ।

अपरिज्ञातप्रतिबन्धं प्रति तद्वचनमसाधनाङ्गवचनमेवेति चेत्; तस्य तर्हि न प्रतिवादिनोद्भावनम् आत्मीयापरिज्ञानप्रकटनदोषात् । अथ सम्बन्धाभावमेवासौ तदानीमुद्भावयति; तर्हि साधनव्यभिचारदोषादेव वादिनो निग्रहो न व्याप्त्यनुपदर्शनादिति न किञ्चिदेतत् ।

तथा नापक्षधर्मवचनमपि असाधनाङ्गवचनम्, तद्वचनस्यैव तत्त्वात् । न हि सर्वं कृतकमनित्यमिति प्रतिपद्यमानः शब्दस्यापि कृतकस्यानित्यत्वं न प्रतिपद्यते सर्वानित्यताप्रतिपत्तेरेवाभावप्रसङ्गात्, तत्किं तद्वचनेन विनापि तेन साध्यसिद्धेः उपनयादिवचनवत् । परं प्रत्यर्थादापन्नस्यापि तस्य वचने परिज्ञातप्रतिबन्धं प्रति व्याप्तिवचनमपि स्यादिति असङ्गतमेतत्–"विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ।" [प्र०वा०३।२६] इति । ततो नेदं व्याख्यानमुपपन्नम् ।

इदं तर्हि स्यात्–"साध्यते विवादापन्नोऽर्थोऽनेनेति साधनं लिङ्गं तस्याङ्गं पक्षधर्मत्वादिकं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानम् । रूपस्यैव अवचने पक्षसिद्धेरनुपपत्तेः ।" [ ] इति चेत्; नेदमप्युपपन्नम्, प्रतिवादिनः परपक्षासिद्धिमात्रेण स्वपक्षसिद्धेरभावात् जयानुपपत्तेः ।

इदं तर्हि व्याख्यानं[2] शोभनम्–"यत्साधनाङ्गं न भवति प्रतिज्ञोपनयादि तदसाधनाङ्गं तस्य वचनं साधनवाक्ये तदङ्गत्वेनोपपादनम् । यथा अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादि, कृतकश्च शब्दस्तस्मादनित्यः इति । तदिदं वादिनो निग्रहाधिकरणमनर्थकाभिधानात् । अनर्थकं हि प्रतिज्ञादिकं विनाऽपि तेन 'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटादि कृतकश्च शब्दः' इत्येतावतैव शब्दानित्यत्वस्य प्रतीतेः, प्रतीतार्थस्याप्यभिधानेऽतिप्रसङ्गः प्रतिज्ञादिभिः पञ्चावयवरहेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां षडवयवस्य संशयजिज्ञासाप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासैर्दशावयवस्यापि साधनवाक्यस्याभिधानोपनिपातात् ।" [ ] इति चेत्, अत्रोच्यते–

कृतकत्व समर्थं चेच्छब्दानित्यत्वसाधने ।
प्रतिज्ञादिवचस्तस्य निग्रहाय कथं भवेत् ॥१५६९॥
प्रतीतार्थत्वदोषाच्चेत् पक्षसिद्धिमपीडयत् ।
[3]प्रतीतार्थत्वमात्रेण दोषस्तत्कथमुच्यताम् ॥१५७०॥
अन्यथा त्वंत्प्रयोगेऽपि स्वार्थिकस्तद्धितस्तथा ।
यत्तत्पदं च दोषः स्यात प्रतीतार्थतया स्थितेः ॥१५७१॥

---

१ तुलना–वादन्या० पृ० ६० । २ 'तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात्'–वादन्या० पृ० ६१। ३ तत्प्रतीतार्थमा– आ०, ब०, प० । ४ त्वप्रयो–आ०, ब०, प० । ५ 'कृतकत्वात्' इत्यत्र ।

कृतं सर्वमनित्यं हि दृष्टं यद्वद्घटादिकम् ।
कृतश्च शब्द इत्येतन्मात्रात् साध्यस्य निर्णयात् ॥१५७२॥
संक्षेप्तव्यं ततस्तेन विनाऽपि वचनं त्वया ।
अन्यथा निग्रहादुक्तमिदं सिद्धिविनिश्चये ॥१५७३॥
"सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्धितेन विना पदम् ।
संक्षेप्तव्यं समासार्थं निग्रहस्थानमीरुणा[1] ॥१५७४॥" इति
तावन्मात्रेण तज्ज्ञप्तावशक्तं पुरुषं प्रति ।
सार्थत्वात् स्वार्थिकाद्युक्तिर्न दोष इति चेत्तथा ॥१५७५॥
प्रतिज्ञादिवचः कस्माददोषो न प्रकल्प्यते ।
यतस्तद्वादिनो वादे निग्रहायोपदर्श्यताम् ॥१५७६॥
निग्रहश्चेत् प्रतीतार्थात् प्रकृतानुपयोगतः ।
शब्दालङ्कारदोषोऽपि निग्रहः किन्न कल्प्यते ॥१५७७॥
इयत्तानियमो येन निग्रहेष्वभिधीयताम् ।
न हि शब्दादिदोषाणां गणना काऽपि विद्यते ॥१५७८॥

केन वा तस्य तद्वचनान्निग्रहः कर्तव्यः ? प्राश्निकैरिति चेत्; साधु तेषां प्राश्निकत्वं यत् स्वपक्षसाधनसमर्थसाधनप्रयोगोदात्तगुणाधिष्ठानमप्यनल्पदोषेण निगृह्णन्तीति ? जयमपि ते तस्य तद्गुणेन कल्पयन्तीति चेत्; उक्तमत्र युगपत्तयोरेकत्रासम्भवादिति । ततस्तैस्तस्य गुणभूयसो जय एवापादयितव्यो न निग्रहः, निरर्थकवचनदोषस्य सतोऽप्यसत्कल्पत्वात्, "कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ" [बृहत्स्व० श्लो० ५८] इति न्यायात् । तन्न तैस्तस्य निग्रहणम् । नापि प्रतिवादिना; गुणवतस्तेनापि निगृहीतुमशक्यत्वात् । ततो न स्वपक्षसिद्धिसम्पन्नस्य तद्वचनं निग्रहस्थानम् । तत्सिद्धिविकलस्येति चेत्; नेदानीमधिकवचनेन किञ्चित् तद्वैकल्यस्य निग्रहत्वात् । उभयमपि निग्रह एव "द्विर्बद्धं[3] सुबद्धम्" [ ] इति न्यायात् चेत्; न; हेतुद्वयेऽप्यदोषापत्तेः । एकस्यैव साध्यप्रत्यायनसामर्थ्ये किं द्वितीयेन हेतुनेति चेत् ? न; दोषेणापि किं द्वितीयेन ? एकस्मादेव वादिनो निग्रहनिष्पत्तेरिति साम्यात् । तदुक्तम्–

"वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः किलेष्यते ।
नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥" [सिद्धिवि०परि०५] इति ।

तन्नेन छलादिकमपि, स्वार्थसिद्धिसम्पन्नस्य तद्विपरीतस्य चोक्तन्यायेन निग्रहाऽनुपपत्तेः । यत्पुनरेतत्[4]–"अन्वयवचनसामर्थ्यात् व्यतिरेकस्य तद्वचनसामर्थ्याच्चान्वयस्य प्रति-

---

१ सिद्धिवि० परि० ५ । २ न विद्यते अल्पो यस्यादसौ अनल्पः इति यावत् । ३ द्विबद्ध सुबद्ध प० । ४ "अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधर्म्यवति वैधर्म्यवति च साधनप्रयोग एकस्यैवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयस्यासामर्थ्यमिति तस्याप्यसाधनाङ्गस्याभिधानं निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव ।"–वादन्या० पृ० ६५ ।

पत्तौ पुनः स्वशब्देन तद्वचनं प्रतीतार्थत्वेन निग्रहस्थानम्" [ ]इति[1], तदपि न युक्तम्; त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणे प्रतिवादिनो निग्रहप्रसङ्गात् परोक्तापरिज्ञानस्यापि दोषत्वात्। अथ परोपरोधार्थो न महतां जल्पारम्भोऽपि तु परप्रतिपादनार्थ तत्र किं त्रिरेवेति नियमेन तावदभिधातव्यं यावत्परः साध्यं प्रत्यायितो भवति न पुनः त्रिरुच्चारितस्याप्रत्युच्चारणेन निगृहणीय इति चेत्; न; अस्यान्वयादिवचनेऽपि तुल्यत्वात्। शक्यं हि वक्तुं सामर्थ्यप्रापितमर्थं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्तं प्रति तत्प्रतिपिपादयिषया तत्परं वचनमुच्चारयन्नपि वादी न निग्रहेण योजयितव्यो वचनवैफल्याभावात्।

परमप्यत्र व्याख्यानम्-"संशयादिरहितत्वेन प्रतिपत्तव्यं[2] साधनम् कर्मरथे भावे प्रत्ययविधानात्, तदङ्गं स्वरूपं यस्य तत्साधनाङ्गं विवादापन्नं साध्यमेव, तस्मादन्यदसाधनाङ्गं तस्य वचनम्। तद्यथा आत्मनि विवादे नास्त्यात्मेति वयं बौद्धाः। के बौद्धाः? ये बुद्धशासनमुपगताः। को बुद्धः? यस्य शासने भदन्ताश्वघोषः प्रव्रजितः। कः पुनर्भदन्ताश्वघोषः? यस्य राष्ट्रपालं[3] नाम नाटकम्। कीदृशं च तन्नाटकमिति प्रसङ्गमारचय्य नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार इत्यारभ्य नाटकग्रन्थं पठति नृत्यति गायति च, अपरस्य व्यामोहमनुवादे शक्तिव्याघातं च कर्तु[4]मिति, तदपि वादिनो निग्रहस्थानमप्रस्तुताभिधानात्" [ ] इति; तदपि न प्रेक्षावतां प्रमोदमापादयति, तादृशात् प्रसङ्गपरम्परा[5]करणात् कथाविच्छेदस्यैवोपपत्तेः न पराजयस्य, तस्य प्रतिवादिविजयसव्यपेक्षस्य तदभावेऽनुपपत्ते। न हि तस्य तत्करणोद्भावनादेव जयः, तावता पक्षसिद्धेरभावात्। एवमन्यदपि तत्कारणमनिग्रहस्थानत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। तन्नासाधनाङ्गवचनं वस्तुनिर्णयं कुतश्चित् कुर्वाणस्य निग्रहाधिकरणमुपपन्नं जयस्यैवोपपत्तेः। नापि तदुद्भावयतोऽपि प्रतिवादिनो जयः; पक्षसिद्धिविकलतया पराजयस्यैवोपपत्तेः। एतदेव दर्शयति-

वादी पराजितो युक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः।
तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ॥२१०॥ इति।

वस्तुनः शब्दादेस्तत्त्वमनित्यादिकं तत्रैव व्यवस्थितः प्रमाणबलेन कृतोऽर्थो वादी कथं नैव पराजितः पराजयसम्बद्धो युक्तः,

वस्तुतत्त्वे स्थितस्यापि यदि वाचा कयाचन।
पराजयो जयो लोके हन्त कस्योपकल्प्यताम् ॥१५७०॥

तथा तत्र वादिनि दोषं प्रतिज्ञावचनादिकं ब्रुवाणश्च न केवलमब्रुवाणो विपर्यस्तः पक्षसिद्धिविकलः प्रतिवादी कथं जयेत् नैव जयेदिति। अयमन्तरश्लोकः।

यत्पुनरिदम्-अदोषोद्भावनमिति। तत्र व्याख्यानम्[6]-"वादिना साधने प्रयुक्ते स्वयमभ्युपगतोत्तरपक्ष एव प्रतिवादी यदा तत्र दोषान्नोद्भावयति तदा तदनुद्भावनं तस्य निग्रह-

---

१ द्रष्टव्यम्-वादन्या० पृ० ६६। २-व्यं तन्नासाधनाङ्गवचन कर्मस्थभा-आ०, ब०, प०। ३ यस्य स्वराष्ट्रपालन ना- आ०, ब०। यस्य सुराष्ट्रपालन ना-प०। ४-रात्कार-आ०, ब०, प०। ५-दिनो वि-आ०, ब०, प०। ६ द्रष्टव्यम्- वादन्या० पृ० ६९।

स्थानं प्रतिपत्तव्यम् । दोषाश्च अवयवन्यूनत्वं प्रतिज्ञावचनादिकमसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं विरुद्धत्वं दृष्टान्तदोषाश्चाष्टादश वक्ष्यमाणाः" [ ] इति; तदप्यनुपपन्नमेव; यदि वादिनः सम्यक्साधनप्रयोगः, सति तस्मिन् दोषाणामसत्त्वेनानुद्भावनसम्भवात् प्रकृतार्थपरिसमाप्त्या तस्य जयस्य प्रतिवादिनः पराजयस्याप्युपपत्तेः । दोषवत्यपि साधने तस्य पराजय एव सतोऽपि दोषस्यापरिज्ञानेनानुद्भावनोपपत्तेरिति चेत्; न; तस्य वादिन्यपि भावात्, कथमन्यथा दोषवत्साधनप्रयोगः, जानत एव दोषं तदसम्भवात् ? वादोपक्रमेण प्रवृत्तो यदि स्वपक्षे सम्यक् [1]हेतुमपश्यन् तदन्यदपि न प्रयुञ्जीत स्यादैकान्तिकः पराजयः । तत्प्रयोगे तु यदि प्रतिवादी दोषमुद्भावयेत् भवति तस्य जयः, अन्यथा तु तदनुद्भावनात् तस्यैव पराजय इति निश्चितपराजयपरिहाराय सम्भवत्येव जानतोऽपि तस्य तत्प्रयोग इति चेत्; किं पुनस्तस्योद्भावित एव दोषः पराजयाय ? तथा चेत्, प्रतिवादिनोऽपि तदनुद्भावनमुद्भावितमेव तदर्थम् । तथा चेत्; कस्तस्योद्भावकः ? वादीवेति चेत्, न; तदसम्भवात् । न हि मया दोषवत्साधनं प्रयुक्तं त्वया तु न परिज्ञातमिति तस्य सचेतसो वचनं सम्भवति स्वयमेवात्मनो निग्रहाकर्षणात् । परोपदर्शितादेव दोषात् तस्य[2] निग्रहो न स्वयं प्रकाशितादिति चेत्; न; चौर्यादिः स्वयं दर्शितादपि तदुपलब्धेः । भवतु प्राश्निका एव तस्योद्भावका इति चेत्; किं ते वादिदोषं न जानन्ति ? तथा चेत्; न प्राश्निकत्वम्, सिद्धान्तद्वयवेदिनां तत्त्वात् । जानन्तोऽपि प्रतिवादिनः तदुद्भावनेनैव त निगृह्णन्ति न स्वयमुद्भावनेनाप्रत्यनीकत्वादिति चेत्; न; एवमनवस्थाप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं यथा ते वादिनः सत्यपि दोषे प्रतिवादिनस्तदुद्भावनमपेक्षन्ते तथा तत्रापि वादिनः परिहारं पुनस्तत्रापि परस्य तदुद्भावन तावदेवं यावदनवधिस्तत्प्रबन्ध इति कथं तदुद्भावनापेक्षयापि ते वादिनः पराजयमारचयेयुः ? कथं वा स्वयमप्रत्यनीकत्वेन वादिनो दोषमनुद्भावयन्तः प्रतिवादिन एव तमुद्भावयेयुः ? अनुद्भावितादेव दोषात्तस्य निग्रहो (हे) वादिनोऽपि स्यात् अविशेषादिति निरवसर एव प्रतिवादिनो निग्रहः । तन्नासम्यक्साधनवादिनि दोषानुद्भावनात् प्रतिवादिनो निग्रहोपपत्तिः । कः पुनरसौ दृष्टान्तो यद्दोषानुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहं सङ्कल्पयन्ति सौगता इति चेत् ? अत्राह—

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः ।
स दृष्टान्तस्तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥२११॥ इति ।

यत्र यस्मिन् साध्यसाधनधर्मयोरविनाभावस्य सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिः स दृष्टान्तः । स च द्वेधा साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण कृतकत्वादनित्यत्वे साध्ये घटः, तत्रान्वयमुखेन तयोः सम्बन्धप्रतिपत्ते । वैधर्म्येणाकाशं तत्रापि व्यतिरेकद्वारेण तयोस्तत्परिज्ञानात् । तद्वत् दृष्टान्तवदाभासन्त इति तदाभासाः ते च साध्यमादिर्यस्य साधनादेस्ते विकला ते चादयो येषां सन्दिग्धसाध्यादीनां ते साध्यादिविकलादयः प्रतिपत्तव्याः । तत्र नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वादिति साधने कर्मवदिति साध्यविकलं निदर्शनम् अनित्यत्वात् कर्मणः । परमाणुवदिति साधनविकलं मूर्त्तत्वात् परमाणूनाम् । घटवदित्युभयविकलम् अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्य । 'रागादिमान् सुगतः कृतकत्वात्' इत्यत्र रथ्यापुरुषवदिति

१ हेतु पश्यन्नपि आ०, ब०, प० । २ वादिनः ।

सन्दिग्धसाध्यं रथ्यापुरुषे रागादिमत्त्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः व्यापारादेश्च रागादिमतस्यान्यत्रापि सम्भवात्, वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टोपपत्तेः । 'मरणधर्माऽयं रागादिमत्त्वात्[1]' इत्यत्र सन्दिग्धसाधनं तत्र रागादिमत्त्वाऽनिश्चयस्योक्तत्वात् । अत एव असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वादित्यत्र सन्दिग्धोभयम् । रागादिमत्त्वे वक्तृत्वादित्यनन्वयम्, रागादिमत्त्वस्यैव तत्रासिद्धौ तदन्वयस्यासिद्धेः । अप्रदर्शितान्वय यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटादिवदिति । न ह्यत्र 'यत्कृतकं तत्तदनित्यम्' इत्यन्वयदर्शनमस्ति । विपरीतान्वयं यथा यदनित्यं तत्कृतकमिति । तदेवं नव साधर्म्येण दृष्टान्ताभासाः ।

वैधर्म्येणापि नवैव । तद्यथा नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात्, यन्नित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति परमाणुवदिति साध्याव्यावृत्तं परमाणुषु साधनव्यावृत्तावपि साध्यस्य [2]नित्यत्वस्याव्यावृत्तेः । कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तं तत्र साध्यव्यावृत्तावपि साधनस्य अमूर्तत्वस्याव्यावृत्तेः । आकाशवदित्युभयाव्यावृत्तम् अमूर्तत्वनित्यत्वयोरुभयोरप्याकाशादव्यावृत्तेः । सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकं यथा सुगतः सर्वज्ञोऽनुपदेशादिप्रमाणोपपन्नतत्त्ववचनात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ तद्वचनो यथा वीथीपुरुष इति तत्र सर्वज्ञत्वव्यतिरेकस्यानिश्चयात् परचेतोवृत्तीनामित्थम्भावेन दुरवबोधत्वात् । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेकं यथा अनित्यः शब्दः सत्त्वात्, यदनित्यं न भवति तत्सदपि न भवति यथा गगनमिति, गगने हि सत्त्वव्यावृत्तिरनुपलम्भात् तस्य च न गमकत्वमदृश्यविषयत्वात् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेकं यथा संसारी हरिहरादिरविद्यादिमत्त्वात्, यस्तु न संसारी स न तद्वान् यथा बुद्ध इति, बुद्धात् संसारित्वाविद्यादिमत्त्वव्यावृत्तेः अनवधारणात् । तस्य च तृतीये प्रस्तावे निरूपणात् । अव्यतिरेकं यथा नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् यन्न नित्यं न तदमूर्तं यथा घट इति घटे साध्यनिवृत्तेर्भावेऽपि हेतुव्यतिरेकस्य तत्प्रयुक्तत्वाभावात् कर्मण्यनित्येऽप्यमूर्तत्वभावात् । अप्रदर्शितव्यतिरेकं यथा अनित्यः शब्दः सत्त्वात् वैधर्म्येण आकाशवदिति । विपरीतव्यतिरेकं यथा अत्रैव साध्ये यत्सन्न भवति तदनित्यमपि न भवति यथा व्योमेति साधनव्यावृत्त्या साध्यनिवृत्तेरुपदर्शनात् । त इमे पूर्वसूचिता अष्टादशाऽपि दृष्टान्ताभासाः । कुतः पुनरेषामनुद्भावा(वना)त् न निग्रहस्थानमिति चेत् ? अत्राह—

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् ।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥ २१२ ॥ इति ।

न खलु सर्वत्रापि प्रतिपाद्ये दृष्टान्तेन प्रयोजनं विनाऽपि तेन परिज्ञातसम्बन्धस्य हेतुनैव साध्यस्य साधनात् । यथोक्तम्—"तद्भावहेतुभावौ हि" [प्र०वा० ३।२६] इत्यादि । तत्कथमनपेक्षितस्य दोषानुद्भावनं निग्रहायातिप्रसङ्गादिति भावः । यदि वा, सर्वत्र सर्वस्मिन् हेतौ नैव दृष्टान्तोऽनन्वयेन सपक्षसत्त्वविकलेन अपिशब्दाद् असपक्षासत्त्वरहितेनापि[3] साध्यस्य साधनात्, अत्रापि तात्पर्यं यदि हेतुवद् दृष्टान्तोऽपि साध्यसिद्धेरङ्गं तदा [4]भवत्यपि तद्दोषानुद्भावनं निग्रहस्थानम् ।

---

१ रथ्यापुरुषवदिति । २ अनित्यत्वप्रयुक्त । ३ सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् इत्यादौ सर्वस्य पक्षत्वेन व्यतिरेकप्रदर्शनाभावात् । ४ भवितव्यमित्यपि आ०, ब०, प० ।

न चैवमिति । अस्यानभ्युपगमे दूषणमिदम्–'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथाऽन्येन सर्वत्र दृष्टान्तान्वेषणप्रकारेण सर्वभावानाम् अयं पराभिमतः क्षणक्षयोऽसिद्धः सिद्धो न भवेत्; तत्र सर्वेषां धर्मित्वेन सपक्षविपक्षयोरभावत्वेन द्विविधस्यापि दृष्टान्तस्याभावात् । तन्न दोषस्यानुद्भावनमिति व्याख्यानमुपपन्नम् ।

तथा, न दोषादन्यस्योद्भावनमित्यपि; दूषणादन्यदपि[1] हि प्रतिज्ञाहान्यादिकमुद्भाव्यमान साधनवादिनः पक्षसिद्धौ यदि परस्य निग्रहस्थानम्, उपपन्नमेव, तद्वादिनो जयप्राप्त्या तन्निग्रहस्य न्यायादापत्तेः । [2]तदसिद्धौ पुनरनुपपन्नम्, पराजयस्य जयसव्यपेक्षत्वेन तदभावे दुरुपपादत्वात् । न तत्सिद्धया तस्य तत्प्राप्तिरपि तु प्रत्यर्थिनो दोषादिति चेत्; स्वदोषात्तर्हि पराजयोऽपीति युगपदुभयं प्राप्तम्, तच्चायुक्तं विरोधादित्युभयोरपि साम्यमेव न जयः पराजयो वा कस्यचित्, तन्न सौगतोक्तं निग्रहस्थानम् ।

नापि नैयायिकपरिकल्पितं प्रतिज्ञाहान्यादिकम्; तस्यासद्दूषणत्वात् । अन्यथा वादेऽपि किन्न तदुद्भावनं यतो न्यूनाधिकापसिद्धान्तहेत्वाभासपञ्चकमित्यष्टावेव वादे निग्रहस्थानानीति नियमः[3] ? तस्य गुर्वादिभिः शिष्टैः सह प्रवृत्तेरिति चेत्; किं पुनस्ते सताऽपि दोषेण न निग्राह्याः ? तथा चेत्, न्यूनादिनाऽपि न निगृह्येरन्नविशेषात् । को वा विशेषोऽयं नान्यस्य शस्त्रेण व्यापादनं मुष्टियुद्धेन वेति । कथं वा गुर्वादीनां[4] शिष्टत्वम् ? मतभेदाभावादिति चेत्; कथं तैर्वादस्तस्य तद्भेद एव सम्भवात् । "प्रतिपक्षपरिग्रहो वादः" [न्यायसू० १।२।१] इति तल्लक्षणश्रवणात् । अमत्सरित्वादित्यप्ययुक्तम्; तत्परिग्रहे मत्सरस्याप्यवश्यम्भावात् अन्यथा सौगतादेरपि न भवेत् । कस्य वा तदुद्भावनात् निग्रहस्थानम् ? सौगतादेरेवेति चेत्; कुत एतत् ? तत्र तद्धान्यादेः सम्भवादिति चेत्; न; गुर्वादिष्वपि तदविशेषात् । तत्र[5] सतोऽपि निवारणबुद्ध्यैवोद्भावनं न निग्रहबुद्ध्येति चेत्; इतरत्र[6] कुतस्तद्बुद्ध्या तदुद्भावनम् ? तस्य दस्युत्वादिति चेत्; तदेव कस्मात् ? तत्त्वविघटनादिति चेत्; यदि प्रमाणतः; कथं दस्युत्वं तस्य ? कथं वा निग्रहः प्रामाणिके अनुग्रहस्यैवोपपत्तेः ? अप्रमाणतश्चेत्, तदिति कुतश्चिच्छब्दनिश्चयम् ? तत एव तस्य निग्रहात् किं प्रतिज्ञाहान्यादिना कर्तव्यम् ? यष्टिन्यायेन द्वाभ्यामपि तस्य निग्रह इति चेत्; उक्तमत्र-'वादिनोऽनेकहेतूक्तौ' इत्यादि । यदि न शब्दनिश्चयम्; तर्हि तद्विघटनं न प्रमाणत इति रिक्ता वाचो युक्तिरिति । तन्न तद्धान्यादिकं निग्रहस्थानमुपपन्नम् ।

छलादिकं तु प्रागेव निषिद्धमिति न सङ्गतमेतत्–"यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः" [न्यायसू० १।२।२] इति । कुतो वा निवारणबुद्ध्यैव वादे तदुद्भावनम् ? गुर्वादेस्तत्त्वाभिनिवेशेनादस्युत्वादिति चेत्; कथं तैर्विवादः ? स्वयं तन्मताभ्यनुज्ञानस्यैवोपपत्तेः । तदपि

१ वादन्या० पृ०७२ । २ वादिपक्षासिद्धौ । ३ न्यायभा०१।२।१। ४–ना विशि–आ०,ब०,प० । ५ वादे । ६ इतरत्तत्कुतः आ०,ब०,प० ।

विचर्यैव क्रियते न पूर्वमिति चेत्; तदा तर्हि तेषां तदभिनिवेशापरिज्ञानात् दस्युत्वसम्भावनोपपत्तेः निग्रहबुद्ध्याऽपि तदुद्भावनं भवेत्। तथा च न युक्तमिदम्–"प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भो वादः" [न्यायसू० १।२।१] इति, निग्रहस्थानसाधनोपालम्भत्वस्यापि सम्भवात्। तत्र यौगस्यापि निग्रहस्थानमुपपन्नम्। किं पुनस्तर्हि तदुपपन्नमिति चेत्? उक्तमेवेदम्–

"स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।" [ ] [1]इति।

कः पुनरसौ वादो नाम यत्रेदं निग्रहस्थानमित्यत्राह वादलक्षणम्–

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैकसिद्धये।
वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥२१३॥ इति।

अप्रसिद्धवस्तुनिर्णयनिबन्धनं प्रत्यक्षादिकं साधनं तस्य आदिशब्दात् दूषणतदाभासानामपि यद्वचनं स वादः। स च जिगीषतोः परस्परं जेतुमिच्छतोः वादिप्रतिवादिनोः। द्विवचनान्नैकस्य न बहूनामपि। न ह्येकस्य वादः। स हि विप्रतिपन्ने वस्तुनि साधनादेः स्वयंप्रसिद्धस्य वचनम्। न च तत्प्रसिद्धौ विप्रतिपत्तिः विरोधात्। अथ पूर्वं विप्रतिपत्तिः पश्चात् तत्प्रसिद्धिः, तथाऽपि किं वचनेन? प्रसिद्धिरपि तत एव तस्येति चेत्; तस्यापि तर्हि साधनत्वेन तदन्तरादेव प्रसिद्धौ अनवस्थापत्तेः। न कदाचिदपि मौलस्य तस्य वचनं यत एकस्यापि वादो भवेत्। वचनसाधनं विनाऽपि तदन्तरेण प्रसिद्ध्यति न प्रत्यक्षादिसाधनमिति स्वमतानुरागमात्रम्। तन्नैकस्य वादः। नापि बहूनाम्, युगपत्तेषां तद्वचने कलकलमात्रश्रुत्या तदर्थानवधारणप्रसङ्गात्, तच्छ्रुतिमात्रेण कस्यचिदिष्टसिद्धेरयोगादतिप्रसङ्गाच्च[2]। परिपाट्या तद्वचने तु द्वयोरेव तत्पर्यवस्यतीत्युपपन्नं द्विवचनं जिगीषावचनं च,[3] अन्यथा निग्रहाभावप्रसङ्गात्। अस्ति च वादेऽपि न्यूनाऽधिकादेः परैरपि वचनात्। निग्रहोऽपि तत्र अजिगीषायामेवेति चेत्; व्याहतमेतत्–अजिगीषा च निग्रहश्चेति, अन्यथा शिष्यादावपि स्यात्। भवत्विति चेत्; कथं तत्रानुग्रहः? सति निग्रहे तदयोगात्, निग्रहानुग्रहयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वात्। तथा च न विद्यागमः कस्यापीति नष्टः शिष्यादिव्यवहारः। ततो विजिगीषाविरहाच्छिष्यादेः सतो दोषान्न निग्रहस्तथा गुर्वादेरपि न भवेत्। अस्ति च, तस्माद्विजिगीषुविषय एव वादोऽपि। जल्पादिवदिति न युक्तमिदम्–"तं गुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्" [न्यायसू० ४।२।४८] इति, साम्यसूयैरेव तस्याभ्युपगमोपपत्तेः। तस्य फलप्रदर्शनार्थं 'प्रत्यनीक' इत्यादि। अत्रैकस्मिन्निति द्रष्टव्यम् तत्रैव साध्यतत्प्रत्यनीकयोर्विरोधोपपत्तेः। न भिन्नधर्मिणि यथा जले शैत्यम् औष्ण्यमनाविति। तदयमर्थः–एकस्मिन्नभिन्ने धर्मिणि प्रत्यनीकस्य साध्यविरोधिनो नित्यत्वादेर्धर्मस्य व्यवच्छेदप्रकारेणैकस्य तस्मादन्यस्यानित्यत्वादेर्धर्मस्य या सिद्धिर्निर्णीतिः तस्यैतदर्थमिति। एतेन तत्सिद्धेरन्यत्र लाभादिकं तत्फलम्। वादिना च द्वयं कर्तव्य

---

१ उद्धृतोऽयम्– अष्टसह० पृ० ८७। प्रमेयक० पृ० ६७१। २–वङ्गात् प–आ०, ब०, प०। ३ "उपपन्नति सम्बन्ध."–ता० टि०। ४ –रभ्यन्तला–आ०, ब०, प०।

परपक्षप्रतिषेधः स्वपक्षविधिश्चेत्येतच्च प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्। यदि परस्य निग्रहः कथमुक्तम्–"स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।" चेत्; न; तद्व्यवच्छेदस्य तत्सिद्धेः कथञ्चिदनर्थान्तरत्वाभिप्रायेण ... तद्व्यवच्छेदे एव तस्य निग्रहः। सोऽपि न निग्रहो मिथ्याध्यारोपनिषेधस्य नि' ग्रहरूपत्वात्। ततो लाभाद्यभाव एव निग्रहो वक्तव्य इति चेत्? अत्राह–

आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः।
न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम्॥ २१४॥

लाभस्य ग्रामहेमादिप्राप्तेरादिशब्दात् पूजादेश्चाभावः अलाभादिः स ... स्तां तस्य मुख्यवृत्त्या वादफलत्वाभावात्। प्रतिपन्नवस्तुप्रत्यस्तमयादिव ततः परस्य तिशयस्यापि अनुपपत्तेः। तस्मादन्यदेव विजिगीषूणां परतिरस्कारकाम्यया प्रवृत्तानां बलेन स्वाभिप्रायस्य तत्सम्बन्धिनोऽभिनिवेशस्य निवर्तनम्। अयमेव निग्रहो ... तत्परत्वेनास्यैवान्तरङ्गत्वात्। लाभादेश्चैतन्निबन्धनत्वेन मुख्यफलत्वाभावात्। कथं ... र्तनस्य निग्रहत्वम्? निःश्रेयसहेतुत्वादिति चेत्; सत्यमिदम्; वस्तुवृत्त्या निग्रहत्वं तु ... कृतमौषधपानवत्, यथैव हि कश्चित् भेषजद्वेषी रोगी क्षीरादिव्याजेनौषधं पा ... ते ... मन्यते तथा तत्त्वविद्वेषी परोपि युक्तिबलेन मिथ्याऽभिनिवेशादवरोप्यमाणो निग्रह ... तेजस्वितया प्रवृत्तश्च साक्षिसमक्षं स्वपक्षपरिक्षयात् मनसि किञ्चित् परितप्यते, ततः तदा तस्य निग्रहत्वं न तत्त्वतः। कथं पुनस्तस्य परितापकारिणः करणमपि परमकारुणिकत्वात् वलम्बिनामिति चेत्? न; तस्य गुणानुबन्धित्वेनादोषगुणत्वात् (नादोषत्वात्) गुणानुबन्धि ... खलु महतः संसारदुःखस्य ततो निस्तरणात्। अन्यथा हि अनिवर्तितमिथ्याऽभि ... वर्तनपरः परिवर्द्धितामय इव अमायावी को जानीयात् कीदृशीं दुःखपरम्परां प्राप्नुयादिति? ततो नार्थो बालकनिग्रह इव तन्निग्रहोऽपि अदोषबुद्ध्या प्रतिपत्तव्यः उपकारभूतत्वात्।

सम्प्रति वादाभासं दर्शयति–

तदाभासो वितण्डादिः [अभ्युपेताव्यवस्थितेः।] इति।

वितण्डा जल्प एव पक्षस्थापनारहितः "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा [न्यायसू० १।२।३] इति वचनात्। आदिशब्दात् जल्पश्च ... जाति स्थानसाधनोपालम्भो जल्पः" [न्यायसू० १।२।२] इति लक्षितः तदाभासो वादाभासः ... न भवति। कस्मात्? इत्याह–'अभ्युपेताव्यवस्थितेः' इति। अभ्युपेतं यत् वैतण्डिकादिना ... त्वादिकं तस्य वितण्डादेः सकाशात् अव्यवस्थितेः। तथा हि–वितण्डादौ यदि अभ्युपेतव्यवस्थायाः

१–वदादिपी– प०। २ यथार्थवक्ता।

नियमः, तदा वाद एव, तन्नियमादेव जयपराजययोर्भावात् । अनियमेऽपि तद्व्यवस्थाभावे वाद ए तदभावे तु कथं वैतण्डिकादेर्जयः पक्षसिद्धिविकलतया परस्मादविशेषात् ? छलादिप्रयोगतदुद्भावनलक्ष गुणादिति चेत्; परस्यापि तद्गुणसद्भावे का गतिः ? द्वयोरपि साम्यमिति चेत्; नेदानीं कथारम्भे प्रयोजनं विनाऽपि तेन साम्यस्य भावात् ? कथं वा तस्य गुणत्वम् ? परत्रासम्भवादिति चेत्; न तस्य छलजात्यादेरन्यस्यापि बहुलं सम्भवात् । तथा हि–

वर्गं विहाय गद्येन कश्चित् पद्येन चापरः ।
अन्यासम्भविना वक्ति सङ्गीतध्वनिना परः[1] ॥१५८०॥
प्रवाहान्तरसंश्लिष्टं पराऽशक्यं परः कृती ।
एवं विचित्रा वक्तारः सन्त्यभ्यासबलाश्रयाः ॥१५८१॥
जयिनस्तद्गुणैस्ते स्युरन्यासम्भविभिर्न किम् ।
भवन्त्येवेति चेत्; सैषा कथा तुर्या प्रसज्यते ॥१५८२॥
कथात्रयोक्तौ यत्तेषां जयहेतौ न संग्रहः ।
प्रकृतानुपयोगाच्चेन्न तेभ्यो जयसम्भवः ॥१५८३॥
छलादावपि तत्तुल्यं तस्मादपि कथं जयः ।
ऋषिणाभिहितत्वाच्चेद् गीतादावपि तत्समम् ॥१५८४॥
नारदादिर्यतिः प्राह गीताज्जयमभीप्सितम् ।
एकस्मादपि साधूक्ताच्छब्दात्पापक्षयं परः ॥१५८५॥
दुरपोह महत्पापं येन जेयमुदीरितम् ।
तस्य वाग्यपि जेतव्यः प्रोक्त एव महर्षिणा ॥१५८६॥

तन्न मुनिप्रणीतत्वमात्रेण छलादेर्जयनिबन्धनत्वमतिप्रसङ्गात् । एतदेवाह–

तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिः [अनेकधा] ॥२१५॥ इति ।

तदिति तस्मिन्नित्यर्थे निपातत्वात् । वाचः वचनस्य वृत्ति छलादिप्रयोगतदुद्भावनलक्षणा सा आत्मनो वैतण्डिकादेर्यदुत्कर्षणं तत्प्रयोगाद्यतिशयरूपं परासम्भवि तस्मा एव न जयायेत्येवकारः । कुत इत्यत्राह–'अनेकधा' इति । यतश्छलादिना अन्येन च रूपेण अनेकप्रकारा वाचो वृत्तिः ततोऽन्यप्रकारेणेव छलादिप्रकारेणापि सा तदुत्कर्षायैव न जयाय । अन्यथा चतुर्थ्या अपि कथायाः प्रसङ्गादिति भावः । ततः सूक्तम्–'अभ्युपेतान्यवस्थितेस्तदाभासो वितण्डादिः' इति ।

साम्प्रतं प्रत्यक्षादिज्ञानानां सङ्ख्यादिकथननिरूपणे प्रयोजनमुपदर्शयितुकाम. परेण प्रश्नं कारयति–

---

१ यतः आ०,ब०, प० । २ "एकः शब्द सम्यग्ज्ञात. शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।" –महाभा० ६।१।८४।

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्
सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम् ।
आ ज्ञातं [सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छित्तये ॥२१६॥] इति ।

चेतसां प्रत्यक्षादिज्ञानानां सङ्ख्या च प्रत्यक्षं परोक्षमिति द्वैविध्यं लक्षणं च विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षम् अविशदं परोक्षमिति, गोचरश्च अनेकान्तात्मा जीवादिर्भावः अर्थश्च प्रयोजनमव्यवधानेन स्वार्थव्यवसायो व्यवधानेनोपादानादिबुद्धिप्रवृत्त्यादिस्तेषां कथने शास्त्रारोपिततया निरूपणे किं कारणं निमित्तम् आज्ञातं न किञ्चित् । लोकत एव तेषां प्रसिद्धेः । तदुक्तम्–

"प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥" [न्यायावता० श्लो० २]

प्रसिद्धानामेव तेषामनुवादः तदविसंवादेन प्रवचनप्रामाण्यनिर्णयार्थमिति चेत्; न, तेषामपि तन्निर्णयाय तदन्येषामनुवादप्रसङ्गादनवस्थापत्तेः । तन्निर्णयस्य तदविसंवादात् प्रागेवाभ्यासबलादुत्पत्तेर्न तदर्थस्तदनुवाद इति चेत्; न; तथा आगमप्रामाण्यनिर्णयस्यापि सम्भवात् । तदेवोच्यते– 'प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यम्' शास्त्रं तज्जनितं तदर्थज्ञानं तेन गम्यं निश्चेतव्यं प्रामाण्यमवञ्चकत्वम् । तदपि प्रत्यासत्तेः तस्यैव कथमवगम्यम् ? प्राक् पूर्वम् । कुतः ? अर्थसंवादनात् अर्थस्यागमाभिधेयस्य यत्संवादनं प्रत्यक्षादिनिबन्धनमविप्रतीसाररूपं तत इति । यदि चेत् इति । एतदुक्तं भवति–यथा प्रत्यक्षादौ प्रामाण्यनिर्णयस्ततः प्रागेव तथा यद्यागमज्ञानेऽपि व्यर्थं तदर्थाविसंवादनार्थं तेषां तत्कथनमिति । पक्षान्तरं द्योतयति–'अथ न' इति । अथ यदि ततः प्राक् शास्त्रगम्यं तत्प्रामाण्यं न भवति पश्चादेवागमादिति, अत्रोत्तरम्–'संख्या' इत्यादि । चेतसाम् आगमज्ञानानां सङ्ख्या[1] द्वैधनेकादिरूपं परिगणनम् । लक्षणमिति मतिपूर्वत्वादि, गोचरः ससंसारतत्कारणादिः अर्थो हेयोपादेयपरित्यागोपादानादिस्तेषां कथने किं कारणमाज्ञातं न किञ्चित् । तथा हि–

कृत्वाऽपि यदि तच्चेतःसङ्ख्यादिकथनं त्वया ।
तदर्थनिर्णयेऽपेक्ष्यं प्रत्यक्षादिप्रमान्तरम् ॥१५८७॥
तत एवेष्टसंसिद्धेर्व्यर्थं तत्कथनं भवेत् ।
अर्कादिव मधुप्राप्तौ पर्वतारोहणेन किम् ॥१५८८॥

अतो न युक्तं[2] तत्कथनमिति । अत्रोत्तरमाह–सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः प्रेक्षन्त इति । सकलो निरवशेषो य आगमस्यार्थः[3] प्रत्यक्षादिस्थानत्रयगोचरस्तद्विषयं यज्ज्ञानमागमजनितमेव तस्याविरोधं प्रत्यक्षादिभिरबाधनं बुधाः प्रेक्षन्ते प्रकर्षेण निर्णयरूपेण

1 द्विभेदम्–अङ्गप्रविष्ट–अङ्गबाह्यभेदात् । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम् अङ्गबाह्यमनेकविधम् ।
2 –क्तमश्च –ता० । 3 –मस्तत्वार्थं आ०, ब०, प० ।

पश्यन्ति तत्कथनेन ततस्तस्मिन् तदुत्प्रेक्षणं कारणमिति मन्यते । तदपि किमर्थमिति चेत् ? अत्राह– 'तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छित्तये' इति । तेनागमेनोदीरितोऽर्थो जीवादिः स एव गहनं मन्दप्रज्ञाविकलानां दुरवगाहत्वात् तत्र यः सन्देह उपलक्षणमिदं तेन विपर्यासादिश्च तस्य विच्छित्तये विनाशाय । यदि हि तत्कथनेन तदविरोधं नोत्प्रेक्षेरन् बुधाः स्वामिसमन्तभद्रादयस्तदा यथास्वं परिकल्पितलक्षणैरध्यक्षादिभिरेकान्तवादिनस्तज्ज्ञानस्य विरोधं साधयन्तः सुकुमारप्रज्ञानां सन्देहादिकं तद्गहने परिकल्पयेयुः, सन्देहादिग्रहगृहीताश्च ते श्रेयसः प्रच्यवेरन् । अतो युक्तं परकीयलक्षणनिराकरणेन प्रत्यक्षादिकं व्यवस्थापयता तत्सङ्ख्यादिकथनेन तद्विषयज्ञानस्याविरोधोत्प्रेक्षणं सन्देहादिविच्छित्तेरेतत्फलत्वात् । नन्वेवं प्रत्यक्षादिविषयेऽपि तद्विच्छित्तये परप्रत्यक्षादिभिरविरोध उत्प्रेक्षितव्यः पुनस्तत्राप्येवमित्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत्; सत्यम्, तत्रापि 'विवादविषये तदविरोधात् तद्विच्छित्ति, न चैवमनवस्थिति' ; किमप्यन्तरमनुसृत्य तद्विच्छित्तिहेतोरविवादास्पदस्य प्रतिलम्भात् । निवेदितमेतत् प्रथमप्रस्तावे सविस्तरमिति नेह प्रतन्यते ।

कुतः पुनर्न्यायदर्शनादि निःश्रेयसनिबन्धनतया प्रसिद्धमपि शास्त्रान्तरं परित्यज्य पुरुषार्थसिद्धये भगवदाम्नाय एव भवतामभिरतिरिति चेत् ? अत्राह–

शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकं ।
मिथ्यैकान्तकलङ्कितं [बहुमुखैरुद्वीक्ष्य तर्कागमैः ।
दाहार्तैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतं
विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥२१७॥] इति ।

सदसन्नित्यानित्याद्यसदेकान्तप्रवादमलीमसं हि सकलमपि परोपक्रमं शास्त्रं परीक्षाशक्येऽपि प्रत्यक्षादिविषये विसंवादबहुलं तत्कथं तदभियोगे श्रेयस्कामानामभिरतिरिति भावः । तादृशं शास्त्रं किं कृत्वा पुनः किं क्रियते ? इत्याह– 'बहुमुखैरुद्वीक्ष्य तर्कागमैः दाहार्तैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतं विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते ।' इति । आदितः प्रभृत्यापर्यवसानं विसंवादकमेव तत्कलङ्कितं शास्त्रमित्युद्वीक्ष्योर्ध्वमवलोक्य । कैः ? तर्कागमैः तर्कैस्तद्व्युत्पादकतया तच्छब्दवाच्यैः प्रत्यक्षादिभिरागमैश्च तत्पूर्वापरभागैः बहुमुखैः अनेकप्रकारैः साम्प्रतमिदानीं विनिश्चीयते स्थानत्रयेऽपि प्रमाणया निर्णीयते । कोऽसौ ? अकलङ्करत्ननिचयन्यायो रत्नानीव रत्नानि सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषार्थहेतुत्वात्तेषां निचयो निवहो यस्मिन् न्याये प्रवचनरूपे रत्ननिचयन्यायः स चाकलङ्कानामर्हतां नापौरुषेयः तदभावस्य निवेदनात् । कैः स विनिश्चीयते ? परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः अनेकान्तरूपकल्पपादपच्छायामुपाश्रितैः । कुतश्छायागतैः ? दाहार्तैः संसारघर्मोपतापकलपितमानसैः, तेषां तच्छायागमनमन्तरेण तद्दाहोपशम-

१ –स्तथा य– आ०, ब०, प० । २ –नामर्हतां ना पौ– आ०, ब०, प० ।

नासम्भवात् विस्रब्धैरिति च विशेषणं तेषां तच्छायागतत्वादेवोपपन्नं प्रतिपत्तव्यम् ।

कृत्वा निश्चयमेकलक्षणतया हेतुं विविच्यानुमां
हेत्वाभासमत परं परमतो वादोचितं निग्रहम् ।
वादं तन्निभमप्यतश्च विवृतः सम्यग् द्वितीयो मया
प्रस्तावो भवतां दिशत्वनुदिनं रत्नत्रयाभ्युन्नतिम् ॥१५८९॥
यैरेकान्तकृपालुभिर्मम मनोनेत्रं समुन्मीलितं
शिक्षारत्नशलाकया हितपथं पश्यत्यदश्यं परैः ।
ते श्रीमन्मतिसागरो मुनिपतिः श्रीहेमसेनो दया-
पालश्चेति दिविस्पृशोऽपि गुरवः स्मृत्याऽभिरक्षन्तु माम् ॥१५९०॥

इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचिते न्यायविनिश्चयविवरणे द्वितीयः प्रस्तावः ॥

---

१ पदं आ०, ब०, प० ।

तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः

पायान्नः परमागमामृतरसाह्लादेन संतृप्तवान्
प्रद्युम्नारिमदच्छिदार्द्रकृपया सम्पूर्णदिव्याकृतिः ।
वागीशः कमलापतिर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणो मुनिः
सोऽय श्रीपरवादिमल्ल इति यस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ १५९१ ॥

तदेवं प्रस्तुतप्रस्तावाभ्यां प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यं निश्चित्य साम्प्रतं प्रवचनस्य तन्निश्चयमतीतप्रस्तावान्त्यवृत्तेन सूचितं दर्शयितुमाह–

सकलं [सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।
सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥ १ ॥] इत्यादि ।

प्रकृष्टं वचनं प्रवचनं तच्च विषयत्वलक्षणस्य प्रकर्षनिबन्धनस्य गुणस्य भावात्, नापरतीर्थकरशासनं तत्र तदभावात् । एतदेवाह–'सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम्' इति । सर्वथा सर्वेण धर्मिप्रकारेणेव धर्मप्रकारेणापि एकान्तो निष्कलस्वभावो भावो येषां ते सर्वथैकान्ताः मिथ्यावादिनः तेषां प्रवादा अनेकान्ते संशयादिदोषाभिलापाः तदन्याभिलापानामतिक्रमानुपपत्तेः, तान् अतीतोऽतिक्रान्तोऽनेकान्तात्मा जीवादिर्गोचरो विषयो यस्य तत्तथोक्तम् । तदतिक्रमोऽपि तद्विषयस्य स्वयं प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरापरिपीडितशरीरत्वमेव । न हि प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणान्तरं तत्परिपीडनपरमुपलभ्यते तत्पोषणपरस्यैव तस्य प्रतीतेः । तदुक्तम्–

"तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित्" [बृहत्स्व० श्लो० ४२] इति ।

न चैवं सर्वथैकान्तशासनस्य[1] तत्परिपोषितविग्रहविषयत्वम्, प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य तद्विषयपराङ्मुखस्यैव प्रतीतेः । ततो हि न स्वशास्त्रपरिकल्पितात् तस्य परिपोषणम्; तस्यैव निष्कलस्य स्वतोऽप्रतिवेदनात् । अन्यतो निष्कलादेव तस्यापि प्रतिवेदने पर्यनुयोगानतिवृत्तेरनवस्थापत्तेश्च । नापि लोकप्रसिद्धात्; ततोऽपि स्वयं स्वपरभावाभिमतानेकवस्तुगोचरानेकनिश्चयव्यापारात्मनोऽनेकान्तस्यैव परिपोषणोपपत्तेः, तद्विपरीतस्य च तस्य लोकप्रसिद्धस्याभावात् । ततो युक्तं प्रमाणान्तरापरिपीडितविषयतया भगवदर्हच्छासनमेव प्रवचनमिति । यदि पुनः प्रत्यक्षादेरपि प्रवचनार्थस्य परिपोषणं किं तत्र प्रवचनस्य प्रामाण्यनिश्चयेन प्रयोजनाभावादिति चेत्? न; तत्र प्रमाणान्तराविसंवादेन तन्निश्चये सति तन्निदर्शनेन अत्यन्तपरोक्षेऽपि विषये निर्विवादस्य तन्निश्चयस्योपपत्तेः । अत एव प्रत्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्य तदविसंवादोपदर्शनार्थं प्रागेव निरूपणं कृतम् । अनिरूपिते तस्मिन् तदविसंवादोपदर्शनासम्भवादित्यलं प्रसङ्गेन ।

१–यतेया क–आ०, ब०, प० । २–स्यैतत्परि–आ०, ब०, प० ।

प्रवचनमिति धर्मिनिर्देशः, सकलमित्यपि तस्यैव विशेषणम् । न हि वेदवचनवत् प्रवचनस्य कश्चिदेव विभागः प्रतिपादितेऽर्थे प्रमाणमपरस्य तु प्रतिपादितार्थासम्भवात् अर्थवादत्वमित्यर्थं विभागः, सर्वस्यापि प्रतिपादितार्थे प्रामाण्यात् । तदाह–'सिद्धमिति । सिद्धं प्रमाणमित्यर्थः । सिद्ध्यति निर्णयविषयतां गच्छत्यनेनार्थ इति सिद्धम् इति, करणे "कृतल्युटो बहुलम्" [ ] इति बहुलग्रहणेन निष्ठाविधानात् । सिद्धत्वं च तस्य सिद्धेः निर्णीतेः निमित्तत्वेनोपचारात्, मुख्यतो निर्णयात्मनो ज्ञानस्यैव सिद्धत्वात् । साधनं तत्र निर्बाधत्वम् । तथा हि–यत् स्वविषये निर्बाधं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, निर्बाधं च स्वविषये जीवादौ प्रवचनमिति । निरूपितं जीवाजीवयोस्तस्य निर्बाधत्वम्, निरूपयिष्यते चास्रवादाविति । 'सिद्धमेतत् साधनमेव'इति च सर्वथेत्यादिना प्रतिपादितम् । हेत्वन्तरमाह–'सिद्धपरमात्माऽनुशासनम्'इति । सिद्धो निश्चितः परमात्मा सकलवस्तुयाथात्म्यदर्शी पुरुषविशेषोऽनुशासनः काले देशे च कचिदुत्सन्नस्योत्सन्नस्य अनु पश्चाच्छासनः शास्ता यस्य तत्तथोक्तम् । अत एव प्रवचनं ततः सिद्धमिति । प्रवचनस्य वेदवत् अपौरुषेयत्वात् असिद्धं तदनुशासनत्वमिति चेत्; न; वेदस्यापौरुषेयत्वासिद्धेः। तथा हि–पौरुषेयो वेदः स्वार्थप्रतिपादनात् भारतादिवत् । स्वशक्तित एव तस्य तत्प्रतिपादनं न पौरुषेयत्वादिति चेत्; नियतार्था तच्छक्तिः, अनियतार्था वा? द्वितीयकल्पनायां सर्वस्यापि ततः सर्वार्थप्रतिपत्तिर्भवेत् । तथा च,

नियोगमेव तस्यार्थं कथं ब्रूयात् प्रभाकरः ।
भावनामेव भट्टोऽपि तदर्थान्तरसम्भवे ॥ १५९२ ॥
समयापेक्षिणी शक्तिर्वेदार्थप्रतिपादिनी ।
समयश्च न सर्वत्र भट्टादेरिति चेत् कथम् ॥ १५९३ ॥
अन्यस्यान्यमतावित्तौ तत्र दूषणकल्पनम् ।
सन्मतप्रतिपत्तौ वा समयासम्भवः कथम् ॥ १५९४ ॥
समयोऽप्येष वेदश्चेत्तादृशस्यापि तादृशात् ।
समयात्प्रतिपत्तौ स्यादनवस्था कथञ्च वः ॥ १५९५ ॥
समयः कृत्रिमश्चेत्तत्कर्ता वेदार्थवित्त चेत् ।
पृथग्जनवदेवासौ कुर्वीत समयं कथम् ॥ १५९६ ॥
वित्ताऽपि समयात्तस्य तद्वेदित्वे वृथैव सः ।
स्वकृतात् समयाद्वित्तौ भवेदन्योऽन्यसंश्रयः ॥ १५९७ ॥
सिद्धे वेदार्थवेदित्वे समयस्तत्कृतो भवेत् ।
तत्कृतात् समयात्तस्य तद्वेदित्वमिति स्फुटम् ॥ १५९८ ॥
नरान्तरकृतात्तस्य ततस्तद्वित्तिकल्पने ।
नरान्तरं तदर्थवित् कथं तत्कर्तृतां व्रजेत् ॥ १५९९ ॥

१–दुत्सन्नस्यानु–आ०, ब०, प० ।

यदि तस्यापि तद्वित्त्वं नरान्तरकृतात्ततः ।
तत्राप्येवं प्रसङ्गे स्यादव्यवस्थितिरञ्जसा ॥ १६०० ॥
समयानादिभावेन नैषा दोषाय चेत् कथम् ।
तादृशादर्थसंवित्तिः समीची समयाद्भवेत् ॥ १६०१ ॥
यतो नरक्रमादेषा म्लेच्छादेरप्यतद्दृशः ।
समयस्थितिरुत्पन्ना भवत्यन्धपरम्परा ॥ १६०२ ॥
तादृङ्नरोपक्रमा हि सा तदर्थावगाहिनी ।
ना तदर्थदृगायत्ता म्लेच्छाधीनेव[1] तत्कृतिः ॥ १६०३ ॥

ततो न तादृशसमयापेक्षणमनेकार्थप्रतिबन्धायाः शक्तेरुपपन्नं यतो नियतार्थप्रत्यायनमिति भवितव्यमेव ततः सर्वस्यापि सर्वार्थप्रतिपत्तौ तद्वादित्वेन[2] । न चैवम्, अतो न द्वितीयकल्पनोपपन्ना ।

नापि प्रथमकल्पना, नियतार्थप्रतिबद्धत्वे शक्तेः समयवशादप्यर्थान्तरे प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात् धूमादिवत् । न हि धूमादेर्नियतपावकादिप्रतिबन्धत्वस्य समयशतेनापि तदन्यत्र प्रवृत्तिः, न चैवम्, वेदवचनस्याग्निहोत्रादिवाक्यस्य मीमांसकपरिकल्पितादर्थादर्थान्तरेऽपि[4] श्वमांसभक्षणादौ बौद्धसमयवशात् प्रवृत्तिदर्शनात् । तदुक्तम्–

"तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतेः ।
खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥" [प्र०वा० ३।३१८] इति ।

समयस्यैव तत्र प्रवृत्तिस्तत एव तत्प्रतिपत्तेर्न तद्वाक्यस्येति चेत्; मीमांसकाभिमतेऽपि न स्यात्, तत्रापि समयप्राधान्यादेव प्रतिपत्तेः, अन्यथा व्याख्यानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न हि स्वशक्तित एव स्वार्थमवद्योतयतो व्याख्यानापेक्षणमुपपन्नम् । व्याख्यायमानस्य वाक्यस्यैव तत्र प्रवृत्तिस्तदनपेक्षायां व्याख्यानस्यैव निर्विषयत्वेनासम्भवादित्यपि समानं श्वमांसभक्षणेऽपि; तत्रापि परव्याख्यानविषयस्याग्निहोत्रादिवाक्यस्यैव प्रवृत्तेः, अन्यथा तद्व्याख्यानस्याप्यसम्भवात् न नियतार्थेऽपि नैसर्गिकी शक्तिर्वाक्यानां सम्भवति यतः पुरुषबलानपेक्षमभिधेयप्रतिपादनं तेषां सम्भाव्येत ।

स्यान्मतम्, वृद्धव्यवहारदर्शिनः प्रतिपत्तुरन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदतदर्थव्युत्पत्तौ पुनस्तत एव वाक्यतदर्थयोरपि व्युत्पत्तिः पदतदर्थान्वयस्यैव वाक्यतदर्थान्वयत्वोपपत्तेः, ततः किं तदर्थेन पुरुषबलान्वेषणेनेति ? तदपि न साधीयः; तथा सति पदवाक्यव्युत्पत्तिकृतो व्याकरणस्य तदुभयार्थव्युत्पत्तिनिबन्धनस्य विचारग्रन्थस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । ततः पुरुषबलादेव वेदस्यापि स्वार्थप्रतिपादनं न स्वशक्तित इति युक्तं तस्य पौरुषेयत्वं तद्वत् प्रवचनस्यापि[5] भवेत् । तस्य कश्चिदनुशास्ताऽस्तु, कुतो निरवशेषवस्तुयाथात्म्यदर्शित्वेन परमात्मेति चेत् ? तददर्शिनस्तदनुशासित्वायोगात् पृथग्जनवत्[6] ।

१–च्छादीमेव आ०, ब०, प० । २ तद्वेदित्वेन आ०, ब०, प० । ३–तत्साधनादिप्र–आ०, ब०, प० । ४ अर्थान्तरे । ५ प्रविवचन–आ०, ब०, प० । ६ "विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः ।"–ता० टि० ।

तस्याप्युपदेशबलेनोपपद्यत एव तदिति चेत्; उपदेष्टुस्तद्दर्शित्वे स एवास्मदभिमतः परमात्मा भवेत्। तदभावे कथमुपदेष्टृत्वम्? तद्वदेव तस्याप्यन्योपदेशबलेन तदिति चेत्; न; अन्यस्मिन्नप्युपदेष्टर्येवं-प्रसङ्गात्। पुनरन्योपदेशबलपरिकल्पनायां तदुपदेशपारम्पर्येणोपकल्पितत्वात् म्लेच्छादिधर्मोपदेश-प्रबन्धवत्। भवतु तर्हि तदनुशासिनस्तद्वेदित्वमस्मदादिप्रत्यक्षेणानुमानेन वा, नातीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति चेत्; न; तन्निबन्धनस्य तत्परिज्ञानस्यात्यन्तपरोक्षाविषयत्वात् कथमयं तदर्थमुपदिशेन्नाम? प्रतिपन्नवदे-वाऽप्रतिपन्नेऽपि तत्परिकल्पनोपपत्तेः, अन्यथा सकलानुमानव्यवहारविलोपप्रसङ्गादित्युपपन्नं तस्य लोकोत्तरप्रत्यक्षबलेनैव निरवशेषपदार्थसार्थसाक्षात्करणसामर्थ्यसमन्वयेन परमात्मत्वम्। कथं पुनः पुरुषत्वाविशेषेऽप्यस्मदादेः प्रतिनियतविषयं परिज्ञानं तस्य तु सकलार्थविषयमित्ययं विभाग इति चेत्? न; अस्मदादावपि सकलार्थविषयस्य तस्य भावात्। कथमन्यथा साकल्येन साध्ये साध्य-साधनव्याप्तिपरिज्ञानम्? निरूपितं चैतत् मङ्गलव्याख्यायाम्। इयांस्तु विशेषः—अस्मदादेः तज्ज्ञानमस्पष्टं स्पष्टं तु परमात्मन इति। स्पष्टत्वं च तस्य अस्पष्टत्वनिबन्धनस्य आवरणस्य निर्मूलात् प्रलयात्। तच्चावरणमनुमानसिद्धम्,। तथा हि—सत् सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, अस्पष्टत्वात्, रजोनीहाराद्यन्तरितपादपादिज्ञानवत्। विवादापन्नं मिथ्याज्ञानं सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् विषाद्युपयो-गिनः उपलशकलादौ कलधौतज्ञानवदिति। तस्य क्वचिन्निर्मूलप्रहाणिरप्यनुमानादेव। तच्चेदम्—विवा-दापन्नमावरणं क्वचिन्निर्मूलं प्रहीयते, प्रकृष्यमाणहानिकत्वात्, यत्प्रकृष्यमाणहानिकं तत्क्वचिन्निर्मूलं प्रहीयमाणमुपलब्धं यथा हेमादौ किट्टकालिमादिकम्, प्रकृष्यमाणहानिकं च यथोक्तमावरणम्, तस्मात् क्वचिन्निर्मूलं प्रहीयत इति। न च प्रकृष्यमाणहानिकत्वमसिद्धम्, तस्यापि जीवेषु विज्ञानाति-शयदर्शनादेवानुमितेः। विज्ञानातिशयस्य च तत्कार्यदर्शनोपनीतप्रतीतिकस्याविप्रतिपत्तिविषयत्वात्। तदुक्तम्—

"जीवानामसहायानां यदा शास्त्रार्थविदः क्रमात्।
विज्ञानातिशये विद्वान् वै विप्रतिपद्यते ॥" [सिद्धिवि० परि० ८] इति।

भवतु तस्य क्वचिन्निर्मूलं प्रहाणिः ततस्तु तन्निबन्धनमस्पष्टत्वमेव निवर्तेत 'कारणाभावात् 'कार्याभावः' इति न्यायात्, स्पष्टभावस्तु कथमिति चेत्? न; तन्निवृत्तेस्तद्भावरूपत्वात् भावान्तरस्व-भावत्वेनाभावस्य व्यवस्थापितत्वात्। ततो युक्तं तन्निर्मूलप्रहाणौ विज्ञानस्य परिस्फुटत्वं तादृशनिरवशेष-वस्तुगोचरप्रत्ययाधिकरणस्य च पुरुषस्य परमात्मत्वम्। अतः सूक्तमिदम्—

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम्।
सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥ इति।

भवतु नाम कश्चित् विश्वदर्शी परमवीतरागश्च, स तु कुतः प्रतिपत्तव्यः? प्रत्यक्षादिति चेत्; न; तस्य परचेतोवृत्तावप्रवृत्तेः। व्यापारव्याहारादिलिङ्गोपजनितादनुमानादिति चेत्; न; व्यापारादेर्नि-र्दोषभाविनो दोषवत्यपि सम्भवेन व्यभिचारात्, 'सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्ते' इति प्रसिद्धेः।

१ तदुपदेशप्रबन्धो पा—ता०। २ "हेमज्ञानवत्। कलधौतं -रूप्यहेम्नोरिति नानार्थवर्गे।" —ता० टि०। ३—नापतिश—आ०, ब०, प०।

न च प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः, अतः कथं तस्य प्रवचनानुशासित्वेन पर्येषणं प्रेक्षावद्भिरिति चेत् ? अत्राह–

तथाऽन्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः ।
पुरुषातिशयो ज्ञातुं यद्यशक्यः किमिष्यते ॥२॥ इति ।

तथा तेन प्रमाणाभावप्रकारेण **अन्य**स्यात्मान्तरस्य ये **गुणाः** यथार्थदर्शनवैराग्यादयो ये च **दोषा** मिथ्याज्ञानरागादयस्तेषु[1] **संशयस्यैकान्तो** नियमस्तं वदन्तीत्येवंशीलाः सौगताः । ननु प्रमाणाभावे तेषु तदभाववादित्वमेवोपपन्नं नित्यादिवत् तत्कथं तदेकान्तवादित्वमिति चेत् ? न; तदभावादपि दृश्यानुपलम्भरूपादेवाभावसिद्धेः आत्मान्तरगुणादेश्चादृश्यत्वेन तदनुपलम्भस्य संशयहेतुत्वात् तद्वादित्वस्यैवोपपत्तेः । तैः **पुरुष**स्य तथागतस्यान्यस्य वा **अतिशयः** परिशुद्धज्ञानवैराग्यादिलक्षणो गुणप्रकर्षो **ज्ञातुं** प्रमाणतो निश्चेतुं **यदि** चेत्, **अशक्यः** शक्यो न भवति **किं** कस्मात् **इष्यते** मृग्यते ? पुरुषार्थत्वसिद्धये हि तदन्वेषणम्, न चाशक्यपरिज्ञानात् ततस्तत्सिद्धिः यतः प्रेक्षावतां तदन्वेषणम् । ततो दुर्भाषितमेतत्–

"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।" [प्र०वा० १।३२] इति ।

न दुर्भाषितं संवृतिसिद्धस्य तस्य तदर्थमन्वेषणात्, परमार्थतस्तु न तस्यान्वेषणं दुरवबोधत्वादिति चेत्; कथं पुनः सत्यनुमाने तस्य दुरवबोधत्वम् ? तल्लिङ्गव्यापारादेस्तदन्यतोऽपि भावेन व्यभिचारादिति चेत्; ननु तदन्यतो भावोऽपि संवृत्यैव, "निष्पत्तेरपराधीनम्[2]" [प्र० वा० २।२६] इत्यादिवचनात् । ततः संवृतिसिद्धव्यभिचाराल्लिङ्गात्तस्य दुरवबोधत्वेनानिष्टत्वमपि संवृत्यैव न परमार्थतः । तथायुक्तं निष्पर्यायं तस्य संवृत्यैवेष्टत्वानिष्टत्वयोर्विरोधात् । कथं वा तद्व्यापारादेरन्यत्रापि भाव इच्छावृत्तित्वात् ? सत्यपि पुरुषातिशये[3] तस्येच्छातो भावो न तन्मात्रादेव सर्वदा तत्प्रसङ्गात्, इच्छायाश्च तदतिशयविकलेऽपि भावादुपपन्नस्तत्रापि तद्भाव इति चेत्; न तर्हि तद्विकलव्यापारादेस्तद्वति सम्भवः तस्य तदिच्छाया असम्भवात् । सम्भवे वा तद्वत्त्वविरोधात् । न हि दोषवद्व्यापारं परोपतापपैशून्यादिकं चिकीर्षतस्तद्वत्त्वं नाम तच्चिकीर्षाभावरूपत्वात् तदतिशयस्य । ततो दुरालाप एवायम् 'वीतरागा अपि सरागा इव चेष्टन्ते' इति । या तु तस्य हितमधुरभाषणादिविषयेच्छा नासौ रागादिमतः सम्भवतीति कथं तन्निबन्धनस्य व्यापारादेस्तत्र भावः ? इच्छासामान्यभावादिति चेत्; पुद्गलसामान्यभावात् पाषाणादेरपि कुतो न धूमस्याभावः[4] कार्यधर्मादिक्रमेणाहेतुकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयव्यतिरेकानुविधाननियमो हि तद्धर्मः, न चैवमसौ पावके तस्य सम्भवति पाषाणादेरपि भावात् । नापि पाषाणादौ पावकादप्युत्पत्तेरिति तद्धर्माऽतिक्रमेणाहेतुकत्वमेव प्राप्तम् । तदुक्तम्–

"धूमः कार्यं हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
सम्भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्त्वं विलङ्घयेत् ॥" [प्र० वा० ३।३३] इति ।

१–द्विनिर्णयो यतः आ०, ब०, प० । २ "निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुतः । सम्बध्यते कल्पनायां किमकार्यं कथञ्चन ।"–प्र० वा० । ३–शयेन त–आ०, ब०, प० । ४ कुतो धूमस्याभावः आ०, ब०, प० ।

न चैवम्, अतो न दहनादन्यतस्तस्य भाव इति चेत्; तर्हि पुरुषातिशयभावी व्यापारादिरपि कथमन्यतो भवेत् ? तन्निर्हेतुकत्वस्याप्येवमुक्तन्यायेन सम्भवात्। तथा हि–

कार्यधर्मान्वयाद्यो हि पुरुषातिशयोद्भवी।
व्यापारादिर्विना तेन स चेन्निर्हेतुको भवेत् ॥ १६०४ ॥ इति।

दृश्यत एवान्यतोऽपि तद्व्यापारादिरिति चेत्; किं पुनः शक्रमूर्धनि धूमोऽपि न दृश्यते ? यदि दृश्यते तन्मूर्धाप्यग्निरेव, अनग्निस्वभावाद् धूमस्यानुत्पत्तेः। तदुक्तम्–

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा चेदग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥" [प्र० वा० ३।३५] इति।

न चैवम्, अतो न तत्र धूमः, यस्तु दृश्यते बहलपाण्डरादिरूपः स बाष्पादिरेव न धूम इति चेत्; कथमिदानीं पुरुषातिशयजन्मा व्यापारादिः ? तदन्यतो दृश्यमानस्य च बाष्पादिवत् तद्विलक्षणत्वात्। अत एव तत्र विप्रलम्भव्याहारं तद्विदो निवेदयन्ति भूतविशेषे बाष्पादिव्यवहारवत्। ततो न रागादिमति तदन्यव्यापारादिर्यतः ततः पुरुषातिशयप्रतिपत्तिर्व्यभिचारिणी न भवेत्। एतदेवाह–

परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः।
शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत् सम्प्रतीयते ॥ ३ ॥ इति।

परोक्षोऽपि प्रत्यक्षाविषयोऽपि गुणवांस्तद्विपरीतश्च सम्प्रतीयते सम्यगवगम्यते। कैः ? शास्त्रैर्वचनप्रबन्धैः निर्वर्तितैः निष्पादितैः सामर्थ्याद् गुणदोषवद्भ्यामिति गम्यते, अन्यनिर्वर्तितैस्तैस्तत्परिज्ञानानुपपत्तेः। वाग्व्यापारोपदर्शनमिदम्। उपलक्षणं चेदं तेन कायव्यापारविशेषैरित्यपि द्रष्टव्यम्। तैरपि दोषोपशमपरानुग्रहनिबन्धनैस्तद्विपरीतैश्च गुणवतो दोषवतश्च पुरुषविशेषस्य परिमुक्तारेकतया परिज्ञानात्। कीदृशैस्तैः स सम्प्रतीयते ? अविनाभावेनान्यथाऽनुपपत्त्या सम्बद्धैः[2]। क्व ? गुणदोषयोः यो यथार्थदर्शनवैराग्यातिशयपरमवत्सलत्वादिलक्षणो गुणो योऽपि तद्विपर्ययरूपो दोषस्तयोरिति।

शास्त्रैर्गुणाविनाभावसम्बद्धैः भगवान् जिनः।
गुणवत्त्वेन बोद्धव्यस्तन्मुखाम्भोजनिर्गतैः ॥ १६०५ ॥
विदाङ्कुर्वन्ति विद्वांसस्तेषामपि गुणान्वयम्।
दृष्टागमाविरुद्धार्थप्ररूपणतया स्थितेः ॥ १६०६ ॥
प्रत्यक्षं तन्निमित्तं च स्मरणाद्यनुमान्वितम्[3]।
दृष्टं तेन तदर्थस्य न विरोधो हि दृश्यते ॥ १६०७ ॥
तदर्थालम्बनत्वेन तस्यापि प्रतिपत्तितः।
नाप्यागमेन तस्यापि पूर्वापरविभागिनः ॥ १६०८ ॥

१–परमवत्सल–आ०, ब०। –परमवत्सलक–प०। २–सम्बन्धैः ता०। ३–न्वितम् आ०, ब०, प०।

परस्पराविसंवादरूपेणैव व्यवस्थितेः ।
बन्धुरेव भवेल्लोके किं रिपुः शक्यकल्पनः ॥ १६०९ ॥
दृष्टागमविरुद्धार्थविषयैः शासनैस्तथा ।
दोषवन्तोऽवगन्तव्याः सर्वथैकान्तवादिनः ॥ १६१० ॥
तच्छासनानां तादर्थ्यं प्रागुक्तं वक्ष्यतेऽपि च ।
देवागमे त एवोक्तं निर्मलन्यायवेदिभिः ॥ १६११ ॥

"त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥" [आप्तमी० श्लो० ७] इति ।

भवतु नाम तेषां तद्विरुद्धार्थत्वं न तावता तैस्तत्प्रणेतॄणां दोषवत्त्वपरिज्ञानं परविप्रलम्भनाय गुणवद्भिरपि तत्प्रणयनसम्भवादिति चेत्; न; तद्विप्रलम्भनस्यैव दोषत्वात् । मिथ्याज्ञानोपजननं हि तद्विप्रलम्भनम् । मिथ्याज्ञानं चानर्थनिमित्तम् अहिविषादौ हारगुडादिविज्ञानवत् । अर्थोपरतिनिबन्धनं च हारगुडादौ अहिविषादिज्ञानवत् । अतः कथं तदुपजननं न दोषः परप्रत्यवायकारणत्वात् व्याधादेस्तदुपजननवत् । तस्यापि तत्कथं दोष इति चेत् ? अशुभपुद्गलप्राप्तिनिमित्तत्वादेव । तथा हि-व्याधादेः परविप्रलम्भनमशुभपुद्गलप्राप्तिनिबन्धनं विप्रलम्भनत्वात् आत्मविप्रलम्भनवत् । दृष्टा खल्वात्मविप्रलम्भनादशुच्यादौ शुच्याद्यभिनिवेशरूपात् तत्प्राप्तिरिति न साध्यवैकल्यमुदाहरणस्य । या चासौ तत्प्राप्तिः सैवापायप्राप्तिः घोरदुःखसंसारसरित्पातनिबन्धनीति सिद्धं तन्निबन्धनस्य विप्रलम्भनस्य दोषत्वम् । भवतु नाम व्याधादेस्ततस्तत्प्राप्तिर्न शास्त्रकर्तां योगसामर्थ्येन तत्प्रतिबन्धादिति चेत्; विप्रलम्भनस्यैव कुतो न तेन प्रतिबन्धः ? एवं हि ते महायोगिनो भवन्ति यदि परेषामहितं नानुतिष्ठेयुः, तत्प्रतिबन्धनतत्सामर्थ्यमिति चेत्; तत्कार्यप्रतिबन्धेऽपि न भवेदिति किञ्चिदेतत् । तन्न गुणवतां मिथ्यार्थं शास्त्रप्रणयनं सम्भवति दोषवतामेव तत्सम्भवादित्युपपन्नं ततो दोषवत्त्वपरिज्ञानं सम्यगर्थात्ततो गुणवत्त्वपरिज्ञानवत् । शास्त्रकारवदित्यत्रैव निदर्शनम् । यथैवमपि अर्हतः सुगतादेश्चान्योऽपि वैद्यकादिशास्त्रकारः चिरापक्रान्तोऽपि तच्छास्त्रैरेव सुविवेचितगुणदोषसम्बद्धैः गुणदोषवत्तया सम्प्रतीयते तद्वत्प्रकृतोऽपीत्यर्थः ।

सम्प्रति सर्वथैकान्तवादिनः सुगतादेर्दोषवत्त्वमेव तद्व्यापारसमधिगम्यमावेदयन्नाह—

सिद्धर्हिंसानृतस्तेयाब्रह्मचर्यप्रवृत्तितः ।
स प्रत्यस्तमिताशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥ ४ ॥ इति ।

सः सुगतादिः प्रतीयते निश्चीयते । कथम् ? प्रत्यस्तमिताशेषदोषः प्रक्षीणनिरवशेषमिथ्याज्ञानकषायमलोपलेपो नेति । एवं कुतः प्रतीयते ? सिद्धर्हिंसानृतस्तेयाब्रह्मचर्यप्रवृत्तितः ।

---

१ किं पुनः स्व–आ०, ब०, प० । २ परात्ययका—आ०, ब०, प० । ३ परप्रत्यवायोपजननवत् । ४–क्षिपरिज्ञाननिमि–आ०, ब०, प० । ५ सावायप्रा–प० । ६–नविप्र–प० । ७ यथैवाप्यस्मर्हतः आ०, ब० । यथैवाप्यस्यार्हतः प० ।

सिद्धाः प्रमाणतो निश्चितास्तास्तास्च हिंसा चानृतं च [स्तेयं च] अब्रह्मचर्यं च प्रवृत्तिस्च तास्तथोक्ताः ताभ्यस्तत इति । तत्र प्रमादवता योगेन कायवाङ्मनोव्यापारात्मना यत्प्राणिभ्यः प्राणानामिन्द्रियादीनां प्रच्यावनं सा हिंसा । "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त०सू०७।१३] इति वचनात् । सा च सुगतस्य साक्षाद्भाविनी तावदस्ति–बुभुक्षापरिपीडितां मृगराजवधूमवलोक्य तन्मुखे तेन स्वशरीरं निपातितमिति तन्मत एव श्रवणात् अथात्मवधो दोषो न भवति परोपकारनिमित्तत्वेन गुणत्वात्; परवधोऽपि तर्हि दोषो न भवेच्छागादिवत् अस्यापि तन्निमित्तत्वेन गुणत्वसम्भवात् । छागादेः पीडनाद् दोष एवेति चेत्; आत्मनः पीडनात् तद्वधोऽपि कुतो न दोषः स्यात् ? अथ योगिनं तत्पीडा नोपसर्प्पति योगबलेन प्रतिरोधात्; तर्हि योगिनः परस्यापि वधो न दोषः स्यात् तेनापि परोपकारस्य सम्भवात् तन्निमित्तस्य च परिपीडनस्य योगबलेनैव प्रतिरोधात् । तथा चेत्; महानयं कृपालुः यदि योगिनोऽपि व्यापादयेत् । ततो यथा परहिंसा दोषः तद्वदात्महिंसाऽपीत्यस्त्येव साक्षाद्भावी दोषस्तस्य । तथा परम्पराभावी च, स्वयं तस्य पिशितभक्षिणामग्रगण्यत्वात् । तद्भक्षणस्य च पापविकारप्रेरकत्वेन वनमृगादिव्यापादनहेतुत्वात्, तदभावे तद्व्यापादनासम्भवात् । अत एवोक्तम्–

"भक्षकस्येव विद्येत वधकोऽपि न विद्यते ।" [ ] इति ।

तथा तस्य अनृतमप्यस्ति सकलविनेयवर्गं प्रत्यपायनिबन्धनव्यापारोपकल्पनस्य नैरात्म्यादेः प्रमाणानुपपन्नत्वेनासत एव तेनाभिधानात्, अनृतस्य च तल्लक्षणत्वात् । "असदभिधानमनृतम्" [त० सू० ७।१४] इति वचनात् । सदभिधानमपि तस्य इत्यत एव भवत्प्रत्यक्षावतीन्द्रियार्थविषयस्य तद्वचनस्याविसंवादप्रतीतेरिति चेत्; न; निरंशक्षणिकपरमाणुरूपे तद्दर्शनप्रसिद्धभावात्मनि तत्र तदभावात्, तत्र प्रमाणाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । क्रमाक्रमानेकान्तात्मनीति चेत्; तर्हि तद्वचनं भगवतः स्याद्वादन्यायनायकस्यैव न तथागतस्य । तदुक्तम्–

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥"

[सिद्ध० द्वात्रिं० १।३०] इति ।

स्वशास्त्रत्वेन तु तस्य प्रकाशनं चौर्यमेव अदत्तापहारसद्भावात् चौर्यस्य च तल्लक्षणत्वात् । तदुक्तम्–"अदत्तादानं स्तेयम्" [त० सू० ७।१५] इति । तद्वदब्रह्माऽपि तस्यास्ति भावात् । "मैथुनमब्रह्म" [त० सू० ७।१६] इति च तल्लक्षणाभिधानात् । न च तत्र सिद्धः; स्वयमनेकमूत्रविवरपरिवीतविग्रहतया गर्दभीभूत्वा मदनशरपरिपीडितेन गर्दभानां मैथुनमचीकरोदिति तदीयानामेव प्रसिद्धेः । कामाभिनिवेशेन तत्करणमेव दोषो न परो, कृपया, कृपया च तत्करणं बुद्धस्येति चेत्; न; जननीगुरुपत्न्यादावपि तज्ज्वरपरिपीडिते तत्करणस्यादोषत्वेन पृथग्जनस्यापि तत्कारिणो दण्डाभावापत्तेः । पृथग्जनः कृपया तत्र

१ प्राणिप्राणव्य–ता० । २–साद्दिदोषः आ०, ब०, प० । ३ भक्षणानाम–आ०, ब०, ४ करणप्रेर–आ०, ब०, प० । ५ कामज्वर ।

स्वयं कामाभिनिवेशेन वा' इति न निश्चयः परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादिति चेत्; न; तथागतेऽपि तुल्यत्वात्। तदुक्तम्–

"अभवत् सुगतः खरो खराणां स्वयमुत्पाद्य मगान् समन्ततः।
कृपया स तु कामपीडया वा न वयं तत्र विनिश्चयं गताः॥" [ ] इति।

योगित्वादेव तस्य तत्पीडा न भवतीति चेत्; न; तस्यैव चित्तधर्मत्वेन दुरवबोधत्वात्। यदि चायं योगी तर्हि तत्त्वदर्शनादुन्मार्गतः प्राणिनां निवारणमेव कर्तव्यं कथं तत्र प्रवर्तनं साधुचेष्टाया अनेवंविधत्वात्। निवार्यमाणा अपि न व्यवतिष्ठन्त इति चेत्; औदासीन्यमेव तर्हि कर्तव्यं न स्वयमयुक्ताचरणम्। तथा च कस्यचित् सुभाषितम्–

"अपारयन् वारयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नासदाचरेत्।
अशक्नुवन् पीतविषं चिकित्सितुं पिबेत् विषं कः स्वयमप्यबालिशः॥"
[ ] इति।

ततः तत्पीडयैव तस्य तत्करणमिति सुनिश्चितोऽस्याब्रह्मचर्यदोषः।

तथा परिग्रहदोषोऽपि कषायपरिधानबोधितरुच्छायामण्डलादौ ममेदम्भावरूपाया मूर्च्छायास्तस्य भावात् तल्लक्षणत्वाच्च परिग्रहस्य, "मूर्च्छा परिग्रहः" [त० सू० ७।१७] इति सूत्रात्। कारिकायां च देवैस्तस्या एव प्रवृत्तिशब्देनाभिधानात्। कथमेवं भगवत्यपि तद्दोषपरिहारः छत्रचामरहरिविष्टरादेर्महापरिग्रहस्य तत्रापि भावादिति चेत्? न; निरतिशयपुण्यप्रभावप्रेरितैरमरपतिभिरुपकल्पिते तस्मिन् भगवतो ममेदम्भावबुद्धेरभावात्। तदुक्तम्–

"प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।"
[बृहत्स्व० श्लो० ७३] इति।

तदभावस्य दृष्टागमाविरोधिनस्तत्प्रवचनादेव अध्यवसायात्। न च तादृशं किञ्चित् शुद्धोदनतनयस्य वचनमस्ति यतः तस्यापि तदभावपरिज्ञानात् 'सत्यपि कषायकर्पटाद्युपश्लेषः कुतश्चिदन्यत एव न मूर्च्छातः' इति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः। मूर्च्छात इत्यपि कुतो निश्चय इति चेत्? इमे ब्रूमहे–तथागतस्य तदुपश्लेषो मूर्च्छानिबन्धनः तत्त्वदर्शनविकलसम्बन्धित्वे सति तदुपश्लेषात्, पृथग्जनस्य तदुपश्लेषवत्। तद्विकलत्वं च तस्य तच्छास्त्रेणैवावसीयत इति निरूपितमनन्तरमेव। ततः परिग्रहदोषोऽपि तस्य विद्यत एव। हरिहरादेस्तु सकलजनसंवादविषयो हिंसादिर्दोष इति न विविच्य व्याख्यायते। ततो हिंसादयो दोषाः सर्वथैकान्तवादिनां सन्तीत्यत्र न संशीतिरस्ति वस्तुविवेकिनाम्। भवतु नाम सुगतस्तथाविधस्तथाऽपि किम्? इत्यत्राह–

हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेदृशः।
प्रवक्ता [विगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम्] ॥५॥ इति।

ईदृशोऽप्रत्यस्तमिताशेषदोषतया प्रतीयमानस्तथागतः प्रवक्ता प्रतिपादयिता किलेत्यरुचिवचनेन न प्रवक्तेति कथयति। कस्यासौ न प्रवक्ता? हेयोपादेयतत्त्वस्य हेयं च पञ्चस्कन्ध-

१–वस्तत्स्याब्रह्म–आ०, ब०, प०। २ मूर्च्छायां एव।

सन्तानरूपं दुःखसत्यम् "दुःखं संसारिणः स्कन्धाः" [प्र० वा० १।१४९] इति वचनात्। उपादेयं च तस्यैव निःशेषप्रहाणस्वरूपं निरोधसत्यं हेयोपादेयं तदेव तत्त्वं तस्य सोपायस्य हेयतत्त्वस्योपायोऽविद्यातृष्णारूपं समुदयसत्यम्, "दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा तस्य कारणम्" [प्र० वा० १।८३] इति वचनात्। उपादेयतत्त्वस्य[1] नैरात्म्यभावनारूपं मार्गसत्यं तत्सहितस्येति। न हि दोषवत्त्वेन निर्ज्ञातस्य तत्त्वदर्शनं शक्यसम्भावनं यतस्तस्यासौ प्रवक्ता भवेदिति भावः। यदि वेदृश इति परोपकल्पितरूपो विधूतकल्पनाजाल इति प्रतिपत्तव्यं तस्यापि प्रवक्तृत्वानुपपत्तेः। कथमिति चेत्; विकल्पाभावादेव, विकल्पकार्यं हि वचनम् "विकल्पयोनयः शब्दाः" [ ] इति वचनात्। कथं तदभावे भवेत्? विकल्पादेव चिरापकान्तादिति चेत्; न; तदा विकल्पस्यापि दुर्भावेन तस्य विधूतकल्पनाजालत्वाभावापत्तेः। चिरापवृत्तादपि ततो वचनमेव न तज्जातीयो विकल्प इति नियमहेतोरशक्योपदर्शनत्वात्। तत्कालभाविन एव विकल्पसंस्कारात् तस्य वचनमित्यपि वाचोयुक्तिः न चतुरविचारसङ्गमोचितं सौभाग्यमुद्वहति; ततो वचनवद्विकल्पस्यापि प्रसङ्गेन प्रकृतदोषानतिवृत्तेः। तत्संस्कारस्य च विकल्पत्वे न तस्य विधूताशेषविकल्पत्वम्, अविकल्पत्वे च न ततो वचनम्। न च विकल्पाविकल्पव्यतिरेकेणापरः कश्चित्तत्स्वभावः। तद्भावे वा न ततो वचनम्। विकल्पकार्यत्वेन निश्चितस्यान्यतो भावे निर्हेतुकत्वापत्तेरिति दुष्परिहारोऽयं दोषोपनिपातः परस्य। तन्न यथागतस्य प्रवक्तृत्वं यतस्तदुक्तप्रतिपत्त्यर्थं प्रेक्षावतां तदन्वेषणं भवेत्।

अथ कुड्यादीनां प्रवक्तृत्वमेव तस्यापि प्रवक्तृत्वं तस्य तत्सन्निधि[2]निबन्धनत्वादिति चेत्; अहो महदिदमद्भुतं यत्सकलज्ञानाधिष्ठानादपि त[3]स्मादनुत्पन्नं ज्ञानगन्धेनापि शून्यात् कुड्यादेर्भवतीति। नायं दोषः तथागतप्रभावस्य तादृशत्वादिति चेत्; ततस्तर्हि कुतस्तस्य स्वयमेव न प्रवक्तृत्वम्? एवं हि पारम्पर्यं परिहृतं भवति—सुगतात् कुड्यादेः प्र[4]भावस्ततो वचनमिति। मा भूत्तस्य वचनम्, प्रवक्तृत्वं तु तस्य विनेयानां तत्सन्निधानात्तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावादिति चेत्; तज्ज्ञानं[5] यदि न प्रमाणं कथं तत्त्वविषयं विरोधात्? प्रामाण्यमपि न तस्य प्रत्यक्षत्वेन; इन्द्रियादिप्रत्यक्षेष्वनन्तर्भावात्। न हि तदिन्द्रियज्ञानम्; इन्द्रियादनुत्पत्तेः। नापि मानसम्; इन्द्रियज्ञानादप्रसूतेः, तदर्थ[6] तद्विषयानन्तरविषयप्रागोचरत्वाच्च। नापि योगिज्ञानम्; भावनाप्रकर्षनिरपेक्षत्वात्। नापि स्वसंवेदनत्वेन[7]; सत्यचतुष्टयविषयत्वाभावापत्तेः। प्रत्यक्षान्तरत्वे च तज्ज्ञानचातुर्विध्यनियमव्यावर्णनव्याघातोपनिपातात्। नाप्यनुमानत्वेन; लिङ्गाभावात्। सुगतसन्निधानमेव लिङ्गमिति चेत्; सुगत एव तर्हि सत्यचतुष्टयस्यानुमितिर्भवेत् तत्रैव लिङ्गात्, सत्त्वान्तरेषु पक्षधर्मत्वाभावात्, न च तत्र तदस्ति; तस्य शुद्धज्ञानस्वभावतया दुःखादिरूपत्वानभ्युपगमात्। न प्रमाणान्तरत्वेनापि; प्रमाणद्वयनियमोपगमात्। तन्न तत्सन्निधानात् तत्त्वज्ञानं विनेयानामुपपन्नं यतस्तदेव तस्य प्रवक्तृत्वं भवेदिति सूक्तम्—'हेय' इत्यादि, सर्वथा तस्य प्रवक्तृत्वाव्यवस्थितेः।

---

१ "उपाय इति अत्रापि सम्बन्धः।" –ता० टि०। २ तत्सन्धानमि—आ०, ब०, प०। ३ सुगतात्। ४ प्रभावस्त—आ०, ब०, प०। ५ विनेयज्ञानस्य। ६ –ग्गो–प०। ७ तस्य प्रामाण्यमिति सम्बन्धः।

पुनरपि तदेव प्रतिक्षिपन्नाह–'धिगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम्' इति। तात्पर्यमत्र-विद्यमानस्यैव हेयादितत्त्वस्य सुगतोऽपि प्रवक्ता भवेन्नापरस्य व्योमकुसुमादिवत्। विद्यमानत्वं च न तस्य कार्यत्वेन, असति कारणे तदनुज्ञानात्[1], असति च तद्योगान्निर्हेतुकत्वापत्तेः[2]। नापि कारणत्वेन; कार्यकालमप्राप्य निवृत्तस्य चिरातिक्रान्तवत्तदनुपपत्तेः। निरूपितं चैतत् सविस्तरमिति। पदार्थः कथ्यते-तत् हेयादितत्त्वम्। असाध्यं कस्यचिदप्यकार्यम् असाधनम् अकारणं च प्रतिसमयविलयप्राप्तिविग्रहस्योक्तनीत्याऽनुपपत्तेः। अन्वयरूपत्वे तदुपपत्तिरिति चेत्; स्यादेतदेवं यद्यन्वयवादी सुगतः, न चैवम्। एतदेवोक्तम्–'अनात्मज्ञम्' इति। 'आत्मा'इत्यन्वय एवोच्यते अतति गच्छति तांस्तान् पर्यायानित्यात्मेति व्युत्पादनात्। तम् जानाति नोपैति इत्यनात्मज्ञः सुगतस्तं तस्येत्यर्थः। धिक्शब्देन योगे षष्ठीविषय एव द्वितीयाविधानात्। तदयमर्थः–यतस्तदनात्मज्ञस्य सम्बन्धि तस्माद् असाध्यमसाधनम् अतः धिक् कुत्सनमनात्मज्ञस्य तस्य वा। यदि वा, तदसाध्यं साधयितुमशक्यम्। कुत एतत्? असाधनम् अविद्यमानप्रमाणं यत इति। एतदपि कस्मात्? 'अनात्मज्ञम्' इति। आत्मा जीवः स चासौ ज्ञश्च जैनोपगतो न यौगकल्पितः आत्मज्ञः स न विद्यते यस्य सोऽयम् अनात्मज्ञो[3] बुद्ध एव तस्य सम्बन्धी यत इति।

ज्ञानमेव हि तस्य स्यात् साधनं तच्च नासति।
ज्ञस्वभावे नरेऽस्तीति पूर्वमेतन्निवेदितम् ॥१६१२॥
अज्ञातमप्रमाणत्वादकार्यत्वादितोऽप्यसत्।
कथं हेयादिकं तत्त्वं बुद्धो वक्तुं प्रवर्तताम्? ॥१६१३॥
तस्मादयमसद्वादैर्बालिशान्[3] विप्रलम्भयन्।
धिक्कर्तव्यः[4] कथं नाम न भवेन्न्यायवेदिनाम् ॥१६१४॥

पुनरप्यत्रैवोपचयमाह–

सर्वथाऽसदुपादेयं हेयं सत् [तदकारणम्]। इति।

सर्वथा सर्वेण सकलरागादिक्लेशप्रकारेणेव परिशुद्धज्ञानरूपेणापि असत् अविद्यमानं निरोधसत्यम्। उपादेयं पुरुषार्थबुद्ध्या परिग्राह्यम् 'धिगनात्मज्ञम्' इति सम्बन्धः। कुतो धिक्कार इति चेत्? अनात्मज्ञत्वादेव। आत्मेति निरोधसत्यस्य स्वभावस्तस्य ज्ञानं बुद्धिः स न विद्यते यस्मिन् तद् अनात्मज्ञं तत्सत्यमेव यत एवं ततो धिगिति। तथा हि–निरुद्धसकलाकारं निर्वाणं न तावत् प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तव्यं प्रतिबन्धाभावात्। न हि तस्य तत्कार्यत्वम्; नीरूपस्याकारणत्वात्, अन्यथा नीरूपत्वायोगात्। नापि तत्स्वभावत्वम्, स्वयं नीरूपत्वप्रसङ्गात्। न च नीरूपादेव तस्य परिज्ञानकल्पनं विज्ञानकल्पनावैफल्योपनिपातात्। पुनरन्यतः प्रत्यक्षात् तत्परिज्ञानकल्पनायां प्रकृतपर्यनुयोगानतिवृत्तेः अनवस्थादोषनिषमविषधरव्यापारभयपरिपातस्य च परिहर्तुमशक्यत्वात्। न चाप्रतिबद्धादेव ततस्तत्परिज्ञानम्, अनभ्युपगमात्, प्रतिबन्धान्तरस्य च[5]। तन्न प्रत्यक्षस्य तज्ज्ञानत्वम्[6]।

---

१ कार्योत्पादानुज्ञानात्। २ कार्योत्पादायोगात्। ३ अज्ञान्। "शिशावज्ञे च बालिशः। इत्यमरः"–ता० टि०। ४ धिक्कार्य–आ०, ब०, प०। ५ "अनभ्युपगमादिति सम्बन्धः।"–ता० टि०। ६ निर्वाणविषयकज्ञानत्वम्।

नाप्यनुमानस्य; प्रत्यक्षाभावे तस्य तत्पूर्वकत्वेनाप्रवृत्तेः। लिङ्गस्य च तत्कार्यस्य तत्स्वभावस्य च विचारासहत्वेनाप्यव्यवस्थितेः। ततो युक्तं त[1]त्सत्यस्य अनात्मज्ञत्वम्, अतश्च तदुपादेयं धिगेव प्रमाणपथाऽतिवर्तिनो वस्तुवृत्तेनानुपादेयत्वात्। तथा सत् प्रशस्तं परिशुद्धज्ञानस्वभावं बुद्धस्य "प्रभास्वरमिदं चित्तम्" [प्र० वा० १।२१०] इति वचनात्। तत् हेयं नैरात्म्यभावनापरिपाकबलेन परित्याज्यमित्यपि धिगेव, प्रशस्तस्य परित्यागानुपपत्तेः निर्वाणवत्। कथं वा तस्य तत्परित्यागे परात्मपरिज्ञानं यतः तदुपतापपरिहारपरवशतया तदुपायाभियोगमात्मसात्कुर्वीत नीरूपत्वेन तदनुपपत्तेः। एतदेवोक्तम्–'अनात्मज्ञम्' इति। आत्मा विनेयसन्तानस्तस्य ज्ञो[2] तद्बुद्धिस्तस्या अभावेऽनात्मज्ञम्, अर्थाभावेऽव्ययीभावात्। एतदुक्तं भवति-सतोऽपि स्वभावस्य परित्यागे तस्य परपरिज्ञानं न भवेत् अतस्तस्य हेयत्वं निन्दितमिति। नास्त्येव तस्य तत्परित्यागः "तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा।" [प्र० वा० १।२०१] इति[3] वचनादिति[4] चेत्; कथं पुनर्नैरात्म्यभावनापरिपाके तत्कारणे सति तदभावः खड्गादेरपि ततस्तदभावप्रसङ्गात्? अथ तत्परिपाकोऽपि कृपासम्पर्कविकल एव तद्धेतुः स खड्गादेरेव न महामुनेः, तस्य परार्थपरतया महाकृपालुत्वादिति चेत्; खड्गादेः[5] कस्मादकृपालुत्वम्? परार्थवृत्तेरभावादिति चेत्; अस्तु नाम तस्य परत्राकृपालुत्वमात्मनि तु भवत्येव स्वार्थवृत्तेरवश्यम्भावात्, अन्यथा निर्वाणायोपक्रमानुपपत्तेः। अथ तस्य निर्वाणेनैवार्थित्वं नावस्थानेनेति। कुत एतत्? त[6]स्य निर्दोषत्वात् समानमिदमनत्र (मत्र) स्थानेऽपि, तस्यापि सकलमलविकलप्रभास्वरचित्तरूपत्वेन अभ्युपगमात्। अथ तच्चित्तेनावस्थितेनापि न किञ्चित् फलमिति न तत्रार्थित्वं तस्य; तर्हि तन्नाशेऽपि न भवेत् ततोऽपि कस्यचित् फलस्याभावात्, प्रत्युत तदेव मुमुक्षूणां फलं यत् सकलक्लेशपरिशुद्धज्ञानरूपतयाऽवस्थानम्, तच्चेत् कुतश्चित् सम्प्रपद्येत किमन्येन? फलेऽपि फलान्तरप्रतीक्षायामनवस्थापत्तेः। ततो युक्तं तत्रैव तस्यार्थित्वम्। अथ सत्यपि तत्र तस्यार्थित्वे न तस्यावस्थानं त[7]दपरित्यागे तत्परिमिश्रक्लेशपरित्यागासम्भवात् अन्नापरित्यागे तत्परिमिश्रविषपरित्यागासम्भववदिति चेत्; न; तथा ता[8]थागतस्य चित्तस्यापि परित्यागप्रसङ्गात्। अथास्ति कश्चित् त[9]स्योपायो यतोऽवस्थितेऽपि चित्ते तत्क्लेशपरित्यागः तस्य भवेत्; स तर्हि खड्गादेरपि[10] तेन वक्तव्यो येन न तच्चित्तमप्यवस्थितमेव परिगलितनिखिलक्लेशभयपरिनिर्वाणपदं प्राप्नुयात्। एवं हि तेनात्मनस्तायित्वमपि[11] सुस्पष्टं प्रतिष्ठापितं भवति स्वयं परिदृष्टमार्गोपदेशस्यैव तत्त्वात्, "तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः" [प्र० वा० १।१४७] इति वचनात्। ततो यदि कृपामाहात्म्यात् अवस्थानं बुद्धचित्तस्य खड्गादिचित्तस्यापि स्यात्। न चेत्; इतरस्यापि न स्यादित्युपपन्नमुक्तम्–'हेयं सत्' इति। यदि वा, सत् विद्यमानं संसारिचित्तं हेयं धिगिति व्याख्येयम्, तस्य सत्त्वासिद्धेः, सत एव हेयत्वो-

१ तत्सत्त्वस्य प०। २ जातु–आ०, ब, प०। ३ "निर्वाणेऽपि परे प्राप्ते कृपार्द्रीकृतचेतसः"। इति पूर्वार्धम्। ता० टि०। ४ वचनादेवेति प०। ५ –देर्न क–आ०, ब०, प०। ६ निर्वाणस्य। ७ अवस्थानपरित्यागाभावे। ८ तथाग आ, ब०, प०। ९ तच्चित्तस्यो –आ०, ब०, प०। १० –पिचो न आ०, ब०, प०। ११ "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।" –ता० टि०।

पपत्तेरिति मन्यते। तदसत्त्वे निमित्तमाह–'तदकारणम्' इति। तत् उक्तरूपं चित्तम् अकारणम् अपूर्वमुत्तरस्याजनकम्, अन्यथा चरमक्षणेऽपि स्यादिति निर्वाणाभाव इति भावः। तदानीं विजातीयस्यैव योगिज्ञानादेस्तत्कारणं न सजातीयोत्तरचित्तस्य तदयमदोष इति चेत्; कथमिदानीं परचैतन्यप्रतिपत्तिः ? शक्यं हि वक्तुम्–अतीतजन्मान्तिमचित्तं विजातीयमेव प्राणापानादिकं सजातीयोत्तरजनकं जनयित्वा प्रतिनिवृत्त न सजातीयं चित्तं चरमक्षणवत्। ततो न प्राणादेः परशरीरे निश्चितात् तत्प्रतिपत्तिः, व्यभिचारशङ्कायां तदनुपपत्तेरिति। तथा चेत्; कथं सुगतभाविनः[2] पुरुषस्य परदुःखपरिज्ञानं यतस्तदक्षमतया प्रेरितस्तत्परिहारोपायाभियोगी स भवेदित्यसङ्गतमिदमवलोकयामः–

"निष्पन्नकरुणोत्कर्षः परदुःखात्प्रेरितः।
दयावान् दुःखहानार्थमुपायेष्वभियुज्यते॥" [प्र०वा०१।१३३] इति।

ततो यथा सजातीयं जनयत एवं परचित्तस्य विजातीयजनकत्वं तथा चरमचित्तस्यापीति न सम्भवत्येव चित्तोच्छेदलक्षणं निर्वाणम्। तत्सम्भवे वा तच्चित्तमकारणमेव सजातीयवद्विजातीयस्यापीत्युपनतं तस्यावस्तुत्वमर्थक्रियाविरहात्, तथा तत्पूर्वस्यापि, अवस्तुनोऽर्थक्रियारूपत्वायोगेन तस्यापि तद्विरहाविशेषात्, तथा तत्पूर्वस्यापीत्यशेषस्यापि चित्तप्रबन्धस्य क्वचिदप्यनुपयोगात् उपपन्नमुक्तम्–'तदकारणम्' इति। भवत्कारणत्वादसन्नेव तत्प्रबन्ध इति चेत्; तर्हि नित्यसिद्ध[3]त्वान्निर्वाणस्य किं तदर्थेन तपश्चरणरागादिना प्रयत्नेन ? तदेवाह–

तदर्थोऽयं प्रयासश्च [इत्यहो सत्यव्यवस्थितिः] ॥ ६ ॥

तदर्थो नित्यसिद्धनिर्वाणार्थोऽयं परमसिद्धः प्रयासस्तपश्चरणादिरूपः 'च' इति समुच्चये। न केवलं पूर्वोक्तमेव किन्त्वयमपि धिगिति, सिद्धे[4] प्रयासवैफल्यादिति धिक्कर्तुरभिप्रायः।

चित्तप्रबन्धाभावे च प्रयासश्चेतनात्मकः।
कथं विद्येत येन स्यान्मार्गसत्यव्यवस्थितिः॥ १६१५॥

तदेवाह–'इत्यहो सत्यव्यवस्थितिः' इति। एवमुक्तन्यायेन सत्यस्य मार्गरूपस्य व्यवस्थितिरवस्थानम् अहो नैवेत्युपहसनपरेण अहोशब्देन दर्शयति। यदि वा, तच्चित्तसन्तानोच्छेदलक्षणं निर्वाणमकारणमहेतुकमभावरूपत्वेन अनपेक्षत्वात् तत्किं तदर्थेन नैरात्म्यभावनादिना प्रयासेन ? तदेव दर्शयति–'तदर्थोऽयं प्रयासश्च' इति। धिक्शब्दानुवृत्त्या, व्याख्यानं पूर्ववत्।

स्यान्मतम्–न साक्षात् तत्सन्तानोपमर्दनेन प्रयासस्य तादर्थ्यमपि तु तत्सहायं पूर्वपूर्वचित्तमुत्तरोत्तरचित्तं सजातीयकार्यं प्रत्यसमर्थादिरूपं जनयति ततः चरमस्यात्यन्तासमर्थत्वेन ततः चित्तान्तरस्यानुत्पत्तेः चरमं[6] प्रच्युतेश्च प्राच्यस्य स्वरसभङ्गुरत्वेन प्रलयात् प्रशान्तनिर्वाणोपपत्तेः पारम्पर्येणैव तस्य तादर्थ्यमिति; तदपि न साम्प्रतम्; विचारानङ्गत्वात्। तथा हि प्रयासोऽयमुच्छेद्यसन्तानवर्ती, तदन्यसन्तानवर्ती वा ? प्रथमविकल्पे स एव न सम्भवति; चरमस्यावस्तुत्वेन सन्तानावस्तुत्वे तद्वर्ति-

१ –त्ता तत्प–आ०, ब०, प०। २ सुगतस्य" –ता० टि०। ३ –त्वं नि–प०।
४– द्धेः प्र–आ०, ब०, प०। ५ –पसंहासप– आ०, ब०, प०। ६ –मप्रच्युतेश्च आ०, ब०, प०।

नस्तस्याप्यवस्तुत्वात् तादृशस्य पारम्पर्येणापि तादर्थ्यानुपपत्तेः व्योमकुसुमादिवत्। चरमस्यापि वस्तुत्वे न निर्वाणं तस्यापि सन्तानात्, अन्यथा वस्तुत्वायोगस्य निवेदितत्वात्। ततः

निर्वाणं चेत् प्रयासो न प्रयासश्चेन्न निर्वृतिः।
निर्वाणं च प्रयासश्चेत्येतदन्योन्यपीडितम्॥ १६१६॥
अत एवोपहासेन येतन्निर्वाणसत्ययोः[1]।
तदित्यादिकया श्रुत्यादिवैरस्थितिरुच्यते (?)॥ १६१७॥

भवतु तदन्यसन्तानवर्त्येव प्रयास इति चेत्; तत्सन्तानोऽपि न निर्वातुरन्यत्र, तद्वर्तिनः प्रयासात् तस्य निर्वाणानुपपत्तेरतिप्रसङ्गात्। निर्वातर्येवेति चेत्; न; तदनुच्छेदेऽपि निर्वाणायोगात्। तदुच्छेदोऽपि यद्यन्यसन्तानवर्तिनः प्रयासात् कथमनवस्थापरिहारः? तत्रापि प्रकृतप्रसङ्गानतिवृत्तेः। एतदेवोक्तम्–'इति' इत्यादिना। इति एवमपरापरसन्तानवर्तिप्रयासपरिकल्पनाप्रकारेण अहो नैव सत्यस्य प्रयासापरनाम्नो मार्गसत्यस्य व्यवस्थितिरनवस्थैव भवेदित्यर्थः। ततः स्थितमिदम्–

सर्वथा सदुपादेयं हेयं सत्तदकारणम्।
तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यव्यवस्थितिः॥ इति।

इदमेव श्लोकैर्विवरीतुमाह–

करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम्।
इति नः करुणा [अत्यन्तं परदुःखं न गोचरः] ॥७॥ इति।

सत्त्वदृष्टिनिषेधार्था बुद्धस्याभिप्रायवृत्तिः करुणा। "तथाभूतसत्त्वग्रहपरित्यजनाय य आशयः स दया" [प्र० वार्तिकाल० १।१९५] इत्यलङ्कारात्। यद्येवं कथं तस्य सर्वथा विकल्पविकलत्वं तदाशयस्य विकल्पत्वात्। न ह्यमुमनेन त्याजयामीति परामर्शवतस्तस्याविकल्पत्वम्। न तस्यैवं तद्वत्त्वं[2] संस्काररूपतयैव भावात्। "अक्षीणशक्तिसंस्कारो येषां तिष्ठन्ति तेऽनया[3]" [प्र० वा० १।२००] इति वचनात्; इत्यपि न युक्तम्; संस्कारस्य चेतनोपादानस्याचेतनत्वायोगात्। चेतनत्वेऽप्यविकल्पत्वे न ततः श्रेयःकथनं[4] तस्य[5] विकल्पयोनित्वेनोपगमात्। ततश्च तत्कथनमभिमतं "दयाया[6] (दयया) श्रेय आचष्टे" [प्र० वा० १।२८४] इति वचनादिति चेत्; सत्यम्; अयमपि परस्य पर्यनुयोगः। सा च करुणा स्वश्च योगी परश्च विनेयवर्गः तयोर्ज्ञानानि तेषां सन्तानास्तेषाम् उच्छेदोऽत्यन्तविनाशस्तस्य कारणमिति एवं नोऽस्माकं कृपालूनां करुणा कृपा वर्तत इति शेषः। भवति हि महापुरुषाणां मन्दप्रज्ञानवलोक्य कृपोत्पत्तिः। अस्ति च प्रज्ञामान्द्यं सौगतानां तैः स्वपरसन्तानविनाशिन्या जिघांसाया एव करुणात्वेन प्रतिपत्तेः। करुणैव साक्षादसौ तथा सकलदुःखपरिक्षयरूपस्य तदुच्छेदस्य करणादिति चेत्; न; सकलसुखपरिक्षयरूपस्यापि तया तस्य करणात्। न च सुखमेव संसारे नास्ति तस्यापि दुःखवदनुभवात्, सदपि तद् दुःखमेव दुःखच्छिद्रपा-

---

१ यत्तन्निर्वा–आ०, ब०, प०। यत्सत्यं मार्गसत्यम्। २ दयावत्त्वम्। ३ "तेऽनघाः" प्र० वा०। ४ कथं तस्य आ०, ब०, प०। ५ कथनस्य। ६ 'दयया'–प्र० वा०।

त्सित्वादिति चेत्; दुःखमपि सुखमेव स्यात् तच्छिद्रपातात् विशेषात्। विवेकिनां नैवमभिप्रायस्तेषां सर्वत्र दुःखाभिनिवेशस्यैव भावात्, "सर्वं दुःखं विवेकिनः" [योगसू० २।१५] इति वचनादिति चेत्; विवेकस्तर्हि पापीयान्[1] तेन सर्वत्र तदभिनिवेशकरणादिति तस्यैव तयोच्छेदः कर्तव्यो न ज्ञानसन्तानस्य, तदुच्छेदे तस्य सर्वत्र सुखबुद्ध्यैवावस्थानोपपत्तेः। यदि च तदभिप्रायवशात् सर्वं दुःखम्; सर्वं सुखमेव किन्न स्यात्? वासीचन्दन[2]कल्पानां सर्वत्रौदासीन्यरूपस्य सुखस्यैव भावात्। सुखं च तद्रूपमनुकूलवेदनीयत्वात् प्रसिद्धसुखवत्। ततो नाभिप्रायवशादपि सर्वं दुःखमेवेति शक्योपपादनं यतः तदुच्छेदकरणात् करुणैवेयमिति प्रतिपत्तिः। इदमेवाह–'अत्यन्तं परदुःखं न गोचरः' इति। परैः सौगतैः कल्पितं दुःखं न गोचरो न विषयः [3]प्रमाणस्य। कीदृशम्? अत्यन्तम् अन्तमतिक्रान्तम्। अन्तशब्देन सुखमत्रोच्यते तस्य दुःखं प्रत्यन्तत्वोपपत्तेः, [4]सर्वथा सुखविकलं दुःखमेव न तद्विषयः सुखस्यापि तद्विकल्पस्य तद्विषयप्रतिपत्तेरित्यर्थः। तथा च कस्यचित् सुभाषितम्–"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा" [उ० मेघदू० श्लो० ४६] इति। ततः सुखापहारकरणत्वादुपपन्नं तस्याजिघांसत्वम्। नैकान्ततस्तस्यास्तत्त्वं दुःखापहारकरणत्वेन करुणात्वस्यापि भावादिति चेत्; न; जिघांसाकरुणयोरेकत्वविरोधात् तमःप्रकाशवत्। व्यतिरेके च तयोः परित्याज्य एव सुगतेन जिघांसाभागस्तस्यान्यथा महाकारुणिकत्वव्यापत्तेः। तथा च कथं तत्करुणया ज्ञानसन्तानस्य निर्मू[7]लोच्छेदः सुखभागिकस्य त[6]स्यावस्थानोपपत्तेः। करुणयैव तस्याप्युच्छेदो[8] दुःखभागिकस्याप्यन्यथा तदयोगात्, मृष्टभोजनादिसुखप्रतिषेधेन विना प्रत्यग्रप्रवृत्तज्वरादिदुःखनिषेधायोगवदिति चेत्; उपपन्नमेवैतत्; परहितप्रवृत्तानां यदि ज्वरादिविनिर्मुक्तपुरुषवद्विगलितनिखिलदुःखव्याधेरपि कस्यचित् चित्तभागस्यावस्थानं प्रतिलभ्येत, अन्यथा मृत्युविधायिनो भिषज इव तदुच्छेदविधायिनोऽपि परहितत्वानुपपत्तेः। कथं वा करुणया तदुच्छेदः, तया दुःखप्रवलेशवृत्तिनिमित्तसत्त्वदर्शनप्रत्यनीकस्य नैरात्म्यभावनारूपस्योपायाभियोगस्योपसमर्पणात्। ततश्च परिस्फुटस्य तत्त्वज्ञानादेः प्रादुर्भावात्तेनापि तत्त्वदेशनया विनेयवर्गस्य मार्गप्रवर्तनादिति चेत्; ननु तत्त्वं नाम सत्यचतुष्टयमेव भवतामभिमतम्। तच्च न योगिप्रत्यक्षेण समसमयम्; तस्य तद्विषयत्वाभावप्रसङ्गात्, समसमयस्याकारणत्वात्, कारणस्यैव[10] च विषयत्वोपगमात्। तस्यापि कारणत्वे समुदयमार्गयोरपि तं प्रत्यविषयोरेव दुःखनिरोधहेतुत्वापत्ते. यदैव समुदयस्तदैव दुःखं यदैव मार्गस्तदैव निरोध इत्यसमञ्जसं प्राप्नुयात्। अथ तयो[11]र्भिन्नसमययोरेव तत्कारणत्वं कथमिदानीं तच्चतुष्टयस्य योगिप्रत्यक्षेणापि समकालत्वम्? दुःखादेस्तत्त्वे समुदयादेस्तदसम्भवात्, तस्य तत्त्वे वा दुःखादेस्तदनुपपत्तेः। अथ तत्प्रत्यक्षं प्रत्यभिन्नकालवद्भिन्नकालमपि कारणमिष्यते; तन्न; क्रमवतः कारणादक्र[12]मस्य कार्यस्यानुत्पत्तेः, अन्यथा कारणादप्यक्रमात् कार्यस्य क्रमवतः प्रसङ्गात् असङ्गतमिदं भवेत्–"नाक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इति। तस्मादभिन्न-

---

१ सर्वत्र दु– आ०, ब०, प०। २ वापीचन्दन– आ०, ब०, प०। ३ –प्रामाण्यस्य आ०, ब०, प०। ४ सर्वदा ता०, ब०। ५ –तत्परदु–आ०, ब०, प०। ६ भावस्त– आ०, ब०, प०। ७ ज्ञानसन्तानस्य। ८ –दो दुःखभागिकस्याप्युच्छेदो दुःख– आ०, ब०, प०। ९ –सम्प्रवृ– आ०, ब०, प०। १० –स्य वि–ता०। ११ समकालयोरेव। १२ –मका– आ०, ब०, प०।

कालत्वमेव तस्य तेन भवितुमर्हतीति व्यवस्थितमेवासामञ्जस्यम् । भवतु तर्हि तच्चतुष्टयस्य परस्परतस्तत्प्रत्यक्षादपि भिन्नकालत्वम्; इत्यपि न युक्तम्; तन्नेत्यादिना दत्तोत्तरत्वात् । सत्यपि तादृशस्य तत्कारणत्वे नातदाकारस्य तस्य तद्विषयत्वम् आकारवादसमर्थनवैयर्थ्यापत्तेः । तदाकारत्वे च–

अक्रमेणार्पयन्त्यर्थाः स्वाकारांस्तत्र सक्रमान् ।
क्रमेण वाऽर्पयन्त्यन्या गतिरत्र न विद्यते ॥ १६१८ ॥
यद्यक्रमेण बाह्यस्याप्यक्रमस्यैव विद्भवेत् ।
आकारानुगुणत्वेनैवार्थरूपप्रवेदनात् ॥ १६१९ ॥
आकारातिक्रमादर्थवित्तौ नीलाकृतेर्विदः ।
पीताद्यशेषविज्ञानात् सर्वः सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥ १६२० ॥
क्रमेणैवार्पणे तेषां बुद्धिरेका तदात्मिका ।
वहन्ती कालतो दैर्घ्यं भवेदात्मैव तत्त्वतः ॥ १६२१ ॥
आत्मदृष्टिभयं त्यक्तुमुपायं तस्य तत्त्वतः ।
तदेव पुनरग्रेऽभूदहो दैवं दुरत्ययम् ॥ १६२२ ॥
बुद्धिरेका न चेत्तस्याः प्रत्याकारं विभेदतः ।
तत्सर्वज्ञत्ववादाय देयस्तर्हि जलाञ्जलिः ॥ १६२३ ॥

तथा हि–न तावदेकया बुद्ध्या तस्य सर्वज्ञत्वम्; तयैकाकारयैकस्यैव प्रतिपत्तेः । नाप्यनेकया; पृथग्जनस्यापि तथा तत्प्रसङ्गात् । अपि च, अनेकत्वमप्रतिपद्यमानस्तस्याः कथमसौ तथा सर्ववेदी भवेत् ? "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" [ ] इत्यस्य विरोधात् । प्रतिपद्यत एव तदपि तदर्पितक्रमवदनेकाकारया परया बुद्ध्येति चेत्; न; आत्मदृष्टिभयपरिहाराभावस्य पुनरपि प्राप्तेः । नायं दोषस्तद्बुद्धेरपि प्रत्याकारं भेदादिति चेत्; न तर्हि तयाऽप्येकया अनेकवेदनम्, उक्तान्न्यायात् । नाप्यनेकया; तत्परिज्ञानेऽपि पूर्वप्रसङ्गानतिवृत्तेरनवस्थाप्राप्तेः । अथ बुद्धीनां नानात्वं न परबुद्धिवेद्यं यतोऽयं प्रसङ्गः किन्तु ताभ्य एव स्वसंवेदनत्वात् तासामिति; तन्न; स्वसंवेदनस्य स्वरूपादन्यत्राप्रवृत्तेः, तेन नानात्वप्रतिपत्तेः दुरुपपादत्वात् । तन्न तदुत्पत्तिसारूप्याभ्यां तत्त्वज्ञानं तथागतस्य । नाप्यतदुत्पन्नमतदाकारं च; स्वसिद्धान्तपरित्यागदोषात् । किञ्च,

तस्याप्यनेकशक्तित्वे युगपत्क्रमतस्तथा ।
तद्रूपस्वसम्भवात् प्राप्तमात्मदृष्टिभयं पुनः ॥ १६२४ ॥
एकशक्ति यदि ज्ञानं न तेनानेकवेदनम् ।
अन्यथा तादृशाद्धेतोः कार्यं नाना न किं भवेत् ? ॥ १६२५ ॥
तथा सति न नित्योऽर्थो दूषितो भवति त्वया ।
निराकारमपि ज्ञानं तन्न तस्योपपत्तिमत् ॥ १६२६ ॥

१ –क्षादभिन्न– आ०, ब०, प० । २ उक्तान्या– आ०, ब०, प० । ३ –भ्यः स्वसं– आ०, ब०, प० । ४ नानात्वप्रवृत्तेः आ०, ब०, प० ।

तदभावे न वैराग्यवत्सलत्वादिसम्भवः ।
इति तद्धेतुना नैव कृपा या युक्तिमृच्छति ॥ १६२७ ॥

तदेवाह–

तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः । इति ।

सः करुणाभिधानो बुद्धस्याशय उन्मार्ग एव न मनागपि मार्ग इत्येवकारः । कुत एतत् ? तत्त्वस्य दुःखादेर्ज्ञानमादिर्यस्य वैराग्यादेस्तस्यानुत्पादहेतुः तदुत्पादस्य पारम्पर्येण निमित्तं न भवति यत इति । तत्त्वज्ञानादेरेवोक्तयुक्तिवैश्वानरपरिप्लोषभस्मभावोपनीतत्वेनासम्भवादिति भावः ।

स्यान्मतम्–न तत्त्वतः सुगतज्ञानस्य बहिर्विषयत्वं स्वसंवित्तिमात्रपर्यवसितत्वात्, अत एव न तेन कस्यचित् सन्तानस्य दर्शनं यतस्तद्दुःखपरिहरणाय तस्य प्रवृत्तिः कृपापारवश्येनावस्थितिर्वा सर्वस्मिन्नस्मिन्नर्थे प्रमाणाभावात् केवलं संवृतिविभ्रमादेव तत्र सर्वमिदमवकल्प्यते । तदुक्तम्–

"न च पश्यति सन्तानं नापि कश्चित् प्रवर्तते ।
न तिष्ठति प्रमाभावात् केवलं भवतो भ्रमः ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१९८] इति ।

तत्राह–'तत्त्वज्ञान' इत्यादि । स सुगत उन्मार्ग एव मार्गणीयो न भवत्येव । कुत एतत् ? तत्त्वज्ञानस्य सोपायहेयोपादेयभावपरिज्ञानस्यादिपदात् तदभ्यासस्य चानुत्पादहेतुत्वात् । न हि विकल्पारोपितस्य तद्धेतुत्वं स्वप्नोपलब्धतथागतवत् । न च तदर्थं तस्य प्रेक्षावद्भिरन्वेषणम् तद्वत्त्वव्याप्तेः । सत्यं न तेषां तदन्वेषणम्, तेषां प्रहीणात्मदर्शनानां दुःखस्यैवाभावात्, तन्निवृत्त्यर्थत्वाच्च तदन्वेषणस्य, तस्मान्मूढानामेव तदन्वेषणम्, अन्यथा तेषामात्मदर्शनप्रहाणासम्भवेन आत्मस्नेहदुःखनिबन्धनस्य दुःखप्रबन्धस्यानुच्छित्तेः स्वस्थत्वेनावस्थानानुपपत्तेः । तदुक्तम्–

"यावदात्मनि न प्रेम्णो हानिः स[3] परितस्यति ।
तावद्दुःखितमारोप्य न च स्वस्थोऽवतिष्ठते ॥" [प्र० वा० १।१९३] इति ।

ते तर्हि कुतो हरिहरादीनामन्यतमं तत्त्वज्ञानाय नान्वेषयन्ति ? तेषामपि आत्मदर्शनवत्त्वेन मूढत्वादिति चेत्; न, सुगतस्यापि विकल्पारोपितरूपत्वेन तदविशेषात् । परिशुद्धज्ञानप्रबन्धरूपत्वान्न तदारोपितत्वं तस्येति चेत्; न; तत्प्रबन्धस्यैव पूर्वापरात्मनो विचारासहत्वस्य निवेदितत्वात् । ततः तस्यापि तदारोपितत्वेन मूढतया तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुत्वाविशेषेण ईश्वरादिवदन्वेषणीयत्वानुपपत्तेः उपपन्नमुक्तम्–'उन्मार्ग एव सः' इति ।

यत्पुनरेतत्–"यो हि बद्धो न तस्य मोचोऽस्ति तत्स्वभावत्वात्, मुक्तस्यापि न बन्धः[4] सदा तस्य मुक्तस्वभावत्वात्, केवलं चित्तसन्तानस्य अपरिशुद्धस्य ततः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध उत्पद्यते ।" [प्र० वार्तिकाल० १।१९०] इति । तत्राह–

१–सकरणाय आ०, ब०, प० । २ क्रमामा–आ०, ब०, प० । ३ "स परितस्यति"–प्र० वा० । सम्प्रतिरस्यति आ०, ब०, प० । ४ बन्धस्तदा प० ।

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥ ८ ॥
तत्त्वज्ञानमुदेतीति कुतस्तत्त्वविनिश्चयः । इति ।

क्षणक्षयनैरात्म्यादिविषयमनुमानज्ञानं **मिथ्याविकल्पविज्ञानं** तत्रावस्तुसामान्यविषयतया मिथ्याविकल्पभावस्य भावात्, परिशुद्धज्ञानकारणतया परेण च तस्याभ्युपगमात् । तस्य **भावना** चेतसि परिमलनं तस्याः **परिपाकः** सामर्थ्यात् अतिशयगमनं ततः तत्त्वस्यार्यसत्यचतुष्टयस्य ज्ञानमखिलाविद्यातृष्णामद(मल)विकलम्–**उदेति** उत्पद्यते इति एवमस्य तत्त्वस्य **विनिश्चयो** निर्णयः कुतो न कुतश्चित् । तथाहि–न तावत् सुगतस्ततः तदुत्पत्तिमवैति; तेन मलिनभागेनेतरभागस्याग्रहणात्, तदाकारतया तस्यापि निर्मलत्वापत्तेः । पुनस्तस्याप्यन्येन तद्भागेन ग्रहणे स एव तत्प्रसङ्गः पुनरप्येवमित्यनादिपरिशुद्ध एव चित्तसन्तानः प्रसज्येत । तत इदमेव सूक्तम्–'मुक्तस्यापि'इत्यादि, एतत्तु दुरुक्तमेव 'केवलम्'इत्यादि, स्वतोऽनादिशुद्धस्य सामग्रीनिरपेक्षत्वात् । तथा न निर्मलभागेनापि मलिनभागस्य ग्रहणम्; तस्यापि तदाकारतया मलिनतापत्तेः । तस्यापि पुनरन्येन तद्भागेन ग्रहणे स एव तत्प्रसङ्गः, पुनरप्येवमिति निरवधिरेवापरिशुद्धस्तत्रापद्येत । तदत्रापि 'यो हि'इत्यादिकमेव सूक्तम् । 'केवलम्'इत्यादिकं तु दुरुक्तमेव । निरवधित्वे मलबन्धस्य तत्प्रच्युतिहेतोः सामग्रीविशेषस्यैवासम्भवात् । न च मलबन्धतत्परिशुद्धिभ्यामपरामृष्टं ज्ञानान्तरं सम्भवति यतस्तदुभयपरिज्ञानम् । तदभावे च न तत्सम्बन्धस्य हेतुफलभावस्य प्रतिपत्तिः, सम्बन्धप्रतिपत्तेः सत्यामेव सम्बन्धिद्वयप्रतिपत्तावुपपत्तेः । "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादेः स्वयमेवाभिधानात् । तन्न सुगतेन तस्य निश्चयः । नापि विनेयवर्गेण; तज्ज्ञानेनापि तन्मलिनभागवर्तिना तत्परिशुद्धभागस्य, तद्भागवर्तिना च तन्मलिनभागस्याप्रतिवेदनात् । क्रमभावितदुभयाकारैकज्ञानसम्भवे चात्मसिद्धिदोषस्यापरिहारात् प्रतितद्भागं तज्ज्ञानभेदकल्पनायां तु कुतस्तज्ज्ञानमपि पौरस्त्यं परिशुद्धिमदुत्पन्नम् ? स्वाकारमर्पयतस्ताथागतादेव तत्त्वज्ञानादिति चेत्; नेदानीमनुमानविकल्पात्मकमार्गाभियोगादेव परिशुद्धिमत्त्वं तत्त्वज्ञानस्य प्रकारान्तरादपि तद्भावात् । तथा च व्याहतमेतत्–

"उक्तो मार्गस्तदभ्यासादाश्रयः परिवर्तते ।" [प्र०वा० १।२०७] इति ।

आश्रयस्याप्यविद्यातृष्णाधिकरणस्य चित्तसन्तानस्य परिवृत्तेः परिशुद्धिलक्षणायाः[1] तदभ्यासाद्-यतोऽपि भावात् । भवतु तर्हि तदभ्यासादेव तज्ज्ञानमपि तथाविधमिति चेत्; कस्य तत्रापि ततस्तदुत्पत्तेः निश्चयः ? न तस्यैव विनेयवर्गस्य; सुगतवद्दोषात् । नापि तद्वर्गान्तरस्य; 'नापि विनेयवर्गेण'इत्यादेस्तत्रापि प्रसङ्गादनवस्थोपनिपाताच्च । कुतश्चेदं मिथ्याज्ञानं यद्भावनापरिपाकात्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते ? पूर्वस्माद्विकल्पसंस्कारादेव, निर्विकल्पस्य तद्विजातीयत्वेन तदनुपादानत्वात् । तत्संस्कारस्यापि तत्पूर्वमभाविनः तत एवोत्पत्तेः अनादित्वात् भवबन्धस्येति चेत्; कुतस्तदनादित्वमवगन्तव्यम् ? प्रत्यक्षस्य तत्राप्रवृत्तेः । अनुमानादिति चेत्, न; लिङ्गाभावात् । तत्संस्कार एवोत्तरोत्तरो लिङ्गमिति चेत्; न; तस्य यथास्व[3] कारणापेक्षयैव लिङ्गत्वात् न तदनादित्वापेक्षया । तदनादित्वापेक्षयाऽपि

---

१ तथापि आ०, ब०, प० । २ –भागा त–आ०, ब, प० । ३ स्वकारणा–आ०, ब०, प० ।

तत्प्रबन्धस्यास्त्येव लिङ्गत्वम्, एकैकस्यैव तस्य तदभावादिति चेत्; न; एकैकव्यतिरेकेण प्रबन्धस्याभावात्। भावेऽपि कुतस्तस्योत्पत्तिः? प्रबन्धादेव प्राच्यात् तस्यापि तत एव प्राच्यात्, तत्प्रबन्धस्याप्यनादित्वादिति चेत्; न; तत्रापि 'कुतस्तदनादित्वम्' इत्यादेर्दोषादनवस्थाऽनुषङ्गाच्च। तन्न अनादिसंस्कारसम्भवः, तदपरिज्ञानात्। एतदेवाह–

अनादिवासना न स्यात् [त्रैलोक्यमविकल्पकम्] ॥९॥ इति

अनादिश्चासावादिरहिता वासना च विकल्पसंस्कारो न स्यात् न भवेत् तत्र प्रमाणाभावात्। तथा च कुतः सत्त्वदर्शनात्मा मिथ्याविकल्पो यत इदं निर्विषयं न भवेत्–

"तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः॥" [प्र० वा० १।२५८] इति।

कुतो वा सुगतभाविनः सन्तानस्य भूयोऽभ्याससहायतया निःशेषगुणदोषसाक्षात्करणपरिशुद्धज्ञानप्रादुर्भावकारी कश्चित् अनुमानात्माऽपि तद्विकल्पः? यत इदमपि निरालम्बनं न भवेत्–

"बहुशो बहुधोपायं कालेन बहुनास्य च।
गच्छन्त्यभ्यस्यतस्तस्य गुणदोषाः प्रकाशताम्॥" [प्र० वा० १।१३८] इति।

एतदेवाह-'त्रैलोक्यमविकल्पकम्' इति। विकल्परहितमेव सकलं जगदित्यर्थः सत्यप्यनुमानविकल्पे कथं तदभ्यासपरिपाकेनात्मदर्शनस्योच्छेदः? कथं च न स्यात्? तद्दर्शनस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणत्वात्, प्रमाणस्य च प्रमाणान्तरेण प्रतिक्षेपायोगात्। ननु आत्मा पूर्वापरकालव्यापितया नित्यो भावविशेषः। तस्य च न प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तेन क्षणक्षीणविग्रहतया पूर्वापरकालावलोकनविकलशक्तिकेन तत्कालव्यापिनो नित्यस्य अशक्यप्रतिपत्तिकत्वात्, व्यापकप्रतिपत्तेः व्याप्यप्रतिपत्तिमन्तरेणानुपपत्तेरिति चेत्; कथं तादृशेन विकल्पेनापि तस्य ग्रहणम्? न हि तस्याप्यक्षणिकत्वं स्वमतव्याघातात्। सत्यम्, न तेनापि तस्य तद्ग्रहणम्, तत्प्रतिभासविकलत्वेनैव स्वतस्तस्य प्रतिवेदनात्, अन्यथा तत्स्वसंवेदनस्यासदाकारानुविद्धविषयत्वेनाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, केवलं विकल्पान्तराभिप्रायात् तेन तद्ग्रहणमुच्यत इति चेत्, न; विकल्पान्तरस्यातद्विषयत्वे[2] तदभिप्रायादपि तद्वचनानुपपत्तेः। तद्विषयत्वे तु तत्रापि 'कथं तादृशेन' इत्यादेः दोषस्यानुषङ्गात् अनवस्थानदोषस्य च दुस्तरस्योपस्थानात्। ततो दूरं गत्वाऽपि तेन[3] तद्ग्रहणमङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा तदुच्छेदार्थस्य नैरात्म्यदर्शनाऽभियोगस्य वैयर्थ्यापत्तेः। तथा प्रत्यक्षेणापि। विशेषानवलोकनात् परापरप्रत्यक्षाणां वैयर्थ्यम् आदित एव ततस्तद्ग्रहणसिद्धेरिति चेत्; परापरविकल्पानामपि तत्किन्न भवेत्? तत्र लोकस्य भेदबुद्धेरभावात् तेषामेकत्वाध्यवसायविषयाणामात्मदृष्टित्वादिति चेत्; समानमिदं प्रत्यक्षेष्वपि, तेषामपि कथञ्चिदभेदस्य प्रतीतेः, तथैवात्मत्वोपगमात्। न चैवमपरापरतत्कारणानां वैयर्थ्यम्; तथा-

१ –त्वाभिहितेन आ०, ब०, प०। २ –त्वेन तद्–आ०, ब०, प०। ३ विकल्पेन। ४ आत्मनित्यत्वग्रहणम्। ५ तद्ग्रहणमङ्गीकर्तव्यमिति सम्बन्धः। ६ कथञ्चिद्भेद–आ०, ब०, प०।

विधविकल्पहेतूनामपि तदापत्तेः। तेषां कथञ्चित् सार्थकत्वसमर्थनस्य इतरत्रापि[1] समानत्वात्। ततः प्रत्यक्षत्वादात्मदर्शनस्य न तद्विपरीतैरनुमानविकल्पैरुपपन्ना बाधा[2]परिकल्पना। तदाह–

निरुपद्रवभूतस्य बाधाऽयुक्ता विपर्ययैः। इति।

परपरिकल्पितादुपद्रवादर्थक्रियावैकल्यादेः निष्क्रान्तो निरुपद्रवः कथञ्चिन्नित्य आत्मा तदुपद्रवस्यैकान्तनित्यत्व एव सम्भवात् [तस्मिन्] भूतं तद्गोचरत्वेन प्राप्तं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं निरुपद्रवभूतं तस्य विपर्ययैः प्रतिसङ्ख्यानविकल्पैः अयुक्ता अनुपपन्ना तदुच्छित्तिलक्षणा बाधा। तेनैव भूतार्थत्वेन तेषां बाधोपपत्तेरिति भावः। किञ्च, तैस्तद्बाधने किमवशेषवत्[3] यन्निर्वाणव्यपदेशं प्रतिलभेत ? न तावत्तदभावमात्रम्; तत्र प्रमाणाभावस्य निवेदनात्। अत एव न परिशुद्धमपरापरज्ञानमपि; तत्राप्यस्मदादिप्रत्यक्षाऽप्रवृत्तेः, अनुमानस्य चावस्तुविषयत्वात्। योगिप्रत्यक्षस्य च योगिन्येव भावात् 'तेन योगी परापरतया तत्पश्यति अन्यथा वा' इति निश्चयासम्भवात्।

"तामवस्थां गतानां तु न विद्मः किं भविष्यति" [प्र० वार्तिकाल० १।२३४] इति स्वयमेवाभिधानात्। भवतु तर्हि संविदद्वैतमेवावशेषवत् "यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति[4] मुक्त एवासि सर्वथा" [प्र० वार्तिकाल० १।३६] इत्यभिधानादिति चेत्; अत्राह–

विच्छेदो वरमुच्छेदाद्विदस्तत्पक्षपाततः ॥१०॥ इति

विविधस्य भेदप्रपञ्चस्य छेदो विलयो विद्यानिबन्धनो यस्मिन्नसौ विच्छेदः[5] औपनिषदः स एव वरमुत्कृष्टं निर्वाणम्। कुतः तद्वरम् ? उच्छेदात्, छिद्यन्ते परस्परतो व्यतिरिच्यन्त इति छेदाः सदसन्नित्यानित्यहेतुफलभावादिविकल्पास्ते येनोच्छिन्नास्तत् उच्छेदं परपरिकल्पितं सविकल्पकव्यावृत्तं संविदद्वैतं[6] तत इति। कुतस्तस्य तस्मादुत्कृष्टत्वमिति चेत् ? विदो विद्वज्जनस्य तस्मिन् विच्छेदे पक्षपातात् सकलशोकपरावृत्तपरमानन्दरूपत्वेनाभिरुच्यत्वात्। तदुक्तम्-"तीर्णो हि तथा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति" [बृहदा० ४।३।२२] "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् बिभेति कुतश्चन" [तैत्तिरी० २।९] इति। न चैवमुच्छेदस्य ताद्रूप्यं यतस्तत्रापि तस्य स भवेत्, निखिलविकल्पव्यतिक्रमव्याघातात्। असति संसारे क्वासौ निर्वाणं तस्य तत्प्रच्युतिरूपत्वात् ? सति वा कथमद्वैतं संसारनिर्वाणभेदे द्वैतस्यैवोपपत्तेः ? इत्यपि न चोद्यम्; अन्यत्रापि तुल्यत्वात्। 'तत्र[7] सांवृत एव संसारस्तस्य च विचारासहत्वान्न विद्याप्रत्यनीकत्वम्' इति समाधानमितरत्रापि न पक्षपातं परित्यजति, तत्रापि तस्याविद्याविलासरूपत्वेन विचारासहत्वाविशेषात्। कुतः पुनस्तथाविधस्यात्मनः प्रतिवेदनमिति चेत् ? संवेदनस्य कुतः ? स्वत एव, "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्र०वा० १।६] इति वचनादिति चेत्; आत्मनोऽपि तत एव। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" [बृहदा० ४।३।९] इति श्रवणात्। यद्वा पुनरिदमलङ्कारे–"प्रहीणसमुदयस्य[8] न त एव रागादय इति समत्वादविरोधिनि सकलेनैव सत्त्वसङ्घातेन" [प्र० वार्तिकाल० १।१९४] इति। तत्र न

1 प्रत्यक्षकारणेष्वपि। 2 बोद्धापरि–आ०, ब०, प०। 3 किमवशिष्टम्। 4 दोषोऽस्ति– आ०, ब०, प०। 5 विर्त.र्णो आ०, ब०, प०,। 6 संविदद्वैते। 7 –रापहत्वा–आ०, ब०, प०। 8–समुदायस्य न तदैव आ०, ब०, प०। "प्रहीणसमुदयस्य न रागादय इति समताऽविरोधिता सकलेनैव सत्त्वसन्धानेन।"–प्र० वार्तिकाल० १।१९४।

-तावदद्वैवात्मनः सुगतस्य प्रहीणसमुदयस्य समतोपपन्ना[1] तदा तद्विषयस्य संवृत्यापि तत्सद्भावस्याभावात्। चित्तसन्तानावस्थितिरूपस्य तस्य तेन समता तदवस्थितिश्च[2] करुणयेति चेत्, तदाह–

यस्तावत्करुणावत्त्वात्[3] तिष्ठत्येव हि चेतसाम्।
सन्तानः। इति।

स्वपदव्याख्यातमिदम्।

अत्र दूषणमाह–

स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥ ११ ॥ इति

तात्पर्यमत्र–स तद्वत्त्वात् अवतिष्ठमानः परस्य विनेयवर्गस्योच्छेदायावतिष्ठते सन्तान-निरोधस्य निर्वाणस्य वचनात्[4], तस्य परिशुद्धपरापरज्ञानसन्तानकरणाय वा तद्रूपस्यापि निःश्रेयसस्याभिधानात्? तत्राद्ये विकल्पे दूषणमिदम्–सः अवस्थायी सन्तानः समत्वं रागादिवैकल्यरूपं सर्वसत्त्वेषु न प्रपद्यते सति तस्मिन् परोच्छेदविरोधात्। अस्ति च तस्य तदुच्छेदः, ततो न स तत् प्रपद्यते इति। द्वितीयेऽपि विकल्पे न तावदसौ निरन्वय एव सन्तानः तदा हेतुफलभावाभावेन तत्प्रवाहरूपस्य तस्यैवानवस्थानात्। निरूपितं चैतत्पूर्वम्। तत्कथं तस्य शुद्धिरशुद्धिर्वा कल्प्यते असतस्तदनुपपत्तेः वन्ध्यापुत्रवत्। ततो यथेदमात्मनि नित्ये कथ्यते–

"दुःखोत्पादस्य हेतुत्वं बन्धो नित्यस्य तत्कुतः?
अदुःखोत्पादहेतुत्वं मोक्षो नित्यस्य तत्कुतः ॥" [प्र० वा० १।२०४] इति।

तथेदमपि कथयितव्यम्–

संसारदुःखसम्बन्धः सन्तानस्यासतः कथम्?
मोक्षोऽपि तदसम्बन्धः सन्तानस्यासतः कथम्? ॥१६२८॥ इति।

ततः कथञ्चिदन्वय्येवासौ। तथा चेत्; आह–

तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते।
सन्तानस्यात्मनो वा [इति शब्दमात्रं तु भिद्यते] ॥१२॥ इति।

'यः सः' इत्यनुवर्तते। यः परेण संसारान्मोक्ष उच्यते। कस्य? सन्तानस्य। कथं कीदृशश्च? तथा तेन कथञ्चिदन्वयस्य कल्पनाप्रकारेण निरास्रवीभावः सकलमिथ्याज्ञानरागादि-

---

१ समवता आ०, ब०, प०। २–स्थितश्च ता०। ३ करुणावत्त्वात्। ४ "इह हि भगवता उपितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्याविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः। उपधिरेव शेषः उपधिशेषः। सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तन्निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत्सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।"–माध्यमिकवृ० पृ० ५१९। ५ –दसत एवासौ आ०, ब०, प०।

क्लेशनिष्क्रमलक्षणः स आत्मनो वा आत्मन एव। वाशब्दस्य अवधारणार्थत्वात्। अन्वितज्ञान प्रवाहस्यैव चात्मत्वेन स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात्। ततो नात्मसन्तानयोरस्ति वस्तुतो भेदः, 'सन्तानः' इति 'आत्मा' इति शब्दमात्रभेदात्। तदेवाह-'इति शब्दमात्रं तु भिद्यते' इति वस्तुतोऽपि भेद एव, अन्वयस्य कल्पनोपरचितस्य सौगतैरभ्युपगमात्, स्याद्वादिभिश्च तात्त्विकस्येति चेत्; न; तात्त्विकस्याभावे कल्पनयापि तदनुपपत्तेः। न हि तथापि क्षणिकया तदुपरचनं परापरक्षणेषु [1]तदवृत्तेः। तया [2]तदग्रहणे च तदाधारतया अन्वयो[3]परचनानुपपत्तेः। अस्त्येवान्वयस्तत्क्षणानामपि कल्पनारचित इति चेत्; न; अनवस्थाप्रसङ्गेनान्वयस्य दुरापत्वापत्तेः। ततो यदुक्तम्-

"नैकाधिकरणत्वं चेत् प्रसक्तं बन्धमोक्षयोः।
संवृत्यैकाधिकरणभावो नैव निवार्यते" ॥ [प्र० वार्तिकाल० १।२०३] इति।

तत्प्रतिविहितम्; [4]कल्पनया तदेकत्वोपरचनानुपपत्तौ तया बन्धमोक्षयोरेकाधिकरणत्वस्य दुरुपपादत्वात्। ततो दूरमनुसृत्यापि कल्पनाक्षणानां तत्त्वत एवान्वयसम्भवे मुक्तेतरचित्तक्षणानामेव तथा स वक्तव्य इति कथं संवृत्या तयोस्तदधिकरणत्वं तत्त्वत एव भावात्। न मुक्तस्य तत्काले बन्धो विरोधात्, न च तदा तस्य किञ्चित् फलं तदभावस्यैव फलत्वात्। प्रागासीत् तस्य बन्ध इति चेत्; न; तस्यापि [5]विनष्टत्वेन क्वचिदनुपयोगात्। कथं वा स्वयं परिशुद्धः सत्त्वपरिशुद्धेन प्राच्याकारेणैकत्वं निश्चिनुयात् अप्रेक्षावत्त्वापत्तेः! तदुक्तम्-

"यो मुक्तस्तस्य बन्धो न तदा किं वा प्रयोजनम्।
[6]प्राग्बन्धमासीदिति चेत्, तदपि क्वोपयुज्यताम्॥
अप्रेक्षापूर्वकारी स्यात् प्रागेकत्वस्य निश्चयात्।
अयुक्तं चैतदिति [7]चेदत्तदिष्यत एव हि॥" [प्र० वार्तिकाल० १।२०३] इति।

तत्र बन्धमोक्षयोस्तत्त्वत एकाधिकरणत्वं संवृत्यैव तदुपपत्तेरिति चेत्; न; तत्त्वतस्तदभावे तथापि तदनुपपत्तेर्निवेदितत्वात्। न च पुरुषार्थवशाद्भावानां तथात्वमन्यथात्वं [8]वा; स्वहेतुप्रकृतेरेव तदुपपत्तेः, अन्यथा तादर्थ्यविकलो न कश्चिदपि भावो भवेत्। तदा [9]व्याहतमिदम्-

"सर्वं [10]पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।" [प्र० वा० १।३५] इति।

तद्विकलतयाऽनिष्टेऽपि वस्तुनि सत्येवैवंवचनोपपत्तेः। भवतु नाम मुक्तस्य बन्धैकत्वं निश्चिन्वतोऽप्रेक्षावत्त्वं बद्धस्य तु नैवं तस्य मोक्षैकत्वनिश्चये सत्येव तदर्थस्य प्रयासस्य प्रेक्षापूर्वकत्वव्यवस्थि-

---

१ तदवृत्तेः आ०, ब०, प०। २ तदग्रहणे आ०, ब०, प०,। ३ -परचना-आ०, ब०, प०। ४ कल्पनायां आ०, ब०, प०,। ५ विशिष्ट-आ०, ब०, प०,। ६ "पूर्वं समासीदिति चेत्तदपि क्वोपयुज्यते"-प्र० वार्तिकाल०। ७-ति तदेतदि-आ०, ब०, प०। ८ वा स्वस्वहे-आ०, ब०, प०। ९ तथा व्या-आ०, ब०, प०। १० "दूरं पश्यतु"-प्र० वा० १।३५।

तेरन्यथाऽनुपपत्तेः। वक्ष्यते चैतत्–"अहं ममास्रवो बन्धः" इत्यादिना। ततस्तदेकत्वस्य फलवत्त्वात् सन्तानव्यवस्थाऽन्यथाऽनुपपत्त्या निश्चितत्वाच्च तात्त्विकमेव तयोरेकाधिकरणत्वमिति सूक्तम्–'आत्मन एव मोक्षः' इति, 'सन्तानात्मनोः शब्दमात्रमेव भिद्यते' इति च।

तदेवं सौगतमते 'सर्वथा सदुपादेयम्' इत्यादिना प्रागभिहितसत्यचतुष्टयाभावं 'करुणा' इत्यादिभिः सविस्तरं व्याख्याय सुगतस्य तत्प्रवक्तृत्वं प्रत्याख्यातम्। साम्प्रतं साङ्ख्यादिमते वेदस्य तत्प्रणेतृत्वप्रतिक्षेपायाह–

नित्यस्यापि सतः साक्षाद्द्रष्ट्रनुभवात्मनः।
सुखादिर्विषयः शब्दाद्यविशेषो धियाऽन्यथा ॥१३॥
प्रदर्श्यः [पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।] इति।

'आत्मनः' इत्यनुवर्तते, तस्य नित्यसामान्यवचनेऽपि कूटस्थस्येति, तस्यैव साङ्ख्यैरभ्युपगमात्। सुखादिः आदिशब्दात् दुःखादिः विषयो वेद्य इति 'साहसम्' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। कुतः पुनरेवं परमतं साहसमिति चेत्? असम्भवदर्थत्वात्। तथा हि–

सत्त्वमेव न तस्यास्ति क्रमाक्रमविकल्पतः।
अर्थक्रियाया यस्त्र तद्व्यापिन्या न सम्भवः ॥१६२९॥
इति विस्तरतः पूर्वमस्माभिः सुविवेचितम्।
प्रमाणाभावतश्चास्य न सत्त्वमुपपत्तिमत् ॥१६३०॥
प्रत्यक्षतो न तस्यास्ति कूटस्थस्य प्रवेदनम्।
तथाऽनुभववैकल्यात् क्षणक्षीणाणुबोधवत् ॥१६३१॥
लिङ्गतोऽपि न तस्यास्ति प्रतीतिस्तदसम्भवात्।
संङ्घातस्य परार्थत्वं तल्लिङ्गं प्राङ्निराकृतम् ॥१६३२॥

त्रिगुणादिविपर्ययस्तत्र लिङ्गं तस्य त्रिगुणादिनैव व्यवस्थापनात्। तथा हि–प्रधानस्य व्यक्तेरविभेदस्य त्रिगुणादि तद्विपर्ययापेक्षं तथात्वात् प्रकाशादिवत्। यत्र तद्विपर्ययः स पुरुषस्तस्य स्वतन्त्रस्याभावात् प्रकाशादिविपर्ययस्य तमःप्रभृत्यधिष्ठानस्यैवोपलब्धेः। तत्र त्रैगुण्यादेव सङ्घातसम्भवात् तस्यैव च कर्तृत्वोपपत्तेः, तद्विपर्ययात् पुरुषस्यासङ्घातत्वमकर्तृत्वं च, अविवेकविपर्ययाच्च रजस्तमःकालुष्यविवेकात् कैवल्यम्, अचेतनविपर्ययाच्च द्रष्टृत्वम्, अत एव साक्षित्वं विषयविपर्ययाच्च, स्वपरवेद्यत्ववैधुर्यात् माध्यस्थ्यञ्च सिद्धमवबोद्धव्यम्। तदुक्तम्–

"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥" [सांख्यका० १९] इति

चेत्; न; त्रिगुणादेः तद्विपर्ययाविनाभावासम्भवात् प्रकृतिपुरुषसामान्यवत्। न हि तस्य

१ न्यायवि० श्लो० ४३७। २ "एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः–इत्यमरः।" ता० टि०। ३ वेद्यते इति आ०, ब०, प०। ४ संघातपरार्थत्वं आ०, ब०, प०। ५ व्यक्तिरपि भे–आ०, ब०, प०। ६ महदाद्यभेदस्यैव प्रधानत्वात्। ७ –वात् संघातस्यैव आ०, ब०, प०।

तद्विपर्ययाद्विनाभावः, अन्यथा ततस्तदुभयविलक्षणपदार्थान्तरप्रसिद्धेः 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञरूपमेव[1] जगत्' स्वमतव्यापत्तिर्भवेत्। अस्ति च तयोः सामान्यं वस्तुशक्तिमत्त्वादुभयनिष्ठम्, अन्यथा विलोपापत्तेः। तन्न त्रिगुणादिविपर्ययस्य तत्र लिङ्गत्वम्। नाप्यधिष्ठानस्य; अकर्तुर्[2] कर्तृविशेषतयैव तस्य लोकप्रसिद्धत्वात्। तत इदमयुक्तम्–"चेतनाधिष्ठितं महदादि [अचेतनत्वात् वास्यादिवत्]" इति; हेतोरिष्टविपर्ययसाधनेन विरुद्धत्वात्, कर्तृविशेषस्य प्रत्यायनोपपत्तेः, साङ्ख्यैश्च तस्यानिष्टत्वात्। तन्नाधिष्ठानस्य लिङ्गत्वम्[3]। नापि भोक्तृत्वस्य; निषेत्स्यमानत्वात्। न च कैवल्यार्थस्य प्रवर्तनस्य[4]; तद्गतद्गतविकल्पानतिक्रमात्। न हि पुरुषगतमेव त[5] लिङ्गम्; पुरुषासिद्धौ तस्यैवासिद्धेः। अन्यतस्तत्सिद्धावस्य वैफल्यात्। अत एव तत्सिद्धौ परस्पराश्रयापत्तेः– अतस्तत्सिद्ध्या लिङ्गसिद्धिः, अतश्च तत्सिद्धिरिति। बुद्धिगतमेव तत्तत्र लिङ्गमिति चेत्; तत्रापि कस्य तत्कैवल्यं यदर्थं प्रवर्तनम्? पुरुषस्येति चेत्; न; तत्कैवल्यस्य गुणविवेकरूपस्य नित्यत्वेनासाध्यत्वात्। अथासौ तद्विविक्तोऽपि अविविक्त इव भवति विवेकादर्शनात्, ततो विभ्रमनिवर्तनेन स्पष्टतामुपनीयमानं तत्कैवल्यं साध्यमिव भवतीति सङ्गतमेव तस्य तदर्थत्वमिति चेत्; कस्येदं विवेकादर्शनं यतो विभ्रमः? पुरुषस्येति चेत्; यद्यदि तस्य स्वरूपमेव; तर्हि तद्वदेव नित्यमिति कथं तन्निबन्धनस्य विभ्रमस्य निवर्तनम्? सति समर्थे हेतौ तत्प्रसवस्य कुतश्चिन्निवर्तनानुपपत्तेः। निवर्तकमपि समर्थमेवेति चेत्; तर्हि प्रवृत्तिनिवृत्त्योरक्रमप्रसङ्गः संसारकैवल्ययोरपीति महानयं परस्य सङ्कटप्रवेशः, तत्प्रसङ्गस्य विरोधविधुरितविग्रहस्य कुतश्चिदपि निश्चेतुमशक्यत्वात्। अथासमर्थमेव प्रवर्तकम्; तर्हि दैवादेव विभ्रमस्याभावात् कथं तन्निवर्तनार्थं (र्थत्वं) प्रवर्तनस्य? सामर्थ्यमेव तस्य निवर्तकेन प्रतिरुध्यत इति चेत्; न; पुरुषरूपस्यानित्यत्वापत्तेः, समर्थस्यासमर्थत्वेन भावात्, "तदतद्भावादनित्यत्वम्" [ ] इति न्यायात्। अथ तत्तस्य स्वरूपं न भवति बुद्धिस्वरूपत्वात्, केवलं विवेकादर्शनादेव, तदपि तस्यैव भवतीति चेत्; न; तत्रापि 'कस्येदम्' इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थानोपस्थानाच्च। तन्न विवेकादर्शनं पुरुषस्य। भवतु बुद्धिसत्त्वस्यैवेति चेत्; तस्यापि कुतस्तदापन्नम्? स्वयं जडत्वादिति चेत्; कथमिदानीं प्रवर्तनमपि, जडत्वस्य (जडस्य) स्वतस्तदसम्भवात्। सांसर्गिकाच्चैतन्यादिति चेत्; विवेकदर्शनमेव ततः किन्न स्यात्। तत्तत्र क्षमं न भवतीति प्रवर्तन एव क्षमत्वात् प्रवर्तनादूर्ध्वमपि कथं तस्य तत्क्षमत्वं यतः प्रवर्तनमर्थवद्भवेत्? यमनियमाद्यनुष्ठानरूपात् प्रवर्तनादशुद्धिक्षये ज्ञानस्यातिशायनादिति चेत्; तेन तज्जाड्यस्यापवर्तने चितिकल्पनावैफल्यम्। अनपवर्तने कः प्रागवस्थातस्तस्य विशेषो यतः तदा विवेकदर्शनम्? चितिरेव तदा तेन तत्क्षमाक्रियते इति चेत्; न; तदनित्यत्वापत्त्या दत्तोत्तरत्वात्। ततो न सङ्गतमिदम्–"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"

---

१ "एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञसंज्ञानि"—सांख्य० माठर० का० १। २ "न ह्यन्तरेणाधिष्ठातारं भवति वस्तुजातम्। तथथा इहलोके लङ्घनप्लवनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते।"—सांख्यका० माठर० १७। ३ लिङ्गत्वमिति सम्बन्धः। ४ कैवल्यार्थं प्रवर्तनम्। ५ पुरुषः। ६ प्रवर्तमानस्य 'सामर्थ्यमेव कस्यचिन्निवर्तकेन प्रतिपद्यत इति आ०, ब०, प०। ७ कैवल्यम्। ८ चेति कस्य–आ०, ब०, प०। ९ "योगाङ्गानुष्ठानात्"—योगसू०।

[योगसू० २।२८] इति । तत्र सांसर्गिकादपि चैतन्यात्तस्य तदर्थं प्रवर्तनमुपपन्नम्, सति तस्मिन् सर्वदा विवेकस्यैव दर्शनेनाविवेकविभ्रमस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा पश्चादपि तद्दर्शनाभावस्य निवेदितत्वात् । भवतु अचेतनस्यैव तस्य तदर्थं प्रवर्तनं वत्सवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्येव । तदुक्तम्–

"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥" [सांख्यका० ५७]

इति चेत्; तन्न सारम्; तत्प्रवर्तनेन चेतनाधिष्ठानसाधनस्य पूर्वोक्तस्य विरोधात् । तदयं तदधिष्ठितस्यैव प्रवृत्तिमभिधाय पुनरन्यथाऽपि तां ब्रुवाणो विस्मरणशील एवेश्वरकृष्ण इति सुनिश्चितं नश्चेतः । तन्न तदर्थस्य प्रवर्तनस्यापि तत्र लिङ्गत्वमिति न सुभाषितमेतत्–

"सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥" [सांख्यका० १७] इति ।

तन्नानुमानं पुरुषे प्रमाणम् ।

नापि– "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्नापरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" [कठो० ३।११]

इत्यादिरागमः; तेनापि पुरुषस्वभावस्य तदस्तित्वज्ञानस्याकरणात्, तन्नित्यत्वव्यापत्ते. । बुद्धेरचाचेतनत्वेन तज्ज्ञानत्वानुपपत्तेश्चेति । सम्पर्कस्य च तत्र निषेत्स्यमानत्वात् । अन्यस्य च प्रमाणस्यानभ्युपगमादसन्नेव पुरुषः प्रमाणातिवर्तीति कथं तस्य सुखादिर्विषयो यतस्तन्मतं साहसमेव न भवेत् ? सतोऽपि तस्य स विषय इति साहसमेवेति न मन्वानेन इदमुक्तम्–'अपि साक्षात्' इति । साक्षात् अव्यतिरिक्तया सत्तया न वैशेषिकादिवत् व्यतिरिक्तया सतोऽपि विद्यमानस्यापि नित्यस्यात्मनः स विषय इति साहसमेव । तथा हि तदुन्मुखमात्मरूपं सर्वदेति सुखादिरपि सर्वदा भवेत्, असति तथा तस्मिन् तथा तदनुपपत्तेः, अन्यथा सकृदपि तदभाव एव तत्सम्भवान्न तत सुखादिस्वरूपस्यापि व्यवस्थापनमिति निर्विषयमेवेदम्—"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति । न च तस्य नित्यत्वम्; "हेतुमदनित्यम्" [सांख्यका० १०] इति तदनित्यत्ववचनविरोधात् । न साक्षादात्मरूपं तदुन्मुखं[3] यतोऽयं प्रसङ्गः किन्तु तदभिमुखचिच्छायासङ्क्रमद्वारेणैव । तच्छायायाश्चात्मनोऽर्थान्तरत्वेनानित्यत्वादुपपन्नमेव अनित्यत्वं सुखादेरिति चेत्; न, तस्या अचिद्रूपत्वे कलशादिवत् तदुन्मुखत्वासम्भवात्, अन्यथा सुखादेरेव स्वात्मनि उन्मुखत्वसम्भवात् व्यर्थैव तत्सङ्क्रमकल्पना भवेत् । चिद्रूपत्वे च पुरुषत्वेनानित्यत्वानुपपत्तेः "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।९] इति वचनात् । चिच्छायासङ्क्रमादेव तत्रापि तद्रूपत्वं न साक्षात्तदयमदोष इति चेत्; तदसारम्; यस्मात्–

तत्सङ्क्रमादचिद्रूपात्तत्र चिद्रूपता कथम् ।
अन्यथा लोहितत्वं स्यात् स्फटिके पीतसङ्क्रमात् ॥ १६३३ ॥ ८३

१ अचैतन्यस्यैव आ०, व०, प० । २ न तत्सारं प० । ३-मुखं ब-प० ।

तत्सङ्क्रमेऽपि तद्रूपः परतत्सङ्क्रमात् यदि ।
परतत्सङ्क्रमोऽप्येवं विचारादनवस्थितिः ॥ १६३४ ॥
तत्र तद्द्वारतोऽप्यस्ति सुखादावुन्मुखं वपुः ।
आत्मनो येन तस्यासौ विषयः परिकल्प्यताम् ॥ १६३५ ॥
को वा तत्सङ्क्रमं तत्र सुखादौ विदधीत वः ।
आत्मैव चेत् कथं तस्याकर्तुस्तद्विधि सम्भवः ॥ १६३६ ॥
कर्तृप्रधानसंसर्गात् कर्तैवात्मेति चेदसत् ।
औपचारिकतः कर्तुर्वस्तुतत्सङ्क्रमस्थितेः ॥ १६३७ ॥
तत्सङ्क्रमोऽप्यवस्त्वेव यदि तद्वशतः कथम् ।
पारमार्थैः प्रकल्प्येत पुंसि तत्त्वेन संस्थितिः ॥ १६३८ ॥
संसारोऽप्युपचाराच्चेन्मुक्तौ किन्न स कथ्यते ।
तदाऽपि तत्संसर्गस्य नित्यव्यापिनि सम्भवात् ॥ १६३९ ॥
तत्संसर्गो न कर्तृत्वाद्युपचाराय चेत्तदा ।
पूर्वमप्यविशेषेण न स्यादेवं भवः कथम् ॥ १६४० ॥
उपचारेण कर्तृत्वादात्मा तत्सङ्क्रमावहः ।
यतस्तद्विषयत्वोक्तिः सुखादौ साहसं न वः ॥ १६४१ ॥

इदमेव चेतसि कृत्वेदमुक्तम्–'अदृश्यानुभवात्मनः' इति । दृश्यस्य दर्शनविषयत्वेनाभिमतस्य सुखादेर्योऽनुभवः साक्षादुपचारेण वा तत्स्वात्मा स्वभावो दृश्यानुभवात्मा स न विद्यते यस्येति । साहसान्तरं दर्शयितुमिदमुक्तम् । 'शब्दाद्यविशेषः' इति शब्द आदिर्यस्य रूपादेस्तस्मादचेतनत्वादिना धर्मेणाविद्यमानविशेषः सुखादिरिति साहसमिति पदयोजनम् । कथमिति चेत्? स्वानुभवरूपतया तस्य संवेद्यमानस्याचेतनत्वप्राकृतत्वादेरनुपपत्तेः । चिच्छक्तिसम्पर्कादेव तस्य तथा संवेदनं न स्वतः इति चेत्; न; तच्छक्तेरपि स्वानुभवाभावात् ।

माध्यस्थ्यपदेन तत्र स्वपरविषयत्वस्य प्रतिक्षेपात् । तथा च तत्र कस्यचित् व्याख्यानम्–"इह कश्चित् स्वसंवेद्यत्वाद् विषयो यथा बौद्धीयं विज्ञानम्, कश्चित् परवेद्यत्वात् यथा वैशेषिकीय आत्मा अस्मदन्तःकरणं वा, अयं तु नोभयथेति मध्यस्थः ।" [ ] इति; तत्रायमेव स्वानुभवो यत् परनिरपेक्षं प्रतिभासनम् न स्वतः स्वस्य यतो विषयत्वप्रसङ्ग इति; न; तस्य स्वापेक्षत्वे तत्प्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । निरपेक्षत्वे च व्यवच्छेद्याभावेन परिग्रहणवैयर्थ्यात् ।

भवतु तदुभयनिरपेक्षमेव तदिति चेत्; न; आत्मन्यसति तस्यैवाभावात् । सति चेत्; कथं निरपेक्षत्वं तद्भावाभावानुविधानस्यैव तदपेक्षालक्षणत्वात्, तदपेक्षप्रतिभासनस्यैव च बौद्धैरपि

---

१ तद्विदिसंभ– आ०, ब०, प० । २ संस्कृतिः आ०, ब०, प० । ३ तथापि आ०, ब०, प० । ४ सुखादेरिति आ०, ब, प० । ५ –स्थ्यपदेन आ०, ब०, प० ।

स्वसंवेद्यत्वेनोपगमात्[1]। तन्न तत्सम्पर्कात् सुखादेः स्वानुभवात्मत्वमुपपन्नम्। सत्यपि तच्छक्तेस्तद्रू-[2]पत्वे न तत्सम्पर्कादेव सुखादेरपि तद्रूपत्वं[3] तच्छक्तेरपि सुखादिसम्पर्केण जडरूपत्वापत्तेः। नायं दोषः आविवेकख्यातिप्रादुर्भावाद् विषयसारूप्यस्य तत्रेष्टत्वादिति चेत्; तर्हीदं दुर्भंगं[4] भवेत्—"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते"[ ] 'जडश्च' 'चेतयते' इति च व्याघातात्। न व्याघातः विभ्रमेतराकारयोर्युगपत्सम्भवात् सर्परज्जुवदिति चेत्; उपपन्नः सर्पाकारः सत्यप्याकारान्तरे तस्य प्रतिपत्रन्तराधीनत्वात्, नैवमत्र, तच्छक्तेरेव जडरूपतापत्तेः, तस्यां च चितिप्रच्युतेरावश्यकात्। नास्त्येव तत्र तदापत्तिः, केवलं तदापत्तिरिव भवतीति चेत्; तन्न; यस्मात्—

यदि तत्र न तद्रूपमिवार्थः कथमत्र ते ?।
यदि तत्रापि तद्रूपमिवार्थः कथमत्र ते ॥ १६४२ ॥

यदि वस्तुतस्तत्र तदापत्तिर्नास्ति कथम् इवप्रयोगस्तदर्थाभावात् ? कथमिदानीं रज्जुशकले सर्प इवेति व्यवहार इति चेत् ? न; सर्पविभ्रमदशायां तदभावात्। अविभ्रमदशायां तु तद्भावो दैर्घ्यादेः सर्पसादृश्यस्य भावात्। तथा यदि तत्र तत्त्वतस्तदापत्तिः कथम् इवप्रयोगः ? न हि तदेव तदिवेति भवति, तस्यैवाभावप्रसङ्गात्। यदा यद्भवेत् तत्तदा तदित्येवावस्थानात् न तदिवेति। तदभावे न तदिवेत्यपि सम्भवति, तस्य तदपेक्षत्वात्।

स्यान्मतम्—नास्त्येव वस्तुतस्तत्र तदापत्तिरपि तु विभ्रमादेव, सापि न तच्छक्तेर्बुद्धिधर्मत्वात्। बुद्धिरेव हि तत्र अविद्यमानामपि तदापत्तिमुपदर्शयति विभ्रमदोषात्, ततो न किञ्चित् तस्यां बुद्ध्यादिसम्पर्कादुत्पद्यते, स्वस्यैव सर्वदा तच्छक्तिरिति; यद्येवं तच्छक्तिसम्पर्काद् बुद्ध्यादावपि न चितिरूपापत्तिरविशेषादिति कथं बुद्धेर्विभ्रमकल्पनम् ? कथञ्चिदपि तत्र चिद्रूपासम्भवे कलशादिवत्तदनुपपत्तेः। उपपन्ना चितिसम्पर्काद् बुद्ध्यादेस्तदाकारापत्तिः परिणामित्वात् न चितेस्तत्सम्पर्केऽपि ताद्रूप्यापत्तिः कौटस्थ्येन विपर्ययादिति चेत्; अनुकूलमाचरसि, तथा सति वस्तुत एव बुद्धिसुखादेश्चेतनत्वव्यवस्थितेः तथापि परिणामात्। न हि तथापरिणतमन्यथेति शक्योपकल्पनम्, बुद्धिस्वाद्यपेक्षयापि तत्कल्पनाप्रसङ्गेन गुणप्रतिष्ठा[5]विलोपापत्तेः। न चैवं तद्व्यतिरिक्तात्मकल्पनमप्यर्थवत्, तस्य स्वहेतुप्रकृतेरेव तत्परिणामोपपत्तेः। तन्न सुखादेः शब्दाद्यविशेषत्वं चेतनेतररूपतया विशेषस्यैवोपपत्तेः।

यच्चेदं परस्य मतम्—सुखादिरप्यर्थान्तरबुद्ध्युपदर्शित एव पुरुषस्य विषयो न साक्षादिति, तद्दर्शनार्थमिदमुक्तम्—'धियाऽन्यया प्रदर्श्यः' इति। तत्रापि 'साहसम्' इत्यभिसम्बद्धव्यम्। कुत एतदिति चेत् ? उक्तनीत्या सुखादेः स्वानुभवसिद्धौ तदनुभाविनः पुरुषस्य तदुपकरणस्य चोपंस्य च व्यर्थस्यैव स्वसिद्धान्ताभिनिवेशपरवशतया प्रतिपादनात्। किञ्च,

बुद्धिं न चेन्नरः पश्येत् सुखादिं नैव तद्गतम्।
दर्पणं न ह्यपश्यन्तो मुखं पश्यन्ति तद्गतम् ॥ १६४३ ॥

---

१ "एतदेव स्वसंवेदनं यदन्यागोचरत्वे सति प्रकाशनं नाम।"—प्र० वार्तिकाल० ३।४६६।
२ चैतन्यरूपत्वे। ३ चेतनत्वम्। ४ दुर्भागं आ०, ब०, प०। ५ गुणिप्रति– आ०, ब०, प०।

बुद्धयन्तरादृते तां च पश्यन् पश्येत् तया विना ।
सुखादिकं तथा चासौ स्वसिद्धान्तो विरुद्ध्यते ॥ १६४४ ॥
"[1]आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ १६४५ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।" इति ।
बुद्धिसारथिनैवासौ यदि तामपि धावति ॥ १६४६ ॥
तत्सारथीनामानन्त्यमनवस्थानतो भवेत् ।
ततो न पुंसि भोगोऽयं कथमप्यवकल्प्यते ॥ १६४७ ॥
तदभावान्न कैवल्यं भोगप्रच्युतिलक्षणम् ॥
तदेतद्भोगकैवल्यमागमस्याभिजल्पतः ॥ १६४८ ॥
प्रामाण्यं साहसादेव न्यायानेत्याह शास्त्रकृत् ।

[प्रदर्श्यः] पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तितः ।
निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ॥१४॥ इति ।

पुनरिति वितर्कार्थम् अस्यैव कूटस्थस्य चेतनस्यात्मन एव नाचेतनस्य न क्षणिकचित्तप्रवाहस्य निर्वाणम्, उपलक्षणमिदं तेन संसारं च आह कथयति वेदोऽयम् "न[2] हि (ह) वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरुपहतिरस्ति अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।" [छान्दो० ८।१२।१] इत्यादिः । कुतः स[3] ते तस्याह ? गुणानां सत्त्वादीनां योगश्चात्मना सम्बन्धो भोगोपकल्पनालक्षणो निवृत्तिश्च तेषामेव तत्कल्पनादुपरमः ताभ्यां ततः । स चागमः प्रमाणमिति साहसम् असम्भवदर्थाभिधायिनस्तस्य साहसादन्यतः प्रामाण्यकल्पनानुपपत्तेः ।

अथवा नित्यस्य यौगपरिकल्पितस्यात्मनः । कीदृशस्य ? अपि सतः विद्यमानस्यापि वस्तुतस्तस्याविद्यमानत्वम् अपिशब्देनाभ्युपगमवाचिना द्योतयति । तथा तदभावश्च सत्त्वव्यापिकाया अर्थक्रियायाः क्रमयौगपद्यानुपपत्त्या तत्रासम्भवाच्च । कथं पुनः तदभावो यावता प्रत्यक्षमेव 'अहम्' इति प्रसिद्धोल्लेखं तत्र प्रमाणमिति चेत्; न; तत्र तद्व्यतिरिक्तस्याऽप्रतिभासनात् । न हि नित्यो व्यापी तद्व्यतिरिक्तश्च कश्चित् परपरिकल्पित आत्मा तत्रावभासते तथैवासम्प्रतिपत्तेः साङ्ख्यपरिकल्पितचिच्छायाधिष्ठानबुद्धिसत्त्ववत् । प्रतिभासनेऽपि कथं तत्सामानाधिकरण्यम् 'अहमात्मा' इति ? व्यतिरेके तदवलोकनात् घटतत्प्रत्यक्षवत् । तत्रापि समवायात्तदुपपत्तिरिति चेत्; न; तेनापि व्यतिरेकस्यानिराकरणात् । तन्निर्णयस्य तेन निराकरणमिति चेत्; आत्मन्यपि स न स्यात् तस्य व्यतिरेकात् । अव्यतिरेकाद् व्यतिरेके तदव्यतिरेकस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् । तस्मात् कथञ्चिदभेद एव सामानाधिकरण्यम् । भेदेऽपि प्रत्यासत्तिविशेषादुपपन्नमेव तत्, तत्कथं तत्र तदभाव इति चेत् ? न; 'द्रव्यत्वादिकं सामान्यविशेषः, संयोगादिः सम्बन्धः' इत्यादावभेदादेव[4] तस्य प्रसिद्धेः न

१ कठो० ३।३।४।२ वचवै ता० । २ सवि त– आ०, ब०, प० । ४ –दौ भेदा– आ०, ब०, प० ।

तद्विशेषात्, तस्य संयोगादिरूपस्य तत्रानभ्युपगमात्। कल्पितमेव तत्र सामानाधिकरण्यं तत्त्वत उभयरूपाभावात्, तस्य चोभयरूपापेक्षत्वादिति चेत्; न; द्रव्यत्वादावनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययनिबन्धनत-योभयरूपसद्भावस्य परप्रसिद्धस्यैव 'सदसज्ज्ञानसंवाद'इत्यादि श्लोकव्याख्याने[3] निरूपितत्वात्। संयोगसमवाययोश्च परस्परविलक्षणयोरविलक्षणस्य तत्त्वत एव सम्बन्धरूपस्य[4] बाधात्। तदभावे न कस्यचित् कचिद्वस्तुतः सम्बन्ध इति तन्निबन्धनः[5] सकलोऽपि संसारादिव्यवहारो विलोपमापनीपद्येत। कल्पितस्य च तस्योपगमे मतान्तरापत्तिः, ततो विलक्षणेतररूपतया वास्तवमेव तस्य द्वैरूप्यमिति कथं कल्पितत्वं तत्र सामानाधिकरण्यस्य विषयसद्भावात्? एवमपि कथं तस्याभेदे भेदरूपत्वमिति चेत्? न; तस्यैव प्रतीतेरन्यस्य स्वयमप्यनभ्युपगमात्। तद्वदात्माऽहंप्रत्ययोरपि तादूप्य एव तदिति सोपपत्तिकमत्यन्तव्यतिरेके तदनुपपत्तिप्रतिपादनम्। तन्नाहमिति प्रत्यक्षमात्मनि प्रमाणम्।

नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावात्। शब्दादिज्ञानमेव तत्र लिङ्गम्। प्रयोगश्चात्र तज्ज्ञानं[6] कचि-दाश्रितं गुणत्वात् रूपादिवत्। समवायिकारणपूर्वकं वा कार्यत्वात् तद्वदेवेति चेत्; न; ततोऽप्याश्रय-मात्रादेरेव प्रसिद्धेः। तस्य शरीरादेरपि सम्भवात् कथं तद्विशेषस्यात्मनस्ततोऽनुमानम्? न शरीरा-दिस्तद्बुद्धेराश्रयः स्वयमज्ञत्वात्। तथा च प्रशस्तकरस्य वचनम्–"नासौ[7] शरीरेन्द्रियवाङ्मन-सामज्ञत्वात्" [प्रश०भा०पृ०३०] इति। ततः पारिशेष्यादात्मैव तदाश्रय इति चेत्; न; आत्मनोऽपि तदविशेषात्। न हि तस्यापि स्वतो ज्ञत्वं ज्ञानसमवायकल्पनावैफल्यापत्तेः। तत्समवायात् ज्ञ एव स इति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–ज्ञत्वे तत्समवायः, ततो ज्ञत्वमिति। स्वतो न तस्य ज्ञत्वं यतस्तत्स-मवायवैयर्थ्यम्, नाप्यज्ञत्वं यतो न तदाश्रयत्वम् अपि त्वनुभयरूपत्वमिति चेत्; न सारमेतत्; यतः–

अन्योऽन्यच्युतिरूपत्वमज्ञत्वज्ञत्वयोर्यदि।
एकाभावे कथन्न स्यादितरत्तत्र तात्त्विकम्॥ १६४९॥
तद्रूपत्वं तयोर्नो चेत् यौगपद्यं प्रसक्तिमत्।
अज्ञस्यापि ततः प्राप्तं कायादेर्ज्ञप्तिकल्पनम्॥ १६५०॥
तत्कथं पारिशेष्येण बुद्धेरात्मैव संश्रयः।
कायादिनाऽपराद्धं किं स तथा येन नेष्यते॥ १६५१॥

शरीरस्य तदाश्रयत्वेन प्रतिसन्धानं परस्परविलक्षणपरापरपरिणामभेदेन, तस्यापि तदव्य-तिरिक्ततया भिद्यमानस्यानवस्थानात्, अनवस्थितस्य च प्रतिसन्धायित्वमुपपन्नम्, भेदवतः परापर-शरीरसम्बन्धिनो दर्शनस्मरणादेस्तदपरस्यात्मान्तरवत्ता(वत्तद)नुपपत्तेः, ततस्तदुपलभ्यमानमवस्थायिनमेव बुद्धेराश्रयमवकल्पयति, स चाऽऽत्मैव, न शरीरम्। नापि चक्षुरादिकमिन्द्रियम्; तस्यापि शरीरवदेव परापरतया भेदवत्त्वेनावस्थायित्वासम्भवात्। मनसोऽवस्थायित्वेऽपि करणत्वेन बुद्धिं प्रत्याश्रयत्वानु-पपत्तेरिति चेत्; किमिदं प्रतिसन्धानं नाम यतस्तद[8][धिष्ठान]स्यात्मनः कल्पनम्? स एवायमि-

१ –पोक्तस्य आ०, ब०, प०। २ प्रत्य.स.त्तिविशेषस्य। ३ पृ० ११६। ४–स्य भावे आ०, ब०, प०। ५ –नः संसा–आ०, ब०, प०। ६ शब्दादिज्ञानम्। ७ "न शरीरेन्द्रियमनसामज्ञत्वात्"–प्रश० भा०। ८ विषमा–आ०, ब०, प०। ९ –रमत्ता–ता०। १० तदस्यात्मावक–ता०।

त्युल्लेखद्वयाधिष्ठानं पूर्वाऽपरैकत्वज्ञानमिति चेत्; कुतस्तस्य तदधिष्ठानत्वम् ? तस्य तत्र समवायादिति चेत्; तदुभयमपि यदि जडमेव न तद्बलेन पूर्वापरपरामर्शो रूपादिनाऽपि तदापत्तेः। अजडत्वे तु ज्ञानद्वयमेव तदिति[1] कथं तस्य ज्ञाने समवायः, गुणस्य निर्गुणत्वेनोपगमात् ? तत्र समवायात्तस्य तत्त्वम्। अभेदादिति चेत्; न; तस्योल्लेखद्वयादभेदे तन्नानात्वं[2] स्यात्, अन्वयस्य च तस्मादभेदे तद्वदेक[त्व]स्य चापत्तेः कथमुभयोल्लेखिविज्ञानसम्भवः ? कथञ्चिद्भेदस्य च स्याद्वादन्यायविद्वेषिभिरनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे युगपदिव क्रमेणापि परापरोल्लेखविवर्ताधिष्ठानैकज्ञानसम्भवस्याविरोधात् तदात्मैवात्माऽवस्थायीति तस्यैव प्रतिसन्धानोपपत्तेः तदन्यात्मकल्पनं विफलकल्पनतया परामर्शवैकल्यं परस्यावकल्पयति। तन्न प्रतिसन्धानबलादपि शरीरादेरन्य एव बुद्धिलिङ्गादनुमातव्य इति सिद्ध्यति तद्बलस्यैवासम्भवात्। तन्नानुमानमपि तत्र प्रमाणमिति तस्याऽभ्युपगमादेव सत्त्वमिति सूक्तम्–'अपि सतः' इति। कथं सतः ? साक्षात् स्वत एव, अर्थान्तरसत्तासम्बन्धात् सत्त्वे अतिप्रसङ्गादेर्दोषस्य प्रथमप्रस्तावे निवेदितत्वात्। तस्य च सुखादिर्विषय इति साहसम्। कुत एतत् ? तस्य स्वतोऽचेतनत्वादर्थान्तरस्य च ज्ञानस्य तत्रासम्भवात्। न हि तत्र व्याप्त्या तस्य वृत्तिः; व्याप्यस्य नित्यव्यापित्वेन तस्यापि सर्वत्र सर्वदा सत्त्वापत्तेः। नाप्यव्याप्त्या; तदधिष्ठितानधिष्ठितरूपतया तस्य भेदापत्तेः। अन्यथा अधिष्ठितमेव सर्वथा तद्रूपमिति कथमव्याप्तिः ? अनधिष्ठितमेवेति कथं तस्य तत्र वृत्तिः ? तत्प्रदेशे वृत्तेरिति चेत्; न; तत्त्वतस्तत्र तद्वत्त्वस्याभ्युपगमात् घटादिवत् कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः। कल्पनया तद्भावे च स एवात्मा स्यात् बोधाऽधिकरणत्वात्। न चैतत्पथ्यं भवताम्, कल्पितात्मवादस्य बौद्धसिद्धान्तत्वात्। तन्नार्थान्तरमपि ज्ञानं तस्य यतः सुखादिर्विषयः स्यात्। कथं वा तेन सताप्यदृश्येन तस्य सुखादिवेदनम् आत्मान्तरज्ञानेनापि तदापत्तेः। दृश्यत्वमपि न तस्य स्वत एव; अनभ्युपगमात्, नान्यतोऽनवस्थापत्तेः। एतदेवोक्तम्–'अदृश्यानुभवात्मनः' इति। अनुभव एवानुभवात्मा बुद्ध्यात्मवत् सोऽदृश्यः स्वपराभ्यामप्रत्यक्षो यस्य तस्येति। तन्न सत्यपि ज्ञाने स तस्य विषय इति साहसमेव परं तत्कल्पने निबन्धनम्। ततो यदुक्तम्–"सुखादिरात्मविशेषगुणनिमित्त आत्मविशेषगुणत्वात् विशेष्यज्ञानादिवत्" [ ] इति; तदपतिव्यूढम्; सुखादेरात्मनश्चाप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयस्वरूपासिद्धेर्दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनवैकल्यात्। एवमनुमानान्तरेऽपि सर्वत्र वक्तव्यम्।

परमपरस्य साहसमुपदर्शयति–'शब्द'इत्यादिना। शब्द आदिर्यस्य रूपादेस्तस्मादविशेषः सुखादिः अचेतनत्वेन तत्सदृश इत्यर्थः। तदेव कुतः ? धिया बुद्ध्या अन्यया स्वतो भिन्नया प्रदर्श्यो यत इति। तथा हि–अचेतनः सुखादिः भिन्नबुद्धिप्रदर्श्यत्वात् शब्दादिवत्। तद्बुद्धिप्रदर्श्यश्चासौ प्रदर्श्यत्वात्तद्वदेवेति। कुतः पुनरिदं साहसमिति चेत् ? सुखादेरनुभवात्मतयैव प्रतीतेः, तदचेतनत्वकल्पनस्य अनुभवबाधितत्वात्, अनुभवैकार्थसमवायितया तस्य तदात्मत्वेन प्रतीतेः। विभ्रम एवेति चेत्; न; बाधावैधुर्यात् सर्वदा तदात्मतयैव प्रतीतेः। तथापि तद्विभ्रमकल्पनायां न काचिदविभ्रमा

१–ति चेत् का०, श्र आ०, ब०, प०। २–त्वं तदन्व–आ०, ब०, प०। ३–त्ववत्त्वाधिष्ठितैकज्ञान–आ०, ब०, प०। ४ तदन्तरस्यानभ्युप–आ०, ब०, प०। प्रदेशवत्त्वस्य। ५ तादृशेन आ०, ब०, प०। ६–त्मासादृश्यः आ०, ब०, प०। ७ अचित्त्वेन दृश्य इ–आ०, ब०, प०। ८ अनुभवात्मत्वेन। ९ प्रतीतिः प०।

प्रतीतिः भवेत् । अनैकान्तिक [श्च] मिन्नबुद्धिमदृश्यात्मत्वं चेतनेऽपि भावात् । 'अनर्थविषयत्वे सति' इति विशेषणान्नेति चेत्; न; तदात्मन्यपि अस्वसंवेदने तद्विषयत्वस्य निरूपितत्वात् ।

यदपि तत्प्रदर्श्यत्वे साधनं प्रदर्श्यत्वादिति; तदपि व्यभिचारी, स्वसंवेदनेऽपि तस्याविरोधात् ।

साहसान्तरमपि 'पुनः'इत्यादिना निवेदयति । पुनरिति पूर्ववत्, अस्यैव नित्यस्यात्मनो निर्वाणं निःश्रेयसम्, अस्योपलक्षणत्वेन संसारमपि आह कथयति वेदः पूर्वोक्त एवायं प्रतीयमानः । कुतस्तदुभयं स तस्य इत्याह–गुणस्य प्रियाप्रियविकल्पस्य बुद्ध्यादेः योगश्च तथैव प्रत्यासत्तेः निवृत्तिश्च ताभ्यां तत इति स च वेदः प्रमाणमिति साहसम् असम्भवदर्थवादिनस्तस्य साहसादन्यतः प्रामाण्यकल्पनाऽनुपपत्तेः । तथा हि—

आत्मनो गुणसम्बन्धात् संसारित्वप्रकल्पने ।
सम्बन्धस्यापि तत्कृतिस्तत एवोच्यतां त्वया ॥ १६५२ ॥
सम्बन्धिभ्यां न सम्बन्धस्तस्य चेत्तौ कथं तदा ।
सम्बन्धिनौ तयोस्तस्य भावे सत्येव तच्छ्रुतेः ॥ १६५३ ॥
असम्बद्धोऽपि सम्बन्धः समवायस्तयोर्यदि ।
संयोगोऽपि तथैव स्यात् सम्बन्धो दधिकुण्डयोः ॥ १६५४ ॥
तथा च समवायस्य तत्सम्बन्धस्य कल्पनम् ।
अप्रेक्षापूर्वकारित्वं यौगवोक (लोक)स्य कल्पयेत् ॥ १६५५ ॥
सम्बद्ध एव संयोगः समवायोऽन्यथाऽपि चेत् ।
सम्बन्धत्वं प्रपद्येत वस्तुवैचित्र्यसम्भवात् ॥ १६५६ ॥
इहेदंप्रत्ययोऽप्येवं कश्चित् सम्बन्धपूर्वकः ।
अन्यथाऽपि भवेत् कश्चिदिति वैचित्र्यमुच्यताम् ॥ १६५७ ॥
तथा च समवायस्य तल्लिङ्गादव्यवस्थितेः ।
कथं स गुणसम्बन्धः पुरुषस्योच्यतां त्वया ॥ १६५८ ॥
मुक्तात्मानोऽपि किन्नैवं त्वया संसारिणो मताः ।
गुणयोगस्य तत्रापि व्यापित्वेन व्यवस्थितेः ॥ १६५९ ॥
गुणो न तत्र तद्योगे सत्यपीत्यपि दुर्मतम् ।
तद्योगोऽस्ति स नास्तीति वचोव्याघातदर्शनात् ॥ १६६० ॥
तद्योगोऽपि न चेत्तत्र कथं सामान्यसङ्गमः ।
द्रव्यमात्मेति वा तत्र प्रत्योपाख्या च यद्भवेत् ॥ १६६१ ॥
अन्य एव स योगश्चेत् कथमेकत्वकल्पनम् ।

१ सद्योगोऽस्तीति सन्नास्ति वचो आ०, ब०, प० ।

समवायस्य तत्रत्र "तत्त्वम्"[1] इत्यादि शोभताम् ॥ १६६२ ॥
ततो न गुणसम्बन्धात् संसारः क्वापि सम्भवी ।
"न च वै सशरीरस्य"[2] इत्यादि तस्मादसद्वचः ॥ १६६३ ॥
निर्वाणमपि संसाराभावे दुरुपकल्पनम् ।
संसारच्युतिरूपं यन्निर्वाणं तद्विदो विदुः ॥ १६६४ ॥
कथं वा गुणयोगस्य नित्यस्यास्ति निवर्तनम् ।
यत्तन्निवृत्तितः प्राह वेदो निर्वाणमात्मनः ॥ १६६५ ॥
गुणस्यैव [3]निवृत्तेश्चेन्निर्वाणं परिकल्प्यते ।
तस्यैव सति तद्योगे निवृत्तिः सम्भवेत् कथम् ॥ १६६६ ॥
तद्योगेऽपि निवृत्तिश्चेन्निवर्तकबलात्ततः ।
[4]प्रवृत्तिरपि तद्योगाभावे किन्न प्रवर्तकात् ॥ १६६७ ॥
योगाभावे कथं पुंसि प्रवृत्तिस्तस्य चेत् कथम् ।
योगे सति ततस्तस्य निवृत्तिरपि कथ्यताम् ॥ १६६८ ॥
निवर्तकस्य नियमः कुतो वा परिकल्प्यताम् ।
[5]सर्वात्मनां यतस्तस्मात्र तद्योगनिवर्तनम् ॥ १६६९ ॥
समवायात्र नियमस्तद्विशुत्वादितीरितम् ।
तद्विशेषमकृतिस्तु तदेकत्वोपघातिनी ॥ १६७० ॥
नियामकस्याभावेन नियमस्याव्यवस्थितेः ।
नियमेन प्रतीतिश्च तत्र वः सुलभा कथम् ॥ १६७१ ॥
तत्त्वज्ञानादि तन्नास्ति नियतं तन्निवर्तकम् ।
निवृत्तेर्नियमो यस्मान्निर्वाण[6]नियमावहः ॥ १६७२ ॥
ततश्चानियमात् सर्वगुणयोगनिवर्तने ।
प्राप्तं सर्वात्मनिर्वाणमेकनिर्वाणकारणात् ॥ १६७३ ॥
ततश्च "नियतं श्रेयो निःश्रेयसम्" इति स्वयम् ।
त्रिलोचनादेर्व्युत्पत्तिकरणं मृतमुद्रया ॥ १६७४ ॥
तच्च निर्वाणवादोऽयं युज्यते युक्तिकान्तया ।
ततः 'अशरीरं वा'[7] इत्यादि श्रुतिरप्यसदर्थका ॥ १६७५ ॥
प्रामाण्यवादस्तत्रायं तन्न युक्तिसुकल्पनः ।
इत्याशयवता प्रोक्तं वेद इत्यादिकं वचः ॥ १६७६ ॥

१ "तत्त्वं भावेन"–वैशे० सू० ७।२।२७ । २ छान्दो० ८।१२।१ । ३ निवृत्तिश्चे–आ०, ब०, प० । ४ निवृ–आ०, ब०, प० । ५ सर्वं नात्मवतस्तस्मा–आ०, ब०, प० । ६ –र्वाणनि–आ०, ब०, प० । ७ छान्दो० ८।१२।१ ।

ततो न तथागतागमवत् साङ्ख्यायोगमस्यापि तत्त्वतः सोपायहेयोपादेयगोचरत्वमुपपन्नम्। प्रवचनस्य तु तदुपपत्तिमदेव प्रामाण्यात्, तस्य च अविसंवादादेव लिङ्गादवगमात्। कथमिदानीं तस्यात्यन्तपरोक्षे धर्मादौ तदवगमः तत्राविसंवादस्याप्रतिपत्तेः? कालान्तरे तत्रापि प्रतिपत्तिरिति चेत्; न; सति प्रामाण्यावगमे ततस्तद्विषये धर्मादौ प्रवृत्तिः, ततश्चाविसंवादोपलम्भः, ततोऽपि तदवगम इति चक्रकदोषात्। तत्र तत्र तदवगम इति चेत्; न, प्रत्यक्षादेरप्येवं तदवगमाभावप्रसङ्गात्। न हि तत्रापि तदुत्पत्तिसमय एव संवादः संशयाद्यभावमात्रापत्तेः, प्रवृत्तिवैयर्थ्याच्च, अर्थक्रियायाः संवादरूपत्वेन तदैव प्राप्तेः। कालान्तरभाविनि च संवादे चक्रकदोषस्य तादवस्थ्यात्। कारणशुद्धिपरिज्ञानात्तत्र तदवगमो न संवादादिति चेत्; न; तत्परिज्ञानेऽप्यन्यतस्तत्परिज्ञानात् तदवगमे अनवस्थाप्रसक्तेः। प्रत्यक्षादेः प्रामाण्यावगमात्तच्छुद्धिपरिज्ञाने च परस्पराश्रयात्—तदवगमात् कारणशुद्धिपरिज्ञानम्, ततश्च तदवगम इति। प्रसिद्धप्रामाण्यापरप्रत्यक्षादिसमानसामग्रीप्रभवत्वेन तत्र तन्निर्णय इति चेत्; अनुकूलमाचरसि, प्रवचनेऽपि तेनैव तन्निर्णयात्। विद्यते हि तत्राप्यत्यन्तपरोक्षविषये निश्चितप्रामाण्यप्रत्यक्षादिविषयप्रवचनसमानसामग्रीप्रभवत्वम्, उभयत्रापि सम्प्रदायाविच्छेदेन समानकर्तृत्वप्रतिपत्तेः। समानस्यापि कर्तुः क्वचिद्विप्रलम्भसम्भवे चक्षुरादावप्यनाश्वासापत्तेः। एतदेवाह—

विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः।
प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ॥ १५ ॥ इति।

विश्वः सर्वः लोकः प्राणिवर्गः, लोकयति पश्यतीति लोक इति व्युत्पत्तेः, तस्मादधिकं सर्वद्रव्यपर्यायतत्त्वसाक्षात्कारित्वेनोत्कृष्टं केवलाख्यं ज्ञानं यस्य पुरुषविशेषस्य स विश्वलोकाधिकज्ञानः पूर्वं निर्णीतो निर्णेष्यमाणश्च तत्र विप्रलम्भनं वञ्चनं वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टासम्भवात्, आशङ्कन्त इत्येवं शीला वयं वादिप्रतिवाद्यादयः प्रामाण्यम् अविप्रलम्भनम् अक्षादौ आदिपदात् लिङ्गादावपि कथं न कथञ्चित् प्रमिमीमहे निश्चिनुमहे, तत्रापि कदाचिद्विप्रलम्भस्योपलम्भात् अन्यथा इन्द्रियादिभ्रान्त्याभा (न्त्यभा) वापत्तेः। दोषवत्त्वेन तत्र तदुपलम्भो न निर्दोष इत्यपि न युक्तम्; पुरुषेऽपि तुल्यत्वात्। दोषवानेव सर्वोऽपि पुरुष इति चेत्; इन्द्रियादिरपि सर्वस्तथा किन्न भवति? बहुलमविप्रलम्भस्यापि तत्रोपलम्भादिति चेत्; न, पुरुषस्यापि प्रत्यक्षानुमानविषये सर्वत्राप्यविप्रलम्भस्यैव प्रतिपत्तेः। तत्राविप्रलम्भनेऽपि स्वर्गादौ संभवत्यपि विप्रलम्भनः पुरुषाणां विप्रलम्भेतरनियमासम्भवेन चञ्चलत्वादित्यपि न युक्तम्; अक्षादावपि तन्नियमाभावेन चञ्चलत्वस्याविशेषात्। अत एवोक्तम्—'चञ्चले' इति। भवतु तत्राक्षादेर्विप्रलम्भनं यत्र तज्ज्ञाने बाधकप्रत्ययोपनिपातः, यत्र तु स नास्ति तत्राविप्रलम्भनमेवाङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिसकलव्यवहारविलोपप्रसङ्गादिति चेत्; इष्टं चेष्टितम्; स्वर्गादावपि भगवतस्तद्वचने तदभावादेव अविप्रलम्भप्रतिपत्तेः। न हि तत्रापि

१ न सति वचनस्य प्रा—आ०, ब०, प०। २ —भ्रान्तो भावा—आ०। ३ भवति वि—आ०, ब०, प०। ४ बाधकप्रत्ययाभावादेव।

तद्वचनस्य प्रत्यक्षादिना बाधनम्; तस्यातद्विषयत्वात्। यदि हि प्रत्यक्षादेः स्वर्गादिविषयत्वं भवत्यपि तेन तस्य बाधनम्—'अयमन्यथा स्वर्गादिरन्यथा चानेन प्रतिपादितः' इति, न चैवम्, तस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्। नापि शास्त्रेण; तस्यापि तदवयवस्य पूर्वापरभागभाविनः परस्परविरोधिन एव प्रतिपत्तेः। शास्त्रान्तरमपौरुषेयं तस्य बाधकम् अन्यथैव तेन स्वर्गादेरभिधानादिति चेत्; न; तदसम्भवास्य (वात् अस्य) सम्भवतोऽप्यगुणवद्वक्तृत्वेनाप्रामाण्यस्य निवेदनात्। 'कीदृशात् पुनर्बाधकाभावात् तद्वचने विश्वासः? तात्कालिकादिति चेत्; न; प्रत्यागमेऽपि तत्सम्भवात्। सार्वकालिकादिति चेत्; न तर्हि बहुनाऽपि कालेन तद्विश्वासः परापरकालभावितदभावप्रतीक्षायामेव संसारस्योपक्षयात्' इत्यपि न केवलं प्रवचनप्रामाण्यं प्रतिरुणद्धि प्रत्यक्षादावप्यस्याविशेषात्। सत्यम्, अत एवाविचारसहमपि, तत्प्रामाण्यं व्यवहारादभ्युपगम्यते "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।७] इति वचनादिति चेत्; किं पुनस्तदभ्युपगमस्य फलम्? तन्निबन्धनो व्यवहार एवेति चेत्; न तर्हि शास्त्रमर्थवत्, तस्योभयस्यापि लोकव्यवहारादेव प्रतिपत्तेः। न सर्वस्य ततस्तत्प्रतिपत्तिः केषाञ्चिद् व्यामोहात्, अत एव परस्परविरुद्धं तेषां तल्लक्षणप्रणयनम्। तदुक्तम्—

"न सर्वो व्यवहारेण प्रामाण्यमवगच्छति।
प्रमाणलक्षणं तेन परस्परविरोधवत्॥" [प्र० वार्तिकाल० १।७] इति।

ततो यथावस्थितव्यवहारोपदर्शनेन तद्व्यामोहव्यवच्छेदाय फलवदेव शास्त्रम्, "शास्त्रं मोहनिवर्तनम्" [प्र० वा० १.७] इति वचनादिति चेत्, का पुनस्तदनिवर्तने परिम्लानिः? प्रमाणसाध्यस्य पुरुषार्थस्याप्राप्तिरेव, अनिवर्तितव्यामोहात् प्रमाणात्तदनुपपत्तेरिति चेत्; न; तद्विपरीतस्यापि तस्य विचारासहत्वेन ततस्तात्त्विकस्य पुरुषार्थस्यासिद्धेः, अन्यथा तदसहत्वविरोधात्। अतात्त्विकस्य विभ्रमोपदर्शितकलधौतकलशराशिवदशक्यैव प्राप्तिरिति न किञ्चिद्व्यामोहनिवर्तनेन यतस्तदर्था शास्त्रप्रवृत्तिः। अपि च, अविचारसहस्यापि यदि प्रत्यक्षादेर्व्यवहारात् प्रामाण्यं प्रवचनस्यापि स्यात्। न हि व्यवहारी कश्चिदाप्तवचनं न प्रमाणयत्येव, बहुलं ततोऽपि तद्विषये प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलम्भात्। अक्षोदक्षमत्वान्न तत्र तत्क्षममिति विलक्षणभाषितम्, अस्याक्षादावपि तुल्यत्वात्। माभूत्तदपि प्रमाणम्, अद्वैतसंवेदनस्यैव तत्त्वतः प्रमाणस्योपगमात्, शास्त्रस्यापि तन्निरूपणार्थत्वादिति चेत्; कस्य पुनः शास्त्रेण तन्निरूपणम्? विनेयस्येति चेत्; उच्यते—

विनेयस्तदनन्यश्चेत् व्यर्थं शास्त्रं ततो गतेः।
अन्यश्चेत् कथमद्वैतं विरोधेनोपपीडनात्॥१६७७॥
अन्यः कल्पनयैवासौ न तत्त्वेनेति चेत् कथम्।
कल्पनाऽपि तदद्वैते तदन्या ह्यन्यकल्पना॥१६७८॥
साऽपि कल्पनयैवान्या न तु वस्तुत इत्यपि।
दुर्मतं दुर्विदग्धानामनवस्थोपबृंहणात्॥१६७९॥

१ तदसम्भवस्य सं-सा०। २ -भस्वोप-प०।

तत्त्वान्यत्वविकल्पाभ्यामवक्तव्यैव कल्पना ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य वस्तुनैव (वस्तुन्येव) च सम्भवात् ॥१६८०॥
इति चेत्तद्वाच्यत्वविकल्पेऽपि कथं तदा ।
तत्र यत्तत्र शोभेत तदवाच्यत्ववागियम् ॥१६८१॥
कथं वा कल्पितस्यास्ति शास्त्रेण प्रतिबोधनम् ।
किं वन्ध्यासुतबोधार्थं शास्त्रं किमपि वीक्षितम् ? ॥१६८२॥

तन्नाद्वैतनिरूपणं शास्त्रात्। प्रत्यक्षादेस्तु ततो निरूपणे विचारसहमेव तदेष्टव्यम्, अन्यथा तद्वैयर्थ्यात् । तत्र यदि वचनं तत्प्रणेतरि विप्रलम्भनशङ्कनात् न प्रमाणं प्रत्यक्षादिकमपि न भवेत्, तद्धेतावक्षादावपि तच्छङ्कनाविशेषात् । एतदेव त्रिभिरन्तरश्लोकैः व्याचिख्यासुराह–

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।
अदृष्टदोषाशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥१६॥ इति ।

परीक्षां प्रसिद्धप्रत्यक्षादिरूपां क्षमत इति परीक्षाक्षमः स चासौ वाक्यस्य प्रवचनस्यार्थो जीवादिस्तत्र परिनिष्ठितं परि समन्तान्निष्ठितमचलप्रवृत्तिकं चेतो ज्ञानं येषां तेषां भगवताम् अदृष्टे प्रत्यक्षाद्यविषये धर्मतत्कारणादौ अदृष्टस्य वा तद्विषयस्य दोषस्याशङ्कायां पुरुषाणां विचित्राभिसन्धित्वेन प्रत्यक्षादिविषये विप्रलम्भासम्भवेऽप्यतद्विषये तत्सम्भवस्याशङ्कायाम् अमानमप्रमाणं सकलं प्रत्यक्षमन्यद्वा भवेत् तत्कारणेऽपि चक्षुरादावदृष्टपूर्वे तद्विषये तदाशङ्कनस्यानिवृत्तेः । अथ प्रत्यक्षादौ निश्चितप्रामाण्यतदन्तरसादृश्यविशेषात् विशेषप्रतिपत्तेर्न तत्कारणेषु तदाशङ्कनम्, प्रवचनेऽपि समानमेतत्–तत्रापि प्रत्यक्षानुमेयविषयनिश्चितप्रामाण्यतदन्तरसदृशभावप्रतिपत्तेरविशेषात् । एतदेवाह–

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।
दर्शनादर्शनाभ्यासात् क्वचिद् वृत्तसमत्वतः ॥ १७ ॥ इति ।

प्रत्यक्षमित्यनुमानस्यापि ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् तच्च आगमश्च तयोः क्वचित् अपूर्वार्थेऽत्यन्तपरोक्षे च प्रामाण्यमिष्टं युगपद्वचनं तयोस्तुल्यत्वप्रतिपादनेन प्रवचनस्याप्रामाण्ये प्रत्यक्षादेरपि तदवश्यमिति प्रतिपादनार्थम् । कुतस्तयोः प्रामाण्यम् ? वृत्तेन प्रमाणतया निश्चितेन तदन्तरेण समत्वात् । तदेव कुत इति चेत् ? गुणदोषयोर्ये दर्शनादर्शने तयोरभ्यासात् । यथैव हि अपूर्वार्थे प्रत्यक्षादौ तस्य तत्कारणस्य वा गुणदर्शनाद्दोषस्य चादर्शनात् प्रामाण्यम्, एवं प्रवचनस्यापि तदेष्टव्यमित्यर्थः । न प्रत्यक्षादौ गुणकृतं प्रामाण्यं तत्कारणे तदभावादिति चेत्, न, तस्याप्यञ्जनसंस्कारादेस्तत्रोपलम्भात् । सताऽपि तेन दोष एवापोद्यते न प्रामाण्यमापाद्यते, दोषाभावादेव प्रामाण्यस्यौत्सर्गिकस्यैवापत्तेरिति चेत्; उच्यते–यदि न तेन तस्यापवादः किं स्यात् ? अप्रामाण्यमिति चेत्, न;

१ –शङ्किनां न आ०, ब०, प० । २ वाक्यप्र–आ०, ब०, प० । ३ भगवद्विषयस्य । ४ –न्धमस–आ०, ब०, प० । ५ सकलप्र–आ०, ब०, प० । ६ युगपद्वद्–आ०, ब०, प० । ७ –स्तुल्यकृत्व–आ०, ब०, प० । ८ मीमांसकः आह ।

प्रामाण्यकारणे समर्थे सति तदनुपपत्तेः । अप्रामाण्यदोषोऽपि समर्थ इति चेत्; युगपत्तर्हि तदुभयं प्राप्नुयात् ।

तथा च भ्रान्तविज्ञानात्तदर्थे वृत्त्यवर्त्तने ।
युगपत् प्राप्नुयातां ते प्रमाणत्वेतरत्वतः ॥१६८३॥
अक्षादिकं प्रमाणत्वे दोषे यदि न शक्तिमत् ।
ज्ञानं कथं तदा तस्मादप्रामाण्यं यदाश्रयम् ? ॥१६८४॥
प्रामाण्ये तस्य सामर्थ्यं नष्टं न ज्ञानजन्मनि ।
यदि स्वतः प्रमाणत्वं तदा तस्योच्यतां कथम् ? ॥१६८५॥
ज्ञानसामर्थ्यतो भाति प्रामाण्यं चेत् तदा भवेत् ।
स्वतो यदन्यतः शक्तिस्तदा तत्परतो न किम् ? ॥१६८६॥
सामर्थ्यात् परतस्तच्चेत् गुणतः परतो न किम् ? ।
यतो गुणेभ्यो दोषाणामपवादः प्रकल्प्यते[2] ॥१६८७॥

सति च ततस्तदपवादे गुणत एव प्रामाण्यं तदपवादस्यैव गुणत्वात् । न तस्य सत्त्वमभावरूपत्वाच्चेत्; तर्हि नियमवैकल्यस्यापि हि हेतोर्न दोषत्वमिति कथमनुमानाभावस्याप्रामाण्यमपि दोषतः स्यात् ? तद्वैकल्यस्य दोषत्ववद् गुणत्वमपि तदपवादस्येति तत एव प्रामाण्यं न स्वतः ।

ततो गुणादिदृष्टयादेरप्यक्षादिवदञ्जसा ।
प्रामाण्यमागमेऽपीति सूक्तमुक्तं स्वयं बुधैः ॥१६८८॥

न हि प्रवचनकारणैर्गुणस्य तदर्थज्ञानस्य दोषस्य रागादेरसिद्ध एव दर्शनादर्शनाभ्यासो निर्बाधत्वेन तत्सिद्धेः । तथा हि—यत्स्वविषये निर्बाधं वचनं तद्गुणवन्निर्दोषकारणकं यथा किञ्चिज्जलशैत्यादिविषयमस्मदादिवचनम्, तथा च विवादापन्नं प्रवचनम् । न चेदमसिद्धमेव प्रत्यक्षादिना तद्विषये प्रवचनेन तद्गोचरे तस्य बाधनात् । तदेवाह—

तज्ज्ञानपूर्वकं तर्क्यमनुमानसमीक्षितम् । इति ।

तज्ज्ञानं[4] गुणवन्निर्दोषज्ञानं तत्पूर्वकं प्रवचनमनुमानेन समीक्षितं सम्यगवलोकितम् । तदेव कुतः ? तर्क्यं तर्कज्ञानवेद्यं यत इति । न हि यन्निर्बाधं वचनं तदुक्तज्ञानपूर्वकमिति तर्काभावे सम्भवत्यनुमानमिति भावः ।

यत्पुनरत्र प्रज्ञाकरचोद्यम्—

"बाधकस्य पुरो भावः सर्वविज्ञानसम्भवी ।
परं तु बाधकाभावः तत्राप्याकाङ्क्ष्यते न किम् ? ॥ [प्र० वार्तिकाल० १।१] इति;

---

1 "यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव गृह्यते" –मी० श्लो० चोदना० श्लो० ५२ । 2 "तस्मात् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वम्…"– मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५ । 3 "अथ गुणतो दोषापवादमभ्युपगम्याह"—रा० टि० । 4 तज्ज्ञान– आ०, ब०, प० ।

तन्न युक्तम्; परापरसकलकालभाविनो बाधाविरहस्य प्रथमत एव तर्कज्ञानबलेनाध्यवसायात् तद्विषयपरापराशंसानुपसर्पणेनानवस्थादोषानुत्पत्ते. साधनासिद्धिकल्पनस्यानवकाशात् । न तर्कादप्यप्रमाणात् प्रवचनस्य बाधाविरहनिश्चयोऽतिप्रसङ्गात्, प्रामाण्यं च तस्य निर्बाधनत्वात्, तदप्यन्यतस्तर्कात्[1], तत्राप्येवं कल्पनायामनवस्थानात् कथं प्रवचने तद्विरहनिश्चयो यतो यथोक्तसाध्यसिद्धिरिति चेत् ? अत्राह–

मानं वस्तुबलादेव [सर्ववस्तुनिबन्धनम्] ॥ १८ ॥ इति

मानं प्रमाणं तर्क इति तर्क्यग्रहणेन[2] तर्कस्याक्षेपात् । वस्तुशब्देन च स एव तर्क्य उच्यते तस्य बलं सामर्थ्यं तत इति । एतदुक्तं भवति–

> निर्बाधत्वं हि तर्कस्य वेद्यते चेत् तदन्यतः ।
> अनवस्थानदोषः स्यान्नैवं तस्य स्वतो गतेः ॥ १६८९ ॥
> इत्थमेतदवश्यं च प्रपत्तव्यं मनीषिणाम् ।
> वितर्कमिच्छतां नो चेत् वितर्को नावतिष्ठते ॥ १६९० ॥
> विना च न वितर्केण किञ्चिदिष्टं प्रसिद्ध्यति ।
> मानमेव व्यवस्थायाः तत्प्रसादादवस्थितेः ॥ १६९१ ॥

ततो युक्तं वस्तुबलादेव मानं तर्क इति । तस्य स्वरूपमाह–'**सर्ववस्तुनिबन्धनम्**' इति । सर्वं निरवशेषं वस्तु साध्यसाधनभावाभिमतं निबद्ध्यते विषयत्वेन यस्मिन् तत्तथोक्तम्, अन्यथा अनुमानानुपपत्तेरिति । निरूपितं चैतत् । अथवा वस्तु प्रवचनं तस्य बलं ततः, मानं तदेव प्रवचनम्, न पुनर्निर्दोषगुणवज्ज्ञानपूर्वकत्वात्, तस्यैव तत्रापौरुषेयत्वेनासम्भवादिति मतं मीमांसकस्य । तत्रेदं दूषणम्–'सर्ववस्तुनिबन्धनम्' इति । सर्वं प्रवचनप्रतिपाद्यं विधिनियोगभावनाद्यनेकविकल्पं वस्तु तन्निबन्धनं तद्विषयं मानं भवेत् प्रवचनम् । कथं हि नाम सर्वस्यापि विध्यादेस्ततः प्रतिपत्तौ तदन्यतमस्यैव तदर्थत्वम् ? तस्यैव निःश्रेयसहेतुत्वादिति चेत्; कुत एतत् ?[3] वेदादेवेति चेत्; न; तेन हि तदपरत्रापि तद्धेतुत्वप्रतिपादनात् । सम्प्रदायादिति चेत्; न, सम्प्रदातुरसर्वदर्शित्वे ततोऽपि तदनुपपत्तेः । सर्वदर्शित्वे तु कथं पुरुषगुणस्याभावः प्रवचने येन तत्कृतमेव प्रामाण्यं न भवेत् ? ततो युक्तं यथोक्तज्ञानपूर्वकत्वं प्रवचनस्य । यदि अपौरुषेयस्यापि पुरुषविशेषगुणबलादेवार्थतत्त्वनिश्चयः प्रवचनस्य पौरुषेयत्वमेव किन्न भवति ? इति मन्वान आह–

आगमः पौरुषेयः स्यात् प्रमाणमतिलौकिके । इति ।

आगच्छति गुरुपर्वक्रमेणागमयत्यनेन संसारतत्कारणादितत्त्वमिति वा आगमः प्रवचनं स पौरुषेयः पुरुषकृतः स्यात् भवेत्, तत्र पुरुषगुणसम्बन्धस्य सर्वथा परिहर्तुमशक्यत्वात्, अत एव च प्रमाणम् । यदि प्रत्यक्षादिविषये[4] सिद्धसाधनमिति चेत्; न, अतिलौकिके लोके जातं[5] लौकिकं[6] प्रत्यक्षादि तदतिक्रान्तम् अतिलौकिकम् अत्यन्तपरोक्षं तत्रेति । कुत एतदिति चेत् ? अत्राह–

१ –स्तर्कादिस्त– प० । २ तर्क्यप्रमाणेन आ०, ब०, प० । ३ –न पौ–आ०, ब०, प० । ४ "वर्हि"–ता० टि० । ५ ज्ञातं आ०, ब०, प० । ६ "जाते इति सूत्रेण जातार्थे ठण्"–ता० टि० ।

संवादासम्भवाभावात् [समयाविप्रलम्भने] ॥ १९ ॥ इति ।

संवादः अर्थतथाभावः तस्याऽसम्भवः तस्याभावात् संवादभावादिति यावत् । नेदानीं तत्र तद्भावोऽनुपलम्भात्, कालान्तरभाविनश्च ततः कथमिदानीं प्रामाण्यनिर्णयो यतः प्रवृत्तिरिति चेत् ? प्रत्यक्षादौ कथम् ? तत्रापि पश्चादेव तद्भावात् । अत एव अनिर्णीतप्रामाण्यादेव ततः प्रवृत्तिरिष्यते तद्विषयस्य जलादेरप्राप्तावपि पीडाबाहुल्याभावात् । न चैवं प्रवचनादपि तादृशादेव तपश्चरणादौ प्रवृत्तिकल्पनमुपपन्नम् । तद्बाहुल्यावलोकनादिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षादावपि तुल्यत्वात् । तथा हि–

अर्कक्षीरादजाक्षीरमविविच्यैव यः पिबेत् ।
तस्य भूयान् परिक्लेशः किं त्वया नावलोक्यते ॥ १६९२ ॥
हारसर्पाविभागेन दीर्घे किञ्चिदनिश्चितम् ।
कण्ठे समासजन्मर्त्यः किन्न मृत्युमपि व्रजेत् ? ॥ १६९३ ॥

ततो यथा तत्र पश्चाद्भाविनोऽपि तद्भावस्य कारणपरिशुद्धिज्ञानादध्यवसाये ततः प्रागेव तन्निर्णयः तथा प्रवचनेऽपि । तदेवाह–'समयाविप्रलम्भने' इति । समयः सम् समीचीनः प्रवचनहेतुः अयो बोधस्तस्य अविप्रलम्भनमविप्रतीसारः तस्मिन्, 'संवादासम्भवाभावात् आगमः प्रमाणमतिलौकिके' इति ।

स्यान्मतम्[3]–यदि क्वचित् सर्वज्ञः सम्भवति भवत्यपि तदा तज्ज्ञानपूर्वकत्वेन प्रवचनस्याविसंवादसम्भवः, न चैवं प्रमाणाभावात् । न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्; तस्यासर्वविषयत्वे तेन तज्ज्ञत्वस्य क्वचिदप्रतिवेदनात्, विषयिप्रतिपत्तेः विषयप्रतिपत्तिमन्तरेणानुपपत्तेः । सर्वविषयत्वे तु तत्प्रत्यक्षवतोऽपि सर्वज्ञत्वम् । तथा तमप्यन्यस्य प्रत्यक्षादवगच्छतः सर्वज्ञत्वमिति सर्वज्ञमेकमन्विच्छतः सर्वज्ञबहुलत्वमव्याहतप्रवाहमापद्येत । तदुक्तम्–

"सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवं तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्ध्यते ॥"

[मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३४–१३५] इति ।

प्रत्यक्षाभावे[4] च नानुमानम्, तस्य प्रत्यक्षतः साध्यसाधनसम्बन्धप्रतिपत्तौ सत्यामेवोत्पत्तेः । साध्यस्य च सकलवेदिनः प्रत्यक्षेणाग्रहणे ततस्तल्लिङ्गसम्बन्धस्याप्रत्ययप्रतिपत्तिकत्वादिति, तदतिदुर्मतम्; प्रत्यक्षाविषयेऽपि तस्मिन्ननुमानप्रवृत्तेः "परोक्षोऽपि"इत्यादिना प्रतिपादनात् ।

यदपि परस्य दुर्विलसितम्–प्रत्यक्षादेः प्रमाणपञ्चकस्य वस्तुसत्तावबोधकस्य सर्ववे-

---

१ अनिर्णीतप्रमाण्यादेव । २ पीडाबाहुल्य । ३ मीमांसकस्य । ४ –वे नानु–आ०, ब०, प० ।
५ "गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानमिति मीमांसकाः ।"–ता० टि० ।
६ न्यायवि० श्लो० ३१२ ।

दिन्यप्रवृत्तेः तदप्रवृत्तिलक्षणादनुपलम्भात् अभाव एव तस्येति; तत्र न तावत्तस्याभावो नीरूप एव; तस्य प्रमाणाविषयत्वात्। न ह्यसौ अतद्रूपादव्यावृत्त एव तद्विषयः, तदतद्विभागाभावापत्तेः। व्यावृत्तश्चेत्; न; व्यावृत्तिशक्तिवैकल्ये तदनुपपत्ते.। तच्छक्तिभावे च नीरूपत्वव्यापत्तेः, शक्तिप्रधानरूपत्वात् भावानाम्। भवतु पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमेव तदभाव इति चेत्; तदपि न प्रतिनियतपुरुषाधिष्ठानम्, तस्य तदभावत्वेनाभीष्टत्वात्। सकलदेशकालवर्तिपुरुषपरिषदधिष्ठानस्य तु तस्य कथं निरवशेषतत्परिज्ञानविकलेन प्रतिवेदनम् ? अधिष्ठानप्रतिवेदन एवाधिष्ठेयप्रतिवेदनोपपत्तेः। तत्परिज्ञानवत्त्वे तु कस्यचित् कथन्न तस्यैव निरुपद्रवं सकलवेदित्वमापद्येत यतः "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवम्" [मी० श्लो०] इत्यादि मीमांसकस्य परत्र चिन्तितं दूषणं स्वगृहं प्रत्युपगतं न भवेत्। तन्नानुपलम्भादपि अभावापरनामधेयात् सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावसाधनमुपपन्नम्। किञ्च, अयमनुपलम्भो वादिनः स्वस्य वा भवेत्, सर्वस्य वा गत्यन्तरासम्भवात् ? तत्रोभयत्रापि दोषमावेदयन्नाह–

सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्वसर्वानुपलम्भयोः।
आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः ॥२०॥ इति।

न हि सर्वज्ञाभावसाधने स्वानुपलम्भस्य गमकत्वम्; तस्य परचेतोवृत्तिविशेषे सत्यपि भावेन व्यभिचारिणः संशयहेतुत्वात्। न हि तत्र नियोगत. प्रत्यक्षादीनामन्यतमस्य प्रवृत्तिरेव, प्रथमदर्शन एव तदवधारणात् 'मूर्खोऽयं पण्डितो वा' इत्यादिविमर्शाभावापत्तेः। न चानवधारितोऽपि स नास्त्येव, पुनः कुतश्चित् कार्यविशेषात् तदस्तित्वस्य निर्णयात्। नापि सर्वसम्बन्धिनः; तस्यैवासिद्धेः। तदेवाह–'तस्याप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः' इति। तस्यापि सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यापि, अपि शब्दान्न केवलं सर्वज्ञस्य अगतेः अगतिश्च तस्यार्वाग्दर्शनतः। अर्वाचो हि वस्तुभागस्य दर्शनमस्मदादिप्रत्यक्षं तत्कथं तस्य सर्वविषयत्वं यतः सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य ततोऽवगतिः।

यत्पुनरत्रानुमानम्–सर्वेऽपि सर्वज्ञं नोपलभन्ते पुरुषत्वादे रथ्यापुरुषवदिति; तदपि न सम्यक्; सर्वेषामर्वाग्दर्शनतोऽनवगमेन हेतोराश्रयासिद्धेः। न चास्ति पुरुषत्वादेः सर्वज्ञत्वोपलम्भेन विरोधः, सोऽर्वाग्दर्शिनि सम्भवन्नपि न सर्वज्ञे स्यात्, तेनात्मनोऽन्यस्य च सर्वज्ञतया दर्शनसम्भवात्। स एव नास्तीति चेत्; न, अन्यतः तन्नास्तित्वेऽनुपलम्भस्य वैफल्यापत्तेः। तत एव सर्वसम्बन्धिन इति चेत्, न, परस्पराश्रयात्–सिद्धे तन्नास्तित्वे तदनुपलम्भस्य ततोऽपि तन्नास्तित्वस्य सिद्धेः। अतो नानुमानादपि सिद्धिस्तदनुपलम्भस्येति न तस्मादभावः सर्वज्ञस्य।

नापि वक्तृत्वादेः, द्वितीयप्रस्तावे तन्निषेधस्याप्यभिहितत्वात्। भावस्तु तस्यानुमानतो निरूपितो निरूपयिष्यते च। कथं पुनः सर्वज्ञविज्ञानस्याक्षजत्वे सूक्ष्मान्तरितदूरगोचरत्वमस्मदादि-

१ –वृत्तेश्चेत् आ०, ब०, प०। २ –परीक्षाधि–आ०, ब०, प०। ३ संशयाभावापत्तेः। ४ परचेतोवृत्तिविशेषः। ५ –सम्बन्धिनस्तस्यैवासिद्धेः य–आ०, ब०, प०। ६ –लंभनेन वि–आ०, ब०, प०। ७ –भस्तत्सोऽर्वाग्द–आ०, ब०, प०। ८ –दर्शिन्यसंभवान्नापि सर्वज्ञे आ०, ब०, प०। ९ सत्वादि–आ०, ब०, प०।

प्रत्यक्षवदिति चेत्? कथं गृद्धवाराहादिप्रत्यक्षस्य? तस्यास्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणत्वेन तद्धर्मयोजनस्यासम्भवादिति चेत्; न; सर्वज्ञप्रत्यक्षस्यापि तद्विलक्षणत्वाविशेषात्। कथमेवमपि एकेन्द्रियोपजनितस्यैव तस्याशेषेन्द्रियार्थविषयत्वं गृद्धवाराहादौ तस्य स्वविषयानतिक्रमेणैव दूरसूक्ष्माद्यवलोकनातिशयभावात् नेन्द्रियान्तरविषयनिरूपणेनेति चेत्? इन्द्रियजत्वाविशेषे स एव तदतिशयः कस्मात्? तदीयादिन्द्रियशक्तिविशेषादिति चेत्; तर्हि तत एव सार्वज्ञं प्रत्यक्षमिन्द्रियान्तरार्थविषयमपि भवेत्। नन्विदमनुपपन्नम्, शक्तिविशेषादपि स्वार्थानतिलङ्घनेनैवेन्द्रियज्ञानस्यातिशयोपपत्तेरिति चेत्; स्वेन्द्रियानतिलङ्घनेनैवेत्यपि भवेत्। तथा चेत्, न; सत्यस्वप्नादावन्यथाऽपि तदतिशयदर्शनात्। तदतिलङ्घने वा स्वार्थातिलङ्घनमप्यविरुद्धम्, अत एव 'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः' इति कविप्रवादोऽपि। ततो दुर्भाषितमिदम्–

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम्।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्॥
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः॥"

[मी० श्लो० चोदना० श्लो० ११३–१४] इति।

किमर्थं तर्हि तत्रेन्द्रियभेदपरिकल्पनम् एकस्मादेव तस्मात् सकलेन्द्रियार्थप्रतिपत्तेरिति चेत्? न; कदाचिदतः (दततः) कदाचिदन्यतः कदाचित्ततः सर्वादपि तत्प्रतिपत्तेः। अन्यथाऽस्मदादौ वामेतरनयनभेदोऽपि न भवेत् प्रयोजनभेदाभावात्। तथापि स्वहेतुबलायातस्तद्भेदो भवत्येवेति समानं भवेदिन्द्रियाभेदेऽपि। केवलमभ्युपगम एवायं न च तस्याक्षजत्वमभिप्रेतं जैनस्य। "बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।" [बृहत्स्व० श्लो० १२९] इत्याम्नायात्। कथं तर्हि तत्र प्रत्यक्षव्यपदेशः तस्याक्षप्रतिगमानादेवोपपत्तेरिति चेत्? न; तस्य व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्, वैशद्यस्यैव तदुपलक्षितस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, सति तस्मिन् तदभावेऽपि गोत्वादेव गोव्यपदेशवत्। वैशद्यमपि तत्प्रतिगमनादेव रूपादिवेदने दृष्टं तत्कथं तदभावेऽपि चेत्? आस्तामेतत्, कथं पुनरिन्द्रियनिरपेक्षं न प्रत्यक्षम्? तद्भावभावनियमस्य दर्शनादिति चेत्; तत एव आलोकनिरपेक्षमपि न भवेत्। भवत्येव जातिविशेषाणां संस्कृतचक्षुषा च तदभावेऽपि तत्प्रतिपत्तेरिति चेत्; समानमन्यत्र, सुखादिवेदनस्येन्द्रियाभावेऽपि प्रतिवेदनात्। तदपि तदपेक्षमेव प्रत्यक्ष-

१ प्रत्यक्षस्य। २ एतदति–ता०। ३ –यविशे–आ०, ब०, प०। ४ इन्द्रियात्। ५ कदाचित्ततः आ०, ब०, प०। ६ सर्वस्मादपि आ०, ब०, प०। ७ सर्वज्ञज्ञानस्य। ८ "अत्युपगम्य चाक्षजस्य सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारित्वं समर्थितं नार्थतः, तज्ज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षये दृसूतत्वात्।"–प्रमेयक० पृ० २५९। ९ "अक्षाश्रितत्वञ्च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। अनेन तु अक्षाश्रितेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते तदेव च शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्।"–न्यायवि० टी० प्र० ११। न्यायकुमु० पृ० २६, टि० २। १० –र्थं प्र–आ०, ब०, प०। ११ तद्भावाभाव–आ०, ब०, प०। १२ "नक्तञ्चराणां मार्जारादीनाम्"–ता० टि०। १३ सुखादिवेदनम्।

त्वात् रूपादिप्रत्यक्षवदित्येतत् नक्तञ्चरादिप्रत्यक्षस्यालोकापेक्षत्वमपि व्यवस्थापयेत्। प्रतीतिबाधनान्नेत्यपि तुल्यमन्यत्रापि[1] ।

किञ्च तदिन्द्रियं यतः सुखादिवेदनम् ? मन इति चेत्, क्व तस्य सम्प्रयोगः[2] ? सुखादावेवेति चेत्; न; अनुत्पन्ने तस्मिन् तदयोगात्। उत्पन्नेऽपि वैयर्थ्यात्, तदुत्पत्तावेव तदनर्थान्तरतया तत्प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्तेः। अथ तत् तद्विषयादर्थान्तरं तत्त्वात् रूपादिप्रत्यक्षवदित्युच्यते; तन्न; अभेदानुभवेन पक्षस्य बाधनाद्धेतोश्च तत एव कालात्ययापदिष्टत्वात्। किञ्च,

यदि तद्वेदनात् पूर्वमस्ति पुंसः सुखादिकम्।
किन्न संह्लादतापादिलिङ्गं तद्वपुषीक्ष्यते ॥१६९४॥
कार्यस्य नियमाभावाच्च चेदनियमान्न किम्।
न चैवं वेदनात् पूर्वं कदाऽपि तदवीक्षणात् ॥१६९५॥
न ह्यवेदयतो[3] ह्लाद रोमहर्षादिसम्भवः।
नापि तापं परिम्लानवदनत्वादि दृश्यते ॥१६९६॥
अथाय तत्स्वभावो यज्ज्ञातमेव स्वकार्यकृत्।
ज्ञानात्मैव तदा ह्लादतापादिः परिकल्प्यताम् ॥१६९७॥
सत्येव तस्मिन् तत्कार्यादन्यथा त्वव्यवस्थिते।
रूपं नीलादितोऽप्यन्यदेवमप्यवकल्पनात् ॥१६९८॥
तन्न भिन्नं सुखादेस्तत्प्रत्यक्षमुपपत्तिमत्।
[5]जातिरिन्द्रियतो यस्य भवता परिकल्प्यते ॥१६९९॥

ततो युक्तं सुखादिप्रत्य [क्ष] वदक्षनिरपेक्षं सार्वज्ञमपि प्रत्यक्षं बाधकाभावात्।

'यद्येवमात्मनिरपेक्षमपि तद्भवेत्, को वा नियमहेतुः यत्करणत्वाविशेषेऽपि तस्येन्द्रियादावेवानपेक्षत्वं नात्मनि' इत्यपि न चोद्यम्, उपादानत्वेन[6] नियमात्। न ह्युपादाननिरपेक्षं किमपि कार्यमुपलब्धपूर्वं यतः प्रत्यक्षमपि तथाऽवकल्प्येत। उपादानहेतुश्च तस्यात्मैव न चक्षुरादिकम्, प्रतिसन्धानाभावप्रसङ्गात्। अस्ति च प्रतिसन्धानम् 'अहमेव रूपदर्शी रसादिकमप्यनुभवामि' इति। न चेदं चक्षुराद्युपादानत्वे सम्भवति, सन्तानान्तरवत् चक्षुरादेर्भेदात्। एकशरीरात्मकत्वात् अभेदोऽप्यस्त्येवेति चेत्; शरीरभेदे न भवेत्। अस्ति च पूर्वशरीरानुभूतस्याप्युत्तरशरीरे प्रत्यभिज्ञानम्—'य एव पूर्वजन्मनि क्षत्रियो जातः स एवाधुना ब्राह्मणोऽस्मि' इति। तन्न शरीरादेः तदुपादानत्वमुपपन्नं यतस्तदभावे तन्न भवेत्। सहकारित्वे तु नायं नियमः सत्यस्वभादौ तदभावेऽपि तस्य दर्शनात्। उपादानत्वेऽपि कथं नियमो बीजाद्यभावेऽपि कदल्यादेः कन्दादौ दर्शनादिति चेत्; न; तादृशस्याऽसम्भवात्। न हि यादृशं कदल्यादिबीजादेरुपादानात् तादृशं कन्दादेरपि, तद्विलक्षणस्यैव तस्य

१–मत्रापि आ०, ब०, प०। २ "सन्निकर्षः"–ता० टि०। ३ "अवेदयतः"–ता० टि०। ४ सत्का–ता०। ५ "उत्पत्तिः, जातिः सामान्यजन्मनोः"–ता० टि०। ६–त्वे तच्चिय आ०, ब०, प०।

तत्त्वेनैवावलोकनात् । अतत्त्वप्रतिपत्त्यपेक्षया तु तदनियमकल्पनमनुपपन्नम् अतिप्रसङ्गात् । सहकारित्वेऽपि किमेवं न नियमः इन्द्रियज्ञानविलक्षणस्यैव सत्यस्वप्नादावपि प्रत्यक्षस्यावेक्षणादिति चेत् ? किमेवं तत्र विलक्षणप्रतीतिर्योगिप्रत्यक्षे न भवति ? भवत्येव, अन्यथा सत्यस्वप्नज्ञानेऽपि तत्प्रमाणापत्तेरिति चेत्; तर्हि "यज्ञातीयैः प्रमाणैः" [मी० श्लो०] इत्यादि दुरवबोध-विजृम्भितं भवेत् । तन्न किञ्चिदेतत् ।

कथं पुनरात्मनस्तदुपादानत्वं तस्याचेतनत्वे चिद्रूपतया परिणामासम्भवात् ? न परिणामादुपादानत्वम् अपि तु समवायिकारणत्वमिति चेत्; किं पुनस्तत्कारणत्वं नाम ? स्वात्मन्यारम्भ इति चेत्; कीदृशस्तस्यात्मा ? नित्यो व्यापीति चेत्; न; तदारब्धस्यापि नित्यसर्वगतत्वप्रसङ्गात्, क्वचित् कदाचिच्च तस्य भावे न तदात्मन्यारम्भः स्यात्, तस्य क्वाचित्कादिरूपाभावात्, अनभ्युपगमात् । अस्त्येव देशतस्तदभ्युपगम इति चेत्; न; वस्तुतो देशवत्त्वे तस्य कार्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वापत्तेः[1] । कल्पनया तद्वत्त्वे तु उपादानत्वमपि कल्पितमेवेति निरुपादानमेव तत्त्वतः प्रत्यक्षादिज्ञानमनुज्ञातं भवेत् । तन्न समवायिकारणत्वेन तस्यैव उपादानत्वमुपपन्नम् । कुतो वा नित्यः पृथिव्यादिरेव तस्य समवायिकारणं न भवेत् यतोऽयमायासः, आत्मकल्पनायाम् अचेतनत्वस्याविशेषात् ? 'न पार्थिवादिपरमाणुसमवेतं ज्ञानम् अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, यत्तत्समवेतं न तत्तथा यथा तद्रूपादि, तथा च ज्ञानम्, तस्मान्न तत्समवेतम्' इत्यनुमानेन प्रतिबन्धादिति चेत्; आत्मसमवेतमपि न भवेत्, तत्सर्वगतत्वादिवदेवास्मदादिप्रत्यक्षत्वाभावापत्तेः । न हि तत्सर्वगतत्वमस्मदादेः प्रत्यक्षम्, अविवादेन "सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्" [　] इत्यादेरनुमानस्य वैफल्योपनिपातात् । साधनाव्यतिरेकी च दृष्टान्तः मानसप्रत्यक्षविषयतया परमाणुरूपादेरप्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, अन्यथा 'यावान् कश्चिद् गुणः स सर्वोऽपि क्वचिदाश्रितः' इति व्याप्त्यपरिज्ञानात् कथमिदमनुमानम्—"बुद्ध्यादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपादिवत्" [　] इति ? अथास्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादिति हेतुः; न; असिद्धत्वात् । न हि तत्प्रत्यक्षत्वं बुद्धेरस्ति शरीरदर्शनेऽपि तद्विकल्पे संशयात् । तन्नानुमानप्रतिबन्धात् ज्ञानस्य तत्परमाणुसमवायः अव्ययप्रतिबन्धः, यत आत्मैव तत्र समवायहेतुरिति कल्प्येत । भवतु चेतन एवात्मा तत्रोपादानं तस्य तथापरिणामोपपत्तेरिति चेत्; तस्यापि कथम् गोलकादिवत् शरीरे सर्वत्रापि दर्शनव्यापारः ? तत्स्वभावस्यान्यथात्वायोगादिति चेत्; सत्यमिदम्; यदि न किञ्चिदपि तस्यावरणं भवेत् । भवति च तदस्तित्वस्यावेदितत्वात्, गोलकादौ तु तद्व्यापारः तत्र कर्मपटलस्य स्वच्छत्वेनाप्रतिरोधकत्वात् । अभिहितं चैतत्[5]—"कथञ्चित्स्वप्रदेशेषु स्यात् कर्मपटलाच्छता" इति । ततो युक्तमक्षानपेक्षं केवलिनः प्रत्यक्षम्, तत्र वैशद्यस्य तल्लक्षणस्य पुष्कलत्वात् । तस्य चावरणविवेकनिबन्धनत्वेन अक्षव्यापारपराधीनत्वाभावात् । एतदेवाह—

१ तस्याभावेन आ०, ब०, प० । २ आत्मनः । ३ –पत्तिः क–आ०, ब०, प० । ४–प-शक्यं प्रतिबन्धकं प–आ०, ब०, प० । ५ न्यायवि० श्लो० २६१ ।

विज्ञानमञ्जसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुद्ध्यते।
न स्वप्नेक्षणिकादेर्वा ज्ञानावृतिविवेकतः ॥२१॥ इति।

विज्ञानं सकलवेदनं विप्रकृष्टे देशकालस्वभावव्यवहिते[1] वस्तुनि अञ्जसा प्रवृत्तं स्पष्टं परिस्फुटं न विरुद्ध्यते। कुत एतत्? ज्ञानावृतेः ज्ञानावरणस्य विवेकतः विश्लेषन इति। तात्पर्यमत्र–सति अवैशद्यसम्भवे[2] तेन विरुद्ध्येत, न चायमस्ति, तन्निमित्तावरणस्य तत्राभावात्, तदभावस्य च निरूपणात्। अत्रैव 'स्वप्न' इत्यादि निदर्शनम्। स्वप्नश्च स्वाप ईक्षणिकाश्च ग्रामडाकिन्यः स्वप्नेक्षणिकास्त आदयो यस्य समाहितचित्तादेस्तस्य वा तस्यैव। वा शब्दस्यैवार्थत्वात्। यथैव हि सत्यस्वप्नादौ विज्ञानं विप्रकृष्टविषयमपि स्पष्टं तदावरणविगमे तद्विरोधिनस्तदस्पष्टत्वस्याभावात्, तथा सकलज्ञविज्ञानमपीति भावः। न च सत्यस्वप्नादिज्ञानं तादृशम-सिद्धमेव; कार्यतो लोकप्रसिद्धत्वात्।

साम्प्रतं प्रतिपादितार्थसङ्ग्रहार्थं श्लोकानाचक्षाणः प्रथममात्मनो ज्ञानात्मकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्व-पर्यनुयोगम् आवरणविवेकवैचित्र्येण परिहरन्नाह—

ततः संसारिणः सर्वे कथञ्चिच्चेतनात्मकाः।
तत्तत्स्वभावतो ज्ञानं सर्वत्र शबलायते ॥२२॥ इति।

संसारिणो भवभवन्धानुबन्धिनो जीवा. कथञ्चित् न सर्वात्मना चेतनात्मकाः स्वपरविषय-परिज्ञानस्वभावाः। कुत एतत्? ततोऽनन्तरोक्ताज्ज्ञानावृतिविवेकात्। 'कथञ्चित्' इत्यत्रापि योज्यम्। कथञ्चित् केनचित् क्षयोपशमविशेषप्रकारेण भवतो न सर्वात्मना, ततः सर्वात्मनैव[3] तदात्मत्वोपपत्तेः। यत एवं तत्तस्मात् ज्ञानं प्रक्रमात् संसारिसम्बन्धि सर्वत्र सर्वस्मिन् स्वरूपे अर्थरूपे च शबलायते स्पष्टास्पष्टतरतमादिविविधप्रतिभासरूपतया चित्रीभवति। तदपि कुतः? तत्स्वभावतः तस्य तद्विवेकस्य स्वभावः शबलज्ञानजननहेतुः शक्तिभेदस्तत इति।

बोधावरणविश्लेषवैचित्र्ये सति जन्मिनाम्।
भवति ज्ञानवैचित्र्यं स्पष्टास्पष्टादिरूपतः ॥१७००॥
मणौ[4] प्रकाशवैचित्र्यं मलविश्लेषभेदतः।
विलोकयन्तो[5] नैवात्र विवदन्ते विपश्चितः ॥१७०१॥
ततो युक्तमशेषज्ञस्वभावस्यापि देहिनः।
कथञ्चिज्ज्ञत्वमप्युक्तमुपपत्तिसमन्वयात् ॥१७०२॥

भवतु[6] नामैवमिदम्, परं तत्र वक्तव्यम्–यत्तदावरणं तदपि चेतनमेव "कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्।" [अभिध० को० ४।१] इति वचनात्। ततो न तत्र मदिरादि-

---

१–हितव–आ०, ब०, प०। २ तत्केन आ०, ब०, प०। ३–रमन्येत्र त–आ०, ब०, प०। ४ प्राणिप्रका–आ०, ब०, प०। ५–यन्तु नै–आ०, ब०, प०। ६ बौद्धः प्राह।

सादृश्योपकल्पनमुपपन्नमिति कश्चित्[1]; सोऽप्यनिश्चितवस्तुवादी; तथा सति निर्विवादापत्तेः। तथा हि–यदि चेतनं कर्म तर्हि तस्याभ्युदयप्रत्यवायनिबन्धनतया स्वत एवाधिगमात् न कस्यचिदपि तत्र विवादः स्यात्। अस्ति च, अनुष्ठानरूपं तदिति कस्यचित्[2], [3]प्राकृतमित्यन्यस्य[4], आत्मगुणविशेष इत्यपरस्य[5], बहुलं तद्दर्शनात्। अधिगतेऽपि तस्मिन्ननन्तरफलादर्शनाशक्त्यारोपतो विवादः सम्भवतीति चेत्; उच्यते—

अतस्मिन् तद्ग्रहत्वं चेदारोपो नाधिगच्छति।
[6]आत्मनस्तस्य बोधत्वमस्वसंवेदिनः कथम् ॥१७०३॥
अधिगच्छति चेत्तस्माद्विवादोपजनिः कथम्।
अविवादानुकूलं यत्तथा तस्यात्मवेदनम् ॥१७०४॥
आरोपान्तरतस्तस्याधिगतस्याप्यनिश्चयात्।
विवादोत्पत्तिहेतुत्वं यदि तत्रोपकल्प्यते ॥१७०५॥
तदारोपान्तरेऽप्येवं प्रसङ्गस्यानिवर्तनम्।
अनवस्थाभयाद्[7]वाहि कथं शक्यनिराक्रियम् ॥१७०६॥
तस्मादचेतनं कर्म तत्त्वज्ञैरनुमन्यताम्।
तत्रानुष्ठानरूपत्वं यत्परैः परिकल्पितम् ॥१७०७॥
तदयुक्तमनुष्ठानादत्रैवोपक्षयं गतात्।
परलोके फलोत्पत्तेर्वार्तयाऽप्यव्यवस्थितेः ॥१७०८॥
नापि तत्प्राकृतं तस्य तत्प्रकृत्यैव सङ्गतेः।
तस्याश्चाचेतनत्वेन तत्फलानुभवात्ययात् ॥१७०९॥
चिच्छायासङ्क्रमात् साऽपि चेतनैवेति चेत्सदा (चेदसत्)।
विस्तरेण पुरा तत्र तत्सङ्क्रान्तेर्निषेधनात् ॥१७१०॥
प्रकृतौ कर्मभोगस्तन्नास्ति तस्य कथं पुनः।
पुंसि कल्पनया भावो यस्य भोक्तेति कथ्यताम् ॥१७११॥
तत्त्वतो न हि पुंसोऽस्ति तद्भोगोऽनभ्युपगमात्।
नेदानीमुपचाराच्चेत्यभोक्तैव स सर्वथा ॥१७१२॥
न च भोगमकुर्वाणे कर्मातीवप्रसञ्जनात्[8]।
तन्न साङ्ख्योदितं कर्म युक्तियुक्तमुदीक्ष्यते ॥१७१३॥

१ कश्चिद्विपश्चिन्मान्यसेप्यति–आ०, ब०, प०। २ "मीमांसकस्य"–ता० टि०।
३ "प्रकृतेः प्रधानस्य विकारः प्राकृतम्"–ता० टि०। ४ "सांख्यस्य"–ता० टि०। ५ "वैशेषिकस्य"–
ता० टि०। द्रष्टव्यम्–न्यायकुमु० टि० पृ० ३। ६ "स्वस्य"–ता० टि०। ७–स्थापयानाहि आ०,
ब०, प०। ८ "अतिप्रसङ्गादित्यर्थः"–ता० टि०।

नापि वैशेषिकाभीष्टं तस्याचेतनधर्मणः ।
चेतनात्मगुणत्वस्य निषेधादव्यवस्थितेः ॥१७१४॥
आत्मनश्चेतनत्वञ्च यथास्थानं निवेदितम् ।
निवेदयिष्यते चातस्त्यज्यतां तत्र विभ्रमः ॥१७१५॥

ततः स्याद्वादिपरिकल्पितमेव पौद्गलिकं कर्मोपपन्नं तस्यैव चेतनात्मविभ्रमनिबन्धनतया मदिरादिनिदर्शनबलेन प्रतिपत्तेः । कथं पुनश्चेतन आत्मा तादृशमनर्थमूलं कर्मारभेत तत्परित्यागस्यैव तत्रोपपत्तेः, न च तस्य परप्रभुपारवश्यम्, अनभ्युपगमात् ; इत्यप्यचोद्यम् ; मिथ्याज्ञानबलेन तस्यापि तदुपपत्तेः । तथाहि– विवादापन्नं कर्म मिथ्याज्ञानोपनिबद्धम्, आत्मनि तद्विभ्रमहेतुत्वात्, तदुपयुक्तविषादिवत् । न चाश्रयासिद्धत्वं साधनस्य; कर्मसद्भावस्य निवेदितत्वात् । तन्निबन्धनतया विभ्रमस्यापि निरूपितत्वान्न स्वरूपासिद्धत्वमपि । यथाऽवस्थितस्वपरज्ञानस्वभावस्यात्मनो मिथ्याज्ञानमेव कथं यतस्तदुपनिबद्धमात्मनि कर्म भवेदिति चेत् ? न; तस्यापि तत्पूर्वोपार्जितकर्मबलादुत्पत्तेः[1], तस्यापि तत्प्राक्कालभावि मिथ्याज्ञानात्, एवमनादित्वात् मिथ्याज्ञानतदुपनिबद्धकर्मप्रबन्धस्येत्युपपन्नं चेतनस्याप्यात्मनः कर्मोपकल्पनम् । कथं पुनरमूर्त्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्ममलेनाभिसम्बन्धो मूर्त्तस्यैव मण्यादेर्मूर्त्तमलसम्बन्धस्योपलम्भादिति चेत् ? न, आकाशस्यामूर्त्तस्यापि मूर्त्तेन जलधरपटलादिनाऽभिसम्बन्धप्रतिपत्तेः । न च मण्यादावपि मूर्त्तिरेव मलसम्बन्धनिबन्धनम्, तन्मात्रे तत्प्रसङ्गात् । न चैवम्, उपकल्पितविशुद्धिविशेषे तदभावात् । अपि तु तद्गतः कश्चित् स्निग्धत्वादिरूपः परिणतिविशेष[2] एव, तस्य चात्मन्यपि मिथ्याज्ञानादिस्वभावस्य भावात्, उपपन्न एव कर्ममलाभिसम्बन्धः । न चैकान्तेनामूर्त्त एव संसारी जीवः तस्यानादिमूर्त्तकर्मसम्बन्धात् तत्प्रदेशानुप्रवेशरूपात् कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्यापि भावात् । तदेवाह—

अभिन्नो भिन्नजातीयैर्जीवः स्याच्चेतनः स्वयम् । इति ।

जीवः प्राणभृदात्मा प्रक्रमवशात्तस्यैव जीवपदेनाभिधानात् । **भिन्नजातीयैः** पुद्गलपरिणामरूपतया स्वतो विलक्षणैः कर्ममलैः **अभिन्नो**ऽविष्वग्भूतः **स्यात्** भवेत् । **स्यात्** कथञ्चिद्वा[3] बन्धप्रकारेण । यद्येवं मूर्त्तो जीवस्तर्हि तन्मलबन्धवदचेतन एव स्यादिति चेत्; न; तस्य **स्वयं** स्वलक्षणतश्चेतनत्वात्, अन्यथा संसारानुपपत्तेः । दुःखानुभवप्रबन्धो हि संसारः, स कथमचेतनस्य स्याद् घटादिवत् ? स्यादेव चिच्छायासङ्क्रमादिति चेत् ; न; तस्य निराकरणात् । अत एव न चेतनासमवायादपि । अपि च,

चेतनासमवायेन[4] संसारी व्योम किन्न वः ।
तत्रापि समवायस्य भावान्नित्यविभुत्वतः ॥१७१६॥
समवायस्य भावेऽपि चेतना तत्र नास्ति चेत् ।
जीवे कुतः ? स्वहेतोश्चेत् समवायो वृथा भवेत् ॥१७१७॥

१–दुपपत्तेः ता० । २–षणवत्त—आ० ब०, प० । ३–द्वा प्रबन्ध—आ०, द, प० । ४– ये च सं–आ० ब०, प० ।

विनाऽपि तस्मादत्रेदमिति हेतोर्व्यवस्थिते (तौ) ।
न च तस्याः परं किञ्चित् समवायप्रयोजनम् ॥१७१८॥
तस्मादिहेदम्भावस्य समवायनिमित्तताम् ।
ब्रुवता व्योम्नि चैतन्यं जीववत् परिकल्प्यताम् ॥१७१९॥
अदृष्टाभावतस्तत्र संसारो नास्ति चेदसत् ।
चेतनावददृष्टस्य समवायादवस्थिते ॥१७२०॥
सत्यप्येवं स्वतस्तस्याचेतनत्वादसंसृतौ ।
स्वतश्चैतन्यमायातं जीवे संसारिणि स्फुटम् ॥१७२१॥

स तर्हि कस्मात् सर्वतो न प्रकाशते सर्वविषयतयेति चेत् ? अत्राह—

मलैरिव मणिर्विद्धः कर्मभिर्न प्रकाशते ॥२३॥ इति ।

यथा समन्ततः प्रकाशात्माऽपि जात्यो मणिः मलै रजः-कर्दमादिभिः विद्धो न प्रकाशते तथा जीवोऽपि कर्मभिरावरणापरनामधेयैर्विद्धः परस्परप्रदेशानुगमप्रबन्धेन बद्धो न प्रकाशते । यदा तु तदावरणमलानां तदुपादानकारणप्रत्यनीकात् उपायाभियोगात् निःशेषवृत्त्या जीवतो विश्लेषस्तदा प्रकाशत एवासौ समन्ततः सर्वार्थसाक्षात्करणरूपतया च । तदुक्तम्[2]—

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि ।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धरि ॥" [योगबि० श्लो० ४३१]

तदेवाह—

सर्वार्थग्रहसामर्थ्यचैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान्न पश्यति ॥ २४ ॥ इति ।

जीवः सर्वानर्थान् कस्मान्न पश्यति पश्यत्येव । कदा ? विगमे निःशेषविश्लेषे । केषाम् ? कर्मणाम् आवरणमलानाम् । कीदृशानाम् ? सर्वो निरवशेषो योऽर्थो देशादिविप्रकृष्टस्तस्य ग्रहः परिज्ञानं तत्र समर्थमेव सामर्थ्यं तच्च तच्चैतन्यं च तत्प्रतिबध्नन्तीत्येवंशीलानामिति । कः पुनरयं तैस्तस्य प्रतिबन्धो नाम ? पटवत् विषयप्रच्छादनमिति चेत्; ततः कथमग्रहणं विषयस्य ? तदापि विप्रकृष्टग्रहणस्य तत्स्वभावस्यापरिम्लानात् तेषाञ्[3] दर्शनप्रसङ्गः पटवत् । असामर्थ्यान्नेति चेत् ; न; वेदनसमर्थप्रतिज्ञाव्यापत्तेः । आवरणान्तरैः प्रतिबन्धान्नेति चेत्; न; तत्राप्येवं प्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च । तन्न तत्प्रच्छादनं प्रतिबन्धः । शक्तिप्रध्वंस इति चेत् ; उच्यते—

एकैव ज्ञानशक्तिश्चेत् सा च तैर्ध्वंस्यते यदि ।
जीव एव भवेद् ध्वस्तस्तदा गत्यन्तरच्युतेः ॥१७२२॥

---

१ आकाशस्य । २ उद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० ५० । जयध० पृ० ६६ । ध० आ० प० ५५३ ।
३ कर्मणाम् ।

कर्मावरणविश्लेषस्तस्य ध्वस्तासतः[1] कथम् ।
येन सर्वार्थदर्शित्वं ततस्तस्योपवर्ण्यते ॥ १७२३ ॥
अनेका तस्य[2] शक्तिश्चेदेकशः[3] सर्ववेदिनि ।
तस्याः साकल्यविध्वंसे जीवध्वंसः पुनर्भवेत् ॥ १७२४ ॥
असाकल्येन विध्वंसे शक्त्याऽवस्थितया कथम् ।
सर्वार्थदर्शनं तस्य न स्यात् संसारवर्तिनः ॥ १७२५ ॥
प्रत्यर्थनियता शक्तिरनेका तस्य चेत्तया ।
अज्ञातया कथं तस्य सर्वार्थग्रहसम्भवः ॥ १७२६ ॥
ज्ञातत्वमपि तस्या न शक्त्या युक्तमनेकया
अनवस्थार्भयावेशस्यातिदूरोपसर्पणात् ॥ १७२७ ॥
एकया तत्परिज्ञाने शक्तिभेदे वृथा भवेत् ।
बाह्यस्याप्येकयैवार्थजातस्य प्रतिवेदनात् ॥ १७२८ ॥
अत्र चोक्तमिदं जीवध्वंसेन सोपपत्तिकम् ।
इति ये चोदयन्त्यत्र तेऽपि न न्यायवेदिनः ॥ १७२९ ॥
तच्छक्तेर्बहुरूपायाः स्वत एव प्रवेदनात् ।
अनवस्थाभयोत्पत्तिप्रसङ्गाभावनिश्चितेः ॥ १७३० ॥
ताभिरेव हि ताः शक्तीर्जीवो वेत्ति तदात्मकः ।
बाह्यानपि पदार्थौघानिति हि प्राङ्निवेदितम् ॥ १७३१ ॥
तासां [6]चाऽसकलध्वंसे जीवध्वंसः कथं भवेत्
अध्वस्तशक्त्यवस्थस्य तस्याध्वंसोपपत्तितः ॥ १७३२ ॥
कथञ्चिज्जीवविध्वंसकल्पनं तु न दूषणम् ।
स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मनिस्वतत्त्वप्रवादिनाम् ॥ १७३३ ॥

ततो युक्तं जीवस्य ग्रहणशक्तिविध्वंसकरणमेव कर्मणा तत्प्रतिबन्धत्वमिति । न चैवं नेषा दर्शनप्रसङ्गः विषयवत्, तत्रापि तैरेव तच्छक्तेः प्रतिबन्धनात् । भवत्वेवं तथाऽपि यथा परिगलित-निखिलजलधरपटलपरिवेष्टनस्यापि भानुमतः पुनः कुतश्चित् तदुपश्लेषसम्भवः तथा निरवशेषनिर्धूत-बोधावरणमलस्यापि केवलिनः पुनः कुतश्चित्तदभिसम्बन्धसम्भवात् अनर्थोपनिबन्धः किन्न भवतीति चेत् ? अत्राह—

प्रभुः साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चभुवनत्रयः ।
अनर्थैः परमात्मानमत एव न योजयेत् ॥ २५ ॥ इति ।

---

१ ध्वस्तत्वेन असतः अविद्यमानस्य जीवस्य । २ अनेकान्तस्य आ०, ब०, प० । ३-कशः स-आ०, ब०, प० । ४-भयावेश-आ०, ब०, प० । ५ ध्वस्ताध्वंसोपपत्तित- आ०, ब०, प० । ६-च सकल-आ०, ब०, प० ।

यतोऽयं परमात्मा सकलावरणमलापगमे सति साक्षात्कृत... अत एव अस्मादेव हेतोः **परमात्मानं च अनर्थैः** संसारदुःखैः तत्कारणैश्च **न योजयेत्**। निरवशेषतत्त्वविषयविशुद्धज्ञानात्मनस्तत्र तद्वियोजनस्यैवोचितत्वात्। मा... तद्योजनं परत्र भवत्येव क्रीडासुखार्थत्वादिति चेत्; न; क्रीडाया रागिधर्मत्वेन ... नैसर्गिक-निरतिशयानन्दरूपतया तस्य तत्सुखनिरपेक्षत्वाच्च। तन्न तत्सुखार्थत्वेन तत्र ...जनम्। कर्मप्रेरितत्वेनेति चेत्; न स्वकर्म तस्य तत्र प्रेरकम्; तस्यानुग्रहपरस्यैव भावात्। ... चेत्; न; तेनापि तस्याप्रेरणात्, प्रभुत्वव्यापत्तेः[1]। कर्मण एव ततोऽपि प्रभुत्वमधिकमिति चेत्; किमिदानीं तस्य तत्प्रेरणया अनर्थयोजनस्य तत एव सम्भवात्? चेतनाधिष्ठितादेव [2]ततस्तत्सम्भवो केवलादिति चेत्; कथमिदानीं ततस्तत्प्रेरणम्? तदपि[3] तदधिष्ठितादेवेति चेत्; न; परस्पराश्रयात्—

चेतनाधिष्ठितं कर्म प्रेरकं चेतनस्य तत्।
चेतनस्तदधिष्ठाता भवेत् तत्प्रेरणादिति ॥ १७३४ ॥
कर्मान्तरप्रणुन्नस्य तस्याधिष्ठानतो यदि।
कर्मान्तरेऽपि चिन्तेयमनवस्थाकरी भवेत् ॥ १७३५ ॥

तन्न कर्मणा तस्य प्रेरणम्। नाप्यपरेण प्रभुणा; तस्यैव तदधिकस्याभावात्। भावे तेन मुक्तात्मनामप्यनर्थकरणे किन्न प्रेरणम्? "प्रभुर्यदेवेच्छति तत्करोति" [ ] इति न्यायात्। एवञ्च,

पुनरावृत्तिसद्भावे मुक्तानामपि तद्बलात्।
मुक्तिकामितया न स्यादनुष्ठानं मनीषिणाम् ॥ १७३६ ॥

न तेषामसौ प्रेरको निमित्ताभावादिति चेत्; स्वस्ति तर्हि तत्प्रामभवाय[4]। निमित्तपारवश्ये तदनुपपत्तेः। ततः सूक्तम्–प्रभुः इत्यादि।

कुतः पुनः प्रभोर्निरवशेषप्रपञ्चभुवनत्रयसाक्षात्करणमिति चेत्? अत्राह—

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत् [न च तेन विनाऽऽगमः] ॥ २६ ॥ इति।

एवम् अनन्तरमुपवर्णितप्रकारं भगवतो **यत्केवलज्ञानमनुमानेन** पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च **विजृम्भितं** निष्प्रत्यनीकं प्रवृत्तं **तदागमात्** आगममूलात् सम्यग्दर्शनाद्यभ्यासात् **ऋते** विना न **सिद्ध्येत्** न निष्पद्येत, तत एव निष्पद्यत इत्यर्थः।

तदनेन माहेश्वरं तज्ज्ञानमनागमाभियोगपूर्वकमिति[5] प्रत्युक्तम्; तथा हि–तदपि तत्पूर्वकं पुरुषातिशयत्वात् शास्त्रज्ञानपुरुषादितदतिशयवत्। तदविशेषेऽपि[6] तत्प्रकर्षादिरेव [7]तत्पूर्वको न तज्ज्ञानमिति[8]

१ प्रागुक्तव्याप–आ०, ब०, प०। २ कर्मणः। ३–पि इत्येतद्–आ०, ब०, प०। ४ तदभावाय आ०, ब० प०। ५ नित्यशुद्धज्ञानवत्त्वान्महेश्वरस्य। ६ पुरुषातिशयत्वाविशेषेऽपि। ७ आगमाभ्यासपूर्वकः। ८ माहेश्वरं ज्ञानम्।

चेत्; कार्यत्वाद्यविशेषेऽपि घटादिकमेव बुद्धिमद्धेतुक न तनुकरणादिकमित्यपि विभागस्तथा भवेदिति कथमीश्वरसिद्धिर्यत तज्ज्ञानमतत्पूर्वमुच्येत ? तन्न किञ्चिदेतत् । नन्वेवमागमस्य तत्पूर्वकत्वं न भवेत्, ततोऽपि पूर्वं तस्याभावादिति चेत्; अत्राह–'न च तेन विनागमः' इति । तेन केवलज्ञानेन विना आगमः तदर्थानुष्ठानहेतु. न च नैव सिद्ध्येत् । तस्यापौरुषेयस्य निषेधात् । न चैवमन्योन्यसंश्रय, हेतुहेतुमद्भावेन परमागमकेवलज्ञानसन्तानस्य बीजाङ्कुरवदनादित्वात् । एतदेव दर्शयन्नाह—

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥२७॥ इति ।

सत्यम् अवितथम् । किं तत् ? पुरुषातिशयः पुरुषस्यातीन्द्रियार्थदर्शनादिरूप प्रवचनहेतुरतिशय प्रकर्षो मतोऽभ्यनुज्ञात । इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य । तदभ्यनुज्ञान च अर्थस्य आगमप्रामाण्यलक्षणस्य अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणात् बलादेव, न हि तत्पुरुषातिशयमन्तरेणोपपन्नमिति [1]निरूपितम् । एवञ्च अस्य प्रवचनस्य प्रभवः क्वचित् कदाचिच्चोच्छेदवत पुनरुन्मज्जन पौरुषेयः पुरुषकृत प्रबन्धस्तु सन्तानापरनामा अनादिरिष्यते । तथा तदिष्टौ कस्यचिद् बाधकस्याभावात् । न केवल तद्बलादेव तदभ्यनुज्ञानम्, अपि तु अनुमानादपि । तच्चेदम्[2]–यो यत्रानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादि वचनोपक्रम स तत्साक्षात्कारी यथा सुरभिचन्दनगन्धादौ अस्मदादि, तथाविधवचनोपक्रमश्च कश्चित् ग्रहनक्षत्रादिगतिविकल्पे मन्त्रतन्त्रादिशक्तिविशेषे च तदागमप्रणेता पुरुष इति । तदागमस्यापौरुषेयत्वेन प्रणेतुरभावादाश्रयासिद्धः तदभिधेयविषयस्तथाविधवचनोपक्रम इति चेत्, न 'वेदस्य' इत्यादिना तत्रोत्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात् । एवमप्यसिद्ध तद्विशेषणमनुपदेशत्वम्, उपदेशात् कस्यचित् तदुपक्रमसम्भवादिति चेत्, न, उपदेष्टुस्तदर्थदर्शनाद्यतिशयसम्भवे तस्यैव निखिलविषयविज्ञानाधिष्ठानत्वेनास्मदिष्टप्रतिष्ठानात् तस्याप्युपदेशबलादेव उपदेष्टृत्वपरिकल्पनायामनादि उपदेशप्रबन्ध परिकल्पितो भवति । तत्र च 'अनादिसम्प्रदायश्चेत्' इत्यादिना दोष वक्ष्याम । तन्नानुपदेशत्वमसिद्धम् । नाप्यलिङ्गत्वम्, न हि लिङ्गबलात् तस्य तद्विकल्पाद्युपदेश, लिङ्गस्यैव तत्र कस्यचिदसम्भवात् । सम्भवेऽपि तस्य प्राकृतपुरुषविषयत्वे सर्वस्यापि ततस्तत्प्रतिपत्तिसम्भवात् दैवज्ञत्वमविशिष्ट भवेत् । विशिष्टप्रतिपत्तृगोचरत्वे तु सिद्ध तत्प्रतिपत्तुरतीन्द्रियार्थसाक्षात्करणं तदपरस्य तद्वैशिष्ट्यस्यायोगादिति नासिद्धमलिङ्गत्वम्[3] । नापि अनन्वयव्यतिरेकित्वम्, न हि अन्वयव्यतिरेकाभ्या ग्रहचारादे सम्भवति प्रतीति, तस्य चूतमञ्जर्यादिमंधुमासादिवत् देशकालादिनियमाभावात् । नापि तस्याविसंवादित्वम्[4], सति तद्वाच्यसम्बन्धपरिज्ञाने तत्र संवादस्यैव प्रतीते । कदाचित् विसंवादप्रतीतिस्तु प्रतिपत्तुरेव यथावत्तत्सम्बन्धपरिज्ञानसामर्थ्यवैकल्यलक्षणादपराधात्, न तद्वचनोपक्रमस्य । ततो युक्त तदन्यथाऽनुपपत्त्या क्वचित् तद्विषयसाक्षात्करणसाधनम् । एवमपि ग्रहगत्यादिविषयमेव ततस्तत्सिद्ध्येत् नाशेषविषयमिति चेत्, न, तद्विषयस्यैव तस्याशेषविषयतोपपत्ते. । ग्रहगत्यादयो हि देशकालजातीयविकल्पेन प्राणिनां श्रेय प्रत्यवायोपनिपातपिशुनतया प्रतीयमाना नि शेषानपि देशकालविशेषान् तन्निवासिन· त्रसस्थावराद्यनेकविकल्पान्

---

१ निरूपमेवञ्च ता०, आ०, ब० । २ "सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः । परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षावितथत्वत. ॥" –त० श्लो० पृ० ११ । ३ –त्वाञ्चापि आ०, ब०, प० । ४ 'असिद्धम्' इति सम्बन्धः ।

प्राणिनस्तदधिकरणान् अदृष्टविशेषानपि तद्धेतुफलविकल्पेन प्रत्याययन्ति, अन्यथ नतया[1] तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्ते. तत्कथमशेषविषयमेव ततस्तन्न साधितं भवेत् ? ॥५॥

ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः ।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत् ॥ २८ ॥ इ

ग्रह आदित्यादिरादिर्येषां तारकादीनां तेषां गतयश्चारविशेषा. । उपलक्षण लतागुल्माद्योषधिगता रसवीर्यादयो मन्त्रध्यानादिगता वशीकरणशक्त्यादयोऽपि निरवशेषाः येन प्रतिपादितवचनोपक्रमवता साक्षात्कृतास्तेन पुरुषेण किन्न सा० इत्यर्थः ? सुखदुःखादिहेतव इत्यनेनैवोपपत्ति, यत. तद्गतयो रसवीर्यविपाकादयश्च प्रीतिपरितापलाभालाभजीवितमरणादेर्ज्ञापकतयोत्पादकतया चोपजाताः तत. तत्सा स्कारिणा तदपि साक्षात्कृतमेव, अन्यथा तत्साक्षात्करणानुपपत्तेरिति मन्यते । तत ि तद्गत्यादिसाक्षात्कारिज्ञानोपनिबन्धन एव तस्य प्रतिपादितो वचनोपक्रम इति ।

साम्प्रतं परस्य निर्बन्धात् लिङ्गबलोपनिबन्धनत्वे सत्यपि तस्य सूक्ष्मा...दिपद न साक्षात्करणमवश्यम्भावीति दर्शयन्नाह–

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः[2] ॥ २९ ॥ इति ।

सूक्ष्माः परचेतोवृत्तिविशेषमन्त्रौषधिशक्त्यादय अन्तरिता देशकालव्यवहिता जीवितमरणलाभालाभादयो दूरा. मन्दरमकराकरादयस्त एव अर्थाः ते कस्यचित् तद्विषयानुमायत[3] पुरुषस्य प्रत्यक्षा विशदज्ञानविषया इति साध्यन्ते अनुमेयत्वात् अनुमानज्ञानगोचरत्वात् । यदि ते प्रत्यक्षाः किमनुमानेन प्रत्यक्षाविषय एव तदुत्पत्ते., "प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यम्" [युक्त्यनुशा० श्लो० २२] इति भवतामप्यभ्युपगमादिति चेत्; यदि न प्रत्यक्षा., तथाऽपि कथमनुमानम् । कथं च न स्यात् ? व्याप्त्यपरिज्ञानात् । न हि प्रत्यक्षादन्यत् साध्यसाधनव्याप्तिप्रतिपत्तौ [4]तस्य प्रमाणम् । अनुमानतस्तदवगतौ, तत एव; परस्पराश्रयात् । अन्यतश्चानवस्थानात् । अर्थापत्तेश्चानुमानविशेषत्वात् । उपमानस्य च प्रत्यक्षविषय एव सादृश्योपाधिकतया प्रवृत्ते. । आगमात् तत्प्रतिपत्तौ व्यर्थमनुमानं साध्यस्यैव ततः परिज्ञानात् । ततः प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणम् । तेन च व्याप्तिमवद्योतयता सूक्ष्मादयोऽप्यवद्योतयितव्या एव, अन्यथा तल्लिङ्गव्याप्तेस्ततोऽवद्योतनानुपपत्ते । "प्रत्यक्षबुद्धि" इत्यादिकं तु प्रमाणान्तरात् व्याप्तिप्रतिपत्त्यभिप्रायेणाभिहितं ततो न दोषस्तद्वचनस्य ।

यच्चोक्तम्–यदि ते प्रत्यक्षाः किमनुमानेनेति; तदपि मीमांसकस्यैव चोद्यं य प्रत्यक्षविषयेऽपि अनुमानमनिच्छति नास्माकम्, अस्माभिस्तु केवलं तत्प्रसञ्जितेनानुमानं तेषां प्रत्यक्षविषयत्वं प्रत्याय्यते । अत एवेदं प्रसङ्गसाधनमामनन्ति मनीषिण[5] । भवेदिदं प्रसङ्गसाधनं यदि प्रत्यक्षविषय एवानुमानम् । न चैवम्, इन्द्रियशक्त्यादिवत् सूक्ष्मादेरप्यतद्विषयस्यैव कुतश्चित् कार्यव्यतिरेकात् अनुमानोपपत्तेरिति चेत्; न; तच्छक्त्यादेरपि अनिश्चितप्रतिबन्धात् अनुमानानुपपत्तेरतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धनिश्चये प्रत्यक्षत. कथमतीन्द्रियत्वं तच्छक्त्यादेरिति चेत् ? अयमपि भवत एव पर्यनुयोगो यस्य प्रत्यक्षात् तन्निश्चयो

१ तत्सूचकतया । २ तुलना– आप्तमी० श्लो० ५ । ३ –नुमानवतः आ०, ब०, प० । ४ तस्य आ०, ब०, प० । ५ तत एवानुमानात् स्वोपव्याप्तिप्रतिपत्तौ । ६ –नमनुमानमिति मनी– आ०, ब०, प० ।

न स्याद्वादिन, तेनाप्रत्यक्षादेवोहविकल्पतस्तदुपगमात्[1]। भवतु सूक्ष्मादावपि तत एव तन्निश्चय इति चेत्, न, [2]तत्प्रामाण्ये षट्प्रमाणनियमविनिपातात्। को वा तद्विकल्पोपगमे भवतो लाभ ? सूक्ष्मादिप्रत्यक्षत्वाभाव एवानुमातुरिति चेत्; न; [3]तद्विकल्पस्यैव देशकालानवच्छिन्नव्याप्तिप्रतिवेदिनो वैशद्यकोटिप्राप्तौ सूक्ष्मादिप्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। भवति हि तस्य तत्प्राप्ति, आवरणापाये तन्निमित्तस्यावैशद्यस्य व्यपगमात्। प्रतिपादित च तस्य[4] तन्निमित्तत्व क्वचिन्निरवशेषनिवृत्तिश्च। तन्न तदुपगमेऽपि तत्प्रत्यक्षप्रसङ्गभयात् निर्मुक्तेन्द्रियशक्त्यादेरपि स्पष्टभावाधिष्ठानतद्विकल्पशेमुषीविषयभावमुपासेदुषः प्रत्यक्षत्वाभ्यनुज्ञानस्यादूषणात्। ततः प्रसिद्धप्रत्यक्षापेक्षयैव कस्यचित् सूक्ष्मादयोऽर्था प्रत्यक्षाः पावकादय इवेत्युपपन्नम्, अन्यथा तल्लिङ्गप्रतिबन्धनिर्णयानुपपत्त्या तदनुमानाभावप्रसङ्गात्। का पुनरेव भवतस्तत्प्रत्यक्षसाधनप्रयासेन समीहितसिद्धिरिति चेत् ? निरवशेषतत्त्वदर्शिनः पुरुषस्य निर्बाधत्वेनावस्थितिरेव। अत एवोक्तम् 'इति सर्वज्ञसंस्थितिः' इति।

भवत्येव तत्प्रसङ्गसाधनं यदि ब्रह्मगत्यादिकमनुमानतः प्रतिपद्य कश्चिदुपदिशेत्, न चैवम्, तच्छास्त्रस्य [6]वेदाङ्गत्वेनापौरुषेयस्योपदेष्टुरेवाभावात्। एतदेवाह—

वेदस्यापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः।
आयुर्वेदादि यद्यङ्गं [यत्नस्तत्र निरर्थकः] ॥३०॥ इति।

[7]**वैद्यकमायुर्वेदः** आदिशब्दात् ज्योतिःशास्त्रादि **यदि** चेत् **अङ्ग**मवयवः। कस्य ? **वेदस्य**। कीदृशस्य **अपौरुषेयस्य** अपुरुषकृतस्य। पुनरपि तद्विशेषण **स्वतः** पुरुषनिरपेक्षतया **तत्त्वम्** आत्मानं स्वगतद्धेतुसम्बन्धाश्च[8] **विवृण्वतो** व्यञ्जयत इति। अत्रोत्तरमाह—**यत्नस्तत्र निरर्थकः** इति। **तत्र** तस्मिन्नायुर्वेदादौ **यत्न**स्ताल्वादिव्यापारलक्षण तदर्थव्याख्यानरूपश्च प्रयासो **निरर्थको** निष्फल। तथा हि—

न तावत् कण्ठताल्वादिव्यापारस्तत्स्वरूपकृत्।
नित्यस्याकरणात्तस्य नापि तद्व्यक्तिकारणम् ॥१७३७॥
व्यक्तिस्तस्मादभिन्ना चेत् नित्यैवेति न तत्कृति।
भिन्ना चेद्वेदतो व्यक्तिस्तस्येति कथमुच्यताम् ॥१७३८॥
तयापि तस्य चेत् व्यक्तिस्तत्राप्येव प्रसञ्जनात्।
अनवस्थाभयावेशान्निर्मुच्येत कथ भवान् ॥१७३९॥

अथ मतमुपलब्धिरेव व्यक्तिः, "उपलब्धिनिमित्तत्वं नान्यद् व्यञ्जकमुच्यते।" [ ] इति वचनात्। सा च विषयविषयिभावात् सम्बन्धादेव वेदस्येत्युच्यते नाभेदात् नापि तदन्तरकरणादिति; तन्न, उपलब्धेः प्रयत्नकार्यत्वेनानित्यत्वे तद्विषयभावस्यापि तदपेक्षत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात्। अनित्य एव स इति चेत्, वेदः कथं नित्य ? तस्य तस्माद् व्यतिरेकादिति चेत्, स एव वेदस्येति कथम् ? व्यतिरिक्तादेव कुतश्चित् सम्बन्धादिति चेत्, न; तत्रापि पूर्ववत्प्रसङ्गात् अनवस्थापत्तेश्च। तन्नोपलब्धेर्व्यक्तित्वम्, आविर्भावस्यैव तदनर्था-

१ व्याप्तिनिश्चयस्वीकारात्। २ ऊहस्य प्रामाण्ये। ३ ऊहविकल्पस्यैव। ४ आवरणस्य अवैशद्यनिमित्तत्वम्। ५ -दिक्रममनु- आ०, ब०, प०। ६ "शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा। छन्दसां विचितिश्चेति षडङ्गो वेद उच्यते ॥"– ता० टि०। ७ वैद्यकमायुर्वे- आ०, ब०, प०। ८ -स्वन्धं च आ०, ब०, प०।

न्तरस्य तदुत्पत्ते, तस्य च वेदवत् स्वत.सिद्धेरुपपन्नमेतत् 'यत्नस्तत्र निरर्थकः' चैवम्। अत इदमुच्यते–पौरुषेय आयुर्वेदादिः प्रयत्नसाफल्यादिति। व्यभिचारी पुरुषापेक्षया भारतादेरपौरुषेयत्वेऽपि तत्साफल्यादिति चेत्; न; तदपेक्षया पौरुषेयत्वात्। कथं तर्हि 'स तेन वाच्यते' इति व्यवहार ? 'क्रियते' इत्येव चेत्, नः प्रागपि तादृशस्य प्रबन्धस्य भावात्, तदेकत्वाध्यारोपेण 'त एवामी शालयो भुज्यन्ते ये परुद् भुक्ता.' इति व्यवहारवत्। 'तदव्यवहार, तत पूर्वं तादृशस्याभावात्। भवत्वेवमायुर्वेदादेरपि गुर्वादिभि सदृशतया शिष्यादिभिरपि भाषणादनुभाष्यत्वमेव न पौरुषेयत्वं मूलस्य कस्यचित् भावात्। अत एवोक्तम्—

"वक्ता न हि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते।
यथैवास्य परैरुक्तस्तथैवैनं विवक्ष्यति॥
परोऽप्येवं ततश्चास्य सम्बन्धवदनादिता।
तेनेयं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता॥
यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २८८–९०]

इति चेत्, तदसत्यम्, प्रत्येकमस्वतन्त्रत्वेऽपि पुरुषाणां तत्प्रबन्धस्य तत्र स्वातन्त्र्यात् सत्यव तस्मिन् तद्भावात्। इदमेव हि तस्य तत्र स्वातन्त्र्यं नाम यत्तद्भावाभावनियमानुविधायित्वमायुर्वेदादे, अत. कथमपौरुषेयत्वम् ? सत्यमेतत्, अपौरुषेयत्वं तु कस्यचिदतीन्द्रियदर्शिनस्तत्कर्तुरभावादिति चेत्; कथमिदानीं तत्राप्रामाण्यनिवृत्तिनिर्णयः सति पौरुषत्वे दोषपरिशङ्कनस्यानिवृत्ते. ? "दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु शङ्क्यते" [ ] इति स्वयमेवाभिधानात्। कुतो वा तत्र तादृश. कर्तुरभाव. ? प्रत्यक्षादिति चेत्; न, चिरकालव्यवहितस्य ततो भाववत् अभावस्याप्यप्रतिपत्ते। इदानीं ततस्तदभावप्रतिपादनं तु न दोषाय, अभीष्टत्वात्।

कर्तुरस्मरणाल्लिङ्गादिति चेत्; किमिदमस्मरणम् ? अपरिज्ञानमिति चेत्; न, 'सकलज्ञस्य' इत्यादिना दत्तोत्तरत्वात्। अनभ्युपगम इति चेत्; किं पुनरभ्युपगमेन भावव्याप्तिर्यतस्तदभावे न भवेत् ? तथा चेत्, सर्वस्य सर्वमिष्टं सिद्ध्येत्, अनिष्टस्यानभ्युपगमादेवाभावोपपत्ते। न तन्मात्रादेवाभाव. अपि तु प्रमाणमूलादिति चेत्, किं तर्हि तत् प्रमाणं यदनभ्युपगमस्य मूलं भवेत् ? इदमनुमानमिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–अनभ्युपगमादनुमानम्, अनुमानादनभ्युपगम इति। ततोऽप्यनुमानमन्यदेवेति चेत्; न; तस्यापि भावग्राहिणस्तन्मूलत्वानुपपत्ते। अभावग्राहित्वे तु तत एवाभावसिद्धे व्यर्थमिदमनुमानं भवेत्। किं वा तदन्यत् प्रमाणम् ? 'आयुर्वेदादिप्रबन्धो मूलकर्तृविकल अनादित्वात् मनुष्यप्रबन्धवत्' इत्यनुमानमिति चेत्; तदनादित्वं यदि प्रमाणान्तरात्; तत एव तदकर्तृकत्वसिद्धे. व्यर्थमिदम्। अत एव चेत्; उक्तं परस्पराश्रयत्वम्। तन्नातस्तद्वैकल्यसिद्धि.।

आगमादिति चेत्, न; तेन तत्र प्रजापतिकर्तृकत्वस्य "एवं वा अरे अस्य महतो

१ वाच्यते इति व्यवहाराभावः। २ यत्तदभावा–आ०, ब०, प०। ३ "दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेये तु शङ्क्यते। वेदे कर्तुरभावाच्च दोषाशङ्कैव नास्ति नः॥"– तत्त्वसं० श्लो० २४९५। ४ न्यायवि० श्लो० ३।२०। ५ तद्वैकल्यस्य सिद्धि–आ०, ब०, प०।

भूतस्य निश्वसितमेव तद् (मेतत्) यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" [बृहदा० २।४।१०] इत्यादिना श्रवणात्। [1]तत्र तन्न प्रमाणमिति चेत्, व्याहतमेतत्–तस्यैव प्रामाण्यं साधयितुमुपक्रान्तेन तदेव प्रविरुद्धचत इति।

नोपमानादपि तत्सिद्धि ; तादृशस्य प्रबन्धान्तरस्याभावात्। अस्त्येव मनुष्यप्रबन्ध इति चेत्; न; तस्यापि "मुखतो ब्राह्मणमसृजत्" [ ] इत्यादेरागमात् समूलकर्तृकस्यैवाधिगमात्। एतेनानन्तरप्रयोगे निदर्शनस्य साध्यवैकल्य प्रतिपत्तव्यम्।

अर्थापत्तेस्तत्सिद्धिरिति चेत्; कुतस्तदुत्पत्ति.? प्रामाण्यादिति चेत्, तदपि कस्मात्? न तावत्तद्वैकल्यात्; परस्पराश्रयात्। नापि सवादात्, प्रत्यागमेऽपि ततस्तद्वैकल्यसिद्धिप्राप्ते.। न हि तत्र सवाद एव नास्ति, तद्विषयेऽपि तस्य बहुलमुपलब्धे.। न सर्वत्रेति चेत्, न; प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्। तदनेन "स्वत." [मी० श्लो०] इत्यपि[2] प्रत्याख्यातम्।

कथं वा तस्य प्रामाण्यमचेतनत्वात् कलशादिवत्? सत्यमेतत्, मुख्यतस्तत्त्वज्ञानस्यैव तत्त्वात्, तत्कारणत्वेन तूपचरितमेव शब्दस्य तदुच्यत इति चेत्, न स्वतस्तस्य तत्कारणत्व व्याख्यावैफल्यात्। न वैफल्य तया तत्र विप्रतिपत्ते. निराकरणादिति चेत्; सैव कुत.? [3]समयान्तराभियोगादिति चेत्; अनभियुक्ततदन्तरस्य तर्हि [4]तन्निरपेक्षमेव स तत्कारण सम्भवेत्। न चैवम्, सम्प्रदायबलादेव तत्रापि तस्य तत्त्वदर्शनात्। अत एव "आचार्यवान् पुरुषो वेद" [छान्दो० ६।१४।२] इति श्रुति'। कथ वा तदभियोगाद्विप्रतिपत्ति.? सत्यपि तस्मिन् शब्दस्य तत्करणशक्तेरपरिक्षयात्। परिक्षये स एव परिक्षीण स्यात् अभेदात्। भेदे तु तदपेक्षणात् स्वतस्तस्य तद्धेतुत्वं व्याहन्यते। परिक्षीणाच्च कथ ततस्तत्त्वज्ञानम् असतस्तदनुपपत्ते? न तत एव तत्त्वज्ञानमपि तु पुनरन्यतस्तादृशादिति चेत्; न; तस्याप्यन्यतस्तदभियोगादेव परिक्षयात्, पुनरप्यन्यतस्तत्कल्पनायामनवस्थापत्ते.। अतो न शब्दसामर्थ्ये विप्रतिपत्तिरिति न तन्निराकरणात् तस्या साफल्यम्, अपि तु शब्दस्य शक्तिकरणादेव। कथ पुन. स्वतोऽसती तच्छक्तिरन्यतो भवति? "न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४७] इति न्यायादिति चेत्, मिथ्याज्ञाने शक्ति. कथम्? न हि साऽपि शब्दस्य स्वत एव, 'अप्रामाण्यं परत' [5]इत्यस्य व्याघातात्। अथ तज्ज्ञाने परस्यैव व्यापारो न शब्दस्य, यद्येव परमेवाप्रमाण न शब्द इति सर्वस्यापि तस्य प्रामाण्यमेव भवेत्।

परस्यापि स्वतस्तत्र व्यापारो यदि सम्मत.।
तदप्रामाण्यमायाति स्वत एव तदा न किम् ॥१७४०॥
तत्परस्यैव तत्रापि व्यापारपरिकल्पने।
प्राच्यप्रश्नानतिक्रान्तिरव्यवस्थितिमावहेत् ॥१७४१॥
परतो न क्वचित्तस्मादप्रामाण्यव्यवस्थिति।
इति साऽपि स्वत प्राप्ता निवार्येत कथ त्वया ॥१७४२॥

दूरमनुस्मृत्याऽपि परस्य परोपकल्पितया शक्त्या तत्कारणत्व ब्रुवाणेन शब्दस्यैव

---

१ तन्न तत्र प०। २ "स्वत' सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्"–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४७। ३ समयायान्त–आ०, ब०, प०। ४ व्याख्यानिरपेक्षमेव। ५ "अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयै। वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात् ॥" –मी० श्लो० चोदना० श्लो० ५४।

तथा तद्वक्तव्यमविशेषादिति कथं तच्छक्तिरन्यतो न भवेत् यतः सत्यज्ञानशक्तिरपि [1]तथा परतो नावकल्प्येत। स च परः पुरुषस्तदर्थसाक्षात्कार्येव नापरः, ततः तदनवकल्पनस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तदेव दर्शयन्नाह—

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीगुणदोषतः। इति।

एवकारो हेतुपदानन्तरं द्रष्टव्यो भिन्नक्रमत्वात्। तदयमर्थः—शास्त्राद्वेदादन्यतो यज्ज्ञानं तदर्थविषयं तत् स्यात् भवेत्। कथम्? तथा तेन सत्यमिथ्यात्वात्मना प्रकारेण। कुतस्तथा तत् स्यात्? सामग्री शास्त्रमेव तस्या यौ गुणदोषौ पुरुषविशेषापादितसत्यमिथ्याज्ञानजननशक्तिरूपौ तत एव ताभ्यामेव। दोषग्रहणं निदर्शनार्थम्, यथा दोषतो मिथ्यात्वेन भावस्तथा सत्यत्वेन गुणत इति। सतोऽपि गुणस्य दोषापाकरण एव व्यापारो न सत्यज्ञाने, तस्य शास्त्रादेव भावादिति चेत्; किमेवं दोषस्यापि गुणापाकरण एव व्यापारात् मिथ्याज्ञानमपि शास्त्रादेव न भवेत्? दोषतः पूर्वं गुणस्यैवाभावादिति चेत्; गुणतः पूर्वं दोषस्याप्यभावात् न ततोऽपि तदपाकरणं स्यात्। सम्भवनियमे वा दोषस्य गुणस्यापि स्यादविशेषात्। ततो युक्तं तज्ज्ञानस्य पुरुषायत्तगुणोपनिबन्धनत्वेन परत एव प्रामाण्यम् किं पुनर्वेदे तदर्थदर्शिना पुरुषेण? न हि तेन तस्य करणं नित्यत्वात्, नापि तदर्थज्ञानस्य, तस्यापि जैमिन्यादिसम्प्रदायपरम्परात एवोपपत्तेरिति चेत्; नः प्रयत्नसापेक्षत्वेन तत्र नित्यत्वविरोधस्याभिधानात्। तदविरोधेऽपि दूषणमाह—

अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा ॥ ३१ ॥

तदर्थदर्शिनोऽभावान्म्लेच्छादिव्यवहारवत्। इति।

अन्धवत् अन्धो जैमिन्यादिसम्प्रदायः तस्यातीन्द्रियस्वर्गयागसम्बन्धादिवेदार्थसंस्पर्शवैमुख्यात् तस्य परम्परा प्रवाहो भवेत्। कदापि? अविरोधेऽपि विरोधाभावेऽपि। कस्य? नित्यस्य वेदस्य। कुतो भवेत्? तदर्थदर्शिनो जैमिन्यादीनां मध्ये तदर्थं वेदार्थं पश्यतीत्येवंशीलस्य कस्यचिदपि अभावात्। अत्र निदर्शनम्—म्लेच्छाः [2]प्रत्यन्तवासिनो बलाकादयः, आदिशब्दादन्येऽपि तादृशा व्याधादयः तेषां व्यवहारो मातृविवाहादिस्तत्रेव तद्वदिति। प्रसिद्धं हि परस्यापि मातृविवाहादेः श्रेयोहेतुत्वदर्शिनः कस्याप्यभावात्, अतद्दर्शिसम्प्रदायस्य च तद्विमुखत्वादन्धप्रवाहत्वं तथा प्रकृतस्यापीत्युपपन्नो दृष्टान्तभावः।

सत्यपि तदर्थाभिमुख्ये अनादिसम्प्रदायत्वे वेदागमस्य भवितव्यं तदर्थदर्शिना पुरुषेणेति प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षयति—

अनादिसम्प्रदायश्चेत् आयुर्वेदादिरागमः ॥ ३२ ॥ इति।

सुबोधमिदम्। अत्रोत्तरमाह—

कालेनैतावताऽनाप्तः कथन्न प्रलयं गतः। इति।

एतावता अनादिरूपेण कालेन कथम् प्रलयं गतः तदागमः। कीदृशः? अनाप्तः अविद्यमानतदर्थ[3]साक्षात्कारिपुरुषः। प्रलयं गतोपपत्त्येव (गत एव उपपत्त्या) रागाद्युपहतचेतस्कतया प्रज्ञाबलवैकल्यादिना च अर्वाग्दर्शिनामनुपदेशान्यथोपदेशादेः अप्रतिवेदनान्यथाप्रतिवेदनादेश्च प्रतिपुरुषमुपक्षीयमाणस्य सर्वत्रापि देशे अनादिना कालेन निर्मूलोन्मूलनस्य सम्भवात्।

---

१ तदा आ०, ब०, प०। २ 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्' इत्यमरः। ३ —तदर्थाभिमुखेऽसाक्षा— आ०, ब०, प०।

दृश्यते हि इदानीन्तनानामपि नैपथ्यादिव्यवहाराणां बहुजनपरिगृहीतानामपि निर्मूलप्रलयः किं पुनस्तथा तदागमस्यादिकालीनस्य न भवेत्। न चैवम्, ततो यत्सिद्धं तदाह–

सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं त्रिकालविषयं स्फुटम् ॥३३॥ इति।

'शास्त्रज्ञानम्' इत्यनुवृत्तम्। शास्त्रस्यायुर्वेदादेः ग्रन्थतोऽर्थतश्च यज्ज्ञानम् उच्छेदगतस्य पुनःप्रवृत्तिनिमित्तं तत् सिद्धं क्वचित् पुरुषे निश्चितम्, अन्यथा तत्प्रलयगमनाभावानुपपत्तेः। तच्च श्रुतातीतम् उपदेशानपेक्षत्वात् 'अन्यथा भवेत्' इत्यादिदोषात्। इन्द्रियातीतं च तदधीनत्वे तज्ज्ञानत्वानुपपत्तेः। अत एव त्रिकालविषयम् इन्द्रियद्वारतयैव तस्य कालनियमसम्भवात्। आवरणपरिक्षयाच्च स्फुटमिति स्पष्टमिति। तर्हि तथाविधस्य तज्ज्ञानस्य सुगतादिष्वेव भावात् त एव तद्वेदादेः प्रवर्त्तकाः इति चेत्, अत्राह–

तथा न क्षणिकादीनां सर्वथाप्तगुणात्ययात्। इति।

क्षण इति क्षणभङ्गवाद उच्यते विषयिणि विषयोपचारात्, तद्वत्त्वेन क्षणिकः सुगतः आदिशब्दादीश्वरादयस्तेषां तथा तेनोक्तप्रकारेण न शास्त्रज्ञानम्। कस्मात्? आप्तस्य यो गुणः अज्ञानरागादिदोषाभावलक्षणः "आप्तिं दोषक्षयं विदुः" [ ] इति वचनात्, तस्यात्ययात् अभावात्। भवतु नाम क्षणभङ्गादौ प्रमाणपथातिवर्तिनि तेषां तदत्ययो न नीलादौ तस्य तदनतिवर्तिन एव तैरुपदेशादिति चेत्; न, तस्यापि क्षणभङ्गाद्यव्यतिरेकेण तदतिवर्तित्वाविशेषात्। अत एवोक्तं 'सर्वथा' इति। ततो न तेषां तत्प्रवर्त्तकत्वं भगवत एव तदुपपत्तेः। उपसंहरन्नाह–

तद्विरम्य विरम्यैतद् युक्तं शास्त्रप्रवर्त्तनम् ॥३४॥ इति।

ततस्माद्युक्तरूपात् ज्ञानात् एतत् प्रतीयमानं शास्त्रस्यायुर्वेदादेः प्रवर्त्तनं युक्तमुपपन्नम्। कथम्? विरम्य विरम्य वीप्सया अन्तराऽन्तरा विच्छेदं गत्वेति दर्शयति। प्रसिद्धस्य परस्यापि तथा तद्विच्छेदे, विच्छिन्नस्य पुनः कुतश्चित् तदर्थदर्शनवतः प्रवर्तनं च। 'वामदेवेन दृष्टं साम कठेन प्रोक्तम्' इत्यादिव्यवहारात्, स्वयं प्रतिपन्नस्य प्रथमोक्तस्य च दृष्टत्वप्रोक्तत्वोपपत्तेः। ततेस्मैव (ततोऽस्त्येव) तदर्थदर्शी पुरुषः तदभावे शास्त्रस्यैव प्रलयप्रसङ्गात्।

तदेवं तस्य शास्त्रे प्रत्युपयोगमभिधाय तत्र प्रवृत्तेरर्थवत्त्वं प्रत्यभिधित्सुराह–

तादृशोऽभावविज्ञाने शास्त्रे वृत्तिरनर्थिका। इति।

तादृशोऽतीन्द्रियदर्शिनो वीतदोषस्य च पुरुषस्य प्रणेतुः अभावविज्ञाने शास्त्रे आयुर्वेदादौ या वेदवादिना प्रवृत्तिः सा 'अनर्थिका निष्प्रयोजना भवेदिति शेषः। नैतदस्ति, शास्त्रात्तदर्थप्रतिपत्तेस्तत्प्रयोजनत्वादिति चेत्; न, शास्त्रस्याबोधकत्वेन ततस्तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, अन्यथा यतः कुतश्चित् तत्प्रसङ्गेन शास्त्रस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः। भवतु बोधकादेव

१ 'मवेदन्यपरम्परा' इत्यादिदोषात्। २ –कार्यैरिति आ०, ब०, प०। ३ स्फुटितः ता०। ४ "आप्तं दोषक्षयाद्विदुः"– सांख्यका० माठर० पृ० १२। यश० उ०……। आप्तस्व०……। ५ साधुकण्ठेन आ०, ब०, प०। ६ ऐतरेयोपनिषदि (२।५) प्रोक्तं यत् वामदेवो गर्भे वसन्नेव सर्वमहं वेद इत्युवाच। ७ तते स्मैव ता०। ८ –नर्थका ता०। ९ –त्वे त– ता०।

तत. प्रतिपत्तिरिति चेत्; न; स्वतो बोधकत्वस्य प्रत्याख्यानात्। परतश्चेत्; कस्तर्हि स पर. अन्यत्रातीन्द्रियज्ञानादिसम्पन्नात् पुरुषोत्तमात्, तत्सम्प्रदायादेव तस्य यथार्थप्रतीतिनिबन्धनत्वोपपत्ते। जैमिन्यादिसम्प्रदायादेव तस्य तन्निबन्धनत्वमिति चेत्; न; तत्रान्धपरम्परादोषस्य भाषितत्वात्। ततः शास्त्रस्य तदर्थज्ञानं प्रति साफल्यमभ्युपगच्छता तदर्थोपदेशकारी निर्दोषोऽनक्षार्थसाक्षात्कारी च वक्तव्य, अन्यथा ततोऽयथार्थस्य तस्य ज्ञानस्यापत्त्या[1] प्रवृत्तिवैफल्यापत्ते। एवमपि किं शास्त्रेण पुरुषादेव तादृशात् हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानभावादिति चेत्; न; ततोऽपि शास्त्रमुखेनैव तदुपपत्ते, तद्बुद्ध्यैव विनेयाना तदसम्भवात्। भवति स वक्तव्यो यदि कुतश्चित्तादृशस्य पुरुषस्य निश्चयो भवेत्, न चायमस्ति, तत्र बाधकवत् साधकस्याप्यसम्भवेन संशयस्यैवोपपत्तेरिति चेत्; अत्राह–

सन्देहेऽपि च सन्देहस्ततस्तत्त्वं निरूप्यते ॥२४॥ इति।

सन्देहेऽपि च तादृश पुरुषस्य सन्देहः शास्त्रेऽपि[2] किमिदं तेन पौरुषेयमुत नेति, किमस्य तद्गुणत. प्रामाण्यमुत स्वत इति, किमिदमेव धर्मे प्रमाणमुत सोऽपीति च संशय प्राप्नुयात्। न चाय परस्य पथ्य.। सति संशये "यद्वा कर्तुरभावेन" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३] इत्यादे "स्वतः सर्वप्रमाणानाम्" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४७] इत्यादे; "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ][3] इत्यवधारणस्य च विलोपसम्पातात्। ततः तस्मादुक्तन्यायात् तत्त्वं तस्य तादृशस्य भाव. निरूप्यते विचार्यते, तत्परीक्षायामुक्तदोषानतिवृत्ते।

तदेव वेदाऽवयवत्वेनायुर्वेदादे. नित्यत्वे दोषमभिधाय साम्प्रतं शब्दमात्रस्य नित्यत्वे तं दर्शयन्नाह–

स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत्। इति।

स्वतन्त्रत्वमन्यानपेक्षत्वमनेन नित्यत्वं दर्शयति सत्येव तस्मिन् तदुपपत्ते तस्मिन् सति। केषाम्? शब्दानां लौकिकानामन्येषा च प्रयासः ताल्वादिपरिस्पन्दरूप प्रयत्नोऽनर्थको विफलो भवेत्। तु शब्दादवधारणं प्रतिपत्तव्यम्। नानर्थकस्तेषां तेन व्यक्तेरिति चेत्; न; प्रयासदेश एव तत्प्रसङ्गात्, प्रदीपाद्यालोकदेश एव घटाद्यभिव्यक्तेरप्युपलम्भात्। तथा च न परेण शब्दस्य श्रवणम् अश्रोत्रप्राप्तस्य तदसम्भवात्। अथ प्रयासाद् व्यञ्जका वायव श्रोतु श्रोत्रप्रदेश यावदभिसर्पन्तस्तत्रापि तदभिव्यक्ति कुर्वन्ति प्रयासस्य तु तत्कारित्वोपकल्पनं[4] तद्द्वारकमेव न साक्षात्। न चैवं सर्वत्र तदभिव्यक्ति; व्यञ्जकानां सर्वत्राभावादिति। तन्न सत्यम्, एवमभिव्यक्ताऽनभिव्यक्तरूपतया तत्र[5] भेदापत्ते.। नायं दोष क्वचिदभिव्यक्तेरेव अन्यत्रानभिव्यक्तित्वेन तल्लक्षणस्य रूपान्तरस्याभावादिति[6] चेत्, कथमेवमन्यत्रानभिव्यक्तिरेव क्वचिदभिव्यक्तिरपि न भवेत्, तथा च व्यवस्थितमिद भवेत्–'प्रयासो निरर्थको भवेत्' इति, अनभिव्यक्तिवत् तद्रूपायामभिव्यक्तावपि प्रयासस्यानुपयोगात्। कथं पुनरनभिव्यक्ति अभिव्यक्ति, अभावस्य भावरूपत्वानुपपत्तेरिति चेत्; अभिव्यक्तिरपि अनभिव्यक्तिर्न भवेत् भावस्यापि अभावरूपत्वायोगात्। देशभेदापेक्षया तस्य ताद्रूप्यस्येतरत्रापि तुल्यत्वात्। ततो निरवयवस्य क्वचिदभिव्यक्तौ सर्वत्राभिव्यक्तिरेवेति नष्टो दूरादश्रवणव्यवहारो दिक्पारवर्तिभिरपि व्यापिनि तत्र[7]

---

१ ज्ञानस्योपपत्त्या आ०, ब०, प०। २ शास्त्रं कि–आ०, ब०, प०। ३ चोदनैव प्रमाणञ्चेत्येतद् धर्मेऽवधारितम्–मी० श्लो० चोदना० श्लो० ४। ४ तूत्तरकारित्वोपकल्पनं तद्बाधकमेव आ०, ब०, प०। ५ शब्दे। ६–स्य भा–आ०, ब०, प०। ७ शब्दे।

श्रवणस्यैव सम्भवात् । कुतो वा प्रयासस्य व्यञ्जकत्वमेव न कारकत्वम् ? तत[1] प्रागपि शब्दस्य भावादिति चेत्, श्रोत्रज्ञानविषयत्वमपि भवेत् तस्य तल्लक्षणत्वादिति व्यर्थ एव प्रयास स्यात्–तेनापि[2] तस्यैवाभिव्यक्त्यपरनामधेयस्य करणात्, तस्य च विनाऽपि तेन सत्त्वात्, सततश्च करणे तदपरिनिष्ठप्रसङ्गात् । तज्ज्ञानयोग्यत्वेनैव प्राक् तस्य भावो न तद्विषयत्वेनेति चेत्, न, तत्रापि तद्वैयर्थ्याविशेषात् । तथा हि–

योग्य प्रागपि शब्दश्चेत् स्वज्ञानजनन प्रति ।
प्रयासापेक्षया तत्र किमन्यत् फलमुच्यताम् ॥१७४३॥
[3]स प्रयासव्यपेक्षश्चेत् स्वज्ञानजननक्षम ।
प्रयासाधीनतच्छक्तिस्तत पूर्वं कथ भवेत् ॥१७४४॥
शक्तिस्तस्य तदायत्ता न चेत् किं तद्व्यपेक्षया ।
व्यक्ता (क्त्या) स्वमेव कार्यं चेत् न स्वशक्तेस्तदुद्भवात् ॥१७४५॥
केवला सा न हेतुश्चेत् जह्याच्छक्तित्वमात्मन ।
कार्यशून्याऽपि शक्तिश्चेत् शक्ति स्याद् व्योमपद्मिनी ॥१७४६॥
जहातु नाम कैवल्ये तत्साहित्ये तु नेति चेत् ।
तदैव तर्हि सा शक्तिर्न तत प्राक्, तत कथम् ॥१७४७॥
श्रोत्रवेदनयोग्यस्य शब्दस्य प्रागपि स्थिते ।
तद्व्यक्तावेव सर्वोऽस्य प्रयास इति कथ्यताम् ॥१७४८॥

कुतो वा तस्य प्रयासात् प्रागपि भाव ? ततोऽभिव्यक्तेरिति चेत्, सैव तत. कस्मान्न निष्पत्तिरेव । प्रागपि ततस्तस्य भावादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात् । प्रत्यभिज्ञानात् तर्हि तदा तद्भाव ।

"शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यनुमीयते ।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३] इति ।

इति चेत्; किं पुनरिद प्रत्यभिज्ञान नाम ? स एवायमिति पूर्वापरयोरेकत्वपरिज्ञानमिति चेत्; न; सर्वथैकत्वे पूर्वापरभावस्यानुपपत्ते, तत्र हि पूर्वभाव एव वा भवेत्, उत्तरभाव एव वा ? तत्र पूर्वविकल्पे पूर्वतयैव तस्याभिव्यक्तिरिति न साम्प्रतिकतया प्रतिपत्तिर्भवेत् । पूर्वस्यापि तत पूर्वभावे न पूर्वतयापि प्रतिपत्ति, ततोऽपि पूर्वतयैव तत्सम्भवात्, एव तत्रापि वक्तव्यमिति न क्वचिदवस्थितता प्रयासतस्तदभिव्यक्तिर्भवेत् । उत्तरविकल्पे तु प्राग्भावस्या[4]भावात् न प्रयासात् [5]तस्याभिव्यक्ति । कथञ्चिदेकत्वे तु पूर्वस्मादुत्तरस्य श्रोत्रबोधानुपातिनो[6] भेदोऽप्यस्तीति [7]तत्कादाचित्कत्वे कारणमभिधातव्यम्, अन्यथा तदयोगात् । तच्च न प्रयासाद् अपरमुपलभ्यत इति कथ तत्कार्यतैव तत्र न भवेत् ? सत्यपि तस्य प्राग्भावे प्रयासोपनीतैर्ध्वनिभि कथमप्रतीतेरभिव्यक्ति ? प्रतीतेरेव प्रदीपालोकादिभि घटादीना तदुपलब्धे । न प्रतीतिरभिव्यक्तावङ्ग शक्तेरेव तत्त्वात्, मन्त्रादिना तन्निषेधे तदालोकादीनामपि अनभिव्यञ्जकत्वात् । न च तस्यामपि[8] पर्यनुयोग –'कीदृशी[9] सा' इति ? कारकशक्तावपि प्रसङ्गात्, तत्रापि अतीन्द्रियत्वेनाप्रतीतेरविशेषात् । न चैतावताऽसौ निष्प्रमाणिकैव कार्यदर्शनेन कारकशक्तिवत् व्यक्तिदर्शनतो व्यञ्जकशक्तेरप्यवस्थापनात् ।

१ प्रयासात् प्रागपि । २ प्रयासेनापि । ३ शब्द. । ४ –स्याप्यभा–आ०, ब०, प० । ६ तदभिव्यक्तेः क–आ०, ब०, प० । ७ शब्दस्य । ८ शब्दनित्यत्वे । ९ शक्तावपि । १० सत्तीति ता० ।

तस्मादिन्द्रिय[1]गोचरातिपातिन्यैव शक्त्या तादृशीमेव शक्ति श्रोत्रेन्द्रियस्यादधाना ध्वनय शब्दाभिव्यक्तेर्हेतव इत्युपपन्नमुत्पश्यामः । तदुक्तम्–

"न च पर्यनुयोगोऽत्र [2]केनाकारेण संस्कृतः (तिः) ।
उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥
[3]नित्यं कार्यानुमेया च शक्तिः किमनुयुज्यते ।
तद्भावाभावमात्रं हि प्रमाणं तत्र गम्यते ॥
[4]अतोऽतीन्द्रिय एवैते शक्त्या शक्तिमतीन्द्रियाम् ।
इन्द्रियस्यादधानाः स्युः शब्दाभिव्यक्तिहेतवः ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४३–४५]

इति चेत्; उच्यते–तस्याल्पत्वमहत्त्वादिभिर्विशेषैरुपश्लिष्टस्य, अनुपश्लिष्टस्य वा [5]तेऽभिव्यञ्जका कल्प्यन्ताम् ? न तावदनुपश्लिष्टस्य; अप्रतीतेः । न हि तादृश क्वचिद् व्यक्तोऽव्यक्तो वा शब्दः प्रतीतिपथमुपसर्पति यत्राल्पत्वादीनामन्यतमस्यापि विशेषस्यानुपश्लेषः, सर्वदा तदुपश्लेषिण एव तस्य प्रतीतेः । भवन्तु तदुपश्लेपिण एव तस्य ते व्यञ्जका इति चेत्, [6]अत्रापि–

शब्दस्यैव स्वभावश्चेदल्पत्वादिस्तदा कथम् ।
[7]तद्भेदे सत्यवर्णेषु तदेकत्वप्रकल्पनम् ॥१७४९॥
प्रत्यभिज्ञानशक्तेश्चेत् घटेष्वपि न तत्कथम् ।
घटो घटोऽयमित्येव व्यक्तं तत्रापि तद्दृशेः ॥१७५०॥
व्यक्तिरेव कुलालादेस्तेषामपि तथेष्यतः ।
कारकव्यवहारोऽयं क्वापि न स्थितिमाप्नुयात् ॥१७५१॥
वैलक्षण्याद्विशेषाणां भेदस्यैवोपपत्तितः ।
[8]जात्येकत्वनिमित्तं चेत् तत्र प्रत्यवमर्शनम् ॥१७५२॥
अवर्णेष्वपि सैवेयं प्रक्रिया परिकल्प्यताम् ।
तत्राप्यल्पादिरूपेण व्यक्तिभेदव्यवस्थितेः ॥१७५३॥

अथासौ[9] शब्दधर्मो न भवति ध्वनिधर्मत्वात् । शब्द एव तद्धर्मा तथाप्रतीतेरिति चेत्; न; अतद्धर्मिणि शब्दत्वेऽपि तथाप्रतिपत्तिभावेन व्यभिचारात्, व्यक्तिगतस्यैव अल्पत्वादेस्तेनानुविधानात् । तत्र तत्प्रतिपत्तिर्विभ्रमादिति चेत्; नः शब्देऽपि तदविशेषात्, ध्वनिगतस्यैव तेनापि तस्यानुविधानात् । तत शब्द [10]एवाल्पत्वादिः तद्रूपतया विज्ञानादिति न साधुसाधनं शब्दत्वेनानेकान्तात् । मुखेन च, दृश्यते हि मुखेऽपि व्यञ्जकाल्पत्वादिना तद्रूपविज्ञानमतत्स्वभावेऽपि । तदुक्तम्–

"अथ ताद्रूप्यविज्ञानं हेतुरित्यभिधीयते ।
तथाऽपि व्यभिचारित्वं शब्दत्वेऽपि हि तन्मतिः ॥
व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वे च तद्यथाऽनुविधीयते ।
तथैवानुविधाताऽयं ध्वन्यल्पत्वमहत्त्वयोः ॥

---

१ -योगो-ता० । २ कार्यः कारणसंस्कृतेः ता० । ३ नित्या आ०, ब०, प० । ४ -तो आ०, ब०, प० । ५ ध्वनयः । ६ अत्राह–ता० । ७ अल्पत्वादिभेदे सति अकारादिवर्णेषु एकत्वकल्पनं कथम् । ८ घटत्वादिजाति । ९ अल्पत्वादिः । १० एवोपाधिः आ० ।

'व्यंङ्ग्यानां चैतदस्तीति' मुखे नैकान्तिकं ततः ।
दर्पणेऽल्पमहत्त्वे च 'दृश्येते न तु तन्मुखे' ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१३-१६] इति ।

तदयमत्यन्तपरामर्शगराङ्मुखस्यैवोल्लास, ध्वनिधर्मत्वेऽल्पत्वादेस्तद्वदेवाप्रतीतिप्रसङ्गात् । अप्रतीताश्च "न च पर्यनुयोगः" [मी०श्लो० शब्दनि० श्लो० ४३] इत्यादिना ध्वनयः प्रतिपादिताः । न चाप्रतीतौ विभ्रम, विभ्रमस्य प्रतीतिरूपत्वात् । प्रतिपाद्यत एव तेषामपि कैश्चित् प्रतीति —"ध्वनीनां श्रोत्रगम्यत्वं तस्मात् केचित् प्रचक्षते ।" [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २२३] इति वचनादिति चेत्, अतद्गम्यत्ववादिना तर्हि कथं तत्प्रतीतिः यतः शब्दे तद्विभ्रम ? न हि दर्पणाल्पत्वादेरप्रतीतौ वदने तद्विभ्रम इति तद्विकलस्यैवावर्णादेस्तदा 'तद्गम्यत्व प्राप्नुयात् । न चैव सर्वदा तदुपश्लिष्टविभ्रमस्यैव तस्योपलम्भात् ।

अपि च, ध्वनीनां श्रोत्रगम्यत्वेऽपि यदि वाचकशक्तिः, व्यर्थं तद्व्यङ्ग्यस्य शब्दान्तरस्य परिकल्पन तत्प्रयोजनस्य ध्वनिभ्य एव निष्पत्तेः । अवाचकत्वे तद्धर्मस्य वृद्धिह्रासादेरपि वाचकत्वं न भवेत् । तथा च–

वृद्ध्यादिव्यतिरेकेण शब्दस्याप्रतिवेदनात् ।
'अवाचक जगत्प्राप्त तत' किं केन कथ्यताम् ॥१७५४॥
न हि वृद्ध्यादिशून्यस्य प्रत्यभिज्ञाऽपि वेदिका ।
वाचकत्व यतस्तस्य कल्पयेम निराकुलम् ॥१७५५॥
वृद्धिह्रासादितादात्म्य विभ्रतश्च तया गतौ ।
अवाचकत्व वृद्ध्यादेरशक्यपरिकल्पनम् ॥१७५६॥
अन्यथा सर्वकार्येऽपि सर्वभेदविवर्जितम् ।
सन्मात्र प्रत्यभिज्ञेयमुपयोगीति कल्पनात् ॥१७५७॥
स्वर्गादावपि तस्यैव कारणत्वव्यवस्थितेः ।
यजनादिक्रियाभेदे प्रवृत्तिर्व्यर्थिका भवेत् ॥१७५८॥
भेदात्मनस्ततो यद्वत् सतोऽर्थकरणं तथा ।
ह्रस्वाद्यात्मैव शब्दोऽपि वाचकत्वाय 'कल्पते ॥१७५९॥
अन्यथा तस्य सस्कार पाणिनिप्रमुखाः कथम् ।
वाचक शब्दमुद्दिश्य प्रवृत्त कुर्वते बुधा ॥१७६०॥

सत्यम्, ह्रस्वाद्यात्मन एव शब्दस्य वाचकत्वम्, तत्तु तदात्मत्व ध्वनिधर्मस्यैव ह्रस्वादेरनुपातात् न तत्त्वत, इति चेत्, कथमतात्त्विकेन तद्रूपेण वाचकत्व वर्णस्य स्वरूपेणापि तथाविधेनैव तत्प्रसङ्गात् । एव च–

अतात्त्विकस्य वर्णस्य नित्यत्वादिप्रसाधनम् ।
वन्ध्यास्तनन्धयस्येव सौरूप्यगुणवर्णनम् ॥१७६१॥
संवृत्या वाचक शब्दं कल्पयन्नपि याज्ञिक ।
कल्पयेत् कारक तद्वदिति बौद्धमत भवेत् ॥१७६२॥

१ व्यंगाना-आ० । २ कालो नै–आ० । ३ दृश्यते आ० । ४ तन्मुखम् आ० । "व्यङ्ग्यानां चैतदस्तीति लोकेऽप्यैकान्तिक न तत् । दर्पणाल्पत्वमहत्त्वे हि दृश्यतेऽप्युपतन्मुखम् ॥ —मी० श्लो० । ५ श्रोत्रगम्यत्वम् । ६ आवाचकं जगद्व्याप्तं आ० । ७ कल्प्यते आ० ।

तस्मात्तात्त्विक एवायं ह्रस्वादिः शब्दगोचरः ।
मन्दविस्पन्दितं तस्य ध्वनिधर्मत्वकल्पनम् ॥१७६३॥

ततो निराकृतमेतत्–

"एवं ध्वनिगुणान् सर्वान् नित्यत्वेन व्यवस्थिताः ।
वर्णा अनुपतन्तः स्युरयंभेदावबोधिनः ॥
आनुपूर्वी च वर्णानां ह्रस्वदीर्घप्लुताश्च ये ।
कालस्य प्रविभागास्ते जायन्ते ध्वन्युपाधयः ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०१–२] इति ।

यत्पुनस्ताद्रूप्यविज्ञानस्य हेतोः शब्दत्वेन व्यभिचारित्वमुपदर्शितम्; तदल्पमतिविलसितम्, व्यक्त्यविष्वग्भावेन तत्रापि तत्त्वत एव वृद्ध्यादेर्भावात् । व्यक्तिव्यतिरेकिणश्च शब्दत्वादेर्नित्यसर्वगतस्य च प्रत्याख्यानाद् दर्पणेत्यादिकमपि तादृशमेव । न हि दर्पणस्य अल्पत्वादिना मुखे तत्प्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्तिसङ्क्रम एव तस्योपलम्भात् । तस्य च दर्पणाधिष्ठानत्वेन मुखात्तदन्तरत्वात् । मुखमेव भ्रमात् तदधिष्ठानमुपलभ्यत इति चेत्, न, तदानीमेवातदधिष्ठानस्यापि तस्योपलम्भात् । न चैतन्न्याय्यम्–

अन्योऽन्याभावरूपत्वात् विभ्रमेतररूपयोः ।
युगपत् सम्भवाभावादेकत्र ग्राह्यवस्तुनि ॥१७६४॥
तदप्यविभ्रमज्ञानं विभ्रमं चेन्न बाधते ।
विभ्रमध्वस्तये पुंसां प्रयासोऽनर्थको भवेत् ॥१७६५॥

तत्र मुखस्य तदधिष्ठानत्वम्, दर्पणपरिणामविशेषस्यैव तत्प्रतिसंक्रमापरनामधेयस्य तत्त्वात् । तत्र मुखेनापि तस्य व्यभिचारित्वम् औपाधिकस्याल्पत्वादेस्तत्राप्यप्रतिवेदनात् । ततः शब्द एव दीर्घादि निर्बाधतत्प्रत्ययविषयत्वात् घटादिवत् । अतस्तस्य ताल्वादिव्यापारादुत्पत्तिरेवोपपन्ना नाभिव्यक्तिः ।

कथं वा [1]तद्व्यापारस्याभिव्यञ्जकत्वे ततो नियमेन शब्दस्याभिव्यक्तिः प्रदीपादावेवमदर्शनात् ? युक्तः प्रदीपादौ सत्यपि घटादेस्तन्नियमाभावः तस्यानित्यत्वात् अविभुत्वाच्च, न शब्दस्य विपर्ययादिति चेत्; न, तस्याल्पत्वमहत्त्वादिना भेदवत्त्वेन तद्वत् अनित्यत्वाविशेषात् । प्रत्यभिज्ञानात् [2]तन्नित्यत्वादिप्रतिपत्तेः घटादावपि तुल्यत्वात् । वक्ष्यति चैतत्– "यदि चैवंविधो नित्यः" [3]इत्यादिना । ततः शब्दवत् घटादेरपि चक्रचीवरादेरभिव्यक्तिरेवेति गतः प्रसिद्धोऽपि तत्र[4] हेतुफलव्यवहारः । व्यञ्जकान्तरस्य प्रदीपादेस्तत्र[5] भावादुत्पत्तिरेव [6]ततस्तस्येति चेत्, तर्हि शब्दस्यापि प्रस्तुतप्रयासात् [7]सैवास्तु श्रोत्रप्रणिधानतद्योग्यदेशादेर्व्यञ्जकान्तरस्य तत्रापि भावात् । तत्प्रणिधानादौ तथाविधस्य व्यञ्जकत्वस्याभावात्तदन्तरत्व तत्र नास्तीति चेत्; तर्हि प्रदीपादावपि तथाविधस्य तस्याभावात् तद्धेतोरभिव्यक्तिरेव प्राप्नुयादिति नित्य एव सोऽपि भवेत् । तत्र अभिव्यक्तिकरणात् प्रयासस्य शब्दे साफल्यम्, अभिव्यक्तेरुपलब्धिरूपायाः श्रोत्रादेरेव भावात् । आवरणविश्लेषकरणात् तत्र तस्य साफल्यमिति चेत्; न; चक्रचीवरादिव्यापारेऽपि तत एव तत्कल्पनापत्तेः

१ ताल्वादिव्यापारस्य । २ शब्दनित्यत्वादि । ३ न्यायवि० श्लो० ३।७० । ४ घटादौ । ५ च चीवरादेः । ६ उत्पत्तिरेवास्तु । ७ न कदाचिद्व्या—आ० ।

किञ्च, यद्यावरणं व्यवधानात्, तन्न कालतः; नित्यत्वात्। नापि देशतः; विभुत्वात्। नाप्युपलम्भस्य प्रतिबन्धात्, तज्जन्मनि शब्दस्यासामर्थ्ये दैवादेव तदभावात्। न ततस्तत्प्रतिबन्धेनापि, सामर्थ्ये सति तस्मिन् नित्यत्वेनाशक्यप्रध्वंसे तत्कार्यस्यावश्यकात्। आवरणमपि तत्प्रतिबन्धे योग्यमेवेति चेत्; उपलब्धेस्तर्हि युगपद्भावाभावोपनिपातात्–तदैवोपलब्धोऽनुपलब्धश्च शब्द इति प्रतीतिपथातिवर्तिनी भवन्मतिप्रवृत्तिरापद्येत। तन्न शब्दस्यावरणं नाम। सतोऽपि तस्य प्रयासाद् विश्लेषे शब्दस्योपलब्धिर्यदि व्यापकेन रूपेण; व्याप्यमपि जगत् तया प्रतिपत्तव्यम्, तत्प्रतिपत्तिमन्तरेण व्यापकप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। तथा च श्रोत्रव्यापारस्यैवाशब्देऽपि[1] जगति प्रवृत्तिमभ्युपगच्छन् कथमिदमभिदध्यात् "न रूपे श्रोत्रवृत्तिः" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ११४] इति। व्याप्यमप्रतिपद्यापि व्यापकप्रतिपत्तौ तु सकलं जगदप्रतियतोऽपि कस्यचित् तद्विषयज्ञानवतः प्रतिपत्तिसम्भवात् "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवम्" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३४] इत्यादि परस्य पर्यालोचितवचनता परित्यजेत्। अथ न तद्रूपेण तस्योपलब्धिरकारादिरूपत एव तद्भावादिति; तन्न; निरंशस्योपलभ्येतर[2]स्वभावतया भेदानुपपत्तेः। तदुपपत्तौ वा सांशतया वृद्धिह्रासादेरपि सम्भवात् असम्भवदर्थमेतदापद्येत–

"वर्णोऽनवयवत्वात्तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति।
व्योमादिवदतोऽसिद्धा वृद्धिरस्य स्वरूपतः॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१३] इति।

ततो नावरणविश्लेषादपि किञ्चित्, यतस्तत्करणेन प्रयासस्य साफल्यमवकल्प्येत। भवतु तर्हि संस्कारकरणात् तस्य तदवकल्पनमिति चेत्; उच्यते–

न तावदावृतिध्वंसः संस्कारस्तस्य दूषणात्।
नाभिन्नातिशयाधानं कौटस्थ्ये तदसम्भवात्॥१७६६॥
भिन्नस्त्वतिशयस्तस्य शब्दस्येति कथं भवेत्?
तेनाप्यतिशयाधानमनवस्थानमुद्वहेत् ॥१७६७॥
सन्नप्यतिशयस्तस्य यदि व्यापी तदा भवेत्।
यावद्व्योमप्रवृत्तस्य शब्दस्य श्रवणं जने ॥१७६८॥
न चैवमस्ति कस्यापि प्रतीतिः शब्दवस्तुनि।
प्रत्यासन्नाल्पदेशस्य सर्वैस्तस्योपलम्भनात् ॥१७६९॥
अव्यापी यदि तेनापि वित्तिरव्यापिनो भवेत्।
न हि ते तादृशो वर्णः कश्चिदस्ति मनीषितः[3] ॥१७७०॥

यद्ययमव्याप्येवाऽतिशयः प्रदेशवृत्तित्वात् न वर्णो भवेत्, तद्वृत्तिविषयस्य तत्प्रदेशस्याभावात्। उपाधिवशादस्त्येव तद्भाव इति चेत्; न, उपाधिनाऽपि व्यापिना तदसम्भवात्। अव्याप्येव सोऽपि प्रदेशवृत्तित्वादिति चेत्; न, तत्रापि 'न वर्णो भवेत्' इत्यादेरावृत्त्या चक्रकात् अनवस्थापत्तेश्च। न तत्प्रदेशवृत्तित्वात् अव्यापित्वमतिशयस्य, अपि तु स्वत एवेति चेत्, तथाऽपि कथमसौ वर्णो भवेत्? सम्बन्धादिति चेत्; न; तेनापि व्यापिना तस्याव्यापित्वानुपपत्तेः। अव्याप्येव सोऽपीति चेत्; कुतस्तस्याव्यापित्वम्? प्रदेश-

१ शब्दशून्येऽपि। २ –लभ्येतर– आ०। ३ स्वीकृत इति यावत्।

वृत्तित्वादिति चेत्, न, दत्तोत्तरत्वात्। स्वत एवेति चेत्; न; तत्रापि 'कथम्' इत्यादेर्दोषात्। तस्यापि पुनः सम्बन्धाद् वर्णे वृत्तिकल्पनायां चक्रकदोषस्यानवस्थाप्रसङ्गस्य चाविचलनात्। कथमेवं व्यापिन्यप्याकाशे तूलादिसम्बन्धस्याव्यापित्वमिति चेत्? न; तस्य तत्प्रदेशवृत्तित्वेन तदुपपत्तेः। प्रदेशवत् खल्वाकाशमस्मन्मते प्रसिद्धम्–"आकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः [त० सू० ५।९] इति सूत्रात्। तस्यापि निष्प्रदेशत्वपरिकल्पनायां प्रकृतप्रसङ्गानतिवृत्तेः। तन्नातिशयस्याव्यापिनः सम्भवः। सम्भवेऽपि न तेन वर्णस्य व्यापितयोपलब्धिः। अव्यापिना तु उपलब्धेनापि न किञ्चित् तावन्मात्रस्य अवाचकत्वात्। नायं दोषः, तावन्मात्रस्यापि वर्णतया परिपूर्णत्वात्। न हि तस्यावयवाः सन्ति यतस्तस्य प्रत्याकाशप्रदेशं भागशो वृत्तिरुपलब्धिर्वा भवेत् तन्निषेधात्। न [1]चैतावता तस्याव्यापित्वम्, एकत्रैवापरतत्प्रदेशेऽपि[2] तदैव तस्य सर्वत्र सर्वात्मनाऽपि प्रवृत्तेः। तदुक्तम्–

"यो यो गृहीतः सर्वस्मिन् देशे शब्दो हि विद्यते।
न चास्यावयवाः सन्ति येन वर्तेत भागशः॥
शब्दो वर्तेत इत्येवं तत्र सर्वात्मकश्च सः।
व्यञ्जकध्वन्यधीनत्वात् तद्देशे स च गृह्यते॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७१-७२] इति।

ततस्तावतोऽपि वर्णतया परिपूर्णत्वात् तथैवोपलब्धस्याप्युपपन्नमेव वाचकत्वमिति चेत्, उच्यते–

ध्वनिदेशस्थवर्णस्य देशान्तरगतास्तत[3]।
विच्छेदे व्यापिता तस्य विरोधान्नोपपद्यते॥१७७१॥
अविच्छेदे तु तेनापि तद्देशे तस्य वर्तनात्।
देशान्तराभिसम्बन्धो न शक्यपरिकल्पनः॥१७७२॥
तेनात्मना न चेत्तस्य तत्र वृत्तिः कथं तदा।
सर्वात्मनैकदेशेऽपि तस्य वृत्तिः प्रकल्प्यताम्॥१७७३॥
वाचकत्वं यतस्तस्य परिपूर्णस्य दर्शनात्।
कल्पयेम ततस्तस्य भागेनैव प्रवर्तनम्॥१७७४॥

न च भागस्योपलब्धस्यापि वाचकत्वम्। वाचकत्वे वा व्यर्थं तत्र व्याप्तिकल्पनम्, वाचकमात्रस्यैव वर्णत्वोपपत्तेः। तावदेव हि वर्णस्य स्वरूपमुपपन्नं यावता तत्प्रतियोजनं नापरं तेन तदभावात्। तथाऽपि तत्कल्पनायां घटादावपि तत्प्रसङ्गात् न कश्चिदव्यापी नाम भावो भवेत् प्रत्यभिज्ञानस्याविशेषात्। तन्न संस्कारकरणादपि साफल्यं प्रयासस्य[4]।

नाप्यभिधेयप्रतिपादनात्, ततस्तद्भावे शब्दकल्पनावैफल्यापत्तेः। तत्सहायाच्छब्दादेव तद्भाव इति चेत्, न, कूटस्थस्य सहायापेक्षायाः प्रतिक्षेपात्। एतदेवाह–

व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः॥३६॥ इति।

व्यक्तिश्चावरणविच्छेदश्च संस्कारश्च आदिशब्दादभिधेयप्रतिपादनादिश्च तस्य विरोधतः प्रतिपादितप्रकारेण नित्यव्यापिनि प्रयासनिबन्धनस्यासम्भवात्। 'प्रयासोऽनर्थको भवेत्' इति पदसङ्गतिः प्रतिपत्तव्या।

---

१ चैव तावता आ०। २ –पि तस्य ता०। ३ –गतास्ततः आ०। वर्णात्। ४ ताल्वादिप्रयत्नस्य।

मा भूदेवं वर्णसंस्कारो विचारप्रदीपव्यापारदुरुपपादत्वात्, श्रोत्रसंस्कारस्तु न दुष्यति श्रोत्रस्य भागवत्त्वेन प्रदेशत संस्कारसम्भवादिति चेत्, न, तत्संस्कारादपि वर्णस्य व्यापिन एवोपलब्धिर्भवेत् नाव्यापिनस्तस्याभावात् ।

असतोऽप्युपलब्धिश्चेत् भ्रान्तिरेव प्रसज्यते ।
श्रोत्रवृद्धिः समस्ताऽपि व्योमपद्मादिवृद्धिवत् ॥१७७५॥
संस्कृतादपि च श्रोत्राद्यर्थैकस्योपलम्भनम् ।
वर्णस्य तद्वदन्येषा तद्देशत्वात् प्रसज्यते ॥१७७६॥
न हि चक्षुर्घटं द्रष्टु तद्गतार्पितसंस्क्रियम् ।
तद्देशस्तम्भकुम्भादि न पश्यति पुर स्थितम् ॥१७७७॥
यथा चाशेषवर्णानां सर्वदा युगपद्गते ।
तदेकैकप्रतीतिस्ते प्रसिद्धाऽपि न सिद्धयति ॥१७७८॥
एकैकस्यैव संवित्तौ श्रोत्र यदि च शक्तिमत् ।
कथं सङ्ग्रामरङ्गादौ जनकोलाहलश्रव ॥१७७९॥

एकहेलया बहुविधानेकशब्दसन्दोहश्रवण हि कोलाहलश्रवण प्रसिद्धम् । न चैतत् एकैकवर्णश्रवण एव संस्कृतस्यापि श्रोत्रस्य सामर्थ्ये शक्यसम्भावनमिति दूरापसारितस्तद्व्यवहार स्यात् । तत्रापि क्रमवदेव तच्छ्रवणम्, यौगपद्याभिमानस्तु तदाशुभावनिबन्धनाद्विभ्रमादेवेति चेत्, तदसारम्, अतिप्रसङ्गात् । तमेव दर्शयन्नाह–

वंशादिस्वरधारायां संकुलामतिपत्तितः ।
क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्ग्रहणविभ्रमः ॥३७॥ इति ।

कोलाहलश्रवणदशाया य. सकृद्ग्रहणे विभ्रमः शब्देषु अयम् अयुक्तोऽनुपपन्न. । कस्मिन् निमित्ते सति भवन्नसा [व] युक्त ? क्रमेणाशुग्रहे परिपाट्या शब्दाना शीघ्रमुपलम्भे सति । वंशेत्यादिरत्र हेतु । वंश आदिर्यस्य वीणारावणहस्तादेस्तस्य स्वरः षड्जादिस्तस्य धारा कालकृता दीर्घता । सा च षड्जस्य चतु श्रुति, एव प्रत्येक पञ्चममध्यमयोर्द्विश्रुति., निषादगान्धारयो ऋषभधैवतयोस्तु त्रिश्रुति । तदुक्तम्–

"चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जपञ्चममध्यमा ।
द्विर्द्विर्निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिऋषभधैवतौ ॥" [ ] इति ।

तस्या सङ्कुलं सङ्कुलत्व भावपरत्वान्निर्देशस्य तस्य अप्रतिपत्तितः । 'क्रमेणाशुग्रहे' इत्यत्रापि योज्यम् । एतदुक्तं भवति–

आशुग्रहेण शब्देषु यौगपद्यभ्रमो भवन् ।
वंशादिस्वरधारायामपि स्यात्तदभेदत ॥१७८०॥
तथा चादिश्रुतावेव द्वितीयादे. प्रवेशनात् ।
चतुःश्रुत्यादिभेदेन स्वरभेदग्रह कथम् ॥१७८१॥
तदभावे च गीतस्य स्वरभेदावलम्बिन ।
प्रसिद्धस्यापि ते बुद्धया जीवनं पश्य नश्यति ॥१७८२॥

ततो न प्रतीत्याशुभावात् शब्देषु यौगपद्यविभ्रम, सत्यपि तस्मिन् वंशादिस्वरधारायां तदभावात् । न चेदमत्र वक्तव्यम्–आशुभावस्तत्प्रतीतौ तादृशो नास्ति यतस्तद्विभ्रम 'इति, तदतिशायिन तद्भावस्य[1] प्रतीते. ।

१–स्याप्र–भ्रा० ।

अथवा, वंशवद्वर्गोऽक्षरसमाम्नाय. समस्तस्यापि वाङ्मयस्य तत्प्रभवत्वात्, तस्यादिस्वरः अवर्णस्तत्प्रथमत्वेन लोके तस्य पाठात्, तस्य धारा मात्राद्यवच्छिन्नकालानुवृत्ति. तस्यां संकुलप्रतिपत्तिरित इति व्याख्येयम् । अत्रापीदमैदम्पर्यम्–आशुप्रतिपत्त्या शब्देषु यौगपद्यभ्रमकल्पनायाम् अवर्णस्याप्यतिसूक्ष्मसमयावच्छिन्नाद्यश्रुतावेव उत्तरोत्तरसमयसमनुयायिनीनामपि श्रुतीनामाशुभावेन अनुप्रविष्टतया प्रतीत्युपस्थानात् सकुलप्रतिपत्त्या भवितव्यम् । एवम् इवर्णादावपि वक्तव्यम्, आदिस्वरग्रहणस्योपलक्षणत्वात् । एव चैकमात्रादिभेदेन अचामर्धमात्रतया हलामपि प्रतिपत्तेरभावात् प्रसिद्धोऽपि व्यक्तवाग्व्यवहार प्रध्वस्तो भवेत्, तस्य अच्-हल्विभागप्रतीतिपुरस्सरतया तदभावेऽनुपपत्ते ।

आशुग्रहेण शब्देषु यौगपद्यभ्रमं ब्रुवन् ।
व्यक्तवाग्व्यवहाराय देहि भद्र जलाञ्जलिम् ॥१७८३॥
तदभावे च वेदस्य तद्विशेषस्य लुप्तित ।
तत्प्रामाण्यं कथं धर्मे भवता परिचिन्त्यताम् ॥१७८४॥

तन्न प्रतिपत्त्याशुभावनिबन्धनत्वेन कोलाहलश्रुतेर्विभ्रमत्वमुपपन्न बाधारहितत्वेन तात्त्विकत्वस्यैवोपपत्तेरिति । भवतु नाम बहुजनताल्वादिव्यापारप्रेरितोपसर्पदनेकभेदाभिध्वानजनितनानारूपसंस्काराधिकरणदेशभेदाधिष्ठानतया श्रोत्रस्य कलकलश्रुतिवेलाया युगपदनेकशब्दोपलब्धिनिबन्धनत्वं न पुनरेकाभिध्वानोपजनितसस्कारक्रोडीकृतैकप्रदेशस्य, तस्यैकशब्दोपलब्धावेव निमित्तभावोपपत्तेरिति चेत्, अत्राह–

ताल्वादिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते ।
को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ॥३८॥ इति ।

ताल्वादेरादिशब्दाज्जिह्वामूलादेर्यत् सन्निधानं कार्योत्पत्तौ आनन्तर्यं तेन शब्दोऽयं प्रतीयमानो यदि जायते निष्पद्यते को दोषो येन दोषेण नित्यत्वं कौटस्थ्यं कुतश्चित् प्रत्यभिज्ञानादन्यतो वा शब्दस्यावकल्प्यते सम्भाव्यते इति । तात्पर्यमत्र ताल्वादिसन्निधानात् यदि शब्दस्य व्यक्तिः; समानदेशस्य सर्वस्यापि श्रोत्रविषयस्य स्यात् तन्निबन्धनस्य श्रोत्रसंस्कारस्यापि तथैवोपपत्ते.; इन्द्रियान्तरे तथैव प्रतिपत्ते. । न चैवम्, अतो व्यञ्जकधर्मानुपलब्धे. जनकत्वमेव तस्योपपन्नमिति, तज्जनकत्वे कार्यत्वेन शब्दस्यानित्यत्वात् कथ सम्बन्धोपदर्शन यतो वाचकत्वेन व्यवहारोपयोग इति चेत् ? नित्यत्वेऽपि कथं 'पूर्वो ह्रस्व परो दीर्घ' इति भेदप्रतिपत्तिः ? व्यञ्जकध्वानस्य[1] तद्धर्मणस्तत्रोपधानात् न तत्त्वभावादिति चेत्, तस्यापि तत्त्वतो ह्रस्वादिभेदधर्मत्वे कथ स एवाय देवदत्तस्य ध्वनिरित्येकत्वप्रतिपत्ति, यतः स्वरेण पुत्रप्रतिपत्तिरानुमानिकी ? तत्रापि ध्वन्यन्तरोपधानाधीनप्रादुर्भावैव तद्भेदप्रतिपत्तिरिति चेत्, न, ध्वन्यन्तरेऽपि अकृतप्रसङ्गानतिवृत्तेरनवस्थापत्तेश्च । यदप्युक्तम्–

"ध्वनीनां भिन्नदेशत्वं श्रुतिस्तत्रानुरुद्ध्यते ।
अपूरितान्तरालत्वात् विच्छेदश्चावसीयते ॥
तेषां चाल्पकदेशत्वात् शब्दस्याविभुता मतिः ।
गतिमद्वेगवत्त्वाभ्यां ते चायान्ति यतो यतः ॥
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७४-७६] इति ।

1 –निर्ध्वानस्य आ० ।

तदप्यत एव पर्युदस्तम्, ध्वनीनामपि कालभेदिनामिव देशभेदिनामपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययबलादेकत्वनिश्चये व्यापित्वस्यैवोपपत्तेः, तत्त्वतो भिन्नदेशत्वादेरसम्भवात् तदुपधानबलेन शब्दे तत्परिज्ञानस्याशक्यकल्पनत्वात्। तत्राप्यपरतदुपधानवशात् देशभेदादिपरिकल्पनाया चानवस्थानदीस्रवस्य दुस्तरस्यैवोपस्थानात्। नास्त्विक एव ध्वनौ ह्रस्वादिधर्मो बाधकाभावादिति चेत्, न, शब्देऽपि तुल्यत्वात्। प्रत्यभिज्ञाने तद्बाधस्य ध्वनिवदेव निवारणात्। ननु यदि ध्वनिधर्मस्य ह्रस्वादेरननुभूतस्यैव स्वप्ने स्वशिरोविदारणादेरिव शब्दे विभ्रम, तर्हि सकलस्यापि बहिर्भावस्य स्वप्ने विभ्रमदर्शनात् जाग्रद्दशायामपि तत्कल्पनोपनिपातेन बहिरर्थवाद प्रध्वस्तो भवेत्। अनुभवास्त्वादितपूर्वस्यैव तस्य तत्र विभ्रमे तत्रास्यानुभव ? व्यक्तिविधायिनि ध्वनावेवेति चेत्, तस्यापि तर्हि श्रोत्रविषयत्व वक्तव्यम्, अन्यथा तद्धर्मस्य ह्रस्वादेरपि तदनुपपत्ते। तथा च स एव तत्त्वतस्ताल्वादिस्थानविभागसन्निपातोपनिपातोपनीतह्रस्वदीर्घादिस्वभावभेदावच्छिन्नतया बुद्धिविषयतामध्यासीनो वर्णतया वर्णयितव्यो नापरस्तदप्रतीतेः। तथाऽपि तत्परिकल्पनायां ततोऽप्यपरस्ततोऽप्यपर इति न क्वचिदवस्थितता तत्प्रक्लृप्तिर्भवेत्। [1]न चेदृश्यपि नित्यत्वाप (न्यत्वप) रिकल्पनम्, भेदवत्त्वेनाप्यध्यवसायात्। तदुक्त मण्डनेन–

"श्रवणग्राह्यतायां तु मरुतः कोष्ठजन्मनः।
ताल्वादिप्रविभक्तस्य शब्दत्वं स च भेदवान् ॥"

[ ] इति।

सत्यमयमप्यस्ति परस्य पर्यनुयोगः। तन्न व्यञ्जकधर्मोपधानात् वर्णेषु दीर्घादिभेदप्रतिपत्तिः [2]बाधविरहात्। न हि प्रत्यभिज्ञयाऽपि तस्या बाधोऽस्ति तयाऽपि तदनुविद्धतयैव तेषामनुभवात्। तदन्यथा तत्कल्पनायामनुभवापलापदोषापत्तेः। न चानित्यत्वे तेषां[3] सम्यग्दर्शनाद्यनुपपत्तिः, अग्रतस्तदुपपत्तेरवकल्पनात्। ततो युक्त ताल्वादिसन्निधानेन तदुत्पत्तेरनित्यत्वमेव दोषस्य कस्यचिदप्यभावात्, न नित्यत्वम्, तत्र सति सर्वदैवोपलब्धिप्रसङ्गात्। भवतोऽपि तदुपादानस्य प्राग्भाविन कुतो नोपलब्धिरिति चेत् ? अत्राह–

उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद् युक्तं चानुपलम्भनम्। इति।

यत् खलु शब्दस्योपादानं परिणामिकारणं भाषावर्गणात्मकपुद्गलस्कन्धस्तस्य युक्तमुपपन्नम्, अनुपलम्भनं न केवल शब्दस्य जायमानत्वमेवेति चशब्द। कुत उपपन्नम् ? सूक्ष्मत्वात् श्रवणयोग्यपरिणामाभावात्। न चैवं नित्यत्वेऽपि समाधानम् तत्र सर्वदा तद्योग्यस्यैव भावात्। प्रत्यभिज्ञानात् तत्र नित्यत्वमेवोपपन्नं न भेदः, तत्प्रतिक्षेपेनैव प्रतिक्षेपादिति चेत्, अत्राह–

सादृश्यान्नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थिति ॥३९॥ इति।

भवत्येव तेन तत्प्रतिक्षेपो यदि तत्त्वतस्तस्य तदेकत्वावगाहकत्वम्, न चैतत्, तत्र 'स्वतन्त्रत्वे तु' इत्यादिना[4] बाधोपदर्शनात्। अत सत्यपि तत्र स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाया स्थिति पूर्वापरयोर्वर्णयोर्यमकयोरेव(रिव) सदृशपरिणामोपधानतया तदेकत्वप्रतीतिप्रतिक्षेपायालम्। यदि चाय निर्बन्ध तथाभूतयाऽपि प्रत्यभिज्ञया तत्प्रतिक्षेपात् नित्य एव शब्द इति। तत्राह–

[1] न चैवं दृश्य–आ०। [2] बाधकविर–आ०। [3] शब्दानाम्। [4] पृ० ३०६। [5] सदृशपरिणामि।

यदि चैवंविधो नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः। इति।

एवंविधस्ताल्वादिव्यापारोपरचितस्वरूपनिष्पत्तिरपि शब्दो यदि चेत् नित्यः 'च' इत्यवधारणे, तदा नित्या अविचलितरूपास्ते तव मीमांसकस्य विद्युदादयः आदिपदात् प्रदीपादयोऽपि भवेयुः, तत्रापि तादृशप्रत्यभिज्ञासम्भवादिति भावः। यदि च कालभेदेऽपि शब्दस्य तद्बलादेकत्वं देशभेदेऽपि स्यात् तदविशेषात्। अभिमतमेवैतत्–देशभेदतस्तद्भेदानुमानस्य प्रत्यक्षात्मना तदभेदप्रत्यभिज्ञानेनैव बाधोपपत्तेर्न तेन तस्य। तथोक्तम्–

"देशभेदेन भिन्नत्वमित्येतच्चानुमानिकम्।
प्रत्यक्षं तु स एवेति प्रत्ययस्तेन बाधकः॥
पर्यायेण यथा चैको भिन्नान् देशान् व्रजन्नपि।
देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते॥
ज्ञातैकत्वो यथैवासौ दृश्यमानः पुनः पुनः।
कालभेदेन नानेकस्तथा शब्दोऽपि देशतः॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९७-२००]

इति चेत्, न, विद्युदादावप्येवप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्–

यथा देशादिभेदेऽपि देवदत्तो न भिद्यते।
ज्ञातैकत्वस्तथैवासौ विद्युदादिर्न भिद्यते॥१७८५॥
तत्राप्येकत्वसंवित्तेस्तद्वत्प्रत्यवमर्शनात्।
तद्भेदानुमितेश्चापि तेनैव प्रतिबाधनात्॥१७८६॥ इति।

ततो विद्युदादौ तद्भेदानुमानमेव 'स एवायम्' इत्यस्य बाधकं निश्चिताविनाभावालिङ्गादुत्पत्तेः, नेदम्, तस्य सादृश्यदर्शननिबन्धनत्वेन विभ्रमत्वात्, तथा शब्देऽपीति प्रतिपत्तव्यम्। अस्ति हि तत्रापि तदनुमानम्, तथाहि–यदेकेन युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यते तद्भिन्नमेव यथा विद्युदादि, तथोपलभ्यते च शब्द इति। न चात्र क्रमेण भिन्नदेशतयोपलभ्यमानेन देवदत्तादिना व्यभिचारः, युगपद्विशेषणात्। ततो नेदमुपपन्नम्–"पर्यायेण यथा चैकः" इत्यादि। नापि 'बहुभिर्नानादेशतया प्रतीयमानेन सूर्यादिना, 'एकेन' इति विशेषणात्। तत इदमप्यसङ्गतम्–

"प्राग्भागो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः।
प्राग्भागः पुनरेतेषां तेषामुत्तरतः स्थितः॥
तेन [1]सूर्योदितेर्देशौ भिन्नावुभयवासिनाम्।
दृष्टौ सवितुरेकत्वेऽप्यतोऽनैकान्तिको भवेत्॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १६३-६५] इति।

सवितुरेकेनैव भिन्नदेशत्वेन प्रतीतेरभावात्। एवमपि व्यभिचार एव जलपरिपूर्णेषु शरावेषु युगपदेकस्यापि सवितुरेकेनैव[3] भिन्नदेशतयोपलम्भनात्। अत एवोक्तम्–

"जलपात्रेषु चैकेन नानैकः सवितेक्ष्यते।
युगपन्न च भेदेऽस्य प्रमाणं तुल्यवेदनात्॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७८]

१ पुरुषै.। २ सूर्योदयादित्यर्थः। ३ पुरुषेण।

इति चेत्, न, अत एव विद्युदादावपि अतो भेदप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात्।

अपि च, न जलपात्रेषु सवितुरवेक्षण तत्र तस्याभावात्, यश्च तत्रावेद्यते तत्प्रतिनिधि स भिन्न एव प्रतिपात्रमिति कथ तेन व्यभिचार ? सपक्षेणैव तदनुपपत्ते । भवेदाकूतं भवत पात्रावस्थिते पयसि परिस्फुरता भानुमतस्तेजसा चाक्षुपं तेजः प्रति तत्पथ प्रवर्त्यमान व्योमगतमेव मरीचिमालिन प्रतिपात्रमनेकधा भिद्यमानमवद्योतयति। न चैवमपि वस्तुतो भेद इति व्यभिचार एवेति, तदिद दुराकूतम्, एवमनुभवाभावात्। न हि जलपात्राणि पश्यतो व्योमगतविवस्वदवलोकनस्यानुभव, तत्प्रतिविम्बावलोकनस्यैव तद्भावात्। तथाऽपि तदपह्नवेन इतरपरिकल्पनाया न क्वचिन्नियता तत्परिक्लृप्तिर्भवेत्। कथं चैव 'जलपात्रेषु' इत्याद्यविरुद्धम्, स्वदेशगतस्यैव सवितुरवेक्षणे तत्पात्रेषु तदवेक्षणवचनस्यानुपपत्ते ? ततो यदुक्तम्–

"अत्र ब्रूमो वयं तावज्जले सौर्येण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम्॥
स्वदेशभिन्नं गृह्णाति सवितारमनेकधा।
भिन्नमूर्तिं यथापात्रं तदाऽस्यानेकता कुतः।"

[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ १८०-८२] इति।

तत्प्रतिविहितम्, अनुभवप्रत्यनीकत्वात् स्ववचनविरोधाच्च। यदप्यन्यदुक्तम्–

"अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्तते।
एकमूर्ध्वमवस्ताच्च [1]तत्रोर्ध्वं सम्प्रदर्शितम्॥
[2]अधिष्ठातृऋजुत्वात् साक्षात् सूर्यं प्रपद्यते।
पारम्पर्यार्पितं त्वन्तमवाग्वृत्त्या तु बुद्धयते॥
एवं वृत्तितदेकत्वादवागिव च मन्यते।
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते॥"

[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ १८६-८९] इति।

तत्रापि योऽसौ चक्षुषोऽवाग्वृत्त्या सूर्यस्यावागवबोध. स चेदभ्रान्त कथमेतद् 'अवागिव च मन्यते' इति ? विभ्रमविकलात्तत तथा मननासम्भवात्। अथ भिन्नमेव तद्बोधात् तथा तन्मननम्, अत एव 'अवाग्वृत्त्या तु बुद्धयते' इत्यत. पृथगेव 'अवागिव च मन्यते' इत्युक्तम्। न ह्यभेदे पृथग्वचनमुपपन्नं पौनरुक्त्यदोषात्। [3]ततोऽन्यदेव तथा तन्मनन न प्रत्यक्षमिति चेत्, न, तथाऽसम्प्रत्ययात्। न हि प्रत्यक्षमन्यत्–यथाऽवस्थितमरीचिमालिगोचरम्, तदनन्तर च तदवाग्भावविभावन मननमवलोकयाम, चक्षुर्व्यापारानन्तरम् अवाचीनस्यैव तिग्मरुचिरूपस्य निरूपणात्। तथाऽपि तत्कल्पनायां सुखं जीवन्तु सौगता, वहिरन्तश्च निरंशक्षणिकपरमाणुदर्शनस्य तदनन्तरभाविन स्थूलैकविकल्पस्य च तत्परिकल्पितस्यापि एवमव्याकुलमवस्थिते, 'अतोऽय भ्रान्त एव, न तर्हि 'पारम्पर्यार्पितम्' इत्याद्युपपन्नम्, विभ्रमविषयस्य सत्त्वानुपपत्ते। न सूर्ये तस्य विभ्रमो देशभेद एव तद्भावादिति चेत्, न, तत्रापि बाधाभावात्। सूर्यसम्बन्धिनि बाध एवेति चेत्, न, सूर्येऽपि तत्सम्बन्धिनि तदविशेषात्। न तन्मात्रे बाध इति चेत्, न, तस्याप्रतिभासनात्। न हि तन्मा-

१ तत्रोर्ध्वांशप्रदर्शितम्–मी॰ श्लो॰। २ अधिष्ठातृजलत्वात्साक्षा सूर्यं आ॰। अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं–मी॰ श्लो॰। ३ ततोऽन्यसदेव आ॰। ४ यथायं आ॰।

ऋस्य बोधे प्रत्यवभासनम्, अननुभवात् । [1]अप्रत्यवभासित्वे च बाधतदभावयो कश्चिन्नावकाश. । ततो देशभेदवत् सूर्येऽपि विभ्रमस्यैवोपपत्ते 'पारम्पर्यं' इत्यादेरशक्यापाकरणैवानुपपत्ति. । कथं वा विभ्रमात्मना भानुमद्देशभेदोपलम्भेन शब्दविषयव्यावर्णिततदुपलम्भव्यभिचार ? प्रत्यभिज्ञानेऽपि प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्–न[2] घटादिषु प्रत्यभिज्ञानादेकत्वप्रतिपत्ति., लूनपुनरुत्पन्नरोमनखादिप्रत्यभिज्ञानेन व्यभिचारादिति । तदेवाह–

प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्यात् युगपद्भिन्नदेशयोः ॥४०॥ इति ।

प्रत्यभिज्ञा 'स एवायं गकारो योऽन्यत्र श्रूयते' इति प्रत्यवमर्श. । सोऽयं युगपत् अक्रमेण भिन्नदेशयोर्वर्णयो. प्रवर्तमाना तदेकत्वसिद्धौ अप्रमाणं स्यात् भवेत् व्यभिचारभावादिति भाव: । ततो भेदवदभेदस्यापि वर्णेष्वव्यवस्थिते. तदभाव एव प्राप्तो भेदाभेदविकलस्य वस्तुन एवाप्रतिपत्ते. । न च विभ्रमतोऽपि जलपात्रेषु भिन्नदेशतयोपलब्धिर्गभस्तिमालिन ; निर्विभ्रमतया तत्प्रतिसङ्क्रम एव तत्प्रतिपत्तेः । तथाऽपि तत्र तत्कल्पनायामव्यवस्थैव, ततोऽप्यन्यत्र पुनस्ततोऽप्यन्यत्र प्रक्लृप्तेरनिवारणात् ।

भवतु तत्प्रतिबिम्बैरेव तत्रोपलब्धिस्तथाऽपि व्यभिचार तस्याप्यभिन्नस्यैव भिन्नदेशतया प्रतीते., अभेदस्य समानबुद्धिगम्यत्वेन व्यवस्थापनात् । अत एवोक्तम्–

"अनेकदेशवृत्तौ वा सत्यपि प्रतिबिम्बने ।
समानबुद्धिगम्यत्वान्नानात्वं नैव बुध्यते ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९०]

इति चेत्; तन्न; जलतत्पात्राणामप्येवमभेदापत्ते. समानबुद्धिगम्यत्वस्य भावात् । इदमेवाह–'प्रत्यभिज्ञा' इत्यादि । प्रत्यभिज्ञा समानबुद्धि. सा युगपद्भिन्नदेशयोर्जलयोस्तत्पात्रयोश्च प्रवर्तमाना तदेकत्वसाधनं प्रमाणं स्यात् । नायं दोष, तत्र न्यूनाधिकभावेन तद्बुद्धिगम्यत्वाभावादिति चेत्: न; प्रतिबिम्बेऽपि तुल्यत्वात्–तस्याप्यल्पमहतोरधिकरणयोरल्पमहत्त्वेनैव प्रत्यवलोकनात् । प्रतिबिम्बरूपतया अस्त्येव तत्रापि तद्बुद्धिगम्यत्वमिति चेत्; न, जलादावपि जलत्वादिना तदविशेषात् । भवतु ततस्तत्रापि अभेदप्रतिपत्तिरिति चेत्; अत्राह–

सर्वार्थानामनादित्वे स विशेषो निराश्रयः ।
योऽन्यथासम्भवी शब्दघटाद्याख्योऽवभासते ॥४१॥ इति ।

शब्दश्च घटादिश्च तयोराख्या कथनं यस्यासौ शब्दघटाद्याख्यः शब्दे घटादौ च कथ्यमान [3]इत्यर्थ. । कोऽसौ ? विशेषः [4]तयोरेव वैलक्षण्यम् । कथम्भूत. ? अन्यथासम्भवी शब्दादन्येन प्रकारेण घटादौ सम्भवी, स चानित्यत्वमव्यापित्वमनेकव्यक्तिकतयासामान्याधिष्ठानत्वमित्यादि, घटादेरप्यन्येन प्रकारेण शब्दे सम्भवी, सोऽपि नित्यत्वं व्यापित्वमेकव्यक्तिकत्वेन सामान्यवैकल्यमित्यादि, योऽवभासते मीमांसकस्य चेतसि परिस्फुरति । निराश्रयः प्रमाणात्मन आश्रयान्निष्क्रान्तो भवेत् । कदा ? सर्वेषां शब्दवत् घटादीनामपि अर्थानाम् अनादित्वे प्रत्यभिज्ञानबलात् नित्यत्वे स्थापिते सति । उपलक्षणमिद तेन व्यापित्वेऽपीति । तथा हि–

१ अप्रत्यवभासते च आ० । २ नगरादिषु आ० । ३–मानमित्य–आ० । ४ तयोर्वैल–आ० ।

नित्यादिरूपा सर्वेऽर्था प्रत्यभिज्ञानतो यदा ।
घटादौ प्रागुपन्यस्तो विशेष स्यान्निराश्रय ॥१७८७॥
सामान्यविषयात्तत्र प्रत्यभिज्ञा ततो न चेत् ।
तत्र नित्यादिरूपत्व शब्देऽप्यस्त्वेप ते नयः ॥१७८८॥
तथा च घटवत्तत्र भेदज्ञानाद्विभेदिनी ।
[1]नित्यत्वादिविशेषोक्तिस्तव स्यादप्रमाणिका ॥१७८९॥

'सर्वं' इत्यादिकम् । अत्रैव [2]व्यास्येयम्—सर्वव्यवहारहेतुत्वात् सर्वार्थाः, शब्दा , तेपां घटादिवदेव अनादित्वम्—पुरुपपूर्वकत्वम् 'अन' इति पुरुपपर्यायत्वात्, तदादित्वञ्च तद्वदेव [3]तद्भावाभावनियमात् तस्मिन् सतीति । शेप पूर्ववत् । भेदज्ञानाच्च तत्र भेदाभावे नाभेदोऽपि तज्ज्ञानात्, न सत्त्वादिकमपि तत्प्रत्ययादिति न शब्दो नाम भवेत् । तदाह—'सर्वं' इत्यादि । स विशेषो निराश्रयो निष्प्रमाण । कोऽसौ ? यः शब्दघटाद्याख्यः शब्द इति घटादिरिति चाख्यायमान अवभासते लोके प्रतीयते । घटादिग्रहणं शब्दवत् तत्राप्यभावस्यैवोपपत्ते । कीदृशोऽसौ ? अन्यथा अभावादन्येन भावात्मना प्रकारेण सम्भवी । कदा स निराश्रय. ? सर्वार्थानां भेदादिप्रत्ययानां सर्वो भेदादिरर्थो ग्राह्यो येपामिति व्युत्पत्ते, तेपामादित्वं ग्राह्याद्यनादिकरणत्वम्, अनादित्वमतद्भाव तस्मिन् सतीति । सिद्ध च तेपां तदनादित्वं सतामपि तद्व्यवस्थापकत्वाभावात् । ततो निष्प्रमाणत्वेन सर्वेपु नीरूपत्वमेवोपस्थितम् । तदनिच्छता चाभेदवत् शब्दे भेदोऽपि तज्ज्ञानात् प्रतिपत्तव्य । तत्रेद स्यात्—[4]सतोऽपि (सत्यपि) भेदज्ञाने न तस्य भेद , तस्योपाधिनिबन्धनत्वात्, तदपि [5]शब्दव्यक्तिरूपस्य शब्दस्य तद्व्यक्त्यन्तराविच्छेदेनाभिन्नतयैव प्रतीते । तत एवोक्तम्—

"तत्र द्रुतादिभेदेऽपि न भिन्ना सम्प्रतीयते ।
शब्दव्यक्त्यन्तरविच्छिन्ना शब्दव्यक्तिरपरा स्फुटा ॥
तेनैकत्वेन वर्णस्य बुद्धिरेकोपजायते ।
विशेषबुद्धिसद्भावो भवेद् व्यञ्जकसेवतः ॥"
[मी० श्लो० स्फो० श्लो० २२-२३]

तत्रोत्तरम्—

शब्दश्चेद् व्यञ्जकाद् भिन्न शङ्ख पीतादिव स्फुटम् ।
प्रतीयेत कथ तत्र [6]पीतवद्भ्रादविभ्रम ॥१७९०॥
विभिन्नश्चेन्न गम्येत न गम्येतैव सर्वथा ।
गम्यागम्यात्मना तस्य यत्नैरूप्यान्न युज्यते ॥१७९१॥
तेनैकत्वेन वर्णस्येत्यादि तस्मादयुक्तिमत् ।
अप्रतीतिपथप्राप्ते तस्मिन्नित्युक्त्यसम्भवात् ॥१७९२॥
तत्प्रतीतिस्ततो वाच्या द्रुतादिभ्रमवर्जिता ।
तथा चासगत प्राप्त कौमारिलमिद वच ॥१७९३॥
"यथैव तव गत्यादि गम्यमानं द्रुतादिभिः ।
विशेषैरपि नानेकमेवं वर्णोऽपि नो भवेत् ॥

1 आदिपदेन व्यापित्वादिपरिग्रहः । 2 व्याख्येयम् ता० । 3 कार्यकारणभावनियमादित्यर्थं. ।
4 सतोऽपि आ०, ब०, प०, ता० । 5 गोव्यक्ति—आ० । 6 पीतवर्णाद्विभ्रम-आ० ।

त्वयापि व्यञ्जकव्यक्तिभेदाद्भेदोऽप्युपेयते ।
ममापि व्यञ्जकैर्नादैर्भेदवुद्धिर्भविष्यति ॥" इति ।

[मी० श्लो० स्फो० २४–२५]

तन्न भेदवुद्धे नादनिवन्धनत्वम्, तत्त्वत. तद्भेदादेव तदुपपत्ते । तात्त्विकत्वञ्च तस्य वाधाभावात् । नहि प्रत्यभिज्ञानात् तस्य वाव, तेन सामान्यविषयतया विद्युदादिवत् तदनुपद्रवात् । अर्थापत्त्या तस्य वावनम्, तया निर्भेदस्यैव प्रतिपत्ते. । [1]सा चेयम्–नित्य. शब्दो दर्शनस्य तदुच्चारणस्य परार्थत्वात् । परप्रतीतये हि तस्योच्चारणम् । न चासावुच्चारितोऽप्यपरिज्ञातवाच्यसम्बन्ध तत्प्रतिपत्तिमावहति, अश्रुतपूर्वादपि शब्दमात्रात्तदापत्ते । न चानित्यत्वे तत्परिज्ञानम्, अश्रुतस्य तदयोगात्, श्रुतस्यापि तत्कालेऽनन्वयात् । ततो यदि तत्परिज्ञानम् अवश्यम्भाविनी कालान्तरावस्थिति । कथमेवमपि नित्यत्व द्वित्रादिक्षणावस्थितावपि तत्परिज्ञानोपपत्तेरिति चेत् ? न, तस्यैव व्यवहारकालेऽपि पुन पुनरन्वयात् । अन्य एव तत्कालभावी शब्द इति चेत्, कथमन्यस्य सम्बन्धपरिज्ञानमन्यस्य प्रत्यायकत्वमतिप्रसङ्गात् ? तदुक्तम्–

"न ह्यदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ।
तथा चेत्स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् ॥
सम्बन्धदर्शनं चास्य नानित्यस्योपपद्यते ।
सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् ध्रुवं कालान्तरे स्थितिः॥
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ।
गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० २४१-४३] इति ।

ततस्तदुच्चारणस्य पारार्थ्यान्यथानुपपत्त्या नित्य एव शब्द इति चेत्, उत्तरमाह–

स [2]वर्णपदवाक्यानां कालदेशादिभेदिनाम् ।
सदृशानां प्रवन्धोऽयं सर्वेषां न विरुद्ध्यते ॥४२॥ इति ।

स लोकप्रसिद्ध प्रवन्धो वाचकात्मा प्रवाह न विरुद्ध्यते । केषाम् ? 'वर्णपदवाक्यानाम् । कीदृशानाम् ? देशकालादिभेदिनाम् । आदिशब्दात् द्रुतविलम्बितादिभेदिनामपि । यद्येवं भेदाविशेषात् गोशब्दे परिज्ञातसम्बन्धे अश्वशब्दोऽपि वाचको भवेदिति, अत्रोत्तरम्–'सदृशानाम्' इति । क्वचित् सम्बन्धपरिज्ञाने हि भेदिनोऽपि तत्सदृशस्यैव वाचकत्वोपपत्ते कुतोऽतिप्रसङ्ग इति भाव । 'लौकिकानामेव सदृशाना न विरुद्ध्यते न वैदिकानाम्' इत्यत्र समाधानम्–'सर्वेषाम्' इति । न हि वैदिका नाम लौकिकेभ्यो विशिष्यन्ते । "य एव लौकिका त एव वैदिकाः" [शावरभा० १।३।३०] इति प्रसिद्धे । तत. सादृश्यवलादपि दर्शनस्य पारार्थ्योपपत्ते न तत. शब्दनित्यत्वप्रतिपत्ति, अन्यथानुपपत्तेरभावात् । तन्नार्थापत्त्यापि तस्य वाधनम् । 'सर्वेषाम्' इत्यनेन इदमप्यावेदयति । सादृश्य-

---

१ "नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्"–जैमिनिसू० १।१।१८ । न्यायकुमुद० टि० पृ० ७०१ ।
२ सवर्ण–आ० ।

निबन्धनादपि स एवायमित्यभेदसमारोपवतः प्रत्यभिज्ञानादर्थापत्तेर्वा वैदिकानां यदि नित्यत्वपरिकल्पनं प्रत्यागमानामपि भवेत् तदविशेषात्, इत्यपौरुषेयतया तेषामपि धर्मादौ प्रामाण्यात् "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [मी० श्लो० चो० श्लो० ४] ¹इत्यवधारणमनवधारण-प्रयुक्तमिति न तेषां ततो नित्यत्वप्रतिपत्तिः तदागमवतामनित्यत्वाभ्युपगमेन बाधनात्। न तर्हि वैदिकेष्वपि स्यात् "लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्रमाणवार्तिकालं० ३।७१] इति न्यायात् तत्रापि तेषां तदभ्युपगमभावाच्च। तन्न प्रत्यभिज्ञानादेः शब्दे नित्यत्वप्रतिपत्तिः। आत्मादौ तु ततस्तत्परिज्ञानमनुपद्रवत्वादिति न किञ्चिदसमञ्जसमासज्यते। कथं पुनरसति नित्यत्वे शब्दस्य प्रामाण्यमिति चेत्? क एवमाह–तस्य प्रामाण्यमिति, सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्त्वात्, शब्दस्य तु तत्त्वं तत्कारणत्वेनोपचारात्। न च तद्धेतुत्वमपि नित्यत्वात्, अपि तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात्। एतदेव दर्शयन्नाह–

वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यम्। इति।

प्रमाणमिह वागर्थवेदिनः पुरुषस्य ज्ञानं तत्पूर्वाया वाचो वचनस्य प्रामाण्यं न नित्यत्वापरनामधेयादपौरुषेयत्वात्। अत्रैवोपपत्तिमाह–

वस्तुसिद्धये।
स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात् सङ्केतं हि प्रतीक्षते ॥४३॥ इति।

वस्तु वागर्थ एव तस्य सिद्धिः ज्ञप्तिः तदर्थं हि यस्मात् सङ्केतं समयं प्रतीक्षते वाक्, अतः तत्पूर्वाया एव तस्याः प्रामाण्यम्। तत्प्रतीक्षत्वमपि कुतस्तस्या इति चेत्? स्वतोऽन्यनिरपेक्षत्वेन सामर्थ्यस्य वस्तुसाधनशक्तेः विश्लेषादभावात्। ननु समयप्रतिपत्तिरपि शब्दस्य शब्दादेव, तस्यापि समयप्रतीक्षत्वे तत्रापि तत्प्रतिपत्तिरन्यतः शब्दात्, तत्राप्यन्यतस्ततः इति परापरशब्दप्रतीक्षायामेव कालोपक्षयान्न प्रकृते तत्प्रतिपत्तिर्भवेत्। तस्य तदनपेक्षत्वे तु सिद्धं स्वतोऽपि सामर्थ्यम्, अन्यथा ततस्तत्प्रतिपत्तेरसम्भवात्। तथा च शब्दान्तरस्यापि तदविरोधाद् व्यर्थं तत्प्रतीक्षणमिति चेत्; न; शब्दादेव तत्प्रतिपत्तिरिति नियमाभावात्। भवति हि बालकादेर्वृद्धव्यवहारदर्शनादपि पदतदर्थादिसम्बन्धप्रतिपत्तिः। कस्यचित् जन्मान्तरसंस्कारोन्मीलनादपि अश्रुतपूर्वस्याख्यानकृतोऽपि दर्शनात्। कस्यचित् स्वबुद्धिबलादपि यथा पाणिनेः–'आदैचो वृद्धिः' इति, 'अदेङो गुणः' इति, "वृद्धिरादैच्" [पा० सू० १।१।१] इति "अदेङ् गुणः" [पा० सू० १।१।२] इति च तेनैवाभिधानात्। यथा वा तत्रैव पूज्यपादस्य भगवतः 'ऐबिति 'एबिति च "आदैजैप्" [जैनेन्द्र० १।१।१५] इति "अदेङेप्" [जैनेन्द्र० १।१।१६] इति च तस्यैव वचनात्। तदेवमनेकधा समयप्रतिपत्तिसम्भवेनोपपन्नं तत्प्रतीक्षयैवार्थप्रत्यायकत्वं वचनस्य। तदनेकत्वमेव दर्शयन्नाह—

स पुनर्बहुधा लोकव्यवहारस्य दर्शनात्। इति।

स सङ्केतः। पुनरिति वितर्के। बहुधा कथितेन प्रतिपत्तिप्रकारबहुत्वेन बहुप्रकार इत्यर्थः। कुत एतत्? तथैव लोकव्यवहारस्य तत्प्रतिरूपस्य दर्शनादुपलम्भादिति।

साम्प्रतं वाच्यवाचकयोर्विकल्पेनापि सङ्केतस्य भेदं दर्शयन्नाह–

---

१ "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"–जैमिनि० १।१।२। "चोदनैव प्रमाणं चेन्नैतद् धर्मेऽवधारितम्–" मी० श्लो०। २ एमित्यैमिति च आ०।

शब्दार्थयोर्विकल्पेन, [सन्निवेशोऽनुवर्तते ॥४४॥] इति ।

शब्दो वाचक तस्य विकल्पो नामाख्यातनिपातोपसर्गादिरूपो भेद, अर्थो वाच्यस्तस्यापि जातिद्रव्यगुणक्रियादिरूपो भेद एव[1] विकल्पस्तेन सङ्केतो बहुधा शब्दादेः, तद्विषयस्य विकल्पे तस्यापि विकल्पोपपत्तिरिति भाव । यदि वा तयोर्विकल्पो भेदाभेदयोर्गुणमुख्यभावाभ्या परामर्शस्तेन बहुधेति । तत्र गुणभावेन भेदविकल्पे अस्यान्नस्य प्राणा इति वाचकमिति । अभेदविकल्पे च इदमन्न प्राणा इति च सङ्केत । गुणभूत चान्नस्य प्राणत्वम् प्राणस्थिति-हेतुत्वेन प्राणत्वस्य तत्रोपचारात् । अत प्राणशब्दस्य तद्वाचकत्वमपि गुणत एव । मुख्य-तस्तदुभयविकल्पस्तु एषा निःश्वासादीना प्राणा इति वाचकम्, एते वा निःश्वासादयः प्राणा इति च सङ्केत ।

कथ पुन सङ्केतस्य करणं यस्याय प्रपञ्च ? कथन्न स्यात् ? अनुपलब्धस्य शब्दस्य तदयोगात् । उपलब्धस्याप्युच्चरितप्रध्वंसित्वेन सङ्केतकालेऽनन्वयादिति चेत्, मा भूत् प्रत्यक्षत तत्काले तस्य प्रतिपत्ति, प्रत्यक्षस्यैव विषयसन्निधिसव्यपेक्षत्वेन तदभावेऽनुप-पत्ते । तदुत्तरकालभाविना तु विकल्पेन भवत्येव प्रतिपत्तिस्तस्य सन्निहितवत् विप्रकृष्टेऽपि प्रवृत्ते । तत्प्रामाण्यस्य च द्वितीये व्यवस्थापितत्वात् । एतदेवाह–'शब्द' इत्यादि । शब्दार्थयोः यस्सङ्केतोऽयमस्य वाचको वाच्यश्चायमस्येति समय. स विकल्पेन ऊहापरनामधेयेन प्रमाणेन । यद्येव सर्वस्यापि शब्दस्य प्रमाणविषये एव सङ्केतात् सत्येवार्थे प्रवृत्ति', नास्ति समयान्तरभेदिनि प्रधानादौ तत्र सङ्केतस्यैव तन्निबन्धनप्रमाणाभावेनासत्त्वात् । तदुक्तम्–

"परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥" [प्र० वा० ३।२०६]

इति चेत्, न, विकल्पेनापि प्रमाणेनैव सङ्केत इति नियमाभावात्, मिथ्या-विकल्पेनापि प्रायशस्तत्क्रियादर्शनात् । तद्विकल्पस्य च परपरिकल्पनाया समयान्तर-भेदिष्वर्थेषु भावात् । ततो 'विकल्पेन' इति सामान्येन ब्रुवत शास्त्रकारस्यायमभिप्राय-भावाभावतदुभयविषयत्वात् विकल्पस्य तदुपकल्पित-सङ्केतसामर्थ्यादर्थविषयत्वमावहतां शब्दानामपि तद्विषयत्वमेवोपपन्नम्, न परमार्थैकतानत्वमिति । न च कस्यचित् तस्य परमार्थविषयत्वमिति सर्वस्यापि तत्कल्पनमुपपन्नम्, बुद्धिष्वपि प्रसङ्गात् । शक्य हि वक्तु

परमार्थैकतानत्वे बुद्धीनामनिबन्धना ।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥१७९४॥ इति ।

ततो यथा बुद्धित्वाभेदेऽपि सामग्रीगुणदोषाभ्या भावाभावादिविषयत्व बुद्धीना तद्वच्छब्दानामपीति समञ्जसम् । ततो न सङ्केतस्याकरणम्, तत्कालेऽपि विकल्पविषयतया शब्दस्यापक्रान्तस्यापि परिस्फुरणात् । एतदेवाह–सन्निवेशोऽनुवर्तते इति । सन्निवेशः सन्दर्भ, स च वर्णानामेव प्रक्रमादनुवर्तते विकल्पम् तद्विषयत्वेनानुसरति । यदि पुन शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो येन सङ्केत तत्रापेक्ष्यत इति चेत् ? उच्यते–तत्सर्वविषयम्, नियतविषयं वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत् सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्ग । तथा च न ततो नियत-विषय प्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोप. । तत आह–

न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि । इति ।

---

१ एवं आ० ।

सर्वार्थे शब्दस्य या योग्यता सा न साध्वी इति निवेदिताद् दोषात् । नायं दोषः, तस्याः सङ्केतात् विषयनियमोपपत्तेः । एतदेवाह–

'सङ्केतान्नियमो यदि' । इति ।

अत्रापि तदेव दूषणम्–तदन्तरस्यानभिधानात् । तथा हि–यदि सत्यामपि योग्यतायां सङ्केतस्यापेक्षा स एव तर्हि–शब्दस्य तदर्थप्रत्यायने शक्तिरिति न स्वतो योग्यता साध्वी । द्वितीयेऽपि विकल्पे दोषमाह–

सम्बन्धनियमेऽन्यत्र समयेऽपि न वर्तताम् ॥४५॥ इति ।

सम्बन्धस्य योग्यतारूपस्य नियमो नियतविषयत्वम् तस्मिन् अन्यत्र अर्थान्तरे समयेऽपि शब्दो न वर्तताम् न प्रवर्तेत । वर्तते च उर्वश्यादिशब्दस्य देवगणिकादौ प्रसिद्धस्य दर्व्यादावपि सङ्केतवशात् प्रवृत्तिप्रतिपत्तेः । तन्न शब्दार्थयोरपौरुषेयः सम्बन्धः सम्भवति । तदेवाह–

ततः शब्दार्थयोर्नास्ति सम्बन्धोऽपौरुषेयकः । इति ।

सुबोधमेतत् । कस्तर्हि तयोः सम्बन्धः ? इत्याह–

स हि शब्दार्थसम्बन्धो यतोऽर्थः सम्प्रतीयते ॥४६॥ इति ॥

यतो यमाश्रित्य शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स एव तयोः सम्बन्धो भवितुमर्हति । स च सङ्केत एव, तद्बलादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेरुपलम्भात् न स्वतो योग्यत्वम् । यद्येवं शास्त्रकारेण कथमन्यत्र प्रतिपादितम् ?

"योग्यः शब्दो विकल्पो वा सर्वः सर्वत्र चेत्स्वतः ।
मिथ्यात्वं परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिव ॥"

[सिद्धिवि० परि० ५] इति ।

इति चेत्, न, यतो न हि तत्रापि स्वतो योग्यत्वेन तस्य तात्पर्यम्, अपि तु तदभ्युपगमेन शब्दस्यार्थविषयत्वमिति निवेदन एव तत्रापि तात्पर्यम्, अन्यथा कथमत्रेदमभिदध्यात्–'स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात्' इति[1] ? कथं चेदम् 'वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यम्' इति ? स्वतः शब्दस्य योग्यत्वे प्रामाण्यस्य स्वत एवोपपत्तेः, सतोऽपि पुरुषस्य गुणस्य तन्मिथ्यात्वापाकरण एव व्यापारात् । तन्न शास्त्रकारस्य तत्र तात्पर्यम्, सङ्केत एव तच्छक्तित्वेन तात्पर्यात् ।

स्यादाकूतम्–व्यवहाराय सङ्केतः, न चानित्यत्वे शब्दस्य ततो व्यवहारः, कृतसङ्केतस्य तस्य तत्समयेऽनन्वयात्, अन्यस्य तदा सम्भवतोऽप्यकृतसङ्केतत्वेनार्थवत्त्वापरिज्ञानादिति, तन्न, सङ्केतस्य विकल्पावभासिशब्दोपदर्शनद्वारेण देशकालानवच्छिन्नसकलतत्सदृशशब्दविषयतयैव ईदृशमीदृशस्य गमकमितिवत् वाचकमिति च प्रतिपादनेन लिङ्गान्तरस्येव शब्दान्तरस्याप्यर्थवत्त्वपरिज्ञानात् कुतो न व्यवहाराय सङ्केतः स्यात् ? ततो निषिद्धमेतत्–

"शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्धकरणं कुतः ।
न चोच्चरितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥

---

[1] द्रष्टव्यम्–पृ० ३१९ ।

तेनासम्बन्ध[1] (म्बद्ध्य)नष्टत्वात् पूर्वस्तावदनर्थकः।
उत्तरोऽकृतसम्बन्धो विज्ञायेतार्थवान् कथम् ॥"
[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ २५५-२५६]

निवेदितेन न्यायेन सङ्केतकरणस्योत्तरशब्दार्थवत्परिज्ञानस्य च भावात्। लिङ्गेऽपि विद्युदादावस्य प्रसङ्गाच्च। शक्य हि तत्रापि वक्तुम्–

लिङ्ग तावदनादर्श्य सम्बन्धकथन कथम्।
न च दर्शितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥१७९५॥
तेनासम्बन्ध्य(म्बद्ध्य)नष्टत्वात् पूर्व तावदनर्थकम्।
पर चानुक्तसम्बन्ध विज्ञायेतार्थवत् कथम् ॥१७९६॥ इति।

यदप्यन्यदुक्तम्–

"अर्थवान् कतमः शब्दः श्रोतुर्वक्त्रा च कथ्यताम्।
यदा पूर्वं श्रुतं शब्दं नासौ शक्नोति भाषितुम् ॥
न तावदर्थवन्तं स ब्रवीति सदृशं वदेत्।
नार्थवत्सदृशः शब्दः श्रोतुस्तत्रोपपद्यते ॥
अर्थवद्ग्रहणाभावात् न चासावर्थवान् स्वयम्।"
[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ २६०–६२] इति।

तदपि तादृशमेव। तथा हि–

अर्थवत् कतमल्लिङ्ग ज्ञातुर्वक्त्रा प्रदर्श्यताम्।
पूर्वं ज्ञात यदा नासौ लिङ्ग दर्शयितु क्षम ॥१७९७॥
नार्थवद् दृश्यते तेन सदृश दृश्यते यदि।
नार्थवत् सदृश लिङ्ग ज्ञातुस्तत्रोपपद्यते ॥१७९८॥
अर्थवद्ग्रहणाभावात् न स्वय चेदमर्थवत्। इति।

ततो यथा लघुविनाशिन्यपि विद्युदादौ विकल्पावभासिनि सम्बन्धप्रतिपत्तौ परापरकालभाविनि तत्सदृशे सर्वत्रापि तत्प्रतिपत्ते, पूर्वोपलब्धस्य अनुपदर्शनेऽपि परस्योपदर्श्यमानस्य अर्थवत्त्वप्रतिपत्ति, अन्यथा ततो वातादिसाध्यप्रत्यायनानुपपत्ते। अस्ति चेदम्–

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥"
[पा॰ महा॰ २।३।१३]

इति प्रसिद्धे। तथा शब्दस्यापीति न तत्राप्यय दोषो भाषितव्य। ततो युक्त परापरस्यापि शब्दस्य वाचकत्वम्। इदमेव कारिकाखण्डेन दर्शयति–

तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते। इति।

यत्र यस्मिन् शब्देऽर्थे वा सङ्केतोऽयमस्य वाचको वाच्य इति समय प्रवर्तते तादृशस्तत्समानः शब्दो वाचकः तादृशस्यार्थस्य तादृश इति षष्ठ्यन्तस्याप्यावृत्त्या सम्बन्धात्। सादृश्याच्च वाचकत्वं वर्णस्य वर्णान्तरेण पदस्य पदान्तरेण एवं वाक्यादावपि। ततो न

---

1 असम्बद्ध्येति सम्बन्धमगत्वा इत्यर्थः।

शालाशब्दे सम्बन्धपरिज्ञानात् मालादिशब्दस्यापि तदर्थवाचकत्वम्, वर्णमात्रेण सादृश्येऽपि पदरूपतया तदभावात्। यदप्युक्तम्-

"सादृश्यात् प्रतिपत्तौ च भ्रान्तिज्ञानं प्रसज्यते।
धूमे दृष्टेऽग्निसम्बन्धे वाष्पादिव कृशानुधीः॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २६९] इति।

तत्रोपपन्नं बाष्पादग्निज्ञानं भ्रान्तमिति धूमस्यैव तत्र प्रतिबन्धपरिज्ञानम्, तत्सादृश्यस्य शब्दस्य तु तदन्तरसदृशस्यैव तदर्थे तत्परिज्ञानात्। कुतस्तत तज्ज्ञानस्य विभ्रमत्वम्? अपि च, एवं धूमान्तरादपि दहनज्ञानं भ्रान्तं भवेत्, तस्यापि सादृश्यादेव गमकत्वात्। सामान्यस्य तदर्थान्तरस्य प्रत्याख्यानात्। अप्रत्याख्यानेऽपि वाष्पादनलज्ञानं भवतोऽपि कुतो भ्रान्तम्, धूमसामान्यस्य तत्राभावादिति चेत्? न, पाण्डुत्वादेर्भावात्। तद्विशेषस्याभावादिति चेत्, ममापि तर्हि सादृश्यविशेषाभावात् भवतु ततस्तज्ज्ञानं भ्रान्तम्, न तद्वत शब्दात् तदर्थज्ञानमिति समः समाधिः। ततः सूक्तम्-'तादृशो वाचकः' इत्यादि।

भवतु तादृशस्य वाचकत्वं शब्दस्य ममापि तथा तदभ्युपगमादिति सौगतः, तन्न तन्मते शब्दस्यैवासम्भवात्। स हि पदादिरूपो न विना वर्णव्यवस्थितिमवस्थातुमर्हति। वर्णक्रमसन्दोहस्य पदत्वात्, पदक्रमसङ्घस्य च वाक्यत्वात्। स च वर्णः क्षणक्षीणैकध्वनिस्वभावः, क्षणपर्यायप्रवृत्तानेकध्वनिरूपो वा प्रकारान्तरानिरूपणात्? न तावदाद्यो विकल्पः, अनभ्युपगमात्, क्रमप्रवृत्तासङ्ख्येयध्वनिभागपरिनिष्ठितात्मा ह्येकैकोऽपि वर्णस्तस्याभिप्रेतः। तत्रासङ्ख्येयक्षणनिमेषपरिसमाप्तिरिति वार्तिके[1] श्रवणात्। नापि द्वितीयो विकल्पः, ध्वनिक्षणानां निरन्वयविनाशे हेतुफलभावानुपपत्त्या तन्निबन्धनस्य पौर्वापर्यस्यासम्भवात्। निरूपिता च तत्र तदनुपपत्तिः। सम्भवत्यपि तस्मिन् कथं बहुष्वेकव्यपदेशोऽयमकारो गकारो वेति? तेष्वेकत्वस्य कल्पनात् तद्रूपत्वाच्च वर्णादेरिति चेत्, ननु कल्पनमपि शब्दादेव "विकल्पाः शब्दयोनयः" [ ] इति वचनात्। स शब्दो यदि स एवाकारादिः तर्हि 'विकल्पात्तस्य, ततो विकल्पस्य निष्पत्तिः' इति परस्पराश्रयात् नोभयस्यापि सम्भवः स्यात्। अथान्य एव स शब्दो यतो विकल्प इति, तन्न, तस्यापि तत एव कल्पने तथैव दोषात्। पुनरप्यन्यतः तत्कल्पितादेव शब्दात् तद्विकल्पपरिकल्पनायामितरेतराश्रयप्रवाहप्राप्तेः। विकल्पान्तरकल्पितात् ततस्तत्कल्पनमित्यपि न युक्तम्, तदन्तरस्यापि स्वकल्पितादेव शब्दादपरापरस्मादुत्पत्तिपरिकल्पनाया पूर्ववद्दोषात्, तस्यापि तदन्तरकल्पितात् ततस्तत्परिकल्पनायामनवस्थाप्राप्तेः। नायं दोषो हेतुफलभावेनानादित्वात् शब्दाकारावभासिनो विकल्पप्रवाहस्येति चेत्, न, एवमपि तदसम्भवात्। तथा हि-

अवस्तुसन् यदा वर्णः तदा तत्कल्पनाकरी।
बुद्धिस्तन्मात्ररूपत्वात्कथं वस्तुसती भवेत्॥१७९९॥
यतः शब्दस्य सा हेतुस्तस्याः शब्दोऽपि वा फलम्।
न ह्यसत्कस्यचिद्धेतुः कार्यं वा व्योमपुष्पवत्॥१८००॥

---

१ "सर्वोन्त्योऽपि हि वर्णात्मा निमेषतुलितस्थितिः। स च क्रमादनेकाणुसम्बन्धेन नितिष्ठति॥" -प्र० वा० २।४९५। "स चाक्षिनिमेषकालस्थायी अकारादिः अनेकेषामाकाशतम संज्ञितानां परममालाद्वयवर्तिनामणूनां सम्बन्धेनाक्रमेण निमेषकालसंज्ञितेन क्रमाद् भूयः क्षणान्यवधानात् नितिष्ठति परिसमाप्यते।"-मनोरथन०।

रूपं यदपि सत्तस्या. स्ववेदनमभीप्सितम् ।
न तस्य निर्विकल्पत्वात् शब्दकारणकार्यता ॥१८०१॥

तन्न शब्दस्यावस्तुसत्त्वे विकल्पसम्भव यतस्तत्कल्पनमित्ययुक्तमिदम्–"विकल्पयोनयः शब्दाः" [ ] इति । तन्न सौगतमते शब्दस्य सम्भव, वर्णस्यैवानवस्थितौ तत्क्रमात्मन पदादेरप्यव्यवस्थिते. । एतदेवाह–

क्रमेणोच्चार्यमाणेषु ध्वनिभागेषु केषुचित् ॥४७॥
न वर्णपदवाक्याख्या अविकारेष्वसम्भवात् । इति ।

न हि सूक्ष्मसमयावसायितयोपजायमानेषु केषुचिन्नादरूपेष्ववयवेषु वर्णादिव्यपदेशा सम्भवन्ति, तेषामेव निरन्वयविनश्वरतया विकार[1]विकलाना हेतुफलभावानभिश्रयतया व्योमारविन्दमकरन्दप्रख्यानामप्रख्याभूमित्वेन तत्र तत्त्वत कल्पनया च वर्णादिव्यवस्थापनानुपपत्ते ।

एतेनैतदपि प्रत्युक्त यदुक्त केनचित्[2]–"क्षणिकः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभु[3]द्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत् ।" [ ] इति, तथा हि शब्दस्याप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धि लिङ्गस्य । प्रतिपत्तौ तत्र तस्य कारणत्व वक्तव्यम् "अर्थवत् प्रमाणम्" [न्यायभा० १।१।१] इत्यत्र कारण [त्व] स्यैव विपयत्वव्याख्यानात् । तस्य च न सहजन्मनस्तत्कारणत्व तस्य तत्प्रतिपत्त्या युगपन्निष्पन्नयाऽनपेक्षणात् । न प्रागधिगतजन्मनोऽपि तदुत्पत्तिसमयमप्राप्य निवृत्तस्य, [4]अनधिगतजन्मनोऽपि तस्य तद्धेतुत्वप्रसङ्गात् । न हि किञ्चित्तत्र निबन्धनं यदुत्पन्नाभूतमेव कारणं नानुत्पन्नाभूतमिति नीरूपत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् । ततस्तत्समयप्राप्तस्यैव तस्य[5] तत्कारणत्वम् । तथा च न क्षणिकत्व प्रागिव पश्चादपि तस्य समयान्तरप्राप्तेरवश्यम्भावात्, अन्यथा प्रागपि तदभावोपनिपातात् ।

एतेन क्षणषट्कस्थायित्वं क्षणिकत्वमिति प्रत्युक्तम् । यत –

क्षणात् क्षणान्तरं गच्छन्नित्यो यद्युक्तमार्गत ।
क्षणषट्कक्रमस्थायी सुतरा नित्यता व्रजेत् ॥१८०२॥

कथमेवं चलत्वं कस्यचिच्छब्दस्य यदि तस्यापि समयान्तरप्राप्तिरावश्यकात्त- (वश्यिका त) दभाव[6] एव तदुपपत्तेरिति चेत्, न; तत्प्राप्तावनुपलभ्यत्वेनापि [7]तदुपपत्ते । न चोपलभ्येतरयोरेकत्वानुपपत्ति , युगपदिव क्रमेणापि तदविरोधात् । अस्ति च युगपत्तयोरेकत्वम्, उपलभ्यस्यैव शब्दस्य[8] क्षणक्षयात्मनाऽनुपलभ्यत्वात् । तेनाप्युपलभ्यत्वे प्रकृतस्यानुमानस्य वैफल्यात् । विप्रतिपत्तिनिवर्तनार्थत्वान्नेति चेत्, कुतस्तस्य तदर्थत्वम् ? निश्चयरूपत्वादिति चेत्; न, प्रत्यक्षस्यापि तद्रूपस्यैव भवतां प्रसिद्धे । तथापि तद्विषये विप्रतिपत्तावनुमानविषयेऽपि स्यादिति पुनस्तन्निवर्तनार्थं प्रमाणमन्यदन्वेषणीयम्, तत्राप्येवमनवस्थितेर्न कदाचिदपि तन्निवृत्तिर्भवेत् । ततोऽनुपलभ्यतद्रूपविज्ञानार्थत्वमेव तस्योपपन्नमिति सिद्धमुपलभ्येतरस्वभावयोरेकत्व युगपत् । एव क्रमेणापि श्रावणस्य तत्स्वभावपरिहारेण शब्दपरिणामिनो भावस्य पुनरवस्थितिसम्भवात् । तत्र प्रकृतादनुमानादेकान्तत शब्दे

१ –रविकलपानाम् आ० । २ वैशेषिकेण । ३ विभुद्रव्यमाकाशम् । ४ अनुत्पन्नस्यापि । ५ शब्दस्य प्रतिपत्तिकारणत्वम् । ६ समयान्तरप्राप्त्यभावे एव चलत्वोपपत्तेः । ७ चलत्वोपपत्ते । ८ शब्दस्य तत्रय– आ० ।

क्षणिकत्वसाधनमुपपन्नम् । कथञ्चित् तत्साधनेन विरुद्धत्वादनैकान्तिकत्वाच्च । व्यभिचारि हीदमनुमानं भावनादिना, तस्यात्मगुणविशेषस्याक्षणिकत्वेऽप्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् । न चायमपि क्षणिक एव कालान्तरे तदभावेन तत्फलस्यानुदयप्रसङ्गात् । न चैवम् । भावनाधर्माधर्माणां भवान्तरेऽपि फलदायित्वेन परस्यापि प्रसिद्धेः । नापि तत्र हेतुविशेषणम् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वम्' असिद्धम्; मानसेन प्रत्यक्षेणास्मदादिभिरपि तस्य प्रत्यक्षीकरणात् । कथमन्यथा 'यावान् कश्चिद् गुणः स सर्वोऽपि गुण्याश्रित' इति साकल्येन व्याप्तिप्रतीतिः ? यतः "द्रव्याश्रिता बुद्ध्यादयो गुणत्वात् रूपादिवत्" [ ] 'इत्यनुमानमुदयवदवबुद्ध्येत यत आत्मसिद्धिः । यदि पुनरेव विशेषणम्–'अस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सति' इति, न चैवं व्यभिचारो भावनादौ तदभावादिति, न तर्हि सुखादिवदिति निदर्शनमुपपन्नं साधनवैकल्यात्, तदपि तद्विशेषणकस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्य तत्राभावात् । कुतो वा श्रोत्रस्य बाह्येन्द्रियत्वं यतस्तद्विषयस्य शब्दस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वमवकल्प्येत ? अनन्तशरीरवृत्तेरिति चेत्; न, कर्णशष्कुल्यवगुण्ठितत्वेन तदन्तर्वर्तिन एवाकाशस्य श्रोत्रत्वोपगमात् । आत्मना तस्याऽसंयोगादिति चेत्, न तर्हि नयनादेर्बाह्येन्द्रियत्वं तत्र तत्संयोगभावात्, अन्यथा आत्मनोऽसर्वगतत्वप्रसङ्गो मूर्तैरपि नयनादिभिरनभिसम्बन्धात्, तत्सम्बन्धलक्षणत्वाच्च व्यापित्वस्य[2] । भवतु तर्हि मनोऽधिष्ठितत्वादेव नयनादेरिव श्रोत्रस्यापि बाह्येन्द्रियत्वमिति चेत्; तदनधिष्ठाने को दोषो यतस्तत्परिकल्पनम् ? युगपद्ज्ञानोत्पत्तिरेव, रूपादीनां युगपदपि सन्निधानसम्भवादिति चेत्, न, तदुत्पत्तिक्रमनियमस्यादृष्टवशादपि शक्यकल्पनत्वात्, सत्यपि मनसि तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्, अन्यथा सर्वकार्येषु तस्य[3] साधारणहेतुत्वानुपपत्तेः । न चैवं मनस इव नयनादेरपि वैयर्थ्यम्, तस्य गोलकादिरूपस्य दृष्टत्वेनाशक्यप्रतिषेधत्वात् । शक्तिरूपस्य शक्य एव प्रतिषेधः, तत्प्रसवाभिमतस्य रूपादिज्ञानभेदस्यादृष्टभेदादेवोपपत्तेरिति चेत्; यद्येव प्रतिपद्यसे न किञ्चिदनिष्टं 'तद्भेदस्यैव[4] क्षयोपशमविशेषापरनामधेयस्य साक्षान्नयनादित्वेनास्माभिरभिधानात्, गोलकादेस्तदधिष्ठानतया गवाक्षस्थानीयस्यैवोपचारादेव रूपादिज्ञानहेतुत्वपरिकल्पनात् । ततः श्रोत्रस्य बाह्येन्द्रियत्वानुपपत्तेः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वमेवावशिष्यत इति तदवस्थो व्यभिचारः, तद्विशेषणस्य हेतोर्भावनादौ साध्यविपर्ययेऽपि भावात् ।

असिद्धश्चायं हेतुः विभुद्रव्यविशेषगुणत्वादिति, आकाशे तस्य तत्कार्यतया समवायाद्धि तद्गुणत्वम्, न चासौ तस्यास्ति अनुपरमप्रसङ्गात् । निरूपितं चैतत्–"कारणस्याक्षये"[5] इत्यादौ । एतेन सुखादेरप्यात्मकार्यत्वेन तद्विशेषगुणत्वं प्रतिषिद्धं बोद्धव्यम् । ततो नातः क्षणिकत्वप्रतिपत्तिः शब्दस्य असिद्धत्वात्, निदर्शनस्य साधनवैकल्याच्च । तन्न यौगमतेऽपि सम्भवः शब्दस्य । स्वमते तु तत्सम्भवं दर्शयन्नाह–

शब्दभागाः स्वहेतुभ्यः समानोन्नयहेतवः ॥४८॥ इति ।

श्रोत्रग्रहणयोग्याः परिणामाः शब्दाः त एव प्रतिदिशमनेकरूपतया विभज्यमानत्वात् भागास्ते समानस्य सदृशस्य प्रतिश्रोत्रमात्मप्रापणस्य उन्नयस्य हेतव इति । कुतः

१ "सुखादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपादिवत्" –प्रश० व्यो० पृ० ४०६ । २ सर्वमूर्तमद्द्रव्यसंयोगित्वं व्यापित्वम् । ३ अदृष्टस्य । ४ अदृष्टविशेषस्यैव । ५ न्यायवि० श्लो० १।१०६ । पृ० ४१० ।

पुनस्ते स्वयं भवन्तस्तदुन्नयस्य हेतव इति चेत् ? स्वहेतुभ्य एव। स्वहेतवश्च तेषामुपादानतया पुद्गलविशेषाः, सहकारितया च ताल्वादिस्थानप्रयत्नभेदास्तेभ्य एव। कथमेवमपि युगपत् समानानेकवर्णोत्पत्तिरिति चेत् ? यौगपद्येन बहुभिरुपलम्भादेव। न चायमेकत्वे वर्णस्य सम्भवति, एकश्रोत्रप्रविष्टस्य तदैव तदन्तरप्रवेशासम्भवात्। एकस्यापि व्यापिनः सम्भवत्येव युगपदनेकतत्प्रवेश इति चेत्, न; तथापि समग्रस्य तदसम्भवात्, असमग्रोपलब्धस्य च वाचकत्वानुपपत्तेः। एतदेवाह–

सकलाग्रहणात् [तेषां युक्ता हि श्रोत्रगोचराः]। इति।

सकलस्य समग्रशब्दपरिणामस्य यद् **अग्रहणम्** एकत्वाभ्युपगमे प्राप्तं तस्मात् **समानोन्नयहेतव एव** त इति। यद्येवं कथमेक एव शब्दोऽस्माभिरश्रावीति तदुपलब्धिमतां संवाद इति चेत् ? न; सादृश्यादपि तदुपपत्तेः। दृश्यते हि ततोऽपि तथासंवाद–यथैक एवाहारः पङ्क्तिगतानामिति। ततो युगपत् सकलाकारतया भिन्नदेशव्यवस्थितानेकप्रतिपन्तृगोचरत्वादनेक एव शब्दः।

श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वेनैकस्यापि शब्दस्य तथा तद्विषयत्वोपपत्तेर्नातस्तन्नानात्वप्रतिपत्तिरिति चेत्, न, तत्राप्राप्यकारित्वस्यानुमानतः प्रतिपत्तेः। प्राप्यकारि श्रोत्रं प्रत्यासन्नग्रहणात् साधर्म्येण घ्राणवत्, वैधर्म्येण नयनवत्। न चैवं दिग्विभागस्य दूरादिभावस्य चाप्रतिपत्तिरेव, श्रोत्रं प्रति शब्दस्याभिपतनविशेषादेव प्राच्योऽयमुदीच्योऽयं प्रत्यासन्नोऽयमन्यथा वेति तत्र प्रतिपत्तेः सम्भवात्, प्राप्यकारिण्यपि घ्राणेन्द्रिये तत एव तद्भावात्। कथमन्यथा पिपीलिकादीनां गन्धाभिपतनदिगभिमुखतया प्रत्यासन्ने दूरे वा गन्धद्रव्ये प्रवृत्तिः ? एवं तर्हि दूरत्वस्यासत एव तत्र प्रतिभासनात् श्रोत्रज्ञानं कथमभ्रान्तमिति चेत् ? न, शब्दरूपस्य सत एव तत्र प्रत्यवभासनात्। भ्रान्तेतरात्मकत्वमेकत्र विरुद्धमिति चेत्; न, दृष्टत्वात्। कथमन्यथा साकारज्ञानवादिनस्तवाप्ययं न दोषः–ज्ञानान्तर्गतत्वेनादूरस्यैव नीलादेर्दूरतया प्रत्यवभासनात्। न हि तद्विषयं ज्ञानमपि दूरमेव शरीरस्य निर्ज्ञानत्वापत्तेः। ज्ञानान्तरेण तस्य सज्ञानत्वमिति चेत्; न, तस्य निर्विषयस्याभावात्, सविषयस्य पूर्ववद्दूरत्वापत्तेः, पुनरपि ज्ञानान्तरेण तस्य सज्ञानत्वकल्पनायामव्यवस्थितिप्रसङ्गात्। तत्र शरीराद् बहिर्ज्ञानकल्पनमुपपन्नं निःशरीरस्य ज्ञानस्याप्रतिवेदनात्। ततो दुष्परिहरमेवाप्राप्यकारि श्रोत्रादिकं ब्रुवतोऽपि तज्ज्ञाने विभ्रमेतरात्मकत्वमिति न तेन वयं पर्यनुयोक्तव्याः। ततो युक्तं श्रोत्रस्य घ्राणादिवत् प्राप्यकारित्वम्, अन्यथा नयनादिवत् प्रत्यासन्नग्राहित्वाभावप्रसङ्गात्। अस्ति च तत्रेदम्–कीटकध्वानादेः कर्णविवरान्तर्वर्तिनोऽपि तेन प्रतिवेदनात्। न चैतदप्राप्यकारिणि चक्षुषि दृष्टं तदन्तर्गतस्याञ्जनादेस्तेनाप्रतिपत्तेः। तथा च कस्यचित् सुभाषितमपि "न स्वमलमक्षि पश्यति शशिनि कलङ्कं निरूपयिष्यति" [ ] इति

चक्षुरपि प्राप्यकार्येव [1]बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगादिवदिति चेत्, अत्र चक्षुर्यदि गोलक न तर्हि तत्र प्राप्यकारित्वसाधनमुपपन्नम्, तत्पक्षस्य अनुष्णाग्निपक्षवत् प्रत्यक्षेण [illegible]। विषयविप्रकृष्टस्यैव हि गोलकस्य प्रत्यक्षेण प्रवेदनं न तत्प्राप्तस्य। रश्मिद्वारेण त[illegible] स्यैव तस्यानुमानतः प्रतिपत्तिः। तच्चेदमनुमानम्–रश्मिकलापालङ्कृतं चक्षुः तैज[illegible]

१ "चक्षु-श्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्" –न्यायवा० ता० पृ० [illegible] न्यायकुमु० द्वि० पृ० ७५ टि० २।

प्रदीपवत्। [1]तैजसं च तत् रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् तद्वदेव। ततो गोलकादभिसर्पतस्तत्कलापस्य विषयप्राप्तेः प्राप्यकार्येव चक्षुरिति चेत्, अत्र यदि गोलकस्य स्वतो रूपप्रकाशकत्वं रश्मिकलापकल्पनस्य वैयर्थ्यम्। तत्कलापद्वारकमेव तस्य तदिति चेत्, कथं तदसिद्धौ तस्य तद्द्वारकं तत्प्रकाशकत्वम्? तत्सिद्धिश्च यद्यन्यतः, तदेवोच्यतां किं तैजसत्वेन? तैजसत्वादेवेति चेत्, तर्हि तस्मात् तत्कलापसिद्धौ तद्द्वारकं तस्य रूपप्रकाशकत्वं ततोऽपि तैजसत्वं सिद्ध्यतीति कथन्न परस्पराश्रयः स्यात्? तन्न तत्कलापसिद्धिरिति न तद्द्वारकमपि चक्षुषः प्राप्यकारित्वम्। कथं वा प्राप्यकारित्वे तस्य व्यवहितविषयत्वं प्राप्त्यभावात्। दृश्यते च शुद्धस्फटिकघटीभित्तिव्यवहितस्यापि वस्तुनस्तेन प्रकाशनम्। तस्यास्त्येव तेन प्राप्तिः तद्भित्तेर्निर्भेदादित्यपि न सङ्गतम्, तदन्तर्गतस्य जलादेर्बहिरवस्रंसनप्रसङ्गात् तच्छिद्रानुपलब्धेश्च। न तस्य तेन प्रकाशनं तत्प्रतिबिम्बस्यैव बहिरपक्रान्तस्य प्रकाशनादित्यपि मन्दमतेरेव स्पन्दितम्, अन्तर्गतस्य बहिष्प्रतिबिम्बापक्रमणानवलोकनात्। तस्मादप्राप्यकार्येव चक्षुः। तथा चोपपन्नः श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वे तस्य वैधर्म्योदाहरणत्वं साध्याव्यावृत्तिदोषाभावात्। ततः श्रोत्रं प्राप्यकार्येव उक्तान्न्यायात्। एतदेवाह–

तेषां युक्ता हि श्रोत्रगोचराः। इति।

तेषां शब्दभागानां मध्ये युक्ताः श्रोत्रेण सम्बद्धा हिरवधारणे श्रोत्रस्य गोचरा विषया अन्यथा प्रत्यासन्नग्राहित्वाभावप्रसङ्गादिति मन्यते। किं पुनरिदं श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वोपकल्पनम्? आकाशमिति कश्चित्[2], तन्न, तस्य विभुत्वेन दूरभूतानामपि शब्दानां प्राप्त्यविशेषेण ग्रहणप्रसङ्गात्, तस्यैकत्वेन सर्वेषामेकश्रोत्रत्वापत्त्या सर्वविषयस्यैकेन एकविषयस्य सर्वैरपि ग्रहणापत्तेश्च। न च तस्य[3] प्रदेशवत्त्वं यतोऽदृष्टविशेषोपनिबद्धसंस्काराधिकरणस्य तत्प्रदेशस्य श्रोत्रत्वात्, तेन च दूरभूतानामप्राप्तेर्न प्रथमो दोषः, नापि द्वितीयस्तस्य प्रतिप्राणिभेदेन श्रोत्रनानात्वस्यैवोपपत्तेरिति व्यवस्थाद्वयं परिकल्प्येत, निष्प्रदेशस्यैव तस्याभ्युपगमात्। कल्पितस्य च तत्प्रदेशस्याकिञ्चित्करत्वात्। तदुक्तं कुमारिलेन–

"आकाशश्रोत्रपक्षे तु विभुत्वात्प्राप्तितुल्यता।
दूरभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते॥
श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत्।
तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते॥
तस्यानवयवत्वाच्च न धर्माधर्मसंस्कृतः।
नभोदेशो भवेच्छ्रोत्रं व्यवस्थाद्वयसिद्धये॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० ५६–५९] इति।

ततः क्षयोपशमविशेषाधिकरणजीवप्रदेशावष्टब्धः कश्चिच्छरीरावयव एव श्रोत्रमिति स्याद्वादिनः, तत्संस्पर्शेनैव शब्दस्य प्रत्यवभासनात्। शब्दावभासनं हीन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च तदवयव एव युक्तं, तत्सम्बन्धादेव तस्योपलम्भात् तदभावे च विपर्ययात्। तथा च 'पुद्गलपर्यायः शब्दः शरीरावयवसम्बन्धेनोपलभ्यमानत्वात् शीतातपादिवत्' इत्यनुमानविजृम्भणात् नाकाशगुणत्वं तस्य तद्वदेवेति प्रतिपादितं भवति। एतदेव दर्शयन्नाह–

---

१ "तैजसत्वं तु तस्य रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्"—प्रश० कन्द० पृ० ४० । न्यायकुमु० पृ० ७६ टि० २ । २ वैशेषिक. । ३ आकाशस्य ।

परिणामविशेषा हि भावानां भावशक्तयः ॥४९॥
ध्वनयस्तत्समर्थानाम् [अभावादतिरेकिणाम्] ॥ इति ।

ध्वनयो वर्णादिरूपा शब्दा., सामान्यवचनादपि ध्वनिशब्दात् क्रमवचोन तेषामेव प्रतिपत्ते । ते न नित्या नाप्यन्यहेतुकास्तत्र दोषाभिधानात्, अपि तु परिणामविशेषाः परिणामा श्रवणज्ञानयोग्या विवर्तास्त एवान्येभ्यश्छायातपादिपुद्गलविवर्तेभ्यो विशिष्यमाणत्वाद्विशेषास्ते च तद्विशेषा. । केषाम् ? तत्समर्थानां तत्र परिणामविशेषेषु ये समर्थास्तद्रूपावाप्तियोग्यास्तेषाम् अतत्समर्थानां तदनुपपत्ते । [1]अहङ्कारस्यैव तर्हि ते तद्विशेषा भवन्तु शब्दतन्मात्रस्याहङ्कारिकत्वेन पारमर्षे [2]प्रतिज्ञानादिति चेत्, न; [3]तस्य चिद्रूपस्यामूर्तत्वेन मूर्ततद्विशेषासम्भवात् । अचिद्रूप एवाहङ्कारोऽप्यनित्यत्वात् कलशादिवदिति चेत्, न, स्वतस्तत्र चिद्भावस्य प्रतिपत्ते । चित्सम्पर्कोपनिबन्धना तत्र तत्प्रतिपत्तिर्न स्वतश्चैतन्यादिति चेत्, न, तत्सम्पर्केऽपि स्वयं तत्परिणामविकले तदयोगात् । अन्यथा परिणामविशेषेष्वपि तत्प्रसङ्गः तेषामपि व्यापिना चैतन्येन सम्पर्काविशेषात् । अहङ्कारे विशिष्टस्तत्सपर्क इति चेत्, स [4]कोऽपरोऽन्यत्र ताद्रूप्यादिति ? ततश्चिद्रूप एवाहङ्कारो निर्बाधात् तत्प्रत्ययात् । न चानुमानेन तस्य बाध[5], विषयानुभवे चिद्रूपेऽप्यनित्यत्वस्य भावेन व्यभिचारात् । सोऽप्यचिद्रूप एवेति चेत्, कथं तत्र चिद्व्यवहारो यत. इदमुच्येत–"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति । चिच्छायासङ्क्रमादिति चेत्; तेन तर्हि व्यभिचार. चिद्रूपत्वेऽपि तस्यानित्यत्वात् । तत्रापि तत्सङ्क्रमान्तरात्ताद्रूप्यकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । तन्नाहङ्कारविवर्तत्वं शब्दानामित्यपर्यालोचितवचनमेतत्–

"अभिमानोऽहङ्कारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चापि ॥"

[सांख्यका० २४] इति

ततस्तत्सामर्थ्यं पुद्गलविशेषाणामेव तत्र तद्व्यवस्थापनात् । कुत. पुनस्तेषां तद्विशेषत्वमेव नैकान्तनित्यत्वादिकमिति चेत् ? उत्तरम्–'भाव' इत्यादि । भावः स्वपरज्ञानादेः कार्यस्योत्पाद तत्र शक्तिर्येषां ते भावशक्तयः ध्वनयो हि यस्मात्ततस्ते तद्विशेषा एव नैकान्तनित्यादय. तत्र तच्छक्तित्वायोगस्य निरूपणात् ।

परिणामविशेषोऽपि 'गौरश्व.' इत्यादौ क. शब्दो यत्रार्थप्रत्यायकत्वेन पदव्यपदेश. कल्प्येत ? पश्चाद्भावी विसर्जनीय इति चेत्, न; तस्य केवलस्याप्रत्यायकत्वात्, पूर्ववर्णानामपार्थकत्वापत्ते । तर्हि तै. सम्भूय तस्य प्रत्यायकत्वमिति चेत्, न, नियतक्रमवर्तिना तेषां यौगपद्याभावेन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेः । तदनन्तरोपलब्धिविशिष्टस्य तस्य प्रत्यायकत्वमित्यपि न प्रातीतिकम्, केवलतदुपलब्धेस्तदनन्तरोपलब्धेश्च तत्काले वर्णाभावेन परस्परतो भेदानुपपत्तेः । नहि निरन्वयप्रध्वस्तानामनुत्पन्नानां च तदा तेषामभाव परस्परतो भिद्यते यतस्तदनन्तरोपलब्धिरर्थप्रतीतेरङ्गभावमनुभवति न केवलोपलब्धिरिति प्रतीम । "तस्माद्वर्णव्यतिरेकी वर्णेभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्ययः स्वनिमित्तमुपकल्पयति तदेव पदं स्फोटाख्यं न

१ सांख्यः प्राह । २ "भूतादेः तमोबाहुल्यात् गौणीभूतसत्त्वरजस भूतादिनाम्न. पूर्वाचार्यैर्निरूपितादहङ्कारात् तन्मात्र शब्दादिपञ्चको गणो जायते ।"–सांख्यका० २५ । माठरवृ० । ३ अहङ्कारस्य । ४ कोपिपरो–आ० । ५–दोषेऽपि आ० ।

वर्णास्तत्समुदायो वा" [स्फोटसि० पृ० २८] इति मण्डन., सोऽपि न स्फोटमण्डने पण्डित, वर्णानामेव क्रमविशेषाधिष्ठानाना पदत्वेन प्रत्यायकत्वोपपत्ते पदान्तरकल्पनावैफल्यात्। तेषामितरेतरकालपरिहारवता कथमेकस्या प्रत्यायनक्रियायामुपयोग सहकारित्वानुपपत्तेरिति चेत्; इतरेतरदेशपरिहारवता कर्मकर्त्रादिकारकाणामपि कथ क्वचिदेकत्र कार्ये व्यापार ? एककालगतत्वादिति चेत्, वर्णानामप्येकबुद्धिगतत्वादिति किन्न स्यात् ? नहि प्रतिवर्णं तद्बुद्धिभेद. कारकेष्वपि तद्वत्तादर्थभेदेन युगपदप्यनेकतत्प्रतिपत्तेरभावापत्ते। न च तदभ्युपगमो न्याय्य प्रतीतिविरोधात्। ततो युगपद्भाविना कारकाणामिव क्रमभुवां वर्णानामप्येकस्या बुद्धौ विषयभावेनोपनिपातादुपपन्न एव तेषामेकत्र विषयप्रत्यायने व्यापार। ततो यदुक्तम्–"इदं तावदयं वर्णवादी प्रष्टव्यः गौरश्व इति वा केवलोच्चारणे वा को विसर्जनीयस्य भेदो यत्कृतोऽर्थधीभेदः, प्रत्ययभावाभावौ च ? नन्वेवं विशेषः क्वचिदसहायः क्वचिद्वर्णविशेषसहाय इति। क्व पुनरत्र सहायता यदा विसर्जनीयसमयेन वर्णान्तरोपलब्धिरस्ति। कार्ये खलु व्यापारवतः सहायता, न चासतस्तदा[1] व्यापृतिरस्ति।" [स्फोटसि० पृ० ३३] इति; तत्प्रतिविहितम्; विसर्जनीयसमये गकारादीनामभावेऽपि स्वसमये भावेन तत्सहायतोपपत्ते, अन्यथा दण्डादीनामनधिगतचक्रदेशाना तत्सहायत्वाभावप्रसङ्गात्, तदानीमसतामिव तत्रासतामपि व्यापारानुपपत्ते।

दण्डाद्यभिन्नदेशा अप्येकं चेत् कर्म कुर्वते।
भिन्नकालाः कथ तद्वद्वर्णा अपि न कुर्वते ॥१८०३॥
सर्वत्रैव प्रसङ्गश्चेत्कालभेदाविशेषत।
भवेदेव यदा न स्यात् प्रत्यासत्तिर्नियामिका ॥१८०४॥
अन्यथा देशभेदेऽपि कार्यकारित्वमिच्छत।
वादिनोऽप्येष दोषः किं मूर्ध्नि नाधिरोहति ॥१८०५॥

प्रत्यासत्तिश्च प्रतिपादितैव। क्रमविशेषाधिष्ठानत्वे सत्येकबोधोपारोहितत्वमिति। न चेदमप्यत्र चोद्यम्–अक्रमो हि बोध. कथ तदुपारोहिणा वर्णाना क्रम इति ? [2]कथ न हि तदुपारोहित्व नाम तेषा तदनुप्रवेश अपि तु तद्विषयत्वम्, तच्च अतत्कालानामप्यतद्देशानामिव सम्भवतीति क्रमानुपद्रवात्। निवेदित च तत् "यदा यत्र" इत्यादिना[3] तत इद प्रत्याख्यातम्–"[4]न चैकं प्रत्याख्यानं (प्रख्यानं) नानावर्णावयवात्मनि पदे भिन्नम् अवध्यवधिमद्भावमवेक्षितुं क्षमते।" [स्फोटसि० पृ० ६८] इति, देशकृतस्येव प्रासादस्तम्भेषु कालकृतस्यापि वर्णेषु पौर्वापर्यस्यावध्यवधिमद्भावस्यावेक्षण [5]प्रतिप्रख्यानस्यैकस्यापि प्रत्यभिज्ञानविकल्पस्य सामर्थ्योपपादनात्। यदि वर्णा एव पद तदा तेषामनेकवक्तृकतया यौगपद्येऽपि वर्णत्वस्याप्रच्युते किन्न पदत्वमिति चेत् ? न; क्रमवतामेव तेषा पदत्वेन सम्प्रदायात्, तत्प्रधानत्वाच्चार्थप्रत्यायनस्य। क्रमान्तरपरिग्रहे [6]तर्हि पदत्वम् अक्रमत्वाभावादिति चेत्; न; तस्मिन्नर्थे तत्क्रमस्यैव पदभावाङ्गत्वात्। अर्थान्तरत्वे तु क्रमान्तरस्यापि तदङ्गत्वान्न निषेद्धयत[7] एव, राकेति कारेति पौर्णमासी–बन्धनागारयो, नादीति दीनेति नादवत्–कृच्छ्र-

१ तदानी व्या– आ०। २ कथमिति पदमधिकं भाति। ३ न्यायवि० श्लो० ११४२। ४ 'न चैकस्मिन् नानावर्णावयवात्मनि...–स्फोटसि० पृ० ६८। ५ प्रतिपरव्याख्यान– आ०, ब०, प०। ६ तर्हि न पदत्वं क्र– आ०, ब०, प०। ७ निषिध्यत आ०, ब०, प०। 'पदत्वं न निषेध्यते' इति सम्बन्धः।

वर्तिन्यो, धारेति रावेति च प्रवाह–नक्षत्रविशेषयोः[1] तदतत्क्रमाविष्ठानतय [2]तद्भावभेदप्रतिपत्तेः प्रतीयमानत्वात् । एकवक्तृकत्वं तु तेषां तद्भावाना नियम, भिन्नवक्तृकत्वेऽपि तत्क्रमभावे पदभावेन प्रत्यायकत्वप्रतिपत्तेः । प्रती वक्तृकपूर्वापर[3]भागादपि पद्यादेस्तच्छ्राविणां तदर्थप्रतिपत्तिः । वर्णानां पदत्वे कथम् प्रतिपद्यामहे'[4] इति ? कथञ्च न स्यात् ? तेषां वहुत्वेन [5]तद्वाचिनः शब्दशब्दाद् वोपपत्तेरिति चेत्, न, तत्साधारणस्य वाचकत्वसामान्यस्य तदभिधेयत्व चैकत्वेनैकवचनस्यैवावकाशात् । यद्येवं कथम् 'गकारौकारविसर्जनीया शब्दः'[7] व्यक्तिवाचिभिस्तस्य सामानाधिकरण्यं तद्व्यक्तीनां तेनानभिधानादिति चेत् उपसर्जनभावेन तासामपि तेन प्रत्यायनात्, अन्यथा तत्सामान्यस्य तेन तदनुपपत्तेः, सङ्ख्यानुपादानं तु मुख्यतस्तत्सामान्यस्यैव तेनावद्योतनात् । ततो 'युक्तम् 'शब्दाद पद्यामहे' इति, न 'अनुपाश्रितव्यावृत्तयो व्यक्तयो जात्यात्मना'[9], निषेधात् ।

अपि च, अथ पदादिस्फोटात्मा शब्दो नित्यो निरवयवश्च त्वदभिप्रेतः,[10] स्वत एवेन्द्रियसम्प्रयोगात् प्रतीतिप्रेयसीसम्पर्कमुपसर्पति पौरुषेय प्रयासो विफलः न विफलस्तस्य तदभिव्यक्तिनिबन्धनत्वात् । स खलु प्रयासः परापरसमयभावी प्रयत्ना तादृशमेवानेकध्वनिभेदमाविर्भावयति, ततश्च तस्याभिव्यक्तिः । सापि नावयवशो निरव त्वात् । नापि प्रथमत एव नादात् तस्य सर्वात्मनाऽभिव्यक्ते नादान्तरक नावैफल्य अभिव्यक्तिविशेषोपपत्ते । अपरिस्फुटा हि तस्य प्रथमान्नादादभिव्यक्ति, तदुपजनित सहायात्तु द्वितीयस्मात्ततो विलक्षणा, तावदेवं यावदन्त्यो ध्वनि, ततस्तु प्राक्तननिरवशे ध्वनिविशेषोपजनितप्रत्ययोपनिबद्धभावनानिवहसचिवसद्वितीयाद् अत्यन्तपरिस्फुटतमा तदभि व्यक्तिराविर्भाव बिभर्त्ति । न चैतावता तस्य प्रत्यभिव्यक्ति भेद, आवृत्त्या भेदेऽप्यनुवा कादेरिवोपलब्धिभेदेऽपि तस्यैकतयैव प्रत्यवभासनात् । उक्त चैतत्–

"यथानुवाकः[11] श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥"

[वाक्यप० १।८३–८५]

इति चेत्, उच्यते–

"[12]स व्यक्त प्रथमान्नादादर्थप्रत्ययकृद्यदि ।
व्यर्थः परापरो नादस्तद्व्यक्त्यै परिकल्पित. ॥१८०६॥

१ पूर्वापरविपर्यस्तवर्णरूपेण प्रतीयमानतया । २ तद्भाव–आ०, ब०, प० । ३ –भाविप –आ०, ब०, प० । ४–दनर्थं आ०, ब०, प० । ५ 'प्रयोगः' इति सम्बन्धः । ६ वर्णवाचिनः । ७ "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः"–शावरभा० १।१।५ । ८ यदुक्तं आ०, ब०, प० । ९ 'इति युक्तम्' इति सम्बन्धः । "न चानुपाश्रितव्यावृत्तयो व्यक्तयो जात्यात्मना निर्दिश्यन्त इति साम्प्रतम्"–स्फोटसि० पृ० ७४ । १० 'नित्यत्वमविकल्पं तु सत्त्वादेवास्य जातिवत् ।"–स्फोटसि० का० ३४ । ११ अनुवाको वैदिकः, श्लोकस्तु लौकिकः, सोढत्व जितत्वं वशतामिति यावत् । १२ सम्यक्त्वः आ०, ब०, प० ।

अर्थावगतये तस्मात्तद्व्यक्तिरभिवाञ्छिता ।
सा चादिव्यक्तित. सिद्धा व्यक्त्या किं परया तत ॥१८०७॥
सोऽर्थप्रत्ययकृन्नो चेत् कुत एतदशक्तित. ।
पश्चादपि न तत्कृत्स्यादिति तत्कल्पनं वृथा ॥१८०८॥
सङ्केतविरहाच्चेन्न सोऽर्थसंवित्तिकृन्मत. ।
प्रतीतिभावे सङ्केत. स एव न कुतो भवेत् ॥१८०९॥
अव्यक्तत्वात्प्रतीतेश्च नासौ सङ्केत्यतेऽनया ।
तयैवासौ कथं तर्हि सिद्ध इत्यपि कथ्यताम् ॥१८१०॥
सिद्धत्वाय समर्थोऽसौ सङ्केतायैव नेत्ययम् ।
स्वरुच्या कल्पितो भेदो विद्वद्भ्यो नाभिरोच्यते ॥१८११॥
आदावेव ततो व्यक्तौ सङ्केतस्यापि सम्भवात् ।
अर्थप्रतीते व्यक्ति सा विफलैवोत्तरोत्तरा ॥१८१२॥

अपि च, अयमन्त्याया बुद्धावधार्यमाणो न तावदखिलविपर्यासविकल एवावधार्यते, परमर्षीणामेव तथा तदवधारणस्य तदन्येषां तैस्तत्सम्प्रदायस्य चोपगमात्। अत एवोक्तम्–
"अपरदर्शितविषयास्तु परमर्षयः साक्षात्कृतधर्माणोऽव्याहतान्तःप्रकाशा विधूतविपर्यासं वाक्तत्त्वं प्रतिपेदिरे प्रतिपादयामासु. प्रतिज्ञायते" [स्फोटसि० पृ० १५४] इति। भवतु तत्रापि सविपर्यासस्यैव तस्यावधारणं संवेदनवत्। यथैव हि संवेदनस्याविभागस्याप्याबोधिमार्गावतारात् ग्राह्याद्याकारविभागविपर्यासोपरक्तस्यैव प्रकाशनमन्यथा तदनवलोकनात् तथा तादृशस्य शब्दात्मनोऽपि विभ्रमोपदर्शितगकारादिवर्णक्रमविपर्यासोपश्लेषिणा[1] गौरित्याकारेण प्रतिपत्ति आपरमर्षिपदप्राप्ते, अन्यथा तस्याप्यप्रतिवेदनात्। अत एवोक्तम्–

"ज्ञानस्येव च वाचोऽयं लोके ध्रुवमुपप्लवः ।"

[स्फोटसि० पृ० १५०]

इत्यपि नातीव चतुरस्रमुत्पश्याम । एवं हीदमसङ्गतं स्यात्–"पश्चिमस्तु पुरस्तनध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेद[2]प्रभावितसकलभावनाबीजसहकारी परिस्फुटतरविनिविष्टस्फोटा[3]लम्बमेव प्रत्ययमभिव्यक्ततरपरिच्छेदमुद्भावयति।" [स्फोटसि० पृ० १३०] इति, विपर्यासोपश्लिष्टतत्प्रत्ययस्याभिव्यक्ततरपरिच्छेदत्वानुपपत्ते । न हि पीतादिविप्लवोपालिङ्गितशङ्खादिप्रत्ययस्य तत्परिच्छेदत्वं प्रतियन्ति प्रेक्षावन्त., तदन्यतत्प्रत्ययस्यैव तैस्तत्प्रतिपत्ते । तदयमभिव्यक्ततरप्रत्ययत्व तस्याभिधाय पुनर्विप्लवोपश्लिष्टप्रत्ययगोचरतयाऽन्यथात्वमप्याचक्षाण स्वोक्तमपि न प्रत्याकलयति इति कथन्नाम मण्डनः पण्डितगोष्ठ्यां पाण्डित्यर्द्धि दृढमुद्वोढु परिवृढतामुपढौकेत ? कथ चासौ शब्दो भेदरूपविपर्यासोपरक्तप्रतिभास एवार्थप्रतिपत्तये प्रेक्षावद्भिराद्रियेत ? न हि सर्पोपप्लवप्रत्ययविषयभावमनुभवन्त्येव रज्जुर्बन्धनकार्याय कैरप्युपादीयमानोपलभ्यते, विनिवृत्ततदुपप्लवप्रतिभासाया एव तस्यास्तदर्थमुपादानोपलम्भनात्। वर्णवत्स्यादिति चेत्, स्यान्मतं यथा वर्णवादिना वर्णस्याक्रमस्याप्यनेकक्षणक्रमालिङ्गितप्रतिभासगोचरस्यैव तदर्थप्रतिपत्तये प्रत्यवेक्षणम्, एवं शब्द-

१–श्लेषेण गौ- आ०, ब०, प०, । २–दः प्र– आ०, ब०, प० । ३–ष्टवलम्बमभिव आ०, ब०, प० । स्फोटबिम्बमिव–स्फोटसि० ।

स्यापि स्यादिति; सत्यम्; इदमक्रमवर्णवादिनं प्रत्युत्तरं न स्याद्वादिनं प्रति, तेन वर्णस्य तत्त्वत कथञ्चित्क्रमवत एवाभ्यनुज्ञानात्। तर्हि ज्ञानवत् स्यात्, ज्ञानस्याविभागस्यापि ग्राह्याद्याकारविभागोपप्लवकवलितस्यैव स्वार्थप्रतिपत्तये प्रतिग्रहात्; इत्यपि नोपपत्तिमत्, तस्यापि [1]ग्राह्यानुरागपराङ्मुखस्यैव नियतविषयनिर्णयनिबन्धनतया[2] प्रथमप्रस्तावे व्यवस्थापनात्। तन्न क्रमोपप्लवकलुषिताया एव वाचोऽर्थप्रत्यायनमुपपन्नम्। अतो दुर्भाषितमिदम्–

"भेदानुकाराज्ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।
क्रमोपसृष्टरूपा वाक् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्॥"

[वाक्यप० १।८७]

"ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा[2] कश्चिदर्थोऽभिधीयते[3]॥" [ ] इति।

अपि च,

विप्लवाद्यदि शब्दस्य विवेक. प्रतिवेद्यते।
विप्लवप्रतिभासस्य कथं तत्रावकल्पनम्॥१८१३॥
न हि पीतविवेकेन शङ्खः प्रत्यवभाति य.।
तत्र पीतभ्रमः क्वापि दृष्ट इष्टोऽपि वा बुधैः॥१८१४॥
नास्त्येव तद्विवेकस्य प्रतीतिर्यदि विप्लवात्।
कथ तस्मादभिन्नस्य शब्दस्यापि प्रवेदनम्॥१८१५॥
शब्दस्य तद्विवेकाच्चेत् कथञ्चित् भेदभावत।
निर्विभागवचस्तत्त्वप्रतिज्ञा ते विलुप्यते॥१८१६॥
किञ्चाविभागसवित्तौ विभागस्यापि वेदने।
तात्त्विकत्वं विभागस्य किन्न स्यादविभागवत्[4]॥१८१७॥
अविभागेन बाधाच्चेत् विभागेनेतरस्य च।
प्रतीतेन प्रतिक्षेपान्नोभय तात्त्विक भवेत्॥१८१८॥

उभयातात्त्विकत्वे तु कुतो वाक्यप्रतिपत्ति अतात्त्विकात्तदयोगादिति चेत्? किमतः कर्त्तव्यम्? अविभागस्य शब्दरूपस्य तात्त्विकत्वमिति चेत्; विभागस्यैव कुतो न तत्क्रियताम्? अविभागाभावे ततो वाच्यप्रतिपत्तेरभावादिति चेत्, तस्यापि तर्हि न तत्कर्त्तव्य विभागाभावे ततोऽपि तत्प्रतिपत्तेरभावात्, "नालब्धक्रमया" इत्यादिना स्वयमेव तथाभिधानात्। मा वा भूदुभयस्यातात्त्विकत्वात् ततस्तत्प्रतिपत्ति, तज्ज्ञानात्तु भवत्येव, कथमन्यथा उपप्लुतादपि वर्णभेदक्रमज्ञानादक्रमस्य शब्दतत्त्वस्य प्रतिपत्तिर्यत इद सुभाषित भवेत्?

"असतश्चान्तराले यः शब्दो नास्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः॥"

[वाक्यप० १।८६] इति।

न चैव शाब्दी तत्प्रतिपत्तिर्न भवति शब्दादनुत्पत्तेरिति वक्तव्यम्; ज्ञानादपि शब्दोपसपृक्तादेव तत्प्रतीतेर्भावेन तत्र शाब्दव्यपदेशस्याविरोधात्। तन्न [5]प्रत्यक्षे विभागाव-

१ आह्यादिज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठतेऽनुराग–आ०, ब०, प०। २–या वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते इति प्र–आ०, ब०, प०। ३ उद्धृताविमौ–स्फोटसि० पृ० १६२। ४–गतः आ०, ब०, प०। ५ प्रत्यक्षो वि–ता०।

भासिन शब्दतत्त्वस्य प्रतिपत्ति.। नाप्यविभागावभासिन' शब्दतत्त्वस्य प्रतिपत्तिः; प्रतिवेदनात्। ततस्तदप्रतिपत्तौ च कुतस्तत्र 'साक्षित्वमनुमानस्य यत. "स खलु" [ ] इत्यादि सूक्तमवकल्प्येत। ततो न परपरिकल्पिता निरवयवनित्यस्फो पदवाक्यादयः शब्दाः, तेषां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिवागमादप्यनध्यवसायात्। तदाग "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" [निरुक्त० १।२०] इत्यादे प्रमाणान्तरप्रतिक्षिप्ता तया प्रामाण्याभावात्। ततो वर्णा एव क्रमविशेषसम्बन्धोपाधय. शब्दा. तद्व्यतिरि ता। तेषामभावात्। एतदेवाह–

अभावादतिरेकिणाम्। इति।

अतिरेकिणः पुद्गलस्कन्धपरिणामविशेषेभ्योऽर्थान्तरभूता नित्या वर्णपदादयस्तेषाम् उक्तन्यायेन अभावात् तद्विशेषा एव ध्वनय इति।

साम्प्रतं प्रकरणार्थमुपसंहृत्य दर्शयन्नादित शब्दानामपौरुषेयत्वे दोषमावेदयति–

वाचामपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते ॥५०॥ इति।

वाचां वर्णात्मनां पदादिस्फोटात्मना चापौरुषेयीणां नित्यानाम्, अनित्यानामपौरुषेयत्वायोगात्, आविर्भावो व्यक्तिर्न युज्यते न घटते। स्वतोऽनाविर्भावात्, सहकारिप्रतीक्षायाश्च तत्र प्रतिक्षेपात्'। अतो ध्वनयो न तदात्मान इति शेष.। कथम्? नियतं यथा भवति तथा। नियतत्व चात्र विप्लवविवेकेन स्वरूप एवावस्थानम्। विप्लवस्य वर्णेषु ह्रस्वदीर्घादे पदेषु च वर्णक्रमस्य पुरुषप्रयत्नोपनीतनादभेदनिबन्धत्वेन पुरुषनिरपेक्षत्वे शब्दस्यासम्भवात्। न च तथा कश्चिदपि' चायमुपलभ्यते(?) ह्रस्वाद्युदात्तादिभेदोपरक्तस्यैव वर्णस्य वर्णक्रमोपसपृक्तस्यैव पदस्य तत्क्रमाद्युपश्लिष्टस्यैव च वाक्यादे. प्रतीतिपथप्रस्थायिन प्रत्यवलोकनात्। ततो नापौरुषेयस्य निरवयवात्मन शब्दस्य वाचकत्वम् अप्रतीते.।

पौरुषेयस्यापि वाचकत्वमभिमतवदनभिमतस्यापि किन्न स्यादिति चेत्? अत्राह–

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः।
इति [अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम् ॥५१॥] इति।

न हि सर्वोऽपि पौरुषेय' शब्दः पुरुषार्थस्य 'श्रेयस्तत्कारणस्याभिधायकोऽपि तु सत्यो विप्रतिसारविकल। न च सर्वोऽप्यसौ तद्विकल एव अपि तु सम्यक् ज्ञानाङ्कुशः सम्यग्ज्ञानं तत्प्रणेतु पुरुषस्य तदर्थविषय निरुपप्लव ज्ञानं तदेवाङ्कुशो नियामको यस्य स एव, स चायमेव स्याद्वादामोघलाञ्छनो वचनप्रबन्धो नापर, तत्प्रणेतृणां तज्ज्ञानाभावस्य निवेदनात्। न चैवमपौरुषेयत्वमेव शब्दस्याविप्रतिसारतया नियामकमिति शक्यमुपपादयितुम्, अपौरुषेयस्यापि दहनादेर्नीलोत्पलादौ विपर्ययोपदर्शितत्वेन विप्रतिसारप्रतिपत्ते। एतदेवाह–

अत्रापौरुषेयत्वं जातुसिद्धमनर्थकम्। इति।

अत्र दहनादौ यदपौरुषेयत्वं तद् जातु कदाचिन्नीलोत्पलादिसन्निधानवेलायां सिद्धं निर्णीतम्। कीदृशम्? अनर्थकमविद्यमानार्थं तदुपदर्शितपीताद्याकारस्य वस्तुतो नीलोत्प-

१ सापेक्षित्व–आ०, ब०, प०। २–त् नित्यत्वञ्चात्र आ०, ब०, प०,। ३–वीतध्वनिभेद–आ०, ब०, प०,। ४–दपि नयन्नुपल–आ०, ब०, प०,। ५–निःश्रेयसस्तत्का–आ०, ब०, प०।

लादावभावात् । ततो निषिद्धमेतत्–

"वेदे कर्तुरभावात्तद्दोषाशङ्कैव नास्ति नः ।" [ ] इति । असत्यपि कर्तरि दहनादिवत्तत्र तच्छङ्काया अनिवृत्ते, सदोष एव हि दहनादिरपौरुषेयोऽपि, अन्यथा ततो मिथ्याप्रतीतेरनुत्पत्ते । किं पुन तत् सत्यं यदभिधायित्वेन शब्द सत्य उच्यते इत्यत्राह–

सर्वार्थानामनेकात्मपरिणामौ व्यवस्थितौ ।
मार्गस्तद्विषयश्चेति मतं सत्यं चतुर्विधम् ॥५२॥ इति ।

अनेकश्चासावात्मा च अनेकात्मा युगपद्भावी नानारूपो वस्तुस्वभाव., स च परिणामश्च प्राच्याकारपरित्यागाजहद्वृत्तोत्तराकारोपादानलक्षणो विवर्तस्तावनेकात्मपरिणामौ द्वौ सत्यौ, तौ च सर्वेषामेव जीवादीनामर्थादीना व्यवस्थितौ तद्विकलानामवस्तुत्वापादनात् । तत्रानेकात्मन प्रागुपादानम्, परिणामं प्रति तस्य साधनत्वात् । प्रतिपादितं हि विप्रतिपन्नं प्रति तस्य तत्साधनत्वमवश्याभ्युपगमत्वञ्च अन्यथा निष्कलस्याऽप्रतिपत्ते. सर्वाभावप्रसङ्ग इति । तथा मार्गो निःश्रेयसप्राप्त्युपाय, स च सम्यग्दर्शनादिविकल्पत्रयात्मक एव एकशस्तस्य तदनुपायत्वात् । न हि सम्यग्दर्शनस्यैव तदुपायत्वं सम्यग्ज्ञानाभावे तत्त्वार्थविषयस्य तदभिनिवेशलक्षणस्य तस्यैवासम्भवात् । नापि तद्विशिष्टस्य तत्त्वार्थाधिगमलक्षणसम्यग्ज्ञानस्यैव तत्कारणत्वमुपपन्नम्, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यापि शरीरेन्द्रियादिसम्बन्धापरिच्युते, अन्यथा न कस्यचिदप्युपदेष्टृत्व प्रत्युत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य शरीरपातेन तदनुपपत्तेः । अपरिपतितशरीरस्यापि तत्त्वपरिज्ञानाभावात् । एवं च निर्विषयैवेयं श्रुतिः स्यात्– "आचार्यवान् पुरुषो वेद" [छान्दो० ६।१४।२] इति । आत्मविषयश्च सम्यग्दर्शनाद्यभ्यासो विफल. स्यात्, अनुपसम्पृक्ततदभ्यासादपि "तत्त्वमसि" [छान्दो० ६।८।७] इत्यादि वाक्यसामर्थ्योपनीतादात्मज्ञानादात्मनोऽपि निःश्रेयसोपपत्ते ।

कश्चिदाह[1]–"निश्चितेऽपि वस्तुनि विपर्ययानुवृत्तिरुपलभ्यते यथा चन्द्रादौ द्वित्वादिः, तद्वदागमप्रामाण्याज्ञिणीतेऽप्यात्मनि नित्यशुद्धादिरूपेण विपर्ययोपलम्भसंभवात् तन्निवृत्तिपरस्तद्दर्शनाद्यभ्यासः "आत्माऽयं द्रष्टव्यः" [बृहदा० २।४।५] इति, इत्यादिना वेद्यमानो न वैफल्यदोषाय कल्पते ।" [ ] इति, तत्प्रतिषिद्धम्, न तत्त्वज्ञानमेवादरोपाधिकं निःश्रेयसनिमित्तम्, अपि तु चारित्रसव्यपेक्षमिति । आत्मादितत्त्वाभ्यासस्यैव चारित्रतयाऽस्माभिरभ्यनुज्ञानात् । तत समुदित एव सम्यग्दर्शनादिर्निःश्रेयसस्याङ्गम्, अन्यतमापायेऽपि[2] तदनुपपत्ते । अत एव सूत्रे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इति समुदायरूपेण सम्यग्दर्शनादेरेकीभूतस्य निःश्रेयसनिमित्तत्वनिवेदनार्थमुत्तरपदमेकवचनान्तमेवोपदर्शितम् ।

तस्य मार्गस्य विषयो गोचरस्तद्विषयः । स च सप्तधा–"जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।" [त० सू० १।४] इति सूत्रात् । तस्य च तद्विषयत्व श्रद्धेयत्वादिना न प्राप्यत्वेन, [3]ततो [4]मोक्षस्यैव तत्त्वात् । चशब्द समुच्चये । ताविमौ द्वौ सत्यौ प्राच्यावुभौ इति एव मतमभ्युपगत सत्यं चतुर्विधं चतुःप्रकारं सर्वस्यापि सत्यस्यात्रैवान्तर्भावात् । तत[5] एतत्सत्यचतुष्टयप्रतिपादनात् प्रवचनं सत्यमवगन्तव्यम्, जीवादीना च मार्गविषयत्वप्रतिपादनमपरिज्ञाततद्रूपस्य प्रेक्षावतो मोक्षार्थाया प्रवृत्तेरनुपपत्ते । अत एव आह–

१–यस्यैव स–ता० । २–ह सुनि–आ०, ब०, प० । ३–ये तद–आ०, ब०,प० । ४ प्राप्यदृष्ट्या । ५ तत एव तत्त्व–आ०, ब०, प० ।

अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ।
कर्मणामिति सत्कृत्य प्रेक्षाकारी समीहते ॥५३॥ इति ।

समीहते संसारविनिवृत्तिं प्रति यतते । कः ? प्रेक्षाकारी विचारकरणशीलः । कथं समीहते ? सत्कृत्य सादरं निश्चित्य । निश्चयप्रकारं च 'अहम्' इत्यादिना दर्शयति । प्रत्येकमत्र इति शब्दस्य सम्बन्धो मम शब्दस्य चास्रवादिभिः । अहमिति, ममास्रव इति, बन्ध इति, मम संवर इति, मम कर्मणां निर्जरेति, मम तेषां क्षय इति च । तत्रात्मानमिति निर्दिशति अहम्प्रत्ययवेद्यत्वात् । तस्यासत्कारे कस्य संसारो मोक्षो वा ? को वा तदुपायेषु प्रवर्त्तेत ? क्षणक्षीणचित्तप्रवाहस्य प्रतिक्षेपात् । तथा तस्यास्रवोऽपि कायवाङ्मनःकर्मलक्षणः सत्कर्त्तव्य एव, तदभावे बन्धनिवर्त्तनाय समीहानुपपत्तेः । सत्कृते हि बन्धकारणे तस्मिन् तस्य तत्प्रत्यनीकानुष्ठानेन निवर्त्तने निवर्तितो भवति बन्धो नान्यथा, कारणानिवर्त्तने कार्यनिवृत्तेरनुपपत्तेः ।

'तन्निवर्त्तनाय प्रकृतिरेव समीहते नात्मा बन्धतत्कारणयोरपि तत्रैव भावादिति चेत्, न, "कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च" [सांख्यका० १७] इत्यनेनात्मन्येव तत्प्रतिपादनात्, अन्यथा ततः आत्मव्यवस्थापनानुपपत्तेः । न हि अन्यव्यापारादन्यव्यवस्थापनमतिप्रसङ्गात् । नापि तत्रौपचारिकी समीहा, ततः परमार्थतः आत्मसिद्धेरसम्भवात् । अन्यतस्तथा तत्सम्भवे तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । प्रकृतिगतमेव बन्धं निवर्त्तयितुं प्रवृत्तिरपि 'तस्येति चेत् तदनिवर्त्तने 'किं तस्य स्यात् ? अन्यथा मुक्तवत्प्रवृत्तेरयोगात् । दुःखप्राप्तिरिति चेत्, सिद्धस्तर्हि बन्धादेस्तत्रैव सत्कारो भावान्तरसत्कृतातस्तस्य 'तत्प्राप्तेरयोगात् । सापि विभ्रमादेव न तत्त्वत इति चेत्; न, आत्मनि 'तदभावात् । सोऽपि विभ्रमादेवेति चेत्, न, तस्याप्यात्मन्यभावात् । सोऽपि विभ्रमादेवेति चेत्, नः अनवस्थाप्रसङ्गात् । तात्त्विक एव तत्र विभ्रम इति चेत्, नः तस्य नित्यत्वे निर्मोक्षभावप्रसङ्गात् । अनित्यत्वे तु सिद्धस्तत्रैव बन्धादेः सत्कारः तदभावे विभ्रमानुपपत्तेः । तथा कर्मनिर्जरापरिक्षययोरपि तदेकदेशसकलविश्लेषलक्षणयोः,[10] अन्यथा तदुपाये संवरे तस्याप्रवृत्तेः । नहि प्रेक्षावतः कस्यचित् परपरिशुद्धये स्वशरीरप्रक्षालनमुपलब्धम् । कथं पुनरास्रवादेः "सत्कर्तव्यत्वे कुतश्चिद् विनिवर्तनं सत्कृतस्य तदयोगात् आत्मवत् । अस्ति च विनिवर्त्तनं तस्य अन्यथा तन्निबन्धनस्य संसारस्याप्यनिवृत्त्या निःश्रेयसाभावापत्तेः । अतो रज्जुसर्पादिवत् असन्नेवास्रवादिरिति चेत्; असतः कुतस्तस्य प्रत्यवभासनम् ? आत्मनः इति चेत्, न, तस्य तत्त्ववेदित्वेन तदनुपपत्तेः, रज्जुतत्त्ववेदिनस्तत्र सर्पप्रतिभासस्यानवलोकनात् । प्रसिद्धं च तस्य तत्त्ववेदित्वम्-"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इत्यादेः श्रवणात् । तन्नात्मनस्तस्यावभासनम् । जीवत इति चेत्; नः तस्यापि तत्त्वज्ञानरूपत्वे तदनुपपत्तेः । मिथ्याज्ञानरूपत्वे तस्य तद्रूपं तत्प्रसवप्रबन्धश्च यदि सन्नेव सन्नेवास्रवादिः तस्यैवास्रवादित्वात् । असन्नेवेति चेत्, कथमसौ जीवस्य ? असतस्तद्रूपत्वानुपपत्तेः । इत्यमेतत्, केवलमविवेकज्ञानादतद्रूपमपि तद्रूपमिव प्रतिभातीति चेत्; नः अविवेकज्ञानस्यापि तत्त्वतस्तद्रूपत्वे स एव प्रसङ्गः तात्त्विक एवास्रवादिरिति, तज्ज्ञानतत्प्रसवप्रवाहस्यैवास्रवादित्वात् । तस्याप्यतात्त्विकत्वे तद्रूपत्वाव्यवस्थितेः । तस्याप्य

१ विचारेण करण-ता० । २-हमति-ता० । ३ सांख्यः प्राह । ४ तस्यैवेति आ०, ब०, प० । ५ किम स्यात् आ०, ब०, प० । ६ पुरुष एव । ७ पुरुषस्य । ८ तत्प्राप्त्या-आ०, ब०, प० । विभ्रमाभावात् । ९ विभ्रमोऽपि । १० 'तत्रैव सत्कारः' इति सम्बन्धः । ११ तत्क- आ०, ब०, प० ।

विवेकज्ञानान्तरात्तद्रूपवत्प्रतिभासनपरिकल्पनायामनवस्थापत्ते । अपि च–

मिथ्याज्ञानाद् विवेकश्चेत् स्वभावो जीववस्तुन. ।
कथं स्ववेदिनस्तस्य तन्नाज्ञानं प्रवर्तताम् ॥१८१९॥
अस्वसंवेदने तस्य परसंवेदनात्ययात् ।
कथं भोगोऽवकल्प्येत संसारी यदसौ भवेत् ॥१८२०॥
तस्मान्निरंशरूपस्य तस्य स्वग्रहणात्मन ।
तद्विवेकाग्रहाभावान्मिथ्याज्ञानमयुक्तिमत् ॥१८२१॥

ततो यदुक्तम्–

"सर्पहारादिभावानामबुद्धा रशना यथा ।
कारणं जगतस्तद्वदबुद्धं तत्त्वमेव हि ॥
भान्ति रज्ज्वामसन्तोऽपि सर्पहारादयो यथा ।
चिद्धातोस्तद्वदाकाराः स्वरूपस्याग्रहादमी ॥"[ ] इति ।

तत्प्रतिविहितम्; स्वरूपस्याग्रहात् सिद्धत्वात् । स्यान्मतम्–नैकान्ततस्तस्य स्वाग्रहः कथञ्चिदेव तद्भावात्, ततो मिथ्याज्ञानविवेकस्याग्रहणेऽपि भेदादिरूपस्य ग्रहणाद्भोगोपपत्ते-रुपपन्नमेव ससारित्वमिति; तर्हि सिद्धं तद्विवेकापरिज्ञानस्य सत्कृतस्यापि कुतश्चिन्निवर्तनम्, अन्यथा जीवस्य नि श्रेयसाभावापत्ते, तद्वदास्रवादेरपि स्यादविशेषात् । ततो युक्तम्–आत्मन्यास्रवादिसत्कारपुरस्सरमेव नि.श्रेयसार्थिनस्तदपाये[1] प्रवर्तनम्, अन्यथा तदनुपपत्ते. ।

अत्र चोद्यम्–'कर्मक्षयान्मोक्ष.' इति मत तदनुपपन्नम्, कर्मणां विपक्षासम्भवेन क्षयस्याभावात् । अशक्यक्रियश्च तत्परिक्षय, तृष्णायां तद्धेतौ पुनरपि तेषामुत्पत्तेः । अथ कर्मवत्तृष्णाया अपि कुतश्चित् परिक्षय, तर्हि स एवास्तु व्यर्थः कर्मक्षये परिश्रम., तृष्णापरिक्षये[2] हि सतामपि कर्मणामकिञ्चित्करत्वेन संसारानुत्पत्ते. । कथ पुन कर्मणामविपक्षत्वं यावता कायपरिक्लेशरूपं तप एव तेषां विपक्ष इति चेत्, न; ततोऽप्येकरूपात् विचित्रशक्तीनां कर्मणा परिक्षयायोगात् । अवगतं हि विचित्रशक्तित्वं कर्मणां फलवैचित्र्यदर्शनात् अन्यथा तदयोगात् । ततो भवन्नपि तपसा कर्ममलस्य प्रतिरोध. तज्जातीयस्यैव स्यान्न विजातीयस्य ।

स्यादयमाशयः–तपस एव शक्त्या कर्मशक्तय. सङ्कीर्णा. क्रियन्ते परिक्षीणा वा, ततो नि शेषस्यापि कर्ममलस्याक्लेशात् तपोलेशतोऽपि चैकरोमोत्पाटनादिलक्षणात् परिक्षयो भवतीति; भवत्ययं शोभनो यदि तत्तप. क्लेशादर्थान्तरम् । तथा चेद्व्यर्थस्तर्हि[3] तप्तवन-[4]शिलारोहणादिपरिक्लेश. तदन्यतस्तपस एव कर्मक्षयोपपत्ते. । क्लेशादव्यतिरिक्तमेव तप इति चेत्, न तर्हि तत कर्मशक्तीनां सङ्करादि तस्य कर्मफलत्वेन ततस्तदसम्भवादिति । तत्राह–

तत्त्वज्ञानप्रभावेण तपःसंवरणं नृणाम् ॥ इति ।

तत्त्वं जीवादि. तस्य ज्ञानं याथात्म्यनिर्णयस्तस्य प्रभावो भावनया प्रकर्षगमनं तेन यत् संवरणं बाह्याभ्यन्तरशुभाशुभरूपव्यापाराणां निवारणम् औदासीन्यापरनामधेयं तदेव तपः, तस्याल्पसत्त्वपुरुषापेक्षया तापत्वेन प्रतिभासनात्[5], तच्च नृणां मनुष्याणा न तिर्यग्जीवादीनां भव्यानामपि तेषां तदसम्भवात् । तदेव च तपो विपक्षः कर्मणा तन्निदानप्रत्यनीकत्वात् । यो यन्निदानप्रत्यनीक त तस्य विपक्षो यथा व्याधिविशेषनिदानवातादिप्रत्यनीक.

१ तदुपा–आ०, ब०, प० । आस्रवादिनाशे । २ कथं क– आ०, ब०, प० । ३–र्थे स–ता० । ४ "तपोवन इति पा०"–ता० टि० । ५ –नाच्च आ०, ब०, प० ।

क्रियाविशेप तद्व्याधिविशेषस्य, कर्मनिदानरागाद्यास्रवप्रत्यनीकं च तप., त तद्विपक्ष इति । कुत पुन कर्माणि कुतो वा तेषा तदास्रवनिदानत्वं यदेवमुच्यते इति आस्तामेतत्, अनन्तरमेव निरूपणात् । तथापि कथ तादृगास्रवप्रत्यनीकत्व तपस इति तत्प्रकर्षविशेपे तदास्रवस्याप[1]कर्षविशेषात् । न चायं तस्य तत्प्रत्यनीकत्वाभावे सम्भ क्रियाविशेषस्य प्रत्यनीकस्यैव सत. प्रकर्षविशेषाद् वातादेरपकर्षविशेषप्रतिपत्तेः ।

भवत्वेवमागन्तूना तन्निदाननिवारणेनोत्पादप्रतिषेध, कर्मणामुत्पन्नाना तु क परिहाणि ? तपसो ह्युत्पादप्रतिषेध एवोक्तेन वर्त्मना सामर्थ्यं न चोत्पन्नानां प्रतिषे अविरोधादिति चेत्; का पुनस्तेषा परिहाणि. या तप सामर्थ्यान्नि भवतीति ? उच्यते– स्वरूपप्रच्युतिरिति चेत्; न; तस्यास्तेषामनभ्युपगमात् । आत्मसम्बन्धाना तेषा ततो विश्लेष इति चेत्, सिद्ध तर्हि तत्रापि तपस एव सामर्थ्यम् । सति तत्प्रभावे तदुपश्लेष-वाहिनो रागादिस्नेहस्य प्रध्वंसात् तेषा ततो विश्लेषोपपत्ते । विश्लिष्टानाञ्च फलदान-शक्तिविकलतया कर्मभावप्रच्यवनात् । ततो युक्तमुपात्तकर्मापेक्षयापि तपस एव विपक्षत्वम् । तदेवाह–

तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ॥५४॥ इति ।

तपसो निरूपितरूपस्य य. प्रभाव सामर्थ्यं तेनैव, चशब्दस्यावधारणत्वात् निर्जीर्णं निरवशेषगलित कर्म ज्ञानावरणादि जायते भवति । ततो यदुक्त धर्मकीर्तिना–

"असम्भवाद्विपक्षस्य न हानिः कर्मदेहयोः ।
अशक्यत्वाच्च[2] तृष्णायास्तद्धेतो पुनरुद्भवात् ॥
ह्यक्षयार्थं यत्ने च व्यर्थः कर्मक्षये श्रमः ।
फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते ॥
कर्मणा तापसंक्लेशान्नैकरूपात्ततः क्षयः ।
फल कथञ्चित्तज्जन्यमल्पं स्यान्न विजातिमत् ॥
अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसङ्करसंक्षये ।
क्लेशात् कुतश्चिद्धीयेताशेषमक्लेशक्लेशतः ॥
यदीष्टमपरं क्लेशात्तपः क्लेश एव चेत् ।
तत्कर्मफलमित्यस्मान्न शक्तेः सङ्करादिकम् ॥"

[प्र० वा० १।२७५–८०] इति ।

तत्प्रतिविहितम्, यथोक्ते तपसि कर्मविपक्षे तदसम्भवस्याभावात् । तत्प्रभावादेव तृष्णाया अपि स्थित्यभावे तद्वलेन पुन कर्मोत्पत्तेरसम्भवात्, तृष्णापहारादपरस्य च कर्मक्षयपरिश्रमस्यानभ्युपगमात् । न च कायपरितापरूप तप कारणं कर्मनिर्बर्हणस्य, अपि तु [3]उक्ततप परिबृंहणस्यैव ।

"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।" [बृहत्स्व० श्लो० ८३] इति वचनात् । ततस्तत्र तन्निर्बर्हणकारणबुद्ध्या "फलवैचित्र्यदृष्टे" इत्यादि-वचन जैनमतानभिज्ञत्वमेव [4]तस्यावेदयति ।

१–स्यापकर्ष–आ०, ब०, प० । २–च जीवानां तृष्णायां पु– आ०,ब०,प० । "–च तृष्णायां स्थितायां पुन–" प्र० वा० । ३ संवर-रूपतपःपरिवर्धनस्यैव कारणमित्यर्थः । उक्त तपः–ता० टि० । ४ धर्मकीर्तेः ।

यदपीदं प्रज्ञाकरस्य–"न च क्लेश एव तपस्तस्य कर्म्मफलत्वात्। न च कर्मफलमेव तपः शीतातपसेविना पश्वादीनामपि तापसत्वप्रसङ्गात्" । [प्र० वार्तिकाल० १।२७७] इति, तदपि तादृशमेव, क्लेशस्य मुख्यवृत्त्या तपोभावानभ्युपगमात्। तथा तत्त्वज्ञानप्रभावोपनीतसंवरणस्यैव तदभ्युपगमात्। तत्र च न सौगतस्य विवादः। नापि तस्य कर्मनिर्जराकारणत्वे। तत एवोक्तम्–

"तत्रैव तद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारावरोधिनी।
हन्ति सानुचरा(रां) तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता॥
त्रिहेतोर्नोद्भवः कर्मदेहयोः स्थितयोरपि।
एकाभावाद्विना बीजे ना (जं ना) ङ्कुरस्येव सम्भवः॥"
[प्र० वा० १।२७३–७४] इति।

कथं पुनर्जीवादिज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वे तत्प्रभावात् संवरणम्, सति तत्र जीवस्नेहादेरास्रवस्यैवोपपत्तेः। *तथाहि–यस्तावज्जीवं विद्यमानतयाऽवलोकयति तस्य तत्रावश्यम्भावी* स्नेह, तस्य तत्सत्तावलोकनमात्रनिबन्धनतयैव बालपश्वादावप्युपलम्भे। जीवे च स्निह्यन् तत्सुखसाधनेष्वभिलाषी सतोऽपि तद्दोषास्तिरोधाय गुणानेवारोप्य पश्यति। तद्गुणदर्शी च तानि ममेदबुद्ध्या परापराणि सुखोपभोगायादत्त एवेति न संसारोपरति कदाचिदपि। तन्न जीवतत्त्वज्ञानात् संवरणम्। नाप्यजीवतत्त्वज्ञानात्, तत्रापि सत्यात्मदर्शिनस्तदुपकारिषु स्रक्चन्दनादिषु तदपकारिषु चाहिविषादिषु परिग्रहद्वेषयोस्तत्प्रतिबद्धानां चानुग्रहोपघा-(घा)तादीनामशेषदोषाणामवश्यम्भावेन प्रादुर्भावात्। तदुक्तम्–

"यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतस्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्स संसारी॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"
[प्र० वा० १।२१९-२२] इति।

ततो[1]ऽयुक्तं तत्त्वज्ञानेत्यादीति चेत्, अत्राह–

रागद्वेषौ विहायैव गुणदोषवतोस्तयोः।
मोक्षज्ञानात् प्रवर्त्तन्ते मुनयः समबुद्धयः॥५५॥ इति॥

समा सदृशी वासीचन्दनयोर्बुद्धिर्येषां ते समबुद्धयः मुनयः प्रवर्त्तन्ते निःश्रेयसोपायानुष्ठाने प्रवृत्ता भवन्ति। किं कृत्वा? तयोः स्वपरविभागबुद्धिविषययो[2] रागद्वेषौ प्रीत्यमर्षौ विहायैव परित्यज्यैव न कदाचिदप्यविहायेत्येवकारः। कथम्भूतयोः? गुणदोषवतोः गुणश्चोपकारो दोषश्चापकारस्तौ विद्येते ययोस्तयोरिति। अथ मतम्–गुणदोषावेव निबन्धनं रागद्वेषयोस्तद्भावाभावप्रतिपत्तेः, अतो न यत्र तौ भवतु नाम तत्र तयोः परित्यागः, यत्र तु स्तः तत्र प्रवर्तनमेव कारणभावादुपपन्नं न परिवर्जनमिति; तन्न युक्तम्; यस्मान्न ह्युपकारापकारावेव तयोर्निमित्तम्, अपि तु [3]तन्मनसिकारोऽपि। अत एव निराका-

१ ततो यदुक्तं आ०, ब०, प०। २ –षयोर्या –आ०, ब०, प०। ३ तदिच्छा।

इक्षस्योपकारिण्यपकारिण्यपि क्षमावतस्तन्मनस्कार[1]विकलस्य [2]तदाभाव (तद प्रसिद्धे[3]। स च तन्मनस्कारस्तादात्त्विकमेवोपभोग पुरुषार्थतया निश्चिन्वत f ए सर्प स्तदुपभोगोपयोगिष्वनुराग तद्व्याघातकारिषु विद्वेष च पोषयति न त्वात्यन्तिकं पु विशेष पश्यत, तस्य तत्कारणेष्वेव [4]मनस्कारस्य सम्भवात् न तात्कालिकसुखनिवन्‍ तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्–

तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनु[5]षज्यते ।
हितमेवानुरुद्ध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"

[ ][6]इति ।

तस्मादन्यत्र गुणादिभावेऽपि रागादिक परित्यज्य निरतिशयज्ञानादिस्वभावस्य पुरु षार्थस्य परिज्ञानात् तदुपाय एव मुनय प्रवर्त्तन्ते। तत एवोक्तम्–'मोक्षज्ञानात्' इति । [7]तदुपायेऽप्युपकारित्वादेवानुराग, तदविशेषात् परत्रापि [8]कस्मान्न भवतीति चेत् ? न, तत उपकारस्यैवाभावात् । दृश्यत एवेन्द्रियादेरन्यतोऽपि विषयोपभोगादिरुपकार इति चेत्, न, तस्याऽतत्त्ववेदिभिरुपकारबुद्ध्या परिगृहीतस्यापि विवेकावलोकविनिवेशितप्रज्ञावैशारद्यैः जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणपरितापकारणस्य तृष्णाभिवर्द्धनस्य निबन्धनतया अपकारपक्ष एवोपक्षेपात् । तत इद प्रत्युक्तम्–

"यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चलिता मतिः ।
तथापि न विरागोऽत्र कामीव वनितान्तरे ॥"

[प्र० वा० १।२४१] इति ।

विवेकवत पुरुषस्य सयोगसम्बन्धेषु भावेष्वात्यन्तिकस्यैव दोषस्य दर्शनेन सर्वदापि तत्र [9]विरक्तिभावस्योपपत्ते । यद्येवम् आत्मन्यपि वैराग्येण भवितव्यम्, इन्द्रियादेरिव तस्याप्युक्तेन वर्त्मना ससारपरितापकारणत्वस्याविशेषात् । इन्द्रियादिभिर्विना न तस्य तत्कारणत्वमतो न तत्र वैराग्यमिति चेत्, इन्द्रियादिष्वपि न भवेत्, तेन[10] विना तेषामपि तत्कारणत्वाभावात् । अत एवोक्तम्–

"न तैर्विना दुःखहेतुरात्मा चेत्तेऽपि तादृशाः ।
निर्दोषं द्वयमप्येवं वैराग्यं तत्र तत्कुतः ॥"

[प्र० वा० १।२२७]

इति चेत्, सत्यम्, आत्मनोऽपि मिथ्याज्ञानादिदोषपर्यायपरिणतस्य तत्परिताप-कारणतया परिभाव्यमानस्य वैराग्यविषयत्वेनाभ्युपगमात् । कथमेव तस्यैव निःश्रेयसे स्थापनायामास्था[11]परत्रेवात्मन्यपि विरक्तिविषये तदनुपपत्ते. ? तदास्थायां वा स एव राग । सुखेषु स्थापनास्थैव राग आग्रहलक्षणः ।" [प्र० वार्तिकाल० १।२३८] इति वचनात् । ततो नात्मनि वैराग्यस्य सम्भव इति चेत्, न, दोषपर्यायापेक्षया तत्सम्भवात्, तत्पर्याये च न

---

१ –नसिकार–आ०, ब०, प० । मनस्कारश्चेतस आभोगः अभिमुखीभाव इति यावत् । द्रष्टव्यम्–अक० टि० पृ० १५६ । २ तदभावप्रसिद्धेः आ०, ब०, प० । ३ –सिद्धिः ता० । ४ तन्मनसिका–आ०, ब०, प० । ५ –नुयुज्यते आ०, ब०, प० । ६ उद्धृतोऽयम्–न्यायकुमु० पृ० ८४२ । स्या० र० पृ० १११९ । ७ तदुपाये तूप–आ०, ब०, प० । ८ कुतस्तत्र स–आ०, ब०, प० । ९ विरक्तभाव–ता० । १० आत्मना । ११ "प्रयत्नः । आस्थानी यत्नयोरास्था" इत्यमरः–ता० टि० ।

कस्यचिदपि [1]विदुषः [2]तदास्था, द्रव्य एव तद्भावात्। तत्र च न वैराग्यम्, अतो द्रव्यरूपतयैवात्मा दोषपर्यायोपमर्दनेन शुद्धज्ञानादिरूपतया स्थापयितुमास्थीयमानो न दोषाभिनिवेशिनं वैराग्योदय प्रतिरुणद्धि। कथं पुनरात्मन्यपि रूपान्तरापादानं दोषोपमर्दने तदव्यतिरेकेण तस्याप्युपमर्दनात्, उपमृदितस्य च [3]दोषवदसम्भवादिति चेत्; न; [4]एकान्ताव्यतिरेक एव दोषात्। कथञ्चिद् व्यतिरेके च संवेदनस्य विकल्पेतराद्याकारभेदवत् क्रमेण मिथ्याज्ञानादिभेदस्याप्युपपत्तेरुपपन्नमेव तत्र दोषरूपोपमर्दनेऽपि तदन्तरापादनम्। विकल्पेतराद्यात्मनश्च संवेदनस्यानभ्युपगमे न किञ्चित् स्यात् सर्वस्य संसारतत्कारणादिव्यवहारस्य तन्नान्तरीयकत्वादिति [5]बहुशो निरूपितत्वात्। ततो निराकृतमेतत्–

"न हि तस्यान्यथाभावो नाप्यन्यस्य तथा स्थितिः।
[6]सर्वात्मनैकदेशेन सर्वथा दुर्घटत्वतः॥
एकस्य नैकदेशोऽस्ति नैकदेशोऽस्त्यभिन्नता।
यस्यैकदेशः सोऽन्यः स्यात्तथा सत्यनवस्थितिः॥
स्यादनन्यः कथञ्चिच्चेत्तथाप्यस्त्यनवस्थितिः।
परापरविकल्पानां तत्रापरिसमाप्तितः॥"

[प्र० वार्तिकाल० १।२३८] इति।

विकल्पेतर-विभ्रमेतरादिभिराकारैरेकस्यैव संवेदनस्य तथा चान्यथा च भावमभ्युपगम्य पुनरेवं ब्रुवत. स्वमतापरिज्ञानदोषोपनिपातात्। तत्संवेदनवदात्मन्यप्याकारभेदसंभवेन विरागाविरागयोरप्रतिषेधादिदमपि प्रतिषिद्धम्–

"नात्मात्मनि विरक्त किं यथास्ति स विरज्यते।
न तथा न यथा सोऽस्ति तथापि न विरज्यते॥"

[प्र० वार्तिकाल० १।२३८] इति।

तत [7]आत्मादौ विपरीताभिनिवेशवत एवात्मस्नेहसुखतर्षणादिर्न विवेकिन. तस्य तत्त्वनिर्णये विपरीताभिनिवेशनिवृत्तौ कारणाभावात्तदनुत्पत्ते। एतदेवाह–

सज्ज्ञानपरिणामात्मतत्त्वसम्प्रतिपत्तितः।
पीतदोषा[8]स्रवाकारो विपरीतग्रहक्षयः॥५६॥ इति।

आत्मनि योऽसौ विपरीतग्रह भौतिक एव, अचेतन एव, चेतनोऽप्यविकल्प एव, नित्य एव, अनित्य एवेत्यादिर्मिथ्याभिनिवेशस्तस्य क्षयो विनाशो विवेकिन इति शेष.। तस्य विशेषणं पीतेत्यादि। दोषाणामात्मस्नेहसुखतर्षणादीनाम् आ समन्तात् स्रवणम् आस्रव. स एवाकार. स पीतोऽन्तर्भावित स्वरूपत्वेनावस्थापितो येन स तथोक्त। कारणस्य हि परिक्षय कार्यमपि क्षयरूपतयावस्थापयति, अन्यथा तस्य तत्कार्यत्वानुपपत्ते। कुम्भकारादिक्षयेण व्यभिचार, तेन तत्कार्यस्य कुम्भादेरपरिक्षयकरणादिति चेत्; न; उपादानक्षयाभिप्रायेणैवमभिधानात्। विपरीतग्रहोपादाना हि जीवस्नेहसुखतर्षणादय तत्परिक्षयान्न भवन्तीति। 'सज्ज्ञान[9]' इत्यादिरत्रैव हेतु। सतो विद्यमानस्य

१ विद्वेषः आ०, ब०, प०। २ तदास्य द्रव्य–आ०, ब०, प०। ३ दोषश्चेदवदस–आ०, ब०, प०। ४ एकान्ताव्यतिरेके च प०। ५ –दिति च ब–आ०, ब०, प०। ६ सर्वात्मन्येक–आ०, ब०, प०। ७–पाश्रवा– आ०, ब०, प०। ८–ताच्छूवर्णं अतः आ०, ब०, प०। ९ संज्ञाने– आ०, ब०, प०।

जीवादे. ज्ञान सद्ज्ञानं तेन य परिणामः प्रतिसमयं तद्रूपतयैवावस्थानं स एवात्मनो जीवस्य तत्त्वं[1] स्वरूप तस्य सम्प्रतिपत्तिः युक्तितो निर्णय तत इति । न हि तत्तत्त्व[2]-निर्णये विपरीतग्रह सभवति विरोधात् । तत. सति तस्मिन् क्षय एव तस्य भवति रज्जु-निर्णये सर्पग्रहवत् । ततो यथा[3]वस्थितनिरवशेषजीवादिपदार्थज्ञानपरिणामरूपमात्मानं निश्चिन्वतो मिथ्याभिनिवेशादिदोषकलिलस्य व्यपगमादात्यन्तिकी शुद्धि वृद्धिमविरोहृति । तत इद प्रत्युक्तम्—

"विशिष्टसुखसंगात् स्यात्तद्विरुद्धे विरागिता ।
नैरात्म्ये तु यथालाभमात्मस्नेहात्प्रवर्त्तते ॥"

[प्र० वा० १।२३४-३५] इति ।

यथोक्तस्यात्मन एव विशिष्टसुखत्वेन तन्निश्चयवतस्तद्विरोधिनि सुखे वैराग्य-नियमेन प्रवृत्त्ययोगात् । कुतर्स्तार्ह तथाविधस्यात्मनो मिथ्याभिनिवेशादयो दोषा यतो घोरदुःखकूप[4]कुहरपरि[5]वर्त्तनम् ? न तावत्तत एव; अनिर्मुक्तिप्रसङ्गात्, तेषामविशेषा-पत्तेश्च । विशिष्टा हि ते पाटवादिगुणतारतम्याधिष्ठानतया प्रतीतेः । नहि कारणाविशेषे तद्विशेषो निर्हेतुकत्वापत्ते ।

एतेन 'नित्यादात्मादेस्ते' इति प्रत्युक्तम्; ततोऽपि हि न केवलात्तत्सभव । नाप्य-दृष्टसहायात्, अदृष्टस्यापि तत्कार्यत्वेनाविशिष्टस्यैव सम्भवात्[6], तद्विशेषाद् दोषविशेषा-नुपपत्ते । तद्विशेषस्याप्यन्यतस्तत्कार्यादेव कुतश्चित् कल्पनायाम् अनवस्थाप्रसङ्गात् ।

भवन्तु तर्हि वातादिभ्य एव ते, [7]"वातप्रकृतेर्मोह पित्तप्रकृतेर्द्वेष. कफप्रकृते राग", तथा ये मोहादिमूला प्रलापमात्सर्यानुनयादय सर्वेऽप्युत्तरदोषास्तेऽपीति चेत्, न; व्यभि-चारात, मोहादेर्वातादिवत् प्रकृत्यन्तरेऽपि[8] दर्शनात् । न हि तद्व्यभिचारिणस्तत्कार्यत्व-मतिप्रसङ्गात् प्रकृत्यन्तरेऽपि प्रकृति[9]साकर्येण वातादेर्भावादेव मोहादि, अतो न व्यभिचार इति चेत्; तर्हि [10]प्रतीतवदपरमप्रतीतमपि वातादिकार्यं तत्र किन्न स्यात् ? प्रकृत्यन्तरेण वातादे. शक्तिप्रतिबन्धादिति चेत्, प्रतीतमपि ततो न भवेत्, अप्रतीतवत् प्रतीतेऽपि प्रतिबद्धशक्तिकस्य कारणत्वायोगात् । तन्न वातादिकार्यत्व मोहादे. । वातादिप्रकर्षाद्य-नुविधानाभावाच्च, यद्धि यस्य कार्यं तत्तदुत्कर्षाद्यनुविधायि दृष्टं यथा तन्त्वादे पटादिकम् । न चैवमत्र, वातादेरुत्कर्षेऽपि मोहादावपकर्षस्य[11] अपकर्षेऽप्युत्कर्षस्य प्रतीते. । अथ शक्तिस्तत्र-कारण तस्याश्च वाताद्युत्कर्षादावप्यपकर्षादिसम्भवात्, तत्प्रसवे मोहादौ तत्प्रतिपत्तिर्न-विरुध्यत इति चेत्, न, शक्ते पृथग्भावे तत एव कार्योत्पत्त्या[12] वातादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । अपृथग्भावे च तदुत्कर्षादावप्यपकर्षादेरशक्यव्यवस्थापनत्वात् । ततो [13]वातादेरुत्कर्षादौ तदात्मनि शक्तावपि तद्भावात्, तत्प्रभवेऽपि स एव भवेत् । न चैवम्, अतो वाताद्युत्कर्ष-

१ तत्त्वं तस्य आ०, ब०, प० । २ –त्त्व निर्णये आ०, ब०, प० । ३–वस्थितिनि –आ०, ब०, प० । ४ "कुहरं विवरं बिलम् ।"–ता० टि० । ५ –वर्तिनं आ०, ब०, प० । ६ –वात्तद्विशिष्टाद्दोष–आ०, ब०, प० । ७ तुलना–"नाभ्यासजा रागादयः किन्तु वातादिजाः तथाहि–वातप्रकृतेर्मोह. पित्तप्रकृतेर्द्वेष कफप्रकृते राग इति" तदप्यसत्; व्यभिचारात् वातादिधर्माः प्रकृतिसङ्करात् ।"–प्र० वार्तिकाल० १।१५८ । तत्त्वसं० पृ० ५४८ । ८–पि तद्दर्शे–आ०, ब०, प० । ९–त्तीनां कार्येष आ०, ब०, प० । १० प्रतीतपरम-तमपि आ०, ब०, प० । ११–कर्षस्याप्युत्कर्षे–आ०, ब०, प० । १२–त्यादेरेव वातात्रे–आ०, ब०, प० । १३ वाताद्या उत्कर्षादौ आ०, ब०, ता० ।

भावेऽपि मोहादौ तद्विपर्ययात् वातादिप्रभवत्वे न मोहादौ शक्यकल्पनम् । ततोऽन्यदेव तस्य कारणं वक्तव्यम्, अहेतुकत्वे कालदेशस्वभावभेदानुपपत्तेः । तच्चाभ्यास [1]एव । मोहाद्यभ्यासादेव हि मोहादि, तत्पाटवाद्यनुविधायिनस्तस्य प्रतिपत्तेः, अतद्धेतुकत्वे तदनुपपत्तेः । अतः सजातीयाभ्यासनिबन्धना एव मोहादय इति सौगतः, सोऽपि न युक्तवादी, दीर्घनिद्रादिना अभ्यासव्यवधाने पुनस्तदुत्पादाभावप्रसङ्गात् । व्यवहितस्यापि हेतुत्वान्न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, कथमिदानीं सुगतेऽपि जन्मदोषसमुद्भवलक्षणा पुनरावृत्तिर्न भवेत् । तद्धेतोः आत्मदर्शनस्य तदानीमभाविनोऽपि चिरापक्रान्तस्य तद्धेतुत्वसम्भवात् । तथा च न सुभाषितमिदम्—

"आत्मदर्शनबीजस्य हानादपुनरागमः ।"[प्र० वा० १।१४३] इति । तन्न अभ्यासस्यापि [2]मोहादिकारणत्वम् । कर्मणां तु पौद्गलिकानां तदुपपन्नं [3]प्रमाणभावात् । तथा हि—यथावस्थिततत्त्व[4]परपरिच्छिदात्मनो जीवस्य स्वविषये मोहादि शरीरेन्द्रियव्यतिरेकिजीवोपश्लिष्टपुद्गलपरिणामपूर्वकं, तत्त्वात्, धत्तूराद्युपयोगिनस्तन्मोहादिवत् । कर्म[5]पुद्गलोपश्लेषोऽपि जीवस्यापरमोहादिपूर्वकं, तत्त्वात्, धत्तूरादिरसोपश्लेषवदिति सिद्ध आस्रवो बन्धश्च, तदुपश्लेषस्य बन्धत्वात् तद्धेतोश्च मोहादेरास्रवत्वात् । एतदेवाह—

रागादयः सजातीयपरिणामाभिवृद्धयः ।
सूचयन्ति हि कर्माणि स्वहेतुप्रकृतीनि च ॥५७॥ इति ।

सजातीयः सदृशः परिणामः परापरविवर्त्तः स एवाभिनवः पूर्वापेक्षया [6]प्रत्ययत्वात् अभ्यधिका[7] कालोपचयवत्त्वाद्वृद्धिर्येषां ते तथोक्ताः । ते चैवम्भूता रागादयो रागः स्नेहात्मा मोहविशेषः तदादयो द्वेषादयः । किं कुर्वन्ति ? सूचयन्ति हि स्फुटम् । कानि ? कर्माणि निरूपितरूपाणि । कीदृशानि ? स्वहेतुप्रकृतीनि स्वस्य रागादेर्हेतुः कारणं प्रकृतिः स्वभावो येषां तानीति । चशब्दो हेतु[8]परत्वमस्यावद्योतयति । यतो रागादीनां हेतुप्रकृतीनि कर्माणि ततः सूचयन्ति, कार्यात् कारणप्रतिपत्तेरव्यभिचारात् । अथवा स्वे रागादयो हेतुप्रकृतयो येषामिति व्याख्येयम् । कथं पुनरत्र व्याख्याने तेषां तत्सूचकत्वम् कारणानामवश्यम्भाविकार्यत्वाभावादिति चेत् ? सत्यम्; तत्र सापेक्षत्वे तन्नियमाभावः, अपेक्ष्यासन्निधाने कार्यानुत्पत्तेः । न चैवम्, रागादीनां स्वत एव तद्धेतुत्वस्य प्रकृतिग्रहणेन ज्ञापनात् । एवं हि ते प्रकृत्या तद्धेतवो भवन्ति यदि तत्र नापरमपेक्षेरन्, आपेक्षिकस्य हेतुभावस्य प्राकृतत्वानुपपत्तेः । प्राकृते च तद्भावे नियम एव कार्यस्य तृष्णायामिव कर्मणः । तथा चालङ्कारवाक्यम्—

"अथ तृष्णास्ति नैवास्ति कर्मणोऽस्य परिक्षयः ।
सतृष्णस्यास्य हि भवेत् पुनः कर्म परापरम् ॥"
[प्र० वार्तिकाल० १।१९०] इति ।

कथमेवं कारणस्याप्यव्यभिचारिणो लिङ्गत्वसम्भवात् कार्यादिभेदेन [9]लिङ्गत्रैविध्यकथनम् ? इति चेत्, सत्यम्, अस्त्ययं सौगतस्य तद्वादिनो दोषः, कारणलिङ्गस्य स्वभा-

१ एव न मो–आ०, ब०, प० । २ मोहाधिकरणत्वं आ०, ब०, प० । ३ प्रमाणाभावात् आ०, ब०, प० । ४–स्वपरस्य स्ववि–आ०, ब०, प० । स्वपरस्य वि – प० । ५ पुद्गलश्लेषो–आ०, ब०, प० । ६ प्रत्ययत्वा–आ०, ब०, प० । ७ –का वा का–आ०, ब०, प० । ८ पदस्यसम्भाव –आ०, ब०, प० । ९ प्र० वा० ३।१ ।

वान्तर्भावप्रत्यायनात्। तदेव क्लेशकर्मकतिपयव्यक्तिविशेषगतस्य कार्यकारणभ नुमानत परापरभेदात् प्रतिपत्तावनादिरेव स व्यवतिष्ठते, तदनुमानवलभाविना तर्क॰ तथैव तत्र प्रतिपत्ते । तत्प्रामाण्यस्य च निरूपितत्वात् ।

साम्प्रत तत्त्वज्ञानेत्यादिनोक्तमपि कर्मनिर्जरणं विनेयानुजिघृक्षया स्पष्ट धित्सुराह–

सात्मीभावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य संक्षये ।
कर्माश्लेषः [प्रवृत्तानां निवृत्ति फलदायिनाम्] ॥५८॥ इति ।

भवति हि सतो विद्यमानस्य दोषस्य रागादे संक्षयः सामस्त्येन विनाश.,[1] तद्वि पक्षस्य रागादिप्रत्यनीकस्य निरूपितस्य तपस सात्मीभावात्, अनात्मरूपस्यात्मरूपतया भावनात् । सति च तत्सक्षये कर्मभिरागन्तुभिरश्लेषोऽसम्बन्ध आत्मन, तेषा दोषनिदानत्वेन दोषाभावेऽनुत्पत्ते., अनुत्पन्नैश्च सम्बन्धस्यासम्भवात् । प्रवृत्तानां तर्हि कर्मणा कथ निवृत्ति ? इत्यत्राह–

प्रवृत्तानां निवृत्ति फलदायिनाम् । इति ।

प्रवृत्तानां पूर्वोपात्ताना कर्मणा निवृत्तिरात्मनो विश्लेष । कीदृशानाम् ? फलदायिनाम् । विशेषणमप्येतद्धेतुत्वेन द्रष्टव्य फलदायित्वादिति[2] । दृश्यते च फलदायित्वेनोपात्तस्यापि मदिरादेर्विनिवृत्ति तथा कर्मणामपि । फलञ्च तेषा स एव रागादिर्दोष, तथाऽन्तरमेव निरूपणात् । तदेवमात्मन कर्मसम्बन्धाभावे तत्सम्बन्धतिरोहितस्यानन्तज्ञानादिस्वभावस्याविर्भावात् भवत्येव परमा निर्वृति । कथ पुनरात्मन कर्मसम्बन्धाभावे कर्तृत्वभोक्तृत्वे तयोस्तदुपनिबन्धनत्वात् ? 'तदभावे चात्मैव न भवेत्, तस्य तल्लक्षणत्वात्, अतो न तत्सम्बन्धाभावेन तस्य नि श्रेयसकल्पनमात्मवादिनामुपपन्नमिति चेत्', तन्न, यथावस्थितस्वपरविषयपरिशुद्धज्ञानस्यैव तल्लक्षणत्वात् । तत्र च "प्रभास्वरमिदं चित्तम्" [प्र० वा० १।२१०] इति ब्रुवत सौगतस्यापि विवादाभावात्[3] । चित्तस्यैव कथञ्चिदन्वयिन आत्मत्वेन व्यवस्थापनात् । तत क्रियाभोगयोरभावेऽपि न परिहाणिरिति दुर्व्याहृतमेतत्–

"आत्मीयमेव यो नेच्छेद्भोक्ता इव न विद्यते ।
आत्मापि न तदा तस्य क्रियाभोगौ हि लक्षणम् ॥"
[४][प्र० वा० १।२५७] इति ।

कुत पुनर्विपक्षस्य सात्मीभाव इत्याह–

प्रतिपक्षस्थिरीभाव प्रायः संस्कारपाटवात् । इति ।

प्रतिपक्षो रागादीना तत्त्वज्ञानभावनारूप तप तस्य स्थिरीभावः आत्ममयत्व संस्कारस्य तद्भावनोपनीतवासनाविशेषस्य पाटवात् । स च ततः प्रायो बाहुल्येन कदाचिदसत्यपि तस्मिन् क्षयोपशमविशेषादेव भावात् । के पुनस्ते दोषा येषा तद्भावना विपक्षभावेनोपक्षिप्यते ? इति चेत्, अत्राह–

निर्ह्रासातिशयौ येषां तत्प्रकर्षापकर्षयो. ॥५९॥ इति ।

तस्य तत्त्वज्ञानाभ्यासस्य प्रकर्षापकर्षावुपचयापचयौ तयो सतोर्येषां रागादीना निर्ह्रासातिशयौ हानिवृद्धी तेषा स विपक्ष इति प्रतीयते, अन्यथा तत्प्रकर्षादौ तन्निर्ह्रासादेरनु-

१ –श. स च त– आ०, ब०, प० । २ –दायित्वमिति आ०, ब०, प० । ३ तद्भावे आ०, ब०, प० । ४ चेत प० । ५ –चात्तस्यैव आ०, ब०, प० ।

पपत्ते.। [1]तथा च यत् यत्पाटवे सत्यपहीयते तत्तस्यात्यन्तपाटवान्निर्मूल[2]मपहीयते यथा दहनपाटवाच्छीतस्पर्श, तत्त्वज्ञानपाटवादपहीयन्ते च रागादय इति [3]सिद्ध सवरस्तत्त्वज्ञानात्मा। ततश्च दोषापहानादनागतकर्मानुत्पत्तौ उत्पन्नानाञ्च [4]तदपहातव्यक्लेशमात्रफलप्रदानेनापक्रमाद्भवति परिशुद्धि, [5]या सिद्धिरात्मन काष्ठागतात्तत्त्वज्ञानपाटवात् दोषाणा समूलतलप्रहाणादात्मनोऽपि स्यात् अव्यतिरेकात्, अन्यथा दोषाणामपि न भवेदिति चेत्, न, आत्मन एव तद्रूपस्य प्रहाणात्। प्रहीणस्य कथमवस्थिति, यत कैवल्यमिति चेत्? तथापि प्रतीतेरेव। निरूपित च स्थित्यादित्रयात्मकत्व सर्वस्यापि भावस्य। ततो नेद जैनं प्रति दूषणम्–

"यस्यात्मा वल्लभस्तस्य स नाशं कथमिच्छति।"

[प्र० वा० १।२३६] इति।

सन्नेव ह्यात्मा कस्यचिद्वल्लभ। न च कौटस्थ्ये तस्य सत्त्वम्, तत्र क्षणभङ्गैकान्तवदर्थक्रियाशक्तिवैकल्यस्य निरूपणात्। परिणामिनि च विनाशस्यावश्यम्भावात् तमिच्छत एव तद्वल्लभत्वोपपत्ते। न तत्र कथमिति प्रश्नोपपत्ति:, अनुपपत्तिविषय एव तदुपपत्ते। अथ सौगतेनापि तत्त्वज्ञान भावनाधिष्ठित निःश्रेयसनिबन्धनमभिहित कस्मान्नेष्यते? इति चेत्; किं पुनस्तस्य तत्त्वज्ञानम्? [6]सत्त्वादिलिङ्गोपजनितमनुमानमिति चेत्, कुत. तत्सिद्धम्? असिद्धस्य ज्ञानत्वानुपपत्ते। स्वसवेदनादिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्ष[7]विशेषत्वेन स्वलक्षणविषयत्वात्, अनुमानस्य च सामान्याकारत्वात्, अन्यथा शब्दसम्बन्धयोग्यत्वानुपपत्ते। स्वत: स्वलक्षणात्मैवानुमान सामान्याकार[8]स्तु तत्र विकल्पान्तरोपनीत इति चेत्, न, तदन्तरस्याप्यविदितस्याज्ञानत्वात्, स्वसवेदनाच्च सामान्याकारत्वेन विदितत्वायोगात्। तत्रापि तदाकारस्य विकल्पान्तरोपनीतत्वकल्पनाया प्रकृतप्रसङ्गानतिवृत्तेः अनवस्थापत्तेश्च। सत्यपि तत्र स्वसवेदने कथमनारोपात्तत्प्रतिपत्ति. न [9]चारोपस्यैवानुत्पत्ति "[10]परोक्षा नो बुद्धि:" [ ] इति ब्रुवता[11] तत्रास्वसवेदनसमारोपस्य[12] प्रादुर्भावात्। स्वसवेदनेनैव तदुत्पत्ते प्रतिबन्धादिति चेत्, न, [13]अनन्वयेऽपि चित्त[14]प्रबन्धे तेनैवै[15]कत्वारोपजन्मन प्रतिबन्धात्, अनारोपप्रतीतिभावेनानुमानवैकल्योपनिपातात्। अनुमानान्तरात्तत्राप्यनारोपप्रतीतिकत्वकल्पनायाम् अनवस्थानम् अनुमानपरम्पराया [16]अपरिसमाप्ते। ततो नानुमानस्य सम्भवो निरारोपायास्तत्प्रतीतेरभावात्।

सम्भवतोऽपि कस्तस्य भावयिता? विना तेन भावनाऽनुपपत्तेः। न चित्तक्षण एव, कस्यचित्तस्य परापरकालावस्थायित्वेन [17]परमताप्रसिद्धे। क्षणविनाशिनश्च भूयोवृत्त्या [18]तद्भावकत्वानुपपत्तेः। सन्तान इत्यपि न युक्तम्, अन्वयिनस्तस्यापि वस्तुवृत्तेनाभावात् अवस्तुवृत्त्या सम्भवतश्च भावनादौ वन्ध्यास्तनन्धयवदनुपयोगात्। तन्न तस्य भावना। तत्सम्भवेऽपि न किञ्चित् फलमित्यावेदयति–

---

१ यथा च प०। २ -मुपजायते आ०, ब०, प०। ३ सिद्धि: आ०, ब०, प०। ४ सदा हातव्य आ०, ब०, प०। ५ वा सि –ता०। ६ प्रश्नोपपत्तेः। ७ स्वत्वादि आ०, ब०, प०। ८ विषयत्वेन आ०, ब०, प०। ९ –रस्तत्र वि –प०। –रस्तु वि –आ०, ब०। १०–रोपादस्यैवा –प०। ११ "तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः"–मी० भा० १।१।५। १२ "मीमांसकानाम्"–ता० टि०। १३ –स्य विदितस्य प्र –आ०, ब०, प०। १४ अन्वयेपि आ०,ब०,प०। १५ प्रबन्धेनैवैक –आ०,ब०,प०। १६ एकत्वारोपोत्पत्तेः –ता० टि०। १७ अपि स –आ०,ब०,प०। १८ "सौगतमतेऽप्रसिद्धे."–ता० टि०। १९ तद्भावकत्वा–आ०,ब०,प०।

यद्यप्यनात्मविज्ञानभावनासम्भवस्ततः ।
न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ॥६०॥ इति ।

[1]आत्मेति कथञ्चिदन्वय, तदभावे भावाना नैरात्म्यस्याभि[2]मतस्यावश्यम्भावात्, स न विद्यते येषा तानि च तानि विज्ञानानि च तेषां सम्बन्धिनी भावना क्षणभङ्ग-नैरात्म्या[3]द्यनुमानाभ्यासवृत्ति तस्या यद्यपि सम्भवः अपिशब्दस्तदभ्युपगम सूचयन् वस्तुतस्तदभाव निवेदयति । ततस्तत्सम्भवात्, न निरोधो न विनाशो [4]मिथ्यारोपस्य । तन्निरोधाय हि तत्सम्भव परस्याभिमतः "मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नः" [प्र० वा० १।१९४] इति वचनात् । न चानुमानात्तन्निरोध तस्यावस्तुविषयत्वात् । वस्तुविषयस्य[5] हि ज्ञानस्य तदन्यत्प्रतिनिरोधकत्व यथा रज्जुज्ञानस्य सर्पवेदन प्रति, नावस्तुवेदनस्य यथा तस्यैव सर्पज्ञानस्य [6]सम्भ्रमान्तर प्रति । सामान्यावलम्बनत्वेनावस्तुवेदनस्यापि तस्य वस्तुनि प्रतिबन्धात्, भावनापरिकलितस्य तदध्यारोपप्रत्यनीकवस्तुस्वलक्षणदर्शनप्रत्युप-स्थापनद्वारेणोपपद्यत एव तन्निरोधकत्वमिति चेत्, न, प्रतिबन्धस्यैव प्रमाणाभावेन प्रतिक्षिप्तत्वात् । तन्न ततो भाव्यमानादपि वस्तुस्वलक्षणस्य दर्शनम्, अपि तु तद्विपयस्यैव मिथ्याकारस्य । अथापि कथञ्चित् ततस्तद्दर्शन तथा वैराग्यदर्शनमपि दुःखभावनाया किन्न भवेत् ? यत इद दुरुक्त न भवेत्—

"दुःखभावनयाप्येष दुःखमेव विभावयेत् ।"
[प्र० वा० १।२४०] इति ।

तन्न मिथ्याज्ञानाभ्यासवतोऽपि मिथ्यात्वस्य निवृत्ति मद्यपानान्मदस्येव, तदुक्तम्—

अतत्त्वं भावयन् भिक्षुः कथं तत्त्वेन युज्यते ।
पिबन्मद्यं मदाभावं कथन्नु प्रतिपद्यते ॥"
[ ] इति ।

अथवा ततो न निरोधो निरोध्यस्याभावात् । कथ पुनस्तस्याभाव ? सुखदुःख-हर्षविषादादिपरापरचित्तक्षणेषु[7] एकत्वज्ञानस्यैव निरोध्यत्वादिति चेत्, सत्यम्, यदि तस्यारोपितविषयत्वम्, न चैवम्, भेदज्ञानवत्तस्यापि निर्बाधत्वेन तत्त्वविषयत्वात् । न च तत्त्वज्ञानमेव निरोध्यम्, भेदज्ञानस्यापि तत्त्वापत्ते । न किञ्चित्तत्त्वज्ञानं विचारासहत्वात् सामान्य तु व्यवहारेण, ततो भेदज्ञानमपि निरोध्यमेवेति चेत्, उच्यते—तद् ज्ञान यदि वस्तुतो नास्ति न भावनासम्भवतस्तस्य निरोध, स्वत एव भावात् । अस्ति चेत्, कथन्न तत्त्वज्ञान[8] तत् ? तेन स्वरूपस्य [9]सत एव प्रतिवेदनात् । न च तस्य सन्तानस्य निरोध , चरमवर्त्तिन सजातीयानवक्लृप्तौ विजातीयेऽप्यनुपयोगात् नित्यवदवस्तुत्वापत्तौ तदुपादानप्रवाहस्यापि तत्त्वापत्तेः । तत्र चोक्तम्—'स्वत एव [10]तस्याभावात् कि तन्निरोध-प्रयासेन इति । तन्न तस्य निरोध । निरोधे वा यत्किञ्चिन्मुमुक्षुप्रयासस्य फलं परिशुद्ध-परापरचित्तलक्षण प्रयोजनं पराभिमत तत् न सम्भवति । सवृत्या सम्भवनि तत एव तस्य

---

१ "आत्मशब्दस्य कथमन्वयवाचकत्वम् ? इति चेदुच्यते, अतति सातत्येन गच्छतीत्यात्माऽन्वय"—ता० टि० । २ –मतः अवश्य –ता० । ३ –स्याद्नु–प० । ४ "अध्याहार्यमिदम्"—ता० टि० । ५ –यस्याभिज्ञान –आ०, ब०, प० । ६ "विभ्रमान्तरम्"—ता० टि० । ७ –षु तत्त्वज्ञानस्यास्यैव आ०, ब०, प० । ८ –नं तत्त्वेन आ०, ब०, प० । ९ स्वत आ०, ब०,प० । १० तस्य भावान् आ०, ब०, प० ।

मोक्षत्वेन, तत्फलत्व च वस्तुतः [1]पुनस्तस्यापि निरोध एव मोक्ष इति चेत्; न तर्हि तस्य प्रणीतत्वम्, [2]तद्धि मोक्षान्तरप्रतिक्षेपेण तस्यैवेष्टत्वम्। सम्प्रति [3]तदन्तरस्यापि प्रतिपादनेन तस्य [4]तल्लक्षणाभावात्। यदि वा, **निरोधे वा मोक्षे तत्र प्रयोजनं** प्रमाण 'प्रयुज्यते प्रकर्षेण युक्तं क्रियतेऽनेनेति प्रयोजनम्' इति व्युत्पत्ते. तन्नेक्ष्यते[5] न सम्भवति। सम्भवे तत्रैव तत्र भवेत्, नापि तस्यायुक्ति[6]विकलत्वं [7]तदविकलत्वादेव [8]सावृतत्वोपपत्तेः। ततो दुर्भाषितमिदम्–

"परितुष्ट[ ]क्षणो यस्य सम्भवत्यपरापरः।
तस्य मोक्षः प्रणीतोऽसौ भ्रान्त्ययुक्तिविनाकृतः॥"
[प्र० वार्तिकाल० १।२०३] इति।

भवतु तर्हि नीरूपस्यैव निरोधस्य प्रणीतत्वेन मोक्षत्वमिति चेत्, अत्रोत्तर **निरोधे वा** इत्यादि। एतदुक्त भवति–निरोधमभ्युपगच्छता तत्परिच्छित्तये प्रमाणं वक्तव्यम्, अन्यथा तीर्थान्तरमोक्षवत्तस्य प्रणीतत्वाव्यवस्थिते। तच्च न तावन्मुक्तस्यैव, नि.सरणाभावानुषङ्गात्। निःसरण हि मुक्तस्य पुन ससाराभाव.। न च प्रमाणे सति तदभावः, तस्यैव निरोधिन ससारत्वात्। तन्न मुक्तस्य प्रमाणम्। संसारिण इति चेत्, तदपि न प्रत्यक्षम्, तस्य तद्बलभाविन[9] एव तद्विषयत्वम्, निरोधस्य च नीरूपत्वेन बलवैकल्यात्। अतदाकारस्य च न [10]तद्विषयत्वम्, आकारवादव्यापत्ते। तदाकारत्वे च न प्रत्यक्षत्वमभावत्वात्। पुन· प्रत्यक्षान्तरेण तत्प्रतीतिकल्पनायामनवस्थापत्ते। तन्न प्रत्यक्ष तत्। नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षाभावे तस्याप्यनवकल्पनात्। नापि प्रमाणान्तरम्, अनभ्युपगमात्। तन्न निर्वाणस्य निरोधाकार. प्रमाणाभावात्। अत एव न तत्र रागाद्युपशमरूप· शान्ताकार:; प्रमाणपथातिवर्तिनि[11] तस्मिंस्तदाकारस्याशक्यकल्पनत्वात् प्रणीतत्वाद्याकारवत्। ततो यदुक्तम्–[12]"निरोध शान्तता प्रणीतता [13]निःसारभावश्चेति चतुराकारं निरोधसत्यम्" [ ] इति, तत् प्रतिव्यूढम्। तन्न सन्ताननिरोधो निर्वाणम्। सति वा तस्मिन् न प्रयोजन फलं मुमुक्षूणामीक्ष्यते। न च निष्फले तस्मिन् प्रेक्षावतामभिरुचिरुपपन्ना तद्वत्ताविरोधात्। अन्यथा ब्रह्मविदा जीवविनाशलक्षणे[14] मोक्षे तद्वदभिरुच्युपपत्तेः। यत्तत्र प्रहसन प्रज्ञाकरस्य "न च तादृशा मोक्षेण किञ्चित् प्रयोजनमित्यहो महत्प्रेक्षापूर्वकारित्वं योगिनाम्" [प्र० वार्तिकाल० १।२३४] इति तत्र युक्त भवेत्। तन्न सौगतकल्पितो मोक्ष, तदभावात् न तन्मार्गत्वम् अनात्मविज्ञानाभियोगस्य नैरात्म्यज्ञानस्य मिथ्यात्वात् न तदभ्यासस्य मार्गत्वमित्यादर्शयति–

---

१ पुरः ता०। २ तद्धिमोक्षा–आ०, ब०, प०। ३ तदन्तवत्तस्यापि निरोधे आ०, ब०, प ४ प्रणीतत्वलक्षणाभावात्। प्रणीतत्वम् "यतः परोऽपि संभवति मोक्षस्तत्प्रतिक्षेपेण प्रणीतस इत्याकारः –प्र० वार्तिकाल० १।७९१। ५–तेऽसम्भवे आ०, ब०, प०। ६–विकलत्वं आ०, ब०, प ७ तद्विकलत्वा–आ०, ब०, प०। अयुक्तयविकलत्वादेव। ८ साम्प्रतत्वो–आ०, ब०, ९ "नाकारयं विषय इति सौगतैरभिधानात्" –ता० टि०। १०–तद्विषयत्वसमाकार–आ०, ब०, ११–पदातिवर्तीति त–आ०, ब०, प०। १२ "निरोधत, शान्ततः, प्रणीततः, निःसरणतश्चेति आकाराः"–प्र० वार्तिकाल० १।१९१। निरोधः शान्ततः प्रणीता निःसारतश्चेति आ०, ब०, १३ निःसंसार–ता०। १४–लक्षणेऽपि मोक्षे आ०, ब०, प०।

हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ।
मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैत्र्यादिप्रतिरोधतः ॥६१॥ इति ।

सौगतेन हि यदनात्मज्ञम् आत्मवेदनविमुख ज्ञानं 'विज्ञानमभ्यनुज्ञातं[1] तन्मिथ्यैव एव तत् (एतत्) तत्त्वेन तद्भावेनार्थ्यते इति तत्त्वार्थौ, हेयोपादेयौ च[2] तौ तत्त्वार्थ तयो या तद्विज्ञानबलात् विपरीता हेयस्योपादेयतया उपादेयस्य हेयतया व्यवस्थितिः इति । न चेयं नास्त्येव सर्वथा फलविकलतया कथञ्चित्तद्वत्तया च यथाक्रम त्या० योश्चित्तसन्तानिर्मूलोच्छेदावस्थानयोस्तज्ज्ञानेन विपरीतस्थितेरवकल्पनात् । अथवा त ज्ञान मिथ्येत्यसम्भवीति व्याख्येयम् । अत्र निमित्तमाह-'मैत्र्यादिप्रतिरोधतः' इति । मै- तत्त्वमात्रे समताभावनम् आदिर्यस्य गुणोत्कृष्टादिविषयस्य प्रमोदादे तस्य य प्रतिरोध तज्ज्ञानसम्भवे प्रतिनिवृत्ति तत इति । तथाहि-न तावत्तज्ज्ञान विनेयाना स्वत एव, सुगत- कल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । सुगतादेव तत्तेषामादित परार्थानुमानरूपमिति चेत्, न, ततोऽपि तज्ज्ञानवत तदसम्भवात् । स हि कृपया तत्तेषामुपदिशति । न च तज्ज्ञानवत कृपा विषया- भावात्, सर्वस्यापि तेन विनेयवर्गस्य तत्त्वतो नीरूपतयैव ज्ञानात् । तदध्यारोपस्यापि तदभाव- तत्त्वज्ञानवत्यसम्भवात् । ततो यदि सुगतस्य करुणावत्त्वमप्रतिरोध[4] न तस्य तदभावज्ञानम् । तथा विनेयलोकस्यापि, इति युक्त तस्यासम्भवित्वम्, असम्भवतश्चानभ्यासभूमित्वेनानिर्वाण- मार्गत्वमपीति ।

साम्प्रत स्वमते प्रमोदादेर्विषयभावादिना विधानमुपपन्नमिति दर्शयन्नाह-

तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्रेषु महीयसाम् ।
आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते ॥६२॥ इति ।

तत्त्वेनार्यन्त इति तत्त्वार्था जीवादय. तेषां यानि दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानाधिगम- तत्स्थिरीभावलक्षणानि तेषु प्रमोदादि हर्षादि, आदिपदात् मैत्रीपरिग्रह स विधीयते "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु" [त० सू० ७।११] इति प्रवचनेन । कुत स तेषु विधीयते , इति चेत्, अत एव अतोऽस्मात्तत्त्वार्थदर्शनादीना भावात् परमते च तद्विषयस्याभावात्, तस्य च चारित्रविकल्पत्वेन[5] नि श्रेयसकारणत्वात् । एवकाराश्निमित्तान्तरव्युदास । केषा स विधीयते ? महीयसां प्रत्यासन्ननि.श्रेयससम्पदाम् । तेषामेव सासारिकभोगनिस्पृहव्यापारतया महीयस्त्वोपपत्ते । कीदृशेषु तेषा स विधीयत इति चेत् ? आत्मीयेषु । उपलक्षणमिदम्, तेन परकीयेषु चेति प्रतिपत्तव्यम् । न चैवमवस्थित- स्यापि सुगतस्य क्वचिन्मैत्र्यादिक सम्भवति इत्याह-

यस्तावत् [करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।
सन्तानः स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते] ॥६३॥ इत्यादि ।

नन्विदमुक्तमेव पूर्वं किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ? बालधिया परिचयस्थैर्यार्थम् । एवमुत्तरत्रापि । न चैवं सर्वत्रप्रसङ्ग अनयैव दिशाऽन्यत्रापि तत्स्थैर्याभ्यासस्य[6] कर्त्तव्यताया

---

१ विज्ञानमस्य तु ज्ञान-आ०, ब०, प० । २ च तत्त्वार्थौ आ०, ब०, प० । ३ तज्ज्ञानममिथ्ये -आ०, ब०, प० । ४ -रोधात्त आ०, ब०, प० । ५ -न च नि- आ०, ब०, प० । ६ -भ्यासकर्त्त -आ०, ब०, प० ।

सूचनात्। तावदिति वाक्यालङ्कारे। यच्चेतसां सन्तानं सुगतानामा तिष्ठत्येव न निर्वाति। कुतः? करुणावत्त्वात् स समत्वं मैत्रीरूपम् उपलक्षणमिदम्, तेन प्रमोदादिकमपि न प्रपद्यते न कर्तृत्वेन प्राप्नोति विषयाभावात्। अस्त्येव सन्तानान्तरं विषयः तत्र सत्त्वमात्रे मैत्र्या व्रतचारिणि प्रमोदस्य क्लेशवति करुणाया निर्घृणादावुपेक्षायाश्च तेन [1]प्रपत्तेरिति चेत्, न, तत्र सर्वत्रापि[2] तेन नैरात्म्यज्ञानप्रधानेनोच्छेदस्यैव करणात्[3]। न च तद्गोचरं मैत्र्यादिकं व्योमकुसुमादिवत्। न यदा मैत्र्यादिकं तदा तत्रोच्छेदः पश्चादेव तस्य भावादिति चेत्, न, वस्तुसति पश्चादपि तद्भावस्य निषेधात्। अवस्तुसतश्च पूर्वमपि कस्तस्योच्छेदाद्विशेषः यतो [4]मैत्र्यादेर्विषयः स्यात्? अध्यारोपतः सत्त्वमिति चेत्, न, अवस्तुसति तस्यैवाभावात्। तस्यापि[5] ततो भावेऽनवस्थापत्तेः। सुगतस्यैव तदध्यारोप इति चेत्, तेन तर्हि तत्र सत्त्वमध्यारोप्य पुनस्तदुच्छेदकरणात्तदेव नाध्यारोपयितव्यम्, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" [प्र० वार्तिकाल० १।१४७] इति न्यायात्। तन्न अवस्तुसतः पूर्वमपि तद्विषयत्वम्। वस्तुसत्त्वे तु कथं तत्रैव मैत्र्यादिरुच्छेदश्च विरोधात्? न विरोधः, रागादिषु क्षोपशमरूपत्वेनोच्छेदस्यैव परेषामिष्टत्वादिति चेत्, न, अभीष्टत्वेऽपि स्वसन्तानवद्वस्तुमत्युच्छेदस्याशक्यत्वात्। तन्न तदुच्छेदात्मा मोक्षः सम्भवति। कस्तर्हि वक्तव्य[6] इत्याह–

तस्मात् [निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते।
सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु भिद्यते] ॥६४॥ इत्यादि।

तस्मात् उक्तस्य मोक्षस्यासम्भवात् निरास्रवीभावो मिथ्याज्ञानरागादेरास्रवाद्निष्क्रान्तस्य[7] निष्क्रान्तस्य भावो भवनं संसारान्मोक्ष उच्यते मोक्षवेदिभिः। भवतु सन्तानस्य इति परः। तत्रोत्तरम्–आत्मनो वा इति, आत्मन एवेत्यर्थः। वाशब्दस्यावधारणार्थत्वात् आत्मन एव [8]कथञ्चित् सवेदनान्वयरूपस्य सन्तानत्वोपपत्तेः, निरन्वयज्ञानप्रवाहस्याशक्यकल्पनत्वेन निरूपितत्वात्। कस्तर्हि सन्तानात्मनोर्भेद इति चेत्? न कश्चिदर्थतः। केवलं सन्तान इति आत्मेति च 'शब्दमात्रं तु भिद्यते' इति। कथं पुनर्निरास्रवस्याप्यात्मनः परापरशरीरसञ्चाराभावः, तत्सञ्चारकारिण एव तस्य [10]प्रागलब्धत्वात्। पश्चादतत्कारित्वे तु परापरज्ञानपर्यायकारित्वमपि न भवेदिति स एवोच्छेदभावः पुनरप्यागत इति चेत्; न, तत्र कारणाभावात्। न हि आत्मैव [11]तत्सञ्चारे कारणम्, अपि तु अविद्यातृष्णादिरपि। तत्त्वज्ञानपरिपाकवतश्च तदभावेन सामग्रीवैकल्यान्न युक्तं तत्सञ्चारकारणत्वम्। आत्मनः परापरपरिशुद्धज्ञानपर्यायापेक्षया तु निरपेक्षत्वेन कारणत्वस्यैवोपपत्तेः न तदुच्छेदवादप्रत्यावृत्तिरपि।

[1]न चैवं तस्यानवस्थितपरापरपरिमाण[12]स्याप्यवकल्पनम्, तत्रापि कर्मसचिवस्यैव तस्य कारणत्वात्, अधिगतनिःश्रेयसस्य च कर्माभावात्। ततः परित्यक्तकायपरिच्छिन्नतया अवस्थितमेव तस्य परिमाणम्। तदपि कर्माधिपत्येनोपनिबद्धं तदभावे कथमिति चेत्?

---

१ प्रतिपत्ते–आ०, ब०, प०। २ –पि न नैरा –आ०, ब०, प०। ३ –णायां न चतद्गो–आ०, ब०, प०। ४ मैत्र्यादिर्वि– आ०, ब०, प०। ५ –पि भावे– आ०, ब०, प०। ६ कर्तव्य इ–आ०, ब०, प०। ७ –स्य भवनं आ०, ब०। –स्य निष्क्रान्तस्य भवनं प०। पूर्वमनिष्क्रान्तस्य पश्चान्निष्क्रान्तस्य। ८ कथं चेत् आ०, ब०, प०। ९ –पत्तेरन्वय– आ० ब०, प०। १० प्रागबद्धत्वात् आ०, ब०, प०। ११ तत्सञ्चारिका –आ०, ब०, प०। १२ –णस्याप्यक –आ०, ब०, प०।

असत्यपि कुम्भकारे तदुपनिबद्धं घटपरिमाणमिवेति ब्रूमः, कर्मणोऽपि कुम्भकारवत् तत्र सहकारित्वस्यैव भावात्। कथमेवं कर्मकृतमसकलज्ञत्वमपि तदभावे निवर्तते इति चेत्, ? न, सकलज्ञानस्य संसारिण्यपि व्याप्तिज्ञानबलेन व्यवस्थापनात्। केवलं तस्य विशेषाभिमुखनिरोधानमेव कर्मभिः, तच्च तन्निवृत्तौ निवर्तत एव तद्व्यापारत्वात्[1]। ततो युक्तं मुक्तस्यावस्थितमेव परिमाणम्। न चैवं संसारिदशायाम्, तदा तत्प्रदेशोपसंहारविसर्पणपरिणामसहकारिकारणस्य कर्मास्रवस्यानवस्थितत्वेन सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिविकल्पगोचरस्यानवस्थितस्यैव तत्परिमाणस्य[3] सम्भवात्। ततो यदत्र ब्रह्ममीमांसायां सूत्रम्–"अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः" [ब्र० सू० २।२।३६] इति, यच्च भाष्यं भागवतम्–"अन्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः तद्वत्पूर्वयोरपि आद्यमध्यमयोः जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गात् अविशेषप्रसङ्गात् एकपरिमाणशरीरतैव स्यात्, न उपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः" [ब्र० सू० शा० भा० २।२।३६]; इति, तत्प्रतिविहितम्; असङ्ख्यातप्रदेशस्य जीवस्य कर्मवशात् प्रदेशानामुपसंहार-विसर्पणातिशयक्रमसम्भवे सति अपचयोपचयातिशयक्रमाधिष्ठानपरापरशरीरप्राप्तेरविरोधात्। यदप्यत्र दूषणं भाष्यकारस्य–"तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिहन्येत वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावत् न अनन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे सम्मीयेरन् अप्रतिघातेऽपि एकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेः जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः।" [ब्र० सू० शा० भा० २।२।३४] इति, तदपि तस्य जैनमतानभिज्ञत्वमावेदयति, न हि तत्र तेषामप्रतिघात एव, समुद्घातदशायामत्यन्तविसर्पणेन परस्परप्रतिघातवतामेव भावात्। तेषां चासङ्ख्यातलोकाकाशप्रदेशसमवायित्वेन परिच्छिन्नप्रदेशसमवायित्वाभावात्। नापि सप्रतिघाता एव उपसंहारपर्यन्तप्राप्तानेकप्रदेशसमवायित्वेनैव परमाणुरूपतया मध्ये चानेकविकल्पतया तेषामवस्थानात्। ततो युक्तं[4] मुक्तस्यावस्थितपरिमाणत्वम्, अन्यथाभावे हेत्वभावात्। कथमेवं घटादिवदनित्यत्वं न भवेदिति चेत् ? न, कथञ्चित् तस्येष्टत्वात्, एकान्तनित्यत्वे[5] विनश्वरैकान्तवन्निर्वाणस्यैवाभावप्रसङ्गात्। एतदेवाह–

नित्यस्येच्छा-प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः।
मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्षस्तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥६५॥ इति।

य खलु यौगपरिकल्पितस्यात्मन इच्छाद्वेषादिना, साङ्ख्योपगतस्य शरीरेन्द्रियादि[6]विवर्तिना प्रधानेन, ब्रह्मवादिसम्मतस्य स्वपरविभागादिभेदावद्योतविधायिन्याऽविद्यया योगः समवायादिरूपः सम्बन्धः, कीदृशस्य ? नित्यस्य कूटस्थस्य, परिणामिनोऽनभ्युपगमात्, स किमनित्यः ? नैव। तथा हि–

तत्सम्बन्धस्ततोऽन्यश्चेत् तस्येति कथमुच्यताम्।
मुक्तात्मवत् परस्माच्चेत् सम्बन्धादनवस्थितिः ॥१८२२॥
अनन्यश्चेत् स नित्यः स्यात् नित्यादव्यतिरेकतः।
तथा च नित्या एव स्युरिच्छाद्वेषादयोऽपि ते ॥१८२३॥

---

१ "न हि व्यापारवतो निवृत्तौ व्यापारस्य सम्भवः।" –ता० टि०। २ –कारणकर्मा –आ०, ब०, प०। ३ –णामस्य प०। ४ युक्तमवस्थित–आ०, ब०, प०। ५ –त्वत्वेन वि–आ०, ब०, प०। ६ –दिनिवर्तना प०। –दिविवर्तना –आ०, ब०।

सम्बन्धे सति यत्तेषां तद्वता न निवर्तनम् ।
निवर्तने वा सम्बन्धो विना तैः स कथं भवेत् ॥१८२४॥

ततो नित्या एव ते। तथा च अनेकान्तविद्विषामेकान्तवादिना सम्बन्धिन आत्मनो जीवस्यानिर्मोक्षो निःश्रेयसाभावः संसार एव स्यात्। कुतः ? मिथ्याज्ञानात् तत्त्वे अतत्त्वज्ञानात्, तन्निबन्धनत्वात् संसारस्य, तस्य चेच्छादिवन्नित्यत्वात्। तदनित्यत्वमिच्छता चात्मनोऽपि तत्सम्बन्धात्मनः कथञ्चिदनित्यत्वमेषितव्यम्, अन्यथाऽनुपपत्तेः। ततः परिणामात्मन एवात्मनो मोक्षः, हेतुफलभावस्य तत्रैव सम्भवात् नैकान्तनित्यादिस्वभावस्य, विपर्ययात्। तथा च व्यवस्थितं सर्वभावेषु क्रमाक्रमानेकान्तयोर्मार्गितद्विषययोश्च चतुष्टयस्य प्रतिपादनात् प्रवचनं प्रमाणमिति। तच्च स्वविषये सप्तभङ्ग्या प्रवर्तत इति तद्विनिश्चयं कुर्वन्नाह–

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥६६॥ इति ।

द्रव्यमन्वयिरूपं पर्याया व्यावृत्तिधर्माणः सामान्यः [1]सदृशः परिणामो विशेषो विसदृशस्तेषां प्रविभागस्तेन यौ स्यात् कथञ्चिद्विवक्षितधर्मस्य विधिप्रतिषेधौ भावाभावौ ताभ्यां सप्तभङ्गी सप्तानां भङ्गानां समाहारः तद्वचसि प्रवर्तत इति। विधिप्रतिषेधयोर्द्वित्वात् तदुपाश्रयौ भङ्गावपि द्वावेव स्यातां तत्कथं ते सप्तेति चेत्, न, तयोरेव प्रति[2]पत्तुः प्रत्येकोभयादित्रिकल्पेन सप्तधा प्रतिपित्सायां तथा [3]तत्प्रतिपादिनो वचनस्यापि सप्तविधपयत्वोपपत्तेः। तथा हि जीवे धर्मिणि त इमे तद्विध्यादिविषयाः सप्त भङ्गाः–स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव, स्यादस्ति च नास्ति चैव, स्यादवक्तव्य एव, स्यादस्ति अवक्तव्य एव, स्यान्नास्ति अवक्तव्य एव, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य एव इति। तत्र प्रथमद्वितीयौ तद्भावाभावयोः प्रत्येकं प्रतिपित्सायाम्, तृतीयस्तदुभयजिज्ञासायाम्। तदेवाह–

तदतद्वस्तुभेदेन वाचो वृत्तेस्तथोभयम् । इति ।

तच्चास्तित्वम् अतच्च नास्तित्वं ताभ्यां यो वस्तुनो जीवस्य भेदः कथञ्चिन्नानात्वं तेन वाचः प्रत्येकं तत्प्रतिपादिन्याः श्रुतेर्वृत्तेराद्यौ भङ्गौ तथा तेनोभय[4]वेदनप्रकारेण वाचो वृत्तेरुभयं तृतीयो भङ्गः इति यावत्। चतुर्थस्तु युगपत्तत्प्रतिपित्सायां वचनप्रवृत्तेरसम्भवात्, तदेवाह–

तदतद्वागवृत्तेश्च [सह तद्वागवृत्तिना]॥६७॥ इति ।

तदतदोर्या वाक् वचनस्य अवृत्तिः यौगपद्येन अन्यथानुपपत्तेः तस्याः, चेति समुच्चये। पञ्चमादिभङ्गत्रयं तु प्रथमादेः प्रत्येकं जिज्ञासया चतुर्थेन सम्मिलनात्। तदेव निवेदयति–'सह तद्वागवृत्तिना' इति। वृत्तेरिति वर्तते। तदिति च [5]निपातस्तेषा-मित्यर्थे। तदयमर्थः–वाग(ग्)वचनम् अवृत्तिरविद्यमान[6]वृत्तिर्यत्रावक्तव्यविषये, अनेन सह तेषां स्यादस्त्यादीनां वृत्तेरिति। तथाहि प्रथमस्य चतुर्थेन सह वृत्तौ [7]पञ्चमो भङ्गो, द्वितीयस्य षष्ठः, तृतीयस्य सप्तमः। न चैवं भङ्गान्तरपरिकल्पनं सम्भवति यतः "सप्तभङ्गीप्रसादेन शतभङ्ग्यपि जायते" [ ] इत्युपालभ्येत। तथाहि–

१ सदृशपरि–आ०, ब०, प०। २–पत्ता प्रत्ये–आ०, ब०, प०। ३ तत्प्रतिवादि–आ०, ब०, प०। ४–वेदिनं प्र–आ०, ब०, प०। ५–पातनस्ते–आ०, ब०, प०। ६–मानावृत्ति–आ०, ब०, प०। ७ पञ्चमभ–आ०, ब०, प०।

प्रथमस्य द्वितीयेन मिलने तृतीयत्वम्, तृतीयेन पौनरुक्त्यमेकस्य अस्तिपदस्याधिक्यात्। चतुर्थेन पञ्चमत्वम्, पञ्चमसप्तमाभ्यां पौनरुक्त्यं पूर्ववत्। षष्ठेन सप्तमत्वम्। एवं द्वितीयादावपि वक्तव्यम्। तन्न भङ्गान्तरपरिकल्पनं तन्निबन्धनस्य प्रतिपित्साप्रकारस्य सप्तधैव स्थितत्वात्। एवं प्रमेयत्ववस्तुत्वामूर्तत्वादिसप्रत्यनीकापरधर्मापेक्षयाप्यात्मनि पुद्गलादावपि तदस्तित्वनास्तित्वादिधर्मविकल्पोपनिबन्धना सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वचनप्रवृत्तिः प्रतिपत्तव्या।

तत्र किमर्थोऽयं स्यादेवकारप्रयोगः विनापि तेन भङ्गविकल्पानामुपपत्तेः इति चेत्? उच्यते–यदि 'अस्ति जीवः' इत्यस्तिपदमनेवकारप्रयोगम्, अनुक्तसम[1] भवेत् अप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। नहि जीवास्तित्वं तदभाव[2]व्यवच्छेदेनाप्रतिपाद[3]यतस्तस्य जीवे तत्प्रयोजनकामिनं प्रति प्रवृत्त्यङ्गत्वम्, जीवस्यैव तदानीमप्रतिपन्नत्वात्। तदेव हि प्रतिपन्नं नाम यदभावव्यवच्छेदेन[4]। न चानेवकारात् पदात्तथा तत्प्रतिपत्तिः। सति चैवकार[5]-प्रयोगे जीवस्यास्तित्व एवावधारणादैकान्तिकी तदभावव्यवच्छित्तिरिति। 'स्वरूपादिनेव पररूपादिनापि तत्र भाव एव' इति ब्रह्मवादप्रत्युज्जीवने स्यादिति निपातस्यापि प्रयोगः। तेन कथञ्चित् स्वरूपादिनैव तदस्तित्वम[6]वद्योतयता पररूपादिना तद्व्यवच्छेदात् ब्रह्मवाद[7]-प्रत्याख्यानोपपत्तेः। तथा नास्तीत्यपि पदमनेवकारमनुक्तकल्पमेव, भावव्यवच्छेदेन ततोऽप्य-भावस्याप्रतिपत्तेः। एवं भङ्गान्तरेऽपि प्रत्यनीकव्यवच्छेदाभावादनुक्तकल्पत्वमनेवकारत्वे। ततो नास्त्येवेत्यवधारणे जीवस्य नास्तित्व[8] एव नियमात् पररूपादिनेव स्वरूपादिनाप्य-भावापत्तौ शून्यवादस्याविर्भावे तन्निवर्त्तनं स्यात्पदात्। स्यादेव हि तस्याभावे नियमो न सर्वथेति। तथास्त्येव नास्त्येवेत्यत्रोभयथाप्य[9]स्तित्वनास्तित्वयोरवधारणबलात् प्राप्तौ ततस्तन्निवर्तनमनुवर्तव्यम्। अवक्तव्य एवेत्यत्रापि सर्वथा तस्यावक्तव्यतायाः[10] नियमप्राप्तिः स्यात्पदेन प्रतिक्षेप्तव्या। तथा च प्रतिषिद्धमेतत्–"नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी" [ ] इति। तेषामेकान्ततोऽर्थासंस्पर्शित्वे अस्यापि वचनस्य वैयर्थ्येन तद्वादिनो निग्रहापत्तेः। तदसंस्पर्शित्वप्रतिपादनार्थत्वे च प्रतिज्ञाभङ्गदोषप्रसङ्गात्। एकान्ता-वाच्यत्वं च भावानां श्रायसलोपमापादयति। श्रायसं हि प्रेक्षावतां तदुपायानुष्ठानात्। न च स्वरसतस्तेषां तदुपायप्रतिपत्तिः आप्तागमपरिकल्पनावैकल्यप्रसङ्गात्। आगमाच्च तदवाच्यत्वे तस्याप्रतिपत्तेः। "ततो लुप्यत एव[11] मुमुक्षूणां मोक्षावाप्तिरुपायाभियोगासम्भवात्। तदुक्तम्–"अवाच्यता श्रायसलोपहेतुः" [युक्त्यनु० श्लो० ४४] इति। ततः "तरति शोक-मात्मवित्" [छा० ७।१।३] "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [तै० २।१।१] इत्यादेरागमादेव निःश्रेयसनिबन्धनमात्मवेदनमधिगन्तुकामेन नैकान्तेनात्मावाच्यत्वमध्यवसातव्यम्। अतः प्रत्याख्यातमेतत्–

1 –क्रमसम्भवे –आ०, ब०, प०, । 2 –भावेन व्य –आ०, ब०, प०। 3 –दनं यत –आ०, ब०, प०। 4 "प्रतिपन्नमिति प्रागुक्तस्य पदस्यात्रापि सम्बन्धः।" –ता० टि०। 5 –कारप्रयो –आ०, ब०, प०। 6 –मव्यद्यो –आ०, ब०, ।–मव्यथो –प०। 7 "आकाशादीनां ब्रह्मविवर्तत्वमिच्छता ब्रह्मवादिनाऽऽत्मनः पररूपादिनास्तित्वमभ्युपगतम्। अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो, विवर्ता यस्यैते वियदनिल-तेजोऽबवनयः। यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम्।" –ता० टि०। 8 –त्वमेव नि –आ०, ब०, प०। 9 –न्यस्तित्वयोर –आ०, ब०, प०। 10 –तायां निय– आ०, ब०, प०। 11 ततोऽप्यत एव आ०, ब०, प०।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" [तै० २।४–५] इति। ततो युगपत्सदसत्त्वाभ्यां [1]तस्य वक्तुमशक्यत्वात् अवाच्यत्वम्, न क्रमेण नापि धर्मान्तरैः, युगपदपि पदद्वयेनैव। एकपदेन तु शतृशानचोः सच्छब्देनैव सकृदपि ताभ्यां तस्य वचनसम्भवादिति स्याद्वादस्यायमुल्लासः। तथा 'अस्ति अवक्तव्य एव' इत्यत्र अस्त्येवेति वचनात् स्वरूपादिवत् पररूपादिनाऽपि अस्तित्वस्य, अवक्तव्य एवेत्यभिधानाच्च तयोः क्रमेणेव अक्रमेणापि अवक्तव्यत्वस्य प्रसक्तौ स्यात्पदेन प्रत्यवस्थापनम्। तेन स्वरूपादिनैवास्तित्वम्, यौगपद्येनैवावाच्यत्वं चावद्योतयता विपर्ययेणास्तित्वावाच्यत्वयोः प्रत्याख्यानात्। एवमुत्तरत्रापि वक्तव्यम्। ततो युक्तो भङ्गविकल्पेषु स्यात्कारस्य प्रयोगः फलवत्त्वात्। नन्वेवं घटमानयेत्यादेर्लौकिकस्य शास्त्रीयस्य च "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"[1] [त० सू० १।१] इत्यादेर्वचनमार्गस्य स्यादेवकारप्रयोगवैकल्यात्तत्पक्षभावी दोषः प्राप्नोतीति चेत्, सत्यम्; यदि तदापि तदर्थस्य [4]प्रतिपत्तिर्न भवेत्। न चैवम्, प्रकरणादिना तदापि [5]तद्भावात्। तदेवाह–,

प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते। इति।

जातु कदाचित् प्रकरणादिसन्निधिसमये पदस्य स्यादित्यादेः प्रयोगस्य विरहोऽनुच्चारणं तस्मिन् सति अर्थः स्यात्कारादेरभि[6]धेयः अतिप्रसङ्गानुक्तकल्पत्वनिवृत्तिलक्षणः प्रतीयते प्रकरणादिसहायादेव शब्दादवगम्यते। तत्र तत्र तद्विरहभाविदोषः तद्विरहेऽप्यर्थ[7]त एव तस्य निवर्त्तनात् तदर्थस्य तद्विरहे प्रतीतेः। कथमिदानीं तस्य तदर्थत्वम्? अन्यतः प्रतीयमानत्वादिति चेत्; किमेतावता तदर्थत्वाभावः? क्वचित्सैन्धवशब्दादवगतस्यापि लवणस्य लवणशब्दार्थत्वानिवृत्तेः। ततो यथा प्रकरणादिबलादवधृतस्यापि लवणस्य लवणशब्दार्थत्वं तच्छब्दस्य तत्र प्रयोगार्हत्वेन शब्दतदर्थतत्त्ववेदिभिरभ्यनुज्ञानात्, तथातिप्रसङ्गादिनिवर्तनस्यापि स्यात्काराद्यर्थत्वं तदविशेषात्। एतदेवाह–

स हि शब्दार्थतत्त्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ॥६८॥ इति।

स तन्निवृत्तिरूपोऽर्थो हि यस्मात् तस्य स्यादित्यादेः पदस्य इति व्यपदिश्यते शब्दार्थतत्त्वज्ञैः शब्दार्थयोस्तत्त्वं वाच्यवाचकभावं जानद्भिर्न बालाबलादिभिः तेषां गतानुगतिप्रवृत्तानां तद्व्यपदेशशक्त्यभावात्। तस्मात् स तस्येति प्रतिपत्तव्यम् अन्यत्रापि [8]"तद्व्यपदेशनिबन्धनत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धप्रतिपत्तेरिति मन्यते। कुतः पुनरयं नियमः सर्वत्र कुतश्चित् प्रतिपत्तव्य एव स्यात्कारादेरर्थः इति चेत्? उक्तमत्र–'अन्यथातिप्रसङ्गादिनिवर्तनस्यासम्भवात्' इति। तथाहि–सम्यग्दर्शनादिवाक्ये [9]"यद्यनवधारणं तदा सम्यग्दर्शनादिरेव नापरो मोक्षमार्गः इत्यन्ययोगव्यवच्छेदस्य, स च [10]"मोक्षस्य मार्ग एव नामार्गः इत्ययोगव्युदासस्य, तस्य मार्गो भवत्येवेत्यत्यन्तायोगव्यपोहस्य चाप्रतिवेदनादनुक्तकल्पं वाक्यं भवेत्, स्वार्थस्यास्वार्थव्यवच्छेदेनानभिधानात्। ततो विद्यत एव नियमादेवकारार्थस्य प्रतिपत्तिः, व्यवच्छेदस्यैव तदर्थत्वात्। तथा स यदि मार्ग एव मोक्षस्य सर्वदा किन्न स्यात् परिणति-

---

१ तस्यावक्तुम्– आ०, ब०, प०। २ –त्वावाच्यस्य आ०, ब०, प०। ३ –मार्गस्य स्यादेव – आ०, ब०, प०। ४ –पत्तिर्न चैवं आ०, ब०, प०। ५ –तद्भावस्तदेव –आ०, ब०, प०। ६ धेयातिप्रसङ्गाद्युक्त– आ०, ब०। ७ –प्यर्थ एव आ०, ब० प०। ८ "तद्व्यपदेशता" –ता० टि०। ९ –सद्भावेऽनिव –आ, ब०, प०। १० यद्यव– आ०, ब०। यद्व– प०। ११ मोक्षमार्ग प०।

विशेषादेरपेक्षणीयस्य सर्वदाप्यभावादिति [1]चेत्, सिद्धा तर्हि स्यात्पदस्यापि नियमतो विषयप्रतिपत्ति, अपेक्षणीयस्य तद्विशेषादेरेव तद्विषयत्वात्। तदत्रापि सम्यग्दर्शनादिर्मोक्षस्य स्यान्मार्ग एव, स्यादमार्ग एव, स्यादुभय एव, स्यादवक्तव्य एव, स्यान्मार्गोऽवक्तव्य एव, स्यादमार्गोऽवक्तव्य एव, स्यादुभयोऽवक्तव्य एव, इति सप्तभङ्गी प्रतिपत्तव्या। [3]तथा अन्ययोगात्यन्तायोगव्यवच्छेदेऽपि[4]। इति सप्तभङ्गी दुरवगाहो वचनमार्ग सम्भवति सर्वत्र स्यादेवकारयोरर्थत सन्निधिप्रतीते। यदि पुन. प्रकरणादेरप्यवधारणादिप्रतीति तर्हि स एवास्तु तस्य सर्वत्रापि सुलभत्वात्, किं स्यात्कारादे प्रतीतार्थस्य प्रयोगेणेति चेत्, नाय-यमुपालम्भ, लोके प्रतीतार्थानामपि प्रयोगप्रतीते। इदमेवाह–

अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थिते।
उभयोक्तिवदत्रोक्तावुपालम्भो विरुद्ध्यते ॥६९॥ इति।

अहमस्मि त्व भवसि इत्यादौ वाक्ये येयम्[5] अन्यतरस्य 'अहम्' इत्यस्य 'अस्मि' इत्यस्य वा प्रयोज्यतया स्थितिः तत एव सिद्धौ अर्थप्रतीतौ येयम्[6] उभयोक्तिः तत्रेव तद्वत् अत्र अस्या '[7]स्यात्कारादिविषयायाम् उक्तौ पौनरुक्त्येनोपालम्भो विरुद्ध्यत इति।

प्रकारान्तरेणापि स विरुद्ध्यत इति दर्शयति।

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थयोरपि।
सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किन्न वर्तते ॥ इति।

यदि नाम केचित् प्रज्ञातिशयशालिन. पुरुषा. सूत्रेष्वेव वृत्त्यर्थस्य वाक्यार्थस्य च वार्तिकार्थस्य प्रतिपादयितार किं तावतैव सर्वो जन. तयो वृत्तिवाक्ययो· उक्तौ न वर्तते वर्तत एव, वृत्त्यादिकरणस्य तथापि प्रतीते। सूत्रादेव तदर्थमधिगन्तुमशक्तान् प्रति तत्करण फलवदेव,

"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ वार्तिकेऽपि च।
उदाहरणं [9]मन्वस्य प्रत्युदाहरणं पशो ॥" [ ]

इति वचनादिति चेत्, तर्हि स्यात्कारादिप्रयोगोऽपि सफल एव तद्विषयेऽपि मन्दमतीना भावात्। एतदेवाह—

केवलं प्रतिपत्तार स्याद्वादे जडवृत्तय। इति।

प्रतिपत्तारः सौगतादय स्याद्वादे तदर्थेऽनेकान्तरूपे जडवृत्तयो जडव्यापारा न मनागप्यजडवृत्तय इति केवलार्थः। ततस्तान्प्रति सफल एव निपातप्रयोग इति मन्यते। परत्रापि जडवृत्तय इति दर्शयति—

जातितद्वदपोहादिवादं च न हि जानते ॥७०॥ इति।

जातिः सामान्य तद्वान् विशेष तावेवापोहस्वभावत्वादपोह स आदि यस्य क्षण-भङ्गादेस्तस्य वादं च न हि जानते न प्रतियन्ति[10]। तात्पर्यमत्र यथा तदपोहादिक[11]मपरोपदेश-

१ चेत्तर्हि आ०, ब०, प०। २ –त्स्यादत्रापि आ०, ब०, प०। ३ "अयोगव्यवच्छेदे उक्तप्रकारेण" –ता० टि०। ४ "सप्तभङ्गी प्रतिपत्तव्येति सम्बन्धः" –ता० टि०। ५ "भा" –ता० टि०। ६ योयमन्य-तस्या– आ०, ब०, प०। ७ योऽप्यमु– आ०, ब०, प०। ८ स्यात्कारादि– आ०, ब०, प०। ९ –मन्वस्य ता०। १० प्रतीयन्तेति आ०, ब०, प०। ११ –दिमप–आ०, ब०, प०।

मव[1]गच्छता व्याख्यातॄन् प्रति विफलमपि तद्वादप्रणयनं तदवगमविकलप्रतिपत्त्रपेक्षया सफलं तथा स्यात्कारादिनिपातप्रयोगोऽपि ।

के तर्हि स्याद्वादमनुरुन्धते यदि तत्र सौगतादयो जडवृत्तय इति चेत् ? अत्राह—

सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गव्यवस्थिता ।
व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ॥७१॥ इति ।

व्याख्यातारः परप्रत्यायनप्रवृत्ताः **स्याद्वादं** स्याच्छब्दम्, उपलक्षणमिदं तेनैवकारमपि **अनुरुन्धते** स्वीकुर्वन्ति **विवक्षातो** विवक्षया तेन विषयावद्योतनेच्छया । कीदृशास्ते ? **सर्वथैकान्तविश्लेषो** व्यपोहो यस्मिंस्तत्त्वे[2] तस्य **मार्गो**ऽन्वेषणं प्रत्यक्षादिरूपं तत्र **व्यवस्थिता** इति । जात्यन्तरं तत्त्वमेकान्तव्यवच्छेदेन प्रत्यक्षादिना निश्चिन्वन्तो व्याख्यातारः तदवद्योतनाय स्याद्वादमवलम्बन्त इति यावत् ।

प्रमाणप्रसिद्धत्वादेवानेकान्ते संशयादिदोषप्रसङ्गोऽपि प्रेक्षावता नावतरतीत्याह—

अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ।
संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ॥७२॥ इति ।

संशय आदिर्यस्य विरोधादेस्तस्य **प्रसङ्गः किं** नैव । क्व कस्य[3] ? **स्याद्वादे**ऽनेकान्तवादे **अमूढचेतसः** प्रबुद्धबुद्धेः । कुतः स न ? इति चेत्, **अनेकलक्षणस्य** क्रमाक्रमानेकरूपस्य **अर्थस्य** चेतनेतरवस्तुनः **प्रसिद्धस्य** प्रमाणनिर्णीतस्य **अभिधानतः** स्याद्वादेन प्रतिपादनात् । ततस्तत्र संशयादिकमुपलोकयन्नचेतनवादि[4]रमूढचेता न भवतीति मन्यते । हेयोपादेयतत्त्वमेव मोक्षाय प्रयत्नतः प्रतिपादयितव्यं पुरुषार्थोपयोगात्[6] किमनेकान्त[5]प्रतिपादनेन विपर्ययात्[7] इति चेत् ? नास्ति विपर्ययः सर्वस्यापि वस्तुतत्त्वस्यानेकान्तपर्यवसितत्वज्ञापनेन एकान्तशासनेषु हेयादि[8]तत्त्वसत्त्वाभावनिवेदनार्थत्वात् तत्प्रतिपादनस्य । तदेवाह—

साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ।
मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्तयेत् ॥७३॥ इति ।

मिथ्यैकान्ताः सर्वथैकान्ताः तेषां **प्रवादाः**[9] 'सर्वमपि तत्त्वं सामान्यरूपमेव विशेषात्मैव परस्परविविक्तोभयस्वभावमेव विचारायोगादुपप्लुतमेव सांवृतमेव' इत्यादयो वचनप्रबन्धा[10] तेभ्यो **विदुषो** विद्वज्जनान्[11] **विनिवर्तयेत्** निःश्रेयसार्थितया तत्प्राप्तये[12] ... प्रवृत्तान् प्रतिनिवर्त्तयेत् । का पुनरेवमिति चेत् ? **सामान्यविशेषपरिणामधी**रेव[13] । स[14] द्विविधं[15] ऊर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं च, विशेषोऽपि द्विविधः एकद्रव्यगतोऽनेक... तावेव परिणामस्तस्य[16] बुद्धिः । क्व सा तादृशीति चेत् ? **इह** अस्मिन् चेतनेतर... कलापे । कथम् ? **साकल्येन** सामस्त्येन । तदनेनानुमानिकी[17] तद्बुद्धिरिति प्रतिपादितं भ...

१ गच्छतो आ०, ब०, प० । २ स्तत्त्वे स तस्य आ०, ब०, प० । ३ तस्य आ०, ब० ४ द्रष्टव्यम् –हेतुबि० टी० पृ० ९८, १०४ । सक० टि० पृ० १८२ । ५ –न्तप्रवादेन आ०, ब० ६ "पुरुषार्थानुपयोगात्" –ता० टि० । ७ –तत्त्वगत्वा–आ०, ब०, प० । ८ वादः आ०, ब० ९ –पात्मभावमेव आ०, ब० प० । १० –प्रसङ्गाः आ०, ब०, प० । ११ –नाद्विनिव– आ०, ब १२ प्रवृत्ता प्रवर्त– आ०, ब०, प० । १३ –धीरेव आ०, ब०, प० । १४ तज्ञाव सा– आ०, ब १५ –तरच परि– आ०, ब०, प० । १६ बुद्धेः आ०, ब०, प० । १७ तद्बुद्धेरिति आ०, ब०, प

प्रत्यक्षस्य निरवशेषसूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु [1]तद्विषयस्यास्मदादीनामसम्भवात् । अनुमानसम्भवस्तु सुनिश्चित[2]तत्त्वपरिणामा[3]विनाभावस्वभावस्य [4]सत्त्वकृतकत्वादेरशेष[5]व्यापिवस्तुधर्मस्य [6]सुविवेचितप्रामाण्यतर्कज्ञानबलेन तत्र सर्वत्राप्यध्यवसायात् । [7]तदियमानुमानिकी बुद्धि सर्वत्रसामान्यविशेषपरिणामं तद्विपर्ययव्युदासेन व्यवस्थापयन्ती सर्वथैकान्तशासनाना मिथ्यात्वनिवेदनेन तद्विषयमादर प्रेक्षावता प्रतिक्षिपतीति [8]'न पुरुषार्थानुयोग', तत्परिणामस्य तदात्मन एव श्रेयोमार्गस्योपपत्ते ।

कथ पुन शासनत्वाविशेषेऽपि शासनान्तरपरिहारेण भगवदर्हच्छासनस्यैव प्रामाण्यमित्यारेकायां तथा तद्दर्शयन्नाह—

आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः ।
प्रमाणमविसंवादात् [प्रणेता यदि शङ्क्यते] ॥७४॥ इति ।

यत्र यस्मिन् अर्था अनेकात्मपरिणाममार्गतद्विषयलक्षणा समवायिनोऽभिधेयत्वेन [9]सम्बद्धा स एवायमाप्तवादः आगम प्रमाणं नापर । कुत एतत् ? अविसंवादादस्यैव इति विभक्तिव्यत्ययेन सम्बन्ध निरूपितश्चान्ययोगव्यवच्छेदेना[10]ऽस्याविसंवादः । स्यान्मतम्—भागासिद्धो हेतु प्रत्यक्षानुमानविषय एव भावात्, न देशादिविप्रकृष्टेष्वत्यन्तपरोक्षेषु इति, तन्न, तत्रापि तदनुसारेण तस्य प्रतिपत्ते । नहि प्रत्यक्षादिविषयमशेषमप्यविसंवादाधिष्ठानमादिशत. पुरुषस्य तदपरत्रान्यथोपदेशे कारणमस्ति [11]रागादेरभावात् । भावे तद्विषयेऽपि तन्नियमाभावप्रसङ्गात्, रागादिमतां तत्रापि[12] प्रायोविप्रलम्भस्योपलम्भात् । अथवा कस्मादयमेवागम [13] आप्तवादो न प्रत्यागमोपि ? इत्यत्रेदमाह—आप्तवाद इत्यादि । [14]यत्रार्था निरूपितरूपा. समवायिन स एवायमाप्तस्य रागादिदोषविकलस्य वादो नापर । कस्मात् ? अयमेव प्रमाण यत इति । न ह्यनाप्तवादत्वेऽस्य प्रामाण्यम्, अपौरुषेयत्वस्य प्रत्याख्यानात्, प्रामाण्यमपि अविसंवादात् । न हि प्रत्यागमेषु तल्लेशोऽप्यस्ति । ततोऽनाप्त एव सुगतादि विसंवादिवचनत्वादुन्मत्तादिवत् । न चेदमसिद्धम्, प्रत्यक्षादिनिबद्धनिश्चयेऽपि बहिर्भावहेतुफलभावतत्परिणामतत्त्वादौ तद्वचनस्यान्यथैव भावादिति निरूपितत्वान्नेह प्रतन्यते ।

कथ पुन दृष्टागमविरोधविकलतया प्रमाणमप्यनेकान्तवादो विगलितनिखिलदोषकलापस्य सकलवेदिन एवेति निश्चय. ? सम्भवति हि तदपरस्यापि तादृशी वचनवृत्ति, सरागाणामपि वीतरागवद्व्यवहारोपपत्ते । कथ वा यथोक्तगुणोपपन्नोऽपि क्वचिन्मिथ्यावचनानामप्रणेतैवेति निर्णयो वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टासम्भवात् ? एतदेव दर्शयति—

प्रणेता यदि शङ्क्यते । इति ।

प्रणेता प्रवचनस्य प्रवक्ता शङ्क्यते दोषवानपि तस्य प्रणेता दोषविकलोऽपि भवति मिथ्यावादीति संशय्यते । यदि इति पराभिप्रायद्योतने । तत्र प्रथमशङ्कायामुत्तरमाह—

आत्मा योऽस्य प्रवक्तायमपरालीढसत्पथः । इति ।

---

१ 'वसः'—ता० टि० । बहुव्रीहिसमास इत्यर्थ । २ —त्वपरिणा— आ०, ब०, प० । ३ —मादिना-भाव—आ०, ब०, प० । ४ तत्त्वकृत— आ०, ब०, प० । ५ —पस्यापि आ०, ब०, प० । ६ सुविवेचयत्येव प्रा—आ०, ब०, प० । ७ तदीय— आ०, ब०, प० । 'तत् इयमिति पदच्छेद.'—ता० टि० । ८ नापुरु— आ०, ब०, प० । ९ सम्बन्धाः आ०, ब०, प० । १० —द्दे सामान्यावि—आ०, ब० । —द्दे साम्यवि—प० । ११ 'तस्यानृतकारणं नास्ति' —ता० टि० । १२—पि यस्मिन्नर्था प्रायो आ०, ब०, प० । १३ —मः प्राप्ताप्तवादो आ०, ब०, प० । १४ यत्रानिरूपित— आ०, ब०, प० ।

य आत्मा पुरुष अस्य वचनस्य सम्बन्धी कर्तृत्वेनाय प्रवक्ता प्रकर्षेणातीन्द्रियज्ञानवैराग्यादिरूपेण वक्ता, न तद्विपर्ययेण। कुत एतत् ? अपरालीढसत्पथो न परैः सौगतादिभि दोषोक्तिजिह्वया आलीढ आस्वादितः सत्पथः सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गो यस्य स अपरालीढसत्पथो यत एवमत प्रवक्तेति। नहि सम्यग्दर्शनादिक स्वर्गापवर्गादिनिरवशेषपुरुषार्थप्राप्त्युपायतया सत्पथव्यपदेशम् अनन्यगोचरम् अखिलापरतीर्थकरपरिकल्पितदोषप्रवादैः स्वरूपतो विषयत. परतश्च दुरुपपीड प्रत्यासन्ननिष्ठभव्यनिकायससारदुःखनिस्तरणकारणमादिशत पुरुषोत्तमस्य प्रकर्षविपर्ययेण प्रवक्तृत्वकल्पनमुपपन्नम्, तद्विपर्यये तद्वचने प्रवृत्तेरेवासम्भवात्। तदेवाह—

नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्त्तते ॥७५॥ इति।

अत्यक्षमतीन्द्रियं चेत् न जानाति, उपलक्षणमिदम्, तेन वैराग्यातिशयवानपि न भवति नोपदेष्टुम् उक्तरूप सत्पथमभिवातु प्रवर्त्तते अत्यक्षज्ञानादिविकलस्य तदुपदेशाशक्त्यसम्भवात् बालकादिवदिति भावः। द्वितीयशङ्कायामप्याह—

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम्।
अदृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ॥७६॥ इति।

परीक्षा प्रसिद्धप्रत्यक्षादिरूपा क्षम इति परीक्षाक्षम, स चासौ वाक्यस्य प्रवचनस्य अर्थो जीवादि तेन परि समन्तात् स्वविषये निष्ठितं निराबाधस्थितं चेतः तदर्थज्ञान येषा भगवता ते तथोक्ता। नहि तेषा जीवादितत्त्वज्ञानमन्तरेण तत्प्रणीतस्य वाक्यस्य परीक्षाक्षम[1]तत्त्वप्रणयनमुपपन्न बालोन्मत्तादिवाक्यवत्। अस्ति [2]च तत्। ततस्तदेव [3]तेषा तज्ज्ञानं परिनिष्ठापयति[4]। सति च तज्ज्ञाने [5]तेषा निर्दोषा एव [ते]। यत्र तद्विरुद्धं तत्र तन्नास्ति यथोष्णस्पर्शवति शीतम्, अस्ति च भगवत्सु दोषविरुद्ध तत्त्वज्ञानमिति स्वभावविरुद्धोपलब्ध्या तथैव निर्णयात्। तेषा च परीक्षाशक्ये विषये स्वयमदृष्टस्यापि विप्रलम्भदोषस्याशङ्काया किमत्र विप्रलम्भनमस्ति उत नेति संशीतौ अन्यत्र प्रत्यक्षादावपि प्रसज्यते तदाशङ्केति विभक्तिव्यत्ययेन सम्बन्ध.। तथा हि पुरोवस्थित[7]जलमवलोकयतोऽपि कुतो नि शङ्कित्वम्[8] ? न तावदुपलम्भादेव, तस्य विप्रलम्भिनोऽपि सम्भवात् स्वप्नादिवत्। नापि सवादात्, उत्पत्तिसमय एव तस्यानवसायात्। अवसायेऽपि विसंवादस्यापि [9]तदैव तद्भावाच्च तद्वतो दर्शनात् कस्यचिदपि प्रवृत्ति स्यात्। प्रवृत्तित तदवसाय इति चेत्; न, तदभावे तत. प्रवृत्तेरेवायोगात् आगमवत्। प्रत्यक्षादेरनवसितसवादादपि प्रवृत्ति बहुवित्तव्ययपरिक्लेशाभावात् नागमतो विपर्ययादिति चेत्, न; प्रत्यक्षादेरपि सेवाकृष्यादौ प्रवृत्तस्य तदुपलम्भात्। तन्न प्रवृत्तितोऽपि तदवसाय। सुनिश्चितसवाददर्शनान्तरसमानसामग्रीप्रभवत्वादिति चेत्, न, तदन्तरेऽपि तथाविधतदन्तरसमानसाग्ग्रीप्रभवत्वेन तदवसायकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्। सामग्री च तस्यार्थगर्भैव[10] अर्थकार्यज्ञानवादिन।

१ –क्तिर्जिह्वया आ०, ब०, प०। २–क्षमत्व प्र– आ० ब०, प०। ३ च ततस्त–आ०, ब०, प०। ४ तेषां ज्ञानं आ०, ब०, प०। ५ –पयति च आ०, ब०, प०। ६ तेषां च नि– आ०, ब०, प०। ७ –तं जलमवलम्बयतोऽपि आ०, ब०, प०। ८ –शङ्कितत्वं प०। ९ तथैव आ०, ब०, प०। १० –गर्भैवार्थ –आ०, ब०, प०।

न च तत्प्रभवत्वमुत्पत्तिसमये शक्यावसायम्, तदानीं तद्गर्भत्वा'ऽतद्गर्भत्वयोरविवेचनात्। 'प्रवृत्तित शक्यावसायमेव तदिति चेत्, न, दोपाशङ्कया प्रवृत्तेरेवासम्भवात्। तन्न प्रत्यक्ष नि:शङ्कम्। एवमनुमानमपि। तस्यासम्भवाच्च। नहि निःशङ्कप्रत्यक्षस्याभावे तत सम्बन्धप्रतिपत्ति, यतोऽनुमान सम्भवेत्। सत्यपि तस्मिन् कथं तत साकल्येन तत्प्रतिपत्ति.? तस्य सन्निहितवस्तुमात्रविषयत्वात्। अनुमानतस्तत्प्रतिपत्तावनवस्थापत्ते। प्रादेशिकतत्प्रतिपत्तेश्च व्यभिचारेणानुमानकारणत्वायोगादिति चेत्; सत्यम्, अयमपि परस्य पर्यनुयोग। तन्न प्रत्यक्षानुमानयोर्निरारेक[3] प्रामाण्य वस्तु[4]प्रतिवस्त्वनिश्चयाभावात्। एवमेतत्, तथापि व्यवहर्तृजनाभिप्रायेणा[5]विसवादा[6]त्तयो प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। अन्यथा सकलव्यवहारविलोपप्रसङ्गादिति चेत्, प्रवचनस्यापि तथैव तदभ्यनुज्ञातव्यम्, तदभावेऽपि तदर्थानुष्ठानादिव्यवहारस्याभावप्रसङ्गात्। तन्न व्यवहारतोऽपि प्रमाणद्वैविध्यकल्पनमुपपन्न [7]तदन्तरस्यापि भावात्। तर्हि प्रवचनवत् प्रत्यक्षानुमानयोरपि तन्मा भूत्, सविदद्वैतस्यैव पारमार्थिकस्य प्रमाणस्य भावादिति चेत्, तस्यापि कथ प्रामाण्यम्? स्वरूपप्रकाशनस्य गुणस्य दर्शनादिति चेत्, प्रवचनस्यापि स्यात्, तत्रापि [8]सत्यचतुष्टयप्रकाशनस्य तस्य दर्शनात्। प्रत्यागमेन व्यभिचार इति चेत्, भवतोऽपि भेदप्रकाशेन कस्मान्न भवति? तत्र विचारासहत्वदोषस्य भावात्। तस्य चाद्वैतसविलावदर्शनादिति चेत्, समानमितरत्रापि। तत स्वसवेदन प्रमाणयता प्रवचनमपि प्रमाणमभ्युपगन्तव्यमविशेषात्। एतदेवाह—

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः।
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां क्वचिद्वृत्तसमत्वतः ॥७७॥ इति।

क्वचित् विषययोरद्वैतचतु सत्ययो यथाक्रमं प्रत्यक्षागमयोः स्वसवेदनप्रवचनयो. प्रामाण्यमिष्टं अभ्युपगतम्। तदिच्छाया निष्पन्नत्वेनाशक्यचालनत्वज्ञापनार्थं निष्ठायां निर्देश। कुतस्तदिष्टम्? वृत्तसमत्वतः वृत्तम् अनन्तरव्यावर्णित यत्प्रत्यक्षागमयो. समत्वं सादृश्य तत इति। तदेव कुत.? इति चेत्, गुणदोषयो उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामिति, व्याख्यातमिव पातनिकयैव। तदेव प्रवचनस्य प्रामाण्ये यत्सिद्धं तदाह—

तथा साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात्।
सद्वृत्तकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ॥७८॥

तथा तेन प्रवचनप्रामाण्यप्रकारेण तस्य प्रणेता सर्वज्ञः सकलवेदी सम्प्रतीयते प्रणेतु सर्वज्ञत्वाभावे तत्प्रामाण्यानुपपत्ते निरूपणात्। कीदृशोऽसौ सर्वज्ञ इति चेत्? [9]स्यादेव यदि नियतार्थमेव प्रवचनम्, न चैवम्, तस्यापि प्रत्यक्षानुमेयात्यन्तपरोक्षलक्षणस्थानत्रयपरिवर्त्तिपदार्थजातविषयत्वेनाशेष[10]गोचरत्वात् तज्ज्ञानादेव सर्वज्ञत्वोपपत्ते। यद्येव छद्मस्थादर्हत को विशेष? तस्याप्यागमतो सर्वज्ञत्वसम्भवादिति चेत्; सर्वविषयसाक्षात्करणभेद[11]। अतएवोक्तं साक्षात्कृताशेषशास्त्रार्थः इति। अशेषस्य शास्त्रार्थस्य साक्षात्करणं भगवत्येव, सकलावरणपरिक्षयस्य तन्निबन्धनस्य तत्रैव भावात् न छद्मस्थे विपर्ययात्। निरूपितश्च तस्य

१ –त्वात्तद्गर्भत्वयो– आ०, ब० प०। २ प्रवृत्तिः शक्या– आ० ब०, प०। ३ –रेकप्रामा– आ०, ब०, प०। ४ वस्तुनिश्च –आ०, ब०, प०। ५ –येण वि –आ०, ब०, प०। ६ –दाभिमतज्ञातयोः आ० ब० प०। ७ प्रवचनस्य। ८ दुःखसत्यम्, समुदयसत्यम्, निरोधसत्यम्, मार्गसत्यमिति सत्यचतुष्टयम्। ९ स्यादेवं प्रश्नः। १० –पदोपगो– आ०, ब०, प०। ११ "विशेष इति सम्बन्ध." –सा०टि०।

तत्राभाव इति न पुनरुच्यते। तत्परिक्षयनिबन्धनत्वादेव तस्य करणक्रमव्यवधानातिवर्त्तित्वेन केवलत्वमपि प्रत्येयम्, तदनतिवर्तिनि तत्परिक्षयस्यास्मदादिवदसम्भवात्। अत इदमुक्तम्–अक्षानपेक्षणात् इति। अक्षाणामिन्द्रियाणाम्। उपलक्षणमिदम्, तेन देशकालपरिपाटीलक्षणस्य क्रमस्य देशकालस्वभावतिरोधानलक्षणस्य व्यवधानस्य चानपेक्षणादिति प्रत्येयम्। तेषामनपेक्षण च तदतिक्रमेण प्रवृत्तिरेव। अक्षापेक्षमेव साक्षात्करणमस्मदादौ प्रतिपन्नम्, तत्कथ तदनपेक्षायामिति चेत्? न, अस्मदादावपि[1] मलविश्लेषविशेषादेव सत्यस्वप्नादौ तत्प्रतिपत्ते। यद्येवं जाग्रतोऽपि किं तत्रापेक्षयेति चेत्? तत्रैव गोलकादिरूपे साक्षात्क्रियाहेतोर्मलापगमविशेषस्य भावात्, न पुन. तस्यैव तद्धेतुत्वात्। उक्तं चैतत्–"कथञ्चित्स्वप्रदेशेषु" इत्यादिना[2]। तत्र तद्धेतुत्वव्यवहारश्चोपचारात्। ततो युक्तं भगवतस्तदनपेक्षमेव तदर्थसाक्षात्करणम्, ततश्च प्रवचनबलात् तदर्थवेदिनो गणधरदेवादेश्च विशेप इति।

सकलावरणपरिक्षयाविर्भूतमपि कथ तदशेषविषयमिति चेत्? अत्राह–

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते। इति।

ज्ञस्य सकलस्वपरविषयपरिज्ञानस्वभावस्य अन्यथा व्याप्तिज्ञानासम्भवेनानुमानाभावप्रसङ्गात्, ज्ञेयं साक्षाद्वेद्य किं नाम अवशिष्यते न किञ्चित् सर्वमपि तस्य साक्षात्कर्तव्यमेव। न चैवमतिप्रसङ्ग[3], सकलबोधावरणविश्लेष एव तदनवशेषत्वसम्भवात्। अत एवोक्तम् आवरणविच्छेदे इति। यद्येवमशुचिरसादेरपि साक्षात्करणात् तस्य तद्भक्षणादिदोष स्यादिति चेत्, सत्यम्, यदीन्द्रियप्राप्तस्य साक्षात्करणम्, न चैवम्, भगवतोऽक्षानपेक्षदर्शनत्वात्। तदाह–

अप्राप्यकारिणः [तस्मात् सर्वार्थानवलोकते] ॥७९॥ इति।

इन्द्रियेण विषयमप्राप्य करोति निश्चिनोतीत्येवं शीलस्येत्यर्थ। सम्प्रत्युपसहरति–

तस्मात् सर्वार्थानवलोकते। इति।

सुबोधमेतत्। [4]सर्वार्थावलोकनमेव दर्शयन्नाह–

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम्।
ज्योतिर्ज्ञानादिवत्सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ॥८०॥ इति।

शास्त्रे प्रवचने यदभिधेयत्वेनावस्थित प्राकृतप्रज्ञैर्दुरवबोधत्वाद् दुरवगाहमर्थानां सूक्ष्मान्तरितदूराणा तत्त्वम् आत्मीय रूप तत्सर्वं निरवशेष दृष्टं हि दृष्टमेव। हिरवधारणे। कै? प्रणेतृभिः तच्छास्त्रकारैः। कथं प्रणेतृभिः? केवलम् उपदेशाद्यनपेक्ष ज्योतिर्ज्ञानं ज्योति शास्त्रम् आदिशब्दादायुर्वेदादि तत्रेव तद्वत्। यथा ज्योति शास्त्रादौ तत्तत्त्व दृष्टं तैं तद्दर्शनस्य समर्थितत्वात्, तद्वदन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेव, अन्यथा तद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्ते।

अनुपदेशादय प्रणयनविशेषणत्वेन सहता[5] एव कस्माद्धेतव, न प्रत्येकमपि? इति चेत्; अत्राह–

संघातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात्। इति।

१–पि तु मल– आ०, ब०, प०। २–न्यायवि० आ० २ पृ० २२२। ३–ना न तस्य तत्त्वे तुच्छत्व –आ०, ब०, प०। ४ सर्वार्थानवलो– आ०, ब०, प०। ५–ता एकस्माद्धेतवो आ०, ब०, प०।

एतेषां केवल[1]शब्दात् प्राप्तानामनुपदेशादीनां सङ्घात एव तीर्थंकृतां दुरवगाहतदर्थदर्शनसाधने हेतुः न प्रत्येकम्[2]। कस्मात्? प्रत्येकतद्विशिष्टस्य प्रणयनस्य अन्यत्र तद्दर्शनविकलेऽपि सम्भवात्। तथा हि-अनुपदेशे लिङ्गात्, तदभावे चान्वयादे प्रतिपद्य प्रणयनमसर्वदर्शिन्यपि सम्भवति। ततः सङ्घात एव तेषां तत्साधने हेतुः, [3]तच्च तत्त्वदर्शनं भगवतां स्वत एव, नार्थान्तरदर्शनसम्बन्धात्,[4] आकाशादेरपि[5] ततः तत्प्रसङ्गादविशेषात्। स्वतोऽपि न निर्विकल्पात्, ततः प्रणयनानुपपत्तेः, अतः स्वत इति निर्णयस्वभावादित्यर्थः। तत्स्वभावत्वं चार्हतामेव। ततो न सुगतादीनां प्रणेतृत्वं तदभावात्। तत्र च दोषमाह—

एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणिकादयः ॥८१॥ इति।

एवम् अतत्त्वदर्शित्वादप्रणेतृत्वे हि स्फुटं सुगतादिभ्यः आदिपदात् कपिलादिभ्यश्च **वरमीक्षणिकादयः** ते परचित्तादेरुपलक्षणादुपदेशाच्च, इतरेषां तदभावात्। अर्हतामपि किं तत्त्वदर्शित्वकल्पनया शास्त्रादेवानुष्ठेयार्थप्रतिपत्तेः, तस्य च संवादादेव प्रामाण्यावगमात्, संवादस्य च प्रत्यक्षादिविषयवत्तृतीयस्थानसङ्क्रान्तेऽपि तदेकदेशत्वेन प्रतिपत्तेः। तत्त्वदर्शिबलात् तत्र [6]प्रामाण्यावगमे परस्पराश्रयात्—तदवगमात् तत्त्वदर्शी सिद्धः, ततोऽपि तदवगम इति। ततो निष्फलं तत्कल्पनमिति चेत्, अत्राह—

शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात्। इति।

शास्त्रं हि सर्वज्ञादेव आदेर्मूलकारणात् तस्यापौरुषेयस्य प्रत्याख्यानात्। पौरुषेयमपि ततत एव। कीदृशम्? तस्य शास्त्रस्य लक्षणं स्वार्थप्रत्यायनं तेन व्याप्तं क्रोडीकृतम्। न हि तद्व्याप्तिस्तस्य स्वत एव सम्भवति व्याख्यात्रपेक्षानियमात्। भवतु व्याख्याताऽस्मदादिरेव न सर्वज्ञः तस्य बाधनादिति चेत्, न, असर्वविदा ज्ञानेन तस्य देशकालसाकल्येन बाधस्यासम्भवात्। सर्वविदा च तस्यैव प्रसाधनात्। अस्मदादेश्च स्वतस्तत्त्वदर्शनविकलस्य व्याख्याने न प्रेक्षावतां प्रत्ययो म्लेच्छादिव्याख्यानवत्। व्याख्याभेदसम्भवे च कुतोऽयमेवार्थः पुरुषहितो नापर इति निर्णयः? यतस्तत्परिहारेण हित एव प्रवृत्तिः स्यात्। सर्वदर्शिनस्तु व्याख्याने स्यात्, तेन हितेतरविभागेन सर्वस्यापि साक्षात्करणात्। तदाह—

अपौरुषेयवृत्तान्तोऽप्यत एव विरुद्ध्यते ॥८२॥ इति।

अपौरुषेयः पुरुषहितादन्यः तदहितः तस्य वृत्तान्तो [7]धात्वर्थोऽस्मदादिभेदविकल्पनया शास्त्रार्थत्वेन कथनम्। सोऽपि न केवलमस्वार्थप्रतिपादनमेव। अत एव स[8]र्वज्ञादेरेव विरुद्ध्यते अपोह्यते। ततो युक्तं भगवति सर्वज्ञत्वपरिकल्पनम्, असति तस्मिन् शास्त्रस्य तल्लक्षण[9]व्याप्त्याद्ययोगात्। संवादस्यैव दुरवग्रहत्वात्, असत्यार्थव्यवच्छेदस्य चानुपपत्तेः तत्कल्पनाया वैफल्याभावात्। सम्प्रति शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह—

प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम्।
प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति संग्रहः ॥८३॥ इति।

---

१ –शब्दभाषा– आ०, ब०, प०। २ –कं तस्मात् आ०, ब०, प०। ३ तच्च तद्दर्शनं आ०, ब०, प०। ४ "यौगाभ्युपगतात्" –ता० टि०। ५ –पि तत्प्रस– आ०, ब०, प०। ६ प्रामाण्योपगमे आ०, ब०, प०। ७ धात्वर्थोऽस्मदादिभेद– ता०। ८ "सर्वज्ञाख्यमूलकारणादेव" –ता० टि०। ९ –व्याप्त्ययोगात् आ०, ब०, प०।

प्रमाण[1]मिति विभक्तिपरिणामाल्लब्ध ज्ञानमिति च वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते । ततो यत्प्रमाण तद् ज्ञानम् अन्यथा तदनुपपत्तेरित्युक्तं भवति । द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थम् **अविप्लव**ग्रहणम् । 'व्यवहारत एव केवलमविप्लवत्वं वस्तुत सर्वज्ञानाना स्वप्नादिवत्सविप्लवत्वात्' इत्यस्य व्युदासार्थम् **अञ्जसा** ग्रहणम् । वस्तुत क्वचिद[2]प्यविप्लवाभावे । सर्वज्ञानविप्लवस्यापि दुरुपपादत्वेन निरूपितत्वात् । तच्च प्रमाण द्विविध प्रत्यक्ष परोक्षमिति । **प्रत्यक्षं स्पष्टं** परिस्फुटम् । तदपि द्विविधम्—मुख्यसव्यवहारविकल्पात् । मुख्यमप्यवधिमन पर्ययकेवलभेदात् त्रिविधम् । व्यावहारिकमपि द्विविधम्—इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति च निरूपितरूपम् । **अन्यदिति परोक्षम्** । तत्कीदृशम् ? **श्रुत** [3]अस्पष्टोल्लेखम् । "**श्रुतमस्पष्टतर्कणम्**" [त० श्लो० पृ० २३७] इति वचनात् । तच्च **प्रत्यभिज्ञादौ स्मरणादौ** । प्रत्यभिज्ञापदेन तत्कारणत्वेन स्मरणस्याभिधानात् । **प्रकीर्णं** प्रक्षिप्तं न बहिर्भूतम्, उपमानादेरपि तद्बहिर्भावे[4] परपरिकल्पितप्रमाणसङ्ख्यानियमाभावस्य निरूपणात् । ततो द्वे एव प्रत्यक्षपरोक्षरूपे **प्रमाणे इति सङ्ग्रहः सङ्क्षेपत** प्रतिपत्तिः शास्त्रार्थस्य ।

सम्प्रति परोक्षविकल्पाना प्रागुपवर्णितमपि प्रामाण्यमनुस्मरणार्थं[5] पुनरुपदिदर्शयिषु प्रथम तदाद्यत्वात् स्मरणज्ञानस्योपदर्शयति—

इदमेवमिति ज्ञानं गृहीतग्रहणेऽपि नः । इति ।

द्विविध च स्मरणम् 'इदमेवम्' इत्येकम्, 'एवम्' इति च द्वितीयम् । तदुभयम् 'इदमेवम्' इत्युच्यते, परस्याप्येवम्पदस्य समानश्रुतिकत्वेनैकोच्चारणगम्यस्यात्र भावात् । तत्र यदवग्रहादेरक्षज्ञानस्यानन्तरमर्थाभिलापस्मरणेन 'नीलमिद पीतमिदम्' इत्याकार ज्ञान तदिदमेवमिति स्मरणम् । तदस्माक प्रमाणमविसवादात् प्रत्यक्षवत् । अपूर्वार्थाभावान्नेति चेत्, न, प्रत्यक्षगृहीतस्य तेन ग्रहणेऽपि कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात् शब्द[6]संसृष्टत्वस्यागृहीतस्यैव प्रतिपत्ते । प्रत्यक्षविषयस्य क्षणिकत्वेनापक्रमात् कथ तस्यैव पुनस्तत्संसृष्टत्वेन ग्रहणमिति चेत् ? न, एकान्तत क्षणिकत्वस्य प्रतिक्षिप्तत्वात् । कथञ्चिदक्षणिकत्वेऽपि पूर्वाकारस्यातीतत्वेनाग्रहणात् । कथ तस्यैव पुनर्विशिष्टस्य ग्रहणमिति चेत्, न, शक्तिविशेषे क्षयोपशमलक्षणे [7]सत्यतीतत्वादेरकिञ्चित्करत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि भावाना कथमस्याप्रामाण्यम् ? अस्वलक्षणविषयत्वादिति चेत्, अनुमानस्यापि स्यात् । स्वलक्षणप्रतिबन्धान्नेति चेत्, न, अत्रापि तुल्यत्वात्, पारम्पर्येण स्वलक्षणादुत्पत्तेरविशेषात् । ततोऽवश्य प्रमाणयितव्य व्यवहारसिद्धत्वाच्च । अन्यथा "**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।७] इत्यसङ्गतं स्यात् । तथा यदेवमिति ज्ञानमतीतमात्रस्मरण तदपि प्रमाण तद्वदेवाविसवादात् । गृहीतग्राहित्वान्नेति चेत्, अनुमानं कथम् ? समारोपव्यवच्छेदादिति चेत्, न, स्मरणादप्यदर्शनसमारोपव्यवच्छेदेन व्यवहारप्रसिद्धे । ततो युक्तं तस्यापि प्रामाण्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वस्यापि भावात्, सन्निहिततया हि तद्ग्रहणमक्षज्ञानेन अतीततया च स्मरणेनेति ।

साम्प्रत तर्कस्य प्रामाण्य दर्शयितुमाह—

प्रत्यक्तेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ॥८४॥

अनुमानम् [अतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः] इति ।

---

१ –णमितीति आ०, ब०, प० । २ –दविप्लवा– आ०, ब०, प० । ३ –मतिपूर्वं श्रुत प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम् । –त० सा० श्लो० ४५ । ४ –वे परिक– आ०, ब०, प० । ५ –कारं तदि– आ०, ब०, प० । ६ –संसृष्टत्व– आ०, ब०, प० । ७ सत्यमीत– आ०, ब०, प० ।

न हि अनुमानं वस्तुप्रतिपत्तये [1]परैरभ्यनुज्ञानम् वस्तुनः सर्वात्मना प्रत्यक्षत एवाधिगमात् । "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।" [प्र० वा० ३।४४] इति वचनात् । अपितु प्रत्यक्षेऽर्थे क्षणिकनिरंशस्वलक्षणे योऽन्यथारोपो नित्यादिविकल्प· तस्य व्यवच्छेदः तस्य प्रसिद्धये "भ्रान्त्या निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्त्तते।" [प्र० वा० ३।४४] इत्यभिधानात् ।

भवत्येवं तथापि किमिति चेत् ? उच्यते, लिङ्गादनुमानं सम्बन्धप्रतिपत्तौ । न च तत्र प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्; सन्निहितमात्रविषयत्वात्, साकल्येन च तत्प्रतिपत्तावनुमानोपपत्ति., अन्यथाव्यभिचारसम्भवात् । सकलविषयमेव योगिप्रत्यक्षमिति चेत्; न, तस्यापि विषयकार्यत्वेन कारण[2] एव प्रवृत्ते । कारणमेव तस्य सर्वमिति चेत्, तर्हि तत्समदेशकालमेव सकलमपि जगत्तत्कार्यं भवेत्, एकसामग्र्यधीनत्वात्, अन्यथा रूपादिकमपि तथा न भवेदिति न रसदेशादौ रूपादेरनुमानं भवेत् । सत्यपि ततस्तत्प्रतिपत्तिरसत्कल्पैव निर्विचारत्वात्, [3]क्षणभङ्गादिवदिति न ततोऽनुमानमुपपन्नम् । नापि मानसप्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्ति ; तत स्वरूपवेदविकलादर्थज्ञप्तेरेव "विमुखज्ञान" इत्यादिना[4] प्रतिक्षिप्तत्वात् । एतदेवाह–अतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः इति ।

भावप्रधानमत्र हेतुपदम् । हेतोर्हेतुत्वस्य साध्यसम्बन्धस्य अतः प्रकृतात्प्रत्यक्षात्, व्यवच्छेदे विशेषेण साकल्यलक्षणेनावच्छेदोऽवबोध [5]तस्मिन् अवस्थितेरुत्पत्तेरभावोऽनवस्थितिः अनुमानस्येति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्ध । भवत्वनुमानादेव तद्व्यवच्छेद इति चेत्, न; तत्रापि तदतद्विकल्पात्तदभ्युपगमेऽनवस्थितेरेव दोषात् । तदाह–अत इत्यादि । अत. प्रकृतादनुमानात्–'तस्मादेव तद्व्यवच्छेदेऽनुमानम्, अनुमानाच्च तद्व्यवच्छेद' इति परस्पराश्रयादनवस्थिति, उभयोरप्यप्रतिष्ठानात् । अन्यतस्तद्व्यवच्छेदे तत्राप्यन्यतस्तद्व्यवच्छेद इत्यनवधेरनुमानपरम्पराया प्राप्ते ततोऽन्यदेव तत्र प्रमाणमभ्यनुज्ञातव्यम् । तदाह–अत इत्यादि । अतः आभ्या प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अहेतुव्यवच्छेदे हेतुव्यवच्छेदाभावे नवस्य प्रत्यग्रस्य सम्बन्धप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य प्रमाणस्य स्थितिः अविचलनम् । न च तत्तर्काभिधान प्रत्यक्षमेव, विचारकत्वात्, प्रत्यक्षस्य च विपर्ययात् । नानुमानमपि, अलिङ्गजत्वात् । अतस्ताभ्यामन्यदेव प्रमाण निरूपित[6]स्मरणवत् । तत प्रतिषिद्धमिदम्–"न प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इति, स्मरणतर्कयोस्तद्व्यतिरिक्तयोरेव[7] प्रमाणत्वात् ।

साम्प्रतमुपमानस्य प्रत्यभिज्ञाविशेषत्वेन प्रमाणान्तरत्व[8]मपाचिकीर्षुस्तदेव तावत्पर[9]परिकल्पनया दर्शयति–

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् ॥८५॥ इति ।

गोदर्शनाहितसंस्कारस्याटव्या पर्यटत प्रसिद्धोऽर्थो गवय तस्य साधर्म्यं सादृश्य ततो गवानुस्मरणसहायात् साध्यस्य सादृश्यविशिष्टस्य गो, तद्विशिष्टस्य वा सादृश्यस्य यत्

१ "बौद्धैः– ता० टि० । २ "नाकारणं विषयः इति सौगतैरुक्तत्वात्"– ता० टि० । ३ "प्रत्यक्षात् क्षणभङ्गादिप्रतिपत्तिर्यथा"– ता० टि० । ४ न्यायवि० श्लो० १।१९ । ५ "प्रत्यक्षात् साध्यसम्बन्धस्यावबोधे सौगतैरङ्गीक्रियमाणे इत्यर्थः।"– ता० टि० । ६ –पितं स्मर– आ०, ब०, प० । ७ –रेव प्रमाण– आ०, ब०, प० । ८ –मुपाचि– आ०, ब०, प० । ९ –कल्पनाया आ०, ब०, प० । न्यायसू० १।१।६ ।

साधनम् अध्यवसाय. तदुपमानं प्रमाणम् । न चेदमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षस्मरणविपयत्वादिति शक्यं वक्तुम्, प्रत्यक्षेण सादृश्यस्यैव स्मरणेनापि गोरेव केवलस्य ग्रहणात्, न तयोरन्यतरस्येतरविशिष्टस्य । तत्र तूपमानमेव प्रमाणं तत एव तस्य प्रतिपत्ते । तदुक्तम्–

"तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥
प्रत्यक्षेणाववुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥"
[मी० श्लो० १।१।५ उप० श्लो० ३७, ३८]

यदि वा, पूर्वं 'गौरिव गवय' इत्यतिदेशवचनात् पुनरटवीगतेन च प्रत्यक्षत प्रतिपन्न. प्रसिद्धोऽर्थो गवय तस्य साधर्म्यात्तद्वचनादिसहायात् यत् साध्यस्य 'सोऽय गवयशब्दवाच्योऽर्थ.' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं प्रतिपत्तिः तदुपमानं तत्फलम्, 'साक्षात्प्रत्यक्षागमसामग्रया एवोपमानत्वात् । न चेदं प्रत्यक्षमेव, आगमव्यपेक्षणात् । नाप्यागम एव, तत. सामान्येनैव साध्यस्य, अतश्च विशेषत प्रतिपत्ते, उपक्रमभेदादागमादस्यार्थान्तरत्वोपपत्ते, उपमानतयैव प्रमाणत्वावकल्पनमस्येति मीमांसका नैयायिकाश्च प्रतिपन्नाः । तान्प्रत्यतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह–

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ।
²प्रमितार्थे प्रमाणानां वहुभेदः प्रसज्यते ॥८६॥ इति ।

प्रमितार्थो मीमांसकस्य गवादि प्रत्यक्षादिना तस्यावगमात् नैयायिकस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध [3], तस्याप्यागमतोऽध्यवसायात् । तत्र यदि किञ्चिद्विशेषेण अल्पभेदेन प्रमाणान्तरं प्रत्यभिज्ञानादुपमानमन्यत्प्रमाणम् इष्यते तदा प्रमाणानां वहु यथा भवति तथा भेदो नानात्वं प्रसज्यते । तथाहि गवय एव गो समान इतिवत् तमालात्तालद्रुमो दीर्घं विल्वादामलकमल्प क्षीरादपीक्षुरसो[4] मधुरतरो माथुरा. पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यादिज्ञान प्रत्यक्षस्मरणविषयविशिष्टदीर्घाल्पादिभेदोपाधितालामलकादिगोचरम्[5] उपमानादन्योऽन्यतश्चानन्तर्भाविन भिन्नजातीयमेव प्रमाणमिति[6] न पट्प्रमाणनियमव्यवस्थापन मीमांसकस्योपपन्नं भवेत् । तथा [7]गवयदर्शिन एव तद्विसदृशो महिप इति च ज्ञानस्य प्रमाणान्तरत्वात् । शक्य हि वक्तुम्–

प्रत्यक्षेणाववुद्धेऽपि वैधर्म्ये महिषे स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यत सिद्धेस्तस्यैवात्र प्रमाणता ॥१८२५॥ इति ।

तथा नैयायिकस्यापि न प्रमाणचतुष्टयनियमकल्पनं प्रसिद्धसाधर्म्यादिवान्यतोऽप्यनेकधा संज्ञासंज्ञि[8]प्रतिवन्धवुद्धेर्भावात् । तथाहि–'क्षीरनीरविभागकारी हंस, पट्चरणो मधुकर, एकविषाणो गण्डक, श्वेतछत्रसिंहासनालङ्कृतो राजा', इति विश्वस्तवचनात् प्रतिपद्य पुनर्हंसादिकं पश्यत. स एप हंसादिवाच्योऽर्थ इति प्रतिपत्तेर्वहुलमुपलम्भात् । प्रत्यभिज्ञेवाल्पत्वादिज्ञानं प्रागुपलव्धस्यैव तस्य पुनर्विशिष्टतया[9] सङ्कलनादिति चेत्, सिद्धमुपमानस्यापि तत्त्वमविशेपात् । भवतस्तर्हि स्मरणादि किन्नाम प्रमाणमिति चेत् ? आह–

१ साक्षात्तत्प्र– आ०, व०, प० । २ प्रमितार्थः प्र– आ०, व०, प० । ३ –न्धस्तस्याप्यागतोऽध्य– आ०, व०, प० । ४ –रसा मधुरा माथुराः पा– आ०, व०, प० । ५ –चरादुप– आ०, व०, प० । ६ –ति नष्टं प्रमा– आ०, व०, प० । ७ गवं तु दर्शि– आ०, व०, प० । ८ प्रतिसम्बन्धप्रसिद्धेर्भा– आ०, व०, प० । ९ –तयापि स– आ०, व०, प० ।

सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानम् [अनुमानं तथागमः] । इति ।

सर्वं निरवशेषम् एतत् प्रकृतं स्मरणप्रत्यवमर्शतर्कलक्षणं श्रुतज्ञानं परोक्षप्रमाणम् अस्पष्टत्वात् । इदमेवमिति ज्ञानं स्पष्टमेव सन्निहितविषयत्वादिति चेत्, न; तस्यापि [1]सङ्केतिताभिलापयोजनायामस्पष्टत्वात् । कथं तर्हि तच्छ्रुतमेव स्पष्टांशस्यापि भावात् ? न चेदं ज्ञानद्वयमेव, एकस्यैव विकल्पेतरतयेव स्पष्टेतरतयापि प्रत्यवभासनात्, अन्यथा सन्तानान्तरवदप्रतिसन्धानप्रसङ्गादिति चेत्, सत्यमिदं श्रुतत्वकथनं तु तत्र साभिलाप[2]विषयप्रतिपत्तौ तदंशस्यैव प्राधान्यात् । ततो युक्तं स्मरणादेः परोक्षत्वम् ।

अर्थापत्तिस्तर्हि प्रमाणान्तरमिति चेत्, न; तस्या अनुमानत्वात् व्याप्तिसामर्थ्या[3]दुत्पत्तेः । बहिर्व्याप्तेरभावादर्थापत्तिरिति चेत्, न, अनुमानस्याप्यन्तर्व्याप्तेरेव गमकत्वस्य निरूपणात् । एतावता च भेदे पक्षधर्मत्वस्तत्तस्तद्विकला किन्न प्रमाणान्तरम् ? अन्यथानुपपत्तेरविशेषादिति चेत्, अत एवानुमानादपि न भवेत् ।

अभावज्ञानं तु भूतलादौ कैवल्यमात्रे प्रत्यक्षम्, निषेध्यविशेषोपहिते प्रत्यभिज्ञानम्, अविनाभावापेक्षायामनुमानम्, वचनमूलत्वे चागम इति न प्रमाणान्तरम् । अनुमानागमयो[4]श्चास्पष्टप्रतिभासत्वान्न परोक्षाद्भेद । तदाह–'अनुमानं तथागमः' इति । न केवलं स्मृत्यादिकमेव श्रुतज्ञानम्, अपि त्वनुमानं तद्वदागमश्चेति ।

कथं पुनरागमः प्रमाणमिति चेत् ? आह–

सम्प्रदायाविघातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ॥८७॥ इति ।

सर्वज्ञोपदेशमूलमुपदेशपारम्पर्यं सम्प्रदायः तस्याविघातोऽविच्छेदस्तेन तत्त्वम् आगमवाक्य यदि प्रतीयते प्रमाणमागमो नान्यथा । तथा च तत्प्रतिपत्तिर्भगवत्प्रवचनादेव, शक्यपरिच्छेदे वस्तुनि प्रत्यक्षादिना संवादस्यान्यत्र विसंवादानवभासस्य च शास्त्रलक्षणस्य[5] तत्रैव प्रतिपत्तेः, प्रत्यागमेषु च विपर्ययात् । ततः स्थितं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे इति । किं पुनः प्रत्यक्षं किं वा परोक्षमित्यत्राह–

आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम् । इति ।

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।" [त० सू० १।९] इत्यत्र पाठापेक्षयाऽऽदौ भवत्वात् आद्ये मतिश्रुते ते प्राहुः प्रतिपादयन्ति सूत्रकारादयः । किम् ? परोक्षं प्रमाणम् । परोक्षत्वञ्च तयोरिन्द्रियसन्निकर्षलिङ्गादिभिरुत्पाद्यमानत्वात् 'परैरुक्ष्यते सिच्यते इति परोक्षम्' इति व्युत्पत्तेः । अपरं ताभ्यामुत्तरम् अवधिमनःपर्ययकेवलभेदं ज्ञानं प्रत्यक्षं प्राहुः । प्रत्यक्षत्वमात्ममात्रापेक्षत्वात् अक्षमात्मानं प्रति गतं कारणत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षम्' इति व्युत्पत्तेः । न चैवं मतिज्ञानादेरपि प्रत्यक्षत्वम् आत्ममात्रापेक्षस्यैव तत्त्वोपगमात्, मत्यादौ च तदभावात् । तदिदमुभयमपि प्रमाणम् आञ्जसं न व्यवहारमात्रपरिकल्पितम्, परमार्थतः प्रमाणस्याभावे कल्पनयापि तदसम्भवस्य निरूपितत्वात् । कथं तर्हि मतिज्ञानस्यैवमवग्रहादिभेदस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् । आत्ममात्रापेक्षत्वाभावादिति चेत् ? अत्राह–

केवलं लोकबुद्ध्यैव मतेर्लक्षणसंग्रहः ॥८८॥ इति ।

१ सङ्केताभिला– आ०, ब०, प० । २ –लापिवि– आ०,ब०,प० । ३ –समर्थाप– आ०,ब०,प० । ४ –णस्य च त– आ०, ब०, प० । ५ –नस्यैवावग्र– आ०, ब०, प० ।

केवलम् आगमनिरपेक्ष[1] लोकस्य व्यवहर्तुं:[2] जनस्य बुद्धयैव मतेः अवग्रहादिज्ञानस्य लक्षणेन प्रत्यक्षोक्तेन सङ्ग्रह इति । एतदुक्तं भवति–व्यवहर्तुं मतिज्ञानेऽपि [3]लक्षणलेशदर्शनात् प्रत्यक्षप्रसिद्धे. तदनुरोधेन तदपि प्रत्यक्षतया सङ्गृहीत न मुख्यत । मुख्यत:[4] पुनरवध्यादिज्ञानमेव प्रत्यक्षम्, समग्रस्य स्पष्टतालक्षणस्य तत्रैव भावात् । एवमपि तथाविधाल्लक्षणादेव प्रत्यक्षव्यपदेशात् किमात्ममात्राश्रितत्वेन कल्पनमिति चेत्, न, प्रवृत्ति[5]निमित्तवत् व्युत्पत्तिनिमित्तेनापि तत्र तद्भावनिवेदनार्थत्वात् तथातत्कल्पनस्य । तत स्थित केवलमित्यादि । कथमागमस्य परोक्षत्वमुक्तम् 'अनुमानं तथागमः' इति, तस्याज्ञानत्वात्, ज्ञानस्यैव चागमे परोक्षत्वकथनादिति चेत् ? अत्राह–

स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिवत् ।
प्रमा [प्रमितिहेतुत्वात्प्रामाण्यमुपगम्यते] ॥८९॥ इति ।

श्रवणं शब्दविषय प्रत्यक्ष तस्य कार्यं यत् यथार्थमभिधेयज्ञानं तस्य हेतुत्वात् स्याद्वादो भगवत्प्रवचनं प्रमाणमुपचारात् न मुख्यत । मुख्यतस्तज्जनितस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्याच्चक्षुरादिवत् । प्रसिद्ध हि चक्षुरादेरुपचारादेव प्रामाण्य वस्तुतस्तज्जनितस्य ज्ञानस्यैव रूपादौ प्रामाण्यात्[6] । तत्त्वत एव स्याद्वादे कुतो न प्रामाण्यमिति चेत्[7], न, मुख्यतो ज्ञानप्रामाण्यस्यैव नैयायिकस्योपगमात् । प्रमितिहेतुत्वात्तु[8] प्रामाण्यमुपगम्यत एव उपचारस्याप्रतिक्षेपात्[9] । तदेवाह–

प्रमितिहेतुत्वात्प्रामाण्यमुपगम्यते । इति । सुबोधमेतत् ।

न चैव प्रमेयस्य तत्प्रतिषेधो युक्त. तस्यापि "अर्थवत्प्रमाणम्" [न्यायभा० १।१।१] इत्यत्र तद्धेतुत्वेन व्याख्यानात्, न्यायोपस्थापितस्य वचनमात्रेण निषेधायोगात् । तत स्थित ज्ञानमेव प्रमाणमिति ।

किमिदानी प्रमाणफलमित्याह–

प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधी । इति ।

आदानं च हानं च तयोर्धीः बुद्धि आदानहानधीः उपलक्षणमिदम्, तेनोपेक्षाधीरित्यपि प्रतिपत्तव्यम् । तत्त्वस्य जीवादे. निर्णयः संशयादिव्यवच्छेदरूपोऽधिगम. ते सहादानहानधीः तत्त्वनिर्णयादानहानधीः सा प्रमाणस्य उक्तलक्षणस्य फलं प्रयोजनम् तत्त्वाव्यवहित[10] तत्त्वनिर्णय., व्यवहितमादानहानबुद्धिः प्रमाणतस्तत्त्वनिर्णये ... तत्त्वनिर्णय एव प्रमाण "प्रामाण्यं चेतसां स्वार्थव्यवसायः" [इति वचनात् । स एव कथं तस्य फल भेदाभावेन तत्साध्यत्वाभावादिति चेत्, न, ...ञ्चिद्भेदस्यापि भावात् । तथाहि न स्वनिर्णय एव प्रमाणम्, स्वपरविभागादेर . विषयेत्वेनाभावप्रसङ्गात् । अद्वैतस्य च प्रतिक्षेपात् । नापि परनिर्णय एव, स्वनि... तस्याप्यनुपपत्तेः । उभयनिर्णये च सिद्ध स्वनिर्णयात्मनस्तस्य परनिर्णयात् ...

१ –र्त केवलस्य व्य– आ०, ब०, प० । २ –र्हतुः ज्ञानस्य आ०, ब०, प० । ३ लक्षणे आ०, ब०, प० । "प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमिति प्रागुक्तस्याक्षस्य ।"– ता० टि० । ४ –तः ... आ०, ब०, प० । ५ –त्तिनै निमित्तवद्व्युत्पत्ति– आ०, ब०, प० । ६ –प्रमाणतस्त एव आ०, ब० ७ –मिति नैया– आ०, ब०, प० । ८ –त्वात्प्रामा– आ० ब०, प० । ९ –पात्र चैवं आ०, ब० १० –हितनिर्णयो आ०, ब०, प० ।

स्वनिर्णयाद्भेदोऽपीति युक्त तत्साध्यतया निर्णयस्य तत्फलत्वम्। कथं पुन सहभाविन. प्रमाणान्निर्णय इति चेत् ? प्रदीपात्तमोऽपहार कथम् ? सत्येव तस्मिस्तद्भावादिति चेत्, समानमन्यत्रापि। न च ¹तत्सहभावनियम, प्रमाणस्य प्रागपि भावात्। तदन्यदेवेति चेत्, न, अभेदस्यापि प्रत्यभिज्ञानात्। आत्मन्येव तत्प्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणे इति चेत्, न, प्रमाणादन्यस्य तस्य प्रतिक्षेपात्। तर्हि निर्णय फलं कथं तेन प्रमाणस्य व्यपदेश "प्रमाणं स्वतो निर्णय" [सिद्धिवि० परि० १ श्लो० २] इत्यादौ तन्निष्पादनरूपेणैव तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति चेत्, सत्यम्, शक्तिभेदेनैव क्षयोपशमापरनाम्ना प्रमाण²भावस्याभ्यनुज्ञानात्। निर्णयेन तु तद्भावकथन तेनैवाव्यतिरेकेणाफलेन ³तद्भावो न निर्विकल्पेनाधिगमेनेति ज्ञापनार्थम्। तेनापि तदवस्थितावतिप्रसङ्ग अकिञ्चित्करादावपि दर्शने तत्प्रसङ्गात्। तथा च व्यर्थमव्युत्पत्त्यादिव्यवच्छेदाय तत्र ज्ञानान्तरपरिकल्पनम्। अधिगमादपि तद्व्यवच्छेदरूपादेव तद्व्यवस्थितिश्चे⁴त्, सिद्धस्तर्हि निर्णयादेवासौ, तादृगधिगमस्यैव निर्णयत्वात्। कथ पुनरेकस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणफलभावेन भेद ? सर्वस्यापि वस्तुन स्वस्वभावव्यवस्थित्या निरंशस्यैवोपपत्ते। सारूप्याधिगमे भेदेन क्वचित्तद्भावकल्पन तु व्यावृत्तिभेदादेव न तत्त्वत इति ⁴चेत्, न, तद्भेदस्यापि क्वचित्तत्त्वतोभावेऽनेकान्तवादप्रत्युज्जीवनात्। तस्याप्यन्यतस्तद्भेदात् परिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो दूरं गत्वापि तत्त्वत एव व्यावृत्तिभेदमभ्युपगच्छता क्वचित्प्रमाणफलभावे⁵ तद्भेदोऽभ्युपगन्तव्य. प्रतीतिबलस्याविशेषात्। वस्तुतो निर्भेदमेव ज्ञान स्वतोऽवभासते, ग्राह्यादिभेदस्तु तत्र विप्लवकृत इति चेत्, न, विप्लवस्यापि विप्लवान्तराद्भेदप्रतिभासित्वेऽनवस्थादोषस्य दुष्परिहरत्वात्। स्वतस्तत्प्रतिभासित्वे ⁶तु न निर्भागज्ञान⁷प्रतिष्ठानिष्ठिति। अतो निराकृतमेतत्–"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि। तत्र अनेकान्तप्रद्वेपे सौत्रान्तिकादे. कल्पनयापि प्रमाणफलव्यवस्थापनमुपपन्नम्। भवतु तर्हि प्रमाणादिसकलविकल्पापरामृष्टमेव तत्त्वमिति चेत्, न, तस्य प्रपञ्चत प्रतिक्षिप्तत्वात्। तत स्थितं तत्त्वनिर्णय. साक्षात्, आदानादिबुद्धिस्तु पारम्पर्येण फल प्रमाणस्येति।

परमपि तत्फलं दर्शयन्नाह–

निःश्रेयसं परं प्रायः [केवलस्याप्युपेक्षणम्] ॥९०॥ इति।

निःश्रेयसं कैवल्यं परं प्रकृष्ट पश्चिम वा प्रमाणस्य फलमिति सम्बन्ध.। सति हि प्रमाणत तत्त्वनिर्णये मिथ्यादर्शनादिपरित्यागेन सम्यग्दर्शना⁸द्यभ्यासत प्रादुर्भवन्नि-श्रेयस परम्परया प्रमाणस्य फलमिति मन्यते, प्रायो बाहुल्येन तत्फल सर्वत्राभावात्। सम्प्रति केवलज्ञानस्य फल दर्शयति–केवलस्याप्युपेक्षणम् इति। सकलद्रव्यपर्यायगोचर निरतिशय ज्ञान केवलं तस्य उपेक्षणं सर्वत्रौदासीन्य फल ⁹तदपोहादिकफलान्तरस्याभावात्। अपिशब्दात् सर्वविषयो निर्णयश्च "अज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे" [आप्तमी० श्लो० १०२] इति वचनात्, अज्ञाननाशस्य निर्णयरूपत्वात्।

¹⁰"सत्य प्रमाणस्य निर्णीति फल सा तु तत्कार्यत्वेन ततो भिन्नैव नानर्थान्तरम्

---

१ तत्सहायनि– आ०, ब०, प०। २ –माणभाव– आ०, ब०, प०। ३ तद्भावो निर्वि– आ०, ब०, प०। ४ चेत्तत्र त– ता०। ५ –फलतद्भेदो– ता०। ६ तु निर्भाग –आ० ब०, प०। ७ –प्रतिष्ठानिष्ठितः आ०, ब०। –निष्ठतः प०। ८ –नाभ्यासतः आ०, ब०, प०। ९ तदज्ञव्युदासादिकफ– ता०। १० स्वत्वं प्रमा– आ०, ब०, प०।

अत एवोक्तम्–"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" [ ] इति । इति चेत्, अत्राह–

प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते । इति ।

श्रुतमभिलापस्तन्मिश्रं विज्ञानं श्रुतविज्ञानं दध्योदनादिवद्[१]वृत्तिः तस्य नीलमिदमित्यादिरूपस्य हेतुरेव कारणमेव प्रत्यक्षं निर्विकल्पदर्शनं प्रसज्यते न प्रमाणमित्येवकारः । तथाहि न तस्य स्वतः प्रामाण्यम्, अनिर्णयस्वभावत्वात् अकिञ्चित्करवत् । नापि निर्णयहेतुत्वात्, निर्णयस्य विकल्पत्वेनावस्तुविषयत्वात् । तज्जननात् प्रामाण्ये संशयादिजननादपि तत्प्रसङ्गात् । वस्तुविषय एव [२]निर्णयः, व्यवहर्त्रा तद्विषयस्य वस्तुतयैवाध्यवसायादिति चेत्, किं पुनर्भवतो व्यवहर्तरि विश्वासः ? बाढम्, "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।७] इति वचनादिति चेत्, तर्हि निर्णयस्यैव प्रामाण्यं स्याद् व्यवहर्तुस्तत्रैव तदभिप्रायात्, न निर्विकल्पदर्शनस्य, तत्र तद्गन्धस्यापि व्यवहर्त्रानाघ्राणात् । ततो निराकृतमेतत्–"गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं प्रमाणम्" [प्र० वा० १।५] इति । यदि तत्प्रामाण्ये न तत्र विश्वासो नियत[३]वस्तुविषयत्वेऽपि न भवेद[४]र्थजातीयानुपपत्तेः । कथं वा प्रत्यक्षं निर्णयस्य हेतुः विकल्पत्वात्[५] ? अथ तद्वासनैव हेतुर्निर्णयस्य प्रत्यक्षं तु केवलं तद्बोधकमिति चेत्; नेदानीं प्रत्यक्षेण किञ्चित्, अर्थस्यैव चक्षुरादिकमभिपततस्तद्बोधकत्वोपपत्तेः अचेतनस्य कथं तद्बोधकत्वमिति चेत् ? कथं दर्शनहेतुत्वम् ? सामर्थ्यादिति समानमन्यत्र । तन्न प्रत्यक्षान्निर्णयसम्भवो यतस्तत्प्रमाणम् । संभवेऽपि मुख्यतः तस्यैव प्रामाण्यात्, प्रत्यक्षं सन्निकर्षादिवत्तस्य हेतुरेव न प्रमाणमिति स्थितम् ।

प्रमाणवन्नयानामप्य[६]धिगमहेतुत्वम् "प्रमाणनयैरधिगमः [त० सू० १।६] इति सूत्रे, [७]कामतस्तेऽपि विप्रतिपत्तिनिरासेन निर्णेतव्या इति चेत्, अत्राह–

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥९१॥ इति ।

स्याद्वादप्रविवेचितार्थैकदेशगोचरः[८] प्रतिपत्त्रभिप्रायो नयः । स च द्विधा अर्थनयः शब्दनयश्चेति । प्राच्यः पुनश्चतुर्धा नैगमः सङ्ग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्र इति । पश्चिमस्त्रेधा–शब्दः समभिरूढः एवम्भूत इति । तत्र यस्मिन् द्वयोर्भेदगमनं स नैगमः नैकं गमो नैगमः इति व्युत्पत्तेः, यथा गुणगुणिनौ क्रियातद्वन्तौ सामान्यविशेषौ च भिन्नाविति । सम्यक् एकत्वेन सर्वग्रहणं सङ्ग्रहः, यथा सर्वमेकं सदविशेषादिति । सङ्ग्रह[९]विषयस्य पुनर्व्यवहरणं विभजनं व्यवहारः, यथा यत्सत्तद्द्रव्यं गुणः कर्म[१०] चेति । ऋजु प्रगुणं सूत्रणमृजुसूत्रः, यथा सर्वं वर्तमानमात्रमेव न पूर्वं नापि पश्चादिति । कालादिभेदादर्थभेदकारी शब्दः । तत्र कालभेदात् अभूद्भवति भविष्यतीति, कारकभेदात् वृक्षः पश्य, वृक्षाय जलं देहीति, लिङ्गभेदादर्घञ्चमर्द्धर्चः[११] इति । पर्यायभेदादर्थभेदकृत् समभिरूढः, यथा शक्तादेव शक्रो न पूर्दारणात्, ततोऽपि पुरन्दर एव न शक्र इति । क्रियाश्रयस्त्वेवम्भूतः, पुरं दारयन्नेव पुरन्दरो नान्यदेति । तदेतेषां सप्तविकल्पानामवान्तरविकल्पादनेकप्रकाराणां नयानाम् अपेक्षातः प्रतिपत्त्रौदासीन्य-

१ –दिव वृत्तिः आ०, ब०, प० । समासः । २ निर्णये व्यव– आ०, ब०, प० । ३ –यतोवस्तुविषयेपि ता० । ४ –दर्थजातीया– आ०, ब०, प० । ५ –त्वादर्थवद्वासन्नेव आ०, ब०, प० । ६ –मप्यभ्यधि– आ०, ब०, प० । ७ कामतस्ते आ०, ब०, प० । ८ –चरप्रति– आ०, ब०, प० । ९ –हनयस्य आ०,ब०,प० । १० कर्मेति चेति आ०, ब०, प० । ११ –दादर्थमर्धर्चः प– आ०,ब०,प० ।

लक्षणयाऽपेक्षया तत्त्वं श्रुतविकल्पत्वेन प्रमाणत्वम् इष्टमभ्युपगतम्, अन्यथा दुर्नयत्वेन तदनुपपत्ते । तच्च तेषां तत्त्व विस्तरतो नयचक्रतः तन्नामधेयाच्चिरन्तनशास्त्रात् प्रतिपत्तव्यम् ।

तदेव व्यवस्थापितप्रामाण्यस्य प्रवचनस्य शास्त्रान्ते प्रयोजनमाह—

मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयं
प्रागल्भ्यं शावराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।
पर्याप्तत्वं व्यपोहन्नुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गे
स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥६२॥ इति ।

अयमस्मिन्प्रस्तावे निरूपित स्याद्वादो भगवत्प्रवचन श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् । कीदृश ? सर्वस्मिन् वादे प्रत्यक्षा[1]दिस्थानत्रयलक्षणे प्रवणं भमग्र गुणानां निर्दोषत्वादीना गणः समूहो यस्मिन् स तयोक्त । कि कुर्वन्निति चेत् ? उच्यते, सुगतस्येमे सौगताः तेपाम्, बहुवचनादन्येषामपि तादृशानां यन्मिथ्यात्व सर्वं स्वप्नादिवद्भ्रान्तमेव न तत्त्वत[2] किञ्चिदिति, यच्च कणचरस्य वैशेषिकतन्त्रकृत समय परस्परव्यतिरिक्त-द्रव्यगुणादि-पदार्थोपदेश, अक्षपादसम[3]यस्यापृथग्वचन कणचरसमयादविशेषात् । यदपि कापिलीयं कपिल-शिष्याणां प्रमेय व्यक्ताव्यक्तज्ञातृविकल्पम्, यच्चापि शावराणां प्रागल्भ्य स्वतः प्रामाण्यादिपरिक[4]ल्पनपाटव सर्वमेतद्व्यपोहन्ननाकुर्वन् इति । न केवलमिदमेव अपितु योऽसौ जिनपते सम्बन्धी "[5]विशेषेण हितो विनेयलोकस्याशेषाणां सूक्ष्मादिभेदाना तत्त्वानां प्रकाशस्तस्मिन् यदुपहसनम्–एवं यत्केवलज्ञानम्"–[मी० श्लो० चो० श्लो० १४१] इत्यादि-मीमांसकस्य, "तस्मादनुष्ठेयगतम्" [प्र० वा० १।३३] इत्यादि सौगतस्य तदपि व्यपोहन्निति । किं कुर्वन् व्यपोहति ? न्यायमार्गे प्रत्यक्षादिरूपे पर्याप्तत्वं भावानां सौगतादि-कल्पनाविपर्ययेण यत् परि समन्तात् आप्तत्वं तत्प्रस्तुवन् प्रकटयन्, अन्यथा तद्व्यपोहनानुपपत्ते.। किं पुनस्तच्छ्रेयो यदर्थत्व स्याद्वादस्याशास्यते इति चेत् ? सकलावरणपरिक्षय-विजृम्भित केवलज्ञानमेव । तदेवाह—

नैकान्तक्षायिकाणाम् [अतिशयमवदन्नैव नानार्थसाध्यम्,
नैष्किञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
योऽयं तस्मै नमामस्त्रिभुवनगुरवे शम्भवे शान्तये ते ॥]६३॥ इत्यादि ।

नैकान्तोऽनेकान्त. नशब्देन समासात् । अनेकान्तेनाऽनेकप्रकारेण क्षया एव कर्मणा क्षायिकाः स्वार्थिकत्वात्प्रत्ययस्य तेपाम् अतिशयं तारतम्य अवदन्नेव प्रतिषेधद्वयेन विधिप्रतिपत्ते । स एवातिशय कुत सिद्ध इति चेत् ? तन्निबन्धनात्[6] ज्ञानातिशयादेव । अस्ति चायम्–असहायेन्द्रियादारभ्य आशास्त्रविद प्रतीयमानत्वात्, अतश्च तत्प्रतिपत्ति. । अत एवाह–नानार्थसाध्यम् इति नाना चासावतिशयवत्त्वादर्थश्च प्रयोजनं ज्ञानलक्षणं नानार्थस्तेन साध्यमनुमेय तेपामतिशयं[7]मवदन्नेवेत्यनेन [8]हेतूक्त (तुरुक्त) । साध्य पुनरस्य

१ –साधिष्ठान– आ०, ब०, प० । २ –तः कथञ्चिदिति आ०, ब०, प० । ३ –यस्य पृथ– आ०, ब०, प० । ४ –कल्पितेन आ०, ब०, प० । ५ विशेषहितो ता० । ६ –बन्धनज्ञानाति– आ०, ब०, प० । ७ –मवदन्येवे– आ०, ब०, प० । ८ हेत्वुक्त. साध्यं ता० ।

क्वचित्तदतिशयस्य परिनिष्ठितत्वम्। तथा हि, यदतिशयवत् तत् क्वचित्परिनिष्ठितं यथा परिमाणम्, अतिशयवांश्च कर्मणां क्षय इति। यत्र च तत्परिनिष्ठा तज्ज्ञानं सर्वविषयं भवति। तथाहि–यद्यत्र व्यपगतावरणं ज्ञानं तस्य तद्ग्राह्यं यथा नीहाराद्यपगमे प्रत्यक्षस्य वृक्षादि, व्यपगतावरणं च कस्यचिद् ज्ञानं सर्वत्रेति। तदेवाह–अविगलितेत्यादि। योऽयमेवमवदन्नैव वेद वेत्ति सकलविषयगं केवलं केवलज्ञानं नित्यमविनश्वरं निष्पर्यायमक्रमम्। उपलक्षणमिदं तेन निष्करणं निर्व्यवधानं च। कदा तत्प्रवृत्तम्? अविगलितो यः सकलानां क्लेशानां कर्मतदास्रवरूपाणां राशिस्तस्य विनाशे प्रवृत्तम्। कुतस्तद्विनाशोऽपीति चेत्? तपस एव। तदाह–नैष्किञ्चन्यं तपो वा इति। वेति समुच्चये। तपो हि बहिरन्तर्विकल्पं तद्विनाशोपायं योऽयं वेद। कीदृशम्? नैष्किञ्चन्यम्। ननु तत्त्वज्ञानभावनं तपस्तत्कथं नैष्किञ्चन्यमिति चेत्? न, सत्येव तस्मिन्निस्पृहत्वरूपे तदुपपत्तेः। अत एवोक्तम्–

"समाधितन्त्रस्तदुपोहपत्तये, द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजम्।" [ ] इति।

तस्मै योऽयं वेदेत्युक्ताय नमाम इत्यादि सुगमम्। चतुर्थी तु सर्वत्र "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" [शाक० १।३।१३९] इति। ततः सूक्तम्–

नैकान्तत्त्वायिकाणामतिशयमवदन्नैव नानार्थसाध्यम्,
नैष्किञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे।
निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
योऽयं तस्मै नमामस्त्रिभुवनगुरवे शम्भवे शान्तये ते॥

पुनरपि शासनस्याराध्यत्वं फलवत्त्वेन दर्शयन्नाह–

युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराराधिनाम्,
संसेव्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम्।
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञागुणोद्भूतये
आभव्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम्॥८४॥ इति॥

जिनेश्वरस्येदं जैनेश्वरं शासनम्। कीदृशम्? परमार्थस्य जीवादेर्यो वेदो बोधो यच्च सकलं धर्मशुक्लविकल्पं ध्यानं तयोरास्पदं शाश्वतं प्रबन्धतो नित्यम्। पुनरपि कीदृशम्? अकलङ्कमङ्गलफलं निर्दोषप्रशस्तविविधकल्पाभ्युदयप्रयोजनम्। आकुतस्तथेति चेत्? आह–भूदभवस्य (अभवस्य) भाव आभव्यम् आ तस्मादाभव्यादा मुक्तिपदादिति। तत्किम्? संसेव्यमभियोक्तव्यम्। केषाम्? युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियाम् उपपन्नेतरवस्तुविचारपटुतरप्रज्ञानाम्। कीदृशानाम्? अत्यादराराधिनां प्रशस्तश्रद्धया आराधनशीलानाम्। तत्तेषां किमर्थं संसेव्यम्? अत्रोत्तरं लोकेत्यादि। लोकालोकयोर्याः कला विविधविकल्पा अणुप्रभृतिप्रतिपत्तिवेद्या भागा तासामवलोकनं निरवशेषदर्शनं तत्र बलं यस्य प्रज्ञागुणस्य तस्योद्भूतये इति।

---

१ परिणाममति– आ०, ब०, प०। २ –दविवेत्ति आ०, ब०, प०। ३ –दुपोपपत्तये आ०, ब०, प०। ४ धर्म्यशुक्ल– आ०, ब०, प०। ५ भ्यादभवस्य भाव आभव्यमित्यपि पाठः। अभ्यस्य आ०, ब०, प०। ६ –मुक्तिपादादि– ता०। ७ –नामत्यादरा– आ०, ब०, प०।

श्रीमन्न्यायविनिश्चयस्तनुभृतां चेतोद्रुगुर्वीनलः,
सन्मार्गं प्रतिबोधयन्नपि च तान्निःश्रेयसप्रापणम् ।
येनायं जगदेकवत्सलधिया लोकोत्तरं निर्मितो
देवस्तार्किकलोकमस्तकमणिर्भूयात्स वः श्रेयसे ॥ १ ॥
विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्ध्यच्छ्रीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा,
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥ २ ॥
भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयं
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दप्रभुर्मादृशः ।
स्थूलः कोऽपि नयस्तदुक्तिविषयो व्यक्तीकृतोऽयं मया,
स्थेयाच्चेतसि धीमतां मतिमलप्रक्षालनैकक्षमः ॥ ३ ॥
व्याख्यानरत्नमालेयं प्रस्फुरन्नयदीधितिभिः[1] ।
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदन्ती मानसं तमः ॥ ४ ॥
श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति-
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः ।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्त्तुः[2] सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥ ५ ॥

इत्याचार्यवर्यस्याद्वादविद्यापतिविरचितायां न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतिन्यां
व्याख्यानरत्नमालायां तृतीयः प्रस्तावः समाप्तः ।

समाप्तं च शास्त्रम् ।

ॐ नमो वीतरागाय । ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

करकृतमपराधं क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः ।

१–दीधितिः इत्यपि पाठः । २–स्वत श्री–ना० ।

न्यायविनिश्चयस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः

[अनुक्रमणिकायाम् पृ० ३७८ पं. १२ "प्रतिक्षणं विशेषा न" इत्यनन्तरं निम्नलिखिताः श्लोकार्धाः प्रच्युताः—]

न्यायविनिश्चयविवरणस्यश्लोकानामनुक्रमणिका

विवरणकाररचितश्लोकानुक्रमः

विवरणकाररचितश्लोकानुक्रमः

विवरणकाररचितश्लोकानुक्रमः

विवरणकाररचितश्लोकानुक्रमः

न्यायविनिश्चय-विवरणगतावतरणसूची

न्यायविनिश्चयगताः केचन विशिष्टाः शब्दाः

न्यायविनिश्चयगताः केचन विशिष्टाः शब्दाः

न्यायविनिश्चयविवरणगता ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

न्यायविनिश्चयविवरणगताः केचन विशिष्टाः शब्दाः

मूलटिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम्

अक० टि०—अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, टिप्पणी [सिंघी जैन सीरिज, कलकत्ता]
प्रथम खण्ड ६६, ३५८, ३६३, ४४०, ५३४
द्वि० ख० २२५, ३३९, ३५४

अपोहसि०—अपोहसिद्धिः [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता]
प्र० ख० १३३

अभिधर्मको०—अभिधर्मकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी]
प्र० ख० १४

अभिस०—अभिसमयालोकालङ्कार [गायकवाड सीरिज बड़ौदा]
प्र० ख० ३६४

अवयविनि०—अवयविनिराकरणम् [एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता]
प्र० ख० ३६८, ३७०, ३७१

अष्टश०—अष्टशती अष्टसहस्र्या मुद्रिता [निर्णयसागर प्रेस, बम्बई]
प्र० ख० ५, ५४, ३०१

अष्टसह०—अष्टसहस्री [निर्णयसागर प्रेस, बम्बई]
प्र० ख० ५४, ५७, ११७, ३०१, ४७२
द्वि० ख० १९९, २४२,

आप्तप०—आप्तपरीक्षा [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता]
प्र० ख० ३८

आप्तमी०—आप्तमीमांसा, [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता]
प्र० ख० २५, २७, ११३, ४१५, ४३७, ४३९, ४६१, ४८५
द्वि० ख० ३८, ३९, २२३, २५५, २९८, ३६५

ईशा०—ईशावास्योपनिषद् [गीता प्रेस, गोरखपुर]
प्र० ख० ३१०, ३११

उत्तरा०—उत्तराध्ययन सूत्रम् [आगमोदय समिति, सूरत]
प्र० ख० ४२८

ऋग्—ऋग्वेद० [आनन्दाश्रम सीरिज, पूना]
द्वि० ख० ३४

ऐत्र०—ऐतरेय ब्राह्मण [आनन्दाश्रम सीरिज, पूना]
प्र० ख० ४३८

कठो०, कठोप०—कठोपनिषद् [गीता प्रेस, गोरखपुर]
प्र० ख० ३११, ३५१, ३५२, ४३८, ४५८, ५१०
द्वि० ख० ९०, २७३, २७६

कात०—कातन्त्र व्याकरण
प्र० ख० ५०५

काशि०—मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य सुचरितमिश्र विरचिता काशिका टीका [त्रिवेंद्रम]
प्र० ख० ५०६

किरणा०—किरणावली [चौख० काशी]
प्र० ख० ४३१

कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणम् [आनन्दाश्रम सीरिज, पूना]
प्र० ख० ३५०

चतुःश०—चतुःशतकम् [विश्वभारती ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन]
प्र० ख० ३६६

छान्दो०—छान्दोग्योपनिषद् [गीताप्रेस, गोरखपुर]
प्र० ख० १७६, ३१४, ३४४, ३५२, ४५८, ४६३, ४६४, ४६५, ४७६, ५१३, ५३३
द्वि० ख० १६, ३४, ४२, ९०, १६४, २७६, २८०, ३०१, ३३४, ३५१

जयध०—जयधवलाटीका, [दि० जैनसंघ मथुरा]
प्र० ख० ६६

जैनतर्कवा०—जैनतर्कवार्तिकवृत्तिः [सिंघीजैन सीरीज]
द्वि० ख० १८१

जैनेन्द्र०—जैनेन्द्र व्याकरण [जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
प्र० ख० ५४१
द्वि० ख० ३१९

जैने० महा०—जैनेन्द्र महावृत्तिः [ज्ञानपीठसंस्करण]
प्र० ख० ५८

जैमिनि०—जैमिनीसूत्रम्
द्वि० ख० ३१८, ३१९

सां० माठर०—सांख्यकारिका माठरवृत्तिः [चौखंबा काशी]
प्र० ख० ३१, ९४, २२९, ५२४
द्वि० ख० २७२

सां० तत्त्वकौ० } सांख्यतत्त्वकौमुदी [चौखम्बा
सां० त० कौ० } काशी]
प्र० ख० ३१, ४७१
द्वि० ख० १८१, २०८

सि० कौ०—सिद्धान्तकौमुदी
प्र० ख० ३३, ३४

सिद्ध० द्वात्रिं०—सिद्धसेनद्वात्रिंशिका [भावनगर]
द्वि० ख० २५६

सिद्धिवि०—सिद्धिविनिश्चयः सिद्धिविनिश्चयटीकातः समुद्धृतः [सम्पादकसत्कः]
प्र० ख० ६३, ६६, ७०, ९८, १६८, १६९, १७९, १८१, २३१, २३३, ३०४, ३७६, ३८३, ३९१, ४०८, ४१४, ४१७, ४१८, ४३२, ४४१, ४७५, ४९३, ४९६, ५२०, ५२१
द्वि० ख० ९, ३४, ४१, ५२, ११०, १३३, १६१, १६२, १६६, १८१, २३१, २३८, २५२, ३२१, ३६५

का०—कारिका
गा०—गाथा
परि०—परिच्छेदः
प्र०—प्रस्तावः
श्लो०—श्लोकः

सिद्धिवि० टी०—सिद्धिविनिश्चयटीका [पं० सुख-लालसत्का]
प्र० ख० ५५, ६४, ११६

स्फुटार्थ० अभि०—स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या [बिब्लोथिका बुद्धिका राशिया]
प्र० ख० २, ८२

स्फोटसि०—स्फोटसिद्धिः [मद्रास यूनि०]
द्वि० ख० ३२९, ३३०, ३३१, ३३२

स्या० र० } स्याद्वादरत्नाकरः [अर्हत्प्रभाकर
स्या० रत्ना० } कार्यालय, पूना]
प्र० ख० ५६, २१६, २२१
द्वि० ख० १८१, ३३९

हेतुबि०—हेतुबिन्दुः [बड़ौदा सीरीज]
प्र० ख० २८३, ३६५
द्वि० ख० १५२

हेतुबि० टी०—हेतुबिन्दुटीका [बड़ौदा सीरीज]
प्र० ख० ११, ५५, ११९, १३३, १५१, ३२१, ३८५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५२, ४६८
द्वि० ख० १५५, १५९, १७९, १९१, १९७, १९८, ३५४

हैम० बृ०—हैमशब्दानुशासनवृत्तिः [बम्बई]
प्र० ख० ५८

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस, ४४२३–१०